* श्रीकृष्णचैतन्यः शरणम् *

सवृत्तिकं

श्रीश्रीहरिनामामृत-व्याकरणम्

प्रथम-खण्डम्

संज्ञा-सन्धि-विष्णुपद-आख्यात प्रकरणान्त-
'अमृता' 'बालतोषणी' टीकाद्वयोपेतम्
[धातुगणपाठादि परिशिष्ट सहितम्]

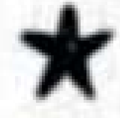
श्रीमन्माध्वगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायाचार्य वर्येण वेद-षड्दर्शनेतिहास-पुराण-
शब्दानुशासन-ज्योतिष-काव्यालङ्कार-सङ्गीत-छन्दः-शास्त्रादि-
पारावारपारीणेन महामहोपाध्यायाध्यापकनिकरैः
परमबृहत्तमसिद्धसङ्घैश्च निषेवितपदपङ्कजेन
वैष्णवसिद्धान्त राज्यरक्षणैक सेनापतिना
श्रीश्रील-सनातन-रूपानुगवरेण
परमहंसकुल मुकुट मणिना
श्रीश्रील-श्रीजीवगोस्वामि-चरणेन
विरचितम्



प्रकाशक
डालमिया जैन ट्रस्ट
नई दिल्ली

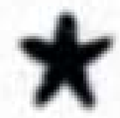


प्रकाशन तिथि
दीपमालिका, संवत् २०३१



मूल्य

प्रथम-खण्ड	:	८) रु०
द्वितीय-खण्ड	:	१२) रु०
दोनों खण्ड एकसाथ	:	२०) रु०



प्रथम संस्करण
ग्यारह सौ प्रति



मुद्रक
हरीनाथ सारस्वत
श्री प्रेम हरी प्रेस, वृन्दावन।

प्रकाशकीय

श्री श्रीहरिनामामृत-व्याकरण नामक इस महान् ग्रन्थ के रचयिता श्री मन्माध्वगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायाचार्य वेद-षड्दर्शन-इतिहास-पुराण-शब्दानुशासन ज्योतिष-काव्यालंकार-संगीत-छन्दः-शास्त्रादि विशारद, वैष्णव सिद्धान्त राज्य-रक्षणैक-कुशल एवं विश्व-वैष्णव-राज-सभा-सभाजन, श्रीश्री रूप-सनातनानुग, परमहंसकुल-चूड़ामणि श्रील श्रीजीव-गोस्वामी-चरण हैं।

इस ग्रंथ का बंगाक्षर में कई स्थानों से प्रकाशन हो चुका है। परन्तु देवनागरी लिपिमें यह अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया था। इस गुरुतर अभाव की ओर अनेक प्राचीन एवं अप्रकाशित गौड़ीय ग्रन्थों को देवनागरी लिपि में प्रकाशित करने वाले प्रकाण्ड विद्वान् गुरुपादपद्म कनिष्ठ, त्याग एवं तपोमूर्ति, कुसुम सरोवर निवासी (अधुना नित्यलीला प्रविष्ट) बाबा श्रीकृष्णदास जी महाराज का ध्यान गया और वे अशक्त, जीर्ण-शीर्ण कलेवर होते हुए भी प्रकाशन के लिये इसकी पाण्डुलिपि तैयार करने में जुट गये।

बाबा श्रीकृष्णदासजी महाराज उड़ीसा के कटक जिले के निवासी थे। उनका जन्म एक संभ्रान्त परिवार में हुआ था। बहुत चेष्टा करने पर भी उनके माता-पिता आदि का कोई परिचय प्राप्त नहीं हो सका है। वे बाल्यकाल से ही विद्यानुरागी, विरक्त-स्वभाव एवं भजन-निष्ठ थे। अपने ग्राम में छात्रवृत्ति-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वे कटक गये जहाँ उन्हें परम भागवत, वैष्णवाचार्य, कीर्तन-सम्राट श्रील श्रीमद् रामदास बाबाजी महाराज के दुर्लभ दर्शन एवं उनकी अहैतुकी कृपालाभ का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् वे घर पर न रह सके। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही अपने प्रिय स्वजन एवं घर-बार का सदा के लिये परित्याग कर सीधे नवद्वीप पहुँचे। वहाँ गुरुदेव के श्रीचरणों में आत्म-समर्पण कर समाज-बाड़ी में उन्हें स्वनाम धन्या श्रीश्रीललिता सखीजी (सखी मां) का स्नेहासिक्त संरक्षण प्राप्त हुआ और वे उनके आदेशानुसार आश्रम के नाना प्रकार के सेवाकार्यों में संलग्न रहने लगे। नाम संकीर्तन में उनकी विशेष रुचि थी। वे संकीर्तन करते-करते भाव-विभोर हो जाते और उद्दाम नृत्य करने लगते।

समाजवाड़ी में वेषाश्रम ग्रहण कर वे अपने गुरुदेव के आदेशानुसार बीस वर्ष की आयु में ब्रजमंडल चले गये। वहाँ अनेक स्थानों में घूम-फिर लेने के पश्चात कुसुम-सरोवर पर रहने लगे। इन्हीं दिनों उन्होंने किसी विद्वान महात्मा से संस्कृत एवं भक्ति-ग्रन्थों का अध्ययन किया। बहुत प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चल सका है कि उनके शिक्षा-गुरु कौन थे। वे अपने गुरु-भ्राता रसिक चूड़ामणि श्रील गौरांग दास बाबाजी महाराज एवं श्रील राधाचरण दास बाबा जी महाराज (श्री रजनीदास बाबाजी महाशय) के बड़े कृपापात्र थे। उन्हीं के चरण-प्रान्त में रहकर उन्होंने भजन-साधन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की।

श्री बाबा कृष्णदासजी महाराज बड़े उदारचेता एवं परोपकार-निष्ठ महात्मा थे। वे यह देखकर बड़े दुःखी थे कि देवनागरी लिपि में गौड़ीय वैष्णव साहित्य का नितान्त अभाव है और ब्रजभाषा में लिखित अनेकों ग्रन्थ एवं वाणियां या तो अनुपलब्ध हैं या अप्रकाशित हैं। अतः वे प्राणपण से इस अभाव की पूर्त्ति में जुट गये।

उन्होंने बड़ी लगन से अथक परिश्रम कर अनेक गोस्वामी-ग्रन्थों को देव-नागरी लिपि में और अधिकतर हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया। साथ ही ब्रजभाषा के अनेकानेक ग्रन्थों एवं बाणियों का संग्रह और सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित किया। इस प्रकार उन्होंने गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय की अनुपमसेवा की। जीवन की शेष दशा में उन्होंने श्रीश्रीहरिनामामृत व्याकरण को दो टीकाओं के साथ प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया और बड़े परिश्रम से इस महान् ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार कर इसके मुद्रण की व्यवस्था की। इन दिनों वे वृन्दावन में

रमणरेती स्थित श्रीजयदयालजी डालमिया के बगीचे में निवास कर मुद्रण कार्य का निरीक्षण करते रहे। परन्तु दुर्दैववश अपने इस महान कार्य को पूरा होता न देख सके। घोर परिश्रम और कार्य करने की अपनी धुन में शरीर की आवश्यकताओं की ओर से उदासीनता के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ता चला गया। इस ग्रन्थ के कुछ ही पृष्ठ छप पाये थे कि वे लगभग ६८ वर्ष की आयु में नित्य-लीला में प्रविष्ट हो गये।

हर्ष की बात है कि श्रीगौरांग चन्द्र के अनुग्रह से आज बाबा श्रीकृष्णदास जी द्वारा संकलित एवं संपादित, 'अमृता' और 'बालतोषणी' नामक दो टीकाओं सहित इस ग्रन्थ के देवनागरी लिपि में प्रकाशन के साथ उनका संकल्प पूरा हो रहा है। इस अद्वितीय व्याकरण ग्रन्थ का उचित सम्मान करना तथा इसके प्रचार एवं अध्ययनादि कार्य में विद्यार्थीवृन्द को प्रोत्साहित करना सभी धर्माचार्यों, संस्कृताध्यापकों एवं विद्यानुरागी सज्जनों का परम कर्तव्य है। इन सभी महानुभावों से सविनय निवेदन है कि इस पवित्र नाममाला सदृश व्याकरण ग्रन्थ के प्रचार में सहायक बनें और इसे भारत सरकार, राजकीय सरकारों, विश्व विद्यालयों आदि संस्थानों से मान्यता दिलवाने में अपना सहयोग प्रदान कर नित्य-लीला प्रविष्ट बाबा श्रीकृष्णदासजी के महान् परिश्रम को सार्थक बनायें।

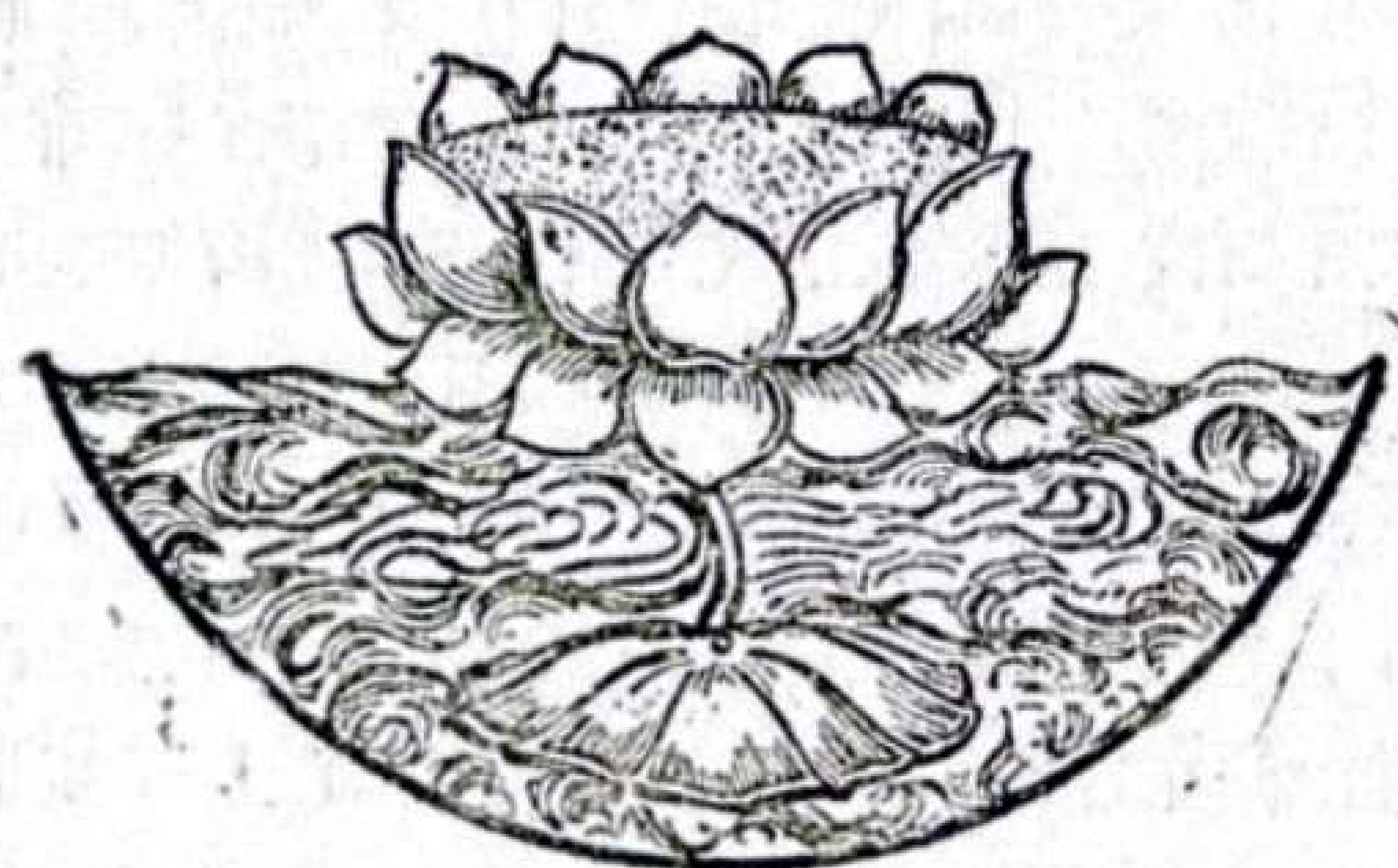
हम आभारी हैं डालमिया-जैन-ट्रस्ट के जिनके अर्थानुकूल्य से इस विशाल ग्रन्थ का प्रकाशन संभव हो सका है, श्री फूलचन्द जी गुप्त के जिन्होंने ग्रन्थ के मुद्रण का भार अपने ऊपर लेकर प्रकाशन में सहायता की है, और वैष्णव-सम्प्रदायाचार्य श्रीरास बिहारी शास्त्री, एम. ए. व्याकरणाचार्य तथा श्रीहरिदास शास्त्री, न्यायाचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्य-मीमांसा वेदान्त तर्क-तर्क-तर्क-वैष्णव दर्शन-तीर्थ के जिन्होंने ग्रन्थ के प्रूफ देखने में अथक परिश्रम किया है। श्री हरिदास जी शास्त्री के हम ग्रन्थ की भूमिका लिखने और शुद्धि-पत्र तैयार करने के लिये भी विशेष रुप से आभारी हैं।

ग्रन्थ के मुद्रण में, विशेष रूप से प्रथम खंड के मुद्रण में जो अशुद्धियाँ रह गयी हैं उनके लिये क्षमा-प्रार्थना करते हुये हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि शुद्धि-पत्र की सहायता से उन्हें सुधार कर ही ग्रन्थ का उपयोग करनेकी कृपा करें।

विनीत

प्रकाशक





भूमिका



संस्कृत वाङ्मय तथा भारतीय दर्शन से किंचित् मात्र भी सम्बन्ध रखनेवाला ऐसा कौन होगा जो श्रीजीव गोस्वामी से भली भांति परिचित न हो ? सभी जानते हैं कि वे उन छः गोस्वामियों में से थे, जिन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के आदेश से व्रज के लुप्त तीर्थों का उद्धार तथा विशाल और मूलभूत वैष्णव साहित्य का निर्माण कर वैष्णव धर्म की नींव को सुदृढ़ बनाया।

श्रीजीव, रूप-सनातन के छोटे भाई श्रीवल्लभ (अनुपम) के पुत्र थे। उनका जन्म गौड़ीय-वैष्णवाचार्य स्वर्गीय श्रीवनमाली लाल गोस्वामी के ग्रन्थागार में सुरक्षित प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार संवत् १५८० में और अप्राकट्य संवत् १६६५ में हुआ।* अल्पावस्था में ही काव्य, व्याकरण, न्याय, दर्शनादि में पारदर्शिता लाभ कर वे वृन्दावन चले गये और श्री रूप-सनातन के आनुगत्य में पूर्ण वैराग्यमय और भजनशील जीवन बिताने लगे। लगभग ६५ वर्ष वृन्दावन में रह कर उन्होंने जो महत्वपूर्ण कार्य किये, उनमें भागवत–सन्दर्भ, सर्व–सम्वादिनी, गोपाल चम्पू, माधव–महोत्सव और हरिनामामृत व्याकरणादि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना प्रधान हैं।

पंडित समाज में व्याकरण को बालशास्त्र कहते हैं। प्रश्न हो सकता है कि भागवत–सन्दर्भ जैसे दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणेता पंडित–अग्रगण्य श्रीजीव गोस्वामी ने बाल–शास्त्र–विषयक "हरिनामामृत व्याकरण" की रचना क्यों की ? उत्तर यह है कि अन्य व्याकरणों को "बाल–शास्त्र" की संज्ञा भले ही दी जाय, पर हरिनामामृत व्याकरण के उद्देश्य और उसकी रचना–कौशल को देख इसे बाल–शास्त्र नहीं कह सकता। इसका महान उद्देश्य है व्याकरण अध्ययन-अध्यापन के बहाने शिक्षकों और छात्रों को कौशल पूर्वक हरिनामामृत का पान कराना। श्रीमद्भागवत में कहा है कि भगवन्नाम का उच्चारण किसी अन्य अभिप्राय से किया जाय तो भी सारे पाप नष्ट हो जाते हैं :

---

* कुछ लोगों का मत है कि उनका जन्म संवत् १५६८ में और अप्राकट्य संवत् १६५३ में हुआ।

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोत्रं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥

(श्रीमद्भा० ६. २. १४-१५)

इसलिये इस व्याकरण में पाणिनि - प्रणीत व्याकरण की संज्ञाओं को भगवान् के नामों पर इस प्रकार रखा गया है कि व्याकरण पढ़ते समय भगवन्नाम की आवृत्ति और भगवद् रूप, गुण, लीला आदि का स्मरण स्वतः ही होता रहे। उदाहरण स्वरूप इसमें स्वर' वर्ण को 'सर्वेश्वर' की और 'व्यञ्जन' वर्ण को 'विष्णुजन' की संज्ञा दी गयी है; क्योंकि जिस प्रकार भगवान विष्णु सर्वेश्वर हैं और अन्यान्य देवी-देवता उनके अधीन रह कर विभिन्न प्रकार से उनका वैभव बढ़ाते हैं, उसी प्रकार 'स्वर' वर्ण वर्णों के ईश्वर हैं और 'व्यञ्जन' वर्ण उनके अधीन रह कर उनके ऐश्वर्य की वृद्धि करते हैं। 'व्यंजन' वर्ण न तो 'स्वर' वर्ण की सहायता के बिना उच्चारित होते हैं और न विभिन्न प्रकार के शब्दों की सृष्टि ही कर सकते हैं। इसी प्रकार 'पुलिंग','स्त्रीलिंग' और 'नपुंसक लिंग' को क्रमशः 'पुरुषोत्तम', 'लक्ष्मी' और 'ब्रह्म' लिंग की संज्ञा दी गयी है, 'विभक्ति' और 'पद' को क्रमशः 'विष्णु भक्ति' और 'विष्णु पद' की, 'बहुव्रीही' (समास) और 'द्वन्द्व' (समास) को क्रमशः 'पीताम्बर' और 'रामकृष्ण' की, तथा अन्य सभी संज्ञाओं को कोई न कोई ऐसी संज्ञा दी गयी है, जिससे उन संज्ञाओं के स्वरूप के संकेत के साथ भगवन्नाम का उच्चारण हो और भगवान के रूप, गुण, लीला आदि से मन का संयोग हो।

मनुष्य जीवन का महानतम उद्देश्य है भगवत्-प्रेम की प्राप्ति। भागवतादि शास्त्रों का अनुशीलन इस उद्देश्य की प्राप्ति में विशेष रूप से सहायक है, और शास्त्रानुशीलन का प्रथम सोपान है व्याकरण। हरिनामामृत व्याकरण के अध्ययन से प्रारम्भ से ही मनुष्य में भगवत्- प्रेम का बीजारोपण और तदनुकूल संस्कारों की सृष्टि होती है। इसी उद्देश्य से इस ग्रंथ की रचना की गयी है। ग्रंथ के मंगलाचरण में अपने इस उद्देश्य को व्यक्त करते हुए श्री जीव गोस्वामी ने कहा है –

"भक्तगण जिस प्रकार तुलसी की माला के सहारे कृष्ण-नाम जप करते हैं, उसी प्रकार वे व्याकरण के सूत्रों के सहारे नाम-जप कर सकें, इस उद्देश्य से मैं श्रीकृष्ण-नामावलि का सूत्रों से ग्रन्थन कर रहा हूँ। इस माला के जप से श्रीकृष्ण-संग-जनित आनन्द की उपलब्धि होगी और व्याकरण शास्त्र में व्युत्पत्ति के साथ-साथ भागवतादि अप्राकृत शास्त्रों के अनुशीलन का अधिकार प्राप्त होगा।

कलापादि व्याकरण को निरर्थक और वागाडम्बर पूर्ण देखकर ही मैं वैष्णवों के लिये इस हरिनामावलि-सम्पुटित व्याकरण की रचना कर रहा हूँ, जिससे व्याकरणरूप मरुप्रदेश में प्रकृत जीवनरुप जल की आशा से व्यर्थ भटकने वाले लोग हरिनामामृतरूप सुधा का स्वच्छंद पान कर तृप्त हो सकें।"

परन्तु इस व्याकरण का अवलोकन करने पर समझने में देर न लगेगी कि यह केवल वैष्णवों के लिये ही नहीं, अध्ययन परांमुख सभी व्यक्तियों के लिये, कितनी उपयोगी है। इसकी प्रक्रिया इतनी सरल है कि व्याकरण जैसे शुष्क और जटिल विषय को अति सरस और सुगम बना देती है। सूत्रार्थ समझने के लिये इसमें विवृति की आवश्यकता नहीं है। स्वल्पकाल में ही यह व्याकरण-शास्त्र में प्रौढ़ पांडित्य और अन्य व्याकरणों के सिद्धान्त, संज्ञा आदि का पूर्ण ज्ञान उपलब्ध करा देती है, क्योंकि इसमें सभी व्याकरणों का मन्थन कर, सबके सिद्धान्तों का सार लेकर, जो पद जिस प्रकार निष्पन्न होना चाहिये उस-प्रकार किया गया है।

सरल होने के साथ-साथ हरिनामामृत व्याकरण की प्रक्रिया स्वाभाविक भी है। पाणिनि ने अ, इ, उ, ण, आदि चतुर्दश सूत्रों को शिवजी के डमरू से उद्घोषित माना है। पर श्रीजीव गोस्वामी ने वर्णक्रम को स्वयं नारायण से उद्भूत होकर ब्रह्मा-नारद-व्यासादि क्रम से प्राप्त माना है। पाणिनि के अनुसार वर्णों का संगठन सूत्रों की संरचना के अनुसार होने के कारण मातृका क्रम या उच्चारण के स्थानानुसार नहीं है। पर हरि-नामामृत व्याकरण के अनुसार वर्ण नारायण से उद्भूत होने के कारण स्वाभाविक उच्चारण के अनुसार संगठित हैं। श्रीमद्भागवत के "तेने ब्रह्महृदा य आदि कवये" (भा. १।१।१) और "प्रचोदिता येन" (भा. २।४।२२) इत्यादि वाक्यों से प्रामाणित है कि नारायण ने ही स्वनाभिकमलज ब्रह्मा के मुख से शब्द-ब्रह्म प्रकट किया है। यह भी श्रीमद्भागवत १२।६।४३ से प्रामाणित है कि नारायण से प्राप्त नादब्रह्म से ही ब्रह्मा ने अन्तःस्थ और ऊष्मादि अक्षरों को प्रकट किया है। श्रीजीव गोस्वामी ने इस प्रकार वर्णक्रम को नारायण से उद्घोषित मानकर व्याकरण में पाणिनि की आरोहवाद की पद्धति की जगह अवरोहवाद की पद्धति को स्थान दिया है, जो आस्तिकवाद का मूल है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ 'बाल-तोषणी' 'तद्धितोद्दीपनी' और 'अमृता' टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। बाल-तोषणी टीका श्रीहरेकृष्ण आचार्य द्वारा लिखी गयी है। पर यह समास प्रकरण के २५९ सूत्र तक ही है। अवशिष्ट समास प्रकरण की टीका की पूर्ति श्रीगोपी-चरण दास ने 'बाल-तोषणी' के नाम से की है। तद्धित-प्रकरण की 'तद्धितोद्दीपनी' टीका

भी उन्होंने ही लिखी है। 'अमृता' टीका श्री गोपालदास द्वारा की गयी है। इनके अतिरिक्त एक अप्रकाशित टीका श्रीगोविन्ददेव-ग्रन्थागार जयपुर में है। श्री भरत मल्लिककृत कारकोल्लास ग्रन्थ भी प्रस्तुत ग्रन्थ के कारक-प्रकरण पर अवलम्बित है।

टीकाकार श्रीहरेकृष्ण आचार्य का कहना है कि हरिनामामृत व्याकरण का आधार "लघु हरिनामामृत" नाम की एक संक्षिप्त व्याकरण है, जिसकी रचना श्री सनातन गोस्वामी ने की थी। पर इस संक्षिप्त व्याकरण को अन्य व्याकरणों की अपेक्षा रहती थी, इसलिये श्रीजीव गोस्वामी ने बृहदायतन "हरिनामामृत व्याकरण" का प्रणयन किया। हरिनामामृत के गौड़ीयमठ से प्रकाशित संस्करण में लघु–हरिनामामृत का मुद्रण परिशिष्ट के रूप में किया गया है।

संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार के लिये हरिनामामृत व्याकरण एक बेजोड़ ग्रन्थ है। देवनागरी अक्षरों में इसका यह संस्करण विश्वविद्यालयों को अवसर प्रदान करेगा कि वे पाठ्य-पुस्तक के रूप में इसे अपना कर व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन को सरल और रुचिकर बनायें।

—हरिदास शास्त्री



श्रीश्रीहरिनामामृत-व्याकरणस्य

विषय-सूची





श्रीश्रीहरिनामामृत-व्याकरणस्य (उत्तरार्द्धस्य)

❋ विषय-सूची ❋



श्रीश्रीहरिनामामृत व्याकरण (प्रथम-खण्ड)

❁ शुद्धिपत्रम् ❁

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१	१३	शव्दा	शब्दा
२	२	कषणं	कर्षणं
३	१८	गण	गुण
४	७	नुदिश्य	नुद्दिश्य
४	२९	बहूनि	बहूनि
८	२९	पारानम्	पाराणाम्
८	३१	भुयार्णं	भूतार्णं
८	३१	भुतार्णं	भूतार्णं
९	४	व्रह्म	ब्रह्म
९	१९	उभयाश्वा	उभयश्चा
११	२२	"अत्र क-ष-संयोगेक्ष—दर्शितः"	इत्यंशः सम्पातायातः
१२	,,	स्वरश्व	स्वरश्च
,,	,,	शव्द	शब्द
,,	,,	वृहद्	बृहद्
,,	२६	संज्ञमाह	संज्ञामाह
१३	१९	वोध्यम्	बोध्यम्
,,	२३	वलरामो	बलरामो
१४	१५	वहु	बहु
,,	१६	वल	बल
,,	२३	वले	बले
१५	१०	वले	बले
,,	११	वृहद्	बृहद्
,,	१७	ग्रन्थ कृद्भिः	ग्रन्थ कृद्भिः
१६	८	अनश्च	अणश्च
,,	९	इनश्च	इणश्च
,,	२९	वृहद्	बृहद्
,,	२०	वलदेवादिः	बलदेवादिः
,,	२२	वलदेवः	बलदेवः
१७	८	वलाद्	बलाद्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
,,	२०	वन्धा	बन्धा
,,	२५	वक्ष्यामाण	वक्ष्यमाण
१८	२२	प्यव्ययम्नेति	लवेप्यव्ययम्वेति
१९	१३	व्रह्म	ब्रह्म
२०	१६	वल-बलराम-वल	बल
२१	४	छफश्च	छवश्च
,,	१७	छिनत्तीनि	छिनत्तीति
२२	१२	हरिवेणः	हरिवेणुः
,,	१८	यबरलाः	यवरलाः
२५	१३	समप	समीपे
,,	१८	सामन्यतो	सामान्यतो
,,	२०	कयम्भूतस्थ	कथम्भूतस्य
२६	२२	विटपुरदीदो	विष्णुपदादौ
२७	१५	ग्रन्थकृद्धिः	ग्रन्थकृद्भिः
,,	२३	अदेशो	आदेशो
३६	१७	सूझे	सूत्रे
५१	६	तमालोनु	तमालोनूइ
५३	७	ईशस्यानेकात्मके	ईशस्यान्यैकात्मके
६०	२४	वलरामस्येत्यर्थः	बलरामस्येत्यर्थः
६१	३३	उत्युदाहरणम्	इत्युदाहरणम्
६३	१६	प्रपर्वात्	प्रपूर्वात्
६४	१८	युज्यने	युज्यते
६५	६	मशापो	मरामो
,,	२४	विष्णुजनत्वा	विष्णुजनत्व
६६	१५	नभिप्रेतः	नाभिप्रेतः
६७	८	आङ्म्यां नित्यम्	आङ्माङ्भ्यां नित्यम्
,,	१२	दविपदान्ताच्च	दपिपदान्ताच्च
६८	२	वामनात् ङणवाः सर्वेश्वरे	वामनात् ङणनाद्विः सर्वेश्वरे
,,	३३	रमामाविति	ररामाविति
६९	१८	व्रह्मेति वृहि	ब्रह्मेति बृहि
७०	२	व्रह्मा व्रह्म्‌मा	ब्रह्मा ब्रह्म्‌मा
७२	२	पटत् पटेति	पटत् पटदिति पटत्पटेति वा
,,	३९	विष्णेचक्र विष्णेचाणे	विष्णुचक्र पूर्वो विष्णुचापः
७५	२८	इयनेन	इत्यनेन
७६	२७	विष्णुसगः	विष्णुसर्गः

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
७७	१५	स्पटीकृतम्	स्पष्टीकृतम्
,,	,,	इत्यसान्धः	इत्यसन्धिः
८१	२७	समापियति	समापयति
८३	१८	समानतण	समानत्व
,,	२९	उक्तपिति	उक्तमिति
,,	३४	इत्यने	इत्यनेन
,,	५	तेषा	तेषां
,,	६	विभ्रु	विष्णु
,,	३३	वजयित्वेति	वर्जयित्वेति
,,	३५	धातुविष्णुशक्ति	धातुविष्णुभक्ति
,,	,,	संख्यात्	संख्यातः
८४	१३	असन्मत	अस्मन्मते
,,	२४	व्यवहरात्	व्यवहारात्
८५	४	शव्दस्पर्षादिको	शब्दस्पर्शादिको
,,	१०	लम्नः	नाम्नः
,,	१३	विष्णु प्रत्येकं	विष्णुभक्तयः
,,	३०	लज्ञणमिदं	लक्षणमिदं
८६	२	जशढ	जशट
,,	३	अनुवन्धश्च	अनुबन्धश्च
,,	९	इस	इत्
,,	३४	स्वादिनामात	स्वादिनामान
८७	२	जष्णयाः	जटणपाः
८८	१३	ऊठादीदां	ऊठादीनां
,,	१७	इती भवन्तिव	इद् भवन्ति
,,	२९	अण्त्यो	अन्त्यो
,,	३०	मुराम्यदिश्च	मुरामादिश्च
९०	१५	पर्वनिमित्तं	पूर्वनिमित्तं
९१	२१	शसत्वामात्	शसत्वाभावात्
,,	३१	सत्र्यते	सूत्र्यते
९२	५	कृत्-	कृत-
१००	११	ररामपरः	ररामहरः
१०१	९	नेस्त्रयो	त्रेस्त्रयो
,,	२३	परभ	परम
१०२	२६	ब्रहुवचनश्चेत्यर्थः	बहुवचनश्चेत्यर्थः
१०३	१८	भदे	भेदे

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१०६	२	वहुलम्	बहुलम्
,,	१०	सवश्वरे	सर्वेश्वरे
,,	२६	विषेशणम्	बिशेषणम्
१०७	२७	अपूव विधानम्	अपूर्वं विधानम्
१०८	१६	सवश्वरत्वाभावइतिभ्मम,	सर्वेश्वरत्वाभाव इति भाव:
,,	२२	पुनभू।	पुनर्भू:
१०९	७	सखिभ्यात्यादि	सखिभ्यामित्यादि
१११	२९	रसम्भाव्	रसम्भवात्
११३	६	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तम लिङ्गाः
,,	१०	,,	,,
,,	१८	,,	,,
११४	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
,,	७	राधाया एः	राधाया ए
,,	१२	याधयति	राधयति
,,	२४	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
११५	१	,,	,,
,,	३	सम्वोधने	सम्बोधने
,,	४	वहिरङ्गं	बहिरङ्गं
,,	६	वलवानिति	बलवानिति
११६	४	निजर	निर्जर
११७	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
११८	३	भक्तघे	भक्तये
११९	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
,,	१६	कौनुद्यां	कौमुद्यां
१२१	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
,,	२४	उणदिनो	उणादिनो
१२३	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
,,	१०	ग्रन्थकृमन्तं	ग्रन्थकृन्मतं
,,	२१	तदेवोपन्यस्यति	तदेवोपन्यस्यति
,,	,,	गतिकरकेतर	गतिकारकेतर
१२४	३	वह्वेवं	बह्वेवं
१२५	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
,,	१३	,,	,,
,,	२४	,,	,,
,,	२७	तिलक्ष्मीरिति	अतिलक्ष्मीरिति

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१२५	६	अनितुवामिति	अनियुवामिति
,,	३३	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
१२६	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
,,	२१	,,	,,
१२७	१	सर्वेश्वराणां नपुंसकलिङ्गाः	सर्वेश्वरान्ता ब्रह्मलिङ्गाः
१२९	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
,,	३	ब्रह्मे	ब्रह्मे
,,	१८	तस्येद	तस्येदं
१३०	१५	षण्णा	षण्णां
१३१	१	नपुंसकलिङ्गा	ब्रह्मलिङ्गाः
,,	२२	यतोऽतिवोपिना	यतोऽतिगोपिना
,,	२८	भववती	भगवती
१३२	२	मीशान्तं ब्रह्म	मोशान्तं ब्रह्म
,,	१६	पुरुषोत्तमवच्च	पुरुषोत्तमवद्रूपं
१३३	१	सवश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः	सर्वेश्वरान्ता ब्रह्मलिङ्गाः
,,	२	बिष्णुभक्ति	विष्णुभक्ति
,,	२१	प्रत्यान्तवद्	प्रत्ययान्तवद्
,,	२९	विण्णु	विष्णु
१३५	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
,,	३	षब्दानां	शब्दानां
,,	५	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
,,	१५	,,	,,
,,	२०	,,	,,
,,	१६	हेतुस्तु उच्वाधपरः	नास्त्येवपाठः
१३७	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	७	भवगाञ्च्छूरः	भगवाञ्च्छूरः
,,	११	त्यादौ	इत्यादौ
१३८	५	रुदग	रुदच
,,	२२	ररामेस्य	ररामस्य
१४०	२	गो विष्णुपदान्ते	षो विष्णुपदान्ते
१४१	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	८	राथा	राधा
१४३		नामन्तस्येति	नामान्तस्येति
,,	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
१४४	३	महातन्म्	महान्तम्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१४५	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	२१	प्रभृतीसां	प्रभृतीनां
१४६	५	निक्शु	निच्शु
,,	८	सघ्वोश्च	सध्वोश्च
१४७	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	३	पुण्डुप्	पुण्ड्रप्
,,	३३	पर्वतम्	पूर्वमत्
१४८	२०	मयतेदिति	मापतेदिति
,,	३०	वेतमाह	हेतुमाह
१४९	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	२०	रननिति	निति
१५०	१४	मायो	भावो
,,	२३	रिदतोः परस्यः	ऽिदुतो परस्य
,,	२५	ताराम निर्देशः	साराम निर्देशः
१५१	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	१५	निमित्तत्य	निमित्तत्व
,,	१९	वत्तिन	वर्त्तिन
,,	,,	त्रिथिक्रम	त्रिविक्रम
१५२	१५	षरे	परे
१५३	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	१२	रषणान्त	रषनान्त
१५४	१३	तस्मादद्धात्ते	तस्मादुद्धवस्य
,,	१६	रषणान्तेति	रषनान्तेति
,,	२५	यिष्णुभक्तिस्विति	विष्णुभक्तिष्विति
१५५	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	१०	रषणान्तेति	रषनान्तेति
,,	१७	प्रियाष्टत्	प्रियाष्टः
१५६	४	भवयोश्च	मवयोश्च
,,	५	फलि	झलि
,,	३०	अविण्मु	अविष्णु
१५७	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	४	रषणान्तति	रषनान्तेति
१५८	९	दधृशी	दधृषौ दधृषः
,,	१२	रषणान्तेति	रषनान्तेति
,,	३०	हरे कृष्ण-प्राशिति	हरे ॥ कृष्णप्राशिति ।

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१५९	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	३	मयदचे वेति	'मयट्येव' इति
,,	६	षण्णदति	षण्णवति
,,	१९	हतिवेणुविधिः	हरिवेणुविधिः
,,	२१	हरियेणुविविः	हरिवेणुविधिः
,,	३०	भृतस्य	युक्तस्य
,,	३१	नयति	नवति
१६०	७	सपि	सर्पि
,,	११	भतीनां	मतीनां
,,	३४	प्रियदषामिति	प्रियषषामिति
१६१	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
१६२	१३	शेवस्व	शेषस्य
१६३	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	१०	दादेस्व	दादेस्तु
१६४	९	कंसहिसौ	कंसहिंसौ
,,	१५	जान्त	सान्त
,,	१६	ल्यादिति	स्यादिति
,,	२०	राम	अराम
१६५	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	२५	दह	इह
,,	३१	ध्त्रस्त	ध्वस्त
१६७	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
,,	३	औणादिकसस्यास्य _ तत्व	औणादिकस्यास्य ... षत्व-
,,	५	दिष्णुसर्गत्वश्च	विष्णुसर्गत्वश्च
,,	९	विब्णुपदान्त	विष्णुपदान्त
१६८	१०	कंसद्विदसु	कंसद्विट्सु
,,	११	राधाविष्णुजताभ्यालिति	राधाविष्णुजनाभ्यामिति
,,	२२	वासुटेवः	वासुदेवः
१६९	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
१७०	११	,,	,,
,,	२०	,,	,,
,,	२८	,,	,,
१७१	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
,,	१५	प्रियघतस्रौ	प्रियचतस्रौ
,,	२३	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१७१	२५	प्रियचतस्येति	प्रियचतस्त्रेति
१७२	२१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
,,	२४	,,	,,
१७३	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
,,	२४	,,	,,
,,	२८	सुम्	नुम्
,,	५	कंसहिसौ	कंसहिंसौ
१७५	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
,,	१७	सुपन्थासीति	सुपन्थानीति
,,	२८	दीर्घाहेदि	दीर्घाहेति
१७६	७	अपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
,,	१९	इतिन पुंसकालिङ्गाः	इति ब्रह्मलिङ्गाः
१७७	२	संज्ञाविषेषादौ	संज्ञाविशेषादौ
,,	२०	पायश	प्रायशः
,,	१७	विग्णुभक्ति	विष्णुभक्ति
१७८	२	विशेषणाम्	विशेषणम्
,,	७	सुदाहृतमिति	मुदाहृतमिति
१७९	६	स्वलिंग	स्वलिङ्ग
,,	१०	द्वैविघ्तात्	द्वैविध्यात्
१८०	३	बहूनां	बहूनां
,,	१७	द्विवनादिकं	द्विवेनादिकं
,,	२०	पदैने	यडैते
,,	३३	व्ययस्था	व्यवस्था
१८१	१२	पटितानाभधिक	पठितानामधिक
१८३	५	सप्यकं	सप्तकं
,,	१४	विधेरुम्युपगमात्	विधेरभ्युपगमात्
,,	१५	दर्मयति	दर्शयति
,,	२१	कलस्यपदार्थावेत्यर्थः	कालस्यपदाथायेत्यर्थः
१८४	२०	स्फय्यति	स्फुय्यति
१८५	२५	हेत्र्थात्	हेत्वर्थात्
१८७	२८	जातीयाऽरयवबतीयस्या	जातीयावयवतीयस्यार्थे
१८८	१९	अनुपश्चत्	अनु पश्चात्
१८९	५	इदमक्	इदकम्
,,	११	संसुारस्याराम:	संसारस्याराम:
१९०	५	अम्	अमुं

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
१९१	५	नद्वेर्मः	नद्वेर्मः
,,	२६	भांवात्	भावात्
१९२	१२	पुमरौ	पुनरौ
,,	२७	आवात	आवाम
,,	३१	एवमतियथमित्यादि	एवमतियूयमित्यादि
१९३	९	युष्मम्यं	युष्मभ्यं
,,	१०	अस्माकं मित्येषां	अस्माकमित्येषां
१९४	१७	स्फटम्	स्फुटम्
,,	२०	नित्ष	नित्य
१९	२३	पदादौ	पादादौ
१९७	५	कथं "मुचितं	कथमुचितं
१९८	२	तौ द्दौ	तौ द्वौ
,,	१३	पर सप्तम्येथ	परसप्तम्येव
१९९	१६	प्रषिसिद्धे	प्रतिसिद्धे
,,	३२	वभति	भवति
२००	१६	उत्तर प्र्वा	उत्तर पूर्वा
,,	२८	पूर्वादेय	पूर्वादय
२०१	२	अथनपुंसके	अथब्रह्मणि
२०२	४	स्व	स्व:
,,	१०	सदृशांत्रषु	सदशं त्रिषु
२०३	२	प्रायदश्च	प्रादयश्च
,,	४	एषामित्यर्थवत्वात्	एषाम्' इत्यर्थत्वात्
,,	७	--- --- --- ---	इति कृष्णनाम प्रकरणम् ॥
,,	१२	प्रादिम्यश्च	प्रादिभ्यश्च
२०४	११	अकाशात्	सकाशात्
,,	२२	निखिलाम्मायवेद्यस्य	निखिलाम्नाय वेद्यस्य
,,	३१	भू सन्नती, भूसन्नती	भूसनन्तौ, भूसनन्तौ
२०५	९	व्यप्याधिकाव	व्याप्याधिकार
,,	१७	अधिकर भेदः	अधिकार भेदः
,,	२१	पीताम्नो	पीताम्बरो
,,	२५	विधि	विध
,,	२७	ह्विविधिस्य	द्विविधस्य
२०७	१५	मद् भिन्नो	तद् भिन्नो
,,	२०	नपपत्तेः	नुपपत्तेः
२०८	३	यास्म	यास्म

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२०८	६	बाल	बाल
,,	९	श्वस्ती	श्वस्तनौ
२०९	१०	भगवददतार	भगवदवतार
२१०	८	ईत्	ईत
,,	१८	प्रयम	प्रथम
,,	१९	भयवन्नामत्वम्	भगवन्नामत्वम्
,,	२१	भगन्नामता	भगवन्नामता
२१२	१८	भ्वादे श्वरादेश्चशप्	भ्वादेश्चशप्
२१३	१३	ऽपीत	ऽपीति
२१८	३२	हिनि	हिनु
२१९	२०	उपसगति	उपसर्गेति
२२१	९	महाहरेहि	महाहुरेपि
२२२	२३	नेढ्य	नेट्य
२२३	४	अभाविषताम, अभविषताम्	अभाविषताम्, अर्भाविषाताम्
,,	२७	वृष्णीन्द्रार्बिदिकमेष	वृष्णीन्द्रादिकमेव
,,	३२	अरामन्य	अरामान्य
२२४	२४	ाल०	बाल०—
,,	३०	ननेति	विवेति
२२६	७	वबूवयुः	बभूवयुः
,,	३४	अधोज्ञज सर्वेपर परत्वाभावादिति	अधोक्षज सर्वेश्वर परत्वाभावादि
२२७	३	निर्गणः	निर्गुणः
,,	२५	अभवियव्यतेत्यादि	अभविष्यतेत्यादि
२२९	७	वेतिभ्यो	वेत्तिभ्यो
२३०	३२	नस्कुटति	नस्फुटति
२३१	३	विद्यादी	विध्यादी
,,	३	स्फाटतु	स्फोटतु
,,	४	अस्फाटतु	अस्फोटतु
२३२	३	अम्यो	अन्यो
,,	२	स्फटिपीष्ट	स्फोटिपीष्ट
,,	२५	कपिशत्वान्नरामहरः	कपिलत्वान्नरामहरः
२३३	१२	सतूपतारात्	सतूपतापाद्
२३५	५	हरिकयलम्	हरिकमलम्
,,	८	वस्यापि	वस्यापि
२३८	८	मध्यस्याा	मध्यस्या
२३९	२	तफल	तृफल

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
२३९	६	तस्मद	तस्माद
,,	३१	नैत्वादी	नेत्यादी
२४३	४	यादयश्वादय	यादयश्चायादयश्च
,,	१०	उवीरवेत्यत्र	उवोवेत्यत्र
२४७	१०	घन् पपी	घन्यपी
२४८	९	युजिभृञ्जि	युजिभृज्जि
,,	१०	स्वजिरुद्धवो	स्वजिरुद्धवन
२५०	४	यम	जमि-यमयो
२५२	१४	इत्युक्ता	इत्युक्तत्वादादिरेवगृहीतः
२५३	७	र, वः	र-व-प्राक'
,,	११	पुररिह	पुनरिह
,,	२१	द्विवंन	द्विवंचन
,,	३३	मन्यत्र	मन्यत्र
२५५	१०	ज्ञेयम्	क्षेयम्
,,	२६	इत्येताभ्याञ्चोरे	इत्येताभ्याञ्चोत्तरे
२५६	३	परपदै	परपदे
,,	१७	प्रप्ते	प्राप्ते
२५७	४	आय इयङ्	आय ईयङ्
,,	११	समार्थ्यादेवात्र	सामर्थ्यादेवात्र
२५८	३	गोपाथ्थादित्यादौ	गोपाथ्यादित्यादौ
,,	१४	कमणि	कर्मणि
२५९	५	छिव्वाचमुक्लमा	छिव्वाचमु लक्मां
,,	१६	वेष्णवत्वा	वैष्णवत्वा
,,	१७	भवेन	भावेन
,,	२१	ग्रहणम	ग्रहणम्
२६०	२	चम्यामि	चम्यमि
,,	२८	सहचर्य्यात्	साहचर्य्यात्
,,	३२	क्रमस्त्रिक्रिमो	क्रमस्त्रिविक्रमो
२६२	१५	रित्यत्मपदं	रित्यात्मपदं
,,	१८	हमम्यान्ते	हमयान्ते
२६३	२	र वः	र-व०
२६५	४	वर्ढेति	अवार्ढति
,,	२६	मानियमि"	मनियमि
२६६	६	सकोऽन्तरहर	सकोऽन्तहरः
,,	७	ननु वहुण्वम्	ननु बहुत्वे

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२६८	१	श्रीश्रीहरिनामकृत-	श्रीश्रीहरिनामामृत-
,,	९	परत्वाम् गत्वं	परत्वान्नत्वं
२६९	६	व्यावाये	व्यवाये
,,	२२	कुत्वाङिति	कुष्याङिति
,,	३१	सवश्वर	सर्वेश्वर
२७१	२	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	३४	सहस सवश्वरान्त	सहज सर्वेश्वरान्त
२७२	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
,,	९	कर्त्तार	कर्त्तरि
,,	२२	कान्तिक्षलः	कान्तिक्षयः
२७३	३	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	५	आरामादान	आरामादन
,,	१३	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	,,	,,	,,
,,	३१	नरये	नरस्य
२७४	१०	सामर्य्यादिव	सामर्थ्यादिव
२७५	९	पनिमित्तस्य	षनिमित्तस्य
,,	७	वगंज	वर्गज
,,	२५	सिद्धयर्थमिथि	सिद्धयर्थमिति
२७६	८	टयदवन्तयो	टयदन्तयो
,,	,,	यथो	ययो
,,	१०	अस्मापींत	अस्मार्षीत्
,,	१३	स्यानित्वात्	स्थानिवत्त्वात्
,,	१३	सात्व	सात्वतः
,,	१७	सत्सङ्गाटयदन्त	सत्सङ्गाद्दन्त
,,	१८	कापालस्य	कामपालस्य
,,	१८	र्वष्णीन्द्रा	वृष्णीन्द्रा
,,	१९	निषद्धो	निषिद्धो
२७७	८	नियतान्नि	नियमान्नि
,,	१०	हरिभ्यामिट	हनिभ्यामिट्
,,	१२	द्य्दन्ताच्च	टयदन्ताच्च
,,	१७	टथदन्त	टयदन्त
,,	२१	विधातल	विहित् कपिल
,,	,,	टथदन्त	टयदन्त
,,	२२	यग्रहुणेनात्म	यग्रहणेनात्म

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
२७७	२७	भियि	मिति
,,	२९	दित्यादनविति	दित्यादाविति
,,	३०	लणणे	लक्षणे
,,	३१	सत्तपि	सत्यपि
२७८	८	ऋद्वयान्त	ऋद्वयान्त
,,	,,	दृश्योगोविन्दो	दृश्योर्गोविन्दो
,,	९	ऋरमान्तानां	ऋरामान्तानां
,,	१२	प्रत्तये	प्रत्यये
,,	१३	चिविक्रमः	त्रिविक्रमः
,,	१४	प्रनिपेधति	प्रतिषेधति
,,	१९	शस्त्य	शास्त्य
,,	२६	भवमि	भवति
,,	२९	त्रिविक्रः	त्रिविक्रमः
,,	,,	धानुके	धातुके
२७९	७	दृचदन्तदो	दृचदन्तयो
,,	९	तदुत्	तदेतत्
,,	१५	प्रासोयो -- नियेधः	प्राप्तोयो — निषेधः
,,	२०	नानधातौ	नामधातौ
,,	२४	अत्मपदं	आत्मपदं
,,	३२	उयेन्द्र	उपेन्द्र
,,	३५	निपेध	निषेध
२८०	४	उश्वनो	उश्न्वो
,,	६	निर्गुणे	निर्गुण-
,,	८	श्रृणुयात्, श्रृणुयात्,	शृणुयात्
,,	,,	श्रृणोतु	शृणोतु
,,	९	श्रुवणे	श्रवणे
,,	,,	स्फाने	स्थाने
,,	१२	हृस्वान्त	ह्रस्वान्त
,,	,,	कध	कथ
,,	१४	रुवादेः	रुधादेः
,,	१५	श्रृणुते	शृणुते
,,	२०	उराभस्य	उरामस्य
,,	,,	छरो	हरो
,,	२४	क्रमदीश्वरादतस्तु	क्रमदीश्वरादयस्तु
२८१	३	शृवानि	शृणवानि

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
२८१	४	क्रयादि नियमे	क्रादि नियमे
,,	३	शृणोत्	अशृणोत्
,,	३	शृश्रुवतु	शृश्रुवतुः
,,	७	धूञभ्य	धूञ्भ्य
,,	९		स्रु गतौ
,,	१४	असंयोगपूर्वादिति	असंयोगपूर्वादिति
,,	२१	द्र	द्रु
,,	२२	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	,,	,,	,,
,,	२३	कर्त्तरीति	कर्त्तरीति
,,	२५	रेरपवातः	रेरपवादः
,,	२९	छुञ	छुञ्
२८२	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
,,	१०	अनिरामेतिमिति	अनिरामेतां
,,	१२	तृ प्लवन तरणयोः	तॄ प्लवन तरणयोः
,,	१३	क्याद्यन्तर्गणोवा	क्याद्यन्तर्गतोवा
,,	१८	उद्धारवमस्यादर्मनं	उद्धवारामस्यादर्शनं
,,	२४	मूतेशपरपदेपरे	भूतेश परपदे
,,	३०	सहजा	सहजा
२८३	१०	तीषीढ्वम्	तीर्षीढ्वं
,,	८	सत्सञ्ज्ञावयदन्तस्येति	सत्सञ्ज्ञाहृचदन्तस्येति
,,	१३	काम	इति अधिकं
,,	२०	हृचदा	हृचद
,,	२३	यलाय	कलाय
,,	३३	जसञ्ज्ञति	असञ्ज्ञति
२८४	१	नाममृत	नामामृत
,,	६	अभाङ्क्षीत् अभाङ्क्ताम्	असाङ्क्षीत् असाङ्क्ताम्
,,	७	घातोरन्तः	धातोरन्तः
,,	९	अदर्थत्	अदर्शत्
,,	१०	सृसि	सृजि
,,	११	मइस्	मउस्
,,	१	नाममृत	नामामृत
,,	१३	आदर्शयिषाताम्	आदर्शिषातां
२८५	२	हक्षष्टी दार्शिषीष्ट	द्रक्षीष्ट दर्शिषीष्ट
,,	९	समीमाद	समीपाद

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
२८५	११	धातचः	धातवः
,,	१३	विकित् सति	विचिकित् सति
,,	२३	कपिलत्वल्लघ	कपिलत्वाल्लघ
२८६	१६	देति	वेति
,,	२३	ऽनर्नकत्वेऽपि	ऽनन्तर्गतत्वेऽपि
,,	२४	द्विआ	द्विका
,,	२५	त्यादतः	त्यादितः
,,	२७	कषिलो	कपिलो
,,	२९	पस्पदादि	परपदादि
,,	३०	परपदित्मेव	परपदित्वमेव
,,	३२	पाठस्तु	पाठस्तु
,,	३४	सोत्रा	सौत्रा
२८७	२	एजाश्चकर	एजाश्चकार
,,	४	द्विवचने	द्विर्वचने
,,	६	रित्त्र	रित्यत्र
,,	६	भावत्	भावात्
,,	८	दिम्यत	दिश्यत
,,	११	सणा	तथा
,,	१३	रिस्यरामहर ।	र रामहृतः
,,	१९	द्विवचन	द्विर्वचनं
,,	१९	स्ताराम:	स्याराम:
,,	२१	भात्	भावात्
,,	२५	मार्द्दिका	मार्द्दिका
२८८	४	तेजतेः	तेजते
,,	४	विनामो	विनामे मात्र विनामो
,,	१८	मूर्द्धन्यन्त्नात्	मूर्द्धन्यन्तात्
,,	२०	ङित्त्वेऽपत्रि	ङित्त्वेऽपि
,,	२०	स्यादव	स्यादेव
,,	२६	ड़ाप ड़ापा	ङाप् ङापा
,,	२८	व्यवपारे	व्यवहारे
२८९	३	इड्वदिच्चि	इण्वदिच्चि
,,	१५	इणू	इण्
२९०	८	परीणा	परीणां
,,	१५	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	२१	ग्रत्यथे	प्रत्यये

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
२९१	४	रामदिती	राभादिती
,,	८	इणस्त	इणस्तौ
२९२	११	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	१६	रिव	रेव
,,	१८	वकल्प	विकल्प
२९३	३२	भांदित्वात्	भादित्वात्
२९४	६	दीसौ	दीप्तौ
२९५	१७	निषधः	निषेधः
,,	२०	द्यते	द्यु ते
२९६	४	सरामोद्वि	सरामाद्वि
,,	१४	र्यात्	र्थात्
,,	१६	भान्नेह	भावान्नेह
,,	१७	सङ्कर्षबणः	सङ्कर्षणः
२९७	४	इत्यात्मपद प्रक्रिया	इतिभ्वादि-आत्मपद प्रक्रिया
,,	७	,,	,,
,,	१२	,,	,,
२९८	१	अथ मिश्रप्रक्रिया	अथ भ्वादि-मिश्रप्रक्रिया
,,	९	फफणतुः	पफणतुः
,,	२०	अथ – मिश्र	अथ भ्वादि-
,,	२७	शातनम	शातनम्
२९९	२	भ्र जृ	भ्राजृ
,,	१२	त्रयाणां	त्रयाणा
,,	१७	नित्यमिद्त्वात्	नित्यमिट्त्वात्
,,	२१	लघूद्धवस्ल	लघूद्धवस्य
,,	२७	टु भ्राज	टु भ्राजृ
३००	१४	प्रयूरणे	प्रपूरणे
,,	१६	जकी	सकी
,,	१७	तस्पधः	तस्यधः
,,	२२	द्विवचन	द्विर्वचन
३०१	२	वयो	वपो
,,	१७	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	३०	क्षधोक्षजे	अधोक्षजे
,,	३३	विष्णुजनान्तानानाम	विष्णुजनान्तानाम
३०२	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
,,	८	निषेधात्ययतार्थम्	निषेधात्ययार्थम्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३०२	२६	नपस्य	नरस्य
,,	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
३०३	३	नित्यत्व–	इति पाठः सम्पातायातः
३०४	१३	वृत्तं	वृत्ते
,,	१५	सामथ्यांत्	सामर्थ्यात्
,,	१८	पूर्वोक्तदीश्वरादि	पूर्वोक्तादीश्वरादि
,,	३९	स्पर्द्धयाम्	स्पर्द्धायाम्
३०५	११	वास्ताद्	वा स्याद्
,,	२२	र्नाहतीति	नार्हतीति
३०६	१	नाममृत	नामामृत
,,	५	इति मिश्र-प्रक्रिया	इति भ्वादि मिश्र-प्रक्रिया
,,	१४	भुवाभिगणः	भुवादिगणः
,,	१८	इति मिश्र प्रक्रिया	इति भ्वादि मिश्र-प्रक्रिया
३१०	४	हन् हे जंहि	हन्ते जंहि
,,	१३	हन् हे रिति	हन्ते रिति
,,	१६	धातो:	धातोः
,,	२०	स्वरत्वाभाव्	स्वरत्वाभावात्
,,	२५	प्रघ्नति अन्तर्घ्नति	प्रघ्नन्ति अन्तर्घ्नंनन्ति
,,	२७	स्थाने	हन्तेः स्थाने
,,	२९	एकच्	एकाच्
३११	४	अत्र हनिणिङादेशा	अत्र हनेर्णिङादेशा
,,	५	कपिलत्वत्	कपिलत्वम्
,,	७	कपिलत्वस्यनिष्ठत्वादिति	कपिलत्वस्यानिष्ठत्वादिति
,,	११	बथादेशं	बधादेशं
,,	१२	भवन्हति	भवन्तीति
,,	२३	विशेषष्य	विशेषस्य
,,	२५	अगायिशातामित्यादिषु	अगायिषातामित्यादिषु
३१२	१	२१२	३१२
,,	११	नराडुत्तरस्य	नरादुत्तरस्य
,,	१२	सिद्धतत्वे	सिद्धत्वे
,,	१३	बघनथि	बघनिथ
३१३	४	वृते	कृते
,,	६	शेपः	शेषः
,,	८	द्विवचनमिति	द्विर्वचनमिति
,,	१३	द्विवचने	द्विर्वचने

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३१३	१६	युयाविति	यूयादिति
,,	२०	रामन्त	रामान्त
,,	२१	मेवोवतम्	मेवोक्तम्
,,	२३	व्याख्याया	व्याख्यायां
,,	२६	स्थानित्वादिराम	स्थानिवत्वादिराम
,,	३०	एकामक	एकात्मक
,,	३१	द्विर्वचम्	द्विर्वचनम्
३१४	२६	आख्यायिषतां	आख्यायिषातां
३१५	७	विदाकुरुत	विदाङ्कुरुत
,,	१०	दद्योरुः-इत्यस्योदाहरणंस्खलितम्	अवेः, अवेत्, अवेदीत्
,,	११	दिदेसमीत्यतः प्राक्	उष-वेत्ति-जागृभ्य आम्
,,	१४	यलाद्यन्तानि	स्थलाद्यन्तानि
	२६	नत्वस्व	नत्वस्
३१६	३२	क्रियाभ्यतीहारे	क्रियाव्यतिहारे
३१७	७	पमुन्द्राणां	उपेन्द्राणां
,,	३१	केवल स्यासधातोः	केवलस्य अस्धातोः
३१८	१७	प्रत्ययन	प्रत्ययेन
३१९	१४	चे	चेति
,,	१४	वर्ड्त्वे	वर्गत्वे
,,	१६	सर्वेश्रे	सर्वेश्वरे
३२०	१७	चकरादट	चकारादट
,,	२२	द्विवचने	द्विर्वचने
३२२	१२	वृष्णीन्द	वृष्णीन्द्र
,,	१७	निनित्त	निमित्त
,,	२३	अन्यद्या	अन्यथा
,,	३२	उषवेति	उषवेत्ति
३२३	४	णकटन	युक्-टन्
,,	७	अदद्रिसीत्	अदरिद्रीत्
,,	११	के परे	परे
,,	१५	णक्	युक्
,,	१६	रामहरो	रारामहरो
,,	१९	आरामाण्णल्	आरामान्नल
,,	२७	चकाषीति	चकाधीति
,,	२८	जये	जने
३२४	१८	लघा	लघो

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
३२५	१६	विष्णुजये	विष्णुजनै
३२५	११	पूर्वोदयमिति	पूर्वोऽयमिति
,,	१८	वक्ते एपि	वचेरपि
३२६	४	सध्यो	स-ध्यो
,,	११	स्तिपि	श्-तिपि
,,	११	स्तिपा	श् तिपः
,,	१७	धातुके	धातुके
,,	२४	समचक्षिष्टेयि	समचक्षिष्टेति
,,	२७	भगति	भवति
,,	२८	अयासदनेभ्य	अयासदयेभ्य
,,	३१	लुग् विकरणस्येयि	लुग्विकरणस्येति
३२७	३	बोभूत्विरयादि	बोभूति इत्यादि
,,	१२	प्रवत्तते	प्रवर्त्तते
,,	१७	बोभूत्विति	बोभूतीति
,,	२१	बोभूत्वि	बोभूतो
,,	२१	बोभूनीत्विति	बोभूवीति
,,	२४	गोविन्द निषेधनुक्ता	गोविन्द निषेधमुक्त्वा
,,	२६	बाभ्ररति	बोभूति
३२८	२१	प्रादेशो	आदेशो
,,	२७	कर्नणि	कर्मणि
,,	३०	ययीभावम्	व्ययीभावम्
३२९	१६	द्धाप्ते	प्राप्ते
३३०	२	णो	णे
,,	३	न्यायन	न्यायेन
,,	१३	राषा	एषा
,,	१६	मिम्	किम्
,,	३०	भाषावृत्त्यदाविति	भाषावृत्त्यादाविति
३३१	११	ब्रक्ीति	ब्रवीति
३३२	१७	लज्यां	लज्जायां
,,	२६	द्विवचनश्च	द्विर्वचनश्च
,,	३०	परसिमिन्	परस्मिन्
३३३	२५	तत्रंव	तत्रैव
,,	२६	यत्रं	यत्र
,,	३१	पधातोश्च	पृधातोश्च
३३४	१७	इयदन्तयो	इयुदन्तयो

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३३४	३१	घृद	द्यृद
३३५	४	दिषां	विषां
३३६	१७	स्वात्	स्यात्
३३७	११	श्रीक्षिति	श्वदिति
३३८	२८	मनथकं	मनर्थकं
,,	२९	स्थानित्व	स्थानिवत्त्वा
३३९	२१	कृत्यावे	कृत्यादे
३४०	३	तस्मिन्	तस्मिन्
,,	४	आङीयीति	आङीऽपीति
,,	४	अनपपत्तें:	अनुपपत्ते
,,	११	रङ्ग मूयवव	रङ्गं तस्यैव
,,	१२	नुमस्यवङ्गत्वाल्लोपः	नुमस्याङ्गत्वाल्लोपः
,,	१३	आङोपि	आङ्गोऽपि
,,	१६	स्वीकरेण	स्वीकारेण
,,	२९	आङीऽयीति	आङ्गीऽपीति
३४१	१४	रजिभो	रश्चिजभो
,,	१७	अप्तृतदिति	अप्तृपदिति
,,	१९	मिनिटा	मनिटा
,,	२१	चत्वम	घत्वम्
,,	३१	विष्णुपदाग्ने	विष्णुपदान्ते
,,	३१	माढेति	मोढेति
३४२	२४	वैष्णवे	वैष्णवे
,,	३०	मये	मते
३४३	७	स्नहने	स्नेहने
,,	१०	भुवी	भूवी
,,	२१	वृष्णान्ध	वृष्णीन्ध
३४४	३	प्राण प्रसवे	प्राणि-प्रसवे
,,	१०	त्यदि	त्यादि
,,	१५	स्यदिति	स्यादिति
३४५	८	उपदानम्	उपादानम्
,,	४	'जनी प्रादुर्भावे' इत्यतः प्राक्–	लीङ् श्लेषणे-लीयते। लाता, लेता
,,	१८	कत्तरि	कर्त्तरि
,,	२९	उयवादर्शनं	उद्धवादर्शनं
,,	११	अधो	अधोक्षजे
३४६	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३४६	४-५	"इति श्रीहरिनामामृते" व्याख्यातो दिवादिः	इति दिवादिः ॥
,,	१०	शीद्धवाचे	शीद्धवाच्चे
३४७	१९	अचेपीत्	अचेषीत्
,,	२३	उपेन्द्राण्षौषदेशस्येत्यादौ	उपेन्द्राण्णोपदेशस्यैत्यादौ
३५२	९		अस्पृक्षत्
,,	२५	अनिरावेता	अनिरामेता
३५३	१३	सृजिपृशो	सृजिदृशो
३६१	११	मूतेशे	भूतेशे
,,	१८	नमित्तिकस्य	नैमित्तिकस्य
,,	२३	तर्ण्वन्ति	तण्वन्ति
,,	८	उनिर्गुने	उर्निगुणे
३६२	८	संपरिम्या	संपरिभ्यां
,,	१३	स्वतोऽरामावाद	स्वतोऽरामाभावाद्
,,	१८	ऋद्धायाद्	श्रद्धयाद्
३६३	१९	संजमार्जयतीत्यर्थः	संमार्जयीत्यर्थः
३६४	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
,,	८	पत्यय	प्रत्यय
,,	९	परिनिविभ्य	परिनिर्विभ्य
,,	९	नेनेपेन्द्र	नेनोपेन्द्र
,,	११	तेपूदाहरणानि	तेषूदाहरणानि
,,	२२	वच्छिन्म	वच्छिन्न
,,	२२	उपाप्लं	उपादानं
३६५	२	विनमयः	विनिमयः
३६६	५	त्त्रिविक्रमो	स्त्रिविक्रमो
,,	८	शूद्द	शृद्द
,,	१५	म्नइति	श्नइति
,,	९	तु वाधते	तु न वाधते
३६७	४	निष्काषणम्	निष्काशनम्
,,	२५	वृषणीन्द्रान्भ्या	वृष्णीन्द्राभ्या
,,	२५	कृतेऽिप	कृतेऽपि
३६८	२	दुर्नुद्धिः	दुर्नद्धः
,,	५	त्रिनयनः	त्रिनयनम्
,,	५	नृनमनः	नृनमनम्
,,	३०	शीधनः	श्रीधनः

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३६९	४	तस्मद्ध	तस्माद्धौ
,,	७	प्रत्यस्य	प्रत्ययस्य
,,	९	मिषधस्तु	निषेधस्तु
,,	१९	व्याञ्जनान्ताद्धौ	व्यञ्जनान्ताद्धौ
,,	२५	सदृहा	सदृसा
,,	२८	स्वौनातीति	रवौनातीति
३७१	८	यद्गण	तद्गणन्
,,	९	स्थातिवत्	स्थानिवत्
,,	१८	द्विवचने	द्विर्वचने
,,	२३	चोरायिता	चोरयिता
,,	३०	द्विवचन	द्विर्वचन
३७२	१५	अमीमृजादित्यादि	अमीमृजदित्यादि
,,	२०	द्विवचने	द्विर्वचने
,,	२१	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	२१	उद्ववस्ल	उद्धवस्य
,,	२५	ऋद्वचस्य	ऋद्वयस्य
,,	२९	द्विवचनं	द्विर्वचनम्
,,	३४	द्विवचने	द्विर्वचने
३७३	३	तथाथादीनां	तथार्थादीनां
,,	११	स्थानित्वं	स्थानिवत्वं
,,	१५	निषाधानुसारात्	निषेधानुसारात्
,,	१७	त्यदौ	त्यादौ
,,	२४	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	२६	द्विवचनमिति	द्विर्वचनमिति
,,	३०	अरामहस्य	अरामस्य
३७४	१०	अरामान्माच्च	आरामान्ताच्च
,,	१७	वामते	वामने
,,	२३	सणे द्विवचने	सणे द्विर्वचने
,,	२९	अन्त्यरामस्य	अन्त्यारामस्य
,,	३१	आरमा	आरामा
,,	३	द्विवचने	द्विर्वचने
३७५	८	भवति	भवन्ति
,,	१५	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	१८	आश्चिकदिति	आञ्चिकत
३७६	८	णिनिति	णिरिति

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
३७६	१४	मध्येपणम्	अध्येषणम्
,,	२३	व्यापर	व्यापार
,,	२८	वैयर्थं	वैयर्थ्यं
,,	३१	चन्द्रमतमिति	चान्द्रमतमिति
३७७	३	प्राणिणत्	प्राणिनत्
,,	१३	प्राणिणादिति	प्राणिनदिति
,,	१४	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	२८	प्राणिणत्	प्राणिनत्
३७८	२२	स्यादेवेत्ययः	स्यादेवेत्यर्थः
,,	३	स्पस	स्पश
३७९	६	आड्डित्	आड्डित्
,,	१२	द्विवचनात्	द्विर्वचनात्
,,	२४	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	२५	द्विवचने	द्विर्वचने
३८०	२	स्तुञ्	स्तृञ्
,,	४	जीप	जीव
,,	२	चेष्टियोर्वा	चेष्ट्योर्वा
,,	७	सन्नमित्ति	सन्निमित्त
,,	८	त्रित्रिक्रमः	त्रिविक्रमः
,,	१३	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	२१	परत्वसावादिति	परत्वाभावादिति
३८१	३	"अमीमृजत्" इत्यनन्तरं अववर्तत्	"पक्षे गोविन्दवृष्णीन्द्रौ अममार्जत्" इति पाठोगतः
,,	१०	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	१०	द्विवचने	द्विर्वचने
,,	१९	द्विवचनम्	द्विर्वचनम्
,,	२०	,,	,,
,,	३१	गोबिदः	गोविन्दः
३८२	४	तिहते	तिष्ठते
३८३	१३	दित्यर्थंथः	दित्यर्थः
,,	१४	आरामान्य	आरामान्त
,,	२४	धातूनामेकार्थत्वाद्धातेः	धातूनामनेकार्थत्वाद्धातोः
३८४	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
,,	६	स्मापः	स्माप्
,,	१०	स्फाद्	स्फार्

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
३८४	८	विस्मापयति	विस्माययति
,,	१७	व्यञ्जिम्	व्यञ्जितम्
३८५		स्फावयति	स्फारयति
,,	१७	द्विवचनं	द्विर्वचनं
३८६	११	द्विवचने	द्विर्वचने
,,	१५	,,	,,
,,	२२	विधिपिरि	विधिरिति
,,	२७	ष्वित्ये	ष्वित्यु
,,	२९	वोद्धव्याम्	वोद्धव्यम्
३८७	६	हन्तेरस्तोनृसिंहेऽनिणद्योक्षजे	हन्ते स्तोर्नृसिंहे
,,	१०	भावत्	भावात्
,,	१८	इत्यय	इत्यत्र
,,	२०	एवमिथि	एवमिति
३८८	१	अथ सन्नन्तः	अथ सनन्ताः
,,	५	रुस्वनादीनां	ह्रस्वादीनां
,,	१३	मापदयते	मापद्यते
,,	१८	ग्रहेश्व	ग्रहेश्च
,,	१९	न्ताश्व	न्ताश्च
,,	२०	त्वाद	त्वाद्
,,	२४	किन्त	किन्तु
,,	२८	सन्नन्तः	सनन्ताः
,,	३२	वदन्तीत	वदन्तीति
,,	१२	उपासनेऽथ	उपासनेऽर्थे
,,	,,	श्रवने	श्रवणे
,,	१४	रिमि	रिति
३९०	८	सन्नन्तस्यापि	सनन्तस्यापि
,,	३२	,,	,,
३९२	२०	कृमृ	कृसृ
,,	२४	भात्तयो	भावात्तयो
३९३	५	अनन्तरं	"द्युतिस्वाप्योर्नरस्य संकर्षणः
,,	७	दिदेविपति	दिदेविषति
,,	१४	पूर्वमीशसमीपाद्	पूर्वमीशसमीपाद्
,,	३०	क्त्वासनौ	क्त्वसनौ
,,	३१	मनु	ननु
३९४	१९	विभापया	विभाषया

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
३९४	२२	अषिषिपतीति	एषिषिषतीति
३९५	१	ज्ञापि	ज्ञपि
३९६	१६	नरादशनं	नरादर्शनं
३९७	५	सन्यालोप	सन्यप्यालोप
,,	१९	स्थानिवदि	स्थानिवद्
,,	२५	सिद्धा	संसिद्धा
३९८	६	प्रवर्त्तते:	प्रवर्त्तते
,,		सुस्वापयिषति	सुष्वापयिषति
,,	२१	सन्नन्तान्न	सनन्तान्न
३९९	४	इति सन्नन्ता:	इति सनन्ता:
,,	७	सन्नन्तात्	सनन्तात्
,,	९	सन्नन्त:	सनन्त:
,,	१०	सन्नन्तात्	सनन्तात्
,,	११	जुगुसितु	जुगुप्सितु
,,	१२	सन्नन्ता:	सनन्ता:
४००	१	यङन्ता	यङन्ता:
,,	६	"बोभूयते" इत्यनन्तरं-	अबोभूयिष्ट, अबोभूयि,
,,	९	सवश्वर:	सर्वेश्वर:
४०१	१५	यङि	यङि
,,	१७	प्रतिधो	प्रतिषेधो
,,	५	ओपदेषत्व	ओपदेशत्व
४०३	३	पथति	प्राथति
४०४	३१	सोपासर्गात्	सोपसर्गात्
,,	३२	सोपसगाद्	सोपसर्गात्
४०५	२	नरतो	नरतो
,,	२	स्रंसु	श्रंसु
,,	३	सनीस्रस्यते	शनीश्रस्यते
,,	८	रथदेव	यर्थादेव
,,	११	स्तभ्य	स्तेभ्य
,,	२३	गहाये	गर्हायै
४४६	४	दंदयते दादयते	दंदय्यते दादय्यते
४०९	७	'चर्करीति'	'चक्करीति'
,,	७	इडित्यादि	ईटित्यादि
४१०	२४	सन्नन्तादिषु	न न्वादिषु
,,	२८	उग्नि	उसि

पृ०	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
४११	८	शेशेति	शेशीति
,,	१०	कार्यं	कार्यं
,,	१३	चत्वरि	चत्वारि
,,	१९	भूतेश्व	भूतेश्वरे
,,	३२	निर्ष्टिं	निर्दिष्टं
४१२	१०	अन्सहरे	अन्तहरे
,,	२२	कृति्	कृति
४१५	३	साषुवीति	सोषुवीति
४१६	८	धाता	धातो
४२०	५	स्कभ्नातयोऽपि	स्कम्नातयोऽपि संकर्षणेचश्यादयोऽपि
,,	६	नर्णत्वे	नेणंत्वे
४२१	५	सन्नन्ताद्	सनन्ताद्
,,	६	युजादे णे	युजादे र्णे
४२२	१	अयनामधातु प्रक्रिया	अथ विभुः
,,	३१	नत	नतु
४२३	१	आख्यात प्रकरणम्	आख्यात-प्रकरणे विभुः
४२४	१६	त्रिविक्रय	त्रिविक्रम
,,	२०	श्रातु	भ्रातु
,,	२०	इत्यदेन	इत्यनेन
४२६	३	मित्यत्रत्वासिद्धः	मित्यत्र त्वसिद्धः
,,	१६	राजभ्यमित्यत्र	राजभ्यामित्यत्र
,,	२०	शन्दस्य	शब्दस्य
४२७	४	रिपासायाम्	पिपासायाम्
,,	६	पत्यस्यादयो	पत्यस्यावित्यादयो
४२८	१४	हरिकामती	हरिकाम्यती
४२९	२७	रीयि	रीति
४३०	१२	प्रयमा	प्रथमा
,,	२०	पदार्यस्य	पदार्थस्य
,,	३१	मिसि	मिति
४३१	५	कयाविती	कपाविती
,,	११	मञ्चमी	पञ्चमी
,,	१४	विलप	विदप्
,,	२५	रुक्मिणीतत	रुक्मिणीयते
,,	२५	पक्मिणीति	रुक्मिणीति
,,	२६	पूरये	पूरणे

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
४३२	६	तदीयायि प्रत्ययस्यैव	तदीय-विप्रत्ययस्यैव
४३४	७	पापवृतै	पापवृत्ते
,,	५	स्तदर्थ्यं	स्तादर्थ्यं
,,	२३	चतुथ्य	चतुर्थ्यं
४३५	३	एवमुत्तरेष्वपि	एवमुतरेष्वपि
,,	४	कोटो	कीटा
,,	२८	तीत्यथ	तीत्यर्थे
४३६	५	सर्नेश्वरस्य	सर्वेश्वरस्य
,,	७	हृस्वस्य हृसः,	ह्लस्वस्य ह्लसः,
,,	१२	सनवन्धि	सम्बन्धि
,,	८	पियस्य	प्रियस्थ
४३७	४	यककणी	यवकनी
,,	७	श्वोत्यर्थः	श्वेत्यर्थः
,,	८	गालोडिमस्य	गालोडिवस्य
,,	१५	यककनी	यवकनी
,,	३०	पुच्छाउत्तरे	पुच्छादुत्तरे
४३८	२९	मूलमणिग्घने	मूलवणिग्धने
४३९	२	विश्णु	विष्णु
,,	२१	इत्यत्रत्यमाद्य	इत्यत्रसूत्रस्थाद्य
४४१	२५	रामसहित	इरामसहित
४४२	१२	धातोरिधिकरेण	धातोरित्यधिकारेण
४४६	८	इदिद्रोयिषति	इन्दिद्रोयिषति
,,	९	वर्जस्थेत	वर्जस्य" इति
,,	९	चन्दिन्द्रीयिषति	चन्दिद्रीयिषति
,,	२५	कण्डूयङादयः	कण्डूयादयः
४४७	२	समात्यर्थं	समाप्त्यर्थं
,,	२२	पूजय	पूजायां
,,	२३	समासर्थं	समाप्त्यर्थं
,,	२५	उपेन्द्राता	उपेन्द्रतां
,,	२७	योन्यतायां	योग्यतायां
४४८	२३	उवेन्द्रात्	उपेन्द्रात्
,,	२७	लसी	तुलसी
,,	३०	उतेन्द्रात्	उपेन्द्रात्
४४९	२९	उगावत्युत्तरस्य	उपादप्युत्तरस्य
४५१	३	सुविनिदुः	सुविनिर्दुः

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
४५३	२३	समस	समास
,,	६	विष्यन्दते	विष्पन्दते विस्यन्दते
,,	३२	शोपयोः	शोषणयोः
४५४	१८	न्दित्या	दित्यादिना
४५५	१४	स्थाद्दिकस्त	स्थादिकस्य

परिशिष्टे (धातुसंग्रहे)

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१	८	अत्र	अत्
२	३१	यतो	यसु
३	१२	कास्त्र	कासृ
,,	१२	भास्त्र	भासृ
४	२	खन्डके	खण्डने
,,	२२	पृ	पॄ
,,	३१	अन्वेयणे	अन्वेषणे
,,	३६	प्रयते	प्रयत्ने
८	३	बेलविन्तौ	वेलविन्तौ
,,	३	व्रण:	व्रणः
,,	५	वृजी	वृजी
,,	६	बाधृ	वाधृ
,,	६	ब्रीड़	व्रीड़
,,	७	धातनामन्तः	धातूनामन्तः
,,	१०	धातुनामन्तः	धातूनामन्तः

(गणपाठे)

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
९	१८	सम्बसर	सम्वसर
१०	१०	कपिथ्थ	कपित्थ
११	६	अब	अव
१७	६	तिष्ठद भू प्रभितिः	तिष्ठद् भू प्रभृतिः
१८	५	व्राह्मण	ब्राह्मण
२१	२	व्राह्मणादिः	ब्राह्मणादिः

(अव्ययशब्दसंग्रहे)

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३१	१४	वहु	बहु
,,	२७	वहु	बहु
३२	१३	अनन्तरम	अनन्तरम्
,,	५	वल	बल

भागेऽस्मिन् शुद्धिपत्रस्य विस्तरशंकया ब-वकारयोः साकल्येन संशोधनमसञ्जातम्। वृन्दावन वास्तव्येन श्रीहरिदासशास्त्रिणा विदुषामुपकाराय शुद्धिपत्रं विनिर्मितम्।

* श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः *

श्रीश्रीहरिनामामृतव्याकरणम्

कृष्णमुपासितुमस्य स्रजमिव नामावलिं तनवै ।
त्वरितं वितरेदेषा तनुसाहित्यादिजामोदम् ॥१॥

---

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः *

"तत्त्वप्रदर्शिका टीका"

अद्वैतैकस्वरूपञ्च नित्यानन्दात्मधामकम् ।
नमामि तत्परं तत्त्वं कृष्णं चैतन्यविग्रहम् ॥

नमामि चरणाम्भोजं श्रीमद्गुरुदेवजीवपादानाम् ।
यत्कृपाविभवैरयं नियुक्तो वराकोऽप्यमृतविभजने ॥

स्वल्पायुषां कलियुगेऽत्र नृणां शमिच्छन् ।
शब्दानुशासन - महाजलधिं विमथ्य ॥

नामामृतं समददत् य इदं कृपालुः ।
स श्रीलजीवचरणः शरणं ममास्तु ॥

अथ कलियुगपावनस्य स्वयंभगवतः श्रीमत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभोः प्रियपरिकरो, निखिल-शास्त्रोदधि-परिमन्थनोत्थ-भक्तिपीयूष-परिवेशको, विबुधवृन्द-वन्दित-पदारविन्द-द्वन्द्वो, विश्ववैष्णवराजराजिवरेण्यो, भागवतपरमहंसाग्रगण्यः समाश्रितवृन्दारण्यस्तत्र-भवान् श्रीलजीवगोस्वामिचरणो, भजनैकनिष्ठतयाऽनधीत - व्याकरणानां प्रागधीतान्य व्याकरणानाञ्च वैष्णवानां हितकाम्यया नामसंकेतेन व्युत्पत्तिवाञ्छयाच, स्वगुरु-श्रीमद्-रूपगोस्वामिपाद-रचित-लघु-सूत्र-विस्तार-पारिपाठ्येन श्रीहरिनामामृताख्यं शब्दानु-शासनमारभमाणः प्रारिप्सित-ग्रन्थ-निर्विघ्न-परिसमाप्त्यर्थं शिष्टशिष्यवर्गशिक्षायै वस्तु-निर्देशात्मकमङ्गलमादौ निबध्नाति "कृष्ण"मिति । अनेन सर्व एव ग्रन्थोऽयं मङ्गलमय इत्येव ज्ञापयति ।

कृष्णं स्वयम्भगवन्तम् । "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति श्रीमद्भागवतपरिभाषा-वचनप्रामाण्यात् । "यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्त्येकमूर्त्तिकम्" इत्यक्रूरोक्त्या भगवत्-स्वरूपाणां सर्वेषां तदन्तः पातित्वाच्च । आकर्षति निखिलचराचरान् स्वमाधुर्यमहिम्ना स्वरूपानन्देन वेति "कृष्णः" । कृषेर्वर्णे नक्, उणादेर्बाहुल्यात् संज्ञायाञ्च । "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" इति महाभारतम् ।

'भूवाचक' इत्यत्र भावे क्विप् । भावोधात्वर्थः, सचात्राकषणं; नक् प्रत्ययश्च कर्त्तरि, तेनाकर्षण पूर्वकानन्ददायि-नराकृति-परब्रह्म कृष्णशब्दार्थः । श्यामलतमालत्विषि यशोदास्तनन्धये रूढि रिति नामकौमुदी । तमुपासितुमाराधयितुमित्यर्थः । अस्य श्रीकृष्णस्य तत्-संबंधिन इति यावत् । नाम्नामावलिं श्रेणीं स्रजं पुष्पमाल्यमिव तनवै रचयानि। 'इच्छार्थधातुसत्व' इत्यनेन प्रार्थनायां विधातृलकारः। 'कृपयासीत् स्वबन्धने' इति श्रीमद्भागवतसिद्धान्तेन भगवतः कृपाशक्तिमन्तरेण यथा दाम्ना तस्य बन्धनमसम्भवं तथा तन्नाम्नामपि । नामिनाम्निरभेदतः श्रीभगवत्कृपां प्रार्थयत इति हृदयम् । "न कुर्यान्निष्फलं कर्म" इत्यतः फलमाह—एषेति । एषा मया तन्यमाना ग्रन्थनिबद्धनामावलिः, तत् साहित्यादिजामोदः—साहित्यं रूढिवृत्त्या काव्यात्मकग्रन्थविशेषः तत् तस्य श्रीकृष्णस्य सम्बन्धिसाहित्यं श्रीमद्भागवतम्, आदिना श्रीगोपालचम्पू-ललितमाधव-मुक्ताचरितादय-स्तेभ्यो जात आमोद आनन्द-स्तम् ।

पक्षे तत्-तस्य श्रीकृष्णस्य साहित्यं साहचर्यं, परिकरैः सह संसर्गः इति यावत् । आदिना आलिङ्गनं नर्मादिकञ्च । तस्माज्जात आमोदः परिमलस्तम् त्वरितं शीघ्रं यथा-स्यात्तथा वितरेत् दद्यात्; परिशीलकेभ्य इति शेषः । अर्ह-शक्त्योरित्यनेन विधिः । शक्तिः सामर्थ्यम् । तेन नामावलिः श्रीकृष्णसाहित्यादिजामोदं दातुं समर्थ एवेत्यर्थः ।

यद् वा एषा श्रीकृष्णनामावलिस्तत् साहित्यादिजामोदं हितेनाऽविद्यामोचनरूपमङ्गलेन सह वर्त्तमानेति सहिता भक्तिः, तस्य श्रीकृष्णस्य (कृष्णसम्बन्धिनी) सहिता तत्सहिता या शुद्धा कृष्णभक्तिस्तामर्हतीति तत्साहित्यं श्रीमद्भागवतम् । 'मेनिरे भगवद्रूपं शास्त्रं भागवतं कलौ' इति प्राचीनप्रमाणाच्च । "तदर्हतीति" नृसिंह यः । तदादि यस्य तत्साहित्यादि श्रीमद्भागवतादि-भक्तिरसशास्त्रं भक्तिरसपात्रञ्च । लक्षणया तदनुशीलनं सेवनञ्च । तस्माज्जातं परानन्दं शीघ्रं वितरेत् । यद्यपि भगवन्नाममात्रस्यैव भागवतानन्दवितरणे स्वाभाविक्यसाधारणी शक्तिरस्त्येव तथापि तेषां ग्रथनं तु कण्ठधारणसौकर्यार्थमिति नायं निष्फलप्रयासः ।

पक्षे कृष्णमिति सत्या सत्यभामा, भीम भीमसेन इतिवत् कृष्णं श्रीकृष्णचैतन्यदेवम् । 'सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः' इत्यादिप्रमाणाद् देशकालौचित्यभेदेनार्थवैशिष्ट्य-स्वीकाराच्च स एवार्थः । कलियुगोपास्य-निर्णयप्रसंगे "कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्" इति श्रीमद्भागवतपद्यव्याख्यायां सर्वसम्वादिनी प्रारम्भे— "श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेवनामानं श्रीभगवन्तं कलियुगेऽस्मिन् वैष्णवजनोपास्यावतारतये" त्याद्युक्तेः स्वयं ग्रन्थकर्त्तुरप्ययमेवाभिप्रायः । तमुपासितुं संकीर्त्तनप्राधान्येनाराधयितुं; "यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस" इत्युक्तेः । अस्य श्रीकृष्णचैतन्यदेवस्य नाम्नां तत्प्रचारितानां वा नाम्नामावलिस्तत्साहित्यादिजामोदमिति पूर्ववत् । यद्वा तस्य श्रीभगवतः साहित्यं लीलादिश्रवणकीर्त्तनद्वारेण सह वर्त्तनं तत् संग इति यावत्; तदादियेषां स्मरणादीनां तानि तत्साहित्यादीनि तेभ्यो जातमामोदं चिरादनर्पितोज्वलरसास्वादन - सुखविशेषं शीघ्रं वितरेत् प्रदातुं शक्नुयात् । नाम्नः परमपुरुषार्थदत्वप्रसिद्धेरिति ।

अधिकारी च सम्बन्धो विषयश्च प्रयोजनम् ।
अवश्यमेव वक्तव्यं शास्त्रादौ तु चतुष्टयम् ॥

इत्युक्तदिशाधिकारि-सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनानीति चतुर्णां ग्रन्थानुबन्धानां मध्ये त्रितयमेवात्र दर्शितम् ।

यथा—श्रीकृष्णः सम्बन्धः, विषयो व्याकरणम्, अत्र ग्रथित नामानुशीलनस्याभिधेयत्वात् । श्रीमद्भागवतादि - शास्त्र - सेवनोपयोगि - व्याकरणं ज्ञानं गौणप्रयोजनम्, ह्लादिनीसारसमवेत-सम्विदाख्यभक्तिश्चात्र मुख्यं प्रयोजनं ज्ञेयम् । अधिकारी त्वग्रिमश्लोके निर्णीयते ।।१।।

"बालतोषणी टीका"

वन्दे तं कृष्णचैतन्यं तस्य भक्तगणं तथा । यस्य प्रसादादज्ञोऽपि सद्यः सर्वज्ञतां व्रजेत् । गदाधरं रूपसनातनञ्च श्रीभट्टयुग्मं रघुनाथदासम् । श्रीजीवदेवं परमं कृपालुमानन्दसिन्धुं शिरसा नमामि । हरिनामामृतं वन्दे विष्णोः शब्दानुशासनम् । निखिलाघहरं कृष्णलीलानामयुतं शुभम् । अहञ्च भाष्यकारश्च कुशाग्रीयधियावुभौ । नैव शब्दाम्बुधेः पारं किमन्ये जडबुद्धयः ।। इति पाणिनिमुनिना यदुक्तं, तथापि—श्रीलश्रीजीवगोस्वामिचरणाब्जाग्रमाश्रितः । बालोप्यहं तितीर्षामि हरिनामामृतार्णवम् ।।

ततः परम-कृपासरित्पतिपरमेश्वरेण निजगुण-नाम-गण-कीर्तन-गरिम-प्रेम-प्रकाशातिस्निग्धीकृत पाषण्ड-दानवघटाघटित-दुर्घटोद्दाम-पावक-ज्वालाज्वलित ब्रह्माण्डभाण्डेनैव विखर्बीकृतविशङ्कटतरदोर्दण्ड-गर्व-पर्वतनिभ गर्विततराधिकार-कलिप्रचण्ड प्रतापेन श्रीलश्रीकृष्णचैतन्य-चन्द्रेण भगवता प्रथित-निज-प्रणीत-नीति-ब्रजबिलास वसति-सान्द्रानन्दरसशास्त्रकासारपरमहंसकः श्रीप्रणवांकुर-विद्युद्दामलसत् पुराणच्छदनानन्तशाखाकलितश्रीभगवन्मुखोद्गत-परम-परमेष्ठि-प्रणीत-सूत्रे श्रुतिरसालसार-श्रीवृन्दावन भाव-परिचित-सरस-मुकुलास्वादक-कोविदकोकिलः परम-कृपालुमौलिमहामहोपाध्यायावलिविराजित-चरणपङ्कजः श्रीमान् शुष्कालाप-कलित-कलापावलिव्याकरणानुशीलनदुस्थमतीनामनेक प्रकार प्रकरण-निर्णय-चिन्तितानामिदानीन्तनजनानां धर्मार्थकाममोक्षार्थं सदा हरिरसलुब्धमानसानामनधीतव्याकरणानामधीतेतरव्याकरणानाञ्च वैष्णवानां हिताभिलाष-परबशतया श्रीनाम-ग्रहण-पूर्वक-विशिष्ट-व्युत्पत्तिवाञ्छया श्रीकृष्णदेवप्रसादमधिगम्य श्रीमच्छील-सनातन-गोस्वामिनां सूत्रानुसारेण श्रीजीवगोस्वामिनामा ग्रन्थकारः परम भगवत्रूप मनोहर मधुर हरिनामावलिभिः संकेतीकुर्वन् श्रीहरिनामामृताख्य-वैष्णव-व्याकरणमारभमाणः स्वंप्रयोजनोद्घाटनपूर्वकवस्तुनिर्देशाशीर्वादरूप-मंगलमाचरत एवं सर्व एव ग्रन्थोऽयं मंगलरूप इति च विज्ञापयति कृष्णमिति । कृष्णं=स्वयंभगवन्तं, उपासितुं=अनुशीलयितुं, अस्य=श्रीकृष्णस्य, नामावलिं=नामश्रेणीं सर्वेश्वर दशावतारादिभिरहं तनवै=विस्तारयाणि वस्तुनिर्देशोऽयम् ।

कृष्णस्य स्वयं भगवत्वे प्रमाणं श्रीभागवते यथा । एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु

आहतजल्पितजटितं दृष्ट्वा शब्दानुशासनस्तोमम् ।
हरिनामावलिवलितं व्याकरणं वैष्णवार्थमारचिन्म: ॥२॥

भगवान् स्वयमिति । संकल्पविशेषार्थे इत्यादिना विधानृप्रत्यय: कृष्णोपासनमहं करवाणीतिवत् । कामिव स्रजं = मालामिव । अन्यो यथा कृष्णमुपासितुं स्रजं तनुते तद्वदित्यर्थः । माल्यं मालास्रजावित्यमर: । 'वीथ्यालि रावलि: पङ्क्ति: श्रेणीति चामर:' । प्रयोजनमनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते इति । आशीर्वादमाह । (आशीर्वादनमस्क्रिया वस्तु निर्द्देशोवापि तन्मुखं इति मंगलाचरणम्) । एषा = मया तन्यमाना नामावलिस्त्वरितं = शीघ्रं यथास्यात्तया तस्य श्रीकृष्णस्य साहित्यादि-मनोहर-मधुर-सुन्दर-भक्ति-परम-तात्पर्य-लीलामय-श्रीमद्भागवत-शास्त्रादिसाहित्यादिपदेन लक्षणया तदनुशीलनं अत्रानुशीलनं धात्वर्थमात्रमुच्यते । तस्माज्जातमामोदं तदनुशीलनपरमानन्द सुख-विशेषं-वितरेत् = दद्यात् स्वानुशीलकेभ्य इति शेष: । व्याकरणशास्त्रपरिज्ञान-जन्य-ज्ञानविशेषं जनयित्वा भागवतग्रन्थानुशीलनेऽधिकारं ददात्विति निर्गलितार्थ: । पक्षे परमानन्दप्रदस्वरूपत्वेन तमेव नन्दीश्वरेश्वरात्मजं निजेष्टदेवं कृष्णचैतन्यमुपासितुं इत्यादि पूर्ववत् साहित्यं शास्त्रविशेषम् । अत्र च हितेन प्राणिनामविद्यामोचन-रूपोप-कारेण सह वर्तमाना सहिता भगवद्भक्तिस्तामर्हतीति गर्गादे नृसिंह च इत्यनेन साहित्यंश्रीभागवतं भगवद्स्वरूपत्वात् । यद्वा तत् सहितस्य भगवत् संगस्य भावस्तत्-साहित्यं आदि शब्देन तत् सेवादि यद्वा तत् सहितमर्हतीति तत साहित्य: श्रीवासनामा तद्भक्त: स आदिर्येषां ते श्रीस्वरूपादयस्तेभ्यो जातं आमोदं श्रीभागवतशास्त्रादि परमार्थानु-शीलनरूपं सुखविशेषम् । केचित्तु सहितस्य भाव: साहित्यं शास्त्र मात्रं तत्रापि तच्छब्दो-पादानात् श्रीभागवतं स्रजमिवेत्यनेन यथा परम भागवत: श्रीतुलसीमालिकामनिशं निज-कण्ठे धारयन्ति तया एतदनुशीलका वैष्णवा एतद्व्याकरणरूपां हरिनामावलिं अभ्यास-रूपेण कण्ठे धारयन्त्विति आक्षिप्यते । कृष्णमुपासितुमिति तुमन्तप्रयोगे नामावलि-विस्तारस्य श्रीकृष्णानुशीलनमेव प्रयोजनम् । तदनुशीलनपूर्वकमनायासेन लभ्यमपि व्याकरण परिज्ञानजन्यज्ञानश्च । सम्बन्धस्य द्विनिष्ठतया नामनामिनोरभेदाच्च श्रीकृष्ण एव सम्बन्ध श्रीभागवतार्थोनुमोदनजातानन्दरूपमेवाभिधेयम् । एते त्रयोऽस्य ग्रन्थस्य व्यवहारा: । तेन श्रीकृष्णनामग्रहणपूर्वक-व्याकरण-परिज्ञान-जन्य-ज्ञान-विशेषम् जनयित्वा श्रीमद्भागवत-ग्रन्थानुशीलनेऽधिकारंदद्यादिति निर्गलितार्थ: ॥१॥

तत्त्व०—ननु भगवद्भजनाय तन्नामग्रहणमस्तु, व्युत्पत्तिलाभाय तु सन्ति वहूनि व्याकरणानि; तैरेवार्थसिद्धे: कथमयमुद्यम इति चेदित्यत आह—आहतेति । शब्दानुशासनस्तोमं शब्दा अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते अनेनात्र वेति शब्दानुशासनं व्याकरणम् । "टन:करणाधि-करणयो" रिति टन: । तस्य स्तोम: समूह: सुपद्म-कलापादिस्तम् । आहतानि मृषार्थकानि आत्यन्तिकश्रेयोरहितानीत्यर्थ: । जल्पितानि वचनानि । आहतानि तानि जल्पितानी-त्याहत-जल्पितानि तैर्जटितं युक्तमितिआहत-जल्पित-जटितं दृष्ट्वा विशेषेणालोच्य हरि-नामावलि-वलितं—हरेर्नाम्नां सर्वेश्वर-दशावतार-विष्णुजनादीनाम् आवलि: श्रेणी तया-

व्याकरणे मरुनीवृति जीवनलुब्धाः सदाघ-संविघ्नाः ।
हरिनामामृतमेतत् पिबन्तु शतधावगाहन्ताम् ॥३॥

वलितं युक्तम् । व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते अर्थपर्यवसानाः क्रियन्ते शब्दा अनेनात्र वेति व्याकरणम्, पूर्ववत् टनः । वैष्णवेभ्य इदं वैष्णवार्थम् आचिन्मः संग्रहं कुर्मः । "आयुर्हरति वै पुंसामि"त्यादिना भगवत् सम्वन्धं विना कालहरणस्य वैष्णवानामनौचित्यात् । अतोऽस्य ग्रन्थस्य वैष्णवाः परदैवतत्वेन विष्णोरुपासकाः, सामान्यतो भगवद् विश्वासिन एव वाधिकारिण इत्यपि सूचितम् ॥२॥

बाल०—ननु व्युतपत्तिरेव साध्या चेत्तर्हि अन्यानि बहूनि व्याकरणानि सन्ति तैरेव वा भविष्यति किमेतद्बहूद्यमेनेति चेत्तत्राह आहतेति । शब्दानुशासनस्तोमं=अन्यव्याकरण-समूहं, आहत-जल्पित-जटितं दृष्ट्वा वयं हरिनामावलिवलितं व्याकरणं, वैष्णवार्थं= वैष्णवानामनुशीलनार्थं आचिन्मः=कुर्म इत्यर्थः । शब्दा अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते येन तत् शब्दानुशासनं कलापादिव्याकरणं तस्य स्तोमं समूहम् । यद्वा शब्दा विष्णुसम्बन्ध-वर्जित वर्णात्मका अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते यैस्तानि शब्दमात्रसाध्यसूत्राणि तेषां स्तोमः समूहो यत्र तत् कलापादिकं किम्विशिष्टं तत् आहतं=निरर्थकं शुभादृष्टजनकताशून्य-जल्पितमुच्चारणं तेन जटितं युक्तं 'संघात प्रकारौघ वारनिकरव्यूहाः समूहश्च यः सन्दोहः समुदायराशि विशरव्राताः कलापोव्रजः । कूटं मण्डल चक्रवालपटल स्तोमागणः पेटकं वृन्दं चक्रकदम्बकं समुदयः पुञ्जोत्करो संहतिरिति हैमः' । आहतन्तु मृषार्थकमित्यमरः । व्याक्रियन्ते व्युतपाद्यन्तेऽर्थपर्यवसानाः क्रियन्ते शब्दा अनेनात्र वा टनः करणाधिकरणयो रित्यनेन सिद्धं व्याकरणं शब्दानुशासनं शास्त्रं कथंभूतं तत् । हरेः कृष्णस्य नामावलिभिः सर्वेश्वरदशावतारादिभिः वलितं युक्तं; राजीर्लेखा 'तति वीथीमालाल्यावलि पङ्क्तयः धोरणी श्रेणीति हैमः' । वैष्णवार्थमिति ग्रन्थकरणप्रयोजनं निर्दिष्टम् । वैष्णवानां कृष्णानु-शीलनेन कालक्षेपणमुचितं तत्तु अन्य व्याकरणानुशीलनेन न भवतीति ममायमुद्यम इति भावः तेनात्राध्यापनाध्ययनाभ्यां गुरुत्वेऽपि श्रीवैष्णवा एवाधिकारिण नत्वन्ये षाड्दर्शनीया अपि देवतान्तरोपासका विष्णुदीक्षारहितत्वेन हरिवहिर्मुखत्वात् ॥२॥

तत्त्व०—अधीतेतर व्याकरणान् वैष्णवान्ग्रन्थमेतं परिशीलयितुं प्रोत्साहगर्भहितोपदेशेन विधिमुखेन प्रवर्त्तयति—व्याकरण इति । व्याकरणे इतरव्याकरणरूपे मरुनीवृति निर्जल वालुकामयप्रदेशे ये सदाघसंविघ्नाः सतत सन्तापक्लिष्टाः सन्तताहतजल्पित दुःखोद् विग्नाश्च सन्तः, जीवनलुब्धाः जलाकांक्षिणः, अमृतलाभेनाक्षय जीवन-लिप्सवश्च एत-द्धरिनामैवामृतं पीयूषं पिवन्तु पानेन तृष्णां निर्वाप्य निर्वृण्यन्तु । शतधा सर्व प्रकारेण यथेच्छमित्यर्थः, अवगाहन्तां मज्जनेन शीतलीभवन्तु ।

यद्वा हरिनामैवामृतं यत्र तदेतद् व्याकरणं पिवन्तु अनुशीलयन्तु, शतधा पुनःपुन विचारयन्तु चेति स्वग्रन्थस्य नाम चोद्दिष्टम् । अन्य व्याकरणानां शुष्कालापमयत्वात् तदभ्यासकाले क्लेशएवोत्पद्यते फलं साहित्यादिवोधोपयोगि-व्याकरणज्ञानमात्रम् ।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥४॥ इति

एतस्य तु आपरिशीलनकालादेव महाजनग्रथित-श्रीकृष्णार्पित-नाम-माल्यस्य कण्ठे धारणजं सौख्यम् । फलं खलु तादृशमेव ज्ञानम् । अधिकन्तु श्रीभगवन्नाम-मयत्वादेतस्य श्रद्धयानुशीलनेन भक्तिशास्त्रानुभवानन्ददायिका शुष्कब्रह्मज्ञानादपि रहस्यतमा सम्विदाख्या भक्तिश्च परमफलम् । तथैव—"वितरेदेषा तत्साहित्यादिजामोदमिति" श्रीग्रन्थकृदुक्तेः । एवं सति स्वहितेच्छुः कोवेदं सर्वमङ्गलमयं हरिनामामृतं विहाय शुष्क-व्याकरणमरुभूमौ विचरितुमिच्छेत् ? न कोऽपीति च ध्वनितम् । विधि निमन्त्रणामन्त्रणेत्यादिना विधातृ लकारो विधावेव ॥३॥

बाल०—तस्मादधीतेतरव्याकर्णैरपि वैष्णवैस्तत्र तत्र व्याकरणे स्वाग्रहं परित्यज्य एतद्व्याकरणमेवानुशीलनीयमित्याह व्याकरणे इति इतर व्याकरणरूपे किम्विशिष्टे मरुनीवृत्ति निर्जल प्रदेशे ये सदाघसंविघ्ना सतताहत जल्पितदुःखोद्विग्ना जीवनलुब्धा जललुब्धाश्च ते एतत् श्रीहरिनामरूपममृतं पीयूषं पिवन्तु परमादरेणानुशीलयन्तु एतस्मिन् शतधा शतप्रकारमवगाहन्तां सदोहापोहादिना अत्यासक्ता भवन्तुच । सामानौ मरुधन्वानाविति नीवृज्जनपदोदेश इति चामरः ये तु मरुदेश जन्मानः सदाघसंविघ्ना दुःखं तु तत्तद्देशवासजन्यं प्राक्तनमेव मन्यन्ते तेऽपि कथञ्चित्जीवनालुब्धा भवन्ति तदा एतत् परम कारुणिकमौलिनोद्दिष्टममृतजलं परमादरेण तृष्णानिरासार्थं पिबन्तु प्राक्तनतापखण्डनाय एतस्मिन्नवगाहन्तामिति च भावः । तेन ये तु त्रितापोपशमहेतुजननमरणभ्रान्त वीजोत्पाटनोद्धुरमेतदेव भगवत् स्वरूपव्याकरणं प्रोह्य मिथ्याजल्पितयुक्तमन्यदेव व्याकरणमनुशीलयन्ति तेषां हा किमधिकं वक्तव्यमिति । हरिनामामृतमिति भङ्ग्या ग्रन्थनामाऽपि निर्दिष्टं हरिनामरूपममृतं यत्र तत् पिवन्तु रसिकाः सर्वे कृष्णाख्यं परमामृतमिति पाद्मवचनात् । यद्वा हरिनामभिस्तत् कीर्त्तनादिभिरमृतं मुक्तिरविद्यामोचनं यस्मात् तत् ॥३॥

तत्त्व०—ननु व्याकरणसंज्ञादिषु श्रीभगवन्नाम्नां संकेततया व्यवहारोऽयुक्तः पापावहश्चेति चेत्तां शङ्कां निरस्यन् सङ्केतादिनापि तेषां ग्रहणे पापनाशकत्वमेव प्रतिपादयति श्रीभागवत पद्येन—साङ्केत्यमिति । साङ्केत्यं पुत्रादौ सङ्केतितं, परिहास्यं-परिहासोऽत्र प्रीतिगर्भमन्य परिभववचनं न तु निन्दागर्भं, तत्तूपहासएवोच्यते । तस्मान्नर्मव्यञ्जकं यत् किंचिद् भगवन्नामोक्तमित्यर्थः । स्तोभं गीतालापादिपूरणार्थं कृतम् । हेलनमत्र "हेलया गिरि रुद्धृत" इति वद्यत्नराहित्यमेवोच्यते नत्ववमानात्मकमिति ज्ञेयमिति क्रमसन्दर्भ व्याख्यायां ग्रन्थकृद्भिरेव । एषु येन केन प्रकारेणोच्चारितमित्यर्थः । विकुण्ठाया शुभ्रपत्न्या अपत्यं वैकुण्ठः, स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्यावतारविशेषः । "तयोः स कलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयमिति" श्रीभागवतम् । यद्वा विगता कुण्ठा माया यस्मात् स विकुण्ठो विशुद्धसत्त्वं, तन्मूर्त्तिविशेषो वसुदेव इति यावत्, तत्रभव आविर्भूत इति वैकुण्ठो वासुदेवः

श्रीकृष्ण इत्यर्थः। "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः। सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो-ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयत"इति श्रीभागवते श्रीशिवोक्तेः। अत्र खलु वैकुण्ठ नाम्ना तावन्ति भगवन्नामानि लक्ष्यन्ते। तस्य भगवतो नाम्नां हरिहर विरिञ्चि नारायणादीनां ग्रहणमशेषाघहरं सर्वविध पापनाशकं विदुः जानन्ति मुनय इति शेषः ॥४॥

बाल०—ननु व्याकरण परिज्ञान साध्ये श्रीहरिनाम संकेतादिभिर्विघ्नध्वंस पूर्वक परमानन्दहितं भवेदित्यत्र किं प्रमाणमित्यत्राह श्रीभागवत पद्यं सांकेत्यमिति। विशादा-न्वयोऽत्र। सांकेत्यं स्त्री पुत्रादौ संकेतितं यथा हे स्त्रि विष्णुप्रिये हे पुत्र नारायण इति। पारिहास्यं परिहासेन कृतं यथापश्चाद्युपचारेण श्यालकादौ त्वं हरिस्त्वं हरिरिति। स्तोभं गीतालापपूरणार्थं कृतं। हेलनं सावज्ञं यथा किं विष्णुनेति। वैकुण्ठनामग्रहणं विकुण्ठ-जातस्य श्रीकृष्णस्य नामोच्चारणं अशेषाघहरं निखिलपापनाशकं विदुर्जानन्ति मुनय इतिशेषः ॥४॥



संज्ञा प्रकरणम्

१. नारायणादुद्भूतोऽयं वर्णक्रमः ॥

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ।

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह । एते वर्णा अक्षराणि अलश्च ।

एषामुद्भवस्थानानि,—

अ आ कवर्ग ह विसर्गाणां कण्ठः ।

इ ई चवर्ग य-शानां तालु ।

उ ऊ पवर्गाणामोष्ठः ।

ऋ ॠ टवर्ग र-षाणां मूर्द्धा ।

ऌ ॡ तवर्ग ल-सानां दन्ताः ।

एदैतोः कण्ठतालु ।

ओदौतोः कण्ठोष्ठम् ।

वकारस्य दन्तौष्ठम् ।

अनुस्वारस्य शिरो नासिका वा इत्यादीनि ।

तत्त्व०—१. अथ ध्वन्यात्मक-वर्णात्मक भेदेन द्विविधानां शब्दानां मध्ये शास्त्र मात्रस्य वर्णात्मकत्वात् ग्रन्थारम्भे तावत् क्रमशो वर्णानामाविर्भवनं प्रदर्शयति—नारायणादिति ।

नराणां ब्रजवासिनां समूहो नारम् । येषामनन्य प्रेमवश्यतया स्वयं भगवानपि नरलीलास्वाद-सुखमग्नः सन् स्वीय परमेशित्वानुसन्धानावसरमपि न प्राप्नोति, ते ब्रजवासिन एवादर्श नरपदवाच्याः । तत् नारमयनं आश्रयो यस्य स नारायणः, नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण इत्यर्थः । यथाहि श्रीदशमे-भगवदुक्तौ-"तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्-परिग्रहमित्यत्र" गोष्ठोपलक्षणेन गोष्ठवासिनोऽपि ममाश्रया ममपरिपालका इत्यवगम्यते । यतः प्रेमाधीनः स भगवान् ब्रजवासिनामाश्रयमन्तरेण स्नानपानाहार-विहार-शयनादिकमपि कर्त्तुमसमर्थः । तथैव आदिपुराणे—सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः । सत्यं वदामि ते पार्थ । गोप्यः किं मे भवन्ति न ।। इतिमाधुर्यपरा व्याख्या । एवम्भूतो यो नारायणस्तस्मादयं वक्ष्यमाणः अरामादि-हरामान्तो वर्णक्रमः अक्षरानुक्रमः उद्भूत उद्गतः । तत्त्वरूपेण भगवत्येव स्थित-नित्यवर्णानां तस्मादेव प्राकट्यात्—"प्रभवे तत् स्थानमित्यपारानम् ।"

श्रीमद्भागवतेऽपि(परस्य भूम्नः)यत् किञ्च लोके भगवन्महस्वदोजः सहस्वद् बलवत् क्षमावत् । श्री ह्री विभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्वं परं रूपवदस्वरूपम् ।। इत्यत्र अद्भुतार्णमाश्चर्याक्षरं परस्य भूम्नो नारायणस्य परं तत्त्वं विभूतिरिति तस्मादेव लोके प्रकटितमिति

च निरूपितमस्ति। नारायण शब्दस्य सर्वविष्णुतत्त्व-वाच्यत्वेऽपि ब्रह्मवाक्येन श्रीकृष्णएव-मूल नारायणत्वेन निश्चितः; मत्स्य-वामनादीनामवतारिणः पुरुषावतार त्रयस्यापि तदङ्गत्वात्। यथा श्रीदशमे ब्रह्मस्तुतौ,—

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥

टीकाचास्य—नारो जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्य ×××× नारस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मात् ×××× नरादुद्भूता येऽर्थाश्चतुर्विंशति तत्त्वानि तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनाद् यो नारायण इति श्रीस्वामिपादानाम्। किञ्च नराणां द्वितीय तृतीय पुरुषभेदानां समूहो नारं तत्समष्टिरूपः प्रथम पुरुषएव (कारणार्णवशायी); तस्याप्ययनं प्रवृत्तिर्यस्मात्सनारायण इतिक्रमसन्दर्भटीकायां ग्रन्थकृद्भिः। वर्णानां क्रमः क्रमशो निर्गमनमिति वर्णक्रमः। षष्ठी-कृष्ण पुरुषः। ननु कृष्णपुरुषस्योत्तरपदप्राधान्यात् क्रमस्यैव उद्भूत-क्रियया सह प्राधान्ये-नान्वयः, ततो वर्णानान्तु गौणत्वेनाविर्भावप्रतीतिः स्यादिति चेत्तत्रायं विवेकः—क्रमइति भावेघञ्, भावः खलु धात्वर्थः क्रिया। एवं सति "कर्त्तृ-कर्मणोः षष्ठी कृद्योग" इत्यनेन वर्णानामिति कर्त्तरि षष्ठी, नात्र सम्बन्ध सामान्ये, क्रमेरकर्मकत्वान्नवा कर्मणि सा। ततः क्रियाश्रयत्वं कर्त्तृत्वमित्यनुशासनाद् आश्रितस्य क्रमस्याश्रयमन्तरेण स्थिति रसम्भवा। तस्मात् "कृष्णागमनं सञ्जातमिति" वाक्ये कृष्णव्यतिरिक्ततया गमनस्यानुपपत्तिवदत्रच वर्णासहकृततया क्रमस्योद्भूतत्वं नोपपद्यते। अतो मुख्यत्वेनैवोद्भूत क्रियया सह वर्णानां क्रमस्य चोभयोश्चान्वयप्रतीतौ न कोऽपि वाधः। तस्माद् वर्ण कर्त्तृकं यत् क्रमशो निर्गमनं तन्नारायणात् सञ्जातमित्येवं व्याख्याने हि सर्वं ससामञ्जसमिति दिक्।

तमेव वर्णक्रमं विवृणोति–अआ इत्यादिना। यद्यप्यत्र स्वर-व्यञ्जनभेदेन सामान्यतो वर्णानामेकोन पञ्चाशत् प्रकारत्वं दर्शितं तथापि ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-भेदेन स्वराणामुच्चारण-स्थान वैशिष्ट्येन विसर्गस्य तेनैव भेदेन व्यञ्जनानां समवायेन त्रिषष्टिप्रकारत्वं लभ्यते। यथैकादशे टीकायां स्वामिपाद-धृताभियुक्तः श्लोकः—

या सा मित्रावरुण सदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं
वर्णानन्तः प्रकट करणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते।
तां पश्यन्तीं प्रथम मुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये॥

अत्रक्रमसन्दर्भटीका च ग्रन्थकृताम्—या सा पराख्या, मित्रोऽग्निः वरुणः सोमः, तयोः सदनमाधारचक्रं, तस्मात् प्राणसङ्गेनोच्चरन्ती स्वयमेव सूक्ष्ममुद्भवन्तीति त्रिषष्टिं वर्णान्प्रसूयते। कैः—अन्तःकरणाभ्यां प्रकटकरणेन च अन्तस्थां प्रथममुदितां सतीं, पश्यन्त्याख्यां–अन्तः पश्यति नतूच्चारयति यां तां प्रथमां, तथा बुद्धिसंस्थां उच्चारयामीति विचारयुक्तां मध्यमां, करणविशदां–स्थानप्रयत्ननिर्मलां वैखरीं प्रपद्ये। त्रिषष्टिमिति—ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतभेदेनाणो नव, प्लुतत्वाभावात् ऋ ॠ लृ वर्णा श्चत्वारः, ह्रस्वत्वाभावादेचोऽष्टौ, उदात्तादिस्वरास्तु तदन्तर्गता एव। विसर्गानुस्वार-जिह्वामूलीयोपाध्मानीयाश्चत्वारः।

एवंपञ्चविंशतिः, स्पर्शाश्च तावन्तः। एवं पञ्चाशत्। यवलाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्चेति षट्, रेफ एकः। नकारस्य दन्त्य-मूर्द्धन्यत्व भेदेन द्विःपाठात् श ष स ह् ण नाः षठ्; एवं त्रिषष्टिरिति।

जीवजगति तु नरदेहविशेषमद्भुतकौशलेननिर्माय स एव नारायणो वर्णात्मक-शब्द-ब्रह्मरूपेण तत्तत्स्थानेभ्य आविर्भवति। यथैकादशे उद्धवं प्रतिभगवद्वाक्यम्,—

स एष जीवोविवर प्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥

जीवयतीति जीवः परमेश्वर इति स्वामिपादैः। स एष इत्यनेनात्मानं प्रति अंगुलिनिर्देशेन मल्लक्षण इति भगवता हि ज्ञापितम्।

ननु वर्णक्रमउद्भूत इत्युक्तं, तत्रकः कुत्रोद्भूत इत्याकांक्षायां तद्विशिनष्टि—एषामिति। अ आ इति—एषा—मुद्भवस्थानं नारायणस्य कण्ठः। एते कण्ठ भवत्वात् कण्ठ्या उच्यन्ते। एवमग्रेऽपि यथायोग्यमूह्यम्। एदैतोरिति—कण्ठश्च तालु च तयोः समाहारः कण्ठतालु। एरामस्य ऐरामस्य च एकैकस्योद्भवस्थानं नारायणस्य कण्ठतालु इत्यर्थः। एवं ओदोतोरिति च। वकारस्येति—वरामस्योद्भवस्थानं दन्तौष्ठम्।

बाल—अथ श्रीगङ्गाश्रोतवत् साध्यानुक्रममवलम्ब्य साधुनानुक्रममनतिशीघ्रज्ञेयत्वेनानङ्गीकृत्य च संस्कृत-प्राकृत-पैशाच्यादि षट्पञ्चासद्भाषासु संस्कृतभाषायाः प्रधानत्वात् तदारभमाणोऽयं गोस्वामिपादः सन्ध्यादि सप्तपादस्वरूपं ग्रन्थमाचष्टे। तत्रादौ सन्धि-कार्यस्य सर्वप्रकरणव्यापित्वेन तत् प्रथमपरिज्ञानाय संज्ञा-सन्धिप्रकरणं प्रथमम्। तत्र नारायणादित्यादौ पञ्चम्यादिमात्रज्ञानविषयीभूतत्वात् द्वितीयं सुवन्तम्। तत्र पदलक्षणे तत्साधन-विष्णुभक्तिलक्षणे च धातु-तिवादिविशेषापेक्षया तृतीयमाख्यातम्। तदुभय-सम्बन्ध-वैशिष्टत्वेन विष्णुभक्त्यर्थजिज्ञासया चतुर्थं कारकम्। तत्र कर्त्तृ-कर्मणोः षष्ठीत्य-त्रोट्टङ्कितेन तद्विशेषसाध्यत्वात् कृदन्तं पञ्चमम्। तत्र तत्रैवाध्यापकमुखोद्गतत्वेन कृत्प्रकरणे तत्सूत्रकथनाच्च समासः षष्ठः। तत्रैवोट्टङ्कितत्वेन विष्णवधिदैवतो वैष्णव इत्यनुसन्धनाच्च सप्तमस्तद्धितः। एवमेवमनेककारणमनुक्रमस्य तत्तत्प्रकरणे विवेचनीयम्। तावत् शास्त्राणां शब्दयोनित्वेन शब्दानां वर्णमूलत्वात् प्रथमतो वर्णक्रमस्योत्पत्तिमाह।

नारायणादिति। अयं अरामादि हरामान्तो वर्णक्रमः नारायणात् प्रपञ्चाप्रपञ्च-सर्वकारणभूतत्वेऽपि सर्वाम्नाय-तत्कारणवक्तुरुद्भूत उत्पन्न इत्यन्वयः। नारायणादिति जनने प्रकृतिरित्यनेनापादानपञ्चमी। नारीणां नराणां वा वृन्दं नारं जलं वा तदयन माश्रयो यस्य तस्मात्। गोपरामादिषु विहारित्वेन सर्वान्तर्यामित्वेन कारणार्णवगर्भोद-क्षीरोदशायित्वेन च यो विराजमानः श्रीकृष्णस्तस्मादित्यर्थः। उद्भूत इति उत्पूर्वात् भूसत्तायां भूधातोः गत्यर्थाकर्मकेत्यादिना कर्तरि भूतकाले क्तः। अत्राख्यातवन्मुख्यत्वेना-कांक्षा पूरकत्वान्न क्रियान्तरापेक्षा। अयमिति इदमोऽयं सावित्यनेन वर्णक्रम विनिर्देशे इदमो रूपं। वर्णक्रम इति वर्णश्चासौ क्रमश्चेति क्रमस्य विशिष्टतानुत्पत्तेः वर्णेभ्यः वर्णानां

वर्णेषु वा क्रमेति जन्यसम्बन्धविशेषस्वरूपस्य लभ्यत्वेनैव वर्णानां क्रियायं व्यावृत्तिवारणाय च वर्णयुक्तः क्रम इति मध्यपदलोपी तृतीयाः कृष्णपुरुषः सम्यः। तुलस्युदकमनन्ताय दातव्यमितिवत् वर्णानि उद्भूतानि तत् क्रमश्च उद्भूत इत्यर्थः। यदा तु वर्णैः सहितः क्रम इति तदगम्ये सहशब्दे विष्णुभक्त्यर्थगुमत्वात् तत्समस्त एव न सार्वत्रिकः। यत्र यत्र समासेन विष्णुभक्त्यर्थः गुमः स्यान्नातिव्यक्तश्च स्यात्तत्र तत्र न समास इष्ट इति वक्ष्यमाणत्वात्। वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे इति नानार्थवर्गः। क्रमः परिपाटिः। तेन भगवतः श्रीनारायणस्य तदितरेषाञ्च मुखोद्गतत्वेन कण्ठाद्यभिहितारामादीनामुच्चारणभेदसौष्ठवं दर्शितम्। अन्यथा वर्ण इत्येव कृते अस्वानुक्रमत्वेनैव यथेष्टोच्चारणम्। नारायणादित्यनेन वर्णानां नित्यत्वं तदंशभूतत्वञ्च दर्शितम्। अयमित्यनेन मुख-बाहूरु-पादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह। चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथगिति श्रीभागवतोक्तत्वात् वर्णो द्विजादावित्यादि शासनाच्च कथं विप्रादिक्रमो नोच्यते इति पूर्वपक्षोऽपि निराकृतः। यस्मान्नारायणादयं वर्णक्रमः प्रादुर्भूतः, स एवास्मदादीनाञ्च मूलाधारादि षट्चक्रानधितिष्ठन् सूक्ष्मवागाद्यवस्थावता प्रणवरूपेण वर्णक्रमात्मकोऽपि भवति तद् यथा। आत्मा बुद्ध्या समर्थ्यार्थान् नियुङ्क्ते तद्विवक्षया। मनस्तद्वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। वह्नि-मारुतसंयोगात् क्षोभाद्वागिन्द्रियस्य च। सूक्ष्मा वाग् जायते पूर्वं स एव कथितो ध्वनिः। तत्तत्स्थानेष्वथ यदा वायुश्चलति सेन्द्रियः। पश्यन्ती वर्णरूपा वाक् तत उत्पत्तिमर्हति। मध्यमा पदरूपाथो वाक्यरूपाथ वैखरी। इति वाचामवस्थाः स्युर्मुखमध्ये तदिन्द्रियम्। अर्थ-प्रयत्नयोर्वाक्यात् श्रुतादनुमितान्मतात्। विशिष्टं खं मुखं राति विखरा सैव वैखरी। जायते प्रादुर्भवति। तथाच भगवद्वाक्यम्। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्निति।

ननु स क इत्याह अ आ इत्यादि। अत्र क-ष संयोगे-क्ष इति वक्ष्यमाणत्वेऽपि क्षरामश्च दर्शितः। एते इति एते अरामादयो वर्णा अक्षराणि अलश्चोच्यन्ते इत्यन्वयः।

सर्वेषामेव वर्णानां सामान्यतो नारायणाद्युत्पत्तिमुक्त्वा कः कुत उत्पन्न इति पुनर्विशेषमाह एषामिति।

अ आ। अ-आ-कवर्ग-ह-विसर्गाणामुद्भवस्थानं नारायणस्य कण्ठो भवतीति हेतोरेते कण्ठ्या उच्यन्ते। एवमुत्तरत्रापि यथायोग्यमूह्यम्। यथोक्तमन्यैः। हृत्-कण्ठ-जिह्वं खलु तालु मूर्द्धा दन्तास्तथोष्ठावथ नासिका च। वर्णप्रकोष्ठान्योऽध्वऊर्ध्वभेदानीत्याह चाष्टावुपदेशतोऽन्यत्॥ तथाच शिक्षाकारा आहुः। अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठं शिरस्तथा। जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठञ्च तालु चेति। एदैतोः कण्ठतालिवत्यत्र क्रमो नेष्टः। तेन एरामस्य ऐरामस्य च कण्ठ-तालूद्भवस्थानमित्यर्थः। तदापि युगपदेवेति बोद्धव्यम्।

ओदौतोः कण्ठोष्ठमिति। वकारस्य दन्तोष्ठमित्यत्रापि युगपदेवेति बोद्धव्यम्। यद्यपि दन्तोष्ठमित्युक्तं तथापि अविष्णुवर्गीयस्यास्य व्यवहारात् सर्वत्र दन्त्यत्वेनैव प्रसिद्धिः॥ कण्ठतालू कण्ठोष्ठं दन्तोष्ठमिति प्राण्यङ्गानामिति समाहारः। समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वञ्चेति॥ इत्यादिनीत्यस्य उद्भवस्थानानीत्यनेनान्वयः॥१॥

२. तत्रादौ चतुर्दश सर्वेश्वराः ।

तस्मिन् वर्णक्रमे आदौ चतुर्दश वर्णाः सर्वेश्वर नामानो भवन्ति ।
अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ ।
एते स्वरा अचश्च प्राचीनानाम् । एते स्वतन्त्रोच्चारणाः ।
कादीनामुच्चारणञ्चैषामधीनमिति सर्वेश्वरा; । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।

मात्रालाघवमात्रं पुत्रोत्सव इति परेऽभिमन्यन्ते ।
हरिनामाक्षर लाभाद् वयं त्वमूदृक् तिरस्कुर्मः ॥

तत्त्व०–२. ननु सत्सु बहुप्रकरणेषु कथं संज्ञैव प्रथमं कथ्यते? तदालोच्यते, व्यवहारार्थं कृतः संकेतः संज्ञेति रीत्या व्यवहारोपयोगार्थं प्रथमन्तावत् संज्ञाया एव प्रयोजनत्त्वात्तस्याः सर्वपाद व्यापित्वाच्चादौ संज्ञाप्रकरणं प्रपञ्चयति—तत्रादाविति । ईष्टे नियमयतीति ईश्वरः । "स्थाईश" इत्यनेन वरप्रत्ययः । सर्वेषां प्राकृताप्राकृत-जगतामखिल शब्दानाञ्च ईश्वरो नियन्ताश्रयश्चेति सर्वेश्वरः । स्वयं प्रकाश रूप त्वादन्येषां प्रकाशकत्वाच्च बहु-मूर्त्त्यैकमूर्त्तिकः श्रीकृष्णः स्वरश्च । ततश्च सर्वेश्वरश्च सर्वेश्वरश्च सर्वेश्वरश्चेत्यादि चतुर्दश सर्वेश्वराणामेकशेष इति सर्वेश्वराः ।

एत इति–अरामाद्यौरामान्तानां चतुर्दशवर्णानां प्रत्येकं स्वरः अच् इति च प्राचीनानां संज्ञेत्यर्थः । स्वेनैव राजत इति स्वरः । अतः स्वराज्श्रीकृष्णेन सह तत्साद‍ृश्यम् । स्वतन्त्र-मनन्यनिरपेक्षमुच्चारणं येषां तेस्वतन्त्रोच्चारणाः । कादीनामिति—करामादीनामुच्चारणं चकारादनुस्वार-विसर्गादेः स्थितिश्चैषामधीनमिति हेतोः सर्वेश्वराः । सर्वेश्वर प्रयोजनं–इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे इत्यादौ ।

यथा श्रीकृष्ण एव चतुर्दश-मन्वन्तरावतार रूपेणात्मानंप्रकटीकृत्य विश्वकार्य विशेषान् समादधाति, तथायं स्वरश्च अ आ इत्यादि चतुर्दशमूर्त्तीः परिगृह्णन् शव्द शास्त्र कार्य विशेषान् सम्पादयतीति भावः। मन्वन्तरावतारा यथा,—यज्ञो विष्णुः सत्यसनो हरि र्वैकुण्ठोऽजितो वामनः सार्वभौम ऋषभो विष्वक्सेनो धर्मसेतुः सुधामा योगेश्वरो वृहद्-भानुश्चेति लघुभागवतामृतम् ।

बाल०—संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च । अतिदेशोऽधिकारश्चेति सूत्राणि षड्विधानि । तेषु प्रथमनिर्दिष्टतया संज्ञाया एव प्राधान्यात् प्रथमं संज्ञासूत्राण्येव कुर्व्वन् तत्रापि सर्व्वव्यापकतया आदौ सर्वेश्वरसंज्ञमाह तत्रेति आदिशब्दोऽत्र प्रथमवाचकः ॥ एते स्वतन्त्रोच्चारणा इति एते चतुर्दशवर्णाः स्वतन्त्रोच्चारणा भवन्ति । स्वतन्त्रं निरपेक्षं कादीनामनधीनमुर्च्चारणं येषां ते स्वतन्त्रोच्चारणाः कादीनां वर्णानामुच्चारणञ्चैषां वर्णानामधीनं भवतीति हेतुः सर्वेश्वरा उच्यन्ते । सर्वेषां स्थावर-जङ्गमादीनामीश्वरः सर्वेश्वरशब्देन सर्वावतारी स्वयम्भगवान् कृष्ण उच्यते इति भगवन्नामता प्रसिद्धिः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयमिति एवमुक्तप्रकारेण सर्वेश्वरादन्यत्रापि दशावतारादिसंज्ञासु च

३. दश दशावताराः ।

तत्रादौ दश वर्णा दशावतारनामानो भवन्ति ।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ । एते समाना अकश्च प्राचीनानाम् ।

शक्तिप्रकाश-तारतम्येन वर्णाकार-नाम-भेदत्वेऽपि कृष्णस्वरूपाभिन्नत्वात् स्वप्रकाशत्वाच्च विष्णु रूपमात्रं सर्वेश्वरः । अतस्तत्रैव श्रीलरूपगोस्वामिनोक्तम्—××× परेशत्वात् पूर्णा यद्यपि तेऽखिलाः ××× शक्ते र्व्यक्तिस्तथाऽव्यक्ति स्तारतम्यस्य कारणमिति ।

ननु स्वल्पाक्षरमनल्पार्थं विशुद्धं सर्वतोमुखम् विशेष कथनापेक्षं सूत्रमिति सूत्रलक्षणरीतिमवलम्ब्य हि प्राचीनैर्मुनिभिश्च व्याकरण-प्रणयने मात्रालाघवमङ्गीकृतम्, तस्य तु कथमत्र व्यभिचारः ? तत्र सहेतुकमाक्षिपति—मात्रेति । मात्रा उच्चारण काल विशेषः । यथा,—कालेन यावता पाणिः पर्येति जानु मण्डले । सा मात्रा कविभिः प्रोक्ता ह्रस्वदीर्घप्लुते मता ।। इति प्राचीनाः । मात्राया लाघवमात्रमल्पता एव पुत्रोत्सवः पुत्रजन्मजन्य आनन्द इति परे अपरे सूत्रकाराचार्या अभिमन्यन्ते अभिनन्दन्ति । 'मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारण' इत्यमरः । वयन्तु हरिनामाक्षर लाभाद्धेतोः अमूदृक् तेषां मात्रालाघवजं तादृगभिमननं तिरष्कुर्मः नाद्रियामहे । तादशतुच्छ-जडानन्दतो हरिनामाक्षर-लाभज-चिदानन्दस्य कोटिगुणाधिक्यात् ।

तत्त्व०–३. दशेति । प्रपञ्चे अवतरति प्रकटयत्यात्मानमिति अवतारः । दश अवतारा यस्य स दशावतारः श्रीकृष्णः । दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नम इति गीतगोविन्देऽपि । पक्षे दशावतार इति संज्ञायां रूढिः । एवमग्रेऽपि संज्ञासु रूढित्वं बोध्यम् । ततोऽरामादि ॡ-रामान्त दशवर्णानां प्रत्येकं दशावतार संज्ञक इत्यर्थः । तत् प्रयोजनं—दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यादौ ।

दशावतारा यथा,—मत्स्यः कूर्मो वराहो नृसिंहो वामनः परशुरामो रामो वलरामो वुद्धः कल्किश्चेति । दशावताराणां स्वरूपतः सर्वेश्वरत्वेऽपि कार्यविशेष-साधनाय गृहीतान्यविग्रहवदेतन्नामकरणम् । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ।

गुणानुरूपं नामकरणं ज्ञेयं, यथा सर्वेश्वरशब्दस्यार्थकृतस्तथा अन्य संज्ञाशब्दस्यापि अर्थो ज्ञेय इत्यर्थः ।।

अत्र शास्त्रे मात्रालाघवे तात्पर्य्यं नास्तीत्याह मात्रेति । मात्रालाघवमेव मात्राल्पतैव पुत्रोत्सववद्भवतीत्येतद्वचनं अपरे पण्डिताः अभिमन्यन्ते सत् कुर्वन्तीत्यर्थः । मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारण इति नानार्थवर्गः । वयं पुनः अमूदृक् अदः मात्रालाघवमात्रं पुत्रोत्सव इति तिरस्कुर्मः । अत्र हेतुर्हरीति ।।२।।

बाल०—दश दशा सुगमम् । अत्र सर्वेश्वरेषु दशावतारशब्देन मत्स्य कूर्मादय उच्यन्ते, इति हेतुर्भगवन्नामता ।।३।।

४. तेषां द्वौ द्वावेकात्मकौ ।

तेषां दशावताराणां मध्ये क्रमेण द्वौ द्वौ वर्णौ प्रत्येकं परस्परञ्चैकात्मकौ ज्ञेयौ । यथा अ आ इति द्वौ एकात्मकौ, इ ई इति द्वौ, एवं उ ऊ इत्यादि । अत्र सवर्णसंज्ञा च । प्रत्येकमेकात्मकत्वं स्पष्टमेवेति परस्परार्थमिदं सूत्रम् ।

५. पूर्वो वामनः ।

तेषामेकात्मकानां पूर्व-पूर्वो वर्णो वामननामा । अ इ उ ऋ ऌ । एते ह्रस्वा निर्ह्रस्वाश्च ।

६. परस्त्रिविक्रमः ।

तेषामेकात्मकानां परपरो वर्णस्त्रिविक्रमो नामा । आ ई ऊ ॠ ॡ । एते दीर्घाश्च ।

तत्त्व०—४. तेषामिति । एकोऽद्वितीय आत्मा-स्वरूप यस्य स एकात्मकः । स्वयं-रूप-श्रीकृष्णेन सह तत्प्रकाश-विलास-रूपयोरिवाभिन्न स्वरूप इत्यर्थः । रासलीला-दावेकस्यैव श्रीकृष्णस्यानेकत्राभिव्यक्तिः प्रकाशः । ब्रह्ममोहनादौ तस्यहि वहुनारायणाभि-व्यक्तिस्तु विलासः । तदेकात्मरूपत्वाद वलरामादिः स्वरूपो लक्ष्म्यादिः शक्तिश्चापि विलासो ज्ञेयः । प्रत्येकमिति—अराम-अरामौ, आराम-आरामौ च । परस्परावितिः—अराम-आरामौ, आराम-अरामौ चेत्यादि ज्ञेयम् । तत् प्रयोजनं—दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यादौ । सवर्ण संज्ञेति—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णमिति प्राञ्चः । तत्रापि एद्वयओद्वययोः प्रत्येकमेव सवर्णत्वं स्वीकुर्वन्ति न तु परस्परम् । तस्माद्दशावताराणामेव परस्परमेकात्मकत्व-कथनेन सर्वेषां सर्वेश्वराणां प्रत्येकमेकात्मकत्वं सूचितं ग्रन्थकृता—प्रत्येकमित्यादिना ।

तत्त्व०—५. पूर्व इति । स्फुटार्थम् । दैत्यराज-वलेर्मखे दक्षिणार्थी वामनावतारः प्रसिद्धः । तस्य ह्रस्वविग्रहत्वात् सादृश्यम् । एत इति—एतत् पञ्चवर्णानां प्रत्येकं ह्रस्वः एकमात्रकः, निर्ह्रस्वश्च द्विमात्राकारवैशिष्टयेन दीर्घोऽपि भवति । निर्गतो ह्रस्वो यस्मात् स निर्ह्रस्व इति विग्रहः ।

बाल०—तेषां । सुगमम् । एकः अद्वितीय आत्मास्वरूपं यस्य स एकात्मकः एकात्मकशब्देन ब्रह्मभावापन्नजीव उच्यते । अथवा हरिहराद्वैतता । तेनैकात्मकशब्दस्य भगवन्नामता । प्रत्येकमिति अतावित्यर्थः । परस्परमिति अदामावित्यर्थः । एवमन्य-त्रापि ज्ञेयम् ।।४।।

बाल०—पूर्वं । पूर्वं इति त्रिविक्रमापेक्षया बलेरध्वरगतस्य भगवतः प्रथमतो ह्रस्व-विग्रहप्रकटनेनैव वामनत्वं प्रसिद्धमिति भगवन्नामता ।।५।।

७. त्रिमात्रो महापुरुषः ।

त्रिमात्रत्वेनोच्चार्य्यमाणो वामनस्त्रिविक्रमश्च महापुरुषसंज्ञः स्यात् । एष दूराह्वाने गाने रोदनादौ च प्रसिद्धः । प्लुतसंज्ञश्च । यथोक्तम्,—

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनश्चार्द्धमात्रकम् ॥ इति

आदित्रयस्य कुक्कुटरुतौ क्रमेण प्रसिद्धिः । अत्र महापुरुषे वामनमपि त्रिविक्रममुच्चारयन्ति लिखन्ति च तज्ज्ञाः । आगच्छ भो विष्णुमित्रा ३ आगच्छ । आगतोऽस्मि भो विश्वपा ३ आगतोऽस्मि ।

तत्त्व०—६. परइति । स्फुटार्थम् । पश्चात् वलेः सकाशात् त्रिपादभूमि याचनेन प्रकटितवृहद्वपुस्तया वामन एवत्रिविक्रमः प्रसिद्धः । तस्यदीर्घाकृतित्वात् सादृश्यम् । तत्प्रयोजनं—दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यादौ ।

तत्त्व०—७. त्रिमात्र इति । पुरिशयनात् पूरणाद् वा पुरुषः, महांश्चासौ पुरुषश्वेति महापुरुषः । महापुरुषशब्देन महत्स्रष्टा विराड्देहो महाविष्णुरुच्यते । अंशावताराणां-मंशिनस्तस्य त्रिविक्रमादपि दीर्घावयवत्वं प्रसिद्धम् । विराड्देहत्वमस्य तटस्थ लक्षणं, स्वरूपलक्षणन्तुःविशुद्धसत्त्वोर्जितं द्वात्रिंशल्लक्षणान्वितं हि रूपम्। श्रीकृष्णसन्दर्भे ग्रन्थकृद्भिः श्रीभागवतपद्येन तदेवनिरूपितम् । यथा,–"अथ तटस्थ-स्वरूपलक्षणाभ्यां तदेवविशिनष्टि–यस्या–वयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः । तद् वै भगवतोरूपं विशुद्धं सत्त्व मूर्जितम् ॥ इति । महापुरुषस्य स्वरूपतो द्वात्रिंशल्लक्षणं श्रीचरितामृते यथा,—पञ्च सूक्ष्मः पञ्च दीर्घः सप्त रक्तः षडुन्नतः । त्रिह्रस्व-पृथु गम्भीरो द्वात्रिंशल्लक्षणो महान् ॥ इति । तत्र पञ्चसु त्वक् केशांगुलिपर्व दन्त रोमसु सूक्ष्मः । पञ्चसु—नासा भुज हनु नेत्रजानुषु दीर्घः । सप्तसु–नेत्रान्त-करतल-तालु-अधरौष्ठ-जिह्वा-नखेषु रक्तः । षट्सु—वक्षोनख-नासिका-कटि-मुखेषु उन्नतः । त्रिषु—ग्रीवा जङ्घा-मेहनेषु ह्रस्वता । पुनः स्त्रिषु–कटि-ललाट-वक्षेषु पृथुता । पुनस्त्रिषु–नाभि-स्वर-सत्त्वेषु गम्भीरता इति श्रीचक्रवर्तिपादैर्विवृतम् । प्लुत संज्ञश्वेति—प्राचीनानामिति शेषः । महापुरुष प्रयोजनं—महापुरुषस्य चेत्यादौ ।

बाल०–पर इति । वामनापेक्षया पश्चाद्वलेः साकाशात् त्रिपादभूमियाचनेन भगवतो बृहद्वपुःप्रदर्शनात् त्रिविक्रमत्वम् इत्यस्य भगवन्नामता ॥६॥

बाल०—त्रिमात्र इति । महापुरुषशब्देन सर्वसल्लक्षणान्वित-पुरुष उच्यये स भगवानेव नान्योऽतोऽस्य भगवन्नामता । अत्र शास्त्रान्तरस्य लक्षणमुच्यते । 'न्यग्रोधपरिमण्डलो महापुरुषः' । 'पञ्चदीर्घः पञ्चसूक्ष्मः सप्तरक्तः षडुन्नतः । त्रिह्रस्वः पृथुगम्भीरो द्वात्रिंशल्लक्षणो महान्' ॥ एतैरुपलक्षितो महापुरुषः । आदित्रयस्य ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतरूपस्य कुक्कुटध्वनौ । तज्ज्ञा महापुरुषज्ञाः पण्डिताः ॥७॥

८. अ आ वर्जिताः सर्वेश्वरा ईश्वराः ।

अ आ इति वर्णद्वयवर्ज्जिताः सर्वेश्वरा ईश्वरनामानः । इ ई उ ऊ ऋ ॠ ए ऐ ओ औ । एते नामिन इचश्च ।

९. दशावतारा ईशाः ।

अ आ वर्ज्जिता दशावतारा ईशनामानः । इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ । एते इकश्च ।

१०. अ आ इ ई उ ऊ अनन्ताः । अनश्च ।

११. इ ई उ ऊ चतुःसनाः । इनश्च ।

तत्त्व०—८. अ आ वर्जिता इति । इरामादि औरामान्तानां द्वादशवर्णानां प्रत्येक मीश्वर संज्ञक इत्यर्थः । तत् प्रयोजनं—र ईश्वरात्सर्वेश्वरेत्यादौ । सर्वेश्वरस्य (कृष्णस्य) मासाधिदेवतरूपेण यथेश्वर संज्ञा तथैषामपीति ज्ञेयम् । मार्गशीर्षादिक्रमेण द्वादशमासानामधीश्वरा यथा,—केशव-नारायण-माधव-गोविन्द-विष्णु-मधुसूदन-त्रिविक्रम-वामन-श्रीधर-हृषीकेष-पद्मनाभ-दामोदरा इति श्रीचैतन्य चरितामृतम् ।

तत्त्व०—९. दशावतारा इति । ईष्टे प्रभवतीति ईशः प्रभुः । "ईशोद्धवेत्यादिना कः । इरामादि ॡरामान्तानामष्टानां प्रत्येकं ईशसंज्ञकः स्यात् । तत् प्रयोजनं—ईशस्यानेकात्मके वामनश्च वेत्यादौ । प्रकृतेरष्टावरणानामधीशवदेतेऽपीशसंज्ञका इत्यर्थः । क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमाहंकार-महत्तत्त्व-प्रकृतीनां क्रमेणाष्टावरणाधीशा यथा,—वराह-मत्स्य-सूर्य-प्रद्युम्नानिरुद्ध संकर्षण-वासुदेव-परमेश्वरा इति वृहद् भागवतामृतम् ।

तत्त्व०—१० अ आ इति । न विद्यतेऽन्तो यस्य स अनन्तः श्रीवलदेवादिः । अरामादि ऊरामान्तानां षण्णां प्रत्येकं वर्णः अनन्त संज्ञकः । तत्प्रयोजनं—ओरामान्तामनन्तानाश्चाव्ययानामित्यादौ । कृष्णलोके (गोलोके गोकुले वा) मूलानन्तो वलदेवः, परव्योम्नि सङ्कर्षणः; कारण-गर्भ-क्षीराब्धिषु सहस्रशीर्षास्त्रयः, पाताले सहस्रफणः शेषाख्यश्चेति षडनन्ता ज्ञेयाः । सङ्कर्षणान्तर्गतत्वाद् लक्ष्मणस्य पृथक्त्वेन नोक्तिः ।

बाल०—अ आ । सुगमम् । ईश्वरशब्देन मायानियन्ता भगवान् उच्यते इत्यस्य भगवन्नामता ।।८।।

बाल०—दशा । सुगमम् । ईशशब्देन मायामुग्धजीवनिकायनियामको भगवान् उच्यते, अतोऽस्य भगवन्नामता ।।९।।

बाल०—अ आ इ ई । सुगमम् । अनन्तशब्देन सहस्रफणः शेषः उच्यते, इत्यस्य भगवन्नामता ।।१०।।

१२. उ ऊ ऋ ॠ चतुर्भुजाः । उकश्च ।

प्रयोजनाभावात् ऌ ॡ न गृह्येते ।

१३. ए ऐ ओ औ चतुर्व्यूहाः । सन्ध्यक्षराणि एचश्च ।

एते सर्वे एव त्रिविक्रमाः ।

१४. अं इति विष्णु चक्रम् ।

तत्त्व०—११. ईई इति । चतुर्णां सनानां समाहार इति चतुः सनः । नपुंसके प्राप्ते "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति" महाभाष्य-वचनवलात् पुंस्त्वम् । "सनशब्दात् चतुर्ष्वेव चतुःसन इति स्मृतः" इति लघुभागवतामृतोक्तेश्च तेभगवदवतार-विशेषाः । इरामादि ऊरामान्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुःसन संज्ञकः । प्रयोजनं—धातोश्चतुः सनस्येयुवौ इत्यादौ । चतुः सनास्तु सनक-सनन्दन-सनत् कुमार-सनातना विख्याता एव ।

तत्त्व०—१२. उऋ इति । उरामादि चतुर्णां प्रत्येकं चतुर्भुजसंज्ञः स्यात् । चत्वारो-भुजा यस्य स चतुर्भुजो नारायणः । शुक्लरक्त-कृष्ण-पीताश्चत्वारो युगावतारा हि चतुर्भुजा उच्यन्ते । सत्य-त्रेता-द्वापर-कलिषु क्रमेण ध्यान-यज्ञ-परिचर्यानामसंकीर्त्तनरूपं युगधर्म-चतुष्टयं प्रवर्त्तयितुं शुक्लरक्त-कृष्ण-पीतैराविर्भवन्ति चत्वारो युगावतारा इति तत्त्वं,—"शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गत" इत्यादि श्रीगर्गवाक्यैः पर्यालोचनीयम् । एवं सति स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य तथा तस्यैवाविर्भावविशेष श्रीगौरस्य च युगावतार-दोषापत्तिश्चेत्तदा समाधानरीतिश्चैषा,—स्वयम्भगवति आविर्भूते सति युगावतारश्च स्वातन्त्र्येण नावतीर्य तस्मिन्नेव मिलति । अथ स्वयम्भगवानपि तदुपयोगि-कार्यदृष्ट्या युगावतारत्वेन कथ्यत इति । चतुर्भुजप्रयोजनं—अचश्चतुर्भुजानुवन्धानाञ्च नुमित्यादौ ।

तत्त्व०—१३. ए ऐ इति । चतुर्णां व्यूहानांदेहानां विग्रहाणामिति यावत् समाहार इति पूर्ववत् समासे पुंस्त्वम् । "व्यूहस्तु देहसैन्ययो" रिति त्रिकाण्ड शेषः । एरामादि चतुर्णां प्रत्येकं चतुव्यूह संज्ञकः । चतुर्व्यूह शब्देन वासुदेव-संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धा उच्यन्ते । सन्धियुक्तानि च तान्यक्षराणि चेति सन्ध्यक्षराणि, मध्यपदलोपि-श्यामरामः । अद्वयमिद्वये ए, उद्वये ओ, एद्वये ऐ, ओद्वये औ इति वक्ष्यामाण सन्धिसूत्र-चतुष्टयेन निष्पन्ना एते । प्रयोजनं—चतुर्व्यूहान्तानामारामान्तपाठोऽशिवे इत्यत्र ।

बाल०—ई इ चत्वारः सना यत्र ते चतुःसनाः । चतुःसनशब्देन सनक-सनातन-सनन्दन-सनत्कुमारा उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ।।११।।

बाल०—उ ऊ । सुगमम् । चत्वारो भुजा येषां ते चतुर्भुजाः । चतुर्भुज-शब्देन नारायण उच्यते, अतो भगवन्नामता ।।१२।।

बाल०—ए ऐ । सुगमम् । चत्वारो व्यूहा येषां ते चतुर्व्यूहाः । चतुर्व्यूह-शब्देन वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धा उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ।।१३।।

अकार उच्चारणार्थः। विन्दुस्वरूपो वर्णो विष्णुचक्रनामा। अनुस्वारो विन्दुर्लवश्च।

१५. अँ इति विष्णु चापः।

अर्द्ध चन्द्राकृति वर्णो विष्णुचापनामा। अनुनासिकश्च। नासिका-भवोऽयम्, सानुनासिकस्तु मुखनासिकाभवः।

१६. अः इति विष्णु सर्गः।

विन्दुद्वयाकारोवर्णो विष्णुसर्गनामा। विसर्गो विसर्जनीयो विसृष्टोऽभि-निष्ठानश्च।

तत्त्व०—१४. अं इति। चकते प्रतिहन्तीति चक्रम्। विष्णोश्चक्रं विष्णुचक्रं सुदर्श-नाख्यम्। विन्दुस्वरूप वर्णस्य चक्रवद् गोलाकृतित्वात् सादृश्यम्। प्रयोजनं—मोविष्णुचक्रं विष्णुजने इत्यादौ।

तत्त्व०—१५. अँ इति। अकार उच्चारणार्थः। चापस्य वेणोर्विकारश्चापः। विष्णोश्चापो धनुरिति विष्णुचापः शार्ङ्गमिति प्रसिद्धम्। अर्द्धचन्द्रेति—अर्द्धं चन्द्रस्य अर्द्धचन्द्रः, सइवाकृतिर्यस्य सोऽर्द्ध चन्द्राकृतिः, सचासौ वर्णश्चेति अर्द्धचन्द्राकृतिवर्णः, नाद इत्यपरनामा; सोऽपि सविन्दुरिति विशेषणमुन्नेयम्। "नादाद् विन्दुरजायत" इत्यागम-वचनेन तस्य विन्दुगर्भा-कृतित्व-सूचनात्। सानुनासिकस्त्विति—अनुनासिकेन सहेति सानुनासिको वर्णः। नादस्य स्वतन्त्रोच्चारणाभावादसौ मुखभवं यद्वर्णमाश्रित्योच्चार्यते स सानुनासिकः, मुख नासिकाभव एवेत्यर्थः। प्रयोजनं—नोऽन्तश्चछयोः शरामो विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वेत्यादौ।

तत्त्व०—१६. अः इति। विष्णोः सर्गोधाम इति विष्णुसर्गः। श्रीमद् भागवते

बाल०—अ इति सुगमम्। विष्णोश्चकं विष्णुचक्रम्। विष्णुचक्रशब्देन सुदर्शनाख्य-मस्त्रमुच्यते, इति भगवन्नामता। विन्दुर्लवेति विन्दुर्लवेप्यव्यम्नेति मेदिनी ।।१४।।

बाल०—अ इति। सुगमम्। अकार उच्चारणार्थः। चन्द्रस्य अर्द्धः अर्द्ध-चन्द्रः। अर्द्धचन्द्र इवाकृतिराकारो यस्य सोऽर्द्धचन्द्राकृतिः। अर्द्धचन्द्रा-कृतिश्चासौ वर्णश्चेति अर्द्धचन्द्राकृतिवर्णः। इत्यस्य सविन्दुरित्यपि विशेषणमूह्यं चन्द्रविन्दुत्वेनैव प्रसिद्धः। नादाद्वायुरजायत विन्दोराकाश सम्भूतिरित्या-गमाच्च। विष्णोश्चापः विष्णुचापः।चाप-शब्देन धनुरुच्यते, अतो विष्णुचापः शार्ङ्गमित्यस्य भगवन्नामता।

नासिकाभवोऽयमिति अयमनुनासिको नासिकाभवः। अनुनासिका-सहितवर्णस्तु मुखनासिकाभवः। वर्णो मुखभवः अनुनासिको नासिकाभव इत्यर्थः। वर्णानां कण्ठताल्वादि-भवत्वेनैव मुखभवत्वं विद्यत एवेति ।।१५।।

बाल०—अः इति। सुगमम्। अकार उच्चारणार्थः। सर्गः सृष्टिः। विष्णोः सर्गो

१७. कादयो विष्णुजनाः ।

ककारादयो हकारान्ता वर्णा विष्णुजन नामानो भवन्ति । विष्णोः सर्वव्यापकतया सर्वेश्वरस्य जनाइव तस्याधीना इत्यर्थः । क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह । क ष संयोगे तु क्ष । एते व्यञ्जनानि हलश्च ।

मङ्गलाचरणे—"यत्र त्रिसर्गोऽमृषा" इत्यत्र त्रिसर्गः श्रीगोकुल-मथुरा-द्वारका वैभव प्रकाश इति श्रीग्रन्थकृद्भिः । "धामास्य द्विविधं प्रोक्तं माथुरं द्वार्वती तथेति" लघुभागवतामृते मथुरा-गोकुलयोर्माथुरान्तर्गतत्वाद्धाम्नो द्वैविध्यमुक्तम् यद्वा "माथुरञ्च द्विधा प्राहु र्गोकुलं पुरमेव चेति" लघुभागवतामृतोक्तेः मथुरा-गोकुलमित्याकार द्वयेन माथुरस्येव विन्दुद्वया-कारेण विष्णुसर्गस्य नित्यस्थितिरिति च ज्ञेयम् ।

यद्यपि सर्गशब्देन सृष्टि रुच्यते तथाप्यत्र नित्य भगवद्धाम्नः सृष्टयभावात् "तद्धाम तदनन्तांश-सम्भवमिति" ब्रह्मसंहिता वाक्येन विष्णुसर्गस्य लीलोपयोगितया प्रपञ्चे प्रकाशः सम्भवेदेव । "सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदमिति" तत्रत्य प्रमाणेन कमला-कारत्वाद्धाम द्वयस्य द्विविन्दुसाम्यम् । प्रयोजनं—विष्णुसर्गो जिह्वामूलयः कखयोर्वेत्यादौ ।

तत्त्व०—१७. कादय इति । वेवेष्टि व्याप्नोति विश्वमिति विष्णुः । विषेः किच्चे-तिनुः । मुक्तप्रग्रहवृत्त्या विष्णु शब्दोऽत्र कृष्णे पर्यपस्यति । तथाहि—"यथा राधा प्रिया-विष्णोरिति", विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोरिति" च पाद्म-भागवतयोः । तस्य जना विष्णुजनाः कृष्णपरिकरा इत्यर्थः । करामादि-हरामान्तानां वर्णानां प्रत्येकं विष्णुजनसंज्ञकः स्यात् । एवमग्रेऽपि यथायोग्यं वोध्यम् । विष्णोरिति—सर्वव्यापकतया हेतुना विष्णोः सर्वेश्वरस्य जना इव एते विष्णुजनास्तस्य सर्वेश्वर-विष्णोरधीना भवन्ति । सर्वव्यापकत्वाद् विष्णुरेव सर्वेश्वरः तस्य जना यथा तदधीना भवन्ति तथाचैते कादयो विष्णुजनसंज्ञवर्णा स्तस्य सर्वेश्वरसंज्ञ वर्णस्य अधीनास्युरिति सरलार्थः । सर्वेश्वराश्रयंविना विष्णुजनोच्चा-रणस्या सम्भवात्तदधीनोच्चारणा इति तात्पर्यम् ।

विष्णुजनशब्देन व्रजपुरभेदेन गोपाल-यादवादि कृष्णपरिकरा उच्यन्ते । विष्णुजन-संज्ञासु नाममात्रं साम्यं, संख्या साम्यन्तु न विवक्षितम् । प्रयोजनं—विष्णुजनो विष्णुजने हरौ विनेत्यादौ । विष्णुजना व्रजे यथा—श्रीनन्दोपानन्दादिपितृगणाः, श्रीदामसुवलादि सखायः, भागुरि-वेदगर्भ प्रमुख-विप्राः, मधुमङ्गल-पुष्पाङ्कादि विदूषकाः, कडार-गन्धवेद-प्रभृति विटाः, रक्तक-पत्रक प्रभृति चेटाः, पृथुक-पार्श्वगादि-ताम्बूलिकाः, पयोद-वारिद-

---

विष्णुसर्ग इति विष्णुसर्गशब्दस्यार्थः ब्रह्मलोकोपरि वैकुण्ठ-ध्रुव-लोकयोर्विन्दुद्वयाकारत्वेन विष्णुसर्गस्य प्रसिद्धिरित्यस्य भगवन्नामता ।।१६।।

बाल०—कादयः । सर्वेश्वरस्येत्यनन्तरं कृष्णस्येति बहुषु पुस्तकेपु दृश्यते, तत्तु लिपिकरप्रमादकृतम् । विष्णर्यथा सर्वव्यापकतया धर्मेण आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्ताः स्थावर-

१८. य वर्जितास्तु वलाः । वलश्च ।

१९. ते मान्ताः पञ्च पञ्च विष्णुवर्गाः ।

ते ककारादयो मकारान्ता वर्णाः पञ्च पञ्च विष्णुवर्गा भवन्ति । एते वर्गाश्च । क ख ग घ ङ इति कवर्गः । एवं चवर्गः टवर्गः तवर्गः पवर्गश्च । एते कु चु टु तु पु नामानश्च । स्पर्शास्तु सर्वएव ।

मुख्य-जलसेवकाः, सारङ्ग-वकुलादि-वस्त्रसेवकाः, प्रेमकन्द-महागन्ध-प्रधान-वेश काराः, सुमनः-कुसुमोल्लासादि-गान्धिकाः, स्वच्छ-सुशीलादि क्षौरकाराः, विमल-कोमलादि-पीठ-वाहकाः, चतुर-चारणादि चराः, तुङ्ग-वावदूकादि-द्यूताः, शोभन-दीपनादि-दीपधारिणः, सुधाकर-सानन्दादि-मार्दङ्गिकाः, विचित्र-मधुरव-प्रमुख-वन्दिनः, चन्द्रहासेन्दुहासादि-नर्त्तकाः, कलकण्ठ-सुकण्ठादितालधारिणः, रोचिक-सौचिकादि-वस्त्रशिल्पिनः, पुण्यभाग्य प्रभृति-हड्डिपाः, रङ्गण-टङ्कनादि-स्वर्णकाराः, पवन-कर्मठादयः कुलालाः, वर्द्धिक-वर्द्ध-मानादि-सूत्रधारिणः, सुचित्र-विचित्र प्रभृति चित्रकरा इत्यादयः । एवं पुरेऽपि यथायोग्य-मनुसन्धेयम् ।

तत्त्व०—१८. य वर्जिता इति । यरामवर्जिता विष्णुजना वलनामानो भवन्ति । वलो वलरामः कालिन्दीभेदनो वल इत्यमरः । विष्णुतत्त्वान्तर्गतत्वेऽपि श्रीवलदेवस्य दासाभिमान-स्वाभाव्याद विष्णुजनान्तः पातोज्ञेयः । "प्रायो मायास्तु मेभर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनीति" कृष्णमुद्दिश्य वलदेवस्य स्वगतोक्तेः प्रयोजनं—यवयोर्हरो वले इत्यादौ ।

तत्त्व०—१९. ते मान्ता इति । ते मान्ता हरिमित्र-हरिगोत्राणि वर्जयित्वा विष्णु-जनाः पञ्चशो विष्णु वर्ग-संज्ञका भवन्ति । विजातीयत्वेऽपि समान धर्मिभिः प्राणिभिरप्रा-णिभिरूप लक्षितं वृन्दं वर्गइत्यमरभरतौ । विष्णोः कृष्णस्य वर्गा वैश्याभीरादि वैजात्येऽपि सच्चिदानन्द स्वरूप-समानधर्मयुक्ताः परीवारा इति विष्णुवर्गाः । ते च पञ्चधा यथा—तेकृष्णस्य परिवारा येजना व्रजवासिनः । पशुपाला स्त्रिधा वैश्या आभीरा गुर्ज्जरा स्तथा । सर्ववेदविदो विप्रा याजनाद्यधिकारिणः । वहिष्ठाः कारव प्रोक्ता नानाशिल्पोपजीविनः । एभिः पञ्चविधैरेव परिवारा हरे रिह । इति श्रीमद्रूप-पाद कृत-श्रीकृष्णगणोद्देशः ।

पत्रान्तरे—"कत्व-खत्वादिना विजातीयत्वेऽपि उद्भवस्थानसाम्यमस्ति" इत्यमर टीकायां भरतः । एते सर्वे स्पर्श नामानः, तत्तदुद्भवस्थानस्पर्शेणोच्चार्यमाणत्वादित्यर्थः । प्रयोजनं—विष्णुचक्रस्य हरिवेणु र्विष्णुवर्गे इत्यादौ ।

जङ्गमादयः सर्वे जनास्तस्य विष्णोरधीनाः सन्ति, तथैव सर्वेश्वरस्य सर्वेश्वरसंज्ञवर्णस्य कादयो विष्णुजना वर्णा अधीना भवन्ति । विष्णुजनशब्देन सुनन्दनमुखाः पार्श्वदा उच्यन्ते, इति हेतुर्भगवन्नामता ।।१७।।

बाल०—य व वर्जिताः । सुगमम् । य व वर्जिता विष्णुजना बलनामानो भवन्ति । बलशब्दो बलरामवाची, इति भगवन्नामता ।।१८।।

२०. ञ वर्जितास्तु विष्णुगणाः ।

मयश्च । तत्र समानवर्गः सवर्ग उच्यते सवर्णश्च ।

२१. क च ट त पा हरिकमलानि । प्रथमाश्चयश्च ।

२२. ख छ ठ थ फा हरिखड्गाः । द्वितीयाश्छफश्च ।

२३. ग ज ड द वा हरिगदाः । तृतीया जशश्च ।

यथा नन्द-रक्तक-पयोद-भागुरि-विचित्रादयो विष्णुजनाः क्रमशः पञ्च परिवारान्तर्गता स्तथा करामादि पञ्चविंशति विष्णुजनाः पञ्च वर्गान्तर्गता इति सादृश्यम् ।

तत्त्व०—२०. ञ वर्जिता इति । तत्रैव—यूथस्यावान्तरा भेदा इत्यादौ नवधाभेद निर्णये—"वर्गस्य गण इत्यपि × × × लघवः क्रमशो बुधै" रित्युक्तया वर्गाद् गणस्य न्यूनत्वं प्रतिपादितम् । अत्रापि अरामेण न्यूनत्वाद् विष्णुगणाः । प्रयोजनं—विष्णु गणाद्वो वेत्यादौ ।

तत्त्व०—२१. कच इति । हरति सर्वामङ्गलानि प्रेम्णा मनांसि चेति हरिः । हृञ् इन् उणादिः । कमम्भोऽलति भूपयतीति कमलम् । हरेः कमलानि हरि कमलानि लीला-कमलानीत्यर्थः । एतेषां पञ्चानां विष्णुजनानां प्रत्येकं हरिकमल संज्ञा स्यात् । प्रयोजनं—यादवमात्रे हरि कमलमित्यादौ ।

तत्त्व०—२२. ख छ इति । खडति खण्डयति छिनत्तीनिखड्गः । हरिखड्गशब्देन भगवतो नन्दक उच्यते ।

तत्त्व०—२३. ग ज इति । गदयति शब्दयतीति गदा । हरिगदा हरेः कौमुदीनामा, व्रजे यष्टि स्वरूपञ्च ।

बाल०—ते मान्ताः । सुगमम् । विष्णोर्वर्गाः । विष्णुवर्ग-शब्देन सत्यलोकोपरि वैकुण्ठाद्यधीश्वरादय उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ।

कु चु टु तु पु नामानश्चेति उकारः पञ्चमवर्णग्रहणार्थः । उकारस्य पञ्चमस्वरत्वात् । स्पर्शाः स्पर्शनामानो भवन्तीत्यर्थः । यद्वा सर्वे विष्णुवर्गा एव निश्चतं स्पर्शाः स्वस्वोद्भवस्थानेषु स्पर्शोच्चारणा भवन्ति ॥१९॥

बाल०—ञ वर्जिताः । ञ वर्जिता विष्णुवर्गा विष्णुगणनामानो भवन्ति । विष्णुगणशब्देन अनन्त-वैकुण्ठनिवासिनः सारूप्यप्राप्ता उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥२०॥

बाल०—क च । सुगमम् । हरेः कमलानि हरिकमलानि । हरिकमलशब्देन हरेः पद्ममुच्यते, अतो भगवन्नामता ॥२१॥

बाल०—ख छ । सुगमम् । हरेः खड्गाः हरिखड्गाः । हरिखड्गशब्देन नन्दक उच्यते, अतो भगवन्नामता ॥२२॥

बाल०—ग ज । सुगमम् । हरेर्गदा हरिगदा । हरिगदाशब्देन कौमोदकी उच्यते, अतो भगवन्नामता ॥२३॥

२४. घ झ ढ ध भा हरिघोषाः । चतुर्था झषश्च ।

२५. ङ ञ ण न मा हरिवेणवः ।

पञ्चमानुनासिका ञमश्च । एते च मुखनासिकाभवाः ।

२६. त एतद्वर्जिता विष्णुदासाः ।

हरिवेणुवर्जिता विष्णुवर्गा विष्णुदासनामानः । क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, त थ द ध, प फ ब भ । एते झयश्च ।

२७. य र ल वा हरिमित्राणि ।

अन्तस्था यणश्च । एते सविष्णुचापा निर्विष्णुचापाश्च ।

तत्त्व०—२४. घ झ इति । घोषति शब्दायत इति घोषः शङ्खः । हरेर्घोषः हरिघोषः पाञ्चजन्य नामा दक्षिणावर्त्तः शङ्खः; व्रजे शृङ्गश्च ।

तत्त्व०—२५. ङ ञ इति । वेणन्ति वादित्रं गृह्णन्ति अनेनेति वेणुः, हरिवेणः कृष्णस्य वंशी । साच सम्मोहिनी आकर्षणी आनन्दिनीति त्रिविधा ज्ञेया ।

तत्त्व०—२६. त एतदिति । विष्णोर्दासाः सेवकाः । हरिवेणु वर्जिता इति—हरिवेणु नामानं विष्णुजन पञ्चकं वर्जयित्वेत्यर्थः । विष्णुदास शब्देन प्रागुक्तारक्तक-पत्रकादयः सेवका ज्ञेयाः । तेषां विष्णुवर्गान्तऽतित्वेऽपि कार्यविशेषार्थं यथा पृथग् विष्णु दास संज्ञाः तथैषां विंशतेश्चापि पृथगेतत् संज्ञेति सादृश्यम् ।

तत्त्व०—२७. य ब र ला इति । मेदयन्ति स्निह्यन्तीति मित्राणि, हरेर्मित्राणि सखायः हरिमित्राणि—श्रीदामसुवलादयः प्रसिद्धा एव । "कृत्वैकत्र गवां कुलानि परितः कृष्णेन सार्द्धं मुदा, हस्ताहस्ति-विनोद-नर्म कथनैः खेलन्ति मित्रोत्कराः" । इति स्तवावलिः । पुरे तु भीमार्जुनादयः ।

बाल०—घ झ । सुगमम् । घोषी गोपपल्ली, घोष आभीरपल्ली स्यात्यिमरः । हरिसम्बन्धी घोषी हरिघोषः नन्दालयप्रभृतिः । किंवा नादेन घोषेण गुहां प्रविष्ट इति श्री भागवतोक्तत्वात् हरेः प्रणवोच्चाराणादिश्चेति हरिघोष शब्दस्यार्थोऽतोऽस्य भगवन्नामता ।।२४।।

बाल०—ङ ञ । सुगमम् । हरेर्वेणवः हरिवेणवः । हरिवेणुशब्देन हरेर्वंश्यादय उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ।।२५।।

बाल०—त एतद्वर्जिता । सुगमम् । विष्णोर्दासा विष्णुदासाः । विष्णुदासशब्देन सारङ्ग-पत्रिप्रभृतय उच्यन्तेऽतो भगवन्नामता ।।२६।।

बाल०—य र । सुगमम् । हरेर्मित्रम् हरिमित्रम् । हरिमित्रशब्देन नन्दादिरुच्यते । यन्मित्रं परमानन्दमिति स्मरणात्, अतोऽस्य भगवन्नामता ।।२७।।

२८. श ष स हा हरिगोत्राणि । ऊष्माणः षिटः शलश्च ।

२९. श ष साः शौरयः । शरश्च ।

३०. विष्णुदासहरिगोत्राणि वैष्णवाः ।

एतानि वैष्णव नामानि,—क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ त थ द प फ ब भ श ष स ह । एते धुटो झलश्च ।

३१. हरिगदा हरिघोष हरिवेगु हरिमित्राणि हश्च गोपालाः ।

एते गोपालनामानः,—ग घ ङ ज झ ञ ड ढ ण द ध न ब भ म य र ल व ह । एते घोषवन्तो हशश्च ।

तत्त्व०—२८. शष इति । गां त्रायत इति गोत्रं पर्वत इति क्षीरस्वामी । गवति शब्दयति पूर्वपुरुषान् यत्तद् गोत्रं कुलमिति भरतः । हरेर्गोत्राणि हरिगोत्राणि गोवर्द्धन-नन्दीश्वरादयः; पुरे तु अनिरुद्ध-वज्रादयः ।

तत्त्व०—२९. शषसा इति । शूरस्य तन्नाम्नो राज्ञोऽपत्यं गोत्रापत्यानि च पुमांस इति शौरयः । वसुदेव स्ततूपुत्रा गद-सारणादयश्च ।

तत्त्व०—३०. विष्णुदासेति । विष्णोरिमे वैष्णवाः । विष्णुदासाश्च हरि गोत्राणि चेति विष्णुदास हरिगोत्राणि, तानि वैष्णवसंज्ञकानि भवन्ति । पाद सम्वाहकत्वेन ख्याता भंगुर-रक्तकादयो विष्णदासा स्तथा हरिदासवर्यतया प्रसिद्धा हरिगोत्राणि गोवर्द्धनादयश्च वैष्णवाः—विष्णुर्भक्तिः (भज्यते सेव्यत इति भक्तिः) भजनीय एषामिति । किञ्च हरि-गोत्राणि प्रदद्युम्नानिरुद्धादयो वैष्णवा विष्णोरपत्यानि गोत्रापत्यानि वापुमांस इति । सर्वत्र विष्णु शब्दात् केशवणः ।

तत्त्व०—३१. हरिगदेति । हरिगदाश्च हरिघोषाश्च हरिवेणवश्च हरिमित्राणिचेति तथा तानि तत्तत् नामानो विष्णुजना गोपालसंज्ञकाः स्युस्तथा हरामश्च गोपालसंज्ञः स्यात् ।

गाः पालयतीति गोपालः श्रीकृष्णः । व्रजस्थहरेर्यष्टि विषाण—वेणवस्तथा हरिमि-त्राणि श्रीदामादयः सर्वएव गोपालाः श्रीकृष्णाभिन्न-स्वरूपत्वात् । ब्रह्ममोहन लीलायां दर्शितमेवैतत् । तथा हश्च गोपालः; हःशिवो गगन—मिति वर्णाभिधाने हशब्देन शिवोऽश्चो-

---

बाल०—श ष स ह । सुगमम् । हरेर्गोत्रं हरिगोत्रम् । हरिगोत्रशब्देन कन्दर्प-साम्बादय उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥२८॥

बाल०—श ष सा । सुगमम् । शौरिशब्देन वसुदेवादय उच्यन्ते, इत्यस्य भगवन्नामता ॥२९॥

बाल०—विष्णु । वैष्णवशब्देन विष्णवधिदैवताः शुक-प्रह्लादादयः कन्दर्पादयश्च उच्यन्तेऽत एषामुभयेषां विष्णवधिदैवत्वेन वैष्णवनामता ॥३०॥

३२. यादवा अन्ये ।

गोपालेभ्योऽन्ये विष्णुजना यादवनामानः । क ख च छ ट ठ त थ प फ श ष स । एते अघोषा खरश्च ।

३३. शौरिवर्जितास्तु सात्वताः ।

शौरिवर्जितास्तु यादवाः सात्वत नामानः । खयश्च ।

३४. अस्पर्शो प्रयत्नः सर्वेश्वराणां, स्पर्शो विष्णुवर्गाणामीषत्स्पर्शो हरिमित्राणाम् ।

च्यते । श्रीकृष्णांशरूपत्वात् सोऽपि गोपालः । वैष्णवानां यथा शम्भु रित्युक्तया शिवस्य वैष्णवत्व–प्रसिद्धेऽपि गोपालत्वमपि तस्य प्रसिद्धमस्ति । यथा—

श्रीकृष्णस्यप्रसादेन द्विविधोऽभत् सदाशिवः ।
एकस्तत्र शिवः साक्षादन्यो गोपालविग्रहः ॥

—इति श्रीगौर गणोद्द ेशे ।

तत्त्व०—३२. यादवा इति । यदो र्गोत्रापत्यानि पुमांस इति यादवाः । गोपालेभ्यः अन्य इति–हरिकमलानि, हरिखड्गाः शौरयश्च यादवा इत्यर्थः ।

यद्यपि सामान्याभिधाने नन्दादयो वसुदेवादयश्च सर्व एव यादवास्तथापि गोपालेति विशेष कथने पुरवासिनो वसुदेवादय एव यादवा इत्येव मन्तव्यम् । यादव-गोपालशब्दयोः कुरु-पाण्डव-शब्दवत् खण्डाखण्ड-वाचकत्व-स्वीकारात् ।

तत्त्व०—३३. शौरीति । सात्वतस्तन्नामा यदु वंशीय-महाविष्णुभक्तो नृपः, तस्यगोत्रापत्यानि पुमांस इति सात्वताः । यद्वा सात्वतः साधव एव सात्वताः, स्वार्थे-केशव णः । शौरिवर्जिताः शूर वसुदेवादिभिन्ना ये यादवा स्तेसात्वताः । व्रजे नन्दोपनन्दा-दयः, पुरे उग्रसेनाक्ररोद्धव-सात्यक्यादयश्च । वसुदेवादेस्तु सात्वतत्वेऽपि प्रयोजनाभावान्नात्र तद्विवक्षा ।

बाल०—हरिगदा । सुगमम् । अत्र गोपाल शब्देन गोपरूपिणो भगवतः सम्बन्धाद् गोरक्षकत्वेन एते हरिगदादयो गोपालनामान उच्यन्ते, प्रत्येकं तेषां भगवन्नामता पूर्वत्र प्रतिपादिता इति भगवन्नामता ।।३१।।

बाल०—यादवा । सुगमम् । यादवशब्देन सामान्ययदुकुलोद्भवा उच्यन्ते, यद्यपि यादवानां कियद्गोपालानाञ्चैकवंशत्वं, तथापि वृन्दावनस्थत्वेन गोपालाः, मथुरास्थत्वेन यादवा इति भेदविवक्षितम् ।।३२।।

बाल०—शौरि । शौरिवर्जिता यादवाः सात्वतनामानः । सात्वतशब्देन तद्वंशोत्-पन्ना उच्यन्ते, ते तु परमभक्ता इति । अथवा सत्शब्देन सत्वमूर्तिर्भगवानुच्यते, उपास्यतया स विद्यते येषामिति सात्वन्तः, ततः स्वार्थेऽण् सात्वता वैष्णवा इति ।।३३।।

३५. रादनुस्वाराच्च परं यवाभ्यान्तु पूर्वं विना यरामस्य पुनर-विष्णुपदादावीषत्स्पर्शितरः ।

३६. उपेन्द्रात् क्वचिद् विष्णुपदादौ च ।

उपेन्द्रसंज्ञा विष्णुपद च वक्ष्यते । **त्रिविक्रम-महापुरुष-हरिगोत्राणां** विवृतश्चेति ज्ञेयम् । तत्र रादिति क्रमेण दर्श्यते । अर्यमा, यंयम्यते, अय्यते, वाय्वग्नी, नारायणाय, नियमः, प्रयुङ्क्ते । **अत्र पञ्चम-षष्ठे एवोदा-**हरणे, अन्यानि तु प्रत्युदाहरणानि ।

तत्त्व०—३४. अस्पर्शीति । प्रयतनं प्रयत्नः स्पृष्टतादि वर्णगुण इति काशिका । प्रयत्नस्तावद् द्विविधः, आभ्यन्तरो वाह्यश्च । तत्राद्य श्चतुर्द्धा, स्पृष्टेषत्स्पृष्ट-विवृत-संवृत-भेदात् । तानेव विवृणोति अस्पर्शीत्यादिभिः । सर्वेश्वराणां वामनसंज्ञकानां, त्रिविक्रम-महापुरुषयोरग्रिमसूत्रे विशेषाभिधानात्, प्रयत्नः अस्पर्शी संवृतः, जिह्वाग्रोपाग्र-मध्य-मूलानि तत्तद्वर्णोच्चारण स्थानानां समपमात्रे तिष्ठन्ति नतु स्पृशन्तीत्यर्थः । विष्णुवर्गाणां करामादि-मरामान्तानां पयत्नः स्पर्शी, जिह्वाग्रादि स्ततद् वर्णोच्चारणस्थानानि स्पृशतीति । हरिमित्राणां यरामादि चतुर्णां प्रयत्न ईषत्स्पर्शी जिह्वाग्रादिस्तत्तद्वर्णोच्चारणस्थानानी-षत्स्पृशतीत्यर्थः । विवृतस्त्वग्रिमसूत्रे वक्ष्यते । वाह्यप्रयत्नाश्च विरामादयेकादश वैदिकेषु खलु ज्ञेयाः ।

तत्त्व०—३५. सामन्यतो हरिमित्राणामुक्त्वा तेषु यरामस्योच्चारणवैशिष्टचमाचष्टे-रादिति । अविष्णुपदादौ विष्णुपदादावविदयमानस्य यरामस्य प्रयत्न ईषत्स्पर्शितरः, पूर्वोक्तेषत्स्पर्शितोऽपीषत्स्पर्शी अस्पर्शिकल्प इत्यर्थः । कथम्भूतस्य यरामस्य ? ररामाद् विष्णुचक्राच्च परो योयराम स्तथाराम-वरामाभ्याञ्च पूर्वस्थितो योयराम स्तंतंविना वर्जयित्वाऽन्य-यरामस्येति पदार्थः । ररामानुस्वराभ्यां परस्थस्य, यराम-वरामाभ्यां पूर्वस्थस्य तु यरामस्य प्रयत्न ईषत्स्पर्शी, तदितरस्येषत्स्पर्शितर इति सरलः ।

तत्त्व०—३६. उपेन्द्रादिति । उपेन्द्रात् परस्य विष्णुपदादौ वर्त्तमानस्यापि यरामस्य प्रयत्नः क्वचित् स्पर्शितरोभवेदित्यनुवर्तते । वक्ष्यत इति "प्रादय उपेन्द्रसंज्ञा धातु-

---

बाल०—अस्पर्शी । सर्वेश्वराणामरामादीनां प्रयत्न उच्चारणं अस्पर्शी अस्पृष्टकरणः । एषामुच्चारणस्य करणेन सह स्पर्शो न भवतीत्यर्थः । विष्णुवर्गाणां करामादीनां प्रयत्नः स्पर्शी स्पृष्टकरणः । एषामुच्चारणकरणस्य करणेन सह स्पर्शो भवतीत्यर्थः । हरिमित्राणां य-र-ल-वानां प्रयत्न ईषत्स्पर्शी ईषत्-स्पृष्टकरणः । एषामुच्चारणकरणस्य करणेन सह ईषत्स्पर्शो भवतीत्यर्थः ।।३४।।

बाल०—रात् । ररामादनुस्वाराच्च परं यरामं य-वाभ्यां पूर्वं च यरामं विना वर्ज्जयित्वा अविष्णुपदादौ वर्त्तमानस्य अन्यस्य यरामस्य प्रयत्न ईषत्स्पर्शितरो भवति । अस्पर्शितुल्यो भवतीत्यर्थः ।।३५।।

३७. वर्णस्वरूपेरामः ।

वर्णस्य स्वरूपमात्रे वाच्ये रामशब्दो देयः । तस्यैक-परिग्रहताख्यातेः । यथा अराम इराम इत्यादि । अत्‌इत् इत्यादि पाणिनेः, अकार इत्यादि च कलापस्य । यथा च कराम इत्यादि । ककार इत्यादि तु प्राचाम् । ररामस्तु रेफ इति ।

३८. तदादि द्वये द्वयम् ।

यो वर्णो निर्दिश्यते तदादिद्वये वाच्ये द्वयशब्दो देयः । यथा अद्वयं इद्वयम् अस्य लक्ष्मीनारायण-वाचित्वाद् भगवन्नामता, तन्मन्त्रो हि द्वयमन्त्राख्यः पद्मपुराणे । अवर्ण इत्यादि प्राचाम्, अकार इत्यादि च पाणिनेः ।

योगे" इति, विष्णुभक्तिसिद्धं विष्णुपदमिति च । उपसर्ग इति पदमिति च प्राञ्चः । त्रिविक्रमादीनां प्रयत्नो विवृतः—जिह्वाग्रोपाग्र-मध्य-मूलानां तत्तद्वर्णोच्चारणस्थानेभ्यो दूरे अवस्थानमित्यर्थः । क्वचिदिति वचनान्न सर्वत्रेति प्रत्युदाहरणेन स्पष्टीकृतं प्रयुङ्क्त इत्यनेन । अत्रेषत्स्पर्शी एव ज्ञेयः ।

तत्त्व०—३७. वर्णेति । मात्रशब्दोऽत्रावधारणे । एकैकवर्ण-बोधनाय रामशब्द-ग्रहणे स्फुटमव्यभिचारि-हेतुं प्रदर्शयति—तस्यैकेति । तस्य श्रीरघुनन्दनस्य एक परिग्रहताया एकदार-परिग्रहत्वस्य प्रसिद्धः । अतः श्रीरामस्य श्रीसीतैक-निष्ठत्व-वत् तन्नाम्नो वर्णैक निष्ठत्वं सङ्गतमेव ।

तत्त्व०—३८. तदादीति । द्वयशब्दस्य द्वित्व-वाचित्वाद् भगवन्नामत्वाभावमाशङ्क्य तन्निराकरोति—अस्येति । तन्मन्त्रो लक्ष्मी-नारायण-मन्त्रः ।

बाल०—उपेन्द्रात् । विष्णुपदादौ वर्त्तमानस्यापि उपेन्द्रात् परस्य यरामस्य प्रयत्नः क्वचिदीषत्स्पर्शितरो भवति । त्रिविक्रमः । त्रिविक्रमादीनां प्रयत्नो विवृतश्च, विवृतो विवृतकरणः एषामुच्चारणे करणविस्तारो मुखव्यादानेनोच्चारणमित्यर्थः । किन्तु हरि-गोत्राणां प्रयत्नस्य विवृतत्वं नातिस्पष्टम् । तत्रेति दर्श्यते उदाहरणं प्रत्युदाहरणञ्चेति शेषः । क्वचिदिति वचनान्नात्रेषत्स्पर्शितरः प्रयुङ्क्त इति पञ्चम-षष्ठे इति पञ्चम-षष्ठे पदे इत्यर्थः ।।३६।।

बाल०—वर्ण । स्वरूपमात्रे स्वरूप एवेत्यर्थः । ननु शब्दान्तरं कथं न दीयते तत्राह तस्येति तस्य रामस्य रामशब्दाभिधेयस्य श्रीरघुनन्दस्य एकपरिग्रहताख्यातेः श्रीसीतैकभार्यत्वख्यातेरित्यर्थः । अथ चायं रामशब्दः एकमेव वर्णं परिगृह्णातीति । ररामस्तु रेफ इति प्राचामिति शेषः ।।३७।।

बाल०—तदादि । ननु श्रीकृष्णानुशीलनेनैव वैष्णवानां कालहरणं युक्तमतोऽस्य

३९. आदेशो विरिञ्चिः ।

विरिञ्चिर्ब्रह्मा यथैकं वस्तूपादाय अन्यत् करोति तथा यो विधिः प्रवर्त्तते स आदेशो विरिञ्चिश्चोच्यते ।

४०. आगमो विष्णुः ।

विष्णुर्यथा मध्यतः स्वयमाविर्भूय पोषकोभवति तथा यो विधिः प्रवर्त्तते स आगमो विष्णुश्चोच्यते ।

तत्त्व०—३९. आदेश इति । विरिङ्क्ते सूते इति विरिञ्चिः । ब्रह्मा यथैकं वस्तु गृहीत्वान्यत् करोति अन्याकारेण परिणमयति यथा योविधिः प्रवर्तते यत्किञ्चिदवलम्ब्य तदेवान्यत्वेन विदधाति स विरिञ्चिरुच्यते, अस्माभिरिति शेषः । किञ्च "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति" श्रुते र्ब्रह्मणो यथा जगत् सृष्टयनन्तरं तदन्तर्भवनमुपलभ्यते, तथास्य विरिञ्चेरपि सूत्ररूपेण यत्किञ्चिदुपदेशानन्तरं स्वयं तदादेश-स्वरूपेण चाविर्भवनं दृश्यते । तथा च "कर्त्तव्यत्वेनोपदेशो विधिरित्यनेन" विधानसूत्रस्य विरिञ्चित्वम्,—"ईदृशो विधि र्विरिञ्चि" रित्यनेनादेशरूप कार्यस्य च विरिञ्चत्वं प्रतिपादयते स्वयमेव ग्रन्थकृद्भिः । अत्र आदेशसंज्ञा प्राचाम् ।

तत्त्व०—४०. आगम इति । विष्णु र्यथा सृष्टि-संहारयोर्मध्यतः स्वयमाविर्भूय पोषकोभवति सृष्टिं पालयतीत्यर्थः । तथा प्रकृति-प्रत्यययोर्मध्ये स्वयमाविर्भूय तयोः पोषको निर्वाहको योविधिः प्रवर्त्तते स विष्णु रुच्यतेऽस्माभिः । प्राचीनैस्तु आगम इति ।

व्याकरणस्य भगवन्नामभिः सम्बलितं संज्ञादि करणीयमिति भवता प्रतिपादितम्, तथाप्यस्मिन् कथं द्वयशब्दो गृहीतः, द्वयशब्दस्य तावद्द्वित्वसंख्यावाचित्वेन भगवन्नामताभावादिति चेत्तत्रोच्यते अस्येति । अस्य द्वयशब्दस्य । तन्मन्त्रो लक्ष्मी-नारायणमन्त्रो हि यतः द्वयमन्त्राख्यः द्वयमन्त्रनामा, पद्मपुराणेऽस्तीति दर्शनात् ।।३८।।

बाल०—आदेशः । उपादाय गृहीत्वेत्यर्थः । अदेशो विरिञ्चिश्च्योच्यते इति । प्राचीनैरादेश उच्यते, अस्माभिर्विरिञ्चिरुच्यते इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । तथाहि यथा विरिञ्चिरेकं वस्तु गृहीत्वाऽन्तत् करोति; तथा योविधिः प्रवर्त्तते, स आदेशो विरिञ्चिरुच्यते इत्यर्थः । ननु विष्णुर्यथा मध्यत इत्यत्र आगमस्य यथा विष्णुत्वं घटते, तथात्रादेशस्य विरिञ्चित्वं न घटते, किन्तु सूत्रस्यैवेति चेत् तदैवं व्याख्येयम् । तद् यथा, विरिञ्चिर्ब्रह्मा यथा एकं वस्तूपादाय गृहीत्वा अन्यदन्याकारं वस्त्वन्तरं करोति, वस्त्वन्तरं गृहीत्वा स्वयमेव वान्यदन्याकारमात्मानं करोति, तथा यो विधिः प्रवर्त्तते, स आदेशो विरिञ्चिश्च कथ्यते । समष्टि-व्यष्टिभेदेन ब्रह्मण एव सर्वरूपित्वाद् इत्यनेन व्याख्यानेन सूत्रस्य तत्कार्यस्य च विरिञ्चित्वं ज्ञेयम् । यदैकं वस्तु गृहीत्वा वस्त्वन्तरं करोति, तदा सूत्रस्य विरिञ्चिता । यदा चात्मानं अन्यद्वस्त्वन्तरं करोति, तदा सूत्रकार्यस्यैव विरिञ्चितेति । तथाच स्वयमपि ग्रन्थकृता कर्त्तव्यत्वेनोपदेशो विधिरित्यनेन सूत्रस्य ईदृशो विधिर्विरिञ्चि रित्यनेन तत्कार्यस्य च विरिञ्चित्वं वक्ष्यते ।।३९।।

४१. लोपो हरः ।

हरो यथा नाशहेतुर्भवति तथा यो विधिः प्रवर्त्तते स लोपो हरश्चोच्यते। तत्र हरो द्विधा भवेत्। तत्रादर्शनमात्रहेतुर्हरः। आत्यन्तिक लयहेतुर्महाहरः। लुगित्यन्ये।

४२. सूत्राणि षड्विधानि।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियमएव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥ इति

प्रतिषेधोऽधिकारश्च इति केचित् पठन्ति च।

अत्र नामकरणं संज्ञा। यथा—तत्रादौ चतुर्दश सर्वेश्वरा इत्यादि। अन्यानि वक्ष्यन्ते।

तत्त्व०—४१. लोप इति। हरति संसारं नाशयतीति हरः। यथा जगतो नाशस्य प्रलयस्य हेतुर्हरो रुद्र स्तथा यो विधिर्विधानं वर्णनाशहेतत्रे प्रवर्तते सोऽपि हरउच्चते। लोप इति प्राचीनैः। हरोद्विधाभवेदिति—अत्रायमाशयः,—अष्टमूर्त्तिर्हरो जीवानां लयं प्रति अदर्शनं प्रति हेतुर्नैमित्तिकादिप्रलये श्रूयते, नतु तेषां सत्तालयं प्रति। तस्यैव पञ्चमूर्त्त्यात्मक-पञ्चभूतेषु भौतिकदेहस्य लयत्वेऽपि जीवात्मनः सत्तास्थितेः। तथा चायं हरविधिर्वर्णादर्शनं प्रति हेतुर्नतु तत् सत्ता लोपं प्रति; तस्य स्थानिवद्भावमङ्गीकृत्य कार्योत्पत्तेः। चित्स्वरूप महाहरस्तु जीवानामात्यन्तिकलयं प्रति-अविद्यो-पाधिकाहङ्कार नाशं प्रतिहेतुः, तादृशलये अर्थात् ब्रह्मसायुज्ये जीवानां सत्तापि लुप्यते। तथा चायं महाहरो वर्णानामात्यन्तिक लोपं प्रति हेतुः, तादृशि महाहरे तेषां सत्तापि नैवस्वीक्रियते; अर्थात् यतोवर्णा उद्भूता—स्तत्रैव नारायणे लीनाभवन्तीति तत्त्वम्।

बाल०—आगमः। मध्यत इति ब्रह्म-रुद्रयोः सृष्टि-संहारयोर्वा मध्ये इत्यर्थः। तथा प्रकृति-प्रत्ययोर्मध्ये आविर्भूय द्वयोः पोषको भूत्वा यो विधिः प्रवर्त्तते, स विष्णुरुच्यते ॥४०

बाल०—लोपः। वृत्तिमाह हर इति। हरो यथा वस्तूनां नाशहेतुर्भवति तथा वर्णादीनां नाशहेतुरिति शेषं समानं नन्वादेशो विरिञ्चिरित्यत्र ब्रह्मणः समष्टि-व्यष्टिशरीर-द्वयावच्छेदकत्वेन दृष्टान्तकृतेन सूत्र-तत्कार्ययो-विरिञ्चितोक्ता भवता, सा तत्र संगच्छते; इदानीन्तु लोपो हर इत्यत्र सूत्रतत्कार्ययोः कथं हरत्वं किन्तु सूत्रस्यैव तत् ? सत्यमुच्यते, यद्यप्यत्र सूत्रस्यैव हरत्वं घटते, तथापि कार्य-कारणयोरभेदोपचारत्वेन द्वयोस्तज्ज्ञेयम्। ननु यद्यप्येवं तथापि दृष्टान्ते समाधानं, न दार्ष्टान्ते। नहि हरो यस्य नाशहेतुर्भवति, तं नाशयन् स्वयं नश्यति इति चेत् तदैवं समाधेयं नाशस्यादर्शनार्थत्वात्। हरोऽयं नाशयति तन्नाशे सति स्वयमप्यन्तर्द्धत्ते, न तु तिष्ठतीत्यांशिक-दृष्टान्तमिति। हरसंज्ञयोर्भेदमाह—तत्रेति, अदर्शनस्य अदर्शनत्वमेव हेतुरदर्शनमात्रहेतः ॥४१॥

४३. असिद्धरूपं न त्याज्यं प्रतिज्ञेयं कृदन्तिका।

अत्र व्याकरणे त्वन्यत्रेवासिद्धरूपं मध्ये मध्ये न त्यज्यते, किन्तु सिद्धं

तत्त्व०—४२. सूत्राणीति। सूत्रलक्षणमिति—सूत्रस्य लक्षणं चिह्नमिति यावत्। सूत्रस्य षट् प्रकाराः संज्ञादय इति फलितार्थः। अन्यानि वक्ष्यन्त इति—अनियमे नियय-कारिणी परिभाषा। कर्त्तव्यत्वेनोपदेशो विधिः। वहुत्र प्राप्तौ सङ्कोचनं नियमः। अन्य तुल्यत्वविधान-मतिदेशः उत्तर प्रकरणव्याप्यधिकारः। प्रतिषेधो निषेध इति। ग्रन्थान्तरे सूत्रलक्षणं यथा—

स्वल्पाक्षरमनल्पार्थं विशुद्धं सर्वतोमुखम्।
विशेषकथनापेक्षं सूत्रं सूत्रविदो बिदुरिति॥

श्रीनामग्रहण-सुखाविष्टतया मात्रालाघवमनङ्गीकुर्वता ग्रन्थकृता प्राचीनलक्षणस्य यथाश्रुतार्थमगृह्णतापि भक्ति व्यञ्जक-श्लिष्टार्थेनतु महाजनमानं रक्षितमेव। सचार्थो यथा—स्वल्पानि-सु मङ्गलानि अल्पानि भगवन्नाम्नांमसंख्यानां मध्ये कतिपयान्यक्षराणि नामात्मकवर्णा यस्मिन् तत्स्वल्पाक्षरम्। यद्वा न क्षरति न श्च्योततीति अक्षरम् अच्युतो हरिः। नाम-नामिनोरभेदादत्राक्षरशब्देन तन्नामानि लक्ष्यन्ते। सु शुभानि अल्पानि कतिपयानि अक्षराणि हरिनामानि यत्र तत् स्वल्पाक्षरम्। अनल्पः प्रचुरः अर्थः प्रयोजनं परमार्थश्च यस्मिन् तदनल्पार्थम्। विशुद्धं नाममयत्वात् पवित्रम्। सर्वतोमुखं—सर्वेषामभीष्टदाने चोन्मुखम्। पुन विंशेषकथनं गुरूपदेशमपेक्षत इति विशेषकथनापेक्षम्। यतः सुरसरित्-प्रवाह-न्यायेन गुरुपरम्परात एव शक्तिः सञ्चर्यते। सूत्रविदः पण्डिता एवम्विधं सूत्रं विदुर्जानन्तीति।

तत्त्व०—४३. स्वव्याकरणस्यासाधारणवैशिष्ट्यं सूचयन् प्रतिजानीते—असिद्ध-रूपमिति। प्रायशः प्राचीन-व्याकरणेषु प्रकरण-व्यामिश्रेण विशृङ्खलता दृश्यते। यथा हि सन्धौ प्राच्र्छति गवेन्द्र इत्यादीनि। तानि खल्वाख्यात-समासकार्यमपेक्षन्ते; सन्धिकार्येणैव निरपेक्षतया न सिध्यन्ति इत्यसिद्धानि। अस्माकन्तु व्याकरणे बालकसुवोधाय यत्रप्रकरणे यत् प्रयोजनं तत्रत्यसूत्रैरेव तत् साध्यते नत्वग्रिम प्रकरण सूत्रैरिति भेदः।

संज्ञा आदिर्यस्य तत्प्रकरणं संज्ञादि। अत्र आदि पदेनप्रयत्नस्य ग्रहणम्। यद्यपि सुवन्तादि सर्वप्रकरणेष्वेव पृथक् संज्ञाकरणं दृश्यते तथाप्येतावदुक्त-संज्ञानां सर्वप्रकरण-

---

बाल०—संज्ञा चेति। सूत्रलक्षणं सूत्रस्वरूपं सूत्रमिति फलितार्थः। अन्यानीति परिभाषादीनां लक्षणानीत्यर्थः। यद्वा सूत्रलक्षणं सूत्रचिह्नं चिह्नस्य षड्विधत्वेन सूत्राणामपि षड्विधत्वमत उक्तं सूत्राणि षड्विधानीति। सूत्रं किन्तावदित्यपेक्षायां सूत्रमुच्यते।

स्वल्पाक्षरमनल्पार्थं विशुद्धं सर्वतो मुखम्।
विशेषकथनापेक्षं सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

इति शास्त्रान्तरोक्तम्॥४२॥

कृत्वैव त्यज्यते, तत्तच्च कृत् पर्यन्तं ज्ञेयं, न समास-तद्धितयोरित्यर्थः। दर्शनीयन्त्वग्रे।

॥ इति संज्ञादि ॥

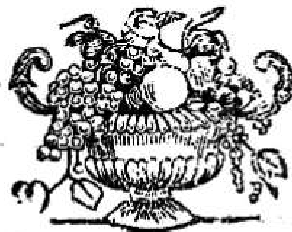
व्यापित्वात् सामान्यत्वेन ग्रन्थादावुपन्यासः। इति शब्दः समाप्त्यर्थः; "इति हेतु-प्रकरण-प्रकर्षादि-समाप्तिषु" इत्यमरः।

॥ इति श्रीगोपालदासविरचिता अमृतास्वादिनी टीका संज्ञायाम् ॥

बाल०—स्वव्याकरणनिष्ठरचनावैशिष्ट्य ज्ञापयति असिद्धरूपमिति। अन्यत्रैवेति अन्यस्मिन् व्याकरणे यथा असिद्धरूपं मध्ये मध्ये त्यज्यते, तथात्र व्याकरणे त्वसिद्धरूपं मध्ये मध्ये न त्यज्यते, किन्तु सिद्ध कृत्वा एव त्यज्यते ॥४३॥

इति संज्ञादीति उक्तमिति शेषः। एवं सुवन्तपादादौ ये संज्ञादयो वक्ष्यन्ते, तेष्वपि गुणानुरूपं नामकरणं ज्ञेयमिति। संज्ञादीत्यत्रादिशब्देन परिभाषादीनां ग्रहणम् ॥

॥ इति संज्ञादि ॥



सर्वेश्वर सन्धिः

यदिदं सन्धिनिर्माणं वर्णानामारभे मुदा ।
तेन मे कृष्णपादाब्जे मनःसन्धिर्विधीयताम् ॥

४४. सन्धिरेकपदे नित्यं नित्यं धातूपसर्गयोः ।
अनित्यं सूत्रनिर्देशेऽन्यत्रचानित्यमिष्यते ॥

परिभाषेयम् । सा चानियमे नियमकारिणी ।

अथ सन्धि प्रकरणमारभमाणः श्रीमद् ग्रन्थकारो वर्णानां सन्धिविधिं कलयन् तदुपमया श्रीकृष्णपादाब्जेन सहात्मनो मनः सन्धानं प्रार्थयते—यदिदमिति । यद् येन प्रकारेण वर्णानामिदं वक्ष्यमाणं सन्धिनिर्माणं मुदा हर्षेण आरभे अहमिति शेषः। तेनप्रकारेण हे कृष्ण ! तव पादाब्जे चरणकमले मे मम मनसः सन्धिर्मेलनं विधीयतां क्रियताम् । यद्वा कृष्णपादाब्ज इत्येकपदं; मनः सन्धिर्विधीयतामिति श्रीगुरुदेवं प्रति प्रार्थना ।

तत्त्व०—४४. परिभाषा सूत्रमाह—सन्धिरिति । एकपदे सुवन्त-तिङन्तरूपे सन्धिर्नित्यं यथा स्यात्तथा भवति । क्रमेण यथा—गोप्यौ, भवतीत्यदि । कृत्तद्धितयोरपि नामत्वेन सुवन्तत्वात् तत्र च सधिर्नित्यम् । यथा—भव्यं वैष्णव इत्यादि । धातुश्च उपसर्गश्च धातूपसर्गौ, तयोरुपसर्गैः सह सन्धिर्नित्यं स्यात् । यथा—अधीते, व्याजहारेत्यादि । तथाहि श्रीपति सूत्रम्,—"धातूपसर्गयोरुपसर्गैरेवेति ।" तेन "व्याकरण" "व्युतपत्ति" प्रभृतिषु चोपसर्गयोः सन्धिर्नित्यं ज्ञेयः । सूत्रनिर्देशे सन्धिरनित्यम् । यथा—"अद्वयमिद्वये एः", "कृष्णात् टा इनः" इत्यादि । अन्यत्र—विलम्वोच्चारणादौ च सन्धिरनित्यमिति स्वयमेव वक्ष्यते । केचिदत्र "एकपदे" इत्यनेन समासमपि गृहीत्वा तत्रापि सन्धेर्नित्यत्वं मन्यन्ते । एके च—"नित्या समासे वाक्ये त्वित्यादिकं" पृथक् पठित्वा तथैव स्वीकुर्वन्ति । तेषांमते समासे हरि आसनमित्यसन्धिपक्षस्यासिद्धत्वं मन्ये । नित्यसमास वर्जं समासान्तरे सन्धेरनित्यत्वमस्मद् ग्रन्थकृतः सम्मतमिति गम्यते । "ईशस्यानेकात्मके वामनश्च वेति" सूत्रे हरि आसनमित्यसन्धि रूपस्य दर्शयिष्यमाणत्वात् । ननु तर्हि भगवदिच्छेत्यादौ चानित्यसमासेसन्धेरनित्यतायां दोषः स्यादिति चेत् ? मैवं, अनित्यसमासेऽपि यथानुशासनमनित्यमिष्यते नतु सर्वत्र यथेच्छं, प्रमाणाभावात् । तस्माद् भगवदिच्छेत्यादौ विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्याद्यनुशासनवलेन नित्यमेव सन्धिः स्यान्नतु विभाषया, तादृशाभिधान विरहादित्यदोषः । अथ काशिका भाषावृत्ति सुपद्मादिभिश्च वधू ऋतु रित्युदाहरणेन समासे सन्धेर्विकल्पत्व-ज्ञापितत्वात् तैः सहास्माकमैकमत्यं ज्ञेयमितिदिक् ।

वर्णानां सन्धिनिर्माणमारभमाणः श्रीमद्ग्रन्थकारस्तद्दृष्टान्तेन स्वस्य श्रीकृष्णपादाब्जविषयकमनःसन्धि श्रीकृष्णं प्रार्थयते यदिदमिति पद्येन । आरभे अहमिति शेषः । मुदा हर्षेण तेन वर्णानां सन्धिनिर्म्माणेन । मनःसन्धिर्मनोमेलनं विधियतां क्रियताम् ।

४५. सर्वप्रकरणव्यापी वर्णमात्रनिमित्तकः ।
वार्णो विकारः सन्धिः स्याद्विषयापेक्षकः क्वचित् ।।
किञ्च–अचो ये हलि संलग्ना स्तेसर्वे परतो मताः ।
हल् च तत्स्यादरामान्तं यत्र नान्याच् नचाङ्घ्रिभित् ।।

अमृता०—४५. लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्; व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनमिति सन्ध्युपक्रमात् पूर्वं तल्लक्षणमाह—सर्वेति । इदं खलु व्याकरणं सप्त-प्रकरणात्मकम् । तत्रारभ्यमाणं सन्धि प्रकरणं नाम प्रथमं, सुवन्तं द्वितीयं, आख्यातं तृतीयं, कारकं चतुर्थं, कृदन्तं पञ्चमं, समासं षष्ठं, तद्धितञ्च सप्तममिति । तदेतत् सर्वप्रकरणं व्याप्तुमपेक्षकत्वेन प्रसरितुं शीलमस्येति सर्वप्रकरणव्यापी । वर्णमात्रं वर्णएव निमित्तं प्राक् परभेदेन द्विविधकारणं यस्य स वर्णमात्रनिमित्तकः । वर्णस्यायं वार्णो वर्णसम्बन्धीत्यर्थः, विकारः स्वरूपादन्यथाभावः सन्धिः स्यात् । सच क्वचित् सुबन्तादौ विष्णुपदादिकं विषयं अपेक्षत इति विषयापेक्षकः ।

सर्वत्र लक्षणकरणे अव्याप्तिरतिव्याप्तिरसम्भवश्चेति दोषत्रयं वर्जनीयम् । अतस्तेषां परिचय आवश्यक इत्यमी उच्यन्ते । तत्र लक्ष्यैक देशवृत्तित्वमव्याप्तिः; लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः; लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भव इति । अत्रवार्णो विकारः सन्धिरित्युक्ते गोविन्द-वृष्णीन्द्र-सङ्कर्षणा-दावतिव्याप्तिः स्यादिति तन्निरासाय द्वितीय दलम्—वर्ण मात्र निमित्तक इति । गोविन्दादिस्तु वार्णविकारः सन्नपि प्रत्ययवर्णहेतुकत्वान्न केवल वर्णनिमित्तकः । तथापि "सस्य जोजे" इत्यादि विरिञ्चौ, तथा "सस्य हरो धे" इत्यादि हरविधौ चातिव्याप्तिः प्रसज्येत, अतस्तद् वारणार्थं प्रथमदलम्—सर्वप्रकरणव्यापीति । एतादृशोर्हर-विरिञ्च्योः सतोरपि वार्णविकारत्वे वर्णमात्र निमित्तकत्वे च तत्तत् कार्य्यस्यतु न सर्वप्रकरण व्यापित्वं, धात्वधिकारादिति तौ व्यावृत्तो । एवं सत्यपि ककुव्, कृष्णभूदित्यादौ हरिगदाया निमित्तत्वाभावादव्याप्तिरापतेदत स्तद् व्युदासाय—विषयापेक्षक क्वचिदिति चतुर्थदल मुपन्यस्तम् । तेन सर्वप्रकरण व्यापित्वे सति, वर्णमात्र निमित्तकत्वे सति, क्वचिद् विषयापेक्षकत्वे च सति वार्णविकारत्वं सन्धेर्निरवद्य लक्षणमिति ।

इदानीं हरि विष्णु इत्यादौ ये इराम उरामादयः सन्ति ते तत्तद् विष्णुजनस्य पूर्वत्र वा परत्र वेति शङ्कां निरस्यन्नाह—किञ्चेति । ये अचः सर्वेश्वरा हलि विष्णुजने संलग्नास्ते सर्वेपरतो विष्णुजनानाँ परस्मिन् मता ज्ञेयाः । ननु कृष्ण राम इत्यादौ अन्त्यविष्णु जनेषु न कोऽपि सर्वेश्वरो दृश्यते इति चेत्तत्राह—हल्चेति । यत्र हलि विष्णुजने अन्याच

हे कृष्ण ! यद् येन प्रकारेण वर्णानां इदं सन्धिनिर्माणं मुदा हर्षेण अहं आरभे, तेन प्रकारेण मे मम मनःसन्धिः मनसः सन्धानं तव पादाब्जे त्वया विधीयताम् इति समुदितार्थः ।।

बाल०—परिभाषामाह सन्धिरिति । नित्यमित्यनित्यमिति च क्रियाविशेषणम् । परिभाषालक्षणमाह अनियम इति । अनियमे नियमं कर्त्तुं शीलं यस्याः सा परिभाषा ।।४४

ततश्च कृष्ण अग्रे इतिस्थिते, कार्यार्थमक्षरं विश्लेषयेन्मेलयेच्च इति न्यायेन अराम विश्लेषः । कृष्ण् अ अग्रे; ततश्च—

४६. दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रमः ।

दशावतारनामा वर्ण एकात्मके वर्णे परे सति तेन मिलित्वा त्रिविक्रमो भवति । ततश्च आरामस्य पुनर्मेलनं, कृष्णाग्रे । एवं राधा आगता

आरामादि सर्वेश्वरो न दृश्यते इति शेषः । अङ्घ्रि चरणं भिनत्ति स्पृशतीति अङ्घ्रिभित्, विष्णुजन ज्ञापकचिह्नविशेषश्च न दृश्यते तत् हल् व्यञ्जनवर्णः अरामान्तं ज्ञेयम् । अत्र हल् शब्दस्य प्राचीनसूत्रत्वान्नपुंसकत्वम् ।

अरामविश्लेषइति—एतत्तु कार्यार्थमेकदेश विश्लेषणम् सर्वाङ्गविश्लेषो यथा—कृष्ण=क् ऋ ष् ण् अ इति ।

अमृता०—४६. दशावतार इति । ननु एकात्मके त्रिविक्रम इत्युक्ते येषामेकात्मकत्वसम्भवस्तेषामेव त्रिविक्रमो भवति नान्येषां, कथं तर्ह्युक्तं—दशावतार इति ? सत्यमत्र दशावताराग्रहणे त्रिविक्रम विधेर्विशेषत्वेन बलवत्त्वात् सन्ध्यक्षराणां प्रत्येकमेकात्मकत्वाच्चतुर्थ्येकत्वे हरे ए इत्यत्रापि त्रिविक्रम-कार्यप्रवृत्तिः स्यात्, ततस्तु 'हराये' इत्यनिष्टरूपं प्रसज्येत । एकात्मक इति किम् ? —मथुरा ईशः मथुरेशः ।

बाल०—सन्धिलक्षणमाह सर्वेति । सर्वप्रकरणं व्याप्तुं शीलमस्य सर्वप्रकरणव्यापी वर्णमात्रं वर्ण एव निमित्तमुपादानादिकारणं यत्र स वर्णमात्रनिमित्तकः । वर्णस्यायं वार्णः । विकारः स्वरूपादन्यथाभावः । विषयमपेक्षत इति विषयापेक्षकः । सर्वप्रकरणव्यापी वर्णमात्रनिमित्तकः वर्णसम्बन्धी विकारः सन्धिः स्यादित्यन्वयः स च सन्धिः क्वचित् सुवन्तादौ विषये विष्णुपदान्तविषयेऽविष्णुपदान्तविषये चापेक्षको भवति । ननु विकारः सन्धिरित्येवास्तु लक्षणं किमेभिर्विशेषणैः । सत्यम् । यदि भवतोक्तः सन्धिः स्यात्तदा यस्य कस्यापि सन्धित्वं स्यादतो वार्ण इत्युक्तः । तस्मिन्नपि गोविन्द-वृष्णीन्द्रावतिव्याप्तिरिति वर्णमात्रनिमित्तक इत्युक्तः । तस्मिन् सत्यपि सन्धेः सर्वप्रकरणव्यापित्वसूचनाय सर्वप्रकरण-व्यापीत्युक्तः । तस्मिन् सति सर्वत्रैवाग्रे सन्धिः प्राप्नोतीत्यतो विषयापेक्षक इत्यप्युक्तः । एवं सर्वेषां हेतु-हेतुमद्भावः कल्पनीय इति । ननु कृष्ण हरीत्यादौ येऽरामादयो विद्यन्ते, ते परत्र पूर्वत्र वेति न ज्ञायन्ते । एवं के वाऽरामान्तादयस्तेऽपि न ज्ञायन्ते इत्यपेक्षायामाह—अच इति परतः परत्र मता ज्ञाताः तद्धल् अरामान्तं स्यादिति हलन्तानामिति पाणिनसूत्र-दर्शनात् हल्शब्दस्य ब्रह्मत्वम् । अङ्घ्रि भिनत्तीति अङ्घ्रिभित् व्यञ्जनवर्णस्य चिह्न-विशेषः । यत्र हलि अरामादन्याच् न विद्यते, तद्धल् अरामान्तं स्यादित्युपलक्षणमेवं यत्र हलि अरामादन्याच् न विद्यते, तद्धल् आरामान्तं स्यात्, तथा यत्र हलि उरामादन्याच् न विद्यते, तद्वत् उरामान्तं स्यादित्यादि दिशा यत्र यत्र हलि यस्माद् यस्मादचोऽन्याच् न विद्यते, तत्तद्धल् तत्तदजन्तं स्यादिति सर्वत्र कल्पनीयम् ।।४५।।

राधागता, हरि हरि इति हरिहरीति, हरि ईहा हरीहा, विष्णु उदयः विष्णूदयः, विष्णु ऊढा विष्णूढा, नरभ्रातृ ऋषिः नरभ्रातृषिः, गम्लृ लृकारः गमल्तृकारः ।

४७. ऋद्वय-लृद्वययोरेकात्मकत्वं वाच्यम् ।

ऋलृद्वयं ऋद्वयं, लृ ऋ द्वयं लृद्वयमित्यादि ।

ईदृशो विधिर्विरिञ्चिः । कर्त्तव्यत्वेनोपदेशो विधिरिति ।

ननु कृष्ण अग्रे इत्यादौ सूत्रस्य साफल्येऽपि राधा आगता इत्यादौ पूर्वत एव त्रिविक्रमसिद्धे स्तस्य निष्फलत्वम्, अतो वामन एकात्मके मिलित्वा इत्येवं सुवचमिति चेत् ? मैवं, तथासति त्रिविक्रमस्य सन्धिविधानाभावाद् राधा आगता इत्येवमसन्धि रूपस्य नित्यस्थितिः स्यात् । अन्यथाविधानेन च वाहुल्यदोष आपतेत् । अतएव "पर्जन्यवल्लक्षण-प्रवृत्तिरिति परिभाषा खल्वत्रैव ग्राह्या । सा च स्पष्टीकृता प्राचीनैः; यथा,—अदीर्घो दीर्घतां याति पुनर्दीर्घेण दीर्घताम् । पर्जन्यवदिदं शास्त्रं जलेवृष्टिः स्थले यथा ।। इति । केचित्तु लृरामस्य दीर्घत्वं न मन्यन्ते, तन्मते गमृकार इत्येव भवति । अत्र दशावतारवर्णस्य एकात्मक वर्णेन सह मेलनतयैक-त्रिविक्रम रूपो विकारः सन्धिः । एवमग्रेऽपि वोध्यम् ।

अमृता०—४७-४८. सूत्रयुगलं सुगमम् ।

बाल०—दशा । तेनेति तेन सहेत्यर्थः । ननु कृष्णाग्रे हरिहरीतीत्यादावेव दशावतारे त्रिविक्रमविधानस्य सार्थकं, राधागता बधूदयः रुक्मिणीहेत्यादौ तु निरर्थकं, तेन दशावतार इत्यत्र वामन एकात्मक इति क्रियताम् । सत्यम् । यद्येवं तर्हि सूत्रे दशावतारस्याग्रहणात् राधागतेत्यादौ त्रिविक्रमविधानाभावात् राधा आगता इत्यादि स्थितिः स्यात् परस्पर मिलनमपि न स्यात् कथनाभावात् । वक्ष्यते च ग्रन्थकृता वामनस्य त्रिविक्रमो नामीत्यत्र कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्यनेन सिद्धत्वेऽपि सूत्रस्य प्रयोजनं हरीणामित्यादावेव तद्वदिह । यद्यपि राधागतादौ स्वल्पं फलं, तथापि कृष्णाग्रे इत्यादौ सम्यक् फलमिति न सूत्रस्य निरर्थकत्वम् । उक्तश्चान्यैः—अदीर्घो दीर्घतां याति पुनर्दीर्घेण दीर्घताम् । पर्जन्यवदिदं शास्त्रं जले वृष्टिः स्थले यथेति । हरीहा हरिचेष्टा विष्णूढा रुक्मिण्यादिः । नरभ्रातृषिरिति नरभ्राता नारायणः, स तु ऋषिरेव । ततश्च नरभ्राता चासौ ऋषिश्चेति श्यामरामसमासः । गमलृकार इत्येतत् पदं क्रमदीश्वरासमतं, तन्मते गमृकार इत्येव भवति ।।४६।।

बाल०—ऋद्वयम् । ऋ-लृद्वयमित्युक्तम् । एवं लृ ऋद्वय लृद्वयमित्यपि भवतीति ज्ञेयम् । ऋदृति ररामभागद्वययुक्त ऋरामो वेति वक्तव्यम् । होतृ ऋकार इत्यत्र होतृकारो होतृकारो वा । ऋद्-लृति लृदृति लरामभागद्वययुक्त लृरामो वेति च वक्तव्यम् । होतृ लृकार इत्यत्र होतॢकारः । गम्-लृ-ऋकार इत्यत्र गम्लृकार इति ।

ईदृशेति । ईदृशो दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यनेन दशावतारस्य स्थाने त्रिविक्रमो विधिर्विरिञ्चिर्भवति । एवमुत्तरत्रापि इद्वयादि परे अद्वयस्य स्थाने

४८. अद्वयमिद्वये ए ।

अ आ इति द्वयं इ ई इति द्वये परे तेन मिलित्वा एरामो भवति । यादव इन्द्रः यादवेन्द्रः, गोकुल ईशः गोकुलेशः, मथुरा ईशः मथुरेशः ।

४९. प्रादेषैष्ययोर्वा तथा ।

प्र एषः प्रेषः, प्रएष्यः प्रेष्यः । पक्षे एद्वये ऐ—प्रैषः प्रैष्यः ।

५०. उद्वये ओ ।

अ आ इति द्वयं उ ऊ इति द्वये परे मिलित्वा ओरामो भवति । अद्वयमत्र पूर्वत्रोऽनुवर्त्तते । यदुक्तम्—कार्यिणा हन्यते कार्यी कार्यंकार्येण हन्यते; निमित्तञ्च निमित्तेन यच्छेशमनुवर्त्तत इति । पुरुष उत्तमः पुरुषोत्तमः, सुपर्ण ऊढः सुपर्णोढः, द्वारका उत्सवः द्वारकोत्सवः ।

अमृता०—४९. प्रादिति । एष एष्ययोः परयोः प्रादुत्तरः अरामस्तथा वा भवति, अर्थात् पूर्वोक्त एरामो वा भवति । अराम एषैष्ययोरेरामेण मिलित्वा एरामो वा भवतीति फलितार्थः । पक्षेएद्वये ऐ वक्ष्यतेऽन्तिक एव ।

अमृता०—५०. उद्वय इति । ननु वृत्तौ अआ इतिद्वयमितीदृशी व्याख्या कुतो लब्धा, सूत्रे तद् दर्शनविरहदिति चेत्तात्राह—अद्वयमिति । तदनुवर्तनमेव द्रढयति प्राचीन कारिकया—कार्यिणे त्यादिभिः । कार्यमस्यास्तीति कार्यी, यत् क्रियते तत् कार्यम्, येनविना यन्नभवति तत्तस्य निमितम् । तच्चात्र प्राङ्निमित्त परनिमित्तभेदेन द्विविधम् । अत्र उद्वयेन परनिमित्तेन इद्वयं परनिमित्तां हन्यते अर्थाद् वाध्यते । ओराम-कार्येण एराम-कार्यं हन्यते । ततोऽद्वयं कार्यि तु नकेनापि वाध्यते तेन तदेवानुवर्त्तते । अनुवृत्तिरधिकारः । सा च गङ्गास्रोतः,—सिंहावलोकित-मण्डूकप्लुति-भेदात् त्रिविधा । इह खलु अवाध्यत्वेन पूर्वतो धारावाहिकतयोत्तरोत्तरमनुवर्त्तनाद् गङ्गास्रोतो नामाधिकारः । अन्तिमौ तु समास-तद्धितयोर्दर्शयिष्येते । सुन्दरेपर्णे पक्षे यस्य स सुपर्णो गरुडः, तेनोढः कृष्णः ।

एरामादिरपि विधिर्विरिञ्चिरिति ज्ञेयम् । विधिलक्षणमाह—कर्त्तव्यत्वेनेति कर्त्तव्यत्वरूपेण य उपदेशः, स विरिञ्चिः । अत्रोपदेशपदं करणघणन्तं कर्मघणन्तञ्च गृहीतम्, यदा करण-घणन्तं, तदा सूत्रस्यैव विरिञ्चित्वं, यदा कर्मघणन्तं, तदा कार्यस्यैवेति । प्रतिपादितसूत्रस्य तु पाणिनीयैरप्युक्तं, तद् यथा—धातुसूत्रगणोणादि वाक्यलिङ्गानुशासनम् । आगमप्रत्यया देशा उपदेशाः प्रकीर्त्तिता इति ॥४७॥

बाल०—अद्वयम् । सुगमम् ॥४८॥

बाल०—प्रात् । एषैष्ययोः परयोः प्रादुत्तरोऽरामस्था वा भवति एषैष्ययोरेरामेण मिलित्वा एरामो वा भवतीत्यर्थः । प्रादिति सौत्रत्वादरामान्तनिर्देशः ॥४९॥

५१. ओमि च तथा ।

कृष्ण ओम् कृष्णोम् ।

५२. ऋद्वये अर् ।

अ आ इति द्वयं ऋ ॠ इति द्वये परे मिलित्वा अर् भवति । कृष्ण ऋद्धिः कृष्ण् अर् द्धिः इति स्थिते जलतुम्बिका न्यायेन पूर्वविष्णुजनस्य परोर्ध्वगमनम्; जलवालुकान्यायेन परसर्वेश्वरस्य पूर्वविष्णुजने प्रवेशः । कृष्णर्द्धिः ।

अमृता०—५१. ओमिचेति । अआ इति द्वयं ओमि परे तथा पूर्वोक्त ओरामः स्यात् । अमित्यस्य ओरामेण मिलित्वा ओराम एव भवतीत्यर्थः । ओ द्वये औ इति वक्ष्यमाणेन औरामे प्राप्ते तद्‌बाधित्वा ओरामविधानम् ।

अमृता०—५२. ऋद्वय इति । जलतुम्विकेति—जले तुम्बिका अलावुरिव यो न्यायः प्रवर्त्तते स जलतुम्बिका न्यायः । अन्तः सार-शून्या शुष्कतुम्बिका यथा जलाभ्यन्तरे न्यस्तापि जलोर्ध्वमेवप्लवते तथा पूर्वविष्णुजनः परोर्ध्वमेव गच्छतीत्यर्थः । जले वालुका इव न्यायः इति जलवालुकान्यायः । जलोपरि निक्षिप्तापि वालुका यथा जलाधोदेशं संलगति तथा परस्थित-सर्वेश्वरः पूर्वविष्णु जने प्रविशतीत्यर्थः ।

बाल०—ऊद्वये । सुगमम् । ननु सूत्रेऽद्वयं न दृश्यते, वृत्तौ कथं अ-आ इति द्वयम् उ-ऊ इति द्वयम् इत्युच्यते इति चेत् तत्रैवाह—अद्वयमत्रेति यद्यत्राद्वयमनुवर्त्तते, तदा इद्वय इति ए इति च कथं नानुवर्त्तते इत्यत आह यदुक्तमिति । कार्यिणेति । कार्यिणा कार्यी हन्यते बाध्यते, कार्येण कार्यं हन्यते बाध्यते, निमित्तञ्च निमित्तेन हन्यते बाध्यते, यत् शेषं अवशिष्टं केनापि न बाध्यते, तदनुवर्त्तते इत्यर्थः । कार्यमस्यास्तीति कार्यी । यत्क्रियते तत्‌कार्यम् । येन विना यन्न भवति तत्तस्य निमित्तम् । तच्चात्र द्विविधं, प्राङ्‌निमित्तं परनिमितश्च । अबाध्यत्वेनैवोत्तरोत्तरतः पुनर्वर्त्तनमनुवृत्तिरिति सा च कार्यनुवृत्तिः कार्यानुवृत्तः निमित्तानुवृत्तिरिति त्रिधा । अत्र उद्वयेन परनिमित्तेन इद्वयं परनिमित्तं बाध्यते, ओरामकार्येण एरामकार्यं बाध्यते । अद्वयकार्यी तु केनापि न बाध्यते, अतस्तदनु-वर्त्तते इति ज्ञेयम् । कार्यिणा कार्यी बाध्यते इति स्थानान्तरे बोद्धव्यम् । स्थानान्तरन्तु उद्वयं व इत्यादौ ज्ञेयम् । सुपर्णोढ इति सुपर्णो गरुडस्तेनोढः सुपर्णोढः श्रीकृष्णः ।।५०।।

बाल०—ओमि । अ-आ इति द्वयम् ओमि च परे तथा सन्धिर्भवति । ओमित्यनेन मिलित्वा ओरामो भवतीत्यर्थः ।।५१।।

बाल०—ऋद्वये । ऋद्धिर्वृद्धि । जल-तुम्बिकेति जले तुम्बिका इव यो न्यायः प्रवर्त्तते, स जल-तुम्बिकान्यायः । तेन जल-तुम्बिकान्यायेन तुम्बी अलावुः । तुम्ब्यलावुरुभे समे इत्यमरः । सात्र शुष्कान्तःशून्यैव ज्ञेया । सा यथा जले अन्तस्त्यक्त्वापि ऊद्‌ध्वमेव गच्छति, तथा पूर्वस्थितो विष्णुजनः परोद्‌ध्वमेव गच्छतीत्यर्थः । जल-वालुकेति जले वालुका इव यो

५३. लृ द्वये अल् ।

अ आ इति द्वयं लृ लॄ इति द्वये परे मिलित्वा अल् भवति ।
यमुना लृकारायते यमुनल्कारायते ।

५४. पुनरद्वयसन्धौ आङादेशः परनिमित्तवद् वक्तव्यः ।

अतिदेशोऽयम् । अन्यतुल्यत्वविधानमतिदेशः । अत्रारामस्य ङित्त्वं क्रियायोगे इति वक्ष्यते । आ इहि एहि, कृष्ण एहि कृष्णेहि । आ ऊढा ओढा, कृष्ण ओढा कृष्णोढा । आ ऋद्धिः अर्द्धिः, कृष्ण अर्द्धिः कृष्णार्द्धिः । आ लृकारायते अल्कारायते, यमुना अल्कारायते यमुनाल्कारयते ।

५५. ए द्वये ऐ ।

अ आ इति द्वयं ए ऐ इति द्वये परे मिलित्वा ऐ रामो भवति । कृष्ण एकनाथः कृष्णैकनाथः । कृष्ण ऐश्वर्यं कृष्णैश्वर्यम् ।

अमृता०—५३. लृद्वय इति । लृकार इवाचरतीत्यर्थे क्यङि लृकारायते ।

अमृता०—५४. पुनरिति । पुनरद्वयसन्धौ—अद्वयमिद्वये ए प्रभृति सन्धिचतुष्टये विषये, आङादेशः पूर्वविहिताङ् एरामादिरूप आदेशः, इरामादिभिरिति शेषः, यत्पर-निमित्तम्-इरामादि, तद्वद् वक्तव्यः । तेन अद्वयमिद्वयेन मिलित्वा यथा एरामो भवति तथा अद्वयं एरामेणापि मिलित्वा एरामएव स्यान्नतु ऐराम इत्यादिकं ज्ञेयम् । अतिदेश-लक्षणमाह—अन्येति । उक्तश्चान्यैः—प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु । धर्मोऽतिदिश्यते येन सोऽतिदेश इति स्मृतः ॥ इति । अत्रेति—क्रियायोगे आङोङित्त्वं ङरामस्याप्रयोगो वक्ष्यते—ईषदथे क्रियायोगे इत्यादिनेत्यर्थः । ननु कथं—"तामुपैहि" इत्यत्र न परनिमित्तावत्त्वम् ? सत्यंसूत्रे आङादेश इति आङ्शब्देन उपसर्ग एवेष्टः, अत्रतूपसर्ग-प्रतिरूपकाव्ययमेवाङ्, ततो न दोषः ।

न्यायः प्रवर्तते, स जल-वालुकान्यायः । तेन जलवालुकान्यायेन वालुका यथा जलोपरि निक्षिप्तापि अन्तरे प्रविशति, तथा परस्थितः सर्वेश्वरः पूर्वविष्णुजने एव प्रविशतीत्यर्थः।।५२।।

बाल०—लृद्वये । लृकारायत इति लृकार इवाचरतीत्यर्थः ।।५३।।

बाल०—पुनरद्वयसन्धौ विषये आङादेशः अर्थादिरामादिना सहेति शेषः । आङ्आदेश एरामादिः परनिमित्तवद् वक्तव्यः आङ् पूर्वनिमित्तम् । तेन यथा अराम इरामेण सह मिलित्वा एरामो भवति, तथा अराम एरामेणापि सह मिलित्वा एराम एव भवतीत्येवं क्रमेण बोद्धव्यम् । अतिदेशलक्षणमाह अन्येति । अन्यतुल्यत्वस्य विधानम् अन्यतुल्यत्वविधानम् । अत्रेति अत्र अस्य लक्षणस्योदाहरणेषु आरामस्य क्रियायोगे ङित्त्वमिति वक्ष्यते इत्यर्थः ।।५४।।

बाल०—एद्वये । सुगमम् ।।५५।।

५६. स्वादीरेरिणोश्च तथा ।

स्व ईरं स्वैरं, स्व ईरी स्वैरी । स्वैरिणी च । नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्ट-स्यापि ग्रहणमिति न्यायात् ।

५७. ओ द्वये औ ।

अ आ इति द्वयं ओ औ इति द्वये परे मिलित्वा औरामो भवति । कृष्ण ओदनं कृष्णौदनम्, कृष्ण औन्नत्यं कृष्णौन्नत्यम् ।

५८. प्रादूढोढ्योश्च तथा ।

प्र ऊढः प्रौढः, प्र ऊढिः प्रौढिः । ऊहमिति केचित् पठन्ति । प्रौहः । नेह—प्रोढवान्; अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्य न ग्रहणमिति न्यायात् ।

५९. इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे ।

इ ई इति द्वयमेव सर्वेश्वरे परे यरामो भवति नतु मिलित्वा । यइत्यराम उच्चारणार्थः । एवमन्यत्रापि । हरि अर्चनं हर्यर्चनं, हरिआसनं हर्यासनं,

---

अमृता०—५६. स्वादिति । ईरेरिणोः परयोः स्वादुत्तरोऽरामः तथा पूर्ववन् मिलित्वा एराम एव भवतीत्यर्थः । अत्र अद्वयमिद्वये ए इत्येरामे प्राप्ते विशेषविधिरयम् । ननु सूत्रे स्त्रीत्वाग्रहणात् कथं स्वैरिणीति सिध्यति ? तत्राह—नाम्न इत्यादि । नाम्नः शब्दस्य ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य लिङ्गयुक्तस्यापि ग्रहणं भवति । लिंग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गं, स्त्रीत्व-पुंस्त्व नपुंसकत्व-ज्ञापकचिह्नमित्यर्थः ।

अमृता०—५८. प्रादिति । ऊढोढ्योः परयोः प्रादुत्तरोऽरामस्तथा पूर्ववद् मिलित्वा औराम एव भवति । अत्र "उद्वये ओ" इत्योरामे प्राप्ते विशेषविधानमिदम् । अर्थवदिति—प्रकृति-प्रत्यय-समुदायेनैवार्थ प्रकाशकत्व-नियमः; इह तु क्तवत्वन्तस्य 'ऊढवत्' शब्दस्यैक-देशऊढ इत्यंशस्यार्थशून्यत्वात् तस्मिन् परे सूत्रस्य प्रवृत्तिर्नस्यादिति भावः ।

बाल०—स्यात् । इरेरिणोः परयोः स्वादुत्तरोऽरामस्तथा भवति मिलित्वा ऐरामो भवतीत्यर्थः । स्वादिति पूर्ववत् । ननु सूत्रे ईरिन्शब्दोऽस्ति तर्हि कथं स्वैरिणी इति भवतु इति चेतत्राह—नाम्न इति लिङ्गेति लिङ्ग्यते ज्ञायते स्त्रीत्वादिकमनेनेति लिङ्गमावादि तद्विशिष्टस्य तदयुक्तस्य इत्यर्थः ॥५६॥

बाल०—ओद्वये । सुगमम् ॥५७॥

बाल०—प्रात् । ऊढोढ्योः परयोः प्रादुत्तरोऽरामस्तथा भवति मिलित्वा औरामो भवतीत्यर्थः । प्रादिति पूर्ववत् । अर्थवदिति अत्र ऊढशब्दः सार्थको गृह्यते, अतः ऊढवच्छब्दैकदेशस्य ऊढेत्यस्य अर्थशून्यत्वात्तस्मिन् परे न भवतीत्यर्थः । अत्रार्थ एव नास्तीति न, किन्तु यत्र पदार्थं गृहीत्वा यत्कार्यं क्रियते, तदतिरिक्तार्थोऽनर्थक इति ॥५८॥

दधि उपेन्द्रस्य दध्युपेन्द्रस्य, रुक्मिणी एषा रुक्मिण्येषा। एतावतैव सिद्धिः। द्वित्वविकल्पेन तु मतान्तराणि वक्ष्यन्ते। तस्मादसिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञा नात्र व्यभिचरति। कथं हरिहरीति? एकात्मकतामवलम्ब्य त्रिविक्रमविधेर्विशेषत्वेन बलवत्त्वात्। तथाहि,—समस्तव्यापि सामान्यं, एकदेशव्यापी विशेषः। सामान्य विधिरुत्सर्गो विशेषविधिरपवादः। इति स्थिते पूर्व परयोः परविधिर्बलवान्, नित्यानित्ययोर्नित्यः, अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गः, उत्सर्गापवादयोरपवादः। तेषु चोत्त-

---

अमृता०—५९. इद्वयमिति। ननु मिलित्वेति एवकारात्तद्व्यावृत्तिपूर्वक नियमः। एतावतैवेति—एतदुदाहरणानामनेन हि लक्षणेन सिद्धिर्भवति। असन्धिपक्षस्य द्वित्वपक्षस्य चात्रानुक्ततया पृथक्सूत्रविधानेन वक्ष्यमाणत्वाद् "सिद्धरूपं न त्याज्यमिति" प्रतिज्ञाया नात्र व्यभिचार इत्याशयः। प्रागुक्त—हरिहरीत्यादावस्य सूत्रस्य प्राप्तिशङ्कां निरस्यन् समादधाति—एकात्मकतामित्यादि। तमेव सिद्धान्तं द्रढयति—तथाहीत्यादि न्यायैः। अत्र परनिमित्तस्य सर्वेश्वर मात्रस्य समस्त-व्यापित्वात् सामान्यत्वम्, त्रिविक्रम विधानसूत्रे परनिमित्तस्यैकात्मकस्य एकदेश व्यापित्वाद् विशेषत्वं बोध्यम्। तेषुचेति—तेषु चतुर्षु न्यायेषु उत्तरोत्तरो यथानिर्दिष्टक्रमेण हि परपरो न्यायो बलवानित्यर्थः। तेनच परविधेर्नित्यो बलवान्, नित्यादप्यन्तरङ्गः, तस्मादप्यवादो बलवानिति फलितार्थः। दशावतार इति—दशावतारे सामान्यत्वं यद्याशङ्क्य तदा तत्र त्रिविक्रम विधानसूत्रे दशावतारस्थाने अद्वयमित्येवमेव क्रियते विधीयते मयेतिशेषः।

अत्रायमाशयः—अद्वयस्य त्रिविक्रमविधानस्य केनाप्यबाध्यत्वाद् विशेषत्वं सिद्धम्। तेनसहैकत्र यस्मादिरामादीनामपि त्रिविक्रम विधानं कृतं तस्माद् दशावतारस्यापि विशेषत्वं निश्चेतव्यम्। यदि दशावतारस्य सामान्यत्वं स्यात्तदा अद्वयस्य दशावतारान्तर्गतत्वेन त्रिविक्रमविधानमकृत्वा अद्वयमेकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्येवं पृथक्त्वेन हि सूत्रं विधीयेतेत्यर्थः। ननु अद्वयमित्येव कृते ईद्वयोद्वयादीनां कागतिरिपि चेत्तत्राह—

बाल०—इद्वयमेव। ननु मिलित्वेति सर्वेश्वरेण सहेति एवशब्दोपादानादिति शेषः। एतावतैव सिद्धिरिति एषामुदाहरणानामनेन लक्षणेनैव सिद्धिरित्यर्थः।

द्वित्वेति। द्वित्वञ्च विकल्पश्च तयोः समाहारः द्वित्व-विकल्पं गवाश्वादित्वात्। तेन द्वित्व-विकल्पेन पुनर्मतान्तराणि कार्याणि वक्ष्यन्ते। कथमिति सिद्धान्तमाह एकात्मकतामिति सर्वेश्वरमात्रे परे यरामो भवति इति यरामविधेः समान्यत्वम्। एकात्वकतामित्यत्र स्वरूपमात्रे ताप्प्रत्ययः, एकात्मकस्वरूपमित्यर्थः। उक्तमर्थं द्रढयति तथाहीत्यादिना तेषु चोत्तर इत्यन्तेन। समस्तमनेकदेशं व्याप्तुं शीलमस्येति समस्तव्यापी। एकदेशं व्याप्तुं शीलमस्येति एकदेशव्यापी उत्सर्ग इति उत्सर्गनामेत्यर्थः। एवमपवादेऽपि बलवानिति नित्यादिष्वपि योज्यम्। तेष्विति। ननु तेष्वित्यत्र चतुर्षु अष्टसु वेति किं व्याख्येयमिति

रोत्तर इति। दशावतारे सामान्यत्वश्चेत्त्राद्वयमित्येव क्रियेत, विष्णूदय इत्यादावपि परपर सूत्र प्राप्तेः। तदेवमेते चान्ये च न्याया युक्त्या प्रसिद्ध्या च स्वीकृतत्वात् पूर्वमुत्तरश्च ग्रन्थं व्याप्नुवन्ति।

६०. उद्वयं वः।

उ ऊ इति द्वयं सर्वेश्वरे परे वरामो भवति। मधु अरिः मध्वरिः, विष्णु आश्रितः विष्णवाश्रितः।

विष्णूदय इति। हरिहरि इतीत्यादिरिद्वयमेत्र यइत्यनेन, विष्णुउदय इत्यादिरुद्वयं व इत्यनेन, एवं ऋद्वयं लृद्वयञ्च परपर सूत्र द्वयेन वाध्यत एव। ततस्तेषामिद्वयादीनां त्रिविक्रमविधानस्य निष्फलत्वापत्तोर्न तत् करणं प्रयोजनमिति हेतोस्तत्र अद्वयमित्येव क्रियेत। अतस्तदकरणाद् दशावतारस्य विशेषत्वमवगन्तव्यमिति। एकात्मकतामवलम्व्य दशावतारस्य विशेषतया वलवत्त्वात् तत् सन्धेर्नित्यत्वम्, अतएव "ईशस्यानेकात्मके वामनश्च वेति" विभाषाविधाने अनेकात्मकस्य ग्रहणमित्यप्यनुसन्धेयम्। तेनेह— एकात्मकेतर सर्वेश्वर एव परे इत्यादीनां यरामादयो भवन्तीत्येवं व्याख्याने हि सर्व-समञ्जसमिति। एवमग्रिमत्रितयेऽपि वोद्धव्यम्।

अमृता०—६०. उद्वयमिति। सर्वेश्वरे इति पूर्वतोऽनुवर्तते। अत्रापि एकात्मके-

---

सन्देहो मैवं ; यद्यत्र तेषु चाष्टस्विति व्याख्यायते, तदा फलाभावः प्रत्युतपौनरुक्तमेव। पूर्व-परयोः परविधिर्बलवानित्यादिना व्याख्यानेनाष्टसु न्यायेषु उत्तरोत्तरन्यायानां बलवत्त्वसिद्धे रतएव युग्मत्वेन निर्दिष्टेषु तेषु च चतुर्षुन्यायेषु उत्तरोत्तरन्यायो बलवानित्येवं व्याख्येयं, तेन उत्सर्गापवादयोरपवाद इत्यस्य सर्वेभ्य एव बलवत्त्वं व्यक्तम्। दशावतार इति त्रिविक्रमता दशावतारस्य भवति, यरामता इद्वयस्य एव भवति। दशावतारे त्रिविक्रमविधेः सामान्यत्वं यदि वक्तव्यं, तदा तत्र त्रिविक्रमसूत्रे अद्वयमित्येव क्रियेत। ननु अद्वयमात्रे कथं त्रिविक्रमः प्रवर्त्ततां हरि हरीतीत्यत्र विष्णूदय इत्यादावपि। तस्य प्रवृत्ते-रित्याह विष्णूदय इत्यादाविति। यथा हरिहरीतीत्यत्र इद्वयमेव यः सर्वेश्वर इत्यस्य प्राप्तिः, तथा विष्णूदय इत्यदावपि उद्वयं व इत्यादेः प्राप्तिस्तस्मात् त्रिविक्रमस्य अद्वय एव प्राप्तिरिति अद्वयमित्येव क्रियेत, तस्माददद्वयं न कृत्वा यद्दशावतार इति कृतम्, ततएव हेतोर्हरिहरीत्यादौ त्रिविक्रम एव प्रवर्त्तते इत्यर्थः। दशावतारे सामान्यत्वं चेत्, तदाऽद्वयं मिलित्वा त्रिविक्रम इत्येवं क्रियेत। यस्मादित्येवंसूत्रं न कृतं, तस्माद्दशावतारे एकात्मक-त्वाऽपेक्षया सामान्यत्वं नास्त्येव इति ध्वन्यर्थः। तदेवमिति तत्तस्मात् प्राचीनैः स्वीकृतत्वा-द्धेतोरेवमुक्तप्रकारेणार्थपोषकत्वेन एते पूर्वापरयोः परविधिर्बलवानित्यादय अन्ये उक्ता वक्ष्यमाणाश्च न्यायाः स्थित्यनतिक्रमाः केचित् युक्त्या तर्केण स्वीकृताः, केचित् प्रसिद्ध्या च लोकप्रसिद्धया पूर्वमुत्तरञ्च ग्रन्थं व्याप्नुवन्ति इति ज्ञेयम्। तर्क-प्रसिद्ध्योरेषा-मनुसारित्वं ज्ञेयम्। यथा पूर्वापरविरोधे च कोऽन्वर्थोऽभिमतो भवेदित्यादीनामूहनं तर्क इति ।।५९।।

६१. ऋ द्वयं रः ।

ऋ ॠ इति द्वयं सर्वेश्वरे परे ररामो भवति। रामभ्रातृ उदयः रामभ्रात्रुदयः । रामभ्रातृ ऐश्वर्यं रामभ्रात्रैश्वर्यम् ।

६२. लृ द्वयं लः ।

लृ ॡ इति द्वयं सर्वेश्वरे परे लरामो भवति। शक्लृ अर्थः शक्लर्थः। श्रीपतेरेव। व्याडि-गालवयोर्मतेन मध्ये एव य-व-र-ला भवन्ति। हरियर्चनं, मधुवरिः भ्रुवादि इत्यादि ।

६३. ए अय् ।

एरामः अय् भवति सर्वेश्वरे परे। कृष्णे उत्कर्षः कृष्णयुत्कर्षः ।

६४. ऐ आय् ।

ऐ रामः आय् भवति सर्वेश्वरे परे। यमुनायै अर्घः यमुनायायर्घः, गोप्यै आसनं गोप्यायासनम् ।

६५. ओ अव् ।

ओरामः अव् भवति सर्वेश्वरे परे। विष्णो इह विष्णविह ।

तरेसर्वेश्वरे परे वरामः स्यादिति वक्तव्यम् । एवग्रिमसूत्रद्वयेऽपि ज्ञेयम् ।

अमृता०—६२. लृदयमिति । श्रीपतेरिति–श्रीपतेः पण्डितस्य मते प्रागुक्त प्रकारेण इद्वयादीनामेव स्थाने यरामादयो भवन्ति । अत्र एव शब्द उपमानवाचकः, ":एवौपम्येऽवधारणे" इति विश्व कोषात्। व्याडि-गालवौ पण्डितविशेषौ, तयोर्मते तु मध्ये एव यवरला भवन्ति नतु इरामादय इत्यर्थः। ६३, ६४, ६५, ६६। एअयित्यादि चतुष्टयं स्पष्टम् ।

बाल०—उद्वयं । सुगमम् । मधुरसुरविशेषः ।।६०।।

बाल०—ऋद्वयं । सुगमम् ।।६१।।

बाल०—लृद्वयं । शक्लृधातोरर्थः शक्तिः, सा तु भगवत एव । श्रीपतेरिति श्रीपतेः पण्डितस्य मते एवमुक्तप्रकारेण इद्वयादीनां स्थाने सर्व्वेस्वरे परे यादयः प्रयोगा भवन्ति । एव शब्दोऽत्र उपमानवाचकः एवौपम्येऽवधारणे इति विश्वः। व्याडीति । व्याडिगालवौ पण्डितविशेषौ, तयोर्मतेन मध्ये एव इति न तु इद्वयादय इत्यर्थः ।।६२।।

बाल०—ए अय् । सुगमम् ।।६३।।

बाल०—ऐ आय् । सुगमम् ।।६४।।

बाल०—ओ अव । सुगमम् ।।६५।।

६६. औ आव् ।

औरामः आव् भवति सर्वेश्वरे परे । कृष्णौ अत्र कृष्णावत्र ।

६७. ए ओभ्यामस्य हरो विष्णु पदान्ते ।

ए ओभ्यां विष्णु पदान्ते स्थिताभ्यां परस्य अरामस्य हरो भवति । हरे अत्र हरेऽत्र, विष्णो अत्र विष्णोऽत्र

६८. अयादीनां यवयोर्वा ।

अय् आय् अव् आव् इत्येषां विरिञ्चीनां यवयोर्वा हरो भवति विष्णु-पदान्ते विषये । कृष्णयुत्कर्षः कृष्णउत्कर्षः; यमुनायायर्घः यमुनायाअर्घः; गोप्यायासनं गोप्याआसनं; विष्णविह विष्णइह; कृष्णावत्र कृष्णाअत्र । यवाविमावीषत्स्पर्शिनावीषत्स्पर्शितरौ च मतौ ।

६९. तेषां न सन्धिर्नित्यम् ।

तेषां यवलोपिनां नित्यं सन्धिर्न भवति । प्रतिषेधोऽयम् । कृष्णउत्कर्ष इत्यादि ।

७०. ओरामान्तानामनन्तानाञ्चाव्ययानां सर्वेश्वरे ।

ओरामान्तानामनन्तानाञ्च केवलानामव्ययानां सर्वेश्वरे परे सति पूर्वस्य

अमृता०—६७. एओभ्यामिति । अत्र "एअय्" इत्येरामस्य अयादेशे, तथा "ओअव्" इत्योरामस्य अवादेशे च प्राप्ते नियमोऽयम् । तेन विष्णुपदान्ते एओभ्यामरामेतरस्मिन्सर्वेश्वरेपरे हि अयवौ आदेशौज्ञेयौ, अरामे परे तु तस्य हर एव स्यादित्यर्थः । अविष्णुपदान्ते एओरामयोरेव अयवौ नित्यमेव सिद्धौ ।

अमृता०—६८. अयादीनामिति । अत्रअय गतौ अवरक्षणे इतिधातुद्वयस्य यवयोर्हरे प्रसक्ते विरञ्चीनामित्युक्त्या तदतिव्याप्तिर्निरस्ता ।

अमृता०—६९. सन्धिनिषेधमाह—तेषामिति । पूर्वसूत्रस्य वानुवृत्ति-निरासार्थमिह नित्यपदं न्यस्तम् ।

बाल०—औ आव् । सुगमम् ॥६६॥

बाल०—एओभ्यां । सुगमम् ॥ ए अय् इत्ययादेशे प्राप्ते ओ अव् इत्यवादेशे च प्राप्ते नियमोऽयम्, तेन अरामादन्यस्मिन् सर्वेश्वरेऽयादिर्भवति । एओभ्यान्तु परस्यारामस्य हर एव स्यादिति भावः ॥६७॥

बाल०—अय् । सुगमम् ॥६८॥

बाल०—तेषां । वाऽनुवृत्तिशङ्कानिरासार्थं नित्यमिति कृतम् ॥६९॥

च परस्य च सन्धिर्न भवति। नो उपेन्द्रः नो अच्युतः। कथं तद्धिते विप्रत्ययान्तस्य गोशब्दस्याव्ययत्वे गोऽभवदिति ? लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति न्यायेन स्यात्।

अरामादयः सम्बोधनादौ। अत्र सम्बोधने—अ अनन्त। स्मरणे—आ एवमच्युतलीला। भर्त्सने—इ अच्युतं न भजसि। वाक्पूरणे—ई ईदृशः संसारः। आमन्त्रणे—उ अच्युत। प्रतिषेधे—ऊ उपसन्नं मां

अमृता०—७०. ओरामान्तानामिति। केवलानां विष्णुजनसंयोग-रहितानामिति अनन्ताव्ययानामेव विशेषणं, प्राचीनसम्मतत्वात्। ओरामान्ताव्ययानान्तु केवलत्वं न विवक्षा। अहो अहमित्यादि प्रयोगोदृश्यते प्राचीन काव्येषु।[१] "अकेवलार्थमिदं वचनमिति" पद्मनाभेन चोक्तम्। केवलशब्दं प्रतिपदोक्तपरत्वेन व्याख्याय तस्य ओरामान्ताव्यय-विशेषणत्व-स्वीकारे तु मूलोक्ता "कथं तद्धित" इत्यादि शङ्कैव नोपपद्यत इति विभाव्यम्। पूर्वस्य परस्य चेति असन्धिर्दृष्टान्तद्वयेनैव सुव्यक्तः।

तद्धिते विप्रत्ययान्तस्येति—अगौगौरभवदित्यर्थे विप्रत्यय स्तद्धितः; केवलप्रत्ययस्य वेर्हरः; अव्ययात् स्वादेर्महाहरः। इत्येतैः सिद्धस्य गोशब्दस्य सन्धि दृष्ट्वा तत्राव्याप्तिशङ्कां निवारयति सिद्धान्तेन—लाक्षणिकेत। प्रतिपदोक्तं स्वाभाविकम्। विप्रत्ययान्त-शब्दस्याव्ययत्वं तद्धितप्रकरणे वक्ष्यते।

केवलानन्तानामसन्धिमुदाहरति—अरामादय इत्यादिना। अ अनन्तेति हे अनन्तेत्यर्थः। भर्त्सनस्तिरस्कारस्तस्मिन् भो अवैष्णव इ अच्युतं न भजसि ? त्वांधिगित्यर्थः। आमन्त्रणमत्रसम्बोधनम्। प्रतिषेधो निषेध स्तत्र उपसन्नमनुगतं मां उ-

---

बाल०—ओरा। एओभ्यामस्य हर इत्यादिना प्राप्तेऽयं प्रतिषेधः। ओरामान्तानामव्ययानां अनन्तानाञ्च केवलानामव्ययानामित्यर्थः। ओरामान्तानां विष्णुजनसंयुक्तत्वेन केवलत्वाभावात्। अथवा वृत्त्युक्त-केवलशब्देन सर्वेषामेवाव्ययानां केवलत्वं लक्ष्यते। तस्मादोरामान्ताव्ययानामपि केवलत्वं लाक्षणिकौरामस्तं वर्जयित्वा प्रतिपदोक्तत्वापेक्षयोक्तम्। सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्ये बाधे इति न्यायात्। तेन नञुपक्रान्तस्याव्ययस्यापि केवलत्वञ्चेति। अन्यथा गोऽभवदित्यादावव्यतिव्याप्तिः स्यात्। अलक्ष्ये लक्षणगमत्रमतिव्याप्तिः। लक्ष्ये लक्षणगमनं व्याप्तिश्चेति। नो इति निषेधार्थम्। कथमिति ननु अगौगौरभवदित्यर्थे तद्धिते सर्वेविप्रत्ययान्तस्य गोशब्दस्याव्ययत्वे सति गो अभवदित्यत्र गोऽभवदिति कथं सिद्ध्यतु इत्याक्षेपे सिद्धान्तमाह लक्षणिकेति। लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोरित्यत्र मध्ये इति शेषः। प्रतिपदोक्तं प्रतिस्थानोक्तं स्वभावसिद्धमित्यर्थः। पदं व्यवसिति त्राण-स्थान-लक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु इति नानार्थवर्गः।

१—अहो अहं नमो मह्यं यदुदत्दृत्य सुमध्यमा। उल्लास्य नयने दीर्घे साकांक्षमहर्मीक्षितः॥ इति पाणिनिमुनिकृत–जाम्बवतीविजयकाव्ये श्रीकृष्णस्योक्तिः।

त्यजसि। आङस्तु सन्धिर्भवत्येव। आ अनन्तं आनन्तम्, अनन्तमर्य्यादां कृत्वेत्यर्थः।

ईषदर्थे क्रियायोगे व्याप्ति-मर्यादयोश्च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्य-स्मरणयोरङिदिति॥

७१. ईदूदेतां द्विवचनस्य मणीवादिवर्जम्।

द्विवचनस्थानीयानां ई ऊ एरामाणां सम्बन्धे सर्वेश्वरे परे सन्धिर्न भवति। हरी अत्र, विष्णू अत्र, अम्बू अत्र, गङ्गे अत्र, भजेते अजितं, अमुके अत्र स्तः। चान्द्रास्त्वत्र सन्धिमिच्छन्ति। अमुकेऽत्रस्तः। मणीवादौ तु

त्यजसि मात्यजेत्यर्थः। सर्वेश्वरे इति किम्—पूर्वेसति सन्धिर्भवत्येव। तथा—विधेहि अ विधेह्य, रक्ष उ रक्षो। वृत्तौ केवलांनामिति किम्—प्रईरयति प्रेरयति, खलु आगतः खल्वागतः, इत्यादयस्तु निर्बाधाः। आङस्त्विति—आङोऽपि केवलानन्ताव्ययत्वात् सन्धिनिषेधे प्राप्ते नियमोऽयम्। ननु आङ् इत्यस्यङित्वे किंमानं? तत्र प्राचीनकारिकां प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति—ईषदर्थ इत्यादि। क्रमेणोदाहरणानि यथा,—आ आलोचितं आलोचितम्, ईषदालोचितमित्यर्थः। आ इहि एहि; आ एकदेशात् ऐकदेशात्; आ अनन्तं आनन्तमिति। निरनुवन्धस्य आरामस्य वाक्ये यथा— आ एवं किलैतत्, स्मरणे—आ एवमच्युतलीलेति।

अरामादयः सम्बोधनादौ वर्त्तन्ते, तेषां सन्धिनिषेधेन रूपाणि दर्श्यन्ते इति शेषः। अत्र सम्बोधने यथेति शेषः। एवं स्मरण इत्यादावपि। अ अनन्तेति हे अनन्तेत्यर्थः। स्मरणं चिन्तनं तस्मिन् यथा आ एवेति एवमुक्तप्रकारेण अच्युतलीला आ स्मरणीया इत्यर्थः। भर्त्सने तिरस्कारे रूपं यथा—इ अच्युतेति भो अवैष्णव अच्युतं न भजसि इ त्वां धिगित्यर्थः। वाक्-पूरणं वाक्पोषणं तस्मिन्नर्थे रूपं यथा—ई ईदृश इति हे भ्रातरीदृशः संसार ई एतादृशो भवितुमर्हतीत्यर्थः। आमन्त्रणं सम्बोधनं कामाचारकरणमिति यावत् तस्मिन् यथा—उ अच्युतेति अच्युत उ भोः स्वाभिप्रेतश्चेन्मामुद्धर। प्रतिषेधे निषेधे रूपं यथा— उ उपसन्नमिति तवानुगतं मां त्यजसि उ मा त्यज। सर्व्वेश्वरे परे इति किम्? एहि अ एह्य। अत्र इ अत्रे। प्र उ प्रो। पूर्व्वसर्व्वेश्वरत्वादित्यादौ वृत्तौ केवलानामित्युपादानात् प्रैतीत्यादौ च सन्धिर्भवत्येव।

आङः। ङित् आरामस्य अव्ययस्य सन्धिर्भवत्येव। आङोऽपि केवलानन्ताव्ययत्वात् सन्धिनिषेधो भवितुमर्हति। स तु नाचार्य्याणां सम्मत इति नियमसूत्रमेतत् कृतम्। सानुबन्ध-निरनुबन्धयोरारामयोर्भेदार्थं सिद्धान्त कारिकामाह ईषदिति। ईषदर्थे इति ईषदर्थो अल्पार्थो आ श्यामः। क्रियायोगे आगच्छति। व्याप्तौ आ वैकुण्ठं व्यासकीर्त्तिः। मर्य्यादायाम् आ वैकुण्ठं संसारः। वाक्ये आ एवं किलैतत्। स्मरणे आ एवमच्युतलीलेति॥७०॥

सन्धिर्भवत्येव। विकल्प इत्येके। **मणी इव मणीव, एवं दम्पती इव दम्पतीव, रोदसी इव रोदसीव, जम्पती इव जम्पतीव।**

७२. अदसोऽमीत्यस्य।

अदः शब्दसम्बन्धिनः अमी इत्यस्य पदस्य सर्वेश्वरे परे सन्धिर्न भवति। अमी अच्युतप्रियाः। अमीति किम्,—अमुकेऽत्र स्युः। ओरामान्ताद्या असन्धयः पाणिनीयानां प्रगृह्यसंज्ञाः।

७३. महापुरुषस्य च।

अमृता०—७१. ईदूदेतामिति। द्विवचनस्थाने जाता द्विवचनस्थानीयाः, तेषां ई ऊएरामाणां क्रमेण यवअयादेशे लोपे च प्राप्ते निषेधोऽयम्। चन्द्रेणप्रोक्तं चान्द्रं व्याकरण, तदधीयन्ते विदुर्वेति चान्द्रा वैयाकरणा द्विवचनान्तानामपि ईरामादीनां सन्धिमिच्छन्ति। मणीवादौत्विदि—वामन-जयादित्यपद्मनाभादि-प्राचीनमत-दर्शनादेवं सिद्धान्तितम्। "मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।" इति भारत पद्यस्थे मणीवोष्ट्रस्येति प्रयोगे वशब्दो वाशब्दो वा इवार्थे इति तु कैयटादयः। काशिकायां सएव प्रयोगः सन्धिपक्षत्वेनो दाहृतः। एवंमतद्वयं दृष्ट्वैव "मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य इत्येके इवार्थे वकारोऽय-मित्यन्ये" इति भाषावृत्तिकारः। स्वमते तु मणीभार्यापती इत्यादेर्द्विवचन त्वादीरामस्य सन्धिनिषेधे प्राप्ते हि तद्‍बाधनार्थं (सन्धिप्राप्त्यर्थं) तन्निषेधवचने वर्जनमिति ज्ञेयम्। तथापि इव शब्देपरे एषां सन्धिः स्यान्नत्वन्यशब्दे परे। यथा—मणीआनयेत्यादौ चेति विवेच्यम्। मणीवादिगणो यथा,—मणीभार्यापती चैव दम्पती रोदसी तथा। वाससी जम्पती चैवमिव जायापतीतथा।

अमृता०—७२. अदस इति। अमुक इति अदस्‌शब्दादक प्रत्ययेन सिद्धस्य अमुक शब्दस्य वहुत्वेरूपम्। अमीत्यत्र सन्धिस्तु अनु करणत्वात्। अदस इति किम्?—"अम्यत्र प्रतिभाति मे।" इहअमोरोगः, अमाकला वा विद्यतेऽस्य इति तद्धितेनि प्रत्ययान्तस्य न निषेधः।

बाल०—ईदू। द्विवचनस्थानीयानां द्विवचनरूपस्थानिसम्बन्धिनां द्विवचनसम्व-न्धिनामित्यर्थः। हरि अत्रेत्यादावुदाहरणे इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे इत्यादिना सूत्रेण यरामादिप्राप्तेर्निषेधोऽयम्। अजितं श्रीकृष्णमित्र्थः। अत्र विषये चान्द्रास्तु सन्धिमिच्छन्त्येव विकल्प इत्येके, क्रमदीश्वरादयः। मणीवादिर्गणो यथा। मणी भार्यापती चैव दम्पती रोदसी तथा। वाससी जम्पती चैवमिव जायापती तथा॥७१॥

बाल०—अदस इत्युपादानात् अमरोगे इत्यस्य धातोः कृत्प्रत्ययान्तस्य अम इत्यस्मात् तद्धितेऽणिप्रत्यये कृते यदमीत्ति भवति, तस्य सन्धिर्भवत्येव तथा अमा कला चन्द्रो विद्यतेऽस्य अमीचन्द्र इत्यस्यापि सन्धिः। असन्धय इति असन्धिनामान इत्यर्थः। पाणिनीयानां पण्डितानां मते ओरामान्ताद्या असन्धिनामानः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति॥७२

महापुरुषस्य च सम्बन्धे सर्वेश्वरे परे सन्धिर्न भवति। दूराह्वानादावन्त्य सर्वेश्वरस्य महापुरुषत्वं मतम्। आगच्छ हरे३ आगच्छ। तिष्ठहरे३ अत्र तिष्ठ। सर्वेश्वरे परे निषेधा–दत्र तु सन्धिः—गच्छ आ३च्युतदत्त गच्छा३च्युतदत्त ! आदिमहापुरुषमिदं सम्बोधनम्। तथाहि तत्सूत्राणि।

७४. दूराह्वानादौ यत्नविशेषे वाक्यस्यान्ते सम्बोधन पदस्य संसारो महापुरुषः। क्रियान्वयावच्छिन्न पद समूहो वाक्यम्।

७५. अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णाः संसारसंज्ञाः। टिसंज्ञेति प्राञ्चः।

अमृता०—७३. महेति स्फुटम्। अन्त्यसर्वेश्वरस्य महापुरुषत्वं मतमितिदूराह्वानादि यत्न विशेष इत्यादिना वक्ष्यते। आगच्छेत्यत्र तिष्ठेत्यत्र च क्रमेण—"एअय्" "एओभ्या-मस्य हर" इति द्वयेन सन्धौ प्राप्ते निषेधः। सर्वेश्वरे परे निषेधात् तत् पूर्वत्वे सति सन्धिर्भवत्येवेति भावः। आश्च्युतदत्तेत्यत्र "गुरोरनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य प्राचामिति" वक्ष्यमाणेन महापुरुषत्वमित्याह—आदीति। महापुरुषे वामनमपि त्रिविक्रममुच्चारयन्ति लिखन्ति चेति नियमात् अच्युतदत्तेत्यस्य आद्य रामस्य त्रिविक्रमत्वेनोच्चारणं लेखनञ्च। प्रसङ्गान्महापुरुष सूत्राणि दर्श्यन्ते।

अमृता०—७४. दूरेति। यत्नविशेषे विवृतरूप-प्रयत्ने इत्यर्थः। वाक्यलक्षणमाह—क्रियेत्यादिना। क्रिया सत्तादिलक्षणो धात्वर्थः, तस्याः अन्वयेन सम्बन्धेन अवच्छिन्नो युक्त इति क्रियान्वयावच्छिन्नः क्रियान्वयित इत्यर्थः, पदानां समूहः समुदायो वाक्यं स्यात्। तथा च—"वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त पदोच्चयः इति साहित्यदर्पणम्। एवमेव नैयायिकानामपि लक्षणम्। तत्र योग्यता—शब्दानां परस्पर-सम्बन्धे बाधाभावः। तेन वह्निना सिञ्चतीत्यादेर्वाक्यत्वनिरासः। आकांक्षा—प्रतीति पर्यवसान-विरहः श्रोतृ-जिज्ञासारूपः। तेन गौरश्व पुरुष इत्यादि पदसमूहस्य न वाक्यत्वम्। आसत्तिर्बुद्धे रविच्छेदः तेनाद्युनोच्चारितस्य कृष्णशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन कृपयेति पदेन नान्वयः। एषु सर्वत्र क्रियान्वयित्वासम्भवान्न वाक्यत्वमिति फलितार्थः।

बाल०—सुगमम् ॥७३॥

बाल०—दूराह्वानादाविति दूराह्वानादौ यत्नविशेष इत्यनेनान्त्यसर्वेश्वरस्य महापुरुषत्वं मतमिति वक्ष्यते। आगच्छ हरे ३ आगच्छ इत्यत्र 'ए अय्' इत्यनेन प्राप्ते सन्धिनिषेधः। तिष्ठ हरे ३ अत्र तिष्ठ इत्यत्र तु 'ए ओभ्यामि' त्यनेन प्राप्तसन्धिनिषेध इति। सर्वेश्वरे परे निषेधात् सर्वेश्वरपूर्वत्वेऽत्र सन्धिर्भवेदिति भावः। आऽच्युतदत्तेत्यत्र गुरोरनृ-तोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचामित्यनेन वक्ष्यमाणेनाच्युतदत्त शब्दस्याद्यरामस्य महापुरुषत्व-मित्याह आदीति महापुरुष वामनमपि त्रिविक्रममुच्चारयन्ति लिखन्ति च तज्ज्ञा अतोऽच्यु-तदत्तस्याद्यरामस्य त्रिविक्रमपाठश्चेति। प्रसङ्गाद्यथा महापुरुष लक्षणानि दर्शितानि, तथा तेन प्रकारेण हि निश्चितं तत् सूत्राणि महापुरुषलक्षणानीदानीं दर्श्यन्ते ॥७४॥

आगच्छ हरे३ । तिष्ठहरे३ । आदिपदेन गाने रोदने विचारेचेति सारस्वतादयः। सम्बोधनमात्रे चेति काशिका। कृष्णं भजस्व वैष्णवा३। वाक्यस्यान्त एव नत्विह—हरे आगच्छ। कृष्णा३ एहीति प्रक्रियाकौमुद्यांभ्रमः।

सारस्वत प्रक्रियायां भ्रमा ये सन्ति भूरयः।
लिखितुं ते न शक्यन्ते ज्ञेयास्त्वस्यानुसारतः॥
सर्वेषाममतं यत् स्यात् स भ्रमः परिचीयते।
बहूनाममतं यत्तत् केषाञ्चिन्मतमिष्यते॥

अमृता०—७५.अन्त्येति। अन्तेभवः अन्त्यः, सचासौ सर्वेश्वरश्चेति अन्त्य सर्वेश्वरः। स आदिर्येषां ते अन्त्यसर्वेश्वरादयः; ते च ते वर्णाश्चेति अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णाः संसारसंज्ञकाः स्युः। आदिपदं सारस्वतादिमतेन विवृणोति—आदीति। मतान्तरमाह—सम्बोधनेति। सम्बोधनपदमात्रे अर्थात् दूराह्वानाद्यभावेऽपि, च शब्दात् दूराह्वानादावपि महापुरुषः स्यादिति काशिका आहुः। गौरवे बहुत्वम्। सम्बोधनमात्रत्वेऽपि वाक्यस्यान्त एव महापुरुषः स्यात्, तदभावेतु भ्रमएवेत्याह—कृष्णा३ एहीति। ६।१।१२५। ननु सारस्वत प्रक्रियायामपि "देवदत्ता३ एही"त्युदाहरणे वाक्यस्याद्यपदे हि महापुरुष-प्रयोगो दृश्यते, तत्तस्याअपि भ्रम एव, कथं तर्हि तां विहाय केवल प्रक्रियाकौमुद्यानामोल्लेख इति चेत्तत्राचष्टे—सारस्वतेति। कस्तावद् भ्रम इत्यपेक्षायामाह—सर्वेषामिति। बहूनाममते केषाञ्चित् मतंस्वयमापद्यत इत्यर्थः।

दूरा। स्वाभाविकाद् यत्नादधिको यत्नोऽत्र यत्नविशेषः, दूरात् आह्वानमाक्रोशनं दूराह्वानं तत् आदिर्यस्य स दूराह्वानादिः तस्मिन् दूराह्वानादावर्थविषये यत्नविशेषे सति वाक्यस्यान्ते वर्त्तमानस्य सम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुषः स्यात्।

वाक्यलक्षमणमाह क्रियेति। क्रिया सत्तादिलक्षणो धात्वर्थः। तस्याः क्रियाया अन्वयेन सम्बन्धेन अवच्छिन्नः युक्तः कियान्वयावच्छिन्नः। पदानां समूहः पदसमूहः, पदमत्र विष्णुपदम्। समूहशब्दोऽत्रानेकत्ववाची। तथा च क्रियासम्बन्धयुक्तः विष्णुपदसमूहो वाक्यं स्यादिति निर्गलितार्थः। तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता इत्यमरः।।७४।।

बाल०—अन्त्य इति। अन्ते भवः अन्त्यः। अन्त्यश्चासौ सर्वेश्वरश्चेति अन्त्यसर्वेश्वर अन्त्यसर्वेश्वर आदिर्येषां ते अन्त्यसर्वेश्वरादयः। ते च ते वर्णाश्चेति अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णाः। सम्यक् सारः संसारः श्रीकृष्ण इति संसारपदस्य भगवन्नामता। अन्त्यसर्वेश्वरप्रभृतयो वर्णाः संसारसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः। टि संज्ञाचेति प्राचामिति शेषः। सूत्रे दूरह्वानादावित्यादि पदगृहीतार्थान् सारस्वातादिमतेनैव स्पष्टयति आदीति। सूत्रास्थादिपदेन गाने रोदने विचारे चार्थे विषये वाक्यस्यान्ते वर्त्तमानसम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुष इति सारस्वतादयः पण्डिता वदन्तीत्यर्थः। मतान्तरमाह सम्बोधनेति सम्बोधनपदमात्रे

७६. है हे प्रयोगेतु हैहयोरेवानन्त्ययोरपि ।

है३ कृष्ण, हे३ कृष्ण, कृष्ण है३, कृष्ण हे३ ।

७७. प्रत्यभिवादवाक्ये संसारः, नतु स्त्रीशूद्रविषये ।

अभिवादये विष्णुमित्रोऽहमित्यनन्तरं गुरुराह—

आयुष्मानेधि विष्णुमित्रा३ । पूर्वोक्त विधीनां स्थानविशेषमाह ।

अमृता०—७६. है हे इति । एवकारात् है हे प्रयोगे तु तयोरेवनिपातयोः संसारस्य महापुरुषत्वं न तु सम्बोधनपदस्य । अनन्त्ययो रिति आद्य-मध्यस्थयोः है हे शब्दयोः । अपि शब्दादन्त्ययोश्च तयोर्महापुरुषत्वं भवेदेवेत्यर्थः ।

अमृता०—७७. प्रत्येति प्रत्यभिवादो नाम यदभिवाद्यमानो गुरुराशिषं प्रयुङ्क्ते । तत्र अस्त्री-शूद्र विषये यद्वाक्यं तस्य सम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । अभिवादये विष्णु मित्रोऽहमित्येतत्तु गुरोरभिवाद्यमानतां दर्शयितुमुपन्यस्तम् । स्त्रियां शूद्रे च विषये न भवति, यथा—अभिवादये गार्ग्यहं, भो आयुष्मतीभव गार्गि ! अभिवादयेदेवदत्तोऽहं, भो आयुष्मान् भव देवदत्त ! असूयकेऽपिकेचित् प्रतिषेधमिच्छन्ति अभिवादवाक्ये यत्संकीर्त्तितं नाम गोत्रं वा तद् तत्र प्रत्यभिवाद वाक्यान्ते प्रयुज्यते तत्रैव प्लुत इष्यते; तेन नेह—हरिदत्त ! आयुष्मानेधि । पूर्वोक्तेति—पूर्वमुक्ता ये विधयः, दूराह्वानादिषु प्रत्यभिवादवाक्ये च महापुरुष सम्बन्धीयविधयः तेषामित्यर्थः ।

चकारात् दूराह्वानादावपि वर्त्तमाने तस्मिन् महापुरुषः स्यादिति काशिका आहुरिति गौरवे बहुवचनम् । यद्यपि सम्बोधनमात्रे चेत्युक्तं, तथापि वाक्यस्यान्त एव न तदभाव इत्याह वाक्येति । भ्रम इति वाक्यस्यानन्ते महापुरुषोदाहरणादिति शेषः । सारस्वतेति भूरयः बहवो ये भ्रमाः सन्ति, मया ते लिखितुं न शक्यन्ते; पुनरस्य प्रक्रियाकौमुद्युदाहरणस्यानुसाराद्भवद्भिर्ज्ञेया इत्यर्थः । भ्रमः क इत्यपेक्षायामाह सर्वेषामिति परिचीयते ज्ञायते बहूनामित्यवान्तरानेकानामित्यर्थः ।।७५।।

बाल०—है हे । दूराह्वानादौ यत्नविशेषे गम्ये वाक्यस्यान्ते वर्तमान-सम्बोधन-पदसम्बोधिनो है-हयोः प्रयोगे तु सति सम्बोधनस्यानन्त्ययोरपिकारादन्त्ययोश्च तयोर्यः संसारः, स एव महापुरुषः स्यान्न तु सम्बोधनस्य संसारः ।।७६।।

बाल०—प्रत्य । अभिवादो नमस्कारस्तं प्रत्यभिवादस्य गुर्वादिराशीर्वचनं प्रत्यभिवादस्तथाभूते वाक्ये वर्त्तमानसम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । स्त्रीशूद्रौ विषयौ यस्य तस्मिन् प्रत्यभिवादवाक्ये तस्य संसारो महापुरुषो न तु स्यात् । अभिवादये इति नमस्करोमीत्यर्थः । इति इत्यस्याभिवादवाक्यस्यानन्तरमित्यर्थः । स्त्रीशूद्रविषये यथा । आयुष्मती भव गार्गि आयुष्मान् भव भद्रमास । स्वयं ग्रन्थकृद्वृत्तिकाराभिमानी सन् आह पूर्वोक्तेति पूर्वमुक्ता विषयाः सूत्राणि येषां तेषां महापुरुषाणां स्थानविशेषमाह ग्रन्थकृदिति शेषः ।।७७।।

७८. गुरोरनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ।

ऋरामवर्जितस्य गुरोरनन्तस्यापि वर्णस्य यः संसारस्तस्यैकैकस्य सम्बोधने महापुरुषः स्यात् प्राचामाचार्याणां मते नत्वन्येषाम् ।

७६. वामनो लघुः ।

८०. त्रिविक्रमो गुरुः ।

८१. सत्संगात् पूर्वो वामनोऽपि गुरुः ।

८२. मिथः संलग्नो विष्णुजनः सत्संगसंज्ञः, संयोगश्च ।

वी३ष्णुमित्र ? विष्णुमी३त्र ? मतान्तरे विष्णुमित्रा३इत्येव । अनृतः किम् ? कृष्णमी३त्र, कृष्णमित्रा३ ? आगच्छेति सर्वस्यादौ योज्यं, वाक्याधिकारात् ।

अमृता—७८. गुरोरिति । न ऋत् (ऋरामः) अनृत् तस्य । अनन्तस्येति आद्यस्य मध्यस्य च; अपिशब्दादन्त्यस्य च गुरुवर्णस्य यःसंसारस्तस्य एकैकस्य पर्यायेण सम्बोधने विषये महापुरुषो भवति । प्राचामिति पाणिन्यादीनामाचार्याणामेव मते नत्वाधुनिकानामित्यर्थः ।

अमृता०—७६. प्रसङ्गाल्लघुगुर्वादीनां लक्षणान्याह—वामन इति । सूत्रद्वयं स्पष्टम् ।

आमृता०—८१. सत्सङ्गादिति । यथोक्तं छन्दोमञ्जरीकृता,—सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् । वर्णसंयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपिवा ।। इति ।

अमृता०—८२. मिथ इति । मिथःसंलग्नः परस्पर संयुक्त इत्यर्थः । मतान्तर इति—आधुनिकानां मते वाक्यस्यान्त एव । प्रत्यभिवादवाक्ये यथा,—अभिवादये विष्णुधर्माहं, चिरं जीव भोवी३ष्णुधर्मन् ! विष्णुधा३र्मन् ! विष्णु धर्मा३न् इति ।

बाल०—गुरोः । न ऋत् अनृत् तस्य । वृत्तिमाह ऋरामेति दूराह्वानादावित्यनुवर्त्तत एव । तेन दूराह्वानादौ यत्नविशेषे वाक्यस्यान्ते वर्त्तमाने सम्बोधने पदे ऋरामवर्जितस्य गुरुरूपस्य अन्त्यस्य अन्तभवरहितस्य आद्यस्य मध्यस्यापि शब्दादन्त्यस्य वर्णस्य यः संसारस्तस्य संसारस्यैकैकस्य स्थाने क्रमेण महापुरुषः स्यात् । प्राचां पाणिन्यादीनामाचार्य्याणां मतेऽयं न त्वन्येषामाधुनिकानामित्यर्थः । आनुसङ्गिकतया लघ्वादीनां लक्षणान्यप्याह वामनेत्यादि ।।७८।।

बाल०—वाम—सुगमम् ।।७६।।

बाल०—त्रिवि—सुगमम् । ।।८०।।

बाल०—सत्स—सुगमम् । ।।८१।।

८३. पृष्टप्रतिवचने हेर्वा ।

अकार्षीर्मालां विष्णुमित्र ? अकार्षं ही३ । अकार्षं हि ।

८४. आक्षेपगर्भे निगृहीत-परमतस्यानुवादे वाक्यस्य संसारो वा ।

अनित्या हरिभक्तिरित्यात्था३ । पक्षे ननु ।

८५. आम्रेडितस्य संसारो भर्त्सने पर्यायेण ।

अवैष्णवा ३ अवैष्णव ! अवैष्णव अवैष्णवा३ ।

अमृता०—८३. पृष्टेति । पृष्टस्य जिज्ञासितस्य प्रतिवचनं प्रत्युत्तरं, तत्र निगतस्य हिशब्दस्य संसारो महापुरुषो वा भवति । प्रतिवचनं पृष्टस्यैव भवति तथापि पृष्टपदं स्पष्टतार्थम् । कृष्णार्थे मालाकरणाय प्रेषितं विष्णुमित्रमाचार्यः पृच्छति—अकार्षीरिति । अथविष्णुमित्रस्तत् प्रत्युत्तरमाह—अकार्षमिति ।

अमृता०—८४. आक्षेपेति । आक्षेप उपालम्भनं गर्भेयस्य स आक्षेपगर्भः, तस्मिन् निगृहीतस्य उपपत्तिभिः खंडितस्य परमतस्य अनुवादे अनुकथने सति वाक्यस्य यः संसारस्तस्य महापुरुषो वा स्यात् । अनित्या हरिभक्तिरिति केनचित् प्रतिज्ञातं, तत आचार्यः प्रमाणैस्तन्मतं निरस्य तद्वाक्यस्यैवानुवादेन तमुपालम्भत—अनित्येति । पक्षे न महापुरुषः ।

अमृता०—८५. आम्रेडितस्येति । भर्त्सने गम्यमाने आम्रेडितस्य द्विस्त्रिरुक्तस्य संसारः पर्यायेण महापुरुषः स्यात् । अत्र वाक्यादेरामन्त्रितस्येति विशेषणमुन्नेयम् । समासे-द्विरुक्ति प्रकरणे "वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूया-सम्मति-कोप-कुत्सन-भर्त्सनेषु" इत्यनेन

बाल०—मिथः । मिथः संलग्नः परस्परं संयुक्त इत्यर्थः । संयोगसंज्ञश्चेत्यन्ये । यथोक्तं छन्दोमञ्जरीकृता । सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् । वर्णसंयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा । वाक्यस्यान्ते वर्त्तमान सम्बोधनपदे महापुरुष इति यदुक्तं, तत्तु सर्वस्यादावागच्छेति योजनं बिना नार्हति इत्याह आगच्छेति । हेतुमाह वाक्येति ।।८२।।

बाल०—पृष्ट । प्रतिवचनं प्रत्युक्तिः । पृष्टस्य प्रतिवचनं पृष्टप्रतिवचनं तत्र वर्त्तमानस्य हिशब्दस्य संसारो महापुरुषो वो स्यात् । प्रतिवचनं पृष्टस्यैव भवति, तथापि शब्दोपादानं स्पष्टार्थम् । कृष्णार्थमालाकरणे प्रेरित-विष्णु-मित्रं वैष्णवाचार्यो जिज्ञासतेऽकार्षीरिति तदनन्तरं स प्रत्युत्तरमाह अकार्षमिति पदमत्र पूर्वतोऽनुकर्षणीयम् ।।८३।।

बाल०—आक्षे । आक्षेपो गर्भे यस्य स आक्षेपगर्भस्तस्मिन्निगृहीतं यत् परस्य मतं तन्निगृहीतपरमतम्, तस्यानुवादे आक्षेपगर्भे निन्दान्तरे सति वाक्यस्य यः संसारः महापुरुषो वा स्यात् । अनुवादः पश्चात् कथनम् । रेऽवैष्णव या हरिभक्तिरनपायिनी साऽनित्या त्वमित्यात्थ ब्रवीसि त्वां धिगित्याक्षेपगर्भत्वम् ।।८४।।

८६. अंगेत्यनेन युक्तस्याख्यातस्य संसारो भर्त्सने साकाङ्क्षता चेत्

हरिं विनाङ्ग प्रीणीही ३ इदानीं दुःखमाप्स्यसि। इदानीमित्यादे रत्राकाङ्क्षा; एतांविना तु न स्यात्।

८७. विचारे पूर्ववाक्यस्य संसारः।

तमालो नु३ कृष्णो नु।

८८. प्रतिश्रवणे च संसारः।

द्विरुक्तिविधान सामर्थ्यात्। "आम्रेडितं द्विस्त्रिरुक्त" मित्यमरः। इह "पर्यायेण" पदेन वेति निर्वात्तितम्।[१]

अमृता०—८६. अङ्ग इति। चेद्यदि तिरस्कारे साकाङ्क्षता स्यात् तर्हि सम्बोधन सूचकेन अङ्गेति शब्देन युक्तस्य आख्यातस्य क्रिया पदस्य संसारो महापुरुषः स्यात्। अत्रोदाहरणे "इदानीं दुःखमाप्स्यसि" इत्येतस्याकाङ्क्षत्वम्। एतां विना तु न स्यादिति—विवक्षितार्थस्यापरिसमाप्तेरित्यर्थः। यथाहि अङ्ग भजस्व कृष्णम्। अङ्गेत्यनेन युक्तस्येति किम्—अङ्ग विष्णुदास सत्यं वदसि। भर्त्सन इत्येव, तदभावेतु न—अङ्ग पठेतत् भक्तिं लभेथाः।

अमृता०—८७. विचार इति। सन्दिग्धवस्तुनि प्रमाणेन तत्त्वपरीक्षा विचारः, तस्मिन् पूर्ववाक्यस्य संसारो महापुरुषः स्यात्। पूर्वेत्यनेनात्र परवाक्यप्रयोग आक्षिप्यते।

अमृता०—८८. प्रतिश्रवण इति। अभ्युपगमः स्वीकारः। अविशेषात् प्रतिश्रवणस्य सर्वे एवार्था ग्रहणीया इति त्रिष्वर्थेषूदाहरणत्रयं दर्शयति—हरिमन्त्रमित्यादिभिः।

बाल०—आम्रे। भर्त्सने गम्यमाने पर्यायेण क्रमेण आम्रेडितस्यद्विस्त्रिरुक्तस्य संसारोमहापुरुषः स्यात्। आम्रेडितं द्विस्त्रिरुक्तमित्यमरः ।।८५।।

बाल०—अङ्ग। आकाङ्क्षया सह वर्त्तमानां साकाङ्क्षां तस्य भावः साकाङ्क्षता। चेद्यदि भर्त्सने साकङ्क्षता स्यात्, तर्हि सम्बोधनसूचकेन अङ्गेति शब्देन युक्तस्यान्ते वर्त्तमानस्याख्यातपदस्य संसारो महापुरुषो भवति। हे अङ्ग हे भ्रातः यतो हरिं विनाऽन्यत्र प्रीणीहि प्रीतियुक्तो भवसि, अत इदानीमित्यादि योज्यम्। इदानीमित्यादिरिति प्रथमान्तपाठो लिपिकारप्रमादकृतः। षष्ठ्यन्तः पाठोऽत्र ज्ञेयः। आकाङ्क्षशब्दस्य धर्मवाचित्वात्। एतां आकाङ्क्षाम् ।।८६।।

बाल०—विचा। सन्दिग्धे वस्तुनि प्रमाणेन तत्त्वपरीक्षाविचारस्तस्मिन् सति पूर्ववाक्यस्य संसारो महापुरुषः स्यात्। नु शब्दो वितर्के। भवत्ययं तमालः कृष्णो वेत्यर्थः ।।८७।।

१—अत्रासूयादि चतुर्ष्वपि महापुरुष इष्यते मुनिना, वार्त्तिकेन तु तद्विकल्प-विधानादस्मद्ग्रन्थकृता तदुपेक्षितमित्यनुसन्धेयम्।

प्रतिश्रवणमभ्युपगमः प्रतिज्ञानं श्रवणाभिमुख्यञ्च । हरिमन्त्रं देहि, हरिमन्त्रं ददामी३ । हरिभक्तिर्नित्या भवितुमर्हती३ । विष्णुमित्र भो किमात्था३ । एवमन्येऽपि ज्ञेयाः । विचार-प्रश्न-पूजासु चतुर्व्यूहस्य वक्ष्यते

८९. पूर्वार्द्धस्य त्वरामः स्यादिदुतावुत्तरस्य हि ।
विभक्तावयवात्तस्माच्छकारो द्विर्भवत्युत ।।

हरा३ इच्छत्रमेतत्ते; पटा३ उच्छत्रमित्यपि ।

अमृता०—८९. पूर्वेति । विचार-प्रश्न-पूजासु गम्यमानासु चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरस्य पूर्वार्द्धस्य आराम आदेशः सन् अधिकारमहापुरुषः स्यात् । उत्तरस्य इदुतौ इरामोरामौ आदेशौ हि निश्चितं स्यातां नतु महापुरुषौ इत्येव हि शब्दार्थः । उत पुनर्विभक्तः अवयवोऽङ्गं यस्य तस्मादिरामोरामस्वरूपात् छरामो द्विर्भवति । ननु दृष्टान्तद्वये हरे पटोरित्येतयो श्चतुर्व्यूहयोर्विश्लेषे स्वत एव अइ अउ इत्येवमवयव-विभागो भवत्येव, किंतर्हिकिलादेशेनेति चेत् ? मैवं, एरामस्याङ्गविभागे आइ, अई इत्यपि स्वरूपः सम्भवेत्, तथाऐरामस्य विभागे उत्तरस्य एराम-ओरामावेव सम्भवेतां, नतुइउरामौ । तस्मादादेशेनानेन तत्तत्सम्भावना निरासिता इतिज्ञेयम् । उदाहरति—हराइति । विचारे—एतच्छत्रं तेऽन्यस्यवेति विचार्यमाणे एतद्वचनम् । एवं पटा ३ इति । प्रश्नेछत्रमेतत्ते इतिज्ञीप्सायामुक्तिः । तथैव पटा ३ इति । पूजात्र प्रशंसावचनम्; तत्र—पटा ३ उच्छत्रमेतत्ते तुभ्यमिति ।

बाल०—प्रति । प्रतिश्रवणेऽर्थे वाक्यस्य संक्षारो महापुरुषः स्यात् । प्रतिश्रवणं त्रिधा भिद्यत इत्याह प्रतीति । अभ्युपगमो देयतया स्वीकारः । प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा । श्रवणाभिमुख्यं श्रवणेऽभिमुख्यता । क्रमेणोदाहरणत्रयमाह हरिमन्त्रमिति एवमुक्तप्रकारेण अन्येपि महापुरुषस्य प्रयोगा ज्ञेयाः । विधिवाक्यमाह विचारेति । विचार-प्रश्न पूजासु गम्यमानासु चतुर्व्यूहस्य महापुरुषत्वं वक्ष्यते । वक्तव्यं पूर्वार्द्धस्येत्यनेन इति शेषः ।।८८।।

बाल०—पूर्वा । विचारप्रश्नपूजासु गम्यासु चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरस्य पूर्वार्द्धस्या-पूर्वार्द्धस्यारामः सन् स तु महापुरुषः स्यात् । उत्तरस्य परार्द्धस्य इदुतौ इ उरामौ निश्चितं स्याताम् । हिशब्देन नियमात् तौ महापुरुषौ न स्याताम् । तस्मात् इउरामस्वरूपाद् विभक्तावयवाद् विभागीकृताङ्गात् पर उत पुनश्छकारो द्विर्भवति द्विप्रकारः स्यादित्यर्थः । सन्दिग्धे वस्तुनीत्यनेन विचार उक्तः । प्रश्नः ज्ञीप्सा । पूजा सत्कारव्यापारणा । चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरत्वात् सन्धिविश्लेषे कृते एओरामयोरुत्तरार्द्धस्य इरामोरामौ भवेताम् । ऐ-औ रामयोः परार्द्धस्य तु तौ न भवेतामिति वर्णस्वरूपनिरूपक-तप्रत्ययान्तौ इदुताविति दर्शितम् । उदाहरणे हरा इति हे हरे एतच्छत्रं तव भवति किं न वेत्यर्थः । एवं हे पटो एतच्छत्रं तव भवति किं न वेति च । अत्र तु हरिशब्दस्य भगवद्वाचित्वात् पटुशब्दस्य निपुणवाचित्वादादराधिक्येन पूज्यत्वं एतच्छत्रं तव किं न वेत्यनेन तु युगपत् प्रश्न-विचारत्वमिति ।।८९।।

९०. ओरामस्य बुद्धनिमित्तस्येतौ सन्धिर्वा ।

बुद्धिनिमित्तको य ओरामस्तस्य सन्धिर्वा स्यादिति शब्दे परे। बुद्ध-संज्ञा च वक्ष्यते। विष्णोइति विष्णविति वा। बुद्धनिमित्तस्येति किम्—गवित्ययमाह । अत्रानुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वादसत्यर्थवत्त्वे विष्णुभक्तिर्नोपपद्यते । विष्णुभक्तिसंज्ञा च वक्ष्यते ।

९१. ईशस्यानेकात्मके वामनश्च वा ।

अमृता०—९०. ओरामस्येति । बुद्धनिमित्तक इति पीताम्बरसमासे कः । वक्ष्यत इतिसम्बोधने सुर्बुद्धसंज्ञ इत्यनेननेतिशेषः । व्यावृत्तिमाह–गवित्ययमाहेति । गौरिति वक्तव्ये केनचित् वाक्शक्ति–वैकल्याद् "गो" इत्युक्तम्, तमन्यो यदानुकरोति तत्रैतत् प्रत्युदाहरणं ज्ञेयम् । अत्रेति––अनुक्रियते यः सोऽनुकार्यः, प्रथमोक्तशब्दः । येनानुक्रियते सोऽनुकरणः; पश्चादुक्तः । अयमाशयः,––शाब्दिका खलु अनुकार्यानुकरणयोः शब्दयो––विवक्षया भेदमभेदञ्च स्वीकुर्वन्ति । तत्रानुकार्यानुकरणयो र्भेदविवक्षायामनुकरणस्य भिन्नशब्दत्वा दर्थ वत्त्वैन नामत्वं, तेन च विष्णुभक्तिः प्रयुज्यत एव । तयोरभेद विवक्षायान्तु अनुकरण-स्यानुकार्यादभिन्नत्वान्न हि पृथगर्थत्त्वम् । ततश्च "अधातुविष्णुभक्तिकमर्थवन्नाम" इति नियमानुसारेण न तस्यनामत्वं नवा तत्र विष्णुभक्तिराप्तव्या, किन्तु "नापदं शास्त्रे प्रयुञ्जीते" ति शास्त्रशासनानुरोधेन साधुत्वं मतम् । तथा च वैयाकरणभूषणसारे––"अतएव गवित्याह भू सत्तायामितीदृशम् । नप्रातिपदिकं नापि पदं साधु तु तत्स्मृतम् ।। इति । अत्रानुकार्यानुकरणयो र्भेदे सति "गौरित्ययमाह" इत्येवंसविष्णुभक्तिकं रूपं स्यात् । तथाहि न्यासकाराः––"अत्रानुक्रियमाणस्यानुकरणस्य यदिभेदो विवक्ष्यते ततोऽर्थवत्त्वात् सत्यां स्याद् विभक्तिः । सतु न विवक्ष्यत इतिकुतस्तस्याः प्रसङ्ग । नहीह शब्दशास्त्रे वस्तुनः सत्त्व शब्दसंस्कारस्य प्रधानं कारणं, किंतर्हि ? विवक्षा च, साचेह नास्तीति" ।

अमृता०—९१. ईशस्येति । वृत्त्युदाहरणानि स्पष्टानि । ननु "अन्यत्रचानित्य मिष्यत" इति परिभाषयैव सन्धेर्विकल्पत्वसिद्ध वामिन विधानमेवात्र युक्तं स्यात्, किं तर्हि असन्धिविधानेनेति चेतत्राह–अन्यत्रेति । अत्र तुविधानसामर्थ्यान्मिध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि

बाल०—ओरा । वृत्तिमाह बुद्धेति । बुद्धे निमित्तं यस्येति पीताम्बरे कप्रत्ययः । वक्ष्यत इति सम्बोधने सुर्बुद्धसंज्ञा इत्यनेनेति शेषः । बुद्धनिमित्तौरामादन्यत्र तु न स्यादिति व्यावर्त्तयति बुद्धेति । अयं जनो गो इति वक्तीत्यर्थः । अत्रेति गोशब्दोऽनुकार्य्यो गोव्यक्तिबोधकः अनुकरणः गोशब्दमात्रबोधकोऽपि स एव किन्त्वत्र तयोरनुकार्य्यानुकरण-भूतयोर्गोशब्दयोर्भेदो न विवक्षित इत्यविवक्षितत्वादुन्मत्त-प्रलपितवदनर्थवत्त्वं तस्मिन्नर्थवत्त्वे सति गवित्यत्र विष्णुभक्तिर्नोपपद्यते नोपपन्ना भवति । अर्थवत्त्वेनैव नामसंज्ञस्य वक्ष्यमाण-त्वादिति बुद्धनिमित्ताभावात् सन्धिरित्यभिप्रायो वक्ष्यते इति 'स्वादितिवाद्या विष्णुभक्तयः' इत्यनेनेति शेषः ।।९०।।

प्रतिश्रवणमभ्युपगमः प्रतिज्ञानं श्रवणाभिमुख्यञ्च । हरिमन्त्रं देहि, हरिमन्त्रं ददामी३ । हरिभक्तिर्नित्या भवितुमर्हती३ । विष्णुमित्र भो किमात्था३ । एवमन्येऽपि ज्ञेयाः । विचार-प्रश्न-पूजासु चतुर्व्यूहस्य वक्ष्यते

८९. पूर्वार्द्धस्य त्वरामः स्यादिदुतावुत्तरस्य हि ।
विभक्तावयवात्तस्माच्छकारो द्विर्भवत्युत ॥

हरा३ इच्छत्रमेतत्ते; पटा३ उच्छत्रमित्यपि ।

अमृता०—८९. पूर्वेति । विचार-प्रश्न-पूजासु गम्यमानासु चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरस्य पूर्वार्द्धस्य आराम आदेशः सन् अधिकारमहापुरुषः स्यात् । उत्तरस्य इदुतौ इरामोरामौ आदेशौ हि निश्चितं स्यातां नतु महापुरुषौ इत्येव हि शब्दार्थः । उत पुनर्विभक्तः अवयवोऽङ्गं यस्य तस्मादिरामोरामस्वरूपात् छरामो द्विर्भवति । ननु दृष्टान्तद्वये हरे पटोरित्येतयो श्चतुर्व्यूहयोर्विश्लेषे स्वत एव अइ अउ इत्येवमवयव-विभागो भवत्येव, किंतर्हिकिलादेशेनेति चेत् ? मैवं, एरामस्याङ्गविभागे आइ, अई इत्यपि स्वरूपः सम्भवेत्, तथाऐरामस्य बिभागे उत्तरस्य एराम-ओरामावेव सम्भवेतां, नतुइउरामौ । तस्मादादेशेनानेन तत्तत्सम्भावना निरासिता इतिज्ञेयम् । उदाहरति—हराइति । विचारे—एतच्छत्रं तेऽन्यस्यवेति विचार्यमाणे एतद्वचनम् । एवं पटा ३ इति । प्रश्नेछत्रमेतत्ते इतिज्ञीप्सायामुक्तिः । तथैव पटा ३ इति । पूजात्र प्रशंसावचनम्; तत्र—पटा ३ उच्छत्रमेतत्ते तुभ्यमिति ।

बाल०—प्रति । प्रतिश्रवणेऽर्थे वाक्यस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । प्रतिश्रवणं त्रिधा भिद्यत इत्याह प्रतीति । अभ्युपगमो देयतया स्वीकारः । प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा । श्रवणाभिमुख्यं श्रवणेऽभिमुख्यता । क्रमेणोदाहरणत्रयमाह हरिमन्त्रमिति एवमुक्तप्रकारेण अन्येपि महापुरुषस्य प्रयोगा ज्ञेयाः । विधिवाक्यमाह विचारेति । विचार-प्रश्न पूजासु गम्यमानासु चतुर्व्यूहस्य महापुरुषत्वं वक्ष्यते । वक्तव्यं पूर्वार्द्धस्येत्यनेन इति शेषः ॥८८॥

बाल०—पूर्वा । विचारप्रश्नपूजासु गम्यासु चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरस्य पूर्वार्द्धस्या-पूर्वार्द्धस्यारामः सन् स तु महापुरुषः स्यात् । उत्तरस्य परार्द्धस्य इदुतौ इ उरामौ निश्चितं स्याताम् । हिशब्देन नियमात् तौ महापुरुषौ न स्याताम् । तस्मात् इउरामस्वरूपाद् विभक्तावयवाद् विभागीकृताङ्गात् पर उत पुनश्छकारो द्विर्भवति द्विप्रकारः स्यादित्यर्थः । सन्दिग्धे वस्तुनीत्यनेन विचार उक्तः । प्रश्नः ज्ञीप्सा । पूजा सत्कारव्यापारणा । चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरत्वात् सन्धिविश्लेषे कृते एओरामयोरुत्तरार्द्धस्य इरामोरामौ भवेताम् । ऐ-औ रामयोः परार्द्धस्य तु तौ न भवेतामिति वर्णस्वरूपनिरूपक-तप्रत्ययान्तौ इदुताविति दर्शितम् । उदाहरणे हरा इति हे हरे एतच्छत्रं तव भवति किं न वेत्यर्थः । एवं हे पटो एतच्छत्रं तव भवति किं न वेति च । अत्र तु हरिशब्दस्य भगवद्वाचित्वात् पटुशब्दस्य निपुणवाचित्वादादराधिक्येन पूज्यत्वं एतच्छत्रं तव किं न वेत्यनेन तु युगपत् प्रश्न-विचारत्वमिति ॥८९॥

९०. ओरामस्य बुद्धनिमित्तस्येतौ सन्धिर्वा ।

बुद्धिनिमित्तको य ओरामस्तस्य सन्धिर्वा स्यादिति शब्दे परे । बुद्धसंज्ञाच वक्ष्यते । विष्णोइति विष्णविति वा । बुद्धनिमित्तस्येति किम्—गवित्ययमाह । अत्रानुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वादसत्यर्थवत्त्वे विष्णुभक्तिर्नोपपद्यते । विष्णुभक्तिसंज्ञा च वक्ष्यते ।

९१. ईशस्यानेकात्मके वामनश्च वा ।

अमृता०—९०. ओरामस्येति । बुद्धनिमित्तक इति पीताम्बरसमासे कः । वक्ष्यत इतिसम्बोधने सुर्बुद्धसंज्ञ इत्यनेननेतिशेषः । व्यावृत्तिमाह–गवित्ययमाहेति । गौरिति वक्तव्ये केनचित् वाक्शक्ति–वैकल्याद् "गो" इत्युक्तम्, तमन्यो यदानुकरोति तत्रैतत् प्रत्युदाहरणं ज्ञेयम् । अत्रेति––अनुक्रियते यः सोऽनुकार्यः, प्रथमोक्तशब्दः । येनानुक्रियते सोऽनुकरणः; पश्चादुक्तः । अयमाशयः,––शाब्दिका खलु अनुकार्यानुकरणयोः शब्दयो––र्विवक्षया भेदमभेदश्च स्वीकुर्वन्ति । तत्रानुकार्यानुकरणयो र्भेदविवक्षायामनुकरणस्य भिन्नशब्दत्वा दर्थवत्त्वेन नामत्वं, तेन च विष्णुभक्तिः प्रयुज्यत एव । तयोरभेद विवक्षायान्तु अनुकरणस्यानुकार्यादभिन्नत्वान्न हि पृथगर्थत्त्वम् । ततश्च "अधातुविष्णुभक्तिकमर्थवन्नाम" इति नियमानुसारेण न तस्यनामत्वं नवा तत्र विष्णुभक्तिराप्तव्या, किन्तु "नापदं शास्त्रे प्रयुञ्जीते" ति शास्त्रशासनानुरोधेन साधुत्वं मतम् । तथा च वैयाकरणभूषणसारे—"अतएव गवित्याह भू सत्तायामितीदृशम् । नप्रातिपदिकं नापि पदं साधु तु तत्स्मृतम् ॥ इति । अत्रानुकार्यानुकरणयो र्भेदे सति "गौरित्ययमाह" इत्येवंसविष्णुभक्तिकं रूपं स्यात् । तथाहि न्यासकाराः––"अत्रानुक्रियमाणस्यानुकरणस्य यदिभेदो विवक्ष्यते ततोऽर्थवत्त्वाय्ां सत्यां स्याद् विभक्तिः । सतु न विवक्ष्यत इतिकुतस्तस्याः प्रसङ्ग । नहीह शब्दशास्त्रे वस्तुनः सत्त्व शब्दसंस्कारस्य प्रधानं कारणं, किंतर्हि ? विवक्षा च, साचेह नास्तीति" ।

अमृता०—९१. ईशस्येति । वृत्त्युदाहरणानि स्पष्टानि । ननु "अन्यत्रचानित्य मिष्यत" इति परिभाषयैव सन्धेर्विकल्पत्वसिद्ध र्वामिन विधानमेवात्र युक्तं स्यात्, किं तर्हि असन्धिविधानेनेति चेतत्राह–अन्यत्रेति । अत्र तुविधानसामर्थ्यान्मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि

बाल०—ओरा । वृत्तिमाह बुद्धेति । बुद्धं निमित्तं यस्येति पीताम्बरे कप्रत्ययः । वक्ष्यत इति सम्बोधने सुर्बुद्धसंज्ञा इत्यनेनेति शेषः । बुद्धनिमित्तौरामादन्यत्र तु न स्यादिति व्यावर्त्तयति बुद्धेति । अयं जनो गो इति वक्तीत्यर्थः । अत्रेति गोशब्दोऽनुकार्य्यो गोव्यक्तिबोधकः अनुकरणः गोशब्दमात्रबोधकोऽपि स एव किन्त्वत्र तयोरनुकार्य्यानुकरणभूतयोर्गोशब्दयोर्भेदो न विवक्षित इत्यविवक्षितत्वादुन्मत्त-प्रलपितवदनर्थवत्त्वं तस्मिन्नर्थवत्त्वे सति गवित्यत्र विष्णुभक्तिर्नोपपद्यते नोपपन्ना भवति । अर्थवत्त्वेनैव नामसंज्ञस्य वक्ष्यमाणत्वादिति बुद्धनिमित्ताभावात् सन्धिरित्यभिप्रायो वक्ष्यते इति 'स्वादितिवाद्या विष्णुभक्तयः' इत्यनेनेति शेषः ॥९०॥

ईशसंज्ञस्य एकात्मकान्य सर्वेश्वरे परे सन्धिर्वा स्यात्; त्रिविक्रमस्य वामनश्च वा । हरि आसनम्, रुक्मिणि एषा रुक्मिणी एषेति । अन्यत्र चानित्यमिष्यत इति मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्न स्यादित्यर्थः । सूत्रेषु तु संहिता संज्ञेषु शीघ्रोच्चारणेऽपि विकल्प्यते ।

९२. ऋद्वयाद्वययोर्ऋति ।

विभाषेति विशेषः । ननु । चास्त्वेवं यदि "अन्यत्र चानित्यमिष्यते" इत्यनेन मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धेर्विभाषा स्यात्तदा तेनैव सूत्रेष्वपि विभाषा-सिद्धे किमर्थमनित्यंसूत्र निर्देश इति वचनम् ? तदेवाचष्टे—सूत्रेष्वित्यादि । संहिता परसन्निकर्षः, निरतिशयमानन्तर्यम् अर्द्धमात्राकालमात्रेणाव्यवाय इति प्राचीनाः । साचासौ संज्ञा चेति संहितासंज्ञा, साविद्यते येषां तानि संहिता संज्ञानि; तेषुसूत्रेषु, अर्थाद् यत्र-यत्र परसन्निकर्षत्वात् सन्धिकार्यं प्राप्नोति तत्रतत्रास्मद्ग्रन्थसूत्रेषु मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि सन्धे र्विकल्पत्वमिष्यत इति सूत्रनिर्देशे तदनित्यतोक्तेःसार्थक्यम् । यथा—"कृष्णस्य ए वैष्णवे वहुत्वे" इत्यादीनि । किञ्च—संहितासंज्ञायां संहिताधिकारनिविष्टानि यानि सूत्राणि तानि संहितासूत्राणि, तेष्वपि वैकल्पिकप्रयोगेषु (असन्धिपक्षेषु) शीघ्रोच्चारणेऽपि सन्धिर्नस्यादिति वैशिष्टचम् । काशिका-भाषावृत्त्यादि प्राचीन पाणिनीय सूत्रानुक्रमे षष्ठाध्याय प्रथमपादस्यात् ७२ संख्यकसूत्रादारम्य १५८ संख्यकसूत्रं यावत् संहिताधिकारो द्रष्टव्यः । तत्रैव "इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्चे" त्यादि सूत्राण्युक्तानि । तद्विषयक एवायं सिद्धान्तो ज्ञेयः । तेनहरि आसनमित्याद्यसन्धिपक्षे शीघ्रोच्चारणेऽपि सन्धि र्न स्यादिति निष्कर्षः । संहिताधिकारात् तदुपयोगि समयेनैवोच्चारणमवश्यम्भावीति दिक् ।

इह नित्यसमासाविष्णुपदान्ताभ्यामन्यत्रैवायं सन्ध्यभावो वामनश्च ज्ञेयः, निकटे एव तन्निर्दिश्यमानत्वात् । ईशस्येति किम्—यादवेन्द्रः । अनेकात्मक इतिकिम्—रुक्मिणीशः ।

अमृता०—९२. ऋद्वयेति । समासेऽप्ययं निषेधः प्रवर्त्तत इति माघपद्योदाहरणेन

बाल०—ईश । विवरणोदाहरणे स्पष्टे । वामनविधानं त्रिविक्रमे एव सम्भवतीति त्रिविक्रमस्येत्युक्तं ननु हरि आसनमित्यादौ कथमनेन विभाषाक्रियते अन्यत्र चानित्यमिष्यत इत्यनेन सन्धिविभाषाया अवश्यम्भावित्वादिति चेत् तत्राह,—अन्यत्रेति अन्यत्र चानित्यमिष्यत इति इत्यस्य मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्न भवतीत्यर्थः । अन्यत्र चेत्यनेन मध्ये विलम्बोच्चारणे, सति सन्धिर्न स्यात् । अत्र तु सूत्रकरणान्मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि विभाषा इत्यभिप्रायः । ननु यदि अन्यत्र चेत्यत्र मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्व्विकल्प्यते तर्ह्येकत्र पाठात् अनित्यं सूत्रनिर्द्देश इत्यत्रापि मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्विभाष्यते इति चेत् तत्राह सूत्रेषु त्विति सूत्रेषु तु संहितासंज्ञेषु च नेयं व्यवस्था किन्तु सूत्रेत्यत्र मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि विकल्प्यते । इति पूर्वोक्तस्य विषयविभागः प्रतिपादितः । तत्र सूत्रे यथा कृष्णात् टा इनः । ते आते अन्ते इत्यादिः । संहितायां यथा । या तुष्टराजऋषये वृतादात् पुरवे वरमित्यादिः । अन्यत्र चेति छन्दसि यथासत्त्वं रजस्तम इति अहंकारश्चभुंज इत्यादिः ।।९१।।

अनयोर्ऋ ति परे सन्धि र्वा स्यात् त्रिविक्रमस्य वामनश्च वा। स्रष्ट ऋषभः,यादव ऋषभः। हिमऋतावपि ताः स्म भृश-स्विद इति माघः। माला ऋषभस्य माल ऋषभस्य इति च। पक्षे यथाप्राप्तं हर्यासन मित्यादि।

६३. न नित्य समासे नचाविष्णुपदान्ते निषेधवामनौ।

हर्यर्थम्, कुमार्यौ।

६४. उञः सन्ध्यभावः ऊं वश्चेतौ।

सूचयति—हिमऋताविति। हिमऋतौ शीतऋतौ अपि ता युवतयः भृशस्विदः अतिशय-घर्मयुक्ताः सत्यः रमयन्ति स्मेति शेषः। भृशस्विदः इति क्विबन्तः।

अमृता०—६३. न नित्येति। नित्यसमासे अविष्णुपदान्ते च विषये पूर्वोक्तौ निषेध-वामनौ न स्याताम्। नित्यसमासे सन्धि नित्यंभवतीत्यर्थः। नित्यसमासानां स्वपद विग्रहो नास्तीत्यनेन तल्लक्षणं वक्ष्यते। हर्यर्थमिति—हरये इदमित्यर्थ कथनं नतु विग्रहः। इदं-वाच्यर्थशब्देन चेति समाससूत्रम्। एवंमध्विवेत्यत्रापि "इवेन नित्यसमासो विष्णुभक्तय-लोपश्चे"—त्यनेन नित्यसमासे सन्धि नित्यमेव भवति। कुमार्याविति—कुमारी च कुमारी चेत्येकशेषे कुमारी शब्दात् औ, इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे इति यरामः।

अत्र वार्त्तिकश्चनित्यसमासएव सन्धेर्विभाषां निषिध्यति भाष्यकारस्तु समासमात्रे। वामन-जयादित्य-पुरुषोत्तम पद्मनाभादि वहुसम्मतत्वादस्मद्ग्रन्थकारेण तु भाष्यमत मुपेक्षितमिति द्रष्टव्यम्।

अमृता०—६४. उञ इति। इति शब्दे परे उञ् अव्ययस्य सन्ध्यभावः प्रकृति भावः, उञः स्थाने ऊं आदेशस्तथा पक्षे वरामादेशश्च भवति। वश्चेति "उद्वयं वः" इत्य-नेन हि प्राप्तो व रामः स्यात्। उञः ञराम इत्। उञः अनन्ताव्ययत्वात् "ओरामा-न्तानामित्यादिना नित्यं निषेधे प्राप्ते विभाषेयं विशेषविधानञ्चेदम्।

बाल०—ऋद्व। सुगमम्। ऋषभः श्रेष्ठः। सूत्रे ऋतीति ऋरामे परे न ऋद्रूपे शब्दे इति सोदाहरणे न दृढीकृतमत्यतिदार्ढ्याय मामोदाहरणमुपन्यस्यति हिमेति हिमऋतावपि ता श्यामाः स्त्रियः भृशःस्विदः अतिशय्येन स्वेदयुक्ताः स्म इत्यर्थः। पूर्वोक्तसूत्रानुसारेण यथाप्राप्तं हर्यासनमित्याद्यपि स्यादित्याह पक्ष इति ॥६२॥

बाल०—न नि। नित्यसमासे सति निषेध वामनौ न भवतः। अविष्णुपदान्ते च तौ न भवतः। हर्यर्थमिति हरये इदमित्यर्थे इदंवाच्यर्थशब्देन चेति कुमार्यावित्येकशेषे कृते कुमारीशब्दाद् औ इद्वयमेव यः सर्वेश्वर इति यरामः। ररामस्य पूर्वोर्ध्वगमनम् उरामस्य पूर्वविष्णुजने प्रवेशः ॥६३॥

बाल०—उञः। सन्ध्यभावो भवति तस्मिन् परे उञः स्थाने ऊँ भवति वश्च ॥६४॥

८५. विष्णु गणाद्वो वा सर्वेश्वरे ।

उ इति ऊं इति विति । किमु उक्तं किम्बुक्तम् । किमु इति किम्विति इत्यपि वोद्धव्यम् । विष्णुगणात् किम् ? नञूक्तम् । अद्येव हलीशा

अमृता०—८५. विष्णुगणादिति । सर्वेश्वरे परे विष्णुगणादुत्तरस्य उञः सन्ध्यभावः, विभाषया वरामश्च भवति । पूर्वसूत्रस्य क्रमेणोदारणत्रयं दर्शयति—उइतीत्यादिभिः । परसूत्रस्योदाहरण द्वयं—किमु उक्तमित्यादि । अत्र न तु त्रिविक्रमः, विधानाभावात् । विष्णुगणादित्यनेन पूर्वसूत्रात् परस्य वलवत्त्वं ज्ञापयति—किमु इतीत्यनेन । इह सत्यपीति शब्दे परे विष्णु गणादुत्तरस्य उञः सन्ध्यभावो वरामश्च भवति नतु ऊं भावः पूर्व निमित्त वैशिष्ट्यात् । व्यावृत्तिमाह—नञूक्तमिति । ञरामस्य विष्णुगणात्वाभावाद् उञो नासन्धि र्न वा वरामः । किन्तु दशावतार इत्यादिना त्रिविक्रम एव । अत्र नञ् साहचर्यतया उञः केवलत्वाभावादोरामान्तानामित्यादिना अनन्तव्ययीय-निषेधस्तु न ।

ननु अद्येव हलीशा इत्यादयस्तु प्रयोगाः प्राचीनशब्दानुशासनेषु सन्धिप्रकरणे हि साधिता दृश्यन्ते, तत् कथमिहत्यक्तास्ते ? तत्राह—आख्यात-समासयोर्वक्ष्यन्त इति । तत्र च हेतुं निर्दिशति—दुर्गमत्वादिति । प्रथमतश्छात्राणां सुकोमलमतितया क्लिष्टविषय-ग्रहणाशक्तेः ।

यत आख्यात-तद्धित-कार्य-निरपेक्षतया त्वेषां साधनं सुतरामशकम् । तेनासिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञायाश्च नात्र व्यभिचारः । तत्र अद्येवेति—अद्वयस्य हरलवेऽनवधारण इतिसमासकार्येण । हलीशेति—शकन्ध्वादयोऽरामहरेण साधव इति समासकार्येण ।

बाल०—विष्णु । सर्वेश्वरे परे विष्णुगणादुत्तरस्य उञः सन्ध्यभावो भवति वस्तु वा भवति । प्रथमसूत्रस्य क्रमेणोदाहरणत्रयं दर्शयति उ इतीत्यादि । यद्यपि परत्र सर्वेश्वर इत्युक्तं, तथापि पूर्वोक्तेति शब्दस्य विशेषत्वात् इति परे विष्णुगणादुत्तरस्यापि उञः पूर्वोक्तविधिरेवेत्यतः पुनरपि पूर्वोक्तोदाहरणान्युपन्यस्यति किमु इतीत्यादि । किन्तु किमु इतीत्यस्मात् परं किमुम् इतीति लिपिकरप्रमादात् पतितम् । विष्णुगणादन्यस्मात् परस्य तु न स्यादित्याह विष्णुगणात् किमिति । पक्षेऽपि 'अरामान्तानामनन्तानाञ्चाव्ययानां सर्वेश्वरे' इत्यनेनासन्धिरेव नञूक्तमिति प्रत्युदाहरणन्तु बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते । लिपिकर-प्रमादकृतं नञू उक्तमित्येव ज्ञेयं सन्धिनिषेधस्याऽपरिहार्यत्वात् किम्बा ऊञ इति पृथङ्-निर्देशात् ञोऽनन्तत्वेन केवलाव्ययत्वाभावाच्च नञूक्तमिति प्रत्युदाहरणमपि संगच्छते । इति शब्दे तु पूर्ववदेवेत्याह नञू ईतीत्यादिः । दुर्गमाः सन्धयो वहवः सन्ति, तेषां दुर्गमत्वात् प्रथमतश्छात्राणामनधिकाराच्चातोदाहरणमनुचितमित्याह अद्येवेत्याह वक्ष्यन्ते इति । तत्र अद्येवेति अद्वयस्य हर एवेऽनवधारणे इत्यनेन । हलीशेति शकन्ध्वादयोऽरामहरेण साधव इत्यनेन । प्रार्च्छतीति । उपेन्द्रात्त्रिविक्रम नामधातौ तु वा तदलश्च न तु त्रिविक्रम-भवस्येत्यननेन । ऋणार्णमीति ऋण-प्रवसनवत्सरःदशा-कम्बलानां मिलित्वा वृष्णीन्द्र ऋणे इत्यनेन गोऽयमिति गवरामो वा सन्धिरित्यनेन गवेन्द्रो गवेश अवेन साधुरित्यनेन वक्ष्यते

प्राच्छंति ऋणार्णं गोऽग्रं गवेन्द्र इत्यादयस्त्वाख्यात-समासयोर्वक्ष्यन्ते दुर्गमत्वात् ।

॥ इति सर्वेश्वर सन्धिः ॥

प्राच्छंतीति उपेन्द्रारस्त्रिविक्रम इत्याख्यात कार्येण । ऋणार्णमिति—ऋणप्रवसन वत्सर दशकम्बलानां मिलित्वा वृष्णीन्द्रऋणे इति समासकार्येण । गोऽग्रमिति—गोररामे वा सन्धि रिति समासकार्येण । गवेन्द्र इति—गवेन्द्रो गवेशे अवेन साधुरिति समासकार्येण निष्पन्नः ।

॥ इति सर्वेश्वर सन्धि-व्याख्या समाप्ता ॥

इति शेषः । इत्यादय इत्यादि शब्दात् पुनराख्याते संपर्युपेभ्यः सुट् करोतौ संस्काराद्यर्थेष्वि-त्यादिना संस्करोतीत्यादयो ज्ञेयाः । समासे तु तवोष्ठयोस्तु वेत्यादिना श्यामोतु श्यामौतु-रित्यादयो ज्ञेयाः ॥६५॥

॥ सर्वेश्वरसन्धि समापयति इतीति ॥



अथ विष्णुजन सन्धिः प्रकरणम्

९६. विष्णुदासो विष्णुपदान्ते हरिघोषे च हरिगदा ।

विष्णुपदान्ते विषये हरिघोषे च परे सति अविष्णु पदान्ते च विष्णुदास नामा वर्णः सवर्ग तृतीयः स्यात् । स्थाने सदृशतम इति न्यायेन। वाक् अच्युतस्य वागच्युतस्य । वाक्गोविन्दस्य वाग्गोविन्दस्य । षट् गोपिकाः षड्गोपिकाः । भगवत् इच्छा भगवदिच्छा । ककुभ् विष्णोः ककुब्विष्णोः । विष्णुपदादन्यत्र न । चतुर्थ्यां — कंसजित् ए कंसजिते। उदाहरणान्तरमग्रे ।

९७. हरिवेणौ हरिवेणुर्वा ।

अमृता०—९६. विष्णुदास इति । हरिघोषस्यग्रहणमविष्णु पदान्तार्थमिति वृत्तौ विवृणोति—अविष्णुपदान्ते चेति । चकाराद् विष्णुपदान्तेऽपि । ननु सूत्रे विष्णुदासो हरिगदा भवतीत्येतदुक्तम्, वृत्तौ तु सवर्ग तृतीयःस्यादिति कुतो लब्धमिति चेत्त्राह—स्थान इति । उच्चारण स्थाने प्राप्यमाणानामादेशः सदृशतमः अतिशय सदृशोभवतीति न्यायार्थः । तेनवाक्अच्युतस्येत्यत्र करामस्य सवर्गतृतीयो गराम एव नतु जरामादिः । ककुभ् शब्दो दिग्वाची । उदाहरणान्तरम्—अविष्णुपदान्तोदाहरणग्रे तिङन्तप्रकरणे वक्ष्यते । तत्तु दिग्ध इत्यादि वोध्यम् । एवमविष्णुपदान्तोदाहरणं प्रायश आख्यातप्रकरणे हि ज्ञेयम् ।

अथेति । अथानन्तरं सर्वेश्वरसन्धिनिरूपणान्तरं विष्णुजनसन्धिर्निरूप्यते इत्यर्थः ।

बाल०—विष्णु । विष्णुपदान्ते विषये वर्त्तमानो विष्णुदासनामा वर्णों हरिगदासंज्ञो भवन् समानवर्गस्य तृतीयवर्णः स्यात् हरिघोषे च परे सति अविष्णुपदान्ते । चकारात् विष्णुपदान्तेऽपि वर्त्तमानः स तद्वर्गतृतीयः स्यात् । ननु विष्णुदासः हरिगदा भवतीत्युक्तं, तर्हि कथं विष्णुदासः सबर्गतृतीयः स्यादित्युच्यते इति चेत् तत्र हेतुमाह स्थान इति । आदेशो भवन् स्थाने उच्चारणस्थाने सदृशतमोऽतिशयसदृशो भवतीति न्यायार्थः । अतः करामादिर्गरामादिरेव न तु जरामादिः + एवमन्यत्रापि । क्रमणोदाहरति वागित्यादि । ककुभ्शब्दो दिग्वाची । विष्णुपदान्तादन्यत्राऽविष्णुपदान्ते न स्यादित्यर्थः । तत्र चतुर्थ्या यथा । उदेति उदाहरणान्तरमविष्णुपदान्तोदाहरणमग्रे वक्तव्यमिति शेषः । तत्तु अवड्ढ्वमित्यादि । नन्वत्र सर्वेषूदाहरणेषु सर्वेश्वर गोपालयोरेव परनिमित्तताहश्यते, तर्हि कथं विष्णुदासो विष्णुपदान्ते सर्वेश्वर-गोपालयोर्हरिगदेति न कृतं एवं कुते हरिघोषस्यापि हरिगदान्तः-पातात् सर्वमनवद्यं स्यात् । मैवं तदुक्तानुरूपं सूत्रं यदि क्रियते तदा सुवन्तपादे वाक् वाग् षट् षडित्यादौ परनिमित्ताभावात् यथा विष्णुदासस्य हरिकमलं वा विरामे इति सूत्रमपेक्षते, तथा विष्णुदासस्य हरिगदा वा विरामे इत्यपेक्षा स्यात् । पुनर्हरिघोषे परेऽविष्णुपदान्ते विष्णुदासस्य हरिगदा न स्याच्चेत्यवधेयम् ॥९३॥

विष्णुपदान्ते वर्त्तमानो विष्णुदासो हरिवेणौ परे हरिवेणुर्वा स्यात्। सच स्थानिवर्गपञ्चमः। जगत् नाथः जगन्नाथः जगद्नाथः। कृष्णगुप् ञुङ्वे कृष्णगुम् ञुङ्वे कृष्णगुब् ञुङ्वे।

९८. यादवमात्रे हरिकमलम्।

विष्णुदासोयादवे परे तद्वर्गप्रथमं स्यात्। वाक् कृष्णस्य वाक् कृष्णस्य। अत्रविष्णुपदान्ते हरिगदा बाधनार्थमिदं सूत्रम्। मात्रग्रहणादविष्णु पदान्ते च। उदाहरणन्त्वग्रे।

९९. ततः शश्छो वा।

अमृता०—९७. हरीति। विष्णुदासस्यैव हरिवेणुपरत्वे विशेषविधिरयम्। विकल्प विधानाद् जगद्नाथ इति हरिवेण्वभावपक्षे पूर्वेणैव हरिगदा। स्थानीचासौ वर्गश्चेति स्थानिवर्गस्तस्य पञ्चमः। एकोच्चारणस्थान-वर्गस्य पञ्चम इत्यर्थः। यस्यस्थाने यआदेशो भवति स तत् सदृशः स्यादिति पूर्वन्यायेन। अत्र तरामस्य योहरिवेणुर्विहितः स च तवर्गस्यैव पञ्चमो नरामोभवतीति निष्कर्षार्थः। ञुङ्वे इति ङुशब्दे धातोरधोक्षजस्यरूपम्। विष्णुपदान्त इति किम्—वेद्मि।

अमृता०—९८. यादवेति। अयमपि प्रथमसूत्रस्यैवापवादः। ननूदाहरणे वाक् कृष्णस्येत्यत्र करामस्थाने करामविधानेन को लाभ इतिचेत्तत्राह—हरिगदावाधनार्थमिति। अकृतेऽस्मिन् सूत्रे प्रथमसूत्रवलेन हरिगदैव प्राप्नुयात्, ततो "बाग् कृष्णस्य" इत्यनिष्ट-रूपमापद्येतेतिभावः। मात्रग्रहणफलमाह—अविष्णुपदान्ते चेति। ततो यादवेपरे सति विष्णुपदान्ते अविष्णुपदान्ते च विष्णुदासो हरिकमलं भवतीति सरलार्थः। अविष्णुपदान्तो-दाहरणमग्रे तिङन्ते—भेत्स्यतीत्यादौ।

अमृता०—९९. तत इति। पूर्वतो विष्णुदास इत्यनुवृत्तेरिह वाच्यभूतं विष्णु दासं

बाल०—हरि। अत्र व्याकरणात् हरिवेण्वभाव पक्षे विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यनेन हरिगदा स्यात्। यस्य स्थाने य आदेशो विधीयते स आदेशस्तत्सदृशो भवतीत्याह स चेति। स च हरिवेणुर्भवन् स्थानिवर्गपञ्चम एव भवति। स्थानी चासौ वर्गश्चेति स्थानिवर्गस्तस्य पञ्चम इति विग्रहः। कृष्णगुप् कृष्णरक्षकः ञ्ङुव इति शब्दार्थस्य ङूधातोरधोक्षजस्य एप्रत्ययान्तम्॥९७॥

बाल०—याद। यद्वर्गविष्णुदास स्तद्वर्ग प्रथमः स्यादित्यन्वयः। अत्रापि स्थाने सदृशेति योज्यम्। ननु वाक् कृष्णस्येत्यत्र करामस्य स्थाने करामविधानेन किमिति चेत्तत्राह अत्रेति अत्र विष्णुदास इत्यनेन विष्णुपदान्ते प्राप्तहरिगदाया बाधनार्थमिति योज्यम्। यादवे इत्यकृत्वा यादवमात्र इति यत् कृतं तत्फलमाह मात्रेति। उदाहरणं त्वग्रे इति अग्रे आख्यातादौ तत्_ धत्ते धत्से इत्यादि॥९८॥

विष्णुदासात् परः शरामश्छरामो वा स्यात्। सुवाक् शौरिः, सुवाक् छौरि र्वा। अप् शायी, अप्छायी वा।

१००. नश्च्युतेरिति वाच्यम्।

वाक् श्च्योतति।

१०१. हो हरिघोषः।

विष्णुदासात् परो हराम स्तद्वर्गचतुर्थवर्णो वा स्यात्। वाक्हरेः वाग् घरेः वाग्हरेः। अच् हलौ अज्झलौ अज्हलौ। षट्हरेः षड्ढरेः षड् हरेः। तत् हलिनः तद्धलिनः तद्हलिनः। ककुभ्हरस्य ककुब्भरस्य ककुब्हरस्य।

पञ्चम्यन्त-तस् प्रत्ययेन निर्दिश्य वृत्तौ स्पष्टीकरोति—विष्णुदासात् पर इति। अप् शायी जलशायी नारायण इत्यर्थः। तत इतिकिम्—सुगण् शेते।

अमृता॰—१००. नश्च्युतेरिति। पूर्वसूत्रस्यैव प्रत्युदाहरणमिदम्। "छत्वममीति वक्तव्यमिति" वार्त्तिकसूत्रम्। विष्णुदासात् शरामस्येत्यनुवर्त्तते। तत्र सर्वेश्वर-हरिवेणु-हरिमित्र-हरामाणां 'अम्' संज्ञा। तच् श्लोकेन तच्छ्लोकेन, तच श्मशानं तच्छ्मशानम्। अमीति किम्—वाक्श्च्योततीति। अत्रपरनिमित्तस्य चरामस्य 'अम्' संज्ञत्वाभावात् शरामस्य न छरामः। अस्मद्ग्रन्थ-कृद्भिरेकस्यहेतोः अम् प्रतिरूपकसंज्ञामकृत्वा प्रतिषेध सूत्रेणैव तदुद्देश्यं समाहितम्। श्च्योततीति श्च्युतिर्क्षरणे इत्यस्याच्युतसिपि रूपम्। अपि च सुपद्मे,—शसि तु नित्यमिति वाच्यम्। तद्धिते—"संख्या परिमाणाभ्याञ्च वीप्सायामिति" शस् प्रत्यये तु परे नित्यं छरामः स्यात्। यथा यावत् शः यावच्छः। इति।

अमृता॰—१०१. हो हरीति। तद्वर्गेतियद्वर्गविष्णुदासात्परोहरामस्तिष्ठति स तद्वर्गस्यैव चतुर्थवर्णो वा स्यात्। पक्षे हरामस्य स्थितिश्च वाग्घरे अज्झलावित्यादौ हरिघोषे जाते पश्चाद् विष्णुदासो विष्णुपदान्ते इत्यादिना करामादे र्हरिगदागरामादिः। हलिनो वलरामस्येत्यर्थः। विष्णुदासादित्येव; अन्यस्मान्न, भवान् हसति।

बाल॰—ततः पूर्वत्र विष्णुदासस्योक्तत्वात् वृत्तौ तत इत्यस्यैव च भूतं विष्णुदासादित्युक्तं सुवाक् सुवचनः। अप्शायी जलशायी ॥९९॥

बाल॰—नश्च्यु। विष्णुदासात् परश्च्युतेः शरामश्छरामो न स्यादिति वक्तव्यम्। श्च्युतधातुः क्षरणार्थः। श्च्योततीत्यत्र सस्य शश्चवर्गयोगे इत्यनेन सरामस्य शरामप्राप्तौ प्रतिषेधोऽयम् ॥१००॥

बाल॰—हो विष्णिवति। यद्वर्गं विष्णुदासात् परोऽस्तद्वर्गस्यैव चतुर्थो वर्णो वा स्यात्। वाग्घरे इत्यादौ हरिघोषे कृते पश्चात् विष्णुदास इत्यनेन करामादेर्गरामादिः। हलिनो बलदेवस्य ॥१०१॥

१०२. द-तौ परवर्णौ ल-च-टवर्गेषु नित्यम् ।

दरामस्तरामश्च ले परे चवर्गे टवग च परे परो यो वर्णः स एवनित्यं स्यात् । तद्लक्ष्मीपतेः तल्लक्ष्मीपतेः । तत् चतुर्भुजस्य चच्चतुर्भुजस्य । कंसजित् छादयति, यादवमात्रे इत्यादि कंसजिच्छादयति । तत् जनार्दनस्य तज्जनार्दनस्य । कंसजित् झङ्कारः कंसजिझ् झङ्कारः । विष्णु दासइतिकंसजिज्झङ्कारः । तद्ञरामः तज्ञरामः । वा इति निवृत्तम् । तद्ञराम इत्यपि पाणिनीयाः । तन्मते पूर्वत्रासिद्धमिति न्यायेन तद्वर्ग तृतीयस्यैव स्थितिरिति । एवंणरामेऽपि । कंसजित् टीकते कंसजिट्टीकते कंसजित् ढौकते कंसजिड्ढौकते ।

अमृता०—१०२ दताविति । पूर्वतोऽनुवर्त्तमानस्य विकल्पस्य वाधनार्थं नित्यपद ग्रहणम् । यादवेति—यादवमात्रेहरिकमलमित्यनेन पूर्वछरामस्य चरामः । विष्णिवति—विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यनेन पूर्वझरामस्य जरामः । वाइतिनिवृत्तमिति—नित्यमित्युपादानादितिभावः । तद्ञराम इत्यपि पाणिनीया इति—अपिकारात् तञ्जरामः तज्ञराम इति च सिध्येत् । पूर्वत्रासिद्धमिति—व्याख्यास्य भाषावृत्तौ,—सपादसप्ताध्यायी —विधौ कर्त्तव्ये वक्ष्यमाणस्त्रिपादीविधिरसिद्धः स्यात् । त्रिपाद्यां च परपरो विधिरसिद्धः स्यात् पूर्वत्र कर्त्तव्ये इति । प्रकृते त्रिपाद्याञ्चेति शेषोक्तो न्यायः प्रवर्त्तते । तथाहि—तन्मते—"झलां जशोऽन्ते" (तृतीयवर्ण विधानं) इत्यस्य पूर्वं वर्त्तित्वात्—"स्तोः श्चुना श्चुः", "ष्टुना ष्टुः", "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" (च वर्ग ट वर्ग विधानं, पञ्चमवर्ण विधानञ्च) इत्येतेषां परत्वान्न सर्वएतेऽसिद्धाः, प्रागुक्त "झलामिति सूत्रेण तृतीयवर्णे कर्त्तव्ये । ततः सर्वेषां वाधकतया तस्यैव स्थितिः । यदा तु तृतीयवर्णो न क्रियते तदा—यरोऽनु—नासिक इत्यनेन विभाषया पञ्चमवर्णोभवति । पक्षे 'स्तो' रित्यादिना चवर्गत्वादि । एवञ्च तद्ञरामः तञ्ञरामः तज्ञराम इति रूपत्रयं तन्मते सिध्यति । एवं णरामेऽपीति—तद्णरामः तण्णरामः तड्णराम इति च । टीकते ढौंकते इति टीकृ ढौकृ गतौ इत्येतयोरच्युतप्रथमपुरुषैकवचनेरूपम् ।

बाल०—दतौ । छादयतीति छदधातुरपवारणार्थः । यादवेति यादवमात्रे हरिकमलमित्यनेन छरामस्य चराम इति शेषः । झङ्कार इति शब्दविशेषः । विष्णिवति विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यनेन झरामस्य जराम इति शेषः । वेति सूत्रे नित्यशब्दोपादानात् हरिवेणौ हरिवेणुर्वेत्यनेनानुवर्त्तमानस्य वा इत्यस्य निवृत्तिः । तद्ञराम इत्यपि भवतीति पाणिनीया वदन्ति । तन्मत इति पाणिनीयमते ञरामस्य चवर्गत्वं पूर्वत्रासिद्धं हरिवेणुत्वन्तु सिद्धमेव, अतो हरिवेणौ हरिवेणुर्वेत्यनेन हरिवेणुर्भवति पक्षेऽपि चवर्गत्वासिद्धत्वात् दरामस्य स्थितिरिति । एवमिति एवमुक्तप्रकारेण पाणिनीयानां मते णरामेऽपि तद्वर्गतृतीयस्य स्थितिरिति । तत् णरामः तद् णरामः उत्युदाहरणम् । टीकृ ढौकृ गतौ ॥१०२॥

१०३. तश्च शे ।

तरामः शरामे परे चरामः स्यात् । तत्शौरेः तच्शौरेः । पक्षे छत्वं तच्छौरेः ।

१०४. नोऽन्तश्चछयोः शरामो विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा ।

नरामो विष्णुपदान्तश्चछयोः परयोः शरामः स्यात् । सच विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा । भवान् चलति, भवांश्चलति, भवाँश्चलति । भगवान् छादयति, भगवांश्छादयति भगवाँश्छादयति ।

१०५. टठयोः षरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तष्टठयोः परयोः षरामः स्यात् । सच विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा । भगवान् टीकते, भगवांष्टीकते, भगवाँष्टीकते । भगवान् ठक्कुरः भगवांष्ठक्कुरः, भगवाँष्ठक्कुरः ।

१०६. तथयोः सरामः ।

नरामो विष्णुपदान्त स्तथयो, परयोः सरामः स्यात् । सच विष्णुचक्र पूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा । भगवान् तरति, भगवांस्तरति, भगवाँस्तरति । भगवान्थूत्करोति, भगवांस्थूत्करोति, भगवाँस्थूत्करोति ।

अमृता०—१०३. तश्चेति । पक्षेछत्वमिति ततः शश्छोवेत्यनेन ।

अमृता०—१०४. नोऽन्तइति । विष्णुपदान्तः – विष्णुपदान्ते स्थित इत्यर्थः । विष्णु पदान्तस्यानुवर्त्तमानेऽपि तद्ग्रहणमत्रस्पष्टतार्थम् ।

अमृता०—१०५. टठयोरिति सुगमम् ।

अमृता०—१०६. तथयोरिति तरतीति तृ प्लवनतरणयोर्धातोरच्युत-तिवन्तम् । तरणं नद्यादेः पारगमनम् । श्रीकृष्णोरामघट्टे यमुनामुत्तीर्य गोवर्द्धनसन्निहिते शट्टींकराख्य स्थाने कियन्तं कालमुवास इति श्रीगोपालचम्पूमतम् । विष्णुपदान्तादन्यत्र न-भवन्तौ ।

बाल०—तश्च । पक्षे छत्वमिति ततः शश्छो वेत्यनेनेति शेषः ।।१०३।।

बाल०— नोऽन्तः । विष्णुपदान्त इति विष्णुपदान्तस्थित इत्यर्थाल्लभ्यते चरधातु-र्गत्यर्थः।।१०४।।

बाल०—टठयोः । टे उदाहरणमुक्त्वा ठे उदाह्रियते । भगवान् ठक्कुर इति ।।१०५

बाल०—तथ । तरतीति तृधातुरत्र तरणार्थः । तरणं नद्यादेः पारगमनम् । तत्तु अत्र यमुनाया ज्ञेयम् । यमुनामुत्तीर्य नन्दगोकुलमायत इत्युक्तदिशा ।।१०६।।

१०७. नतुसे ।

तुसे परे नरामो विष्णुपदान्तो विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा सरामो न स्यात् । भगवान् तुसरुः । कान् कान् इत्यत्र कांस्कानिति वाच्यं वा ।

१०८. प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुः ।

विष्णुपदान्तस्य प्रशानो नरामस्य चछटठतथेषु परेषु परवर्णानुरूपो हरिवेणुर्भवति । प्रशान् चतुर्भुजः प्रशाश्चतुर्भुजः । प्रशान्छादयति प्रशाञ्छादयति । प्रशाण्टीकते प्रशाण्टक्कुरः, प्रशान्तरति ।

अमृता०—१०७. न तुसे इति । पूर्वसूत्रस्य प्रत्युदाहरणमिदम् । शौरिविधान सूत्रे अम्परे छवि (चछ टठ तथेषु) इतिपाणिनि-निर्देशात् सरामस्य च अम् संज्ञत्वाभावान्नात्र नरामस्य सरामः । तुसरुरिति—तुसर छद्मगतौ इत्यस्य उप्रत्यय उणादिः । 'कानाम्रेडिते' इति पाणिनीय-सूत्रम् । आम्रेडिते द्विस्त्रिरुक्तौ सत्यां कानित्येतस्य नरामस्य विष्णूचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा सरामः स्यात् । अत्रपूर्वत्र च विधेयवर्णस्य अराम उच्चारणार्थः । कानिति किम्शब्दस्य शसन्तः । अत्र एकः प्रश्ने अपरः कुत्सायाम् ।

अमृता०—१०८. प्रशान्इति । प्रशानो नरामस्य चछादिपरे सति सविष्णुचक्रे सविष्णुचापे च शौरौ प्राप्ते नियमोऽयम् । प्रशानिति—प्रपूर्वात् शमु शान्तौ इत्यस्मात् क्विप् । नान्तोद्धवस्य त्रिविक्रमः क्वौ इतित्रिविक्रमः । धातोर्मोनो विष्णुपदान्त इति मस्य नः । केवलस्य प्रत्ययवेर्हर इतिक्विप्लोपः । राधाविष्णुजनाभ्यामिति सोर्हरः । नरामस्यासिद्धत्वान्न नामान्तस्य नस्य हरः ।

बाल०—नतुसे । नरामो विष्णुपदान्तः तुसे परे विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वोवा सरामो न स्यात् । तुसर धातुश्छद्मगत्यर्थः ।

कान् सुगमम् । कानोद्विरुक्ताविति लक्षणेन द्विरुक्तः कानो नकारः सानुस्वारः सानुनासिकश्च सकारो भवतीत्येके । अतस्तन्मते शसन्त किं शब्दस्य वीप्सादौ द्विरुक्तौ सत्यां प्राग् द्विरित्यनेन पूर्वकालो नकारो एव सानुस्वारादिक हलन्तः सकारः स्यात् । द्विरुक्तेरन्यत्र वृक्षान् कान् कानेष्यति प्रामाणानि प्रत्युदाहरणञ्च । अस्माकं मते तु वक्तव्यस्य विकल्पत्वात् यस्मिन् पक्षे सानुस्वारः सरामो न स्यात्, तस्मिन् पक्षे एवेदं प्रत्युदाहरणं सम्भवत्येवेत्यतो न तदर्थ- प्रयास इति । नृनः पे सविष्णुचक्रः सविष्णुचापश्च सोवाच्यः । स इत्यराम उच्चारणार्थः समासे सति कार्यन्तराभावात् विष्णुसर्गश्च सः नॄँः पिनष्टि नॄँः पिनष्टि । पक्षे उपध्मानीयः नॄँः पिनष्टि नॄँः पाहीत्यादिः ॥१०७॥

बाल०—प्रशा । विष्णुपदान्तः पूर्वतोऽनुवर्त्तत इति वृत्तौ विष्णुपदान्तस्येति सूत्रस्थादिशब्दात् च छ ट ठ तथेष्विति च व्याख्यातम् । प्रपूर्वः शमुशान्तावित्यस्मात् शाम्यतीति क्विप् तत् पश्चात् नान्तोद्धवस्य त्रिविक्रमः क्वौ कंसारि वैष्णवे चेत्यनेन त्रिविक्रमः । धातोर्मोनो विष्णुपदान्ते मवयोश्चेत्यनेन तु मस्य नः । केवलप्रत्ययवेरिति क्विप् लोपः । राधाविष्णुजनाभ्यामित्यनेन सोर्हरः प्रशानिति ॥१०८॥

१०९. ले लराम एव ।

नरामो विष्णुपदान्तो ले परे लरामः स्यात् । भगवान् लीलायते भगवाँल्लीलायते । अत्र स्थाने सदृशतम इति न्यायेन सानुनासिक एव लरामः स्यात् । अत्र यवला हि द्विविधा मताः, सानुनासिका निरनुनासिकाश्च ।

११०. डढणेषु णरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तो डढणेषु परेषु णरामः स्यात् । गरुत्मन् डीयसे गरुत्मण्डीयसे । चक्रिन् ढौकसे, चक्रिण्ढौकसे । शार्ङ्गिन्णंकुरु शार्ङ्गिण्णंकुरु ।

१११. जझञशरामेषु ञरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तो जझञशरामेषु परेषु ञरामः स्यात् । भगवान् जयति, भगवाञ्जयति । भगवान् झषरूपी, भगवाञ्झषरूपी । भगवान् ञुङ्वे, भगवाञ्ञुङ्वे । भगवान् शूरः, भगवाञ्शूरः ।

अमृता०—१०९. ले इति । लीलायते—लीलांकरोतीत्यर्थे क्यङ् । स्थानेइति—नरामस्यानुनासिकत्वं संज्ञाप्रकरणे चोक्तमेव, ततो नरामस्थाने विहितस्य लरामस्य च नासिकाभवत्वं युज्यते स्थाने सदृशतम इति न्यायेन । दन्त्यवर्णत्वाद् मुखभवत्वञ्च तस्य पुनः सिद्धम् । ततो मुखनासिकाभवत्वात्तस्य सानुनासिकत्वं प्रतिपादितम् । अथ यवलानां सानुनासिकप्रसिद्धिञ्च विवृणोति—अत्रेति । अत्र शब्दशास्त्रे ।

अमृता०—११०. डढेति । गरुत्मन् हेगरुड ! डीयस इति डीङ् विहायसा गतौ अच्युत ते । णं कल्याणम् ।

अमृता०—१११. जझेति । सुगमम् । झषरूपी मत्स्यरूपी मीनावतार इत्यर्थः ।

बाल०—लेल । सुगमम् । अत्रेति स्थाने सदृशतम इति न्यायेन नरामस्य मुख नासिकाभवत्वात् लरामोऽपि भवन् सानुनासिकः अर्थात् सानुनासिकत्वेन च लरामस्य मुखनासिका भवत्वंप्रतिपादितम् । ननु लरामस्य स्वभावत एव सानुनासिकत्वमप्यस्ति, तर्हि न्यायाङ्गीकारेण किमिति चेत्तत्राह यवलाहीति । न्यायाङ्गीकारादत्रकृत लरामस्य सानुनासिकत्वमेव भवति अन्यथा परवर्णानुरूप निरनुनासकत्वमपि स्यादित्यर्थः ॥१०९॥

बाल०—ड ढ । गरुत्मन्निति हे गरुडेत्यर्थः । डयस इति डीङ् विहायसा गतावित्यस्य रूपम् चक्रिन्निति हे कृष्णेत्यर्थः । णमिति सुखमित्यर्थः । णश्च निर्वृतिवाचकमिति शास्त्रान्तरम् । तेन णं कुर्विति णरामं कुरु सुखं कुरु वेत्यर्थः ॥११०॥

बाल०—ज झ । झषरूपी मत्स्यरूपीत्यर्थः ॥१११॥

११२. शे चान्तो वा ।

नरामो विष्णुपदान्तः शरामे परे चरामान्तो जरामः स्याद् वा । भगवान् शूरः, भगवाञ्च्शूरः, भगवाञ्शूरः, छत्वे भगवाञ्छूरः ।

११३. मोविष्णुचक्रं विष्णुजने ।

मशापो विष्णुपदान्तो विष्णुजने परे विष्णुचक्रं स्यात् । कृष्णम् स्मरति, विष्णुचक्रस्य परोर्द्धगामित्वं लोकात् कृष्णंस्मरति । विष्णुजनादन्यत्र न,—कृष्णम् इच्छ, कृष्णमिच्छ । कथं किम्वुक्तम्, कृष्णगुम् ञुङ्वे ? असिद्धरूपं नत्याज्यमिति प्रतिज्ञासिध्यर्थमिदं तत्रैव कर्त्तुं योग्यमपि-यन्नकृतं तस्मात्तत्राकरणान्न विष्णुचक्रमिति ।

११४. विष्णुचक्रस्य हरिवेणुर्विष्णुवर्गे विष्णुपदान्तस्य तु बा ।

अमृता०—११२. शे चान्त इति । छत्व इति—ततः शश्छोवेत्यनेन छत्वे सतीत्यर्थः ।

अमृता०—११३. मो विष्णिवति । अन्तरालपाठाद्विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वरत्वं विष्णुजन-त्वश्चास्तीतिवक्ष्यमाणरीत्या तस्य विष्णुजनत्व स्वीकारे यद्यपि परोद्ध्वगामित्वं सम्भवेत् किन्तु तस्य सर्वेश्वरत्वस्वीकारे पुनस्तदसम्भव इति विप्रतिषेधे लोक व्यवहारस्त्वनुशासनाद् वलीयानिति न्यायेन तस्योर्ध्ववगमनं लोकप्रसिद्धयाप्रतिपादयन्नाह—विष्णिवति । लोकात् लोक व्यवहारादित्यर्थः । आशङ्कते—कथमित्यादि । किम्वुक्तं कृष्णगुम्ञुङ्वे इत्यत्र वराम-ञरामरूप-विष्णुजनपरत्वेऽपि पूर्वमरामस्य कथं न विष्णुचक्रमिति शङ्काग्रन्थार्थः । सिद्धान्तमाचष्टे—असिद्धेत्यादि । इदं विष्णुचक्रविधायकसूत्रम् । तत्रैव—किम्वुक्तमित्यादि प्रयोगस्थले एवेत्यर्थः । विष्णुपदान्तस्येति किम् ? गम्यते ।

बाल०—शे चा । चरामान्तो ञरामः स्याद्वा पक्षे केवलं ञरामश्च । छत्व इति । ततः शश्छो वेत्यनेन छत्वे सतीत्यर्थः ।।११२।।

बाल०—मोवि । अन्तराल पाठाद्विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वाञ्चास्तीति वक्ष्यमाणरीत्या विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वरत्वे स्वीकारे कस्याप्यूर्ध्वगमनं न सम्भवति, विष्णुजनत्वे स्वीकारे तु परोर्ध्वगमनमेव सम्भवतीति सहेतुक-पूर्वोर्ध्वगमनं प्रतिपादयन्नाह विष्णिवति लोकादिति लौकिकव्यवहारादित्यर्थः । अत्र मो विष्णुरवसाने इति कस्यचिल्लक्षणम् । तत्तु न बहुसम्मतं सर्वेश्वरे परे सति पुनस्तस्य मबिधानलक्षणापेक्षत्वात् । द्राविडादिलिपौ विरामे स्वण्डमकारस्यैव स्थितित्वाच्च । आक्षिपति कथमिति । ननु किम्बुक्तं कृष्णगुम् ञुङुव इत्यत्र वराम-ञरामयोर्विष्णुजनयोः परत्वे पूर्वमरामस्य विष्णुचक्रं कथं न स्यादित्यत्र सिद्धान्तमाह असिद्धेति । इदं मो विष्णुचक्रमिति सूत्रं तत्रैवेति विष्णगणाद्वोवा सर्वेश्वर इत्यस्मात् पूर्वस्मिन्नेवेत्यर्थः ।।११३।।

विष्णुचक्रस्य परवर्णानुरूपो हरिवेणुः स्यात् विष्णुवर्गे परे, विष्णु पदान्तस्य विकल्पः। अविष्णु पदान्तोदाहरणं वक्ष्यते। कृष्णं कीर्त्तयति, कृष्णङ्कीर्त्तयति वा। कृष्णं भजति, कृष्णम्भजति वा। संसारं तरति, संसारन्तरति, वा। अत्र तथयोः सराम निषेधो वक्तव्यः। विष्णुवर्गे इति किम्? सम्वत्सरः।

११५. यवलेषु सविष्णुचाप-पररूपञ्च मन्यन्ते।

सँव्वत्सरः, यँय्यम्यते, सँल्लुनाति।

अमृता०—११४. विष्णिवति। पूर्वत्र विष्णुचक्रस्याविष्णुपदान्तस्येति योज्यं, परत्र विष्णुपदान्तस्येति निर्देशात्। तुशब्दोभिन्नोपक्रमे। तेनाविष्णुपदान्ते हरिवेणुर्नित्यं भवतीति फलितार्थः। तदुदाहरणञ्च वक्ष्यते गन्ता हन्तेत्यादिषु। विष्णुवर्गे इत्येव; तदन्यत्र न,—संगंस्यते, कृष्णं स्मरति। ननु संसारन्तरतीत्यत्र तथयोः सरामः कथं न प्रवर्त्तते? न च नरामस्य विष्णुपदान्तत्वाभाव इति वाच्यम्, विष्णुपदान्तस्थित-विष्णु चक्रस्य स्थाने विहितस्य नरामस्यापि विष्णुपदान्तत्वमस्त्येव। मैवं, तत्र सन्धौ जात नरामस्य सरामो नभिप्रेतः लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति परिभाषा वलात्।

अमृता०—११५. यवेति। यवलेषु परेषु विष्णुचक्रस्य सविष्णुचापं परवर्ण रूपञ्च भवतीति पूर्वाचार्या मन्यन्ते। अत्र वार्थे चशब्दः। विशेषानभिधानाद् विष्णुपदान्तेऽविष्णु-पदान्ते च विभाषा। तेनविष्णुपदान्ते—यँय्यरामः यंयरामः, सँव्वत्सरः सम्बत्सरः, सँल्लुनाति संलुनाति। अविष्णुपदान्ते—यँय्यम्यते यंयम्यते, वँव्वम्यते वंवम्यते। यंयम्यत इति यमु उपरमे इत्यस्मात् यङ्, द्विवचनं, हरिवेण्वन्तानां जपेत्यादिना नरादुत्तरं विष्णु चक्रम्। संलुनातीति संपूर्वाद् लूञ् छेदन इत्यस्मादच्युत-तिप्। क्र्यादेः शपः श्ना, प्वादीनां वामनः शिब इति वामनः।

बाल०—विष्णु। विवरणं विष्णिवति विष्णुचक्रस्येत्यस्मात् पूर्वम् विष्णुपदान्तस्येति योज्यं परत्र विष्णुपदान्तस्येत्युक्तत्वात्। विष्णुवर्गे परे इति मध्यपाठाद् उभयात्रान्वेति। विकल्प इत्यस्य च पूर्वस्थित-हरिवेणुना सहान्वयः। सूत्रे तुशब्देन भिन्नोपक्रमाद् अविष्णु-पदान्तस्य विष्णुचक्रस्य नित्यं हरिवेणुर्भवति। अतएवाविष्णुपदान्तोदाहरणानामपेक्षत्वे आह अविष्णिवति वक्ष्यत इत्यतः पूर्वमग्र इति द्रष्टव्यम्। उदाहरणन्तु तत्र गन्ता मन्तेत्यादि। ननु नाम-धातुप्रत्ययविष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिवद्भावः सर्वत्रैवेति वक्ष्यमाणरीत्या विष्णुपदान्तस्य विष्णुचक्रस्यादेशो यो हरिवेणुस्तस्यापि विष्णुपदान्त-स्थितत्वात् संसारन्तरतीत्यत्र तथयोः सराम इत्यनेन विष्णुचक्रादि पूर्व्वः सरामः कस्मान्न स्यादित्यस्य प्रकारान्तरेण सिद्धान्तं कर्त्तुमशक्तः सन् निषेधवक्तव्यमाह अत्रेति विष्णु-चक्रस्येत्यनेनात्र विहिते नरामे सति तथयोः सराम इत्यनेन प्राप्तसरामस्य निषेधो वक्तव्यः।

११६. द्विः सर्वेश्वरमात्राच्छः ।

अविष्णु पदान्तादपि सर्वेश्वरात् परश्छरामो द्विर्भवति कृष्णछत्रं, कृष्णच्छत्रम् ।

११७. विष्णु पदान्तात् त्रिविक्रमाद् वा ।

विष्णु पदान्तात् त्रिविक्रमात् परश्छरामो द्विर्वाभवति । यमुनाछाया, यमुनाच्छाया वा ।

११८. आङ्म्यां नित्यम् ।

आङ्माङ्भ्यां परश्छरामो नित्यं द्विर्भवति । ङरामस्याप्रयोगः । आच्छादयति । माच्छिदत् ।

अमृता०—११६. द्विरिति । सूत्रेमात्रशब्दग्रहणसामर्थ्यादिवृत्तौ चापि पदन्यासेन विष्णुपदान्तादविपदान्ताच्च सर्वेश्वरात् छरामस्य द्वित्वं व्याख्यातम् । कृष्णच्छत्रमिति—छरामे द्वित्वेसति यादवमात्रे हरिकमलमिति पूर्वं छरामस्य चरामः ।

अमृता०—११७. विष्णिवति । सूत्रार्थः सुगमः । अविष्णु पदात् त्रिविक्रमात्तु पूर्वेण हि नित्यम् । यमुनाछाया यमुनाकान्तिः । "छाया सूर्य प्रिया कान्तिः प्रतिविम्वमनातप" इत्यमरः ।

अमृता०—११८. आङिति । आङ्-माङो"रव्ययात् स्वादेर्महाहर" इति विष्णुपदान्तत्वाद् विकल्पे प्राप्ते तद्वाधनार्थं नित्यपदम् । ङरामस्याप्रयोग इति—ईषदर्थे क्रियायोगे इत्यादिना प्रागुक्तमेव । माच्छिददिति—छिदिर् द्वैधीकरणे, माङ्योगे सर्वापवादी भूतेशः; इरनुवन्धान् ङोवेति ङः ।

अनेन लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं सूचितम् । अतः संसारन्तरतीत्यादौ तथयोः सराम इति न प्रवर्त्तते । सरामस्तथयोरेव भवति, तथापि तथयोरिति कृतं स्पष्टार्थम् ।।११४।।

बाल०—यव । यवलेषु परेषु विष्णुचक्रस्य स्थाने सविष्णुचापं परवर्णरूपश्च भवतीति मन्यन्ते पूर्वाचार्य्या इति शेषः ! सविष्णुचाप यवला भवन्तीत्यर्थः । यंय्यम्यत इति विष्णुजनाद्येकसर्वेश्वरादित्यनेन यङ् धातोर्द्विर्वचनेमधोक्षजसन्नङ् यङ्ष्वित्यनेन द्विरुक्तिः । हरिवेण्वन्तानां जप जभ दह दंश भञ्जाश्चेति नरामाद्विष्णुचक्रम् । सँल्लुनातीति संपूर्वो लूञ्छेदने इत्यस्मात् तिप् क्र्यादेःशपः श्ना इति श्ना, प्वादीनां वामनः शिवे इति वामनः ।।११५।।

बाल०—द्विः । सूत्रे मात्रशब्दोपादानाद् वृत्तावपिशब्द उपन्यस्तः । तेन विष्णुपदान्तादविष्णुपदान्ताच्चेति लभ्यते ।।११६।।

बाल०—विष्णु । अविष्णुपदान्तात्त्रिविक्रमोत्तु पर्वेणैव नित्यं स्यात्, मात्रग्रहणात् ।

११९. वामनात् ङणनाः सर्वेश्वरे ।

वामनात् परा ङणना विष्णु पदान्ताः सर्वेश्वरे परे द्विः स्युः । पर्यङ्-अनन्तः, पर्यङ्ङनन्तः । सुगण् अनन्तः, सुगण्णनन्तः कुर्वन् अस्ति, कुर्वन्नस्ति । वामनादन्यतस्तु न—भगवान् इह भगवानिह । उणादि तिङन्त सनन्तादयस्तु सूत्र निर्देशवलात् ।

१२०. विष्णुजने विष्णुजनो वा हरौविना ।

वामनात् परो विष्णुजनो विष्णुजने परे द्विर्वा स्यात् । हरौ तु द्विर्नभवतः । दध्युपेन्द्रस्य दद्ध्युपेन्द्रस्य वा ।

अमृता०—११९. वामनादिति । पर्यङिति—परिपूर्वात् अञ्चु गतौ पूजायाञ्चेत्यस्मात् क्विप्, सत्सङ्गान्तस्य हरः, चवर्गस्य कवर्गः । सुगणिति—सुपूर्वस्य गण संख्याने चौरादिकस्य क्विवन्तः । कुर्वन्निति—डुकृञ्करणे शतृप्रत्ययान्तः । करोत्यरामस्य उः, अचश्वतुर्भुजानुवन्धानाञ्चेति नुम् सत्सङ्गान्तस्य हरः । ननु तिङन्त उणादीत्यादौ वामनात् परस्य णरामादेः कथं द्वित्वं नस्यात्तत्र सिद्धान्तमाह—सूत्रनिर्देशवलादिति । "अनित्यं सूत्रनिर्देशे" इत्यनेन सूचितमेव प्राक् । तन्निर्देशस्तु उणादेर्वहुलं, भूसनन्ताद्याधातव इत्यादौ वोध्यम् ।

अमृता०—१२०. विष्णुजनइति । दध्युपेन्द्रस्येति धरामस्य द्वित्वे पूर्वस्य "विष्णुदासो विष्णुपदान्त" इत्यादिना दरामः ।

यमुनाच्छायेति छायात्र कान्तिः । छाया सूर्य्यप्रिया कान्तिः प्रतिविम्वमनातप इति नानार्थवर्गः ।।११७।।

बाल०—आङ् । आङ्माङोरपि विष्णुपदान्तत्वाद् विष्णुपदान्तादित्यनेन विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थमिदम् । ङरामस्याप्रयोग इत्यस्मात् परं क्रियायोगे वक्ष्यत इति योज्यम् । माच्छिददिति छिदधातुर्द्वैधीकरणार्थः ।।११८।।

बाल०—वाम । विष्णुपदान्तस्था एव ङणना द्विः स्युरिति स्वाभिप्राय व्यक्तार्थं वृत्तौ विष्णुपदान्ता इत्युक्तम् । पर्य्यञ्चतीति परिपूर्वोऽञ्चुगतौ पूजायञ्चेत्यस्य क्विवन्तस्य पर्य्यङिति स्वन्तं रूपम् । सुगणयतीति सु पूर्वो गण संख्याने इत्यस्य चौरादिकस्य सुगणित्यपि तथा । कुर्वन्निति डुकृञ् करणे इत्यस्य शत्रन्तस्य रूपम् । वामनेति वामनादन्यस्मात् त्रिविक्रमात् परभूता ङणना द्विर्नस्युर्वामनोपादानादित्यर्थः । ननु उणादीत्यादिषु वामनो विद्यत एव, तर्हि कथं ङणना द्विर्न स्युरित्यत्र समादधाति उणादीति उणादितिङन्त सनन्तादयः प्रयोगाः पुनर्द्विवचनयुक्ता न स्युरित्यर्थः । अन्यस्तस्तु न इत्यस्मात् नञात्रानुसञ्जनीयम् । द्वित्वाभावे साधकहेतुमाह सूत्रेति । अनित्यं सूत्रनिर्द्देशे इत्यनेन सूत्रनिर्द्देशबलादिति द्रष्टव्यम् ।।११९।।

बाल०—विष्णु । सुगमम् । हरौत्विति हराम-रमामाविति ज्ञेयम् ।।१२०।।

१२१. हरिमित्राद् विष्णुगणो, विष्णुगणाद्धरिमित्रं शौरितः सात्वतः, सात्वताच्छौरि र्द्विर्वा सर्वेश्वरे इति वाच्यम् ।

यमुनल्क्कारायते, दध्युपेन्द्रस्य, भगवांश्च्छादयति, सुवाक्श्शौरिः । अत्रछोऽपि न मन्यते । पक्षेपूर्ववत् ।

१२२. ररामात् सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विना ।

ररामात् परो विष्णुजनो विष्णुजने परे द्विर्वा स्यात्, सर्वेश्वरे परे तु हरिगोत्रं विना । कार्ष्ण्ण्यं, कार्ष्ण्यं वा । हर्य्यासनं वा ।

१२३. हाच्चसर्वेश्वरतः परादिति वक्तव्यम् ।

अमृता०—१२१. हरीति । छोऽपि नमन्यन्त इति—प्राचीनानां मते अमृपरत्वाभावात् । शरामस्य अमृ संज्ञत्वाभावस्तु दर्शित एव प्राक् । पक्षे पूर्ववत्—यथावत् स्थितिरित्यर्थः । यमुनल्कारायते इत्यादि ।

अमृता०—१२२. ररामादिति । विष्णुजनो विष्णुजने इत्यनुवर्त्तते । विष्णुजने परे ररामादुत्तरस्य विष्णुजनस्य द्विर्वा स्यात् । सर्वेश्वरे परे तु हरिगोत्रनामानं विष्णुजनं वर्जयित्वा अन्य विष्णुजनानां द्विर्वा स्यादिति सरलार्थः । कार्ष्ण्यमिति—"वर्णादृदृढादेश्च नृसिंह य इमनिश्चेति" कृष्णशब्दाद् नृसिंह यः । आदिसर्वेश्वरस्येति वृष्णीन्द्रः । एवं दर्श्श्यते अर्क्क इत्यादि च ।

अमृता०—१२३. हाच्चेति । कार्यि-परनिमित्ते अनुवर्त्तते । ब्रह्मेति—वृहि वृद्धौ इत्यस्मादुणादि मनिप् । ह्नुते इति—ह्नु अपह्नवे इस्यस्य अच्युत ते । अत्र हरामस्य

बाल०—हरि । सर्वेश्वरे परे हरिमित्रात् परो विष्णुगणो द्विर्वा स्यात्, विष्णुगणात् परं हरिमित्रं द्विर्वा स्यात्, शौरितः परः सात्वतो द्विर्वा स्यात्, सात्वतात् परः शौरिर्द्विर्वा स्यादिति वक्तव्यम् । अत्र छोपि न मन्यत इति ततः शश्छो वेत्यनेनेति शेषः । पक्षे पूर्ववदिति यमुना लृकारायते यमुनल्कारायते इत्यादिः ॥१२१॥

बाल०—ररा । ररामात् परो विष्णुजनो विष्णुजने परे द्विर्वा स्यात् सर्वेश्वरे परे तु ररामात् परो विष्णुजनो द्विर्भवन् हरिगोत्रं विना स्यादिति भावः । अतएव सर्वेश्वरे हर्य्यासनमिति विकल्पेन दर्शितम् । विष्णुजने कार्ष्ण्यमिति च किन्त्विदं हरिगोत्रस्योदाहरणम् । वर्णाद् दृढादेश्च नृसिंह य इमनिश्च इत्यनेनात्र कृष्णशब्दात् नृसिंह यः । आदिसर्वेश्वरस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंह इति वृष्णीन्द्रः ॥१२२॥

बाल०—हाच्च । सर्वेश्वरतः परात् परभूतात् हात् हरामाच्चोत्तरो विष्णुजनो द्विर्वा स्यात् सर्वेश्वरे विष्णुजने चेति वाच्यम् । वृही उद्यम इत्यस्मान् मनिप् ब्रह्मेति । ह्नुत

सर्वेश्वरतः परात्हादुत्तरो विष्णुजनो द्वि र्वा स्यात् ब्रह्मा, ब्रह्म्मा वा नेह—ह्नुते। सर्वेश्वरे त्वित्यादि किम्? परामर्शो वार्षभानव्याः अर्हति।

१२४. ह्स्तु विष्णुजने च न।

अर्ह्यते। विष्णुजन इत्यादौ द्वित्वप्रकरणे सर्वत्र शाकल्यस्येति अद्वित्व-पक्षानुल्लेखस्तस्यां प्रमादः।

१२५. विष्णुजनाद् विष्णुदासस्यादर्शनं सवर्गेविष्णुदासे।

विष्णुजनात् परस्य विष्णुदासस्यादर्शनं वा स्यात् सवर्गे विष्णुदासे परे।

सर्वेश्वरतः परत्वाभावात् तदुत्तरस्य न द्वित्वम्। पूर्वसूत्रस्य प्रत्युदाहरणान्याह—सर्वेश्वरे-त्वित्यादि। इह वाक्येनैकेन हि हरिगोत्रत्रयस्य प्रयोगोदर्शितः। वार्षभानव्या इति वृषभानोरपत्यं स्त्रीः वार्षभानवी श्रीराधा, तस्याः।

अमृता०—१२४. ह्स्त्विति। ररामात् परो हरामस्तु विष्णुजने परेऽपि द्विर्न स्यात्। सर्वेश्वरे परे द्विर्न स्यादिति पूर्वसूत्रे "हरिगोत्रंविने"त्यनेनैवोक्तम्। अर्हतीति—अर्ह पूजायाम्। विष्णुजन इति द्वित्वप्रकरणे—"सर्वत्र शाकल्यस्येति पाणिनीय सूत्रम्। तत्र द्वित्वं नेत्यनुवर्त्तते। शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन सर्वत्र द्वित्वंनस्यादित्यर्थः। तत्र यद्यपि निषेधोऽनुवर्त्तते तथापि विकल्प एवाभिप्रायः। यथा—"विधिरपि योगद्वयेनोच्यते प्रतिषेधोऽपि। अत्र सामर्थ्याद् विकल्पो भविष्यति, अन्यथा विधेरनवकाशः स्यादिति" काशिकाव्याख्यायां न्यासकारः। काशिका भाषावृत्त्यादौ—अर्कः ब्रह्मा प्रभृत्यद्वित्व-पक्षोल्लेखो दृश्यते, प्रक्रियाकौमुद्यां तदनुल्लेखात् तस्याः प्रमादोऽनवधानता।

अमृता०—१२५. विष्णुजनादिति। मण्डूकप्लुत्या वेत्यनुवर्त्तते। ननु 'शेचान्तोवेति' सूत्रात्परमेवेदं विकल्पलक्षणं कथं नकृतमितिशङ्काभासं परिहरति—अस्येत्यादिना। नित्य-

---

इति ह्नु धातुरपनयनार्थः। अत्र हरामस्य सर्वेश्वरतः परत्वाभावस्तेन तत्परो विष्णुजनो द्विर्न स्यात् इत्यवधेयम्। सर्वेश्वरेत्वित्यादि किं किमर्थं सर्व्वेश्वरे तु हरिगोत्रं द्विर्न स्यात्। एकेन वाक्येन उदाहरणत्रयमाह परामर्शेत्यादि। वार्षभानव्या राधायाः परामर्शोऽर्हति योग्यो भवतीत्यर्थः ॥१२३॥

बाल०—ह्स्तु। ररामात् परो हरामस्तु विष्णुजने च परे द्विर्न स्यात्। सर्वेश्वरे द्विर्न स्यादिति पूर्वेणैवोक्तम्। अर्ह्यते इति अर्ह पूजायाम्। मतान्तरं दूषयति विष्ण्विति विष्णुजने विष्णुजनो वा ह-रौ विनेत्यादौ द्वित्वप्रकरणे सर्वत्र शाकल्यस्य द्वित्वंस यादिति या वक्तिः तया सर्वत्रशाकल्यस्येति पदद्वये नाद्वित्वपक्षानुल्लेखोऽद्वित्वस्योल्लेखाभावः कृत इति तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां प्रमादे यतस्तन्मतेऽपि यथायोग्यमद्वित्वपक्षोल्लेखोऽस्ति। प्रमादोऽन-वधानतेत्यमरः ॥१२४॥

भगवाञ्च्छूरः भगवाञ्छूरो वा। अस्य पूर्वत्राकरणं विकल्पेनावश्यकत्वाभावात्।

१२६. अव्यक्तानुकरणशब्दानामद्भागस्य हर इतौ हरिगदा निषेधश्च।

पटत्इति, पटिति, घटत्इति, घटिति।

२२७. नैकसर्वेश्वरत्वे।

स्रत् इति स्रदिति।

१२८. न द्वित्रिरुक्तावन्त्यस्यतुवा।

विधायकसूत्रैरेव कार्यसिद्धेर्विकल्पविधीनां पश्चादुक्तिस्तु न दोषायेतिभावः। दर्शितञ्चेदं प्राक्—"एतावतैव सिद्धिः, द्वित्व-विकल्पेन तु मतान्तराणि वक्ष्यन्त" इत्यादिना।

अमृता०—१२६. अव्यक्तेति। अव्यक्ताश्च तेऽनुकरणाश्च अव्यक्तानुकरणाः तेच शब्दाश्चेति अव्यक्तानुकरणशब्दास्तेषां शेषस्थस्य 'अत्' इत्यंशस्य हरोभवति इति शब्दे परे। विष्णुदास इत्यनेन प्राप्तहरिगदायाश्च निषेधो भवति। अनुकरणशब्दास्तावद्द्विविधाः, व्यक्ता अव्यक्ताश्च। व्यक्ता वाचा प्रकाश योग्याः, अव्यक्तास्तु वाचा न प्रकाशार्हाः। तेच द्रव्याणां भङ्ग-पतनादिशब्दानुकरणाज्ञेयाः। इतौ किम्?—पटदत्र। कथं—"घटदितिगम्भीरैरम्बुदैर्नदितमिति?" दरामान्तमेतदनुकरणं ज्ञेयम्।

अमृता०—१२७. नैकेति। एकसर्वेश्वरत्वे सति अव्यक्तानुकरणशब्दानामितौ परे अद्भागस्य हरो हरिगदानिषेधश्च न भवति। अत्र स्रदित्येक सर्वेश्वरत्वान्न अद्भागस्य हरो न वा हरिगदानिषेधः।

बाल०—विष्णु। ननु शे चान्तो वेति लक्षणात् परमिदं सूत्रं कस्मान्न कृतम्। तस्मात् परत्रास्मिन् कृते सति भगवाञ्छूर इत्युदाहरणमपि तत्रैव दातुं शक्यं स्यादिति चेत्तत्राह अस्येति इदं सूत्रमुदाहरणञ्च तत्र यदि न कृतं, तर्हि का क्षतिरस्य विकल्पेनावश्यकत्वाभावात्॥१२५॥

बाल०—अव्य। अनुक्रियते यैस्तेऽनुकरणा यद्रूपास्तन्मात्रबोधकाः। शब्द्यते प्रकाश्यते यैस्ते शब्दाः। आकाशस्य गुणः शब्दो वर्ण-ध्वन्यात्मकद्विधेत्यनेनाकाशस्य प्रकाशत्वात् तेऽत्र वर्णात्मका एव गृह्यन्ते। अव्यक्ताश्च ते अनुकरणाश्चेति अव्यक्तानुकरणाः अव्यक्तानुकरणाश्च ते शब्दाश्चेति अव्यक्तानुकरणशब्दाः। तेषामिति शब्दे परे अद्भागस्य हरः भवति विष्णुपदान्तत्वात् प्राप्तहरिगदाया निषेधश्च॥१२६॥

बाल०—नैक। एकसर्वेश्वरत्वे सति अव्यक्तानुकरणशब्दानामितौ परे अद्भागस्य हरो न भवति हरिगदा निषेधश्च। यथा स्रद्रिति एवं चडिति च॥१२७॥

पटत् पटदिति पटत्पटेति। कथं वडभी वलभी पर्यङ्कः पल्यङ्कः, रघुः लघुः, कपिरिका कपिलिका इत्यादि ? डलयो रलयोश्च प्राय एकत्व-श्रवणात्।

१२९. सरामेटनाभ्यां तुग्वेति वक्तव्यम्।

षट् साधवः षट्त् साधवः, भगवान् साधुः भगवान्त् साधुः।

अमृता०—१२८, नद्विरिति। द्विस्त्रिरुक्तौ सत्यामव्यक्तानुकरणशब्दानामिति शब्दे परे अद्भागस्य हरो हरिगदानिषेधश्च न भवति। अन्त्यस्य तरामस्य तु हरो वा स्यात्। पटत् पटेतीत्यत्र अन्त्यतरामस्य हरे सति अद्वयमिद्वये इत्यनेन एरामः। निषेधपक्षे—पटत् पटदिति। द्वौ नकारौ प्रकृतार्थं वोधयत इतिन्यायेन—हरिगदानिषेधो नस्यादिति हरिगदा स्यादेवेयतर्थः। अत्र "आभीक्ष्ण्य वीप्सयोरिति द्विरुक्तिर्वक्ष्यते।

अमृता०—१२९. सराम इति। सरामे परे सति टराम-नरामाभ्यामुत्तरे तुक् वा भवति। उकावितौ, तरामः शिष्यते। ननु षट्त्साधव इत्यत्र—"षात्परस्य टवर्गयुक्तस्येति तरामस्य टरामः कथं न स्यात्? तदुच्यते,—इहविष्णुपदान्तस्थिताभ्यामेव टनाभ्यां तुग् वा स्यादित्यवगन्तव्यम्। तेन तत्र "नतुविष्णुपदान्ताद्टवर्गादिति" निषेधान्न हि टराम प्राप्तिः। भगवान्त्साधुरित्यत्रापि—"तथयोः सरामः" इति न प्रवर्त्तते, तुगागमस्यासिद्ध-त्वात्, "नत्से" इति प्रतिषेधाच्च। इह न सात्वतपरे सरामे इति वक्तव्यम्,—भगवान् स्थाता।

बाल०—नद्विः। द्विस्त्रिरुक्तौ सत्यामव्यक्तानुकरणशब्दानामितौ परे अद्भागस्य हरो न भवति अन्त्यस्य तरामस्य तु हरो वा भवति। पटत् पटेति वेत्यत्र तरामे हरे सति अद्वय इत्यनेन अरामः। ननु बडभीत्यादिः कथं डराममध्यो लराममध्यश्च तथा रराममध्यो लराममध्यश्च वेति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह डलयोरिति। एकत्र श्रवणादिति एकत्वेन एकरूपत्वेन श्रवणं एकत्वश्रवणं तस्मात्। प्रायो बाहुल्यं यथा स्यात्तथा डलयोः रलयोश्च एकत्र श्रवणाद्धेतोः डरामस्य लरामो ररामस्य च लरामः सिद्ध एवेति भावः। कपिलि-केत्यादीत्यत्रादिशब्दोपादानं रोहिनी-लोहिणीत्यादीनां संग्रहार्थम्॥१२८॥

बाल०—सरामे परे सति टनाभ्यामुत्तरे तुग्वा भवतीति वाच्यम्। ननु षटत् साधव इत्यत्र षात्परस्य टवर्ग युक्तस्य च तवर्गस्येति वक्षमाणेन तरामस्य टरामः कथं न स्यात्? सत्यं यद्यत्र वक्षमाणेन त इति टः स्यात् तदा टरामद्वयरूपं विष्णुजने विष्णुजनो वेत्यनेन द्वित्वे कृतेपि सिद्धं स्यात्। तस्मादत्र सूत्रकरणात् तरामस्यैव स्थितिरिति। नन्वेतदस्तु भगवानत् साधुरित्यित्र तथयोः सराम इत्यनेन नरामस्य विष्णेचक्रपूर्वो विष्णेचापो पूर्वो वा सरामः कस्मान्न स्यात्। उच्यते किदागमस्य पूर्वसम्बन्धित्वात् नरामस्य विष्णुपदान्त-स्थितत्वाभावस्तेन विष्णुचक्रादिपूर्वः सरामो न स्यात् किंवा नते्स इति प्रतिषेधेन॥१२९॥

१३०. शौरौ णङाभ्यां टकौ वेति वक्तव्यम् ।

सुगण् शङ्करः सुगण्ट् शङ्करः । प्राङ् स्वभूः प्राङ्क् स्वभूः ।

॥ इतिविष्णुजनसन्धिः ॥

अमृता०—१३०. शौराविति । शौरौ परे सति णराम-ङरामाभ्यामुत्तरे यथाक्रमं टराम-करामौ वा भवतः । गणयतीति गण् प्रमथः, सुन्दरो गण् यस्य स सुगण् शङ्करः । प्राञ्चतीति प्राङ् । स्वेनैवभूयत इति स्वभूर्विष्णुः । सर्वत्र क्विप् । एवंगण्ट्षण्डः सुगण्ट् सर्वः । तथा प्राङ्क् षष्ठः, प्राङ्क् शेते, प्राङ्क् छेते इत्यपि । किञ्चात्र "चयो द्वितीयाःशरि पौष्करसादे" रिति वार्त्तिकसूत्रात् हरिकमलानां हरिखड़गाश्च वा स्युः । सुगण्ठ्शङ्करः, प्राङ्ख् स्वभूः । पक्षे हरिकमलन्तु दर्शितमेव मूले ।

॥ इति विष्णुजन-सन्धि व्याख्या समाप्ता॥

बाल०—शौरौ । शौरौ परे नङभ्यामुत्तरे यथाक्रमं टकौ वा भवत इति वचनीयम् । सुगणयतीति सुगणिति प्राञ्चतीति प्राङिति च क्विवन्तस्य रूपम् । स्वेनैव भूयते इति भावे क्विप् स्वभूर्विष्णुः ॥१३०॥

॥ विष्णुजनसन्धि समापयति इतीति ॥

॥ इत्यैवं विष्णुजनसन्धिर्दर्शितः ॥



अथ विष्णुसर्गसन्धिः

१३१. विष्णुसर्गो जिह्वामूलीयः कखयोर्वा ।

विष्णुसर्गः कखयोः परयो जिह्वामूलीयो वा स्यात् । स च वज्राकृतिलेखो हि जिह्वामूलभवो वर्णविशेषः । अस्य विष्णुजनवत् परोद्ध्र्वगमनं लोकात् । एवमुपध्मानीयस्य च । कः कृष्णः क⌒कृष्णः । कृष्णः खेलति कृष्ण⌒खेलति ।

१३२. पफयोरुपध्मानीयः ।

विष्णुसर्गः पफयोः परयोरुपध्मानीयो वा स्यात् । स च गजकुम्भाकृतिलेखो हि ओष्ठभवो वर्णविशेषः । कृष्णः परमः, कृष्ण⌒परमः । कृष्णः फलं, कृष्ण⌒फलम् ।

अमृता०—१३१. विष्णुसर्ग इति । जिह्वामूलीयस्य लेखनप्रणालीमुत्पत्तिस्थानञ्च निरूपयति—सचेत्यादिना । वज्रस्याकृतिरिव लेखो यस्य स वज्राकृतिलेखः । केचित्तु डमरु-रूपत्वमस्य मन्यन्ते । फलञ्चोभयत्र सममेव । विष्णुसर्गभवत्वादस्यापि विष्णुसर्गवत् सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वञ्च सम्भवतीति विष्णुजनत्व-स्वीकारेण तद्वत् परवर्णोद्ध्र्वगमनमस्य प्रतिपादयति—अस्येति । एवमुपध्मानीयस्य च परोद्ध्र्वगमनं लोकादिति ज्ञेयम् ।

अमृता०—१३२. पफयोरिति । उप समीपे ध्मायतेऽनेनेति उपध्मान ओष्ठ स्तत्र भव उपध्मानीयः । गजस्य कुम्भयोर्मस्तकस्य कुम्भाकार-पिण्डयोरिवाकृतिर्यस्य स गज-कुम्भाकृतिः, स चासौ लेखश्चेति तथा; लौकिकलेखन-व्यवहार-विशेष इत्यर्थः ।

अथेति अथानन्तरं विष्णुसर्गसन्धिर्दर्श्यते

बाल०—विष्णु । लेखनप्रकारमुच्चारणप्रकारञ्च निरूपयति—स चेति । वज्रस्याकृतिरिव लेखो लिखनं यस्येति विग्रहः । जिह्वामूलीय इत्यस्य जिह्वामूलभव इति वाक्यप्रदर्शनम् । विष्णुसर्गभवत्वेन जिह्वामूलीयस्यापि विष्णुसर्गवत् सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वञ्च सम्भवतीति विष्णुजनत्वमनेन परोद्ध्र्वगमनं प्रतिपादयति—अस्येति । अस्य जिह्वामूलीयस्य लोकादिति लौकिकव्यवहारादित्यर्थः । अतिदिशति एवमिति । एवं प्रकारेण उपध्मानीयस्य च परोर्ध्वगमनं ज्ञेयम् ।।१३१।।

बाल०—प-फ । उप समीपे ध्मायतेऽनेनेत्युपध्मान ओष्ठः । तस्मिन् भव उपध्मानीय इति । पूर्ववदस्यापि लेखनप्रकारमुच्चारणप्रकारञ्चाह स चेति स इति उपध्मानीयः । गजेति गजो हस्ती तस्य कुम्भयोः शिरसः कुम्भाकारपिण्डयोराकृतिरिव लेखो लिखनं यस्येति विग्रहः । कुम्भौ तु पिण्डौ शिरस इत्यमरः । औष्ठ्य इति भवार्थ-नृसिंहयान्तम् ।।१३२।।

१३३. न शौरिपरेषु तेषु ।

शौरिपरेषु तेषु कख-पफेषुपरेषु विष्णुसर्गस्य स्थाने जिह्वामूलीयादिर्न स्यात् । कृष्णः क्षीरस्यति, कृष्णः प्सातित । अत्र समासकार्ये षसौ च वक्ष्यते । यथा—निष्कृष्णः रक्षस्पाश इत्यादि ।

१३४. चछयोः शरामः ।

विष्णुसर्गः चछयोः परयोः शरामः स्यात् । कृष्णः चरति, कृष्णश्चरति । कृष्णः छादयति, कृष्णश्छादयति ।

१३५. टठयोः षरामः ।

विष्णुसर्गः टठयोः परयोः षरामः स्यात् । कृष्णः टीकते, कृष्णष्टीकते । कःठरामः, कष्ठरामः ।

१३६. तथयोः सरामः ।

अमृता०—१३३. नशौरीति । शोरिः परो येभ्यस्तेषु कखपफेषु परेषु जिह्वामूलीयादिर्न स्यात् । आदिना उपध्मानीयस्य ग्रहणम् । क्षीरस्यतीति—लालसया क्षीरमिच्छतीति वाक्ये क्यन्नन्तो निपातः । प्सातीति—प्साधातुर्भक्षणे अदादिः । अत्रेति—जिह्वामूलीयोपध्मानीयाभावपक्षे विष्णुसर्ग एवेत्यर्थः । षसौ च वक्ष्यत इति—निर्दुर्वहिः प्रादुराविश्चतुरामित्यनेन निष्कृष्ण इतिषत्वम् । तथा ईश्वरारामाभ्यां पाशकल्पकेष्विति रक्षस्पाश इत्यत्र सत्वम् । निष्कृष्ण इति—निष्क्रान्तः कृष्णादिति विग्रहे निरादयः पञ्चम्या इत्यनेन मध्य पदाप्रयोगी कृष्णपुरुषः । रक्षस्पाश इति—'गर्ह्ये पाश' इत्यनेन पाश प्रत्ययस्तद्धितः ।

अमृता०—१३४. चछयोरिति सूत्र युग्मं सुगमम् ।

अमृता०—१३६. तथयोरिति । थूत्करोतीति—थूदिति अव्यक्तानुकरणमव्ययम् ।

बाल०—न शौ । शौरिः परो येभ्यस्तेषु क-ख-प-फेषु विष्णुसर्गस्य स्थाने जिह्वामूलीयादिर्न स्यादिति यथासम्भवत्वात् कखयो-र्जिह्वामूलीयो न स्यात् पफयोरुपध्मानीयो न स्यादित्यर्थः । क्षीरस्यतीति लालसायां क्षीरशब्दस्य क्षीरस्येति क्यन्नन्तनिपातात् तिप् क्षीरं लालसयेच्छतीत्यर्थः । प्सा भक्षणेऽदादिरित्यस्य प्सातीति । अत्रेति क-ख-प-फेषु विष्णुसर्गस्य विष्णुसर्गे वा समासकार्य्ये षसौ च वक्ष्यते इति 'विष्णुसर्गस्य स ईश्वरात्तु षः क-ख-प-फेषु स च स्थानिवदि'त्यनेनेति शेषः । निष्कृष्ण इति निष्क्रान्तः कृष्णादिति 'निरादयः पञ्चम्या' इयनेन मध्यपदाप्रयोगी कृष्णपुरुषः । रक्षस्पाश इति निन्द्य-रक्ष इति गर्ह्ये पाश इति पाशप्रत्ययस्तद्धितः ॥१३३॥

बाल०—च छ । सुगमम् ॥१३४॥

बाल०—ट ठ । सुगमम् ॥१३५॥

विष्णुसर्गः तथयोः परयोः सरामः स्यात् । कृष्णः तरति कृष्णस्तरति । कृष्णः थूत्करोति कृष्णस्थूत्करोति ।

१३७. न त्सरे ।

कः त्सरुः ।

१३८. शौरिषु शौरिर्वा ।

विष्णुसर्गः शौरिषु परेषु परो यो वर्णः स एव वा स्यात् । कृष्णःशरणं कृष्णश्शरणं वा । हरेः षण्डः हरेष्षण्डो वा । हरेः सुरभिः हरेस् सुरभिर्वा ।

१३९. सात्वत-परत्वे लोप्यश्च ।

सात्वतः परो येभ्यस्तेषु शौरिषु परेषु विष्णुसर्गः पक्षे लोप्यश्च स्यात् । हरेःस्थलं हरेस्थलं हरेस्स्थलं वा ।

१४०. आदराम-गोपालयोरुर्नित्यम् ।

अरामात् परो विष्णुसर्ग उरामः स्यात् अराम-गोपालयोः परयोः ।

अमृता०—१३७. नत्सरे इति । त्सरे परे विष्णुसर्गः सरामो न स्यात् । अत्र च 'अम्' परत्वाभावान्न विष्णुसर्गस्य सराम इति भावः । त्सरुः खड्गादिमुष्टिः स्यादित्यमरः ।

अमृता०—१३८. शौरिष्विति । शरणं रक्षकः । षण्डो वृषभः । षण्डो गोपतिरिःट्चर इत्यमरः । सुरभिः स्त्रीगौः । सुरभिर्गवि च स्त्रियामिति चामरः ।

अमृता०—१३९. सात्वतेति । लोप्यो लोपयोग्यो भवतीत्यर्थः । चकारात् शौरिविष्णुसर्गयोश्च स्थितिः प्रागुक्तेन । हरे स्थलं द्वारका मथुरा गोकुलञ्च ।

अमृता०—१४०. आदिति । अशब्दस्य पञ्चम्यांरूपम् आत् । कृष्णोऽत्रेति—विष्णु सर्गस्योरामे कृते 'उद्वयेओ' इत्यनेन ओरामः । तत 'एओभ्यामस्य हर' इत्यरामहरः ।

बाल०—तथ । सुगमम् । थूत्करोतीत्यत्र थूदिति कर्मपदमव्यक्तानुकरणमव्ययम् ॥१३६॥

बाल०—नत्सरे । त्सरेपरे विष्णुसर्गः सरामो न स्यात् । त्सरुः खड्गादि मुष्टि स्यात् ॥१३७॥

बाल०—शौरि । शौरिषु परेषु विष्णुसर्गः परवर्णानुरूपः शौरि र्वा स्यादित्यर्थप्रतिपादकः परो यो वर्णः स एव स्यादिति । शरणमिति रक्षितेत्यर्थः । शरणं गृहरक्षित्रोरिति नानार्थवर्गः । षण्डो वृषभेदः षण्डो गोपति विट्चर इत्यमरः । सुरभी स्त्री गौः सुरभिर्गवि च स्त्रियामिति नानार्थवर्गः ॥१३८॥

बाल०—सात्व । सात्वतः परो येभ्यस्तेषु शौरिषु परेष्विति फलितार्थकथनम् । शौरिणां सात्वतपरत्वे सतीत्यक्षरार्थः ॥१३९॥

कृष्णः अत्र, कृष्णोऽत्र। कृष्णः गच्छति, कृष्णोगच्छति। अराम-निर्देशान्महापुरुषे तु न। आगच्छ तीर्थश्रवा३ अत्र। विष्णुसर्गलोपो वक्ष्यते।

१४१. अद्वयभोभगो अघोभ्यो लोप्यः, सर्वेश्वरे तु यश्च, न च लोपे सन्धिः।

अआ इतिवर्णद्वयात् भो भगो अघो शब्देभ्यश्च परो विष्णुसर्गो लोप्यः स्यात् सर्वेश्वर-गोपालयोः परयोः। सर्वेश्वरे तु पक्षे यरामश्च स्यात्। तस्मिन् लोपे सति पुनःसन्धिर्न स्यात्। कृष्णः इह, कृष्ण इह, कृष्णयिह। कृष्णाः अत्र, कृष्णा अत्र, कृष्णायत्र। भोः अनन्त, भो अनन्त, भोयनन्त। अघोः अवैष्णव, अघो अवैष्णव, अघोयवैष्णव। अत्राद्वयात् पर ईषत्स्पर्शी

तीर्थश्रवस्शब्दस्य बुद्धे हेतीर्थश्रवः! गुरोरनृतोऽनन्तस्येति महापुरुषः। महापुरुषे वामनस्य त्रिविक्रमतया व्यवहारात् अरामरूपं पूर्वनिमित्तमेव नास्तीति विष्णुसर्गस्योरामो नस्या-दित्यर्थः। किन्तु आरामात्तस्य लोपो भवतीति वक्ष्यतेऽग्रिमसूत्रेण।

अमृता०—१४१. अद्वयेति। वृत्तौ स्पटीकृतम्। भगो-अघोभ्य इत्यसान्धः सौत्रत्वात्। "भगवतु अघवतु भवतूनां भगोस् अघोस्भोस इति निपाता वा बुद्धे" इत्यनेन विहितानां भोस् प्रमुखानां सरामरहिततयात्र निर्देशः कृतः। तेनाव्ययस्यापि भोशब्दस्य विष्णुसर्गो लोप्यः स्यादिति ज्ञापितम्। वृत्तौ यत् "शब्देभ्यश्च" इत्यनेन शब्दोल्लेखः कृतः स तु न प्रातिपदिकार्थे, बुद्धे निपातनेन तेषां विष्णुपदत्वात्। किन्तु श्रवणग्राह्यत्वं शब्दत्व-मिति व्यापकार्थे एवात्र "शब्द" शब्दः प्रयुक्तः। तेन प्रकृति-प्रत्यय-विष्णु-विरञ्चि-निपातादयः सर्वएव शब्दाभिधा भवन्ति। प्रातिपदिकार्थे शब्दस्य व्यवहारस्तु शब्दशास्त्रेषु संङ्कोच-वृत्त्येति वोध्यम्। कृष्णा इति वहुत्वं खलु रासलीलां, युगपद्वहुकुमारीविवाहं

बाल०—आत। आदिति अशब्दादात् 'कृष्णात् ङसेरादि'ति आत। कृष्णोऽत्रेति उरामे कृते 'उद्वये ओ' इति ओ रामः। 'ए-ओभ्यामस्य हरो विष्णुपदान्त' इत्यरामहरः। अरामेत्ति सूत्रेऽरामनिर्देशान्महापुरुषे सति विष्णुसर्ग उरामो न तु स्यात्। तीर्थश्रवःशब्दः सान्तः। गुरुरनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य प्राचामि'त्यनेन महापुरुषः। अत्र वामनमपि त्रिविक्रम इत्यनेन त्रिविक्रमलिखनोच्चारणे। प्रसङ्गात् प्राप्तविष्णुसर्गहरसूत्रस्य भूमिकामाह अत्रेति अत्र अरामे वक्ष्यते इति अव्यवहितेनेति शेषः॥ १४०॥

बाल०—अद्व। स्पष्टयितुं स्वयमेव वृत्तिमाह अ-आ इत्यादि। 'भगवतु-अघवतुभवतूनां भगोस् अघोस् भोस् इति निपाता वा बुद्धे' इत्यनेन विहितानां भोसादीनां सरामरहितत्त्वेनात्र निर्देशः कृतः। अव्ययस्यापि भोःशब्दस्य सरामविहितत्वेन यङ्गो इति भवति. ततः परोऽपि विष्णुसर्गो लोप्यः स्यादिति ज्ञापनार्थः। सर्वेश्वरे तु यश्चेत्युक्ते सर्वेश्वरेऽन्यस्मिश्च परे

ईषत्स्पर्शि तरश्च यरामो ज्ञेयः। ओरामात् परस्त्वीषत्स्पर्शितर एव। गोपाले न यरामः। कृष्णागच्छन्ति। भोगोविन्द। भगो गोविन्द। अघो हरिविमुख। आदराम-गोपालयोरिति विधानान्नेह—कृष्णोऽत्र, कृष्णो-गच्छति। सः एषः, सएषः। सैष इति पादपूरणे। सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः। सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः।

१४२. एष स परोविष्णुजने।

एतच्छब्दस्य एष इत्यस्मात् तच्छब्दस्य स इत्यस्माच्च परो विष्णुसर्गो लोप्यः स्याद् विष्णुजने परे। एषः कृष्ण, एषकृष्ण। सः रामः, सरामः।

वाभिप्रयुक्तम् इह अरामादुत्तरस्य विष्णुसर्गस्य यो लोपः स तु अरामभिन्नसर्वेश्वरे परे सत्येवेति ज्ञेयः, पूर्वसूत्रेण अरामे परे विष्णुसर्गस्य उरामविधानरूपविशेषावगमात्। तदेव दर्शयति—अरामगोपालयोरित्यादिना। विष्णुसर्गजात-यरामस्योच्चारणं निरूपयति—अत्रेति। गोपालेन यराम इति सर्वेश्वरे परे एव तद्विधानादितिभावः। पादपूरण इति—"न च लोपे सन्धि" रित्यनेन विष्णुसर्गे लोपे सति पुनः सन्धेरभावाद् सैष इत्यत्र तु सन्धिः पादपूरणार्थं एव। तच्च समर्थयते प्राचां प्रयोगेण—सैष इत्यादिना। स प्रसिद्धो दाशरथिः दशरथस्यापत्यं पुमान् राम एष तव प्रत्यक्षमित्याद्यर्थो ज्ञेयः। दाशरथी राम इत्यत्र त्रिविक्रमो वक्ष्यते। ईदृशः प्रयोगश्चार्षप्रयोगत्वेन मन्तव्यः।

अमृता०—१४२. एषेति। द्वन्द्वात् परः पूर्वो वा श्रूयमाणःशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यत इति शासनेन पर इत्यस्य एष स इत्युभाभ्यामन्वयः। तथैव वृत्तौ विवृतम्—एष इत्यस्मात् स इत्यस्माच्च परो विष्णुसर्गो लोप्य इति। क्वचिद् वा इत्येके। सो वा भवेत्, एषो हनूमानिति सुपद्मकारः।

विष्णुसर्गो लोप्यो भवतीत्यायातम्, अतः पूर्वसूत्राद् गोपालश्चानुवर्त्तत एव अतएवोक्तं सर्वेश्वर-गोपालयोरिति। किञ्च। आदराम-गोपालयोरित्यत्रारामस्य परनिमित्तत्वेन दर्शितत्वाद् अरामादरामं परनिमित्तं विना सर्वेभ्यः सर्वेश्वरोऽत्र परनिमित्तं ज्ञेयम्। भो इति भगवन्नित्यर्थः। अनन्तेति हे अनन्तेत्यर्थः। एवमव्ययत्वेऽपि भो अनन्तेत्यादिः। भगो इति हे भगवन्नित्यर्थः। अघो इति हे अघवन् हे पापिन्नित्यर्थः। विष्णुसर्गीय-यरामस्य उच्चारणं निरूपयति—अत्रेति। गोपाल इति नेदं लक्षणं किन्तुसर्वेश्वरे तु यश्चेति। यदुक्तं तदेव विवृतम्। आदिति इहस्थले विष्णुसर्गो लोप्यो न स्यात् उरामस्तु स्यादेव॥१४१॥

बाल०—सैष। पाद पूरणे साध्ये सैष इति भवति। विष्णुसर्गलोपेऽप्यत्र सन्धिनिषेधो न भवतीति भावः। दाशरथी राम इत्यादौ कृतेऽपि अर्थसङ्गतिर्भवेदेवेति सैषः पाद-पूरणार्थः। कश्चित् कमपि परिचायति स प्रसिद्ध एष दाशरथी राम एव सर्वत्र योज्यम्॥१४२॥

१४३. न तु नञ्समासाकप्रत्यययोः ।

अनेषः कृष्णः । असो रामः । एषकः कृष्णः । सको रामः । स इत्यस्य साहचर्यात् एषणमेष इत्यस्मान्न स्यात् । एषो भवति ।

१४४. र ईश्वरात् सर्वेश्वर-गोपालयोः ।

ईश्वरात् परो विष्णुसर्गो रराम: स्यात् सर्वेश्वर-गोपालयोः परयोः । हरेः इदं हरेरिदं । हरिः गच्छति, हरिर्गच्छति ।

अमृता०—१४३. नत्विति । नञ् समासे अकप्रत्यये च विषये एषपरः सपरश्च विष्णुसर्गो लोप्यो न स्यात् किन्तु यथाप्राप्तं कार्यं स्यादित्यर्थः । एकदेशविकृतमनन्यवदिति न्यायेन विष्णुसर्गस्य लोपे प्राप्ते तद्बाधनार्थः प्रतिषेधोऽयम् । लाक्षणिक प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवग्रहणमितिहि निषेधे मर्म । यद्यपि वृत्तौ—एतच्छब्दस्य एष इत्युक्त्या एषणमेष इति निराकृतमेव तथापि छात्राणां वुद्धि वैचित्र्याय प्रकारान्तरसिद्धान्तमपि योजयति— स इत्यस्य साहचर्यादिति । अत्र एष इति इषु इच्छायां धातोर्भावे घणन्तः । एषणमिति तु भावत्व वोधनाय न्यस्तम् । एषो भवतीति—आदरामगोपालयोर्रुर्नित्यमिति उः; तत उद्वये ओः । तच्छब्दस्येति किम् ? सो वर्णः; सरामो वर्ण इत्यर्थः । किञ्च तच्छब्द-ग्रहणेन—शोतनूकरणे, षोऽन्तकर्मणि इत्येताभ्यां कृदन्तक-प्रत्यय-निष्पन्नस्य स इत्यस्य च निराकृतिर्ज्ञेया । ननु नञ्समासस्य समासप्रकरणे तथा कप्रत्ययस्य च तद्धितप्रकरणे वक्ष्यमाणत्वादसिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञायास्त्वत्र व्यभिचार इति चेत् ? न, विष्णु-सर्गीय-सन्धिकार्यं तत्तत् समासतद्धितकार्यं नापेक्षते किन्तु तत्रत्य पदसान्निध्यमात्रमिति न दोषः गवीशादेः सन्धिस्तु साक्षात् समासमपेक्ष्य सिध्यतीति सन्धिप्रकरणे तेषां सन्धि-प्रदर्शने सति चार्द्धाङ्गसिद्धेः प्रतिज्ञाभङ्गापत्तिः स्यादिति समासादावेव तानि साधयिष्यन्ते इति हृदयम् ।

अमृता०—१४४. र ईश्वरादिति । यद्यपिमण्डूकप्लुत्या परनिमित्तमनुवर्त्तत एव तथापि च तदुक्तिः स्पष्टतार्था ज्ञेया । ईश्वरादितिकिम्-कृष्णोऽत्र । कृष्णअत्र । सर्वेश्वरेत्यादि किम्—हरिःक्रीडति ।

बाल०—एष । एष च स च इत्येताभ्यां पर एष-सपर इति । भवति हि व्याख्या-नतो विशेषलाभ इति शिष्टाचारात् एतच्छब्दस्य एष इत्यस्मादिति तच्छब्दस्य स इत्यस्मा-दिति च व्याख्यातम् । व्याख्यानमुपदेशपरस्पराधिगतार्थविवेचनमिति ।। १४३ ।।

बाल०—न तु । नञ्समासाकप्रत्यययोः सतो एष स परो विष्णुसर्गो लोप्यो न स्यात् । एकदेशविकृतमनन्यवदिति न्यायेन प्राप्तेः प्रतिषेधोऽयम् । नञ्समासः समासपादे कृपायामित्यादिना तद्धितेऽकप्रत्ययश्च वक्ष्यते। व्याख्यानतो विषेषलाभो भवतीति हृदि निधाय एतच्छशब्दस्येति तच्छब्दस्येति च यदुक्तं तत्रापरितुष्यन् सिद्धान्तमाह स इत्यस्येति । अनियतधर्मिणां नियतधर्मिणा सह चरितत्वं साहचर्यत्वं तस्मात् एष इत्यनेन साकं स इत्यस्य साहचर्याद्धेतोः इषु इच्छायामित्यस्य एषेणमिती वाक्येन एष इत्यस्मादभावघणन्ता-

१४५. अनीश्वरादपि ररामजः ।

स एव विष्णुसर्गो यदि ररामजातस्तदा ईश्वरादनीश्वरादपि च परो ररामः स्यात् सर्वेश्वर-गोपालयोः परयोः । प्रातः अत्र, प्रातरत्र । गीः मुकुन्दस्य, गीर्मुकुन्दस्य । भ्रातः व्रजे, भ्रातर्व्रजे । भ्रातः गोविन्दं पश्य, भ्रातर्गोविन्दं पश्य ।

१४६. अह्नो विष्णुसर्गस्य रो रात्रि-रूप-रथान्तरादन्येषु ।

रात्रि-रूप-रथान्तरादन्येषु परेषु अह्नो विष्णुसर्गस्य स्थाने रो भवति । अहः अहः, अहरहः । अहः गणः, अहर्गणः । सर्वेश्वर-गोपालयोरेव । नेह—अहःपतिः । रात्रादौ तु न—अहोरात्रिः । एकदेशविकृतमनन्यवत् अहोरात्रः । अहोरूपं, अहोरथान्तरं साम ।

अमृता०—१४५. अनीश्वरादिति । अत्रविष्णुसर्गस्य ररामजत्वेन गृहीतत्वात् सर्वापवादत्वम् । तेन भ्रातर्व्रज इत्यत्र विष्णुसर्गस्य न तूराम-प्रवृत्तिर्न वा लोप प्रवृत्तिः । प्रातरिति ररामान्तमव्ययम् । गिर्शब्दो वाग्वाची । सर्वेश्वर-गोपालयोरिति किम्—गीः कृष्णस्य ।

अमृता०—१४६. अह्न इति विष्णुसर्गस्येति—अह्नोविष्णुसर्गो विष्णुपदान्त इति-वक्ष्यमाणविधिना जातस्य विष्णुसर्गस्येत्यर्थः । ब्रह्मतः स्वमो र्महाहरः इत्यनेन कृतमहाहरस्य हि अह्नो विष्णुसर्गस्य र-विधानमिदं ज्ञेयम् । स्वादौ तु नायं विधिर्वाच्यः, तत्र अहोभ्यामिति दर्शयिष्यमाणत्वात् । अहरहरिति वीप्सायां द्विरुक्तिः । परनिमित्तस्यानुवर्त्तनं ज्ञापयति—सर्वेश्वरेति । ननु सूत्रे रात्रि शब्दो हि वर्जितः, ततो रात्रशब्दे सन्धिर्भवत्विति चेत्तन्निरासयति परिभाषावलेन—एकदेशेत्यादिना । यथा एकदेशेन चक्षुरादिना विकृतोऽपि कश्चिज्जनो नान्यः स्यात्तथा इरामवैकल्पेऽपि रात्रशब्दो रात्रेरभिन्न एवेत्यर्थः । अहोरात्र इति—अहश्च रात्रिश्चेति श्याम रामे समासान्तः केशवारामस्तद्धितः ।

द्विष्णुजने विष्णुसर्गे लोप्यो न स्यादित्यर्थः । ननु स इत्यस्य साहचर्यादिति कथं संगच्छतां, यतः सहसमानशब्दयोः समासे सरूपत्वं दृश्यते तथा सो तनुकरणे षोऽन्तकर्मणि इत्यनयोर्धात्वोरपि कृदन्ते 'अकर्मण्यारामात् क' इत्यनेन कप्रत्यान्तसरूपत्वं दृश्यते चेति तच्छब्दसम्बन्धि-सरामादन्यसरामस्यापि विद्यमानत्वादेतच्चिन्त्यम् । चिन्त्यश्चात्र प्रकृतिसिद्धानुकूलमेव तद् यथा । सहादिशब्दद्वयस्य सभावत्वेऽपि विष्णुसर्गस्याविद्यनानत्वाद्धातुद्वयस्य तु स्वरूपत्वस्य विष्णुसर्गस्यापि विद्यमानत्वेऽपि गौणत्वात् तद्रूपमङ्गीकृत्य प्रसिद्धत्वात् तच्छब्दस्य स इत्यस्यैव साहचर्यमुक्तमित्यवधेयम् ।।१४४।।

बाल०—र-ई । सर्वेश्वर-गोपालावात्र पूर्वं तोऽनुवर्तेते इति वृत्तौ सर्वेश्वरगोपालयोरित्युक्तम् ।।१४५।।

बाल०—अनी । गीर्वाक् । हे भ्रातः व्रजे गोविन्दं पश्येत्यन्वयः ।।१४६।।

१४७. रोरे लोप्यः पूर्वश्च त्रिविक्रमः ।

रो रराभे परे लोप्यः स्यात्, ररामात्पूर्वो वामनश्च त्रिविक्रमः स्यात् । भ्रातः रामानुजं पश्य, भ्राता रामानुजं पश्य । हरिः राधाप्रियः हरीराधाप्रियः ।

इतिविष्णुसर्गसन्धिः ।

अमृता०—१४७. रोरे इति । भ्रातरिति—ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु ङौचेत्यनेन भ्रातृशब्दस्य वुद्धे गोविन्दे कृते "सररामयो"रिति ररामस्य विष्णुसर्गो वक्ष्यते । रामस्य वलदेवस्य अनुजं श्रीकृष्णमित्यर्थः । हरिरिति "रईश्वरात् सर्वेश्वर-गोपालयो रित्यनेन ररामः । राधाप्रिया यस्य सराधाप्रियः श्रीकृष्णः ।

इति श्रीहरिनामामृत व्याकरणे सन्धिप्रकरणे श्रीगोपालदास
काव्य – व्याकरणतीर्थ – विद्यारत्न – प्रणीता
अमृतास्वादिनी टीका सम्पूर्णा ।
समाप्तं प्रथमंप्रकरणम् ।

बाल०—अह्नो । रात्रि-रूप-रथन्तरादन्येषु परेषु अहन्शब्दसम्बन्धिनो विष्णु-सर्गस्य स्थाने र-रामो भवति । अहन् शब्दो दिवसवाची अहरह इति प्रथमैकवचनान्तस्य द्वितीयैकवचनान्तस्य वा वीप्सायां द्विरुक्तिः । अहर्गण इति अह्नां गण इति विग्रहः । यद्यपि वृत्तौ सर्वेश्वरगोपालयोरिति नोक्तम्, तथापि तयोः परयोरेवेत्याह—'सर्वेश्वर' इति । नेह इत्यस्मात् पूर्वं तेनेति योज्यम् । अहः पतिरिति समस्तमसमस्तं वा । एवमहः पाता । पाता रक्षिता । रात्र्यादौ तु न वर्जनादिति शेषः । अह्नो रात्रिरिति विग्रहः । अत्र 'आदरामगोपालयोरि' त्यनेन उरामः । ननु सूत्रे रात्रिशब्दोपादानात् रात्रशब्दे कथं र-रामो न स्यादित्यत्र सिद्धान्तमाह एकदेशेति यथैकदेश खण्डितेऽपि जनः स एवेति प्रतीतः । तद्वदिरामाभवोऽप्यत्र रात्रिप्रतीतरिति भावः । अहोरात्र इति अहश्च रात्रिश्चेति विग्रहे तद्धितकेशवारामः कर्त्तव्यः । टित् केशव संज्ञ इति वक्ष्यते । अहोरूपमिति विग्रहः । अहो रथन्तरमिति अहो रथन्तरशब्देन सामवेद उच्यते इति सामेति । वाच्यपदं दत्तम् ।।१४७।।

बाल०—रो रे । रामानुजं श्रीकृष्णम् । विष्णुसर्गसन्धि समापियति इतीति संज्ञा-सन्धिप्रकरणमिति संज्ञा च सन्धिश्च तयोः प्रकरणमिति ।।१४८।।

प्रणत्य परमात्मानं बालानां बुद्धिवृद्धये । सन्धिपादमृजुं कृत्वा व्याख्यातं हि सुहृन्मुदे ।

इति श्रीपरमभागवतोत्तम-श्रील हरेकृष्णाचार्यविरचियां श्रीमद्गोपीचरण दासाख्यपरिशोधितायाञ्च श्रीमद्धरिनामामृताख्य वैष्णवव्याकरणटीकायां बालतोषणी-नाम्न्यां प्रथमसंज्ञा-सन्धि-प्रकरणटीका समाप्ता ।।

अथ विष्णुपद प्रकरणम्

यएकः सर्वरूपाणां सर्वनाम्नां तथाश्रयः।
तस्यविष्णोः पदं सर्वं विष्णुभक्त्या निरूप्यते॥

१. अथ नामजानि विष्णु पदानि।

नाम्नो जातानि यानि विष्णुपदानि अथानन्तरं तानि निरूप्यन्ते।

२. अधातु-विष्णुभक्तिकमर्थवन्नाम।

अमृता०—१. सन्ध्यनन्तरमेव पदज्ञानस्यावश्यकत्वात् पदनिरूपणमपि विष्णु-सम्बन्ध्यनुशीलनमेवेति प्रतिपादयन् विष्णुपदप्रकरणं प्रक्रमते—य एक इति। यो-विष्णुरेक एव सर्वरूपाणां कृष्ण इत्यादीनां भवतीत्यादीनाञ्च निखिलपदानां तथा सर्वनाम्नां प्रथम-मध्यमोत्तम-पुरुषवाचिनां भवतु-युष्मदस्मदादि सकलशब्दानामाश्रयो व्यापकत्वेनास्पदं, तस्य विष्णोर्विष्णु सम्वन्धि सर्वं पदं पूर्वोक्तरूपं विष्णुभक्त्या विभक्त्या निरूप्यते साध्यते मयेति शेषः। सर्वनाम्नामित्यनेन कृत्तद्धितजानाञ्च ग्रहणम्। अपि च यएको विष्णुः सर्वरूपाणां यावत् स्थावर जङ्गमादि - दृश्यवस्तूनां तथा सर्व नाम्नां सकलसंज्ञानां वाचकानामिति यावत्, आश्रयोरधिष्ठानमिति; विष्णोराश्रयमन्तरेण वाच्यवाचकानां सर्वेषां सत्ताभावो दर्शितः, "आश्रिताश्रयविग्रहं श्रीकृष्णाख्यमिति श्रीस्वामिपादोक्तेः। तस्य विष्णोः सर्वंपदं स्थानं वैकुण्ठादिकं धाम विष्णुभक्त्यैव निर्णीयते, नत्वन्यसाधनै रित्यर्थः। विष्णुपदनिरूपणे भक्तिरिव पदनिरूपणे विभक्ति सहायिकेति सादृश्यम्। भक्ति रिति भज सेवायामित्यस्य भावे क्तिः, भजनमित्यर्थः।

विष्णुपदं तावद्द्विविधं नामजं धातुजञ्च; तत्र नामजानामेव प्रथममल्पायाससाध्य-त्वात् तानेवाह—अथेति।

अमृता०—२. किं तावन्नामेत्यपेक्षायां तत्स्वरूपमाह—अधात्विति। विष्णुभक्ति

बाल०—श्रीश्रीहरिः। यमर्थं वक्तुकामेन शब्दग्रामः प्रवर्तते। तस्य विष्णोः पदं कार्त्स्न्यं व्याचक्षेऽहं यथामति।

बाल०—पदनिरूपणमपि विष्णुसम्बन्ध्यनुशीलनमेव भवतीति प्रतिपादयन् तदा-रभते—य एक इति। यो विष्णुरेक एव सर्वरूपाणां सर्वपदानां कृष्ण इत्यादीनां भवतीत्यादीनाञ्च तथा सर्वनाम्नां सकलशब्दानामाश्रय आस्पदं स्थानमिति यावत् तस्य विष्णोर्विष्णुसम्बन्धि सर्वं पदं कृष्ण इत्यादिकं भवतीत्यादिकञ्च विष्णुभक्त्या विभक्त्या निरूप्यते साध्यते इत्यर्थः। सर्वनाम्नामित्यनेन कृत्समासजादीनां ग्रहणं भुवादीनाञ्चग्रहणं; तेषामव्ययत्वेन नामत्वात् दर्शनादौ शब्दत्वेन निर्दिष्टाच्च। तथा च यः सर्वरूपाणां सर्व-शरीराणां तथा सर्वसंज्ञानामाश्रयस्तस्य विष्णोः सर्वं पदं स्थानं वैकुण्ठादिकं विष्णुभक्त्यैव निरूप्यते, अलं केनचिदिति शेषः। तत्र च प्रथमं नामज-विष्णुपदानामेव निरूपणं कर्तव्यमित्याह अथेति॥१॥

भू सनन्ताद्या धातवः। स्वादि-तिवाद्या विष्णुभक्त्यः। विभक्त्य इति प्राश्चः। तान् धातून् ता विष्णु भक्तीश्च वर्जयित्वा यदर्थयुक्तं शब्दरूपं तन्नामसंज्ञंस्यात्। लिङ्गमित्येके प्रातिपदिकमित्यन्ये।

कमिति स्वार्थे कप्रत्ययस्तद्धितः। धातवश्च विष्णुभक्तिकाश्च तेषा समाहारो धातुविष्णु भक्तिकं, न धातु विष्णुभक्तिकमिति तत्। यद् वा धातवश्च विष्णुभक्तयश्च धातुविष्णु-भक्तयः, न विद्यन्ते धातु विष्णुभक्तयो यत्र तद्धातु विष्णुभक्तिकमिति पीताम्वरे समासान्तः कप्रत्ययः। अर्थो विद्यतेऽस्येति अर्थवत्, मतुप् प्रत्ययः। अर्थशब्दोऽत्राभिधेय वचनो नतु प्रयोजन वचनो धनवचनो वा। विष्णुभक्ति शब्देन तदन्तं विष्णुपदञ्च लक्ष्यते। तेन धातु-विष्णुभक्ति-विष्णुभक्त्यन्तेभ्योऽन्यं यदर्थयुक्तं तन्नामसज्ञमिति फलितार्थः। विष्णु भक्त्यन्तग्रहणं कृष्णः भवतीत्यादे र्नामत्वनिरासाय। विष्णुभक्त्यन्तस्य नामत्वे स्वीकृते—हनधातोर्भूतेश्वरे—'अहन' इत्यस्य "नामान्तस्येत्यादिना नरामहरप्रसक्तिः स्यात्। इह पर्युदास नञ् उभयत्रान्वेतीति विवृणोति—तान् धातूनित्यादिना। एवं व्याख्यानेन षष्ठी समासो निराकृतः। न च षष्ठीसमासे का हानि रिति वाच्यं, धातोर्विष्णुभक्तिवर्जनेन नाम्नो विष्णुभक्तीनां स्वादीनां नामत्वापत्तेः। अर्थवत् पदं व्याख्याति—तेचार्था इति। तदभिधायकं द्रव्यादि वाचकं, वाच्यास्तु द्रव्यादयएव। ऐश्वर्यादीति आदिशब्देन भक्तवात् सल्यादे र्ग्रहणं, द्वितीयादिना रूपरसादेश्च।

जातिः समानत्णमेकधर्मत्वम्। इदन्तु विवरणमात्रं, लक्षणं खलु तद्धिते वक्ष्यते—आकृतिग्रहणा जातिरित्यादिना। नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वं जातित्वमिति नैयायिकाः। तत्र ब्राह्मणो मुखमासीदिति वेदप्रमाणेन ब्रह्ममुखोद्भवत्वरूपसमान धर्मः सर्वेषु ब्राह्मणेषु समवायेन विद्यत एवेति ब्राह्मणत्वं जातिः। एवं विशान-सास्नादिमत्व-समधर्मस्य सर्वेषु

बाल०—अधातु। विष्णुभक्तय एव विष्णुभक्तिकाः स्वार्थे कप्रत्ययस्तद्धितः। लक्षणया विष्णुभक्त्यान्तानि पदानि वा गृह्यन्ते धातुपदेन धातुत्वानि वा धातुत्वानीति केवलसत्तादिसिद्धक्रियावाचि-भूप्रभृतिधातुपराणीत्यर्थः। अनेनानुसन्धानेन भूप्रभृतीनां विष्णुपदानां विष्णुभक्तीनाञ्च ग्रहणमत्र सुचितमिति। धातवश्च विष्णुभक्तिकाश्च तासां समाहारः धातुविष्णुभक्तिकं समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वञ्चेति ब्रह्मत्वमेकत्वञ्च ततश्च न धातुविष्णुभक्तिकमधातुविष्णुभक्तिकमिति विग्रहः। धातुविष्णुभक्ति विष्णुभक्त्यन्त-भिन्नमर्थवन्नात्मेयर्थः। तान् धातून् ता विष्णुभक्तीश्च वर्जयित्वा यदर्थयुक्तं शब्दरूपम् उक्तपिति शेषः तन्नामसंज्ञं भवतीति तु फलितार्थकथनम्। किन्तु लक्षणया विष्णुपदग्रहणपूर्वक-वर्जनं विष्णुपदलक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वेन विष्णुपदस्य नामत्वाभावात्। यद्वा धातवश्च विष्णुभक्तयश्च धातुविष्णुभक्तयः न विद्यन्ते धातुविष्णुभक्तयो यत्रेति विग्रहे समासान्तः कप्रत्ययस्तद्धितः। अधातुकम् अविष्णुभक्तिकञ्चाऽर्थवन्नामेत्यर्थः। धातून् वर्जयित्वेति तु फलितार्थकथनम्। विष्णुभक्तिश्चेत्यपि फलितार्थमित्यर्थः। अर्थवदिति अर्था अस्य सन्तीत्यर्थे मतुप्रत्ययस्तद्धितः। मतोर्मोव इत्यने मरामस्य वरामः। न यदि धातुविष्णुशक्तिभिन्नमर्थवन्नाम, तर्हि कथं स-नान्त-संख्यात्: कतेश्चत्यत्र जस्शसोरौस्

३. प्रकृतिः पूर्वा ।

साच नामधातु भेदाद् द्विविधा ।

गोषु समवायेन विद्यमानत्वाद् गोत्वञ्च जातिः । व्यष्टि ब्राह्मण गवादे विनाशेऽपि समष्टि रूपिणां तेषां युगपद विनाशाभावेन तत्तद्धर्माणां सत्त्वाज् जाते र्नित्यत्वं ज्ञेयम् । अर्थवद् ग्रहण-प्रयोजनमाह—अर्थवदिति । यद्यपि एकाक्षरकोषे अरामादि प्रत्येक वर्णस्यार्थो निरूपितोऽस्ति तथापि कृष्णेत्यादौ वर्णसमूहस्य तत्तदर्थाविवक्षितत्वेन नार्थवत्त्वम्, अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्य न ग्रहण मिति न्यायात् । ननुविष्णुभक्ते र्नामत्वाभावात् कथं "ब्रह्मतो जस-शसोः सि" रित्यादौ शस् विभक्तेरुत्तरं पुन र्विष्णुभक्तेरुत्पत्तिः ? सत्यमुच्यते—सर्वत्रानुकृत्य शब्दत्व व्यवहारान्न दोषः । अनुकार्यानुकरणयो र्भेदविवक्षयाअर्थवत्त्वेन सर्वेषां नामत्वाद् विष्णुभक्ति रुत्पद्यत एव। तयोरभेद विवक्षायान्तु पृथगर्थाभावान्न नामत्वं, ततएव तदुत्तरं विष्णुभक्तेर्नोत्पत्तिः । तस्यैव दृष्टान्तो गवित्ययमाहेति ।

ननुपाणिनीयाः "कृत्तद्धितसमासाश्चे"ति पृथक् सूत्रयन्ति, असन्मते तदभावात् कथं समाधीयतइति चेत तदुच्यते—कृत् प्रकरणे स्वयमेव वक्ष्यति—नामसंज्ञायां प्रत्ययेषु विष्णु भक्तिमात्रवर्जनात् कृत्तद्धितयोरपि नामत्वं सिद्धमिति । तत्र कृत्तद्धित-शब्दाभ्यां कृदन्त तद्धितान्तौ लक्ष्येते इतिच प्रतिपादितम् । अथ समासस्य धातुविष्णुभक्तिराहित्वेन अर्थ-वत्वान्नामत्वं स्वतः सिद्धं; किन्तु तत्र समासग्रहणम् अर्थवत् समुद यानां मध्ये समासस्यैव नामत्वं नतु वाक्यस्येतिनियमाद् वाक्यनिरासर्थं ज्ञेयम् । स्वमते–क्रियान्वितपदसमष्टेरेव वाक्यत्वात् अथच विष्णुभक्तिमन्तरेण पदासिद्धेश्च व्यावृत्तिः स्वतएव घटत इति मन्य-मानो ग्रन्थकार आचार्य सूत्रं नानुससार ।

अमृता०—३. प्रकृतिरिति । पूर्वा पूर्वस्थिताभवतीत्यर्थः । परिभाषा सूत्रमिदम् ।

इत्यत्र विष्णुभक्ते रौस् । भुवः भूरित्यत्र ङस् क्रियाविशेषणं कर्मेत्यत्र तस्यालिङ्गस्य विशेषणमिति ब्रह्म इत्यत्र च क्रियाविशेषणष्य च ब्रह्मत्वं सिद्धयति । सत्यमुच्यते सुत्रे वेदवद्व्यवहरात सर्वमनुकरणे वा इत्यस्माच्च जस्शसोरित्यत्र भुवः भूरित्यत्र च विष्णु-भक्तिर्भवत्येव क्रियाविशेषणमित्यत्र अलिङ्गमव्ययसंज्ञमित्यनेन भ्वादीनामव्ययत्वं नाम-लक्षणे वर्जनाच्च नामत्वाभावत्वमिति न कश्चिद्विरोधः । भूसनान्ताद्या इति भूश्च सनन्तश्च भूसनन्तौ आद्यौ येषामिति विग्रहः । अर्थयुक्तमिति अर्थैर्युक्तमिति विग्रहः । अर्था-नेवाह चेति तद्युक्तं ततभिधायकमिति वाच्य-वाचकसम्बन्धी ज्ञेयः । तदाश्रयी । ऐश्वर्या-दिति ऐश्वर्यादिश्चासौ शब्दस्पर्शादिकश्चेति विग्रहः । क्वचिद्विशेषणेन च विशेषणं समस्यत इत्यनेन श्यामराम समासः । ऐश्वर्यान्दिः शब्दस्पर्शादिकश्चेत्यर्थः । प्रथमादिशब्देन भक्तवात्सल्यादेर्ग्रहणम् । द्वितीयादिशब्देन रूपरसगन्धादीनां ग्रहगम् । समानत्वं सामान्यम् ऐक्यमिति यावत । समानां सत्समैक्ये स्युरिति नानार्थवर्गः । तथाच एकत्वे सत्यप्यनेकव्यक्तौ सामान्य जारिरित निर्गलितार्थः । यथोक्तमन्यैश्च । नित्यैकत्वे-सत्यनेकसमवेतत्वं समवायि-सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वं नित्यमेकमनेक व्यक्तिमत्वं सामान्यं जातिरित्यर्थः ॥२॥

ते चार्था द्रव्य-गुण-जाति-क्रियाः। तद्युक्तं तदभिधायकं शब्दरूपमित्यर्थः। द्रव्यं परमेश्वरमारभ्य मृन्मय पर्यन्तं सर्वं वस्तु। गुणस्तदाश्रयी, ऐश्वर्यादि शब्दस्पर्शादिको धर्म्मः। जातिः समानत्वं, ब्राह्मणत्व-गोत्वादि। क्रिया-धात्वर्थः, सत्ताहार-ज्ञान-विहार प्रभृतिः। अर्थवद्ग्रहणात् कृष्ण इत्यादौ प्रत्यक्षरं नामत्वं न स्यात्, गवित्ययमाहेत्यत्र च।

४. **प्रत्ययः परः।**

सच स्वाद्याख्यात-कृत्तद्धित-भेदाच्चतुर्विधः।

५. **तत्र नम्नः सुं औ जस्। अम् औ शस्। टाभ्याम् भिस्। ङे भ्याम् भ्यस्। ङसि भ्याम् भ्यस्। ङस् ओस् आम्। ङि ओस् सुप्।**

एते सुँ इत्यादय एकविंशतिर्विष्णु प्रत्येकं नाम्नः परे स्युः। तासु च सुँऔ जस् प्रथमा। अम् औ शस् द्वितीया। टाभ्याम् भिस् तृतीया। ङेभ्याम् भ्यस् चतुर्थी। ङसि भ्याम् भ्यस् पञ्चमी। ङस् ओस् आम् षष्ठी। ङि ओस् सुप् सप्तमी। तत्र प्रथमाया एकवचनं सुँ। द्विवचनं औ। वहुवचनं जश्। द्वितीयैक वचनंअम्। द्विवचनं औ। वहुवचनं शस् इत्यादि ज्ञेयम्। एते स्वादयः। स्यादय इत्यन्ये। सुवित्येके।

अमृता०—४. प्रत्ययइति। प्रत्ययः परस्यो भवति। इदमपि परिभाषासूत्रम्। स्वादि वक्ष्यमाणः। आख्यातः तिवादिः, सनादिश्च। कृत्तद्धिताश्च तत्तत् प्रकरणे दर्शयिष्यन्ते।

अमृता०—५. तत्रेति। तत्र नामधात्वोर्मध्ये नाम्न उत्तरं स्वादयः स्युः। धातोस्तु तिवादय इत्याख्यात प्रकरणे वक्ष्यते। स्वादय इति स्वादि-संज्ञका स्वमते। अन्य इति व्योपदेवादयः। एक इति पाणिन्यादयः। अत्र एकशब्दो मुख्यार्थवाची, पाणिनि मुनेरेव वैयाकरणेषु मुख्यत्व वीकारात्।

बाल०—प्रकृतिः। प्रकृतिः पूर्वा पूर्वस्थिता भवति। परिभाषासूत्रमिदम्। ननु प्रकृतिरेव केति तत्राह सा चेति। सा च प्रकृतिः ।।३।।

बाल०—प्रत्ययः। प्रत्ययः परः परस्थितो भवति। इदमपि परिभाषासूत्रम्। प्रत्ययमेवाह स चेति स च प्रत्ययः ।।४।।

बाल०—तत्र। तत्रेत्यादिकं सुवित्यन्तं लक्षणमिदं प्रत्येकमिति क्रमेणेत्यर्थः।

तत्र जशढङपा इत-उँश्च सोँः ङसेरिश्च। एति गच्छति न तिष्ठतीति इत्, अनुवन्धश्च। सच उच्चारणार्थश्चिह्नार्थो विध्यादिनिमित्तश्च क्वचित्।

इतश्चैते—सिद्धोपदेशे विरिञ्चौ च सविष्णुचाप सर्वेश्वर इत्, अन्त्यो विष्णुजनश्च। आङ्माङ् उञ् नञ्सु च। बिरिञ्चौ तु क्वचित्। धात्वादि

तत्रेति—तत्रविष्णुभक्तिषु जटौ प्रत्ययाद्या जटणपा इत्यनेन इतौ। शङौ श-कवर्गावतद्धित इत्यनेन। अन्त्य विष्णजनश्चेति प इत्। सिद्धोपदेशेत्यादिना सोँरुरामः। तेनैव ङसेरि रामश्च। इसशब्दंव्युत्पादयति—एतीति। अनुवन्धश्च प्राचाँ मते। इतकरण फलमाह—सचेति। तत्रोच्चारणाथः सुँरित्यादे रुँरामादिः। चिह्नार्थो जसादे जंरामादिः। विधि निमित्तो ङेङसि प्रभृतीनां ङरामः, औच् शि प्रभृतीनां चरामः शरामादिश्च। विध्यादीति आदि शब्दः प्रतिषेधबोधकः; तद् यथा यगादेः करामादिः। परिभाषामाह—सिद्धोपदेश इति। यद्यपीह शास्त्रे—"धातुसूत्र गणोणादि वाक्यलिङ्गानुशासनं। आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीत्तिता" इत्युपदेशलक्षणं दृश्यते, तथापि सिद्धोपदेश-शब्देन धातु-प्रत्यय-विष्णूनामेव ग्रहणं, तेषामेव स्वतः सिद्धत्वात। तत्र धातौ सविष्णुचापसर्वेश्वर इद् यथा—चिती संज्ञाने इत्यादीनामी रामादिः। प्रत्यये यथा सुँप्रभृतेः उँरामादिः, ङसेरिरामश्च। विष्णौ यथा नुट्तुक् प्रभृतेरुरामादिः; एषु सविष्णुचापत्वं प्राचीनैः स्वीकृतम्। विरिञ्चौ यथा—तस्मात् सोनः पुंसीत्यादौ नरामादे ररामादिः। अन्त्यविष्णुजनश्चेति—धातौ—स्फुटिर बिशरणे इत्यस्य ररामः। प्रत्यये तिपः परामः। विष्णौ नुटः टरामः। आङादिषु अन्त्यविष्णुजन इद् भवति। विरिञ्चौ तुक्वचिदिति—अन्त्यविष्णुजन इत् इत्यनुसज्यते। तद्यथा—"हरितो ङेरौच्" इत्यत्र औचाः चराम इत्। क्वचिद् ग्रहणात्। पाददन्तादीनां पद्दत् प्रभृतिविरिञ्चिषु दरामादि नं इत्। धात्वादि ञिटुडु इतिसमाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वञ्च। त्रिफलादीनां ञि, टुओश्वि प्रभृतीनां टु; डुकृञादीनां डु इत् स्यात्। जटणपा इति—जराम इद् जसः, टरामः टादीनां, ण रामः णलादीनां, परामः पमादीनाम्। शकवर्गाविति—तद्धितेतर प्रत्यये शरामः कवर्गश्च इद्भवति। तद् यथा शराम इत् शसादीनां, करामः क्वस्वादींनां, खरामः खलादीनां, घरामः घणादींनां, ङरामो ङे प्रभृतीनां। अतद्धित इति किं—वहुशः, ग्रामक इत्यादौ तद्धिते नेत्। विष्णुभक्तौ तनसमा इतो नभवन्ति। क्रमेण यथा—यात् ईरन् जस् भ्यामित्येवमादयः। विष्णुभक्ताविति किम्—कृत्प्रत्यये "सर्वेश्वरान्त धातोर्यत्" इत्यत्र तरामः, "रुधादेः शप्खण्डी श्नमि"त्यत्र मराम इद्भवत्येव, "अन्त्यविष्णुजनश्च" इत्यनेन। ननु ङसि नुट् प्रभृते रिरामोरामौ कथमितौ स्यातां सविष्णुचापत्वाभावादिति चेत्तत्राह—अरामादीति। अत्र शास्त्रे

विष्णुभक्तीनामवान्तरभेदानाह तासु चेति। तासु विष्णुभक्तिषु मध्ये सुं औ जस् प्रथमेत्यादि। प्रथमादिष्वप्यवान्तरभेदानाह तत्र चेति। तत्र प्रथमादिषु मध्येषु प्रथमाया एकवचनं सुँ इत्यादि। एता विष्णुभक्तयः स्वादय इति स्वादिनामात इत्यर्थः ॥५॥

ञिदुङु। प्रत्ययाद्या जटणयाः। श-कवर्गावतद्धिते। न विष्णु भक्तौ तनसमा इति। सिद्धोपदेशा धातुप्रत्ययविष्णवः। अरामादिभेदाः सविष्णुचापास्तु वैदिकाः।

६. नामसंज्ञश्चतुर्विधः।

यथा पुंलिङ्गः पुरुषोत्तमसंज्ञः। स्त्रीलिङ्गो लक्ष्मी संज्ञः। नपुंसकलिङ्गो ब्रह्मसंज्ञः। अलिङ्गोऽव्यय संज्ञः।

तत्र सर्वेश्वरान्ताः पुंलिङ्गाः। तत्र अरामान्ताः कृष्ण शब्दः तत्र प्रथमैक वचने कृष्ण सुँ इति स्थिते उँराम उच्चारणार्थः।

सर्वेश्वरस्य सविष्णुचापत्वमङ्गीकृत्य इत्कार्यं क्रियते, तत्तुवैदिक नियमानुसारेण, तत्रैव सर्वेश्वराणां सविष्णुचापत्व-निर्विष्णुचापत्वभेद दर्शनात्। लौकिके चवैदिक प्रयोगमिश्रित त्वात् क्वचित् तद्विधिमपेक्ष्यैव लौकिक कार्यं विधीयते; यथा क्वसु कि कानादीनां छान्दसत्वेऽपि लौकिके च व्यवहारः। तद्वदिहापि ज्ञेयम्।

अमृता०—६. नामेति। नामसंज्ञा यस्य सनाम संज्ञः शब्दश्चतुर्विधः। नाम्नोऽवस्था भेदेन संज्ञाभेदं दर्शयति—पुंलिङ्गइत्यादिना। पूरुषेषु प्रथम-द्वितीय-तृतीय-संज्ञकेषु विष्णु-रूपेषूत्तमः पुरुषोत्तमः परव्योमाधीशो नारायणः। यद्वा "अतोऽस्मि लोकेवेदेचप्रथितः पुरुषोत्तम" इति श्रीगीतायां श्रीभगवदुक्त्या स्वयं श्रीकृष्ण एव। लक्ष्यते दृश्यते स्निग्ध दृष्ट्या अनया विश्वमिति लक्ष्मीर्भगवत् स्वरूपशक्ति विशेषः। वृहत्त्वाद् वृंहनत्वाच्च तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमिति ब्रह्मसंहिता।

बाल०—तत्रेति। तत्र विष्णुभक्तिषु ज-ट-श-ङ-पा इतो भवन्ति जटनाश्चेत्यनेनेति ज्ञेयम्। सोरुँश्च इद्भवति सोरित्येकदेशनिर्द्देशः सुँ इत्यस्येत्यर्थः। ङसेरिरामश्च इद्भवति तत्र उँः सिद्धोपदेशे विरिञ्चौ च विष्णुचापसर्वेश्वर इदित्यनेन इरामोऽपि तेनैवेति ज्ञेयम्। इरामस्य स विष्णुचापत्वम् अरामादिभेदाः सविष्णुचापास्तु वैदिका इत्यनेन सेत्स्यति। इच्छब्दः क्विवन्तः। स चेति स च उच्चारणार्थो भवति यथा सुँ इत्यादेरुँरामादिः। चिह्नार्थश्च यथा जसादेर्जरामादिः। क्वचिद्विध्यादिनिमित्तश्च अथवा क्वचिदिति सर्वत्र वाच्येयं विध्यादिर्निमित्तं यस्येति विग्रहः। यथा ङे ङसि ङस् नुट औच् आच् शि इत्यादिनां ङराम-टराम-चराम-शरामादिः। आदिशब्देन प्रतिषेधस्य ग्रहणम्। प्रतिषेध-निमित्तो यथा। तत्र ज-टौ प्रत्ययाद्या जटणा इत्यनेन। शङौ शकवर्गावतद्धित इत्यनेन। पस्तु अन्त्यो विष्णुजनेत्यनेन। यगादीनां करामादिश्च। तथाहि किच्च ङिच्च कंसारिः कंसारौ परे गोविन्द-वृष्णीन्द्रनिषेधो भवति। ईशस्य न गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ कंसारिष्विति प्रतिषेधलक्षणम्। एवमपरमपि ज्ञेयम्। इतश्चेत इति एते अनुबन्धाः प्राचीनैरपि इतश्चोच्यन्ते इत्यर्थः। तस्मादत्र संज्ञाभेदो नास्तीति भावः।

सिद्धो। सिद्धोपदेशे धात्वादौ विरिञ्चौ च स्थितः सविष्णुचापसर्वेश्वर इद्भवति।

तत्र धातौ यथा चिती संज्ञाने इत्यादीनामीरामादिः। द्व्यक्षरधातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः स विष्णुचापो जागृ कथादि वर्जमित्यनेन इरामस्य सविष्णुचापत्वम्। प्रत्यये यथा सुँ इत्यादेरुरामादिः ङस्यादीनामपि इरामादिश्च सविष्णुचापत्वस्वीकारात्। विष्णौ यथा नुट् लुम् लुक् इत्यादीनामुरामादिः, अत्रापि सविष्णुचापत्वस्वीकारात् एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम्। विरिञ्चौ यथा तस्मात् सो नः पुंसि इत्यादि लक्षणैर्विहितानां नरामादीनामरामादिः। पुंसः पुमसुः कृष्णस्थाने इत्यनेन विहितस्य पुमसोरुरामश्च एवमन्यत्र च ज्ञेयम्। अन्त्यो। सिद्धोपदेशे अन्त्यो विष्णुजनश्च इद्भवति। तत्र धातौ यथा स्फुटिर विशरण इत्यादीनां ररामादिः। प्रत्यये यथा तिवादीनां परामादिः। विष्णौ यथा। नुड़ादीना टरामादिः।

आङ। एतेषु अन्त्यो विष्णुजन इद्भवति।

विरि। विरिञ्चौ तु अन्त्यो विष्णुजनः क्वचिद्भवति यथा हरितो ङेरौच् इत्यादि लक्षणैर्विहितानामौजादीनां चरामादिः। वाहो वा ऊठ् भगवतीत्यादि लक्षणैर्विहितानाम् ऊठादीदां ठरामादिश्च क्वचिद्ग्रहणात् पाददन्तादीनां पद्दादिषु विरिञ्चिषु अन्त्यो विष्णु-जन इन्नभवति। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। धात्वादि। धातोरादिभूतं ञि टु डु इद्भवति। ञि टु डिवति समाहारे ब्रह्मत्वमेंकत्वञ्चेति ज्ञेयम्। तत्र ञि-ञिमिद ञिफलादीनां टु भ्राजृ टुओस्वि प्रभृतीनाम्। डुँ डुपचषादीनाम्।

प्रत्यया। प्रत्ययस्यादिभूता जटणा इती भवन्त्वि। अत्रलिपिकार प्रमादात् परामः पतितः अतोऽत्र सूत्रे जटणपा इति पाठः सत्यः। पमित्यत्र प्रत्ययादि परामेत्वसम्भवात्। तत्र जरामोजसादीर्ना टरामष्टादीनाम्। णरामो णलादीनाम्।

शक। तद्धितभिन्ने प्रत्यये शकवर्गौ इतौ भवतः। तत्र शराम शसादीनाम्। करामः क्वसु कि कानादीनाम्। खरामः खल् खशादीनाम्। घरामो घिनुण् घनादीनाम्। ङरामो ङे ङसि ङसादीनाम्। अतद्धित इत्युपादानात्। बह्वल्पार्थात् कारकाच्छस् माङ्गलिके इत्यनेन विहितस्य शसः शराम इन्न भवति। एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम्। स एषां ग्रामणीरिति। क इत्यनेन विहितस्य कस्य करामः। सर्वचर्मणावृतः ख नृसिंह खावित्यनेन विहितस्य खस्य खरामश्च इन्नभवति। एवमन्यस्यत्रापि वोद्धव्यम्।

न विष्णु। विष्णुभक्तौ तनसमा इतो न भवन्ति। अतः यादादीनां तनाम इन्न भवति। ईरन् अन् इत्यादीनां नराम इन्न भवति। जस् शस् भिस् भ्यसादीनां तस् थसादीनाञ्च सराम इन्न भवति। अम् भ्याम् आम् इत्येषाँ याताम् यातम् याम् इत्यादीनाञ्च मराम इन्न भवति। अण्त्यो विष्णुजनश्चेत्यनेन प्राप्ते निषेधः। सिद्धोपदेशानाह सिद्धोपेति। ननु ङस्यादीनामिरामादि र्नडादीनामुराम्यदिश्च। कथमिद्भवतु सविष्णु-चापत्वाभावादिति चेत्त्राह अरामादिभेदाः अरामादिविशेषाः। अरामविशेषादयः सविष्णु-चापा भवन्ति। ते तु वैदिका अतएतन्मतानुसारेण सविष्णुचापत्वादिद्भवति इति ज्ञेयम्। ननु तर्हि धातोः सर्वेश्वरस्य सविष्णुचापत्वं कथं विधीयते इति चेत् तत्रोच्यते जागृ कथादि वर्जं द्व्यक्षर धातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः सविष्णुचापः, चकासृ प्रभृतीनामन्तःसर्वेश्वरः सविष्णुचापः, ओरँ ओश्वि प्रभृतीनाम् पूर्वः सर्वेश्वरः सविष्णुचाप इति विशेषप्रतिपत्तेः स्पष्टार्थम्॥६॥

७. विष्णुभक्तिसिद्धं विष्णुपदम् ।

विष्णुभक्ति सिद्धं नाम्नो धातोर्वा रूपं विष्णुपद संज्ञं स्यात् । पदमिति प्राञ्चः ।

गङ्गास्रोतो वदेवास्य भवेद् विधिरतः परः ।
नारोहति परः पूर्वं यत्रोपाधिर्न विद्यते ॥

८. स-र-रामयो र्विष्णुसर्गो विष्णुपदान्ते ।

सररामयोः स्थाने विष्णुसर्गः स्यात् विष्णुपदान्ते विषये । कृष्णः ।

एवं सूत्रं ततो वृत्तिरिति विस्तर शङ्कया ।
सूत्रेणैवार्थसिद्धिस्तु यथा स्यात् क्रियते तथा ॥

अमृता०—७. विष्णु इति । विष्णुभक्त्या विभक्त्या सिद्धं निष्पन्नं यत् तद्विष्णु पदसंज्ञंभवति । एतेन लिङ्गानां नाम्नोऽनतिरिक्तत्वं सूचितम् तत्रचतुर्विधेषु नामसंज्ञेषु सर्वेश्वरान्ताः पुंलिङ्गाः शब्दाः प्रथममुच्यन्त इतिशेषः । तत्र सर्वेश्वरान्त पुंलिङ्गेषु कृष्ण शब्दः साध्यते । अपि च विष्णोः पदंचरणं धामवा विष्णु भक्त्यैव सिद्धं लब्धंभवति नत्वन्यसाधनैरिति श्लेषार्थः ।

अधिकारविशेषमाह—गङ्गेति । अस्य ग्रन्थस्य अतः परो योविधि र्वक्तव्यः सगङ्गा स्रोतोवद्भवेत् । यत्र उपाधि विशेष कथनं न विद्यते तत्र परविधिः पूर्वं विधिं नारोहति । गङ्गास्रोतो यथा उपाधौ वाधाप्राप्तायां सत्यां प्रतीपं गच्छति तथा विशेषकथने सति परविधिः पूर्वमारोहतीत्यर्थः । प्रायशस्तु पूर्वपूर्वविधिः पर पर विधिमनपेक्ष्यैव सिद्धतीति फलितार्थः । परविधेः पूर्वत्रारोहणं—"पतिस्त्वसमासे", "धातोरीदूतोरियुवौ" इत्यादिषु ज्ञेयम् ।

अमृता०—८. सररामयोरिति वृत्तावेव व्याख्यातम् । विष्णुपदान्त इति किम्—अस्ति, कुर्यात् । एवमिति—वृत्तिः सूत्रविवृतिः । तल्लक्षणं यथा—सूत्रस्थितानां वर्णानामर्थानाञ्च प्रतीतये । विशुद्धा चाधिका व्याख्या वृत्ति रुक्ता मनीषिभिरिति ।

यथा येन प्रकारेण सूत्रेण हि अर्थसिद्धिरर्थागमः स्यात् तथा तेनप्रकारेण क्रियते सूत्रमितिशेषः । इतः प्राग् वृत्ति कथनन्तु सन्धिसुवोधाय ज्ञेयम् । साधनानुक्रमार्थं साधन परिपाट्यर्थं अधिकारेण दूरानुवृत्त्या न सूत्र्यते सूत्रं न क्रियते । अन्यथा अधिकारेण सूत्रे कृतेतु अज्ञप्रवोधनी वालवोधोपयोगिनी भिन्ना प्रक्रिया मृग्येत अन्वेषणीया स्यात् । अयं

बाल०—नामेति नाम संज्ञा यस्य स नामसंज्ञः शब्दः । पुलिङ्गः पुरुषोत्तमसंज्ञ इत्यादीनि संज्ञासूत्राणि । तत्रेति तत्र चतुर्विधे सर्वेश्वरान्ताः पुंलिङ्गा उच्यन्ते इति शेषः । तत्रेति तत्र सर्वेश्वरान्त पुंलिङ्गेषु ॥७॥

बाल०—विष्णुः । गङ्गेति अस्य ग्रन्थस्य अतः परो यो विधिर्वक्तव्यः, स गङ्गा स्रोतवदेव भवेत् । अतो हेतोः परो विधिः पूर्वं नारोहति गङ्गास्रोतोऽपि पूर्वं नारोहतीति ।

साधनानुक्रमार्थश्च नाधिकारेण सूत्र्यते ।
अन्यथा प्रक्रियाभिन्ना मृग्येताज्ञप्रबोधनी ॥
प्राङ्‌निमित्तं तथा कार्यो कार्यं परनिमित्तकम् ।
अत्रक्रमेण वक्तव्यं प्रायः सूत्रेषु सर्वतः ॥
क्रमाच्च पञ्चमी षष्ठी प्रथमा सप्तमी तथा ।
क्वचित् परनिमित्तस्य स्थाने विषयसप्तमी ॥
कार्य पूर्वे पञ्चमीस्यात् कार्यस्थाने तु षष्ठिका ।
कार्ये तु प्रथमा वाच्या सप्तमी विषये परे ॥
विना योगे निषेधार्थं द्वितीया क्वचिदिष्यते ।
सर्वाङ्गा सम्भवो यत्र स्वल्पान्यङ्गानि तत्रतु ॥
अतो वालकवोधाय पदंविच्छिद्य मूर्द्धनि ।
अङ्कादेया विष्णुभक्ति व्यक्तार्थं सर्वसूत्रतः ॥

यथा स-र-रामयोरिति कार्यस्थानं, विष्णुसर्ग इति कार्यं, विष्णुपदान्तो विषयः। परनिमित्तं पूर्वनिमित्तश्चात्र नास्ति। तत्तच्च यथा—इद्वय-मेवयः सर्वेश्वरे इत्यत्र परनिमित्तं सर्वेश्वरः। ततःशश्छोवेत्यत्रपर्वनिमित्तं

भावः—पाणिन्यादि शव्द शास्त्रेषु गुण-वृद्धि तत् प्रतिषेधादि कार्याणां यद् यत्र वक्तुमारब्धं तत्रैवाधिकारेण तत् सर्वमेवोक्तम्। यथा प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे गुणप्रतिषेधः। आख्यातकृत् सन्नादिषु यत्र यत्र गुणप्रतिषेध आवश्यक स्तत् सर्व एवानुवृत्त्या तत्रैवाध्याये सन्निवेशिताः। एवमधिकारेण सूत्रकरणे सूत्रकारस्य श्रम लाघवमवश्यं स्यात् किन्तु कोमलमतिछात्राणां साधनक्रमः क्लिष्ट तरो भवेत्। अतः साधन क्रमसुवोधार्थमस्मद् ग्रन्थकृता दूरानुवृत्तिरूप क्लिष्टपथंविहाय प्रायशो यत्र यत् प्रयोजनं तत्र खलु तदुक्तम्। तथैव प्रक्रिया कौमुदी कारादिभिः पाणिनीयाष्टाध्याय सूत्राणां विपर्यय-सन्निवेशेन सुगमी-कृतः साधनक्रमः। भट्टोजीदीक्षितोऽपि तमेवानुससार। कार्यपूर्वे पञ्चमीत्यादिग्रन्थः पूर्वोक्तस्यैव विवरणम्। सर्वाङ्गेति–एतावताग्रन्थेन कथितानि प्राङनिमित्तादि पञ्चाङ्गानि सर्वेषु सूत्रेषु हि भवेयुरिति न नियमः, प्रायः शव्दोपादानात्। सूत्रार्थ-सुवोध प्रकार-नाचष्टे—अत इति। सर्वसूत्रत इति—सप्तम्यां तसिः, सर्वसूत्रेष्वित्यर्थः। उदाहरणैः स्फुटीकरोति—तौनिषिद्धावित्यन्तेन। शसादीति–शसादिना सह जसो भेद ज्ञापनायेत्यर्थः। आदि शव्देन ङसादेश्च ग्रहणम्। एवमिति—ङसेरिरामो ङसा सह भेदज्ञापनाय ज्ञेयः।

एतद्व्यवस्थाया स्थानमाह यत्रेति तस्माद्यत्र उपाधिर्विद्यते तत्र परविधिः पूर्वमारोह-तीत्यर्थः। अत्र उपाधिर्विशेषणम्। गङ्गास्रोतसोऽपि समुद्रनिकटे पूर्वारोहणं भवतीति।

विष्णुदासः। विष्णुजन इत्यादौ हरौ विनेति तौ निषिद्धौ। तदेवं प्रथमाया एकवचने कृष्णः। द्विवचने कृष्ण औ, ओद्वये औ कृष्णौ। वहुवचने जस् जइत् चिह्नार्थः शसादि भेद ज्ञापनाय। एवमुत्तरत्रापि। त्रिविक्रम-विष्णुसर्गौ, कृष्णाः। द्वितीयैक वचने कृष्ण अम्।

९. दशावतारादमृशसो ररामहरः।

कृष्णम्। हरोऽयं ज्ञापयति—सूत्रे प्रत्ययरूपनिमित्तादन्यस्य हरोऽपि महाहरः। तेनैकात्मकमात्र निमित्तत्वान्नत्रिविक्रमः। द्वितीया द्वित्वे-कृष्ण औ कृष्णौ। पूर्ववद् वहुत्वे कृष्ण शस्। शइत्, अरामहरः। एकदेशविकृतमनन्यवत्, तथापि तन्नामैवेत्यर्थः। ततश्च,—

त्रिविक्रम इति—दशावतार एकात्मके मिलित्वेत्यादिना। विष्णुसर्ग इति—स-र-रामयो रित्यादिनेति शेषः।

अमृता०—९. दशावतारादिति। दशावतार संज्ञकवर्णादुत्तरयोरमृशसो विष्णु भक्त्यो ररामो हरो भवति। तेनकृष्णमिति सिद्धम्। ननुकृष्णमित्यत्र महाहरत्वानुक्ते ररामस्य स्थानिवत्वेन दशावतार इत्यादिना त्रिविक्रमः कथं न प्रवर्तते? तत्राह—हरोऽयमिति अयं हर एतज् ज्ञापयति—सूत्रे शङ्कितविधिसूत्रे प्रत्यय रूपं यन्निमित्तं ततोऽन्यस्य हरोऽपि महाहरो मन्तव्यः। प्रकृते अमोऽरामः शङ्कित-त्रिविक्रम विधानस्य विधान सूत्रे नहि प्रत्ययरूपनिमित्तं किन्तु एकात्मकमात्रं निमित्तम्। तस्मादस्य महाहरत्वान्न त्रिविक्रम इत्यर्थः। कृतेच तस्मिन् हरविधिरिह निरर्थकः स्यादिति विधान सामर्थ्याच्च हरस्यास्य महाहरत्वं मन्तव्यम्। ननुचाग्रिम सूत्रे त्रिविक्रमःशसीति शस एवपर निमित्तातोक्तेः शसोऽराम हरेसति शसत्वाभात् कथं त्रिविक्रम-प्रवृत्तिरिति शङ्कां समादधदाह—एकदेशेति। तेनात्र शसोऽराम हरेऽपि—सराम एव शस्नामा भवतीति फलितम्।

परविधिः पूर्वारोहणस्तु पतिस्त्वसमास इत्यत्र ख्यत्याभ्यां ङसिङसोरुस् इत्यादिषु च व्यक्तं भविष्यति ॥८॥

बाल०—सरराम। एवमिति वृत्तिः सूत्रार्थ विवरणम्। विस्तरशङ्कया बाहुल्य-भयेन। यथा येन प्रकारेण सत्रेणैवार्थसिद्धिः स्यात्, तथा तेन प्रकारेण कियते सूत्रमिति शेषः। ननु किं सूत्रलक्षणं किञ्चिद्वृत्तिलक्षणमित्यपेक्षायां तयोर्लक्षणञ्च दर्श्यते। स्वाल्पक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुरिति माध्वभाष्योक्तम्। सूत्रस्थितानां वर्णानामर्थानाञ्च प्रतीतये। विशुद्धा चाधिकाव्याख्या वृत्तिरुक्ता मनीषिभिरिति। साधनेति साधनान्तक्रमार्थं साधनपरिपाट्यर्थम्। अधिकारेण अनुवृत्तेत्यर्थः। न सत्र्यते न सूत्रं क्रियते एतत्तु एतद् प्रकरणपरं बोद्धव्यम्। अन्यथा अधिकारे स्वीकृते सति अज्ञप्रबोधनी भिन्ना पृथक्प्रक्रिया मृग्येत मृग्या स्यादित्यर्थः। प्राङ्निमित्तमिति अत्र ग्रन्थे प्राङ् निमित्तादिकं प्रायः सर्वतः सर्वेषु सूत्रेषु क्रमेण वक्तव्यम्।

१०. दशावतारस्य त्रिविक्रमः शसि तस्मात् सोनः पुंसि ।

अराम उच्चारणार्थः कृष्णान् । तृतीयैकत्वे टा,—

अमृता०—१०. दशावतारस्येति । शस् प्रत्यये परे दशावतारस्य त्रिविक्रमः स्यात् तस्मात् कृत्-त्रिविक्रमात् परस्य सरामस्य नरामो भवति, पुरुषोत्तमे विषये । दशावतार स्येति किम्—कृष्णरायः ।

पुंसीतिकिम्—धेनूः । तस्मादिति किम्—वेधसः ।

प्राङ् निमित्त-कार्यि कार्य-परनिमित्तानि सर्वसूत्रेषु न सन्तीति प्रायःशब्दोपादानाम् । प्राङ्-निमित्तमित्यत्र परनिमित्तमित्यत्र च श्यामरामःसमासः कर्त्तव्यः । परनिमित्तकमिति स्वार्थे कप्रत्ययः । क्रमाच्चेति पञ्चमी षष्ठी प्रथमा सप्तमी च सर्वसूत्रेषु क्रमात् वक्तव्येति शेषः । पञ्चम्यादयो वक्तव्या इत्युक्तं, कुत्र का वक्तव्या इत्यपेक्षयामाह कार्यपूर्वं इति कार्यपूर्वे प्राङ् निमित्ते पञ्चमी वाच्या स्यात् । कार्यस्थाने कार्यिणि क्वचित् परनिमित्तस्य स्थाने विषयसप्तमीति यदुक्तं तदेवाचष्टे विषय इति ।

विनेति । अङ्गशब्देनात्र प्राङ् निमित्तादिकमुच्यते । अत इति विच्छिद्य पृथक् कृत्वा व्यक्तिः प्राकट्यम् । सर्वसूत्रतः सर्वसूत्रेषु । प्राङ्निमित्तादिकं दर्शयति यथेति तत्तच्चेति परनिमित्तं पूर्वनिमित्तञ्च । विष्णुजन इत्यादौ विष्णुजने विष्णुजनो वा हरौ विनेति सूत्रे । शसादिति शसादिना सह जसो भेदस्य भिन्नताया ज्ञापनायेत्यर्थः । अथवा शसादेर्भेदस्य ज्ञापनाय जसा सहेति शेषः । ननु जसो जरामेण कृतेपि भेदो भवत्येव, तर्हि शसादिभेदज्ञापनायेति किमर्थमुक्तं तदेतच्चिन्त्यम् । अथवा अस् इति कृतेपि शसा सह भेदः स्यात् किन्तु तद्धितासा सह भेदो न स्यात्, अतो जसिति कृतं, शसादीत्यत्रादि पदं एतज् ज्ञापयति । अकारान्ताज्जसोऽसुक् क्वचिद्वक्तव्यः । देवासः स्यौभ्यासः इति पदं केचित् केचित्तु छान्दसं वदन्ति । एवमुत्तरत्रेति शसः शरामः जरामादि भेदज्ञापनाय ङसेरिरामश्च ङस्भेदज्ञापनाय इत्यर्थः ।।९।।

बाल०—दशा । ननु कृष्ण कृष्णमित्यत्र अरामे हरे कृते दशावतार इत्यादिना त्रिविक्रमः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह हरोऽयमिति । यदि हरे कृतेऽपि त्रिविक्रमो भविष्यति, तदायं हरो निरर्थकः एव भूतः तस्माद्धरोऽयं ज्ञापकः । किं ज्ञापयतीत्यपेक्षाया-माह—सूत्र इति सूत्रे यत्र कुत्रचित् सूत्रविशेषे प्रत्ययरूपेण यन्निमित्तं, ततोऽन्यस्य हरोऽपि महाहरो भवतीति । हरोऽपि महाहर इत्यनन्तरमितिशब्दप्रयोग उचितः अत्र अमोऽरामः त्रिविक्रमविधानसूत्रे प्रत्ययरूपेण न निमित्तं, किन्तु एकात्मकरूपेण; अतोऽस्य हरो महाहरः, अतो न त्रिविक्रमः । एकात्मकमात्रनिमित्तत्वादिति त्रिविक्रमविधानस्येति शेषः । ननु अराम हरे कृते कथं शसः परतेति चेत्तत्राह एकदेशेति । अनन्यवदित्यस्यार्थमाह तथापीति । यद्यपि एकदेशविकृतं, तथापि तन्नामैवेत्यर्थ इति । अतोत्र सरामः शसनामैव ।।१०।।

११. अरामान्तः कृष्णसंज्ञः ।

१२. कृष्णात् टाइनः ।

टेति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी, स्पष्टतार्थमसन्धिः । एवमन्यत्रापि । कृष्णइन्, अद्वयमिद्वये ए कृष्णेन । द्वित्वे—कृष्ण भ्याम्—

१३. कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाले ।

एकवर्णोविधिरन्ते प्रवर्त्तते; कृष्णाभ्याम् । वहुत्वे–भिस्—

१४. कृष्णाद्भिस ऐस् ।

एद्वये ऐ, विष्णुसर्गः कृष्णैः । चतुर्थ्येकत्वे—ङे ।

१५. कृष्णात् ङेर्यः ।

कृष्णस्य त्रिविक्रमः, कृष्णाय । द्वित्वेभ्याम् कृष्णाभ्याम् । वहुत्वेभ्यस् ।

अमृता०—११. अरामान्तइति संज्ञासूत्रम् । ननु कृष्णशब्दसाधन प्रक्रमएवैतत्संज्ञाकरण मुचितमासीत्, तत्कथं द्वितीया विष्णुभक्ति पर्यन्तं साधनान्तरमिति चेत्तत्रोच्यते—स-र-रामयोरित्यादि सूत्रत्रयेण इरामान्तोरामान्तादि शव्दा अपि साध्यन्त इत्यत एषामविशेषेणोक्तिः, इतः परेषान्तु सूत्राणामरामान्ता एवविषया ज्ञेयाः ।

अमृता०—१२. कृष्णादिति । अरामान्तशव्दादुत्तारे टास्थाने इन इत्यादेशः स्यात् । सूत्रवलेनेति तेषुवेद्वद् व्यवहारः सूचितः । टा इन इति—अनित्यं सूत्रनिर्द्देशे इति परिभाषावलेन असन्धिः स्पष्टार्थमिति तूद्देश्यकथनम् ।

अमृता०—१३. कृष्णस्येति । गोपालेपरे कृष्णसंज्ञकनाम्नस्त्रिविक्रमः स्यात् । ननु कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्युक्ते अरामान्तशव्दस्य त्रिविक्रम इत्येव लव्धम्, सच पुनराद्यक्षरस्य मध्यमाक्षरस्य, अन्त्याक्षरस्यवेतिसंशये परिभाषामाचष्टे—एकवर्णेति । एक वर्णमाश्रित्य योविधिः प्रवर्तते सतु अन्ते एव भवतीति ज्ञेयम् ।

अमृता०—१४. कृष्णादिति । कृष्णाद् भिसः स्थाने ऐस् आदेशोभवति । एस् कृतेऽप्यत्र सिद्धे ऐस् करणं निर्जरसैः सिद्धार्थम् ।

अमृता०—१५. कृष्णादिति । कृष्णात् ङेविभक्तिस्थाने यइत्यादिश्यते । त्रिविक्रम इति कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इत्यनेन ।

बाल०—दशा । तस्मात् । तस्मात् त्रिविक्रमात् । अराम इति नरामस्येति शेषः ॥

बाल०—अरा । संज्ञासूत्रमेतत् ॥१२॥

बाल०—कृष्णात् । ननु टा इन इत्यत्र टेन इति कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह स्पष्टतार्थमिति । एवमिति अन्यत्राप्यऽसन्धिः स्पष्टतार्थ एवेत्यर्थः ॥१३॥

बाल०—कृष्णस्य । ननु कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्युक्ते अन्ते भवतीर्ति कुतो लभ्य इति चेत्तत्राह एकवर्ण इति । एकोवर्णो यत्रेति विग्रहः ॥१४॥

१६. कृष्णस्य एर्वैष्णवेवहुत्वे ।

कृष्णेभ्यः । पञ्चम्येकत्वे–कृष्ण ङसि —

१७. कृष्णात् ङसेरात् ।

कृष्णात् । पञ्चमी द्वित्व-वहुत्वयोश्चतुर्थीवत्,—कृष्णाभ्यां कृष्णेभ्यः । षष्ठ्येकत्वे—कृष्ण ङस् —

१८. कृष्णात् ङसः स्यः ।

कृष्णस्य । द्वित्वे ओस्

१९. कृष्णस्य एओसि ।

एअय् कृष्णयोः वहुत्वे आम्

२०, वामन गोपीराधाभ्यो नुड़ामि ।

ईदृशोविधिर्विष्णुः । उटावितौ । टिदागमः परसम्वन्धी, किदागमः पूर्वसम्वन्धी ।

अमृता०—१६. कृष्णस्येति । वहुत्वे विषये वैष्णवे परे अरामान्तशव्दस्यान्त वर्णस्य एरामो भवतीत्यर्थः । वहुत्व इति किम्—कृष्णाभ्याम् ।

अमृता०—१७.–१८. सूत्रद्वयं सुगमम् ।

अमृता०—१९. कृष्णस्येति । कृष्णसंज्ञकस्यान्तस्य एरामो भवति ओस् प्रत्यये परे ।

अमृता०—२०. वामनेति । ईऊलक्ष्मी गोपीसंज्ञा, आवन्तलक्ष्मीराधासंज्ञा च वक्ष्येते । आमि परे वामनादिभ्यो नुट् स्यात् । ईदृशेति–प्रकृति-प्रत्यययो र्मध्ये आगमनाद् विष्णु रागमश्च । परसम्बन्धी प्रत्ययसम्वन्धी । पूर्व सम्वन्धी-प्रकृतिसम्वन्धी । तेनास्य नुटः टित्त्वात् प्रत्यय सम्वन्धित्वेन आम्विष्णुभक्त्या सह मेलनं, ततः कृष्ण नाम् इत्येवं स्थितम् ।

बाल०—कृष्णात् । सुगमम् । 'कृष्णाद्भिस् ऐस्' इत्यत्र एस् न कृत्वा ऐस् विधानं निर्ज्जरसैः सिद्ध्यर्थम् ।।१५।।

बाल०—कृष्णात् ङेरिति सुगमम् । कृष्णस्येति 'कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाले' इत्यनेन त्रिविक्रमः इत्यर्थः ।।१६।।

बाल०—कृष्णस्य । वहुत्वे विषये वैष्णवे परे इत्यर्थः । 'एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तते' इति न्यायेन अन्तस्य स्थाने एरामो भवतीति ज्ञेयम् ।।१७।।

बाल०—कृष्णात् सुगमम् ।।१८।।

बाल०—कृष्णात् सुगमम् ।।१९।।

बाल०—कृष्णात् । सुगमम् । कृष्णस्य अन्तस्य स्थाने एरामो भवति ।।२०।।

२१. तत्र टिन्मितौ सर्वत्रागमौ श्नमं विना उगन्त किच्च ।

यथा नुक् पुक् तुक् युक् इत्यादि। ततो नामि स्थिते—

२२. वामनस्यत्रिविक्रमो नामि, नृशब्दस्य तु वा, नतिसृ चतस्रोः।

कृष्णानाम् । कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्यनेनैव सिद्धत्वेऽपि सूत्रस्य प्रयोजनं हरीणामित्यादावेव। सप्तम्येकत्वे कृष्ण ङि, ङइत्। अद्वयमिद्वये एः कृष्णे। द्वित्वे ओस् कृष्णयोः। वहुत्वे सुप् परामइत्। कृष्णस्य एः;

२३. ईश्वर-हरिमित्र-कङेभ्यः प्रत्यय-विरिञ्चि-सस्य षो, नुम्विष्णु-सर्ग-व्यवधानेऽपि, नलुविष्णुपदाद्यन्त सातीनाम् ।

कृष्णेषु। अथ सम्वोधने, तत्रहे शव्दः सम्वोधनसूचकः।

अमृता०—२१. तत्रेति। टित् मिच्च सर्वत्र आगमः स्यात् तथा उक् अन्ते यस्य तादृशः किच्च आगमः स्यात्। परिभाषेयम्। तत्र च प्रकृति-प्रत्यययोर्मध्ये आगमनात् तथा मित्त्वाच्च श्नम आगमत्वे प्राप्ते निषिध्यति—श्नमं विनेति। तस्य तु विकरणाख्या प्रत्यय संज्ञा चाग्रे वक्ष्यते।

अमृता०—२२. वामनस्येति। नामिपरे वामनस्य त्रिविक्रमो भवेत्। नृशब्दस्यतु स वा भवेत्। तिसृ-चतसृशब्दयोस्तु तस्मिन् परे त्रिविक्रमो न स्यात्। अत्र अर्थवद्ग्रहण परिभाषया नामीति षष्ठीवहुत्वस्य नुटा सह आम् प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्, तेन अङ्गनामित्यादौ न त्रिविक्रमः। ननु कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्यनेन हि कृष्णानामिति सिद्धे निष्फलमेतल्लक्षण मिति चेत्तत्राह—कृष्णस्येति। पर्जन्यबललक्षण प्रवृत्तिरिति न्यायात् प्रयोजना-प्रयोजनेषु सर्वत्रलक्षण व्याप्तौ न क्षतिरिति भावः।

ननु कृष्णानामित्यत्र त्रिविक्रमात् पूर्वं वामनं दृष्ट्वैव नुट उत्पत्तिः, अतस्तस्य सन्निपात लक्षणत्वेऽपि कथं तमेव वामनं निघ्नन् पुनस्त्रिविक्रम उत्पद्यत इतिचेत्? मैवम् आरम्भ सामर्थ्यादेव सन्निपातविधिं वाधतेऽयं त्रिविक्रमविधिः। नतिसृ-चतस्रोरिति निषेधो हि तज्ज्ञापकः। तथाहि—सन्निपातलक्षणे यदि तिसृ-चतसृशब्दयो र्वामनाङ्गस्य पूर्वत एव त्रिविक्रमो वाधितः स्यात्तर्हि किमनेन निषेधेन? अतो हि ज्ञायते सन्निपातविधे र्वाधकोऽयं त्रिबिक्रमविधिरिति।

अमृता०—२३. ईश्वरेति। ईश्वरात् हरिमित्रात् करामात् ङरामात्च परस्य प्रत्यय सस्य विरिञ्चि सस्य च मूर्द्धन्यादेशो भवेत्; नुमा विष्णुसर्गेण च व्यवधानेऽपि तस्य षत्वं

बाल०—वामन। ई-ऊलक्ष्मीर्गोपीसंज्ञा। आवन्तलक्ष्मी राधासंज्ञा। परसम्बन्धी प्रत्ययसम्बन्धी। पूर्वसम्बन्धी प्रकृतिसम्बन्धी ॥२१॥

बाल०—तत्र श्नमं विना सर्वत्र टिन्मितौ आगमौ, उगन्तकिच्चागमम्। परिभाषा सूत्रमेतत् ॥२२॥

२४. सम्वोधने सुर्वुद्धसंज्ञः ।

सम्बुद्धिश्च ।

२५. एओ वामनेभ्यो वुद्धस्यादर्शनम् ।

हे कृष्ण । द्वित्व-वहुत्वयोः पूर्ववत्—हेकृष्णौ हे कृष्णाः । अत्र प्रथमैव । हेशब्दाद्यभावेऽपि—कृष्ण कृष्णौ कृष्णाः । विष्णुभक्तिहरेऽपि तदर्थावृतत्वान्नामत्वातिक्रमः । ततः कृष्ण यासि कृष्ण भासीत्यादौ नामविशेषस्य विहितं त्रिविक्रमादिकं न स्यात् । एवं रामः रामौ रामा इत्यादि ।

२६. र-ष-ऋद्वयेभ्यो नस्य णः, सर्वेश्वर-ह-य-व-कवर्ग-पवर्ग-व्यवधानेऽपि, समान विष्णुपदे नतु विष्णुपदान्तस्य ।

मतम् । नत्विति—आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ, विष्णुपदस्य आद्यन्तौ विष्णुपदाद्यन्तौ; तौच सातिश्च विष्णुपदाद्यन्त सातय स्तषां तुनषत्वम् । विष्णुपदस्य आदावन्ते च स्थितस्य प्रत्यय विरिञ्चि सस्य तथा साति प्रत्ययस्य च सस्य षत्वं न भवतीति सरलार्थः । नुम् शब्देन विष्णुचक्रमेव लक्ष्यत इत्यग्रे वक्ष्यते । ईश्वरादेः किम्—रामस्य, पयः सु । प्रत्यय विरिञ्चि सस्येति किम्—सुपीः सुपिसौ । नतु विष्णुपदाद्यन्तेति किम्—मधुसेकः व्यतिसे, हरिः अस्तौः । अग्निसात् । विरिञ्चि सरामस्यतु केवलस्यैव ग्राह्यं, तेन तिस्रः प्रभृतौ न ।

अमृता०—२४. सम्वोधन इतिसंज्ञा सूत्रम् । सम्वोधने सु-विष्णुभक्ति र्वुद्ध संज्ञकः स्यात् । वुद्धो भगवतो दशावतारेषु नवमः ।

अमृता०—२५. एओ इति । एरामात् ओरामात् वामनाच्च परस्य वुद्धस्यादर्शनं हरो भवेत् । तत्र सम्वोधने प्रथमैवेति कारके वक्ष्यते । कृष्णस्य त्रिविक्रम विधानसूत्रे गोपाल वर्णमात्रग्रहणेन प्रत्ययरूपनिमित्ताभावात् वुद्धस्य महाहरत्वं सिद्धम् ततश्च कृष्ण यासीत्यादौ त्रिविक्रमे प्राप्ते तन्निरासाय सिद्धान्तयति—विष्णुभक्तिहरेऽपीति । तदर्थावृतत्वाद् विष्णुभक्त्यर्थयुक्तत्वात् नामत्वातिक्रमो नामत्वलङ्घनं नामत्वाभाव इत्यर्थः । तत्र नाम विशेषस्य विहितस्त्रिविक्रम इहतु न स्यात्, नामत्वातिरिक्तत्वादितिभावः ।

अमृता०—२६. रषेति । ररामात् षरामात् ऋद्वयाच्च परस्य समानविष्णुपदस्थस्य नरामस्य मूर्द्धन्यादेशः स्यात् सर्वेश्वरादि व्यवधानेऽपि । विष्णुपदान्ते स्थितस्य तु नरामस्य

बाल०—वामनस्य । नृ शब्द न तिसृ । ननु कृष्णानामित्यत्र 'कृष्णस्य त्रिविक्रम गोपाले' इत्यनेनैव त्रिविक्रमो भविष्यति, किमनेन लक्षणेन इति चेत् तत्राह कृष्णस्येति । तस्मात्तदर्थं क्रियमाणं सुत्रमेतदर्थमपीति ॥२३॥

बाल०—ईश्वर । आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ विष्णुपदस्याद्यन्तौ विष्णुपदाद्यन्तौ विष्णुपदाद्यन्तौ च सातिश्च विष्णुपदाद्यन्तसातयस्तेषाम् । विष्णुपदस्यादावन्ते च स्थितस्य सातेश्च सस्य षो न भवतीत्यर्थः ॥२४॥

बाल०—सम्बो । संज्ञासूत्रमेतत् ॥२५॥

रामात् रामेण इत्यदि। वामन नारायण गोविन्द वैकुण्ठवासुदेवादयोऽप्यरामान्ताः कृष्ण तुल्याः। कुर्वन्नस्तीत्यादौ द्वित्वे पूर्वनरामस्य न णत्वं तत्राकरणात्।

अइति शब्दोऽ "प्याद्यन्तवदेकस्मिन्निति" न्यायेन अरामान्तः। अः औ आ इत्यादि। सम्बोधने अन्यत्र चानित्यमिष्यत इतिहे अ। दूराह्वाने हैहयोरेव महापुरुषत्वं मतम्। हे३ अ, अहे३ वा।

२७. शसादयो यदुसंज्ञाः।

ररामादि पूर्वनिमित्त सत्त्वेऽपि न णत्वम्। यथा सर्वेश्वरादि व्यवधाने–चरणं हरिणा तरुणः शरेण; वर्हेण कार्येण श्रवणं अर्केण मूर्खेण वर्गेण अर्घेण शृङ्गेण, सर्पेण रेफेण अर्वणा दर्भेण शर्मणेत्यादि। एषामनेकै र्युगपद् व्यवधानेऽपि स्यात्—पर्यायेण वैषम्येण। अपिशब्दाद् अव्यवधाने च, यथा—शीर्णं, तिसृणां पूष्णाम् नृणामित्यादि। अन्तरालपाठेन विष्णुचक्रविष्णुसर्गयोः सर्वेश्वरत्वञ्च, अतस्तद् व्यवधानेऽपि णत्वमिष्यते। यथा—वृंहणं, उरः केण। समानविष्णुपदे इति किम्—अग्निर्नयति। विष्णुपदान्तस्य तु न—रामान्। कुर्वन्नस्तीति—वामनाद् ङणना द्विः सर्वेश्वर इत्यनेन नरामस्य द्वित्वे सति पूर्वनरामस्य विष्णुपदान्तत्वाभावात् सर्वेश्वरादिव्यवधाने पूर्वनिमित्तेच सति णत्वं प्राप्नोति, तत्तु न स्यात् तत्राकरणात्। "असिद्धरूपं नत्याज्य" मिति प्रतिज्ञा सिद्धचर्थमिदं तत्रैव कर्तुं योग्यमपि यन्नकृतं तस्मात् तत्राकरणादित्यर्थः। किञ्च विधानसामर्थ्यादेव न स्यादित्यपि वक्तव्यम्।

"आद्यन्तवदेकस्मिन्" इतिपाणिनीयसूत्रम्। तत्र व्याख्याच काशिकानुसारिणीः—असहायस्य आद्यन्तोपदिष्टानि कार्याणि नसिध्यन्तीति अतिदिश्यते। सप्तम्यर्थे वतिः। एकस्मिन् वर्णे आदाविव अन्तेइव च कार्यं भवतीत्यर्थ इति। हे३ इत्यत्र सम्वोधने सन्धेरनित्यता विलम्वेनोच्चार्यत्वादितीह वीजम्।

अमृता०—२७. शसादय इतिसंज्ञासूत्रम्। यदुश्चंद्रवंशीय राज्ञो ययाते र्ज्येष्ठपुत्रः। धर्मशीलस्य यदोर्वंशे भगबानवततारेति श्रीमद्भागवतमनु सन्धेयम्।

बाल०—ए-ओ। अत्र सम्वोधने ननु कृष्णायासीत्यादौ कृष्णस्य 'त्रिविक्रमो गोपाले' इत्यनेन त्रिविक्रमः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह– विष्णुभक्तीति-तदर्थावृतत्वादिति कृष्णेत्यस्येति शेषः। अतिक्रमो लङ्घनम् अभाव इति फलितार्थः। ननु कृष्ण यासींत्यादौ बुद्धस्यदर्शनमेब विहितम् अतो गोपालस्य परता नास्तीति कथं त्रिविक्रमो भवतु ? उच्यते अरामान्तात् परस्य बुद्धस्य सूत्रे प्रत्ययरूपेण निमित्तत्वाभाबादस्य हरोऽपि महाहर इति त्रिविक्रमः स्यात्॥२६॥

बाल०—रष। समानविष्णुपदे एकविष्णुपदे रामानित्यत्र विष्णुपदान्तत्वान्न णत्वं कुर्वन्निति। तत्राकरणादिति असिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञासिद्धचर्थमिदं तत्रैव कर्त्तुं योग्यमपि, तस्मात् तत्राकरणान्नात्र णत्वम्।

२८. अत्र पाद-दन्त-मास-यूष-इत्येतेषां पद्-दत्-मास्-यूषन् इत्येते विरिञ्चयो यदुषु वा ।

अत्र पाद-दन्त-मास-यूष-इत्येतेषां पद्-दत्-मास्-यूषन् इत्येते विरिञ्चयो यदुषु वा ।

२९. यथासंख्यमनुदेशः समानाम् ।

कार्यिणां कार्याणाञ्च प्रकृतीनां प्रत्ययानाञ्च तुल्यसंख्यानां सतां यद् विधानं तद् यथासंख्यं स्यात् । प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीय-मित्यादि क्रमेणेत्यर्थः ।

प्रयोगाश्च पक्षे विष्णुजनान्तवज्ज्ञेयाः । यथा पदः पादान् पदा पादेन पद्भ्यां पादाभ्यामित्यादि ।

अथ धातुस्वरूप आरामान्तो विश्वपा शब्दः ।

विश्वपाः विश्वपौ विश्वपाः । विश्वपाम् विश्वपौ । विश्वपा शस्

३०. आरामहरो यदुसर्वेश्वरे नत्वापः ।

विश्वपः । विश्वपा टा, टइत् विश्वपा विश्वपाभ्याम् विश्वपाभिः । विश्वपा ङे, ङइत् विश्वपे विश्वपाभ्याम् विश्वपाभ्यः ।

अमृता०—२९. यथेति । पदादि विरिञ्चीनां व्युत्क्रमत्वं निरस्यति—यथासंख्य मित्यतिदेशेन । अत्र पादादीनां चतुर्णां प्रकृतीनां पदादय श्चत्वार आदेशाः क्रमेणैव भवन्तीत्यर्थः । इति अरामान्ता व्याख्याताः ।

अथधातुस्वरूप इति क्विवन्तत्वात्; वक्ष्यते च स्वयमेव लुप्त कृत्प्रत्ययस्य (क्विवन्तस्य) धातुत्वेऽपि नामत्वमिति ।

अमृता०—३०. आरामेति । यदुश्चासौ सर्वेश्वरश्चेति यदुसर्वेश्वर स्तस्मिन् परे आरामहरो भवति । किन्तु स्त्रियां विहितस्य आप आरामहरो न भवति । अत्र यदुसर्वेश्वर इत्यनेन यदूनां षोडशप्रत्ययानां मध्ये सर्वेश्वरादौप्रत्यये परे इत्यवगन्तव्यं, प्रत्ययग्रहणे

आद्यन्तेति एकस्मिन् आद्यन्तयोरिव कार्यं भवति । आदावन्ते च यथा तथैवेत्यर्थः । आद्यन्तवदेकस्मिन्नित्यत्र आद्यन्तवदेकमिति पाठः सभ्यः । अन्यत्र चानित्यमिष्यते इति सन्धेरनित्यता । महापुरुषत्वं मतमिति हैहेप्रयोगे तु हैहयोरेवानन्त्ययोरपि इत्यनेनेति शेषः ।।२७।।

बाल०—शसा । संज्ञासूत्रमेतत् ।।२८।।

बाल०—अत्र पाद । यथा चात्र पादादयः कार्यिणः पदादयः कार्याणि । अथेति । धातुस्वरूप इति क्विवन्तादिति शेषः ।।२९।।

विश्वपा ङसि, इङावितौ विश्वपः विश्वपाभ्याम् विश्वपाभ्यः। विश्वपा ङस्, ङइत् विश्वपः विश्वपोः विश्वपाम्। विश्वपाङि, ङइत् विश्वपि विश्वपोः विश्वपासु। सम्बोधने पूर्ववत् हे विश्वपाः इत्यादि। एवं सोमपाप्रभृतयः। आराम हरविधिर्वा हाहा अब्जादीनामिति क्रमदीश्वरादयः। हाहः हाहान् अब्जः अब्जान्। हाहा अब्जा इतिकेचित्। एवं अग्रेगाः उदधिक्राः।

इरामान्त हरिशब्दः।

३१. इउरामान्तो हरिसंज्ञः।

अग्निर्घिश्च। हरिः।

३२. हरित औ पूर्वसवर्णः।

हरित इति पञ्चम्यातस् तद्धितः। हरी।

तदादि गृं ह्यत इतिवक्ष्यमाणानुरोधात्, अन्यथाभ्यामित्यादौ चातिव्याप्तिप्रसङ्गःस्यात्। नत्वापः किम्—एता लताः पश्य। क्रमदीश्वरादय इति—अत्रेदमाकूतम्,—हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वा इत्यमरोक्तितः केचित् हाहा शब्दमव्युत्पन्नं मन्यन्ते। अतस्तन्मते धातुत्वाभावान्नारामहरः, हाहान् इत्येव। केचित्तु हाइति शब्दं जहातीति व्युत्पत्त्या धातुत्वस्वीकारेण नित्यमारामहरं कुर्वन्ति, हाह इत्येव। तदेतदुभयमतग्रहणेन सामञ्जस्यं कृतं क्रमदीश्वरादिभिः। एतद् विकल्पोहि स्वमतम्। केचिदिति वोपदेवादयः। तन्मते आरामोऽयमुणादिप्रत्ययसम्बन्धीति न तस्य हरः किन्तु शसः सस्य नरामोऽपि न स्यात्, यावत्सम्भवविधेरस्वीकारात्, हाहा इत्येव। एवमग्रेगा इति—अब्जा अग्रेगा उदधिक्रा शब्दा औणादिक विप्रत्ययान्ताः। औणादिकानां यथाकथञ्चिद् व्युत्पत्तिरिति रीत्या केषाञ्चिन्मते शब्दत्वं केषाञ्चिद् धातुत्वं वा मननाद् विभाषेति भावः।

अमृता०—३१. इउइति। संज्ञासूत्रम्। सर्वाण्यमङ्गलानि हरतीति हरिर्विष्णुः। तन्नामाभगवदवतारविशेषश्च। मुक्तप्रग्रहवृत्त्या कृष्णश्च। तत्र प्रेमविशेषदानेन मनो हरतीतिचार्थो योज्यः। कृष्णादन्यः कोवा लतास्वपि प्रेमदो भवतीति कृष्ण कर्णामृते।

अमृता०—३२. हरित इति। औ इति लुप्तप्रथमान्तः। हरिसंज्ञकशब्दादुत्तरं औ

बाल०—आराम! आरामहरविधिर्वेति। क्रमदीश्वरादयः इति यदुक्तं, तदसङ्गतमिव प्रतिभाति; क्रमदीश्वरकृतव्याकरणे ईदृशमतादर्शनात् अव्युत्पन्नोऽपि गन्धर्ववाचको हाहाशब्दोऽस्ति। तस्य हाहानिति भवतीति तु तट्टीकाकारेणोक्तम्। अब्जाशब्दस्य उल्लेखोपि न दृश्यते इति। हाहा अब्जादयः क्विवन्ता एवमिति हाहाब्जादिवत् एतयोरपि रूपमित्यर्थः अग्रेगाशब्द उदधिक्राशब्दश्च क्विवन्तः॥३०॥

बाल०—इ उरामान्तो। सुगमम्॥३१॥

३३. इद्वयस्य ए, उद्वयस्य ओ, ऋद्वयस्य अर्, लृद्वयस्य अल् गोविन्दसंज्ञः ।

गुणसंज्ञश्च ।

३४. ङितो वृष्णिसंज्ञाः ।

वृद्धिसंज्ञाश्च ।

३५. हरे र्गोविन्दो जसि वृष्णिषु वुद्धे च ।

हरयः । हरिं हरी हरीन् ।

३६. हरितष्टाना नतु लक्ष्म्याम् ।

हरिणा हरिभ्याम् हरिभिः । हरये हरिभ्याम् हरिभ्यः ।

३७. एओभ्यां ङसि ङसो ररामपरः ।

हरेः हरिभ्याम् हरिभ्यः । हरेः हर्योः हरीणाम् ।

प्रत्ययः पूर्वस्याः प्रकृतेः समानवर्णः स्यात् । औप्रत्ययः क्रमेण इराम उरामश्च स्यादिति फलितम् । तत एकात्मक परत्वात् त्रिविक्रमः हरित इति किम् कृष्णौ ।

अमृता०—३३. इद्वयस्येति संज्ञासूत्रम् । गवामिन्द्रो गांविन्दति वेति गोविन्दः श्रीकृष्णः । गोविन्दमादिपुरुषं तमहंभजामीति ब्रह्मसंहिता ।

अमृता०—३४. ङितइतिचसंज्ञासूत्रम् । चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी सप्तमीनामेकवचनं वृष्णिसंज्ञकमित्यर्थः । अत्र ङितइति वहुत्व निर्देशेन स्वाद्यधिकार एवास्याः संज्ञायाः पर्याप्तिरिति ज्ञाप्यते । ङिन्निर्गुण इति धातुपादे विशेषावगमाच्च । वृष्णिर्यदुवंशीयमधो ज्येंष्ठपुत्रः । यदुमधु वृष्णय एते त्रयः कुलप्रवर्त्तका इति केचित् ।

अमृता०—३५. हरेरिति । जसि वृष्णिषु वुद्धे च परेषु हरिसंज्ञकशव्दस्य गोविन्दो भवति । इरामस्य एरामः, उरामस्य ओराम इत्यर्थः । जसादिषु किम्—अन्यत्र मा भूत्; हरिः हरिभ्याम् हरिषु ।

अमृता०—३६. हरितइति । टेति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी । पुरुषोत्तमान्तस्य हरिसंज्ञकस्य टा स्थाने ना इत्येतदादिश्यते । हरिणा विष्णुना । लक्ष्म्यान्तु न स्यात्—भक्त्या । ब्रह्मान्तस्य तु विशेषो वक्ष्यते ।

अमृता०—३७. एओभ्यामिति । अरामहरइति किम्—ङसिङसो हरे कृते तु 'हरे'

बाल०—हरितः । औ इति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी ।।३२।।

बाल०—इद्वयस्य । सुगमम् ।।३३।।

बाल०—ङितो । सुगमम् ।।३४।।

बाल०—हरेः । सुगमम् ।।३५।।

बाल०—हरितः । टेति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी ।।३६।।

३८. हरितः ङेरौच् ।

चराम इत् । अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णाः संसारसंज्ञाः ।

३९. संसारस्य हरश्चिति ।

ङितीति प्राश्वः । हरौ हर्योः हरिषु । हे हरे ।

एवं अग्नि रवि गिरि प्रभृतयः ।

त्रि शब्दो वाच्यलिङ्गो नित्यवहुवचनान्त स्तस्य पुंसि ।

त्रयःत्रीन् त्रिभिः त्रिभ्यः त्रिभ्यः ।

४०. नेस्त्रयो नामि स्वार्थे ।

त्रयाणां, तदन्तत्वेऽपि—परमत्रयाणाम् । अस्वार्थे तु प्रियत्रीणाम् । त्रिषु । कतिशब्दोऽपि तद्वत् ।

४१. षणान्त-संख्यातः कतेश्च जस्शसो र्महाहरः स्वार्थे ।

अत्र आत्यन्तिक लयात् प्रत्ययकार्यं न गोविन्दः । कति कति कतिभिरित्यादि । कतेरिति यति-तत्योरुपलक्षणं । यति ते नाग शीर्षाणि, तति ते नाग वेदना इतिप्रयोगात् । एवंपरमकतीत्यादि । अस्वार्थे तु प्रियकतयः । अथसखि शब्दः ।

इत्येवं विष्णुसर्गरहितं पदंस्यात् । एओभ्यामिति किम्—रायः ग्लावः । अकृते तु लक्षणे केवलसन्धौ हरयः इत्येवं स्यात् ।

अमृता०—३८. हरित इति । सुगमम् । अन्त्येत्यादि पूर्वोक्तस्यैव स्मारकम् ।

अमृता०—३९. संसारस्येति । चइत् यस्य स चित्, तस्मिन्प्रत्यये परे संसारस्य हरोभवति । चित्करणाभावेतु हर्यौ इत्येवमनिष्टं रूपमापद्येत ।

अमृता०—४०. त्रेरिति । नामिप्रत्यये परे स्वार्थे त्रिशब्दस्य त्रय आदिश्यते । ततः कृष्णस्येति त्रिविक्रमः । परमत्रयाणामिति—परमाश्च ते त्रयश्चेति परभत्रयस्तेषाम् । प्रियत्रीणामिति—प्रियाख्रयो येषामिति पीताम्वर समासेऽन्यपदार्थ प्रधानत्वादस्वार्थतेति भावः । तद्वदिति—वाच्यलिङ्गो नित्य वहुवचनान्त इत्यर्थः ।

अमृता०—४१. षणान्तेति । षश्च णश्च षणौ तौअन्ते यस्याः सा षणान्ता साचासौ संख्या चेति षणान्तसंख्या तस्याः कतेश्च स्वार्थे जस्-शसोर्महाहरः स्यात् । षणान्तेत्यत्र

बाल०—ए-ओभ्याम् । सुगमम् ।।३७।।

बाल०—हरितो पूर्वोक्तमेव संसारसंज्ञासूत्रं पाठकहिताय पुनर्ल्लिखितम् ।।३८।।

बाल०—अन्त्येति टिसंज्ञाश्चेति यदुक्तं, तन्नोचितं प्रयोजनाभावात् ।।३९।।

बाल०—संसारस्य । सुगमम् ।।४०।।

४२. ऋराम-सखिभ्यामुशनस् पुरदंशस् अनेहस् इत्येतेभ्यश्च सोराच् बुद्धं विना।

संसारस्य हरः। सखा।

४३. अद्वयस्य आ, इद्वयस्य ऐ; उद्वयस्य औ, ऋद्वयस्य आर्, लृद्वयस्य आल् वृष्णीन्द्रसंज्ञः। वृद्धिसंज्ञश्च।

ए ओ स्थाने ऐ औ च।

णत्वविधिना मूर्द्धन्य णराम पाठः। नचेह विधानवलात् मूर्द्धन्यणरामान्तस्यैव जस्-शसो-र्महाहरः स्यान्नतु दन्त्यान्तस्येति वाच्यं, संख्यावाचकेषु मूर्द्धन्यणरामान्तशब्दाभावान्नहि तत्शङ्कावसरः। षणेति अराम उच्चारणार्थः। ननु हरोऽपि महाहर इतियदुक्तं तेनात्रहरे कृतेऽपि सिध्येत किं महाहरेणेतिचेत्तदुच्यते—गोविन्द विधानसूत्रे जसः प्रत्यय रूप निमित्त-त्वाद् हरत्वं सिध्यति, ततो जसः स्थानिवत्तामङ्गी कृत्य गौविन्दादिकमाषद्येत। अतश्च साधूक्तं महाहरइति।

सूत्रस्थ कतेरिति पञ्चम्यन्तपदं यति-तति शब्दौ चोपलक्षयति। तदेवाह—कतेरिति। स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतर प्रतिपादकत्वमुपलक्षणत्वम्। स्वं ज्ञापयदपरमपि ज्ञापयति यत् तदुपलक्षणमिति सरलार्थः। परमकतीति तदन्तत्वात् कतिवत्। प्रिय कतय इति—प्रियाः कति येषामिति विग्रहः।

अमृता०—४२. ऋरामेति। ऋरामान्त शब्दात् तथा सखि उशनस् पुरदंशस् अनेहस् शब्देभ्यश्च सुस्थाने आच् आदिश्यते वुद्धं विना। अत्रवुद्धसाहचर्यात् प्रथमैक वचनस्यैवादेशो वोध्यो नतु सप्तमी वहुत्वस्य। बुद्धंविनेतिकिम्—हेसखे।

अमृता०—४३. अद्वयस्येति संज्ञासूत्रम्। वृष्णीषुइन्द्रः श्रेष्ठ इति वृष्णीन्द्रः श्री वासुदेवः। सकृद् विहित संज्ञस्य (गोविन्दस्य) संज्ञान्तराभावमाशङ्क्य तन्निरस्यति—एओस्थाने ऐऔ चेति।

बाल०—त्रेस्त्रयो। स्वार्थे विषये। प्रधानार्थस्य त्रिशब्दस्य त्रयो भवतीत्यर्थः। परमत्रयाणामिति परमाश्च ते त्रयश्चेति परमत्रयस्तेषामिति प्रियत्रीणामिति प्रियास्त्रयो येषामिति विग्रहः। तद्वदिति वाच्यलिङ्गो नित्यत्रहुवचनश्चेत्यर्थः ॥४१॥

बाल०—ष-नान्त। षश्च णश्च ष-णौ ष-णावन्ते यस्याः सा ष-णन्ता ष-णान्ता चासौ संख्याचेति ष-णान्तसंख्या तस्याः। ष-णेति सौत्रत्वादरामान्तनिर्द्देशः। ननु कतीत्यत्र जसि वृष्णिषु बुद्धे चेत्यनेन गोविन्दः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह—अत इति। गोविन्दविधान सूत्रे जस्प्रत्ययरूपेण निमित्तम् अतोऽस्य हरो महाहरो न भवतीति महाहरविधानम्। कतेरिति पञ्चम्यन्तं पदं यतितत्योः शब्दयोरुपलक्षणं भवति। तद्‌यथा स्वं ज्ञापयत् परं यच्च ज्ञापयत्युपलक्षणमिति अत्र कतेरिति पञ्चम्यन्तं पदं जस् शसोर्महाहरकार्ये सिद्धे आत्मनः प्राङ्निमित्तत्वं ज्ञापयतीति उपलक्षणमिति करणे कर्त्तरि वा। टन् प्रत्ययः। प्रियकतय इति प्रियाः कति येषामिति विग्रहः ॥४२॥

४४. स्वादयः पञ्च पाण्डवाः ।

घुटः सुटश्च ।

४५. सख्युर्वृष्णीन्द्रः सुवर्जं पाण्डवेषु ।

ऐ आय् । सखायौ सखायः । सखायम् सखायौ सखीन् ।

४६. न सखिर्हरिसंज्ञष्टादौ, पतिस्त्वसमासे ।

सख्या सखिभ्याम् सखिभिः । सख्ये सखिभ्याम् सखिभ्यः ।

४७. ख्य-त्याभ्यां ङसिङसोरुस् ।

खिशब्द-खीशब्दयोः तिशब्द-तीशब्दयोः कृतयरामादेशयोरिदं ग्रहणम् ।

सख्युः सखिभ्याम् सखिभ्यः । सख्युः सख्योः सखीनाम् ।

अमृता०—४४. स्वादयइति संज्ञासूत्रम् । पाण्डोस्तन्नाम्नोराज्ञोऽपत्यानि पुमांसः पाण्डवाः-युधिष्ठिर-भीमार्जुन-नकुल-सहदेवाः पञ्च भ्रातरः ।

अमृता०—४५. सख्युरिति । सुवर्जितेषु पाण्डवेषु परेषु सखिशब्दस्य वृष्णीन्द्रो भवेत् । सुवर्जमितिकिम्—असम्वोधन-सो-राच्विहितत्वाद् वुद्धसौ—हेसखे । पाण्डवेष्विति किम्—सखीन् ।

अमृता०—४६. नसखिरिति । टादौ विष्णुभक्तौ परस्यां सखिशब्दो हरि संज्ञो न स्यात् । पतिशब्दष्टादौ परे असमासेसति हरिसंज्ञो नस्यात् समासेतु स्यादेव । यथाश्रुतार्थौ व्याख्यातः; विशेष स्तावदेषः—तुकारोऽत्र अवधारणे, तुस्याद् भदेऽवधारण इत्यमरः । तेन पतिशब्दएवासमासे हरिसंज्ञो नस्यात् किन्तु सखिशब्दे तदवधारणाभावादसमासे क्वचित् तस्य हरि संज्ञत्वं भवेदेवेति ध्वनितम् । किञ्च निषेधोऽयं सामान्यतो लब्धोऽपि असमस्त-स्यैव सखि शब्दस्य वोध्यः अन्तिकेहि भाष्यादि प्रयोग संग्रहेण समस्त-सखि शब्दस्य हरि संज्ञत्वस्वीकारात् ।

अमृता०—४७. ख्य त्याभ्यामिति । ख्यश्च त्यश्चेति समाहारे ख्यत्यं ताभ्याम् । तत्र वामन-त्रिविक्रमयोः खिखीशब्दयोः तितीशब्दयोश्च कृत यरामादेशयोरिदमनुकरणम् । उभयत्राप्यकार उच्चारणार्थः । तेनमुख्य, अपत्य प्रभृतीनां ङसिङसो र्न उस् ।

बाल०—ऋराम । सुगमम् । सुगममिति व्याख्यापरम् । किन्तु विशेष उच्यते । ननु सोराचित्यत्र बुद्धं विनेत्यनेन बुद्धसंज्ञस्य वर्जनेन प्रथमैकवचनसुसदृशस्य सप्तम्याः सोरपि आच् कथं न स्यादिति कैश्चिदाशङ्क्यते चेत्तत्र एवं व्यक्तव्यं—बुद्धसंज्ञकेन सुना सह झटिति प्रथमबुद्धिग्राह्यस्य प्रथमैकवचन-सोः स्फुरणात्तस्यैवाच् स्यान्नतु सप्तम्याः सोस्तत्र वुद्धचस्फुरणात् ।।४३।।

बाल०—अद्वयस्य । ए ओ स्थाने ऐ औ च वृष्णीन्द्रः संज्ञः ।।४४।।

बाल०—स्वादयः सुगमम् ।।४५।।

बाल०—सख्युः । सुवर्जनस्य प्रयोजनं बुद्ध एवेति ज्ञेयम् ।।४६।।

४८. सखि-पतिभ्यां ङे रौ ।

सख्यौ सख्योः सखिषु । हेसखे हेसखायौ हेसखायः । तदन्तत्वेऽपि बहुसख्या बहुसख्ये बहुसख्युः बहुसख्यावित्याहुः । पञ्चम्यां सुसखेरागच्छतीति तु भाष्यादौ । एतद्दृष्ट्वैव सख्युः समासे घिसंज्ञास्तीति प्रक्रियायाम् । समास इत्युपलक्षणमिति कृष्णपण्डितः । तेन प्रकृतेःपूर्वत्र बहुप्रत्ययेऽपि बहुसखेरित्यादि ।

पतिशब्दस्य प्रथमा-द्वितीययो र्हरिशब्दवत्, तृतीयादौ सखिशब्दवत्, समासान्तस्य तु हरिशब्दवदेव । यदुपतिना यदुपतये इत्यादि ।
ईरामान्तो दैत्यप्रमीशब्दः । दैत्यान् प्रमीनाति हिनस्तीति क्विवन्तो विष्णुवाची ।

दैत्यप्रमीः दैत्यप्रम्यौ दैत्यप्रम्यः । धातुत्वादत्र सर्वत्र सर्वेश्वरे यराम एव वक्ष्यते, तस्यैवोदाहरणमिदं वातप्रमीभेदज्ञापनार्थमत्रलिखितम् । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । दैत्यप्रम्यम् दैत्यप्रम्यौ दैत्यप्रम्यः । दैत्यप्रम्या दैत्यप्रमीभ्याम् दैत्यप्रमीभिः । दैत्यप्रम्ये दैत्यप्रमीभ्याम् दैत्यप्रमीभ्यः । दैत्यप्रम्यः दैत्यप्रमीभ्याम् दैत्यप्रमीभ्यः । दैत्यप्रम्यः दैत्यप्रम्योः दैत्यप्रम्याम् । दैत्यप्रम्यि दैत्यप्रम्योः दैत्यप्रमीषु । सम्बोधने पूर्ववत् ।

अमृता०—४८. सखीति सुगमम् । तदन्तत्वेऽपीति—सख्यन्तस्यापि सखि शब्दवद् रूपं केचिदाहुः । बहुसख्येति —"स्वाद्यन्तात् प्राग् बहुर्वा कल्पार्थे" इति बहुप्रत्ययस्तद्धितः, नायं समस्तः, तत् प्रसङ्गस्याग्रेवक्षमाणत्वात् । सुसखेरिति—सुशोभनः सखा तस्मात् । नचात्र "राजाहसखिभ्य" इति समासान्तट्प्रत्ययः शङ्क्यः, "स्वतिभ्यां नतौप्रत्ययौ पूजायामिति" निषेधात् । भाष्यादावित्यत्रआदिपदेन न्यासादिर्ग्रहणीयः । तन्मते च "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ती"ति परिभाषया सखिशब्दस्यहरिसंज्ञा स्यात् । यथा हि—इह द्विविधा घिसंज्ञा अवयवाश्रया समुदायाश्रया च । तत्रयावयवाश्रया (केवलसख्याश्रया) साप्रतिषिध्यते, यापुनः समुदायाश्रया (समासाश्रया) साच भवत्येव, तस्या अप्रतिषेधादिति न्यासकारः । तेन समासाश्रित सखिशब्दस्य निषेधाभावाद् हरिसंज्ञत्वं भवेदेव । तस्मात् साधूक्तं प्रक्रियायाम् । उपलक्षणमिति—समस्ता समस्तयो रुभयोर्ग्रहणमिति कृष्णपण्डितः । (प्रक्रिया कौमुदी टीकाकारः) तच्च स्वसूत्रेऽपि तुशब्देन व्यज्यत इति प्रपञ्चितमेव तद्व्याख्याप्रसङ्गे । तस्मादेव "सखिना वानरेन्द्रण" "कृष्णस्य सखिरर्जुनः" इत्याद्यपि

बाल०—न सखि । पतिशब्दस्तु टादौ परे असमासे हरिसंज्ञो न भवति समासे तु भवत्येव इत्यर्थः ।।४७।।

एवं वातप्रमीशब्द ईप्रत्ययान्तत्वात् अमृशस्ङिषु विशेष इति केचित् । वातप्रमीम् । यावत् सम्भवस्तावद् विधिरिति न्यायेन दशावतारस्येति त्रिविक्रमे कृते तस्मात् सो नः । वातप्रमीन् । ङौवातप्रमी । वातप्रमी हूहूप्रभृते र्धातुत्वं वेत्यन्ये । वातप्रम्यम् वातप्रमीम्, हूहम् हूह्वम् ।

उरामान्त विष्णु शव्दः । हरिसूत्रैरेवसाधनम् । विष्णुः विष्णू विष्णवः । विष्णुम् विष्णू विष्णून् । विष्णुना विष्णुभ्याम् विष्णुभिः । विष्णवे विष्णुभ्याम् विष्णुभ्यः । विष्णोः विष्णुभ्याम् विष्णुभ्यः । विष्णोः विष्ण्वोः विष्णूनाम् । विष्णौ विष्ण्वोः विष्णुषु । हेविष्णो ।

चालनी तितउः पुमानित्यमरः । प्रकृतौ सन्धि विनैव सिद्धोऽयमुणादाविति प्रकृत्यङ्गयो र्न सन्धिः । तितउः तितऊ तितअवः इत्यादि । कृष्णश्रीः

धातुत्वादिति—लुप्तकृत्प्रत्ययस्य (क्विवन्तस्य) धातुत्वं नामत्वञ्च मन्यन्ते । अत्र—दैत्यप्रमीशब्दे । यरामएव वक्ष्यत इति—सहजानेक सर्वेश्वरस्येत्यादिना ।

वातं प्रमिमीते इत्यर्थे माङ ईप्रत्यय औणादिकः । वातमृग इत्यर्थः । केचिदिति—पाणिन्यादयः । धातुत्वमिति—वातप्रमीवाचरतीत्यर्थे क्विवन्तत्वे बोध्यम् । वेत्यन्य इति—दैत्यप्रमीवत् अम्शस् ङिषु विशेषश्च । हूहू शव्दो गन्धर्ववाचकः अव्युत्पन्नः । धातुत्वे पूर्ववत् क्विवन्तः ।

तितउरिति—प्रकृतौ प्रकृत्यवस्थायां प्रत्यययोगात् प्राक् स्वभावतः सन्धि विनैव उणादौ । सिद्ध इतिपद साधन कालेऽपि प्रकृत्यङ्गयोः अराम उरामयो र्न सन्धिरित्यर्थः ।

बाल०—सखि तदन्तत्वेऽपीति बहुसखीत्यादौ पीताम्बरः समासः कर्तव्यः ।आहुरिति पूर्वाचार्याः इति शेषः । एतन्मते सखिशब्दः समासेऽपि हरिसंज्ञो न भवतीत्यर्थः । सुसखेरिति शोभनः सखा सुसखिस्तस्मादिति स्वतिभ्यां नतौ प्रत्ययौ प्रशंसायामित्यनेन समासान्त निषेधः । भष्यादिमते समासे हरिसंज्ञो भवतीत्यर्थः । एतद्दृष्ट्यैवेति भष्यादिमत दर्शनेनैवेत्यर्थः । भाष्यादिमतं दृष्ट्वैव सख्युः समासे घिसंज्ञोऽस्तीति प्रक्रियायां कथितमिति उपलक्षणमिति तदन्तत्वमात्रेऽपीत्यस्येति शेषः । अथ वा उपलक्षणमिति समस्तासमस्तयोर्ग्रहणमित्यर्थः । तेनिबहुसखेरिति स्यात् सखिना वानरेन्द्रणेत्यपि च । कृष्णपण्डितः प्रक्रिया टीकाकारः । समासान्तस्येति समासे अन्तस्थित्येत्यर्थः । उदाहरणन्तु यदुपतिनेत्यादिं स्वमतेतु न सखिरित्यत्र सूत्रे नञ्प्रयोगात् सर्वं सिद्धं स्यात् । क्वचिन्नञ् विधेरनित्यमिति न्यायेनाऽसमासेऽपि सखिना पतिना चेति । पतिना नीयमानायां पुरः शुक्रो न दुष्यतीति दृश्यतेचान्यत्र । धातुत्वादिति अत्र दैत्यप्रमीशब्दे । तस्यैवेति यराभ विधान सूत्रस्यैवेत्यर्थः । वातप्रमीति वातप्रमीशब्देन सह भेदज्ञापनार्थमित्यर्थः । भेदस्तु परमतेनेवेति ज्ञेयम् ।

४८. धातोरीदूतोरियुवौ सर्वेश्वरे वहुलम् ।

ईरामस्य इय् ऊरामस्य उव् । प्रत्यय वर्णेन तदादि गृंह्यते । ततः सर्वेश्वरादौ विष्णुभक्तावित्यर्थः । एवमन्यत्रापि । एतद्विध सूत्रस्य नामप्रकरणे पाठात् लुप्तकृत्प्रत्ययस्य धातुत्वेऽपि नामत्वम् । ततः प्रत्ययाश्च । कृष्णश्रियः । परत्वादमृशसोरपि कृष्णश्रियमित्यादि ।

भावेक्विपि भूः भुवौ भुवः । वाहुल्यात् न सर्वत्र । यथोक्तम्—क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं वहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं वाहुलकं वदन्ति । तेन—

अमृता०—४८. धातोरिति । सवश्वरे सर्वेश्वरादौ विष्णुभक्तौ धातोरीराम-ऊरामयोर्यथाक्रमं वहुलं यथास्यात्तथा इय् उवौ भवतः । ननु नामप्रकरणे कथं धातु-सम्बन्धि सूत्रमिदम् । यदि कृष्णश्रीत्यादे धातुत्वं तर्हि तदुत्तरं कथंच स्वादि प्रत्यया इति चेत्तत्राह—एतद्विधेति । लुप्तकृत्प्रत्ययस्य क्विवन्त शब्दस्य यत् धातुत्वं नामत्वञ्चास्ति तदीदृशसूत्रकरणेनैव ज्ञापितमित्यर्थः । ननुकृष्णश्रियं कृष्णश्रिय इत्यत्र दशावतारादम्-शसोररामहरः कथंन प्रवर्त्तते ? तत्राचष्टे परत्वादिति । पूर्वपरयोः परविधिर्वलवानिति न्यायेन अरामहरं वाधित्वा इय एव भवतीत्यर्थः । सूत्रस्थ वहुलपदग्रहण सार्थक्यं दर्शयति—वाहुल्यादिति । ऊक्त पूर्वाचार्यैरिति शेषः ।

क्वचिदिति—क्वचिद् विधेः प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं, क्वचिदप्रवृत्तिर्निवृत्तिः; क्वचिद् विभाषा विकल्पः, क्वचिदन्यदपूर्वमेव; एवं विधानं बहुप्रकारं दृष्ट्वा बाहुलकं चतुर्विधं वदन्ति पूर्वाचार्या इतिशेषः । बहूनर्थान् लाति ददातीति बहुलं, वहुलमेव वाहुलकम् ।

ईप्रत्ययान्तत्वादित पुँसि ईप्रत्ययः कृतः । वातप्रमीर्व्वातमृग इत्यमरः । ननु वातप्रमी शब्दस्य शसि त्रिविक्रमस्य किं प्रयोजनमिति चेत्तत्राह यावदिति । दशावतारस्येति 'दशावतारस्य त्रिविक्रमः शसी'त्यनेनेत्यर्थः । धातुत्वं वेत्यन्य इति धातुत्वे वातप्रम्यमिति हूह्वमिति च हूहू शब्दोगन्धर्व वाचकः ननु तितउरित्यादौ सन्धिः कस्मान्नस्यादिति चेतत्राह प्रकृताविति । अयं तितउ शब्दः प्रकृतौ प्रकृत्यवस्थायां स्वभावेन सन्धि विनैव उणादि सिद्ध इति पदसाधन-कालेऽपि प्रकृत्यङ्गयोररामोरामयो र्न संन्धिरित्यर्थ ।।४८।।

बाल०—धातो ।बहुलमिति क्रिया विषेशणम् । प्रत्ययेति प्रत्ययवलेन तदादि प्रत्ययः वर्णादिर्गृंह्यते । प्रत्ययवर्णोऽत्र सर्वेश्वरः । तदादिरित्यत्र सर्वेश्वरादावित्यत्र च पीताम्बर-समासः । एतद्विधेति एतत् प्रकारसूत्रस्येत्यर्थः । विधाविधौ प्रकारे चेति नानार्थ वर्गः । लुप्त-कृत्प्रत्ययो यत्र तस्य धातुत्वेऽपि नामत्वं भवति अतस्तस्मात् स्वादिप्रत्यया भवन्ति । ननु कृष्णश्रियं कृष्णश्रिय इत्यत्र 'दशावतारादमृशसोररामहर' इत्यनेनारामहरः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह परत्वादिति । पूर्वापरयोः परविधिर्बलवान् इति न्यायेन अम्-शसोरपि इय् भवतीत्यर्थः । बाहुल्यान्न सर्वत्रेति यदुक्तं तत् पूर्वाचार्यवचनेनदृढयति यथोक्तमिति ।

५०. सहजानेकसर्वेश्वरस्य क्विवन्तस्य केवलधात्वक्षर सत्संगा-स्पृष्टयोरीदूतो र्यवौ ।

तत्र कृत्समासे विश्वनीः विश्वन्यौ विश्वन्यः इत्यादि । षष्ठी वहुत्वे विश्वन्याम् ।

५१. नी राधाभ्यां ङे राम् ।

विश्वन्याम् विश्वन्योः विश्वनीषु ।

अमृता०—५०. सहजेति । क्विवन्तस्य शब्दस्य ईदूतो रीरामोरामयो र्यथाक्रमं यवौभवत इत्यन्वयः । कथम्भुतस्य क्विवन्तस्य ? सहजश्च असौ अनेकश्चेति सहजानेकः, तादृशः सर्वेश्वरो यस्मिन् तस्य । कथम्भूतयोः ईदूतोः ? केवलञ्च तत्धात्वक्षरञ्चेति केवलधात्वक्षरं, तस्य सत्सङ्गः केवलधात्वक्षर सत्सङ्गः । तेन अस्पृष्टयोरयुक्तयोरीदूतो-रित्यर्थः ।

कृत्समासइति—कृद्भिः सह समासे इत्यर्थः । उपेन्द्रोर्यादिव्यन्ताजन्तपूर्वपदानि कृदन्तेन समस्यन्त इत्यनेन समासः । तत्र उपेन्द्रै रूर्यादिभिश्च गतिसमासः, पूर्वपदैस्तु कारक समासः उपपदसमाश्चेति प्राञ्चः । तत्रकारकसमास उपपदसमासान्तर्गत एवेति कृदन्ते प्रपञ्चयिष्यते । गतिसमासो विश्वनीः । कारकसमासो वृकभीः । उपपदसमासः कृष्णसेव इत्यादि । गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुवुत्पत्ते रिति तेषां परिभाषा । ततश्च धातोः कृत्प्रत्ययोत्पत्तिकाले एव विधीयमानो यः समासः स कृत्समास उच्यते नतु कृदन्तात् सुवुत्पत्तेः पश्चात् समस्तः । अतएवादूरे व्यावृत्ति मुखेन पश्चाद्योगे विश्वनीरित्यादौ सहजत्वाभावो दर्शितः ।

अमृता०—५१. नीराधाभ्यामिति । नीशव्दात् राधासंज्ञकाच्च परस्य ङिविभक्तेः आमादेशः स्यात् । प्रधीरितिगतिसमासः । प्रादीनां क्रिया योगे गतिसंज्ञा प्राचामिति वक्ष्यते । केवलक्विवन्त इति—उपपद-गतिसमासाभ्यां रहित इत्यर्थः । मालीयतीति—मालामिच्छतीत्यर्थे मालाशब्दात् क्यन् प्रत्यये कृते मालीयधातुः तस्मात् क्विपि यवयो र्हरो वले इति यरामहरे मालीयशब्दो निष्पन्नः । पदकृत्यं दर्शयति—पश्चाद् योगेतु नस्यादित्या-दिभिः । तत्र कृत्समासत्वाभावादित्यैव बीजम् । "गति-कारकोपपदानां कृद्भिः सहसमास

विधेः क्वचित् अप्रबृत्तिर्निबृत्तिः । क्वचित् विभाषा विकल्पः क्वचित् अन्यत् एव अपूव-विधानम्—एवं क्रमेण विधानं बहुधा वहुप्रकारं समीक्ष्य दृष्ट्वा बाहुलकं बहुलं चर्तुविधं वदन्ति पूर्वाचार्या ईति शेषः । वाहुलकमिति स्वार्थे तद्धितः । बहूनर्थान् लाति ददातीति बहुलशब्दस्यार्थः ।।४९।।

बाल०—सह । केवलञ्च तत् धात्वक्षरञ्चेति केवलधात्वक्षरम् तस्य सत्सङ्ग-केवल-धात्वक्षर-सत्सङ्गस्तेनास्पृष्टयोः । विश्वनीरिति 'उपेन्द्रोर्यादिव्यान्ताजन्तपूर्वपदानि कृदन्तेन समस्यन्ते इत्यनेन समासः ।।५०।।

एवं प्रकृष्टं ध्यायतीति क्विपि निपातात् । प्रधीः प्रध्यौ । केवलक्विवन्ते मालयतीति माली माल्यौ । ङौ माल्यि । सहजेति किम्—पश्चाद् योगे तुन स्यात् । विश्वस्य नीः विश्वनीः विश्वनियौ विश्वनियः । आमिङौ च विश्वनियाम् । अनेकेति किम् —नीः नियौ नियः । धात्वक्षर सत्-संगास्पृष्टयोरिति किम्—कृष्णप्री कृष्णप्रियौ । कृष्णपटप्रूः कृष्णपट प्रुवौ । केवलेति किम्—इहतुस्यादेव उन्नीः उन्न्यौ उन्न्यः ।

५२. सुधीभुवोरियुवावेव ।

सुष्ठु ध्यायतीति क्विपि निपातनात् । सुधीः सुधियौ सुधियः । कृष्णभूः कृष्णभुवौ कृष्णभुवः ।

५३. वर्षा पुनर्दृन् कर-कार-कारान्तो भुवो वएव ।

करएवकारः सोऽपि गृह्यत इति-विस्तरादुभयोरुपादानम् वर्षाभूः बर्षाभ्वौ वर्षाभ्वः । दृन्भूः दृन्भ्वौ । एवं खलपू प्रभृतयः ।

वचनं प्राक् सुबुत्पत्ते"रिति परिभाषया स्वादिविष्णुभक्तियोगात् पूर्वमेव कृत्समासः (गति समासः उपपदसमासो वा) अभिमतः । विश्वस्य नीरिति—इह तु सुबुत्पत्तेः पश्चात् षष्ठी समासत्वात् सहजानेक सवश्वरत्वाभाव इतिमम । उन्नीरिति—अत्रकेवल धात्वक्षरस्य सत् सङ्गेन नहि स्पृष्टत्वं किन्तु उपेन्द्राक्षर - धात्वक्षरयो मिथः सत्संगस्पृष्टत्वमतो यरामएव भवतीत्यर्थः ।

अमृता०—५२. सुधीति । एतयोरियुवौ भवतः । पूर्वसूत्रेण नतुयुवौ इति एवकारेण नियमः सूचितः ।

अमृता०—५३. वर्षेति । वर्षादिभ्य उत्तरस्य भूशब्दस्य व एव नतूव् इत्यपि नियमः । पूर्वलक्षणस्य वाधकमेतत् । विस्तरो व्याकरण विशेषः । वर्षाभूर्भेकः, इन्द्रगोप कीटो वा । पुनर्भूः पुनर्विवाहः दृन्भूः पन्नगो वज्रं वा । करभूः कारभू नंखः । काराभूर्वासुदेवः, तस्य कंसकारागारे जन्मस्वीकारात् ।

कृष्णसुखीयतीति—कृष्णसुखमिच्छतीत्यर्थे क्यन्, अद्वयस्य ईःक्यनि, ततः क्विप् ।

बाल०—नीराधा । केवलेति । मालीयतीति क्यन्नन्तान्मालीयधातोः क्विपि ,यवयोर्हरो वले' इति यरामहरे च मालीशब्दो निष्पन्नः । तस्य मालीरित्यादि रूपं । एवं कृष्णसुखीरित्यादि । विश्वस्यनीय विश्वनोरीति षष्ठीकृष्णपुरुषः । उन्नीरिति अत्र ईत् केवलधात्वक्षरस्य सत्सङ्गेन न स्पृष्टः । किन्तु उपाक्षर धात्वक्षरयोः सत्सङ्गेन स्पृष्टः अतोऽत्र भवत्येव ।।५१।।

बाल०—सुधी । एतयोरियुवावेव न-तु य-वौ । नियमसूचनार्थमेवशब्दोपादानम् ।।५२।।

कृष्णंसुखीयतीति कृष्णसुखीः कृष्णसुख्यौ कृष्णसुख्यः। अनन्तीयतीति अनन्तीः अनन्त्यौ अनन्त्यः। ख्यत्याभ्यामिति त्रिविक्रमग्रहणात् ङसि-ङसोरुस्। कृष्णसुख्युः अनन्त्युः। नरामादेशस्य तराम स्थानिवत्त्वात् लून्युः। कृष्णसुख्यः इत्याद्येके।

अथ ऋरामान्ताः। तत्रपितृशब्दः।

ऋराम-सखिभ्यात्याादि पिता।

५४. ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौच।

पितरौ पितरः। पितरम् पितरौ पितॄन्। पित्रा पितृभ्याम् पितृभिः। पित्रे पितृभ्याम् पितृभ्यः।

य-वयो र्हरो बले इत्येनेन फलमाह—ङसि-ङसोरुस्। लून्युरिति—लूञ्छेदने धातोः क्तप्रत्ययन "हरिमित्रयुगि" त्यादिना क्तस्थाने नादेशे लून शब्दः। ततो लूनमिच्छतीति वाक्ये क्यन्, अद्वयस्य ईः क्यनीति लूनीय धातुः। ततः क्विपि यरामहरे क्विप्लोपे च लूनी शब्दादङसि प्रत्यये सन्धिना यरामे जाते "आदेशः स्थानिवत् क्वचिदिति" न्यायेन नरामादेशस्य स्थानिनं तरामं विद्यमानं मत्वा स्वय-ताभ्यां ङसिङसोरुस् प्रवर्त्तत इति विशदः केचिदिति तन्मते ख्य-त्याभ्यामिति उसन्प्राप्नोति। इतिइऊरामान्ताः।

अमृता०—५४. ऋरामस्येति सरलम्।

बाल०—वर्षा। वर्षादिभ्यः परस्य भूशब्दस्य व एव भवति न तूव्। पूर्वलक्षणे प्राप्तमुवं बाधित्वा व एव भवतीत्यर्थः। ननु व्याकरणान्तरे कारशब्द एव गृहीस्तर्तहि कथं करशब्दोपादानं कृतमिति चेत्तत्राह करएवति। सूत्रे यः गृह्यते इति विस्तरार्थः। विस्तरो व्याकरणविशेषः वर्षाभू भेकादौ। पुनर्भूद्विरूढायाम्। दृन्निति हिंसार्थेऽव्ययं हिंसाया भवतीति दृन्भूः दृन्शब्दस्तवर्गान्तः। दृन्भूः पन्नगेरुद्रे वज्रे च। करभूः कारभूश्च नखे। काराभूः काराजाते कारा निगडबन्धनस्थानम् कारा स्याद् बन्धनालये इत्यमरः। ख्यत्याभ्यामितीत। ख्यत्याभ्यां ङसि ङसोरुसित्यत्र खीशब्द तीशब्दयोश्च कृतयरामादेशयोर्ग्रहणादित्यर्थः। लून्युरिति लूनमिच्छतीति क्यन्। उक्तार्थो नामप्रयोग इति न्यायेन इच्छतेरप्रयोगः। अन्तरङ्ग स्वादे र्महाहर एकपदत्वारम्भे इति अमो महाहरः। अद्वयस्य ई क्यनीति अरास्येरामः। ततो लूनीयधातोः क्विप् यवयर्हरोबले इत्यनेन यलुक् ततो लूनीशब्दात् ङसि इरामस्ययरमः ततोऽस्य लरामरूपादेशस्य तराम रूपस्थानिवत्वात् ख्य-त्याभ्यामित्ययादिनाङसेरुस्। नरामस्य तरामस्थानिवत्वम् स्थान्यादेशः स्थानिवदति न्यायेन इतिज्ञेयम्। लूनशब्दः क्तान्तः कृष्णसुख्य इत्येक इति तन्मते उसन् न भवति ॥५३॥

बाल०—ऋरामस्य सुगमम्। ऋराम। पितुरित्यत्र संसारस्य हरश्चितीति ऋरामहरः। बुद्धे गोविन्द इति ऋरामस्येत्यादिनेति शेषः ॥५४॥

५५. ऋरामतो ङसि ङसोरस्य उच् ।

पितुः पितृभ्याम् पितृभ्यः। पितुः पित्रोः पितॄणाम्। पितरि पित्रोः पितृषु। बुद्धे गोविन्दः।

५६. राधा-विष्णुजनाभ्यामीपश्च त्रिविक्रमात् सोर्हरः ।

हेपितः। एवं जामातृ प्रभृतयः।

नृशब्दः। ना नरौ नरः। नरम् नरौ नॄन्। त्रा नृभ्याम् नृभिः। नृशब्दस्य तु वा नृणाम् नॄणाम्।

कर्त्तृ शब्दस्य भेदः। कर्त्ता।

५७. स्वसृ तृल् तृन् प्रत्ययान्तानां वृष्णीन्द्रः सुवर्जं पाण्डवेषु ।

कर्त्तारौ कर्त्तारः। कर्त्तारम् कर्त्तारौ। यदुषु पितृवत्। हेकर्त्तः। लेष्टृ। लेष्टा लेष्टारौ लेष्टारः। लेष्टारम् लेष्टारौ। हरिमित्रादिरेवायम्। हरिवेण्वादि स्त्वपपाठः।

अमृता०—५५. ऋरामत इति। चित् करणेन संसारस्य (ऋरामस्य) हरः। अस्येति किम्? ङसिङसोरुच् कृते पितु इत्येवं विष्णु सर्गरहितं रूपंस्यात्। बुद्धेगोविन्दइति—ऋरामस्य गौविन्दः पाण्डवेषु ङौ चेत्यस्यैव प्रतीक ग्रहणं स्मरणार्थम्। एवमग्रेऽप्यनुसन्धेयम्।

अमृता०—५६. राधेति। राधा आवन्त स्त्रीलिङ्गशब्दः विष्णुजनश्च ताभ्यां, त्रिविक्रमादीपः ईवन्ताच्च सोर्हरः स्यात्। त्रिविक्रमादिति ईपो विशेषणम्। येन वामनादीपः सोर्हरो न—अतिस्त्रिरित्यादौ। कर्त्तृ शब्दस्य भेदः सुवर्जं पाण्डवेष्विति शेषः।

अमृता०—५७. स्वसृइति। तृल् च तृन् च तृल्तृनौ, तौच तौप्रत्ययौ च तृल्तृन् प्रत्ययौ, तौअन्ते येषां ते तृल्तृन् प्रत्ययान्ताश्चेति तथा तेषां सुवर्जं बुद्धवर्जं पाण्डवेषु वृष्णीन्द्रः स्यात्। स्वसृ शब्दस्य तृल्तृनन्तत्वाभावात् पृथगुपादानम्। तृलन्त-तृनन्त शब्दयो रूपभेदाभावेऽपि प्रयोगभेदात् प्रथक् ग्रहणम्। तृलन्तयोगे षष्ठी, तृनन्तयोगेतु द्वितीयेति कारक प्रकरणे व्यक्तीभविष्यति। सुवर्जमितिकिम्—वुद्धे तु गोविन्द एव—हेकर्त्तः।

हरिमित्रादिर्लरामादिः। हरिवेण्वादिः तवर्गान्तादिः। के तावत् तृल्तृन्नन्ता इत्यपेक्षायांपद्यमाह—लेष्टृइत्यादि। लेष्टृत्वष्टृशब्दौ तृलन्तौ मतौ, पित्रादीन् वर्जयित्वा तृशब्दान्ताश्च तृल्तृन्नन्ता बुधै मंताः। लेष्टृत्वष्टृ शब्दयो स्तृलन्तत्वेऽपि पृथगुपादानं

बाल०—सुममम् ॥५५॥

बाल०—सुगमम् ॥५६॥

लेष्टृ त्वष्टृ तृशब्दान्तास्तृल्तृन्नन्ता बुधैर्मताः ।

पितृ मातृ भ्रातृ यातृ जामातृ दुहितृ विना ।

५८. क्रोष्टु शब्दस्य पाण्डवेषु तृल्प्रत्ययान्तस्यैवरूपं बुद्धंबिना, टादिसर्वेश्वरे तु विकल्पः ।

क्रोष्टा क्रोष्टारौ क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् क्रोष्टारौ क्रोष्टून् । क्रोष्ट्रा क्रोष्टुना क्रोष्टुभ्याम् क्रोष्टुभिः । क्रोष्ट्रे क्रोष्टवे इत्यादि ।

कृतेऽप्यकृते यःस्यात् सनित्यः, नित्यस्य वलवत्त्वात् पूर्वन्त्वामि नुडेव— क्रोष्टूनाम्, कोष्टॄणामित्येके । हे क्रोष्टो । लक्ष्म्यान्तु क्रोष्ट्री ।

ऐरामान्तः कृष्णरै शब्दः ।

तृशब्दान्तत्वाभावादप्राप्ते विध्यर्थम् । पित्रादीनाञ्च तृलतृन्नन्तत्वेऽपि विशेषेण ग्रहणं नियमार्थम् । तेन संज्ञाशब्देषु पित्रादीनामेव वृष्णीन्द्रनिषेधो नत्वन्येषाम् ।

अमृता०—५८. क्रोष्ट्विति । बुद्धं विना पाण्डवेषु परेषु क्रोष्टुशब्दस्य तृल् प्रत्ययान्तस्यैव रूपं स्यात्, टादौ तुविकल्पेन भवति । तत्र पक्षे उरामान्त विष्णुशब्दवत् । ननु आमि तृल्प्रत्ययान्तवद् रूप पक्षे क्रोष्टॄणामिति भवितुमर्हतीति चेत्तत्र सिद्धान्तमाह—कृतेऽपीति । तृल्प्रत्ययान्तस्येव रूपे कृतेऽपि नुट् स्यादेव । अतो नुटो नित्यत्वाद् वलवत्त्वम् । तेनादेशात् पूर्वमेव नुडुत्पत्तेः सर्वेश्वरपरत्वाभावान्न ऋभावः, क्रोष्टूनामित्येव भवतीत्यर्थः लक्ष्म्यान्तु नित्यं ऋरामादेशे क्रोष्ट्रीति निपातनात् सिद्धम् । इति ऋरामान्ताः ।

प्रकृतिवदनुकरणमित्यतिदेशात् (वार्त्तिकात्) कॄप्रभृतेरनुकरणे—कॄःक्रौकः । कॄम्क्रौ कॄन् । क्रा क्रे इत्यादयः । एवमन्येषामपि ज्ञेयम् । गम्लृ शक्लृ अनयोरनुकरणे—गम्लृः गम्लौ गम्लः । गम्लृम् गम्लौ गम्लॄन् । गम्ला गम्ले इत्यादयः । देवृ सेवृ अनयोः क्विपि—देः दयौ दयः । एओभ्यां ङसिङसो ररामहरः—देः । एवं सेः सयौ सय इत्यादयः ।

किञ्च अस्यापत्यं पुमान् इः । अस्यस्त्रीः ईः । तेनतया वा वर्त्तमान इतिपीताम्वर समासे सेशब्द स्तस्य पुंसि—सेः सयौ सय इत्यादि । ङसिङसोः सेः । इत्येरामान्ताः ।

बाल०—राधा । त्रिविक्रमादिति ईपोविशेषणम् कर्त्तृ शब्दस्येति भेदोवर्त्ततइति शेषः । सुवर्जं पाण्डुवेषु वृष्णीन्द्रो भवतीति भेदः ।।५७।।

बाल०—स्वसृ । तृल्च तृन्च तृलतृणौ । तृलतृणौ च तौ प्रत्ययौ चेति तृल् तृन्प्रत्ययौ । स्वसा च तृल् तृन्प्रत्ययौ च स्वसृ-तृल् तृन्प्रत्ययास्तेषाम् । हरीति । हरिमित्रादिर्लरामादिः । हरिवेण्वादिस्तवर्गान्तादि केवलयोस्तृल् तृणोरसम्भात् तदन्ता एव गृह्यन्ते । तदन्ता एव के इत्यपेक्षयां पद्यमाह लेष्ट्रिति लेष्टृत्वष्टृशब्दौ पित्रादीन् वर्जयित्वा तृशब्दान्ताश्च बुधैः पण्डितै तृल् तृन्नन्ता मता इत्यर्थः ।।५८।।

५९. राय आ स्भोः ।

कृष्णराः कृष्णरायौ कृष्णरायः । कृष्णरायमित्यादि ।

एवं रैशब्दश्च । नेह तद्धिते-रैत्वम्, क्यनि-रैयति । पाणिनीयेऽपि रायो-हलीत्यत्र विष्णुभक्त्यनुवृत्तेः ।

ओरामान्तो गोशब्दो वलीवर्दादिषु पुंलिङ्गः ।

६०. ओ औ पाण्डवेषु ।

गौः गावौ गावः ।

६१. ओआ अमृशसो नं च सोनः ।

अन्यथा वातप्रमीनिति वत् गा इत्यत्र सो नः स्यात् । गाम् गावौ गाः । गवा गोभ्याम् गोभिः । गवे गोभ्याम् गोभ्यः । एओभ्यां ङसि ङसोरित्यादिना अरामहरः । गोः गोभ्याम् गोभ्यः । गोः गवोः गवामित्यादि ।

अमृता०—५९. रायइति । एकवर्णविधिरन्ते प्रवर्त्तते इतिन्यायेन रैशब्दस्य ऐरामस्य स्थाने आरामो भवति स्भोः परयोः । रैत्वं रैयतीत्युभयत्र आरामो न, स्भोः परत्वाभावात् । आचर्यमत दर्शनेन स्वमतं द्रढयति—पाणिनीयेऽपीति । विष्णुभक्त्यनुवृत्तेः बिष्णुजनादि विष्णुभक्ताविदयर्थत्वात् स्भोरेव परत्वमायाति, तासु अन्यविष्णुजनत्वाभावादिति भावः ।

अमृता०—६०. ओऔ इति सुगमम् ।

अमृता०—६१. ओआ इति । अन्यथेति निषेधं विनेत्यर्थः । यावत् सम्भवस्तावद् विधिरिति न्यायेन त्रिविक्रमात् सो नः स्यादितिभावः । ननु गोशब्दस्य बुद्धे एओवामनेभ्य इति बुद्धस्यादर्शनं कथं न स्यात्तत्राह—सर्वेति । सर्वविधिभ्यो हरविधि र्वलवान् हरादपि सर्वेश्वरादेशो बलवानिति परिभाषया सोहंरो न भवति । अपि च अन्तरङ्ग-वहिरङ्गयो

बाल०—क्रोष्टु । टादि बुद्धि बिना पाण्डवेषु परेषु क्रोष्टुशब्दस्य तृल्प्रत्ययान्तस्यैव रूपं भवति । टादिसर्वेश्वरे तु परे तृल्प्रत्ययान्तस्यैव रूपस्य विकल्पः । स तु क्रोष्टु शब्दस्यापि क्रोष्टृणामित्यपि कथं न स्यादिति चेत्तत्राह कृतेऽपि नुटः प्राप्तिरतो नुटो नित्यत्वं, अतो वलवत्त्वञ्च । अतः प्रथमं नुडेव । अतः क्रोष्टूनामित्येव भवति लक्ष्म्यां तु क्रोष्ट्री निपातनात् इति शेषः ।।५९।।

बाल०—रायः । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तते इति न्यायेन रैशब्दस्य ऐरामस्य स्थाने आरामो भवति स्-भोः परयोः । रैत्वमित्यत्र रैयतीत्यत्र च आरामो न भवति स्-भोः परत्वाभावात् । रायो हलीति पाणिनीयसूत्रेऽपि विभक्त्यनुवृत्तेर्हेतोः रैत्यमित्यादौ न भवतीति ।।६०।।

सर्वविधिभ्यो हरो हरात् सर्वेश्वरादेशो बलवान् ।
अन्तरङ्गेत्यादि च विधानसामर्थ्यात् न सोर्हरः—हेगौः ।
औरामान्तो ग्लौशब्दः ।
ग्लौः ग्लावौ ग्लाव इत्यादि ।

।। इति सर्वेश्वरान्ताः पुंलिङ्गाः ।।

रन्तरङ्गविधिर्बलवानिति परिभाषाप्यत्र प्रवर्त्तते । प्रकृत्याश्रितत्वादौरामविधानस्यान्तरङ्गत्वम् । हरविधेः प्रत्ययाश्रितत्वाद् वहिरङ्गत्वमिति । तेन च न सोर्हर इत्यर्थः ।

इत्योरामान्ताः । ग्लौशब्दश्चन्द्रवाची । साधनन्तु सरलम् ।

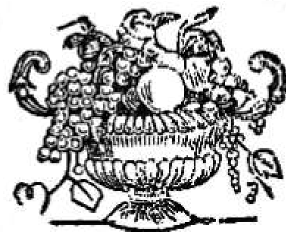
।। इति व्याख्याताः सर्वेश्वरान्तपुंलिङ्गाः ।।

बाल०—ओ औ सुगमम् ।।६१।।

बाल०—ओ आ अन्यथेति सरामस्य स्थाने नरामत्य निषेधं विनेत्यर्थः । सो नरामो न स्यात् अपि तु स्यादेवेति निषेधविधानम् सोनः स्यादिति पाठान्तरम् ।।

ननु गोशब्दस्य बुद्धे ए ओ वामनेभ्य इत्यादिना बुद्धस्य हरः कस्मान्न स्यादितिचेत्तत्राह सर्वेति । सर्वविधिभ्यो हरो बलवान्, हरात् सर्वेश्वरादेशो बलवान् इत्यस्ति, अतो विधानस्य औरामविधानस्य सामर्थ्यात् बलवत्वात् प्रथमम् औरामः अतो न सोर्हरः । प्रकृत्याश्रितत्वादौरामविधानस्यान्तरङ्गत्वम् । ग्लौशब्दश्चन्द्रवाचकः ।।६२।।

।।*।। इति सर्वेश्वरान्तपुंल्लिङ्गाः ।।*।।



अथसर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

६२. तत्रावन्तलक्ष्मी राधासंज्ञा ।

श्रद्धासंज्ञा च । तत्रराधाशब्दः ।

राधाविष्णुजनाभ्यामिति राधा ।

६३. राधा-ब्रह्मभ्यामौ ई ।

अद्वयमिद्वये ए राधे राधाः ।

६४. राधाया एःटौसो वृद्धे च ।

एअय् राधया राधाभ्याम् राधाभिः ।

६५. राधातो याप् वृष्णिषु ।

एद्वये ऐ । राधायै राधाभ्याम् राधाभ्यः । राधायाः राधाभ्याम् राधाभ्यः । राधायाः राधयोः राधानाम् ।

अमृता०—६२. तत्रेति संज्ञासूत्रम् । याधयति सर्वथा पूरयति कृष्णवाञ्छामिति राधा । राधसंसिद्धावितिधातोः स्त्रियामाप् ।

अमृता०—६३. राधेति सुगमम् । राधे इत्यत्र त्रिविक्रम ईविधानफलाभावेऽपि दधिनी मधुनीत्यादौ हि तत्साफल्यं ज्ञेयम् ।

अमृता०—६४. राधायाइति । एकवर्णविधिरन्ते प्रवर्त्तत इत्यनेन राधासंज्ञक शब्दस्य आरामस्थाने एरामो भवति टाओस् प्रत्यययो र्वृद्धे च । ननु राधाया इति सामान्य निर्देशात् पञ्चमीग्रहणेन राधाया उत्तरमेराम इत्येवं व्याख्यायताम् । मैवम्, तर्हि तृतीयैकत्वे राधाया इत्यनिष्टरूपं स्यात् । किञ्च एवम्भूत सन्देहस्थले स्वयं ग्रन्थकृद्भिरेव पञ्चम्यां तस् प्रत्ययेनैव निर्देशः कृत इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

अमृता०—६५. राधात इति । वृष्णिषु परेषु राधासंज्ञकशब्दादुत्तरं याप् इत्यागमः स्यात् । अन्त विष्णुजनश्चेत्यनेन यापः पराम इत् । ननु सप्तम्येकत्वे "नीराधाभ्यां ङेरामि"त्यनेन आमि कृते वामनगोपीत्यादिना नुट् कथं न स्यात्तत्राह—लाक्षणिकेति ।

।। अथ सर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिंगाः ।।

बाल०—तत्र । सुगमम् ।।६२।।

बाल०—राधा । सुगमम् ।।६३।।

बाल०—राधाया । राधाया आराम एरामो भवति ।।६४।।

बाल०—राधातो । ननु राधायामित्यत्र नी-राधाभ्यामित्यादिना ङेरामि कृते 'वामन-गोपी' त्यादिना नुट् न स्यादिति चेत्तत्राह—लाक्षणिकेति । ननु राधाशब्दस्य बुद्धे 'राधा-विष्णुजनाभ्यामि'त्यादिना सोर्हरः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह—अन्तरंगेति ।

ङेरास्, लाक्षणिकप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवग्रहणमिति न नुट्। राधायास् राधयोः राधासु। सम्बोधने— प्रकृत्याश्रितं प्रकृतावपि पूर्व-पूर्वमन्तरङ्गं, प्रकृतेर्वहिराश्रितं वहिरङ्गं, स्वल्पाश्रितमन्तरङ्गं, वह्वाश्रितं वहिरङ्गम्। अन्तरङ्ग-वहिरङ्गयो रन्तरङ्गो विधि र्वलवानिति न्यायेन प्रथममेत्वे कृते एओवामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनमिति हे राधे। एवं रमा रामा श्रद्धा मालादयः, अम्बादयश्च। लक्ष्मीग्रहणान्नेह राधासंज्ञा—समासे वामनो वक्ष्यते—प्रियराधाय कृष्णाय।

६६. अम्बादीनां गोप्याश्च वामनो बुद्धे।

हे अम्ब हेअक्क हेअल्ल हेअप्प हेअव्व। एत एवाम्वादयः। नेह—हेअम्बाडे हेअम्बाले हेअम्बिके इत्यादि।

अथ जरा।

अत्रआम् न स्वाभाविकं किन्तु ङिस्थाने विहितमिति लाक्षणिकत्वान्ननुट्। ननु राधा शब्दस्य बुद्धे "राधाया ए" इत्यादिना एरामे कृते नकृतेऽपि सोर्हरः सिध्यति, तस्मात्तस्य नित्यत्वात् प्रथमतएव "राधाविष्णुजनाभ्यामि"त्यादिना सोर्हरः क्रियताम्, कथं एराम-विधानात् परमिति चेत्तदुच्यते—मातृवत् परिभाषा हि नेष्टं विरुध्यते; तस्मादिष्टपदसाधनाय तदनुकूले प्रकारान्तरपरिभाषामुपन्यस्यति—प्रकृत्याश्रितमित्यादिभिर्ग्रन्थैः। प्रकृत्याश्रितं विधानमन्तरङ्गम्। नतु पूर्वपरयो रित्यनेन परस्य वलवत्ता। प्रकृतेर्वहिराश्रितं प्रत्यया-श्रितं विष्ण्वाश्रितं वा। इह एत्वविधानस्य प्रकृताश्रितत्वात् स्वल्पाश्रितत्वाच्च अन्तरङ्गत्वम्। राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादिना सु-हरविधेः प्रत्ययाश्रितत्वाच्च वहिरङ्गत्वम्। अतएवास्य दुर्वलत्वम्। प्रकृतावपि पूर्वपूर्वमन्तरङ्गमग्रेऽनुसन्धेयम्।

राधासंज्ञायां लक्ष्मीशब्दनिवेशफलं दर्शयति—प्रियराधायेति। प्रिया राधा यस्य सप्रियराधस्तस्मै। अत्र पीताम्बर समासे राधा पदस्याप्रधानत्वाद् "गोरीप आप ऊङश्चा-न्तस्याप्रधानस्य वामन" इत्यनेन वामनः। अन्तर्भूतावन्तोऽपि प्रियराध शब्दः पुंवाची, ततएव लक्ष्मीत्वाभावान्न हि राधासंज्ञेत्यर्थः।

अमृता०—६६. अम्बादीनामिति। ईऊलक्ष्मीर्गोपीसंज्ञेति वक्ष्यते। अम्वादिशब्दा मातृवाचकाः। एषां बुद्धेवामनः स्यात्। नेहेति अम्वाडादित्रयो मातृवाचिनोऽपि न ह्यम्बादिगणपातिनः; "डलकवतीनां प्रतिषेधो वक्तव्य" इतिभाष्यवचनात्।

अन्तरंगेत्यादि न्यायेन प्रथमं 'राधाया ए टौसौर्बुद्धे चे'त्यनेन एत्वमेव। ततो बुद्धादर्शन-मिति। नत्वन्तरंगविधिर्वा को बहिरंगो वा क इत्यपेक्षायामाह,—प्रकृत्याश्रितमिति प्रकृत्याश्रितमित्यादेर्विधानमिति विशेष्यम्। पुंस्त्वनिर्देशस्तु सभ्यः। अन्तरङ्गविधेर्बलवान् इत्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रकृत्याश्रितमन्तरंगं प्रकृतावपि पूर्वमन्तरङ्गमिति। अत्र एत्व-

६७, जराया जरस् वा सर्वेश्वरे ।

जरा जरसौ जरे जरसी इति केचित्। जरसः जराः। जरसम् जरामित्यादि । एवमरामान्त निजरशब्दस्यापि जरेति भागस्य विकल्पेनादेशो ज्ञेयः।

वर्णेनविधौ तदन्तस्य कार्यं स्यान्नाम्नातु क्वचिदिति निर्दिश्य माना-नामादेशिनामादेशा इति। एकदेशविकृतमनन्यवदिति च न्यायेभ्यः। निर्जरसौ निर्जरौ, निर्जरसः निर्जराः इत्यादि। निर्जरेण निर्जरसा,

---

अमृता०—६७. जरायाइति । सर्वेश्वरादिविष्णुभक्तौ जरा शव्दस्य जरस् वा आदिश्यते । जरसीति केचिदिति—तन्मते प्रथममेव लिङ्गोचित कार्यम् औईः, ततो जरसादेशः। एवमिति—प्रसङ्गादरामात निर्जर शब्दस्यापीदृशादेशज्ञापनार्थं स्त्रीलिङ्ग प्रकरणे निर्देशो वोध्यः। निर्जरोदेवः पुंलिङ्गएव। तादृशादेशस्य सङ्गतिकरणे हेतुमाह—वर्णेनेत्यादि । विधौ विधानसूत्रे येन वर्णेन यत् कार्यं विधीयते तत्कार्यं तदन्तस्य तद्वर्णान्तस्यापि भवति । यथा—एओ वामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनमिति एरामान्तात् ओरामान्तात् वामनाच्च बुद्धादर्शनम्—हेहरे हेविष्णो हेकृष्ण। पुनर्विधौ येननाम्ना निर्देशेन यत् कार्यं क्रियते तत्तु तन्नामान्तस्य भवति क्वचिन्नतु सर्वत्रेति न्यायार्थः। स (वर्णः) एव तत् (नाम एव वा) अन्तस्तदन्तः तस्य। इह जराशब्दनिर्देशेन यो जरसादेशो विहितः स च जरान्तस्य निर्जरशब्दस्यापि स्यादिति फलितम्। क्वचिद्ग्रहणफलमग्रे दर्शयिष्यते। तत्रचादेशे क्रियमाणे एक वर्णत्वाभावात् सोपेन्द्रस्य समग्रनिर्जर शव्दस्य जरसादेशे प्राप्ते द्वितीयन्यायमाचष्टे—निर्दिश्यमानानामिति। आदेश एषामस्तीति आदेशिन स्तेषाम् ।

विधानस्य प्रकृत्याश्रितत्वात् स्वल्पाश्रितत्वाच्च अन्तरङ्गत्वम् । राधाया ए भवतीति स्वल्पाश्रितत्वम् । सु-हरविधानस्य प्रकृतेर्बहिराश्रितत्वात् वह्वाश्रितत्वाच्च बहिरङ्गत्वम् राधादिभ्यः परस्य सोर्हरो भवतीति बह्वाश्रित्वम्। प्रकृतावपि पूर्वं पूर्वमिति तु स्थानान्तरे बोद्धव्यम्। प्रियराधायेति प्रिया राधा यस्य तस्मै 'गोरीप आप ऊङश्चान्तस्याप्रधानस्य वामन' इत्यनेन वामनः।

अम्बा। ई-ऊ-लक्ष्मीर्गोपीसंज्ञा। अम्बादयः षट्शब्दा अम्बावाचकाः। नाट्योक्तौ माता अम्वा कथ्यते। अम्वाडादयोऽपि त्रयः शब्दा अम्बावाचका एव किन्त्वेषामम्बादित्वं नास्ति, एते एवेति नियमात् ॥६५–६६॥

बाल०—जरा। एवमिति आदेशो भवतीति ज्ञापनार्थं स्त्रीलिङ्गप्रकरणेऽ-रामान्तस्योल्लेखः कृत इति ज्ञेयम्। निर्जरशब्दस्यापि जराया इत्यादिना जरेति भागस्य विकल्पेनादेशो भवतीत्यत्र हेतुमाह वर्णेनेत्यादि। तत्र वर्णेनेति विधौ विधाने सूत्रे येन वर्णेन यत् कार्यं विधीयते, तत् कार्यं तद्वर्णान्तस्यापि भवतीति सर्वत्र। येन नाम्ना यद्विधीयते, तत्तन्नामान्तस्यापि भवतीति तु क्वचिदिति न्यायार्थः। तदन्तस्येत्यत्र सवर्णः

निर्जरसिन इत्येके। निर्जरैः निर्जरसैः। निर्जरात् निर्जरसः। निर्जरसादिति केचित्।

विश्वपा पुरुषोत्तम विश्वपा शब्दवत्।

६८. अत्र निशा-नासिकयो र्निश्नसावादेशौ यदुषु वा वाच्यौ।

प्रयोगाश्च पक्षे विष्णुजनान्तवज्ज्ञेयाः। यथा—निशः निशा निज्भ्यामित्यादि।

इरामान्तो भक्तिशब्दः। तस्य पाण्डवेषु हरिशब्दवत्। शसि भक्तीः। पुंसीति विशेषणान्नरामो नस्यात्। नतु लक्ष्म्यामिति न नादेशः। भक्त्या भक्तिभ्याम् भक्तिभिः।

सूत्रादिषु आदेशिनो यावन्निर्दिश्यन्ते अतिदिश्यमान शब्दानां तावत्-स्थानेष्वेव तदादेशा-भवन्ति नतु समग्रातिदेश-शब्दस्थाने। इह निर्दिश्यमान आदेशी जराशब्दः; तस्यादेशो जरस् सचादेशः अतिदिश्यमान-निर्जर शब्दस्य जर-भागस्य स्थाने हि भवति नतु निर्जरेति समग्र स्थाने। अन्यथा निर्जर शब्दस्यापि जरसौ इत्येवं रूपमाद्येत। अथ तत्रापि आरामान्तस्य जराशब्दस्यायमादेशः कथमरान्त निर्जरशब्दे प्रयुज्यत इत्याशङ्कायांतृतीय-माह—एक देशेति। व्याख्यात एष प्रागेव। आरामरूपस्यैकाङ्गस्य विकृतत्वेऽपि न तस्मादन्य इतीह नादेशबाधः। निर्जरसिन इत्येक इति पद्मनाभादयः। अत्र कृष्णात् टा इनं कृत्वा पश्चाद् जरसादेशः क्रियते। तथैव निर्जर सादित्यत्रापि कृष्णात् ङसेरात् इत्यनन्तरमादेशः। तत्तन्मते अकारान्ताधिकार कार्यस्य बलवत्त्वात्। एके केचिदिति पदद्वयेन तत्र तत्र स्वमतानैक्यं व्यञ्जितम्।

नचैवं स्वमतेऽपि निर्जरसैरित्यत्र अरामान्तस्य कार्यविशेषमग्रेकृत्वैव जरसादेशः कृतः, तद्वत् निजरसिन निर्जरसादिति द्वे च स्वमतेऽपीष्टे इति वाच्यम्। निर्जरसैरित्यत्रा-देश साफल्याय हि भिस ऐस् सूत्रेण विहितः, अन्यथा अकृते ऐस् भावे सर्वेश्वरादित्वा-भावाज्जरसादेशस्तु न सम्भाव्येत। निर्जरसिन इत्यादि द्वये तु पूर्वत एव सर्वेश्वरादि विष्णुभक्ति सिद्धेः कार्यान्तरमनपेक्ष्यप्रथमेवादेश-प्रवृत्तिस्ततः कृष्णत्वाभावान्नतत् कार्य-मिनादिकमिति।

अमृता०—६८. अत्रेति। अत्र लक्ष्म्यां यदुषु परेषु निशा-नासिका शब्दयो र्यथाक्रमं निश्-नसौ आदेशौ वा स्याताम्। निज्भ्यामित्यत्र "षस्यङ" इति वत् शस्य जो मन्तव्य इत्यग्रे वक्ष्यते। सुपि "यादवमात्रे हरिकमलम्" (जरामस्यचरामः) "सश्यशश्चवर्ग योग" इति सरामस्यशरामे निच्शु पक्षे छत्वं निच्छु। केचित्तु "छशोराजयजि"त्यादिना षत्वं विधाय "षस्यडो विष्णुपदान्त" इत्यनेन निड्भ्यां निट्सु इत्येवं मन्यन्ते।

अन्ते यस्य इति विग्रहेण पीताम्बरसमासे कृते सति, तस्य तद्गुणसम्बिज्ञानमनेन उभय-पदस्य तत् कार्यं स्यात्। अतद्गुणसम्बिज्ञानस्वीकारेण पूर्वपदस्य तत् कार्यं स्यादिति

६९. हरितआप् वा वृष्णिषु लक्ष्म्यां नित्यं गोप्याः ।

वृष्णिनिमित्तापो न याप् । भक्त्यै भक्त्ये भक्तिभ्याम् भक्तिभ्यः । भक्त्याः भक्तेः भक्तिभ्याम् भक्तिभ्यः । भक्त्याः भक्तेः भक्त्योः भक्तीनाम् । आवन्तेऽपि नीराधाभ्यां ङेराम्—भक्त्याम् भक्तौ भक्त्योः भक्तिषु । हे भक्ते ।

एवं बुद्धि मति भूति कृति धृति रुचिप्रभृतयः ।

अथ धेनु शब्दः ।

अमृता०—६९. हरित इति । वृष्णिषु परेषु लक्ष्म्यां हरिसंज्ञक शब्दादुत्तरे आप् वा स्यात् । गोपीसंज्ञकशब्दात्नित्यमाप् भवति । वृष्णिरेवनिमित्तं यस्य सवृष्णिनिमित्तः सचासौ आप्चेति बृष्णिनिमित्ताप्, तस्मादुत्तरन्तु याप् न स्यात् लाक्षणिकत्वादिति मूलम् ।

ननु सप्तम्येकत्वे कथं लाक्षणिकता न मता, तत्रापि वृष्णिनिमित्तावन्तस्यैव राधा संज्ञत्वमङ्गीकृत्य ङेराम् विधानादिति चेदुच्यते—तत्रङेरामिति आमो विरिञ्चित्वम्, इहतु प्रकृतिप्रत्यययो र्मध्ये विधानाद् यापो विष्णुत्वमिति स्थिते विरिञ्चिर्लाक्षणिकत्वं सहते क्वचिन्न विष्णु रिति न्यायेन सप्तम्यां बिधौ लाक्षणिकत्वेऽप्यामि कृते न दोषापत्तिरिति । एव मुरामान्ता नित्यस्त्रीलिङ्गा धेनुवत् ।

अशन्यादीनामिति—अशनिर्वज्रम् । अशनि शब्दस्य पुरुषोत्तमत्वं लक्ष्मीत्वञ्च कोषात् प्रसिद्धम् । आदिशब्देन इषु मणि तिथि रेणु प्रभृतीनां ग्रहणम् ।

हरेः स्वभावलक्ष्मीत्वे इउरामान्तस्य नित्यस्त्रीत्वे हि विभाषया आबन्तकार्यं वाच्य मित्यर्थः । पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्त्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति प्राचां लक्षणम् । प्रियहरये इति प्रियो हरि र्यस्या स्तस्यै । अत्र हरिशब्दस्य स्वभावलक्ष्मीत्वं नास्ति किन्तु

विरोधे प्राप्ते यावत् सम्भवस्तावद्विधिरिति न्यायेन अन्तर्भूततद्वर्णस्यैव तत् कार्यं स्यादिति । अथवा स एव वर्णः अन्तः तद्वर्णान्त इति श्यामरामे कृते न कश्चिद्दोष इति । अतएव ग्रन्थकारेणाप्युक्तं जरेति भागस्येति । एवं तन्नामान्तस्येत्यत्रापि ज्ञेयम् । निर्द्दिश्येति इत्येव-प्रकारेण निर्द्दिश्यमानानाम् आदेशिनां स्थाने आदेशा भवन्त्येवेति शेषः । अत्रादेशी जराशब्दः । एकदेशेति स्पष्टार्थमेव । केचिदिति क्रमदीश्वरादय इत्यर्थः । अत्रनिशा—सुगमम् ।।६७–६८।।

बाल०—हरित । वृष्णि । अशन्यादीनामिति अशनिर्द्वयोरित्यमरात् अशनिशब्दस्य पुरुषोत्तमत्वं लक्ष्मीत्वञ्च । अशनिशब्दः वज्रवाचकः, आदिशब्देन तिथि-मणिप्रभृतीनां रेणुप्रभृतीनाञ्च ग्रहणम् । अत्रेति । अत्र हरित आप् वेत्यादिलक्षणे । प्रियहरये इति प्रियो हरिर्यस्यास्तस्यै । अत्र हरेः स्वाभाविक लक्ष्मीत्वं नास्ति, किन्तु पीताम्बरसमासेन लक्ष्मीत्वम् । एवं प्रियविष्णवे इति । एवमिति प्रियत्रिशब्दोऽपि एवं प्रियहरिशब्दवदित्यर्थः । प्रियास्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या इति विग्रहः ।

धेनुः धेनू धेनवः । धेनुम् धेनू धेनूः । इत्यादि ।

वृष्णिषु धेन्वै धेनवे, धेन्वाः धेनोः, धेन्वाम् धेनौ । अशन्यादीनां लक्ष्मीत्वे पक्षेऽपि एवमेव ज्ञेयम् । अत्रहरेः स्वभाव लक्ष्मीत्वे सत्येवेति वाच्यम् । तेन नेह—प्रियहरये प्रियविष्णवे श्रियै । एवं पियत्रिः । मतिवदयमिति तु तस्यां भ्रमः । शसि प्रियहरीः । नादेशस्तु न प्रियहर्या । पटु प्रभृतीनान्तु विकल्प इति केचित् । पटवे पट्वै ।

त्रिशब्दस्य लक्ष्म्याम्—

७०. लक्ष्मीस्थयो स्त्रि-चतुरोस्तिसृ-चतसृ विष्णुभक्तौ ।

७१. तिसृ-चतस्रो रः सर्वेश्वरे ।

गोविन्द त्रिविक्रमोरामाणामपवादः । षत्वे केवलसरामो विरिञ्चि गृहीतः । तिस्रः तिस्रः तिसृभिः तिसृभ्यः तिसृभ्यः । आमितु नतिसृ चतस्रो रिति ज्ञापकात् नुडेव । तिसृणाम् तिसृषु ।

पीताम्बरसमासेऽन्य पदार्थवाचित्वे लक्ष्मीत्वम् । एवं प्रियत्रिरिति प्रियहरिवत् । अत्रापि प्रियास्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या इति पीताम्बरे पश्चालक्ष्मीत्वान्न नित्यस्त्रीत्वमिति आपोऽभावः । तथापि मतिवदयमिति प्रक्रिया कौमुद्यां भ्रमः । पटु प्रभृतीनान्त्विति—प्रभृतिना मृदु लघु गुरु पृथ्वादीनाञ्च वाच्यलिङ्गत्वेऽपि स्त्रीवाचकपक्षे स्वभावलक्ष्मीत्वं मन्तव्यम् । तेन धेनु शब्दवदेषां वृष्णिषु रूपद्वयं सिध्येत् । तुकारेण हरेः स्वभावलक्ष्मीत्वाभावो व्यावर्त्तितो ग्रन्थकारसम्मति श्चात्र सूचितः । केचिदिति न्यासकारादयः ।

अमृता०—७०. लक्ष्मीति । विष्णुभक्तौ परस्यां लक्ष्म्यां वर्त्तमानयोः त्रि-चतुर शब्दयोः क्रमात् तिसृ चतसृ आदेशौ भवतः । तिसृ चतसृ इति समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वञ्च । विष्णुभक्ताविति किम्—त्रित्वम् चतुष्टयम् । लक्ष्मीस्थयोरिति विशेषणात् प्रिया स्तिस्रो यस्य इति बिग्रहे समस्तस्य पुरुषोत्तमत्वेऽपि भवत्येवादेशः । तेन प्रियतिसा प्रियतिस्रौ प्रियतिस्र इत्यादि । टादौ प्रियतिस्रा प्रियतिस्रे इत्यादि ।

अमृता०—७१. तिस्रिति । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तत इत्यनेन ऋराम स्थाने ररामो भवति । गोविन्देति ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु ङौचेत्यनेन गोविन्दप्राप्ति प्रसङ्गः । दशावतारस्य त्रिविक्रमो शसीत्यनेन त्रिविक्रमस्य तथा ऋरामतो ङसिङसोरस्य उच् इत्युरामस्य च प्रसङ्गः । तत् सर्वेषां प्रसङ्गानामपवादो बाधकोऽयं रबिधिः । षत्व इति—

मतिवदिति अयं प्रियत्रिशब्दः । तस्यां प्रक्रियाकौमुद्याम् । पटु-प्रभृतीनामिति । पटुशब्दादीनामपि स्वभावलक्ष्मीत्वं नास्ति वाच्यलिङ्गत्वात् । अतोऽस्माकं मते—आप् न भवति, केचिदिति क्रमदीश्वरादय इत्यर्थः ।।६९।।

बाल०—लक्ष्मी । लक्ष्मीस्थयोर्लक्ष्यां वर्त्तमानयोः ।।७०।।

ईवन्तगोपीशब्दः ।

ईविति लक्ष्मीविहितप्रत्ययः ।

७२. ईऊलक्ष्मी गोपीसंज्ञः ।

नदी संज्ञाच । गोपी गोप्यौ गोप्यः । गोप्यम् गोप्यौ गोपीः । गोप्या गोपीभ्याम् गोपीभिः । गोप्यै गोपीभ्याम् गोपीभ्यः । गोप्याः गोपीभ्याम् गोपीभ्यः । गोप्याः गोप्योः गोपीनाम् । गोप्याम् गोप्योः गोपीषु । हेगोपि ।

अत्रविधान सामर्थ्यान्नगोविन्दः ।

षत्वविधान सूत्रे प्रत्ययविरिञ्चि सस्य ष इत्यनेन यत् विरिञ्चि सस्य षत्वमुक्तं तेन तु केवलसराम-लक्षित-विरिञ्चिर्गृहीतः नतु वर्णान्तर-सहितो विरिञ्चिः । तस्मात् तिसृ चतसृविरिञ्च्योः सस्य न षत्वं सरामातिरिक्तवर्ण साहचर्यात् । ननु सर्वेश्वर इति-सामान्योक्तितः षष्ठीवहुत्वेऽपि तिसृ-चतस्रो र एव भवितुमुचितमिति चेत्तत्राह—आमित्विति । वामनस्य त्रिविक्रमो नामीत्यादौ—नतिसृ-चतस्रोरितित्रिविक्रम निषेध एव नुटो ज्ञापकः । तथाहि—नामिसत्येव तत्र प्राप्तत्रिविक्रमस्य प्रतिषेधः कृतः । अजाते नुटि कुतो नाम् कुतो वा तन्निषेधसम्भावनेति । अतो विरिञ्चतो विष्णुर्वलवानिति न्यायेन रादेशात् प्राक् नुटः प्रवृत्तिः; प्रवृत्ते तुतस्मिन् सर्वेश्वर परत्वाभावान्न हि रादेशावसर इतिभावः ।

अमृता०—७२. ईऊ लक्ष्मीरिति । ईरामान्तः ऊरामान्तश्च स्त्रीलिङ्गशब्दो गोपी संज्ञक इत्यर्थः । गाःपाति रक्षतीति गोप; । यद्वा गोपायति रक्षति शुद्धभक्तिरसं तदधिष्ठा-नत्वादिति गोपो व्रजस्थाभीर जाति विशेषः । गो—पा+कः, गुपू+अल् वा । तस्माद रामान्त जाते रित्यादिना स्त्रियामीप्–गोपी व्रजगोपवनिता । नदी संज्ञा प्राचाम् । ननु हेगोपि इत्यत्र हरेर्गोविन्द इत्यादिना गोविन्दः कथं नस्यात्तत्राचष्टे—अत्रेति । यद्यत्र गोविन्देन भाव्यं तर्हि वुद्धे वामनविधानमकृत्वा "गोप्या गोविन्दो बुद्धे" इत्येवं सूत्रं क्रियेत, अन्यथा वामनविधेरनर्थकत्व-प्रसक्तेः ।

बाल०—तिसृ । चिसृ चतस्रिति समाहारात्तिसृ । एकवर्णो विधिरन्तेप्रवर्त्तत इति न्यायेन ऋरामस्य स्थाने ररामो भवति । गोविन्देति 'ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु ङौ चे'त्यनेन गोविन्दः स्यात् । 'दशावतारस्य त्रिविक्रमः शसी'त्यसेन त्रिविक्रमः स्यात् । 'ऋरामातो ङसि ङसोरस्य उच्' इत्यनेन उरामः स्यात् । तेषामपवादो बाधकोऽयं ररामः । प्रियास्तिस्रो यस्मिन् तस्मात्तस्य वा प्रियतिस्र इत्यतो ररामो न स्यात् । ननु तिस्र इत्या-दिषु विरिञ्चि-सस्य षत्वं कथं न स्यादित्ति चेत्तत्राह,—षत्वमिति । केवलसरामो यत्र विरिञ्चिस्तत्र षत्वम् । अत्र तु तिसृविरिञ्चिरिति न षत्वम् । 'न त्वामि'—तिसृणामित्यत्र ररामः कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—आमि त्विति । यद्यत्र ररामः स्यात्तर्हि न तिसृचतस्रो-र्लक्षणं निरर्थकं स्यात्तस्मादत्र नुडेव भवति, न तु ररामः ।।७१।।

एवंनदीमही प्रभृतयः । सखी च ।

सखी सख्यौ । अत्र नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति परिभाषा नेष्यते । ङौ सख्याम् ।

एवं सुपथीत्यत्र नात्वम् । त्रिविक्रमादिति विशेषणान्नेह—सोर्हरः—अतिगोपिः । पुंसि वृष्णिषु अतिगोपये इत्यादि लक्ष्म्याम् अतिगोप्यै अतिगोपये इत्यादि ।

७३. अवी तन्त्री तरी लक्ष्मी ह्री धी श्रीणामुणादिना ।*
शब्दानान्तु भवत्येषां सुलोपो न कदाचन ॥

लक्ष्मीः लक्ष्म्यौ लक्ष्म्यः इत्यादि गोपीवत् ।

ननु नाम्नोग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणात् सखी सख्यौ इत्यादौ पूर्वोक्तं सखिकार्यं आच्-वृष्णीन्द्रादिकञ्च कथं न स्यादित्याशङ्कायामाह—अत्रेति । परिभाषा नेष्यत इति—विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणमिति वार्त्तिकनिषेधात् । परिभाषा सा सन्ध्यादौ तद्धित प्रत्ययादौ च विषये प्रवर्त्तते नतु विभक्तौ । यत्र खलु एकस्यैवाविकृतशब्दस्य लिङ्गान्तरे रूपभेदो जायते तत्र तु तत्परिभाषा न प्रभवति अशन्यादौ यथेतिभावः । एवमिति—लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनिष्टत्वात् सुपथीत्यत्र च "पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्ण स्थान" इत्यनेन प्राप्त आरामो न स्यात् । सुपथीति—ऋक्पथिपुरप इत्यनेन समासान्ता प्रत्ययादीप् । राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादौ त्रिविक्रमादिति विशेषणोपादानफलमाह—त्रिविक्रमादिति । तेनविशेषणमिदं वामनस्वरूपेणापि ईपः सत्तां ज्ञापयति । अति गोपिरिति—गोपीमतिक्रान्त इति विग्रहे "अत्यादयो द्वितीयये"त्यनेन कृष्णपुरुषः, "गोरीप् आप्' इत्यादिना वामनः । लक्ष्म्यां—गोपीमतिक्रान्तेति विग्रहः ।

अमृता०—७३. अवीति । उणादिना निष्पन्नानामेषां सप्तशब्दानां कदाचन कदाचिदपि सुलोपो न भवति; ईप्प्रत्ययान्तत्वाभावात् । उणादिनेति—उपलक्षणे तृतीया । उणदिनोपलक्षितानाम्, उणादि सिद्धानामित्यर्थः । एषु च ह्री धी शब्दौ उणादावेव क्विवन्तौ, शेषास्तु ईप्रत्ययान्ताः । क्वचित् तन्द्रीति च पाठो दृश्यते । ननु तन्त्री वीणायमित्यादि प्रयोगे सुलोप दर्शनाद् व्यभिचार इति चेत्तत् समादधाति—तन्त्रयते

बाल०—ईऊ । ई-ऊ लक्ष्मीः ईरामोरामान्तलक्ष्मीरित्यर्थः । ननु हे गोपीत्यत्र 'हरेर्गोविन्द' इत्यादिना गोविन्दः कस्मान्न भवतीति चेत्तत्राह,—अत्र वामनेति । यद्यत्र गोविन्देन भाव्यं, तदा बुद्धे वामनबिधानसूत्रमकृत्वा गोप्या अपि गोविन्दविधानसूत्रमेव विदध्यात् । ननु सखीत्यादौ नाम इत्यादि न्यायेन पूर्वोक्तं सखिशब्दस्य कार्यं कस्मान्न भवतीति—चेत्तत्राह अत्रेति । एवमिति नाम्न इत्यादिन्यायस्यानिष्टत्वात् । सुपथीत्यत्रापि

---

* उणादीनामिति च क्वचित् पाठान्तरम् ।

तन्त्री वीणायामिति तु तन्त्रयतेरणन्तत्वादीपिसिद्धा । गौरादित्वात् स्त्रीशब्द ईवन्तः । ततः सोर्हरः स्त्री ।

७४. स्त्रीभ्रुवोरियुवौ सर्वेश्वरे, स्त्रिया अमृशसो र्वा ।

स्त्रियौ स्त्रियः । स्त्रियम् स्त्रीम् स्त्रियौ स्त्रियः स्त्रीः । स्त्रिया स्त्रीभ्याम् स्त्रीभिः । नित्यं गोप्याः—स्त्रियै स्त्रीभ्याम् स्त्रीभ्यः । स्त्रियाः स्त्रीभ्याम् स्त्रीभ्यः । स्त्रियाः स्त्रियोः । विरिञ्चितो विष्णुर्बलवान्, स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् स्त्रियोः स्त्रीषु हेस्त्रि । गौणत्वे पुंसितु अतिस्त्रिः; नाम्नातु क्वचिदिति तदन्तविधिः । अत्र क्वचिद् ग्रहणाद् गोविन्द ना नुडौज् वर्ज स्त्रिया इयादेश इति विस्तरः । मतान्तरन्तु नभाष्यादिमतमिति च । अतिस्त्रियौ अतिस्त्रयः । अतिस्त्रियम् अतिस्त्रीम्, अतिस्त्रियौ अतिस्त्रियः अतिस्त्रीन् । अतिस्त्रिणा, अतिस्त्रये, अतिस्त्रेः, अतिस्त्रियोः अति स्त्रीणाम् , अतिस्त्रौ । लक्ष्म्याम् शस्टापरत्वे अतिस्त्रियः अतिस्त्रीः,

---

रिति । तन्त्रयते र्ण्यन्त-तन्त्रीधातोः अण् प्रत्ययात् ईप् प्रत्यये सिद्धोऽयं नतु उणादावित्यर्थः । गौरादित्वादिति गौरादेरीप् प्रत्यय स्तद्धिते वक्ष्यते ।

अमृता०—७४. स्त्रीति । सर्वेश्वरादि विष्णुभक्तौ स्त्री-भ्रू शब्दयोः क्रमादियुवौ अन्त्यादेशौ भवतः । स्त्रीशब्दस्य अमि शसि च परे इयादेशो वास्यात् । ईवन्तत्वेन गोपीवद् आपि प्राप्ते विशेष विधिरयम् । ननु षष्ठीवहुत्वे आमि किमियादेशेन भाव्यमुत-नुडागमेनेति विप्रतिषेधे समाधानमाह—विरिञ्चितइति । अतिस्त्रिरिति—अतिक्रान्तः स्त्रियमिति विग्रहः । तदन्तविधौ क्वचिद् ग्रहणसार्थकतां दर्शयति—गोविन्देति । गोविन्दश्च (जसि वृष्णिषु च) ना च (तृतीयैकत्वे) नुट् च (आमि) औच् च (ङौ) इति गोविन्दाना नुडौचः तान् वर्जयित्वेति गोविन्द नानुडौज्वर्ज स्त्रीशब्दस्य यइयादेशः स स्त्रीशब्दान्तस्य

'पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्णस्थान' इत्यनेनात्वम् । अतिगोपीरिति अतिक्रान्तो गोपी-मिति 'अत्यादयो द्वितीयये'त्यनेन कृष्णपुरुषः । 'गोरीप् आप् ऊअश्चान्तस्याप्रधानस्य वामन' इत्यनेन वामनः । अवीति । एषामवीत्यादीनां शब्दानां कदाच न कदाचिदपि सुलोपो न भवति, ईप्प्रत्ययान्तत्वाभावादिति शेषः । उणादिनेति उपलक्षणे तृतीया उणादिसिद्धाना-मित्यर्थः । उणादिनेति तु अवी तन्त्री तरी लक्ष्मीपरं ज्ञेयम् । ह्री-धी-श्रीणां क्विवन्तत्वात् । तन्त्रीति । तन्त्री वीणायाम्, इति तु इत्यत्र वर्त्तमाना तन्त्री तन्त्रयतेर्ण्यन्तस्य तन्त्रीधातोरण्प्रत्ययान्तदीपि ईप्प्रत्यये सिद्धा । इतीति सप्तम्यन्तम् । गोरादित्वादिति । गौरादेरीप्प्रत्ययस्तद्धिते वक्ष्यते ।।७२–७३।।

बाल०—स्त्री-भ्रुवो । स्त्रियाः । नन्वामि किम् इयादेशेन भाव्यं नुडागमेन वेति सन्देह आह,—'विरिञ्चित' इति । अतिस्त्रीरिति अतिक्रान्तः स्त्रीमिति विग्रहः । नाम्ना

अतिस्त्रिया । वृष्णिषु पक्षे अतिस्त्रियै अतिस्त्रये अतिस्त्रियाः अतिस्त्रियाम् ।

श्रीशब्दः । श्रीः । धातोरीदूतोरिति श्रियौ श्रियः इत्यादि ।

७५. नेयुव् स्थानं गोपी स्त्रियं विना, वृष्णिष्वामिच वा ।

श्रियै श्रिये, श्रीभ्याम् श्रीभ्यः । श्रियाः श्रियः, श्रियाः श्रियः, श्रियोः, श्रीणाम् श्रियाम् । श्रियाम् श्रियि श्रियोः श्रीषु । हेश्रीः । एवं धीप्रभृतयः, भ्रूप्रभृतयश्च । भ्रूः भ्रुवौ भ्रुवः । एवं सुभ्रूः । वुद्धे वामन इति केचित् ।

अतिस्त्रिशब्दस्यापि भवतीत्यर्थः । भाष्य सम्मतत्वाद् बिस्तर मतमेव ग्रन्थक्रमन्तं ज्ञेयम् । लक्ष्म्यामतिक्रान्ता स्त्रियमिति विग्रहे पक्षे आप् पक्षे इत्यर्थः । पक्षान्तरे तु वृष्णिषु पुरुषोत्तमवत् ।

अमृता०—७५. नेयुविति । इयः उवोवा स्थानं स्थिति र्यत्र तदियुव्स्थानम् । स्त्रीशब्दं विना इयुव्स्थानं नाम गोपीसंज्ञं नभवति । वृष्णिषु आमि च परे इयुव्स्थानं गोपीसंज्ञं वाभवति । हेश्रीरिति—अम्बादीनां गोप्याश्चेत्यनेन न वामनः, गोपीत्वाभावात् । केचिदिति क्रमदीश्वरादयः । भ्रूरिति गोपीत्वाभावान्न सोर्हरः । सुभ्रू शब्दस्य तु बुद्धे वामनत्वं शिष्ट प्रयोगेण समर्थयते—आः कष्टमित्यादिभिः । श्रीसीताहरणानन्तरं विरहातुर श्रीरामचन्द्रस्य खेदोक्तिरियम् । व्याख्या त्वाकरे द्रष्टव्या । "विमानता सुभ्रु पितु र्गृहे कुतः" इति कालिदासश्च । दीक्षितस्तु शिष्टप्रयोगोऽप्यनुपपन्न इत्याह । अत्रेति—अत्र पश्चात् समस्त प्रधीशब्दे यादेश स्तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमः, सहजानेकसर्वेश्वरत्वाभावात् । तदेवोपन्यस्थति—गतिकारक पूर्वत्वाभावादिति । तथैव वार्त्तिकम्—गतिकरकेतर पूर्वपदस्य यन्नेष्यत इति । तन्मतेनैव तस्या अनुपपत्तिमालोचयति—प्रादीनामिति । प्राद्यव्ययानां क्रियायेगे एव गतिसंज्ञा । गति कारकोपपदैः सह समासकाले हि विधीयन्ते कृत्प्रत्ययाः, ततःस्वाद्युत्पत्तिः । गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समास वचनं प्राक् सुबुत्पत्तेरिति न्यायात् । अतः कृतन्तेन सह प्रादीनां पश्चात् समासे तु न गतिकारकत्वं सहजानेक सर्वेश्वरत्वं वा । तस्मात्तन्मतेऽपि यादेशोऽत्र न युक्तएव ।

त्विति तदन्तविधिर्नाम्नान्तविधिर्भवतीति शेषः । अतः स्त्रीशब्दस्य विहित इयादेशस्तदन्तकस्यातिस्त्रिशब्दस्यापि भवतीति । अत्रेति । स्त्रियाः स्त्रीशब्दान्तकस्य इति चेति विस्तर इति शेषः । तत्र विस्तरमतमेव ग्रन्थकारस्यापि मतमिति ज्ञेयम् ।।७४।।

बाल०—नेयुव । स्त्रीशब्दं विना इयुवस्थानं गोपी न भवति । वृष्णीषु आमि च परे इयुवस्थानं गोपी वा भवति । हे श्रीरिति गोपीत्वाभावात् 'अम्बादीनां गोप्याश्च वामनो बुद्धे' इत्यनेन न वामनः । केचिदिति क्रमदीश्वरादय इत्यर्थः । शिष्टप्रयोगमपि दर्शयति, हा पितरिति । तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमः, सहजानेकसर्वेश्वत्वाभावादिति शेषः ।

आः कष्टं वत ही चित्रं हूं मातर्दैवतानि धिक् ।
हापितः क्वासि हेसुभ्रु वह्वेवं विललाप सः ॥ –इति भट्टिः ६।११

पश्चात् प्रशब्दयोगे प्रकृष्टाधीः प्रधीः प्रधियौ प्रधियः । ङे प्रधियै प्रधिये । अत्र यादेशस्तस्यां भ्रमः; गति कारक पूर्वत्वाभावात् । प्रादीनां क्रिया-योगे एव हि तन्मते एव गतिसंज्ञेति । केवलाव्ययपूर्वत्वेऽपि, इति त्वपाणिनीयम् । पुनर्भू शब्दस्य पुनर्व्यूढावाचकस्य नित्यस्त्रीत्वे हेपुनर्भु । क्वचिद्भिन्न पदत्वेऽपि णत्वं वाच्यम् पुनर्भूणाम् । वधू प्रभृतीनां लक्ष्मी-शब्दवत् । वधूः वध्वौ वध्वः । हेवधु ।

किञ्च, अनियुवां पश्चात् पुंस्त्वेऽपि गोपीसंज्ञामाहुः । ततो वहुप्रेयसी शब्दः शसं विना पुंस्यपि गोपीशब्दवत् । एवमतिलक्ष्मीः लक्ष्मीशब्दवत् । अवयवस्त्रीविषयत्वात् सिद्धमिति भाष्यम् । ईप्रत्ययान्तवातप्रमी वदिति

न च वाच्यं प्रधीशब्दस्य कर्मधारये नित्यस्त्रीत्वेन गोपी संज्ञत्वाल्लक्ष्मीवद् रूपं युक्त-मिति; गतिकारकपूर्वस्य क्विन्तस्व विशेषेण यराम विधानाद् यदा गतित्वाभावेन यरामो वाधितस्तदा तस्य धातुत्वापरिहार्यत्वात् इयः प्रवृत्तिर्हि सङ्गता, सकृद्गत न्यायेन पुनर्य-रामाप्रवृत्तेः । नचात्रस्त्रीविषयत्वाद् गोपीकार्यमेव वलवदित्यपि वाच्यम्; गोपीसंज्ञायां याप् विधेरेव विशेषकार्यत्वात् । यरामस्तु सामान्य सन्धिविधिनैव सिद्ध इति तत्त्वम् । एवञ्च "दुर्धियो वृश्चिकभियः" इत्यादौ दुस्थिता धीर्येषामिति विग्रहे दुरित्यस्य गतित्वा-भावान्न यकार इति पाणिनीयाः । केवलप्रादिभिः सह समासेऽपि यादेशं केचिन्मन्यते, तत्तु पाणिनेरसम्मतत्वान्नग्राह्यमित्यर्थः । बहुप्रेयसीरिति––वह्वः प्रेयस्यो यस्य स कृष्ण इत्यर्थः । "नचेयस्याः पीताम्वरे" इति वामननिषेधः । शसं विनेति—पुरुषोत्तमत्वात्तत्र यावत् सम्भव विधिना दशावतारस्य त्रिविक्रमः सो नश्च––वहुप्रेयसीनिति । अतिलक्ष्मीरिति—अतिक्रान्तो लक्ष्मीमिति विग्रहः । ईवन्तत्वाभावाद् गोरीप आप इत्यनेन नवामनः । अवयवेति––अवयवस्यात्र प्रेयसीत्यङ्गस्य स्त्रीविषयत्वात् स्त्रीवाचित्वाद् नदीसंज्ञत्वं सिद्ध-मिति भाष्यकारः । तेनअतिलक्ष्मी शब्दस्य प्रक्रियामतेन एकैकरूपाद् वृष्णिषु भेदः । नसोहंर इति विस्तरः, गोपीसंज्ञत्वञ्च नेति च विस्तरः । अपाणिनीयमिति––अतिलक्ष्म्यै व्राह्मणायेति भाष्योदाहरणात् धातुवदिति—अम्शसोः गोप्यम् गोप्यः इति भेदः । वामन-त्वेत्विति—अनियुवां पश्चात् पुंस्त्वे सति वामनत्वेतु गोपी संज्ञां न मन्यन्ते प्राञ्चः । तेन

तन्मत एवेति न भवतीति शेषः । हेतुमाह—गतोति । गतित्वं खण्डयति प्रादीनामिति । हि यतः । केवलेति, केवलाव्ययपूर्वत्वेऽपि भवतीति तु मतमपाणिनीयम् । पुनर्भूशब्दस्येति पुनर्भूशव्दो नेयुवस्थानमतोऽस्य न गोपीत्वनिषेधः, अतो नित्यस्त्रीत्वम् । हे पुनर्भु इत्यत्र 'अम्बादीनामि'त्यादिना वामनः । 'ए-ओ-वामनेभ्य' इत्यादिना बुद्धादर्शनम् ।

क्वचित् । विद्धिवति लक्ष्मीशव्दवत् साधनमिति शेषः ।

तु प्रक्रियाकारः। वहुप्रेयसीरिति गौणत्वान्नसोर्हरः। वृष्णिषु गोपी-संज्ञत्वश्च नेति विस्तरः। इदमपाणिनीयम्। तथा गोपीमिच्छतीति क्यन्नन्तात् क्विपि गोपी कृष्णः। सौगोपीवत्, शस्पर्यन्तं धातुवत्, पुन र्गोपीवत्। वामनत्वेतु गोपीसंज्ञत्वं नेच्छन्ति : सखीमतिक्रान्तस्य अतिसखेरिति भाष्यम्। अनितुवामिति किम्—अतिश्रिये गोपीसंघाय। कश्चित् त्वत्रापीच्छति। ईऊरामयोरस्वाभाविक लक्ष्मीत्वे गोपीत्वं न; विश्वन्ये श्रियै।

मातृशब्दः पितृवत्। माता मातरौ मातरः। शसितु मातॄः। स्वसृशब्दः कर्त्तृवत्। स्वसा स्वसारौ स्वसारः। शसि तु स्वसॄः। रैशब्दः स्त्रियामपीत्येके इति क्षीरस्वामी। तेन पूर्ववत्। गोशब्दः पूर्ववत्। द्यो शब्दो गोवत्। नौर्ग्लौ वत्।

॥ इति सर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

सखीमतिक्रान्तः अतिसखिः छद्मवेशीश्रीकृष्णः। गोरीप आप इतिवामनः। स्वतिभ्यामिति समासान्तटप्रत्ययो निषिद्धः। रूपाणि हरिवदेव नतु सखिवत्, लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया इहानिष्टत्वात्।

अतिश्रिये इति—श्रियमतिक्रान्तः अतिश्रीः गोपीसमूह स्तस्मै। धातोरीदूतो-रियुवाविति श्रीशब्दस्य इय् सिद्धत्वान्न गोपी संज्ञत्वं पुंस्त्वे। कश्चित्तु प्राप्तेयुवामपि गोपीसंज्ञामिच्छति, तत्तु न भाष्यसम्मतम्। ईऊ रामयोरस्वाभाविक लक्ष्मीत्वे इति—वाच्यलिङ्गयो स्तयो लक्ष्मीपक्षेऽपि न गोपीत्वम्। विश्वनीशब्दो वाच्यलिङ्गः, तेन स्वाभाविक लक्ष्मीत्वाभावान्न तस्य गोपीसंज्ञत्वमिति बीजम्। ततश्च सहजानेकसर्वेश्वर-स्येत्यादिका यराम एव। स्वसृ शब्दः कर्त्तृवदिति—स्वसृ तृल् तृन्नित्यादिना पाण्डवेषु वृष्णीन्द्रः। शसितु स्वसॄः; पुंसीति विशेषणात् सोः नः नस्यात्। बुद्धे मातः स्वसरित्ति।

॥ इति सर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गा व्याख्याता ॥

किञ्चेति। अनियुवां शब्दानाम्। आहुरिति पूर्वाचार्या इति शेषः। बह्वचः प्रेयस्यो यस्येति विग्रहे 'न चेयस्याः पीताम्बर' इति वामननिषेधः, कृष्णवाची बहुप्रेयसी अशब्दः। तिलक्ष्मीरिति अतिक्रान्तो लक्ष्मीमिति विग्रहः। अवयवेति बहुप्रेयसीप्रभृतीनाम् अवयवस्य बहुप्रेयसीप्रभृतेः स्त्रीविषयत्वात् स्त्रीप्रतिपादकत्वात् नदीसंज्ञत्वं सिद्धमिति। बहुप्रेयसीप्रभृतिरीप्रत्ययान्तवातप्रमीवदिति तु प्रक्रियाकारः। बध्विति। न सोर्हर इति विस्तरः, गोपीसंज्ञत्वञ्च नेति विस्तरः। इदं मतम्। धातुवदिति गोप्यौ गोप्यः गोप्या-मित्यादि नेच्छन्तीति पूर्वाचार्या इति शेषः। अतिश्रिये इति अतिक्रान्तः श्रियं अतिश्रीः तस्मै। नात्र गोपीसंज्ञत्वम्। विश्वन्ये इति वाच्यलिङ्गत्वात् स्वाभाविकलक्ष्मीत्वाभावः।

रैशब्द इति तेन तस्य रूपं पूर्ववत् ॥७५॥ ॥ इति सर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

अथसर्वेश्‌रान्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

तत्र अरामान्तो गोकुलशब्दः ।

७६. ब्रह्मकृष्णात् सोरम् ।

दशावताराद‌मृशसोररामहरः । गोकुलम् । राधाब्रह्मभ्यामौई— गोकुले ।

७७. ब्रह्मतो जस्‌शसोः शिः ।

शइत् । एकवर्णत्वादन्ते प्राप्ते शित्‌सर्वस्येति शिदादेशः सर्वस्य भवति ।

७८. सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयो र्नुम् शौ ।

उमावितौ ।

७९. अन्त्य सर्वेश्वरात्परं मितः स्थानम् ।

अमृता०—७६. ब्रह्मेति । अरामान्त नपुंसक शब्दात् सु स्थाने अमादेशोभवति । अत्र सोर्मरामे कृतेऽपीष्टसिद्धे अम्‌विधानं निर्जरसं सिध्यर्थम् ।

अमृता०—७७. ब्रह्मत इति । एकवर्णेति—एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तत इति न्यायेन अत्रान्तस्थित-सरामस्थाने शि-विधाने प्राप्ते शित् करणेन तन्निवर्त्तितम्; यतः शिदादेशः समग्रस्य स्थाने भवतीति नियमः । तेनात्र अस् इतिसमुदायस्यैव शिरादेश इति निर्गलितार्थः ।

अमृता०—७८. सर्वेश्वरेति । शौ परे सर्वेश्वरान्तस्य वैष्णवान्तस्य च शब्दस्य नुमागमः स्यात् । सर्वेश्वरादेः किम्—चत्वारि अहानि वहुपुरि ।

अमृता०—७९. अन्त्येति । परिभाषेयम् । मित् भूतस्य अन्त्यसर्वेश्वरात् परं स्थितिः स्यात् ।

॥ अथ सर्वेश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥

बाल०—ब्रह्म । मरामं न कृत्वा यदमिति कृतं, तत् निर्जरसमित्यस्य सिद्धचर्थम् ॥७६॥

बाल०—ब्रह्म । एकेति एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तते इति न्यायेन अन्ते प्राप्ते शित् सर्वस्येति न्यायेन शिदादेशः सर्वस्य समुदायस्य स्थाने भवतीति अरामसहित-सरामस्य स्थाने शिर्भवति ॥७७॥

बाल०—सर्वेश्वर । शौ परे सर्वेश्वरान्तस्य वैष्णवान्तस्य च नुम् भवति ॥७८॥

बाल०—अन्त्य । परिभाषासूत्रमिदम् ॥७९॥

८०, अन्त्यात् पूर्ववर्ण उद्धवसंज्ञः ।

उपधेति प्राञ्चः ।

८१. अब्रह्मपाण्डवाः शिश्च कृष्णस्थानसंज्ञाः ।

घुट्संज्ञा इत्येके, सर्वनामस्थान संज्ञा इत्यन्ये ।

८२. नान्त, धातुवर्जितसान्त सत्संग, महदपामुद्धवस्य त्रिविक्रमः कृष्णस्थाने बुद्धं बिना ।

नान्तस्य धातुवर्जित-सान्त-सत्सङ्गस्य महतः अपश्चेति विच्छेदः । गोकुलानि । एवंद्वितीयायाम् । तृतीयादौ पुरुषोत्तमवत् । बुद्धस्थानीयत्वादमपि बुद्धसंज्ञः, हेगोकुल । एवं कुल फल मूलादयः ।

अमृता०—८०. अन्त्यादिति सुगमम् । उत्—हु+अल्=उद्धवः । वृष्णीनां सम्मतो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा । शिष्यो वृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः । इति श्रीमद्-भागवतम् ।

अमृता०—८१. अब्रह्मेति । अब्रह्मपाण्डवाः पुरुषोत्तम-लक्ष्म्योः पाण्डवास्तथा ब्रह्मणः शिश्च कृष्णस्थानसंज्ञकाः स्युः । अन्ये पाणिन्यादयः । कृष्णस्य स्थानं धाम कृष्ण-स्थानं वृन्दाबनम् ।

अमृता०—८२, नान्तेति । सान्तश्चासौ सत्सङ्गश्चेति सान्तसत्सङ्गः, सान्तरूपेण सत्सङ्गइत्यर्थः । धातुभिर्वर्जितः सान्तसत्सङ्गः धातुवर्जितसान्तसत्सङ्गः । नान्तश्च धातुवर्जितसान्तसत्सङ्गश्च महच्च अप् च तेषामुद्धवस्य त्रिविक्रमः स्याद् बुद्धवर्जित कृष्ण स्थाने । नान्तेति सामान्येन निर्देशाद् यः स्वाभाविक-प्रातिषदिकाङ्गभूतो नरामो, विष्णु सम्बन्धी च यो नरामो नामान्तरस्यः, स च न शब्देन ग्राह्यः । विरिञ्चिसम्बन्धि नरामश्च नामान्तर्गत एव नाम धातु प्रत्यय विष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिभाव-स्वीकारात् । तत्तन्नरामान्तशब्दस्योद्धवस्य त्रिविक्रमो वोध्यः । तत्रस्वाभाविकनान्तस्य—राजानौ इत्यादि । इह च नुमः प्रसङ्गाद् विष्णु सम्बन्धि नरामस्य नाम—नान्तत्वम्—गोकुलानि । विरिञ्चि नान्तस्य च—शीर्षाणि दर्श्यते । धातुवर्जितेति किम्—कंसहिन् । कृष्णस्थाने इति किम्—राज्ञा गोकुले । बुद्धस्थानीयत्वादिति—बुद्धस्थानेभवो बुद्धस्थानीयः, तस्य भाव स्तत्त्वं, तस्मात् । तेन अमो बुद्ध संज्ञत्वे एओ वामनेभ्य इति तस्य हरः ।

बाल०—अन्त्यात् सुगमम् ।।८०।।

बाल०—अब्रह्म । अब्रह्मपाण्डवाः पुरुषोत्तमलक्ष्मीपाण्डवाः ।।८१।।

बाल०—नान्त । नान्तश्च धातुवर्जितसान्तसत्संज्ञश्च महच्च अप् च तेषाम् । बुद्धेति । बुद्धरूपस्थानि-सम्बन्धित्वात् अम् बुद्धसंज्ञ इति । 'ए ओ वामनेभ्य' इत्यादिना अदर्शनम् ।।८२।।

८३. हृदयस्य हृद् यदुषु वा। शीर्षस्य शीर्षन् वेत्येके।

प्रयोगाश्च पक्षे विष्णुजनान्तवज् ज्ञेयाः। यथा हृन्दि हृदयानि, हृदा हृदयेन। उभयत्रापि शीर्षाणि।

जराया जरस्वा सर्वेश्वरे। निर्जरम् निर्जरसम्, निर्जरे निर्जरसौ। नुमः पूर्वं जरसादेशं मन्यन्ते।

८४. अविष्णुपदान्तस्य नस्य मस्य च विष्णुचक्रं वैष्णवे।

निर्जराणि निर्जरांसि। पुन स्तद्वत्। बुद्धे हेनिर्जर। हेनिर्जरसमित्यपि केचित्।

इरामान्तो दधिशब्दः।

अमृता०—८३. हृदयस्येति। यदुषु विष्णुभक्तिषु हृदयशब्दस्य हृदादेशो वा स्यात्, तेषुपरेषु शीर्षशब्दस्य शीर्षन्नित्यादेशो वा भवतीति एके पाणिनीया मन्यन्ते। उभयत्रापीति—आदेशानादेशपक्षयो रित्यर्थः। अनादेशे सर्वेश्वरान्तत्वान्नुम्, आदेशपक्षेतु सर्वेश्वर-वैष्णवान्तत्वाभावान्ननुम्। नुमः पूर्वं जरसादेशं मन्यन्त इति—ननु निर्जर शि इतिस्थिते जरसादेशे कृते न कृते च नुम् सम्भवेदेवेति तस्य नित्यत्वात् प्रथमं हिभवतु स इत्यनिष्टापत्तिर्निरास्यते—"नुमो विधानाज्जरसादेशोभवति विप्रतिषेधनेति" काशिका। यदि पूर्वं हि नुम् स्यात्ततो नुमा व्यवहितत्वाज्जरसादेशस्तु नलभ्येत। तस्मादिह—विरिञ्चितो विष्णु र्बलवान् विष्णुतः सर्वविरिञ्चिरिति परिभाषया प्रागेव जरसादेशेन भवितव्यमित्यविरोधः।

अमृता०—८४. अविष्णिवति। वैष्णवे परे अविष्णुपदान्तस्य नस्य मस्य च विष्णुचक्रं भवति। अविष्णुपदान्तस्येति किम्—सम्भवति, क्रीडञ्जयति। वैष्णवइति किम्—मन्यते गम्यते। तृतीयादौ निर्जरशब्दस्य रूपाणि पुरुषोत्तमवत्, दर्शितानि तानि लक्ष्मी प्रकरणे। हेनिर्जरसमित्यपि केचिदिति—तन्मते सोरेव बुद्धसंज्ञा, तत्स्थानीयस्य अमस्तु न। अतएव एओवामनेभ्य इत्यमोऽदर्शनाभावाज्जरसादेशे जाते निर्जरसमिति। अत्यरामान्ताः।

बाल०—हृदयस्य। शीर्षस्य। उभयत्र शीर्षाणीति आदेशपक्षे सर्वेश्वरवैष्णवान्तत्वाभावात् न नुम्। नुम् इति मन्यन्ते पूर्वाचार्या इति शेषः। नुमः पूर्वं पूर्वस्मिन् जरादेशं मन्यन्ते इत्यर्थः। यदि प्रथमं नुम् स्यात्तदा सर्वेश्वरपरत्वाभावात् जरसादेशो न स्यात्। तस्मादभिप्रायेणैतद्बोद्धव्यं, ते पण्डिताः प्रकृत्याश्रितं प्रकृतावपीति न्यायमनङ्गीकृत्य भाविनि भूतवत् स्वीकारेण जस्शसोः शौ कृते प्रथमतो नुम् प्राप्नोति, तं नुमं विरिञ्चितो विष्णुर्बलवान् विष्णुतः सर्वविरिञ्चिरिति न्यायेन बाधित्वा जरसादेशं मन्यन्ते, अन्यथा व्यर्थमुक्तं स्यात्। अस्माकं मते प्रथमतो जरसादेशः, पश्चादन्यत् कार्यमिति ॥८३॥

बाल०—अविष्णु वैष्णवे परे ॥८४॥

८५. ब्रह्मतः स्वमोर्महाहरः ।

दधि । कथं गोकुलं ? तत्राकरणात् ।

८६. ब्रह्मेशान्तान्नुक् सर्वेश्वरे नत्वामि ।

उकावितौ । दधिनी दधीनि । पुनस्तद्वत् ।

८७. दधि अस्थि सक्थि अक्षि शब्दानामिरामस्य अन् टादि सर्वेश्वरे ।

८८. अकृष्णस्थानसर्वेश्वरो भगवत्संज्ञस्तद्धितेयश्च ।

अत्र पाणिनीयानां प्रकृतेर्भसंज्ञा ।

अमृता०—८५. ब्रह्मत इति । अरामान्यवर्जिताद् ब्रह्मतः स्वमोः प्रत्यययो र्महाहरः स्यात् । महाहरत्वेन स्थानिवत्त्वाभावेनाग्रिमसूत्रस्य कार्यं नुक् न सम्भवेत् । कथं गोकुलमिति द्वितीयैकवचनमेवशङ्क्य, प्रथमैकवचने तु सोरम् विधान सामर्थ्यादेव महाहरो न स्यात् । तत्र सिद्धान्तयति—तत्राकरणादिति । यद्यरामान्त शब्दादमो महाहरः स्यात्तदा पूर्वत्र हीदंक्रियेत, असिद्धरूपं नत्याज्यमिति प्रतिज्ञानुरोधात् । तेन पूर्वत्र यन्नैवं विहितं तस्मात्तन्नभवतीत्यर्थः । अत एव सूत्रमिदं अद्वयेतरत्रैव प्रवर्त्तितव्यमित्याशयः ।

अमृता०—८६. ब्रह्मेशान्तादिति । सर्वेश्वरादौ विष्णुभक्तौ नपुंसकात् ईशान्तात् परः नुमागमः स्यात्, आमि तु स न स्यात् । विष्णुभक्तावेव, तदन्यत्र न—मधु (मद्य) तस्येद माधवम् । सर्वेश्वर इतिकिम्—दधिभ्याम् । नत्वामीति—वामन गोपीराधाभ्यो नुडामीति नुड्विधेः परनिमित्तस्य स्वल्पाश्रितत्वेनान्तरङ्गत्वाद् बलवत्त्वम्, अतएवामि नुडेव । कृतेतु नुकि किदागमस्य पूर्व सम्बन्धित्वेन प्रत्ययेन सह मेलनाभावाद् वामनस्य त्रिविक्रमो नस्यात्, नाम्-परत्वविरहात्; इत्थञ्च वारिणामित्यनिष्टरूपमापद्येत ।

अमृता०—८७. दधीति । टादिसर्वेश्वरे परे दधिप्रभृतिचतुर्णामिरामस्य अन् इत्यादिश्यते । टादीतिकिम्–दधिनी । सर्वेश्वरे इति किम् दधिभ्याम् ।

अमृता०—८८. अकृष्णेति । कृष्णस्थानानि अब्रह्मपाण्डवाः शिश्च; तेभ्योऽन्यः लक्ष्मी-पुरुषोत्तमयोः पाण्डवेतरः शसादिः, ब्रह्मणः शिभिन्नः शेषश्च अकृष्णस्थानः । सचासौ

बाल०—ब्रह्मतः । कथमिति सिद्धान्तमाह,—तत्रेति गोकुलमिति द्वितीयैकवचनान्तं प्रथमैकवचने तु ब्रह्मकृष्णात् सोरम् इत्यम्—विधानसामर्थ्यादेव महाहरो न भवति, यद्यमो महाहरः स्यात्तदा पूर्वत्रैवेदं विदध्यात् तस्मादरामान्तान्महाहरो न भवति ।।८५।।

बाल०—सुगमम् ।।८६।।

बाल०—दधि । ब्रह्मेशान्तात् । आमि तु परे नुक् न भवति । अतो वारीणामित्यादौ वामनगोपीत्यादिना नुटि कृते वामनस्येत्यादिना त्रिविक्रमो भवति । नुकि सति त्रिविक्रमो न स्यात् ।।८७।।

८९. वम-सत्संगहीनस्यानोऽरामहरो भगवति नतु ये, ईङ्योस्तु वा ।

दध्ना दधिभ्याम् दधिभिः । दध्ने दधिभ्याम् दधिभ्य इत्यादि । ङौ दध्नि दधनि ।

९०. ब्रह्मणो गोविन्दो वा बुद्धे ।

हेदधे हेदधि । एवं अस्थि सक्थि अक्षि । अतिक्रान्तं दधि येन यया वा अतिदध्ना, गोपालेन गोपाल्या वा । स्वभावतो ब्रह्मैव दधिशब्दो गृह्यते । ततो दधातीति दधिः, तेन दधिना । इरामस्येति किम्— पद्माक्षेण । वारि वारिणी वारीणि ।२।

सर्वेश्वरश्चेति तथा । अकृष्ण स्थानसर्वेश्वरो भगवत् संज्ञः स्यात् । तथा तद्धित यरामश्च तत्संज्ञः स्यात् । चकारात् तद्धित सर्बेश्वरश्च भगवत्संज्ञो ज्ञेयः । प्रकृते र्भसंज्ञेति— भगवत् संज्ञकः प्रत्ययो यस्याः प्रकृते रुत्तरं विधीयते तस्याः प्रकृतेरेवभगबत् संज्ञा । भगोऽस्यास्तीति भगवान् षड्लक्षणान्वितः पुरुषो नारायणः । ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञान-वैराग्ययोश्चेति षण्णा भग इतीङ्गना ।

अमृता०—८९. वमसत्सङ्गेति । भगवति प्रत्यये परे वमयोः सत्सङ्गेन संयोगेन हीनस्य अनोऽनन्तशब्दस्य अनइति यावत् अरामहरो भवति, तद्धित यरामं वर्जयित्वा । ईङ्योः परयोस्तु अरामहरो वा स्यात् । ईङ्योरिति—राधा ब्रह्मभ्यामौई इत्यत्र तथा सप्तम्येकत्वे च । तद्धिते ईपि च । तेनराज्ञी, शुनीत्यादयश्च सिध्यन्ति । आमितु दध्नामित्येव । प्रकृत्याश्रितत्वेन अन् विधेरन्तरङ्गत्वाद् वलवत्त्वम्, नुड्विधेस्तु प्रकृते र्वहिराश्रितत्वाद् वहिरङ्गत्वमिति नुड्विधेरिह दुर्वलता । भगवतीति किम्—राजानौ । नतु येइति किम्—राजन्यः ।

अमृता०—९०. ब्रह्मण इति । सुगमम् । ननु अतिक्रान्तं दधि येन ययावेति विग्रहे अतिदधिशब्द स्तस्मात् टाप्रत्यये पुंसि—अतिगोपिनावत् अतिदधिना तथा लक्ष्म्यां प्रियहर्यावत् अतिदध्या इत्येवंरूपं हरिसंज्ञाकार्यं कथं नभवेदिति चेत्तदुच्यते—दधि अस्थीत्यादि

बाल०—अकृष्ण । कृष्णस्थानेभ्योऽन्यः सर्वेश्वरस्तद्धितः यश्च भगवत्संज्ञः स्यात् । अत्रेति । यो भगवत्संज्ञः सप्रत्यय एव यस्याः प्रकृतेः परे स विधीयते तस्या भसंज्ञा पाणिनीयानाम् ।।८८।।

बाल०—वम । व-म-सत्सङ्गः संयोगः अन इति अनन्तस्येत्यर्थः । ईङ्योः परयोः ।।८९।।

बाल०—ब्रह्म । अतिदध्नेति अतिक्रान्तो दधि अतिदधिस्तेन अतिक्रान्ता दधि अतिदधिस्तया वा । ननु अतिदध्नेत्यत्र पुरुषोत्तमे अतिदधिना लक्ष्म्यामिति दध्या इति कृते

वारिणा वारिभ्याम् वारिभिः । वारिणे इत्यादि । वारीणाम् ।
मधु मधुनी मधूनि ।२।

९१. ब्रह्मान्त त्रिविक्रमस्य वामनः ।

विश्वनि विश्वनिनी विश्वनीनि । गोकुलाभ्यामित्यादौ तु नवामनः, त्रिविक्रमविधेरुभयाश्रितत्वेन वहिरङ्गत्वात् क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति वक्ष्यमाण न्यायेन तत्राकरणेन वा ।

सूत्रे 'ब्रह्मणीति' विशेषोक्तेरभावाद् ब्रह्मेतरलिङ्गयोरपि दधि प्रभृति चतुः शब्दानांसम्बन्धे एतदेव कार्यं स्यान्नतु हरि संज्ञायाः कार्यम् । तत्तु वारि मधु प्रभृतिविषयकं ज्ञेयम् । यतो नाम्ना तु क्वचिदिति तदन्तविधिरनुसरणीयः । दधातीति दधिः—"धाञ् कृसृ" इत्यादिना कि प्रत्ययान्तः । पद्माक्षेणेति—पद्मे इव अक्षिणी यस्येति "स्वाङ्गाभ्यामक्षि-सक्थिभ्यामित्यनेन केशवारामस्तद्धितः । संसारहरोभगवतीति इरामहरः । एवञ्च दीर्घसक्थः असक्थ इत्यादावपि नान् ।

अमृता०—९१. ब्रह्मान्तेति । नपुंसकस्यान्तस्थित त्रिविक्रमस्य वामनो भवति । अन्तत्रिविक्रमस्येति किम्—मध्यस्य न सीधु । विष्णुभक्तायेव, तेन नेह—विश्वनीत्वम् । विधिवलेन गोकुलाभ्यामित्यादावपि प्राप्तवामनाशङ्कां निराकरोति—क्वचिदित्यादिन्यायेन । अत्रवामनविधानमन्तरङ्गकार्यं, प्रकृत्याश्रितत्वात् । त्रिविक्रम विधानन्तु वहिरङ्गमिति मूले हि प्रतिपादितम् । वामने क्रियमाणे त्रिविक्रमोऽसिद्धः स्यात्तदा कस्य वामनो विधेयः ? अतो निष्फलत्वान्न तस्य प्रवृत्तिरिति । हेत्वन्तरमप्याह—तत्राकरणेनेति । असिद्धरूप मित्यादि प्रतिज्ञासिध्यर्थं तत्रैवकर्त्तुमुचितमपि यन्नकृतं तस्मान्न स्यादित्यर्थः ।

को दोषः ? यतोऽतिवोपिना प्रियहर्या इत्यादौ समस्तत्वेऽपि पुरुषोत्तमलक्ष्मीवद्रूपं स्यादिति चेत् सिद्धान्तमुच्यते–'दधि अस्थि सक्थि अक्षिशब्दानामि'त्यादौ ब्रह्मणीत्यविशेषणत्वेनान्विधानसामर्थ्यादितेषां टादिसर्वेश्वरेपरे हरिसंज्ञत्वं न व्याख्यातम् । ततो न वाच्यानुसाररूपत्वमिति फलितार्थं स्यादेवेति भावः । अथवा समस्तत्वेनान्यलिङ्गत्वेऽपि दधिशब्दस्य ब्रह्मत्वमस्त्येवेति वर्णेन विधौ तदन्तस्य कार्यं नाम्ना तु क्वचिदिति न्यायेन इरामस्यान् । दधिनेति किप्रत्ययान्तो दधिशब्दः । पद्माक्षेणेति । पद्मे इव अक्षिणी यस्येति स्वाङ्गाभ्यामक्षि-सक्थिभ्यामित्यनेन केशवारामस्तद्धितः, संसारस्य हरो भववतीत्यनेन इरामहरः ।।९०।।

बाल०—ब्रह्मान्त । गोकुलाभ्यामित्यादाविति वामनप्राप्तौ हेतुमाह, क्वचिदिति । क्वचिदन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं बहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति न्यायेन । अत्रान्तरङ्गकार्यं वामनः प्रकृत्याश्रितत्वात्, त्रिविक्रमविधानं वहिरङ्गम् । बहिरङ्गत्वं प्रतिपादयति त्रिविक्रमेति । उभयाश्रितत्वेन हेत्वन्तरमप्याह तत्रेति ।।९१।।

९२. समानार्थतया पुरुषोत्तमतार्हमीशान्तं ब्रह्म पुरुषोत्तमवद् वा टादिसर्वेश्वरे ।

विश्वन्या विश्वनिना । आमि विश्वन्यां विश्वनीनाम् । अत्र पुरुषोत्तमे ब्रह्मणि च विश्वप्रेरकत्वं समानम् । असमानार्थत्वेतु पुंसिवृक्षे यथा पीलवे ब्रह्मणि फले च तथा न किन्तु केवलं पीलुने । पूर्वत्र तद्वृक्षत्व-मुत्तरत्र तज्जातत्वमित्यर्थभेदः ।

कृष्णरै शब्दस्य वामनइरामएव; यतः

९३. एऐ स्थाने इरामः ओऔस्थाने उरामो वामनः स्यात् ।

कृष्णरि कृष्णरिणी कृष्णरीणि । कृष्णराया कृष्णरिणा । एकदेशविकृत-मनन्यवत्—कृष्णराभ्याम् । कृष्णरायाम्, सभोरन्यत्र नात्वं कृष्ण-रीणाम् । टामोः कृष्णराणा कृष्णराणामित्येव जुमरमतम् । आमि तु

अमृता०—९२. समानार्थेति । समानार्थत्वेन पुरुषोत्तमतामर्हतीति पुरुषोत्तमतार्हं पुंस्त्वयोग्यं ईशान्तं ब्रह्म, तल्लक्षितशब्द इत्यर्थः । टादिसर्वेश्वरे परे विभाषया पुरुषोत्तम-वद् भवति । यस्य शब्दस्य पुरुषोत्तमे ब्रह्मणि च समानार्थो विद्यते तादृश शब्दस्य ब्रह्मणि टादिसर्वेश्वरे विभाषया ब्रह्मवद्रूपं भवति पक्षे पुरुषोत्तमवच्च स्यादिति सरलार्थः । पुरुषोत्तमवदिति–अकृतवामनास्थायां स्वाभाविकपुरुषोत्तमवदित्यर्थः । ब्रह्मपक्षेहि वामनः । पुरुषोत्तमवत्त्वे टामोः विश्वन्या विश्वन्यामिति । वृष्णिष्वपि विश्वन्ये इत्यादिकं पुरुषोत्तम वज् ज्ञेयं, ब्रह्मपक्षे नुक् च । पीलुशब्दस्य प्रवृत्त निमित्तं पुंसि वृक्षः, ब्रह्मणि तुफलमिति प्रवृत्तिनिमित्तभेदः (अर्थभेदः); तस्मात् समानार्थत्वाभावान्न पुरुषोत्तमतार्हता । एवमियुव् वतामपि—कृष्णस्यभू र्जन्म यत्र तत् कृष्णभू गोकुलम्: कृष्णभुना कृष्णभुवेत्यादि । एवञ्च प्रियश्रि वृन्दावनम्; प्रियश्रिणा प्रियश्रियेत्यादि ज्ञेयम् ।

अमृता०—९३. एऐ स्थान इति । परिभाषासूत्रम् । कृष्णगातृत्वस्य पुरुषोत्तमे ब्रह्मणि च समानत्वात् कृष्णरैशब्दोऽपि पुरुषोत्तमतार्हं ब्रह्म । कृष्णराया कृष्णराये इत्यादीनि पुरुषोत्तमवत्त्वात् । ननु ब्रह्मान्तत्रिविक्रमस्य वामने कृते कृष्णरि-भ्यामिति स्थिते राय आ स्भोरिति कथं प्रवर्तते तदा रैस्वरूपस्याभावादिति चेत्तत्राह—एकदेशेति । कृष्णरायामिति पुरुषोत्तमवत्वे आमि । स्भोरन्यत्रेति—स्भोरिति लिपिकार प्रमादः ।

बाल०—समा । टादिसर्वेश्वरे परे समानार्थत्वेन पुंस्त्वार्हमीशान्तं ब्रह्मपुरुषोत्तमवद्वा भवति । पुरुषोत्तमवत्त्वे विश्वन्यामिति च । असमानार्थत्वे त्विति, पुंसि पुरुषोत्तमे वृक्षे वाच्ये यथा पीलवे इति भवति, ब्रह्मणि फले वाच्ये तथा न भवति, किन्तु केवलं पीलुने इति भवति । पूर्वत्र पीलव इत्यत्र तद्वृक्षत्वं पीलुवृक्षत्वम् । उत्तरत्र पीलुने इत्यत्र तज्जा-तित्वं पीलुवृक्षजातित्वम् ॥९२॥

कृष्णराणामित्येवोज्ज्वलदत्तमतम्। येषां विष्णुजनादि बिष्णुभक्तिमात्रेऽप्यात्वं तेषामपि सन्निपात लक्षणत्वेन नात्वमिति प्रक्रियाकारेण तन्न गृहीतम्। सन्निपात लक्षणं वक्ष्यते।

सुद्यो शब्दस्य सुद्यु सुद्युनी सुद्यूनि। टादौ सुद्यवा सुद्युना। हेसुद्यो हेसुद्यु। कर्त्तृ; पृथक् विधानेन ब्रह्म कार्यस्य बलवत्त्वान्न वृष्णीन्द्रः, कर्त्तृणी कर्त्तृणि। टादौ कर्त्रा कर्त्तृणा। हेकर्त्तः हेकर्त्तृ। एवं प्रियक्रोष्टु प्रियक्रोष्टुनी प्रियक्रोष्टूनि। अत्रापि तृभाव इति तस्यां भ्रमः।

अन्यार्थादिभिर्योगे पञ्चमीविधानात् सभ्यामित्वेव पाठः सङ्गतः। जुमरोज्ज्वलदत्तमतेन एवकारात् कृष्णरीणामित्यस्वीकृतम्। तेनतन्मतस्यासमीचीनतां प्रमाणयति—येषामित्यादिना। येषां मते विष्णुजनादिविष्णुभक्तिमात्रे परे आरामो भवति तेषां मतेऽपि सन्निपात लक्षणत्वेन न स्यादिति हेतोः प्रक्रिया कारेण तन्मतमुपेक्षितम्। सन्निपात लक्षणं वक्ष्यत इति—यं दृष्ट्वा यस्योत्पत्तिः स तस्य सन्निपातः। सन्निपातलक्षणोविधिरनिमित्तं तद्विघातायेति। अत्र इरामं दृष्ट्वा नुक् नुटोरुत्पत्तिरिति तौइरामस्य सन्निपातौ; अतश्च नुट् नुक् वा जनकघातकवत् तस्य विनाशाय नप्रवर्त्तेत इत्यर्थः। सुद्यो शब्दस्य सुन्दर स्वर्गवत्त्वं प्रवृत्तिनिमित्तामभिधेयमुभयलिङ्गे तुल्यमिति पुरुषोत्तमतार्हम्। सुद्यवेति पुरुषोत्तम वत्त्वे। एवंसुनौ शब्दस्य च—सूनु सुनुनी सुनूनि। सुनावा सुनुना इत्यादि वोध्यम्।

ननु कर्त्तृणीत्यादौ नुकः पूर्वं स्वसृतृन्तृन्नित्यादिना वृष्णीन्द्रः कथं न स्यात्तद्धेतुं निर्दिशति—पृथगिति। पूर्व-परयोः पर विधिर्बलवानिति तत्त्वम्। कर्त्रेति पुरुषोत्तम-वत्त्वात्। एवं प्रियक्रोष्ट्विति—प्रियाः क्रोष्टारो यस्य तत् प्रियक्रोष्टु अरण्यम्। ब्रह्मकार्यस्य बलवत्त्वान्नतृन्प्रत्यान्तवद् रूपमित्यर्थः। प्रक्रिया कौमुद्याभ्रमं प्रतिपादयति प्राचां मत-प्रदर्शनेन। विप्रतिषेधस्तुल्यबल-विरोधः। काशिकामते—विप्रतिषेधेपरं कार्यमित्याचार्य

बाल०—ए ए। परिभाषासूत्रमेतत्। पुरुषोत्तमवत्त्वात् कृष्णरायेति। ननु कृष्ण-राभ्यामित्यत्र वामने कृते 'राय आ सभोरि'ति कथं प्रवर्त्ततामिति चेत्तत्राह,—एकदेशेति। पुरुषोत्तमत्वात् कृष्णरायामिति सभोरित्यत्र सभ्यामिति पाठः सभ्यः। अन्यार्थयोगे पञ्चम्या विधानात्। टामोरिति कृष्णराणा कृष्णराणामित्येव, न तु कृष्णरिणा कृष्ण-रीणामिति।

आमि त्विति। टापरत्वे कृष्णराणेति नोज्वलदत्तमतम्। येषामिति। येषां मते विष्णुजनादिकविष्णुभक्तिमात्रे परे आद्भवति, तेषां मतेऽपि टामोः सन्निपातलक्षणत्वेन आन्न भवति। इति प्रक्रियाकारेण तन्मतं न गृहीतम्। सन्निपातेति 'यं दृष्ट्वा यस्योत्पत्तिः स तस्य सन्निपातः, सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातायेति। अत्र इरामं दृष्ट्वा नुको नुटश्च उत्पत्तिरतो नुक् नुट् च इरामस्य सन्निपातः। अतो नुक् नुट् च इरामस्य आरामा-देशरूपविघाताय निमित्तं न भवति। पुरुषोत्तमवत्त्वात् सुद्यवेति। ननु कर्त्तृणी इत्यादौ

तृभावात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुम् नुटौ भवत इति काशिका। परत्वान्नुमा क्रोष्टृभावो बाध्यत इति पदचन्द्रिका। आगमविधिर्बलवानिति कातन्त्रो विस्तरश्च। प्रियास्तिस्रो यस्मिन् गोकुले तत्प्रियत्रि। महाहरत्वेऽपि तिसृभावः काशिकादौ दृश्यते, प्रियतिसृ। यद्येवं तर्हि विष्णुभक्तावित्यस्य प्रत्युदाहरणन्तु त्रित्वमिति तद्धितादावेव ज्ञेयम्। प्रियतिसृणी प्रियतिसृणि। प्रियतिस्रा प्रियतिसृणा। ङसिङसोः प्रियतिस्रः, रविधानस्य नित्यत्वात्। एवंप्रियचतसृ। विस्तरकारस्तु विकल्पयति। तेन प्रियत्रि प्रियचतुरित्यपि।

सूत्रात् परौ नुम् नुटावेव भवतो नतु तृभाव इति। पदचन्द्रिकामते—पूर्वपरयोः परविधिर्बलवानिति न्यायेन नुमः परत्वात् तदेव भवतीति। कातन्त्र-विस्तरयोर्मते—विरिञ्चितो विष्णु र्बलवानिति न्यायेन नुग्विधेर्बलवत्त्वान्न हि तृभाव इति। तदेतत्सर्वं स्व-मत-समर्थकं प्रक्रियामतविघातकञ्च। तेन काशिकादिमत-सम्मतेऽस्मन्मते—यत्र नुको नुटश्च विषयस्तत्र तृभावो न स्यात्। अर्थात् ब्रह्म पक्षीयपदसाधने नुका तृभावो बाध्यते—प्रियक्रोष्टुना प्रिय क्रोष्टुने इत्यादीनि। पुरुषोत्तमवत्त्वे तु पुरुषोत्तमवदेव भवन्ति रूपाणि आम्वर्जम्—प्रियक्रोष्टुना प्रियक्रोष्ट्रा, प्रियक्रोष्टवे प्रियक्रोष्ट्रे इत्यादीनि। आमि तु नुटस्तृभाव-बाधकत्वात् प्रियक्रोष्टूनामित्येकमेव पक्षत्रयेऽपि।

महाहरत्वेऽपि तृभाव इति—काशिकादौ लुक्-लोपयोः सतोः प्रत्ययकार्यं निषेधस्य अनित्यता मन्यते। एवञ्च सति तिसृ चतस्रादेशसूत्रे विभक्तावित्यनुवृत्तेः कुतस्तद् व्यावृत्तिः? अतस्तदुपपत्तिं दर्शयति—यद्येवमित्यादिना। स्वमते तु महाहरे सति प्रत्यय-लक्षण कार्यस्यानुपपत्तेः प्रियत्रि इत्येव। विष्णुभक्त्यामेव त्रिचतुरोस्तिसृचतसृभाव इष्टः, यदितौ स्त्रियां वर्त्तते। समस्तस्यावयवस्यलक्ष्मीत्वेऽपि तयोरन्यलिङ्गस्थयोस्तु तत्तदादेशौ नैवेष्टौ। यथा प्रियास्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिरिति भक्तिवत्।

नुकः पूर्वं 'स्वसृ-तृल्-तृणप्रत्ययानां वृष्णीन्द्रं सुवर्जं पाण्डवेष्वि'त्यनेन वृष्णीन्द्रः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह। पृथगिति पुरुषोत्तमवत्त्वात् कर्त्रेति। अत्रापीति। तस्यां प्रक्रिया-कौमुद्याम्। तृभावाभावे शास्त्रान्तराणि प्रमाणयति तृभावादिति। परत्वादिति। आगम इति च। विप्रतिषेधेन उभयप्राप्तिविरोधेन नुम्-नुटौ भवतः परत्वादिति शेषः। प्रियक्रोष्ट्रि-त्यत्रापि परत्वात्। प्रथमं महाहर एव भवतीति ज्ञेयम्। प्रिया इति प्रियास्तिस्रो यस्मिन् तत् प्रियत्रीति स्थिते सोर्महाहरत्वेऽपि तिसृभावो दृश्यते। अत्र त्रिशब्दस्य लक्ष्मीस्थत्वं विद्यत एवेति 'लक्ष्मीस्थयोस्त्रिचतुरोस्तिसृ-चतसृ विष्णुभक्तावि'त्यनेन तिसृभावः। यद्येव-मिति यदि महाहरत्वेऽपि तिसृभावः स्यादित्यर्थः। तिसृणां भावस्त्रित्वम्। अत्रेति शब्द आद्यर्थः। अन्यथा तद्धितादावित्यनेन सहासङ्गतिः स्यात्। इति हेतुप्रकरणप्रकाशादि-समाप्तिष्विति नानार्थवर्गः। पुरुषोत्तमवत्त्वात् प्रियतिस्रेति। ङसि-ङसोः प्रियतिस्र इति,

सान्वादिषब्दानां स्वत एव द्विलिङ्गता, सानुने सानवे। स्नुप्रस्थ-सानुरस्त्रियामित्यमरः। मधुशब्दानन्तरमेवम् अम्वुसान्वादय इति प्रक्रिया तु चिन्त्या।

॥ इति सर्वेश्वरान्त-नपुंसकलिङ्गाः॥

पुरुषोत्तमवत्त्वपक्षे इति शेषः। पक्षे प्रियतिसृण इत्यपि भवतीति ज्ञेयम्। ननु प्रियतिस्र इत्यत्र 'ऋरामतो ङसि ङसोरस्य उच्' इत्यनेन उच् कथं न स्यादिति चेत्तत्राह,—र विधानस्य नित्यत्वादिति। उचि कृते न कृतेऽपि रः प्राप्नोतीति रविधानस्य नित्यत्वमतो वलवत्त्वञ्च, अतः प्रथमं रराम एव भवति। ननु रविधानसूत्रे गोविन्दत्रिविक्रमोरामाणामपवाद इत्युक्तम्। अत उच् न प्राप्नोत्येव तर्हि रविधानस्य नित्यत्वादिति कथमत्रोच्यते इति चेत्तत्रोच्यते सिद्धान्तसमुच्चयोऽयम्। प्रियचतस्रिति प्रियाश्चतस्रो यस्मिन् तत्। सान्वादीति स्वत एव स्वस्मिन्नेव स्वभावत एवेत्यर्थः।

मध्विति। मधुशब्दस्य ब्रह्मत्वमेव सान्वादीनान्तु द्विलिङ्गता। अतःप्रक्रिया न सङ्गच्छते ॥९३॥

॥ इति सर्वेश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः॥

रविधानस्य नित्यत्वादिति हेतुस्तु उच्वाधपरः। गोविन्द-त्रिविक्रमोरामाणामपवाद इति प्रागुक्तेरेव प्रपञ्चोऽयम्। नहि सनुक्वाधकपरः, पुरुषोत्तमतार्हत्वात् तत् पक्षेहि रविधिः, पक्षान्तरे तु नुकोऽवाध्यत्वात् प्रियतिसृण इत्यपि। मधु शब्दस्य ब्रह्मत्वं सान्बादीनान्तु द्विलिङ्गता कोषसिद्धा। अतो मधुशब्दवदेषां रूपमसङ्गतम् चिन्त्या पदेन प्रक्रियाया अनवधानता वोधिता।

॥ इति व्याख्याताः सर्वेश्वरान्तनपुंसकलिङ्गाः॥



अथ विष्णुजनान्तपुंलिङ्गाः ।

तत्र च रामान्ताः केचनशब्दा वाच्यलिङ्गाः ।

तत्र प्रत्यक् । प्रतिपूर्वादञ्चुधातोः क्विप्प्रत्ययः ।

क्विप्लोपो नलोपश्च । यत्वं, ततः प्रत्यच् शब्दात् स्वादयः ।

९४. अचश्चतुर्भुजानुवन्धानाञ्च नुम्कृष्णस्थाने ।

राधाविष्णुजनास्यामिति सोर्हरः ।

९५. तवर्गस्य चवर्गश्चवर्गयोगे ।

९६. सत्संगान्तस्य हरो विष्णुपदान्ते ।

अथ विष्णुजनान्तपुंलिङ्गाः शब्दा दर्श्यन्ते ।

तत्र विष्णुजनान्तेषु । तत्रपुनश्चरामान्तेषु । क्विप् लोप इति—केवलस्य प्रत्यय वेर्हर इत्यनेन । न लोपइति—"अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामुद्धवनरामहरः कंसारौ" इत्यनेन । यत्वं सर्वेश्वरसन्धिनेत्यर्थः ।

अमृता०—९४. अच इति । कृष्णस्थानेपरे अञ्चुधातोः क्विवन्तस्य, चतुर्भुजः अनुवन्ध इत् येषां तेषाञ्च शब्दानां नुमागमो भवति । अन्त्य सर्बेश्वरात् परं मितः स्थान-मित्यनेन प्रत्यञ्च् इति स्थितम् । अञ्चुधातोरुरामेत्त्वेन चतुर्भुजानुवन्धत्त्वेऽपि पृथगुपादानं ज्ञापयति—चतुर्भुजानुवन्धानामधातनां शब्दानां हि नुमागमः स्यात् धातूनां मध्ये अञ्चतेरेव नान्यस्येति नियमः । एतच्चाग्रे मूले एवब्यक्तीभविष्यति । नचात्र सोर्हरे कृष्णस्थानरूप-निमित्तापायान्नैमित्तिकस्य नुमोऽपायः शङ्कचः, सोर्हरत्वेन तस्य स्थानिवद्भावइष्ट इति ।

अमृता०—९५. तवर्गस्येति । चवर्गेण सहयोगे सति तवर्गस्य चवर्गः स्यात् । चवगर्गयोगश्च पूर्वस्थेन परस्थेन वेति ज्ञेयम् । पूर्वस्थितेन प्रियपञ्च्त्र; इत्यादि । इह तु परस्थितेन चरामेण चहयोगे नरामस्य ञरामः ।

अमृता०—९६. सत्संगेति । विष्णुपदान्ते विषये सत्सङ्गस्यान्तस्य हरो भवति । विष्णुपदान्त इति किम्—प्रत्यञ्चौ ।

तत्रेति । तत्र विष्णुजनान्तेषु । तत्रेति तत्र चरामान्तेषु । नलोपश्चेति 'अनिरा-मेतां विष्णुजनान्तानामुद्धवनरामहरः कंसारावि'त्यनेन । 'इद्वयमेव यः सर्वेश्वर' इत्यनेन यत्वम् ।

बाल०—अचः । अन्चुधातोः क्विपि तल्लोपे नलोपे च कृते यदच इति भवति तस्य । चतुर्भुजानुवन्धा इतो येषां तेषाञ्च ।।९४।।

बाल०—तवर्गस्य । अत्रानेन नरामस्य ञरामः ।।९५।।

बाल०—सत्सङ्गान्त । विष्णुपदान्ते विषये ।।९६।।

९७. चवर्गस्य कवर्गो विष्णुपदान्ते वैष्णवेत्वसवर्गे ।

प्रत्यङ् ।

९८. विष्णुजनस्यद्वित्वं वा विरामे ।

विरामो परवर्णादर्शनम् । प्रत्यङ्ङ् । सवर्गे तु प्रत्यञ्चौ प्रत्यञ्चः । प्रत्यञ्चम् प्रत्यञ्चौ । कथं तच् शौरेः भवगाञ्च्छूरः ? तत्राकरणात् ।

९९. अचोऽरामहरो भगवति पूर्वस्य त्रिविक्रमश्च ।

निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय इति न्यायेन यरामस्य इरामस्तत स्त्रिविक्रमः । प्रतीचः प्रतीचा ।

१००. पूर्वस्य विष्णुपदवत्त्वं स्वादितद्धितयो रय-सर्वेश्वराद्योः ।

प्रत्यग्भ्यामित्यादि । चवर्गस्य त्यादौ वैष्णवग्रहणं केवलधात्वर्थम्, अन्येषामपि सूत्राणांतत्पर्यन्तव्याप्तेर्ज्ञापकम् । एवं प्राचः । तथा पित्रच्

अमृता०—९७. चवर्गस्येति । विष्णुपदान्ते विषये चवर्गस्य कवर्गो भवति; वैष्णवे परेत्वसवर्गे तस्मिन् सति चवर्गस्य कवर्गः स्यात् । तेनात्र ञरामस्य ङरामः ।

अमृता०—९८. विष्णिवति । विरामेसति विष्णुजनस्य द्वित्वं वा स्यात् । ननु तच् शौरेरित्यादौ छत्वाभावपक्षे असवर्ग वैष्णवस्य परत्वेऽपि कथं न कवर्गत्वमित्याशङ्कायां समादधाति—तत्राकरणादिति । विकल्पविधानसामर्थ्यादेव तत्र न स्यादिति भावः ।

अमृता०—९९. अच इति । भगवति प्रत्यये परे लुप्तनरामस्य अञ्चते ररामस्य हरो भवति, सञ्जातहरात् अरामात् पूर्वस्थस्य वामनस्य त्रिविक्रमश्च भवति । प्रतीच इत्यादौ अन्तरङ्गे त्रिविक्रमे कर्त्तव्यः वहिरङ्गः अरामहरो नासिद्धः, अतोमहरं मत्वैव त्रिविक्रमस्य प्रवृत्तेः । अतश्च निमित्तापाये नैमित्तिकस्यापायो युज्यत एव । अत्र निमित्तं अरामः, नैमित्तिको यरामः । भगवति किम्—प्रत्यञ्चौ ।

अमृता०—१००. पूर्वस्येति । विष्णुपदमस्यास्तीतिविष्णुपदवत्, तस्यभावः तत्त्वम् । पूर्वशब्दस्य प्रकृतिवोधकत्वेऽपीह-नामवोधकत्वमभिलक्ष्य ब्रह्मत्वम् । य-सर्वेश्वरादिभिन्नयोः स्वादि तद्धितयोः परयोः पूर्वस्य नाम्नो विष्णुपदवत्त्वं स्यात् । तत्र यावत्सम्भव विधिना

बाल०—चवर्गस्य । विष्णुपदान्ते विषये चवर्गस्य स्थाने कवर्गो भवति । वैष्णवे तु परे तस्मिन् वैष्णवे असवर्गे सति चवर्गस्य स्थाने कवर्गो भवति । अत्रानेन ञरामस्य ङरामः ।।९७।।

बाल०—विष्णु । कथमिति सिद्धान्तमाह, तत्राकरणादिति ।।९८।।

बाल०—अचोऽराम । निमित्तापाय इति निमित्तमत्रारामः नैमित्तिको यरामः ।।९९।।

बाल०—पूर्वस्य । य-सर्वेश्वरादिभिन्नयोः स्वादि-तद्धितयोः परयोः पूर्वस्य विष्णुपदवत्त्वं भवति । प्रत्यग्भ्यामिति । विष्णुपदवत्त्वात् 'चवर्गस्ये'त्यादिना चरामस्य करामः,

इत्यस्य शसि पितृचः। अनन्तस्यैव त्रिविक्रम इति तस्यां भ्रमः, तदधिकार निवृत्तेः। तिर्यच्। तिर्यङ् तिर्यञ्चौ तिर्यञ्चः। तिर्यञ्चम् तिर्यञ्चौ।

१०१. तिर्यचस्तिरश्चिरुदग उदीचिर्भगवति।

इराम इत्। तिरश्चः। तिरश्चा तिर्यग्भ्याम् तिर्यग्भिः। एवं उदच्।

स्वादौ सर्वेश्वरादि प्रत्यय वर्जनं, तद्धिते तु यराम-सर्वेश्वरादि प्रत्ययवर्जनं वोध्यम्। व्युत्क्रम निर्देशस्तु स्वल्पाक्षरस्य पूर्वनिपातानुरोधात्। विष्णुभक्तिसिद्धेः प्राग् विष्णुपदत्वं नैव सम्भवेदिति तद्घटनार्था परिभाषेयम्। विधीयमाना नराम हरादिकार्यविशेषाः पूर्वस्य विष्णुपदवत्तां मत्वैव सिध्येयुः, ततश्च तत्तत्कार्याणि समपेक्ष्य हि शब्दस्य विष्णुपदत्त्वं मन्यते, नकिन्तु सिद्धविष्णुपदत्वं तस्य विधीयत इति विभाव्यम्। विष्णुपदत्वमननेन यथा हि नलोप—राजभ्याम्; मोनः—प्रशान्; दरामः-विद्वत् सु, करामः—गोरक्षु, विष्णुसर्गः—पयःसु अहोभ्यामित्यादीनि दर्शयिष्यन्ते। एवञ्च तद्धिते राजत्वं पयस्विनीत्यादौ विष्णु षदत्व कार्यं द्रष्टव्यम्। अ-य-सर्वेश्वराद्यो रिति किम्—प्रत्यञ्चः राजानौ। तद्धिते—राजन्यः सुप्रेम्नीत्यादि।

ननु प्रत्यग्भ्यामित्यत्र वैष्णवपरतास्त्येव, तयैवेष्टसिद्धौ पूर्वस्य विष्णुपदवत्वविधानमिह निष्फलमिति चेत्तत्राह—चवर्गस्येति चवर्गस्य कवर्गविधानसूत्रे यद् वैष्णव इति परनिमित्तमुक्तं तत्तु केवलधातुविषयकम्। अनेन च वैष्णवग्रहणेन ज्ञाप्यते—अन्यानि च नामप्रकरण सूत्राणि धातुपर्यन्तं व्याप्नुवन्तीति। ननु च कथं तर्हि—सवर्गेतु प्रत्यञ्चौ प्रत्यञ्च इति प्रत्युदाहरणं सङ्गच्छते? मैवम्, अञ्चतेः क्विवन्तस्य धातुत्वसत्त्वान्नासङ्गतमिति। प्रत्यग्भ्यामित्यत्र विष्णुपदवत्त्चवर्गस्य कवर्ग स्ततो विष्णुदासो विष्णुपदान्त इति हरिगदा। प्राच—प्राङ् प्राञ्चौ प्राञ्चः। शसादौ प्राचः प्राचा इत्यादि। पित्रचिति पितरमञ्चतीति पितुपूर्वादञ्चु धातोः क्विप्। शसि-अचोऽरामे हरे नैमित्तिकस्य ररामेस्य चापाये ऋराम एव, ततस्त्रिविक्रमः—पितृच इति। तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमइति सर्वेषाममतत्वात्। तदधिकारनिवृत्तेः अनन्ताधिकारनिवृत्ते रित्यर्थः। वस्तुतस्तत्र 'चौ' इतिपाणिनिसूत्रस्यत्रितयोपरिष्टात् 'इकः सुञि' इत्यस्मादिक एवानुवृत्ति र्युक्ता।

अमृता०—१०१. तिर्यच् इति। भगवति परे तिर्यच्स्थाने तिरश्चि स्तथा उदच्

'विष्णुदासो विष्णुपदान्ते' इत्यादिना करामस्य गरामः। ननु प्रत्यग्भ्यामित्यादौ यदि विष्णुपदवत्त्वेनैन चवर्गस्य कवर्गः कृतस्तर्हि चवर्गस्येत्यादौ वैष्णवग्रहणम् किमर्थं कृतमिति चेत्तत्राह चवर्गस्येत्यादाविति। 'चवर्गस्य कवर्गो विष्णुपदान्ते वैष्णवे त्वसवर्गे' इत्यस्मिन् लक्षणे वैष्णवग्रहणं केवलधात्वर्थम्। अन्येषां नामजविष्णुपदसम्बन्धिनां सूत्राणामपि धातुपर्यन्तप्राप्तेर्ज्ञापकञ्च तथेति। तथा तेन पूर्वोक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः। पितृच इति 'अचोऽरामहर' इत्यादिना अरामहरे कृते 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय' इति न्यायेन रराम य ऋरामस्ततस्त्रिविक्रमः। तदधिकारनिवृत्तेरनन्ताधिकारनिवृत्तिः ॥१००॥

उदङ् उदञ्चौ, उदञ्चम् उदीचः उदीचा इत्यादि। क्रुञ्च् क्रुङ् क्रुञ्चौ क्रुञ्चः। क्रुञ्चम् क्रुञ्चौ क्रुञ्चः। क्रुञ्चा क्रुङ्भ्याम् क्रुङ्षु। एवमञ्चुपूजार्थे प्रत्यञ्चः प्राञ्चः।

ओव्रश्चू छेदने धातुर्दन्त्यमध्यः। ओऊरामावितौ।

१०२. सस्य शश्चवर्गयोगे।

ततो व्रश्च् इतिस्थिते तस्य दैत्यशब्दपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययलोपे ररामस्य ऋरामः—दैत्यवृश्च् सोर्हरः।

१०३. छशो राज् यज् भ्राज् परिव्राज् सृज् मृज् भ्रस्ज् व्रश्चां च

स्थाने उदीचिरादिश्यते। भगवति किम्—तिर्यञ्चौ तिर्यग्भ्याम्। क्रुञ्च् इति क्रुञ्च् कौटिब्यालपीभावयोः धातु र्नलोपाभावेन क्विपि निपातः। क्रुङ् पक्षि विशेषः। क्रुङ्ष्विति—ईश्वन हरिमित्रेत्यादिना षत्वम्। शौरौणङाम्यां टकौ वेति क्रुङ्क्षु इत्यपि। पूजार्थे प्रत्यञ्च इति—अञ्चेः पूजायां नलोपाभाव इति नलोपनिषेधः। नुम्विधानसूत्रे अरामहर सूत्रे च लुप्तनरामस्यैव अच उपादानान्नात्र नुम् नवा अचोऽराम हरः। सुपि प्रत्यङ्षु प्रत्यङ्क्षु। एवं पित्रङ्षु पित्रङ्क्षु, तिर्यङ्षु तिर्यङ्क्षु गत्यर्थे तु केवल प्रत्यक्षु इत्यादि। खजिधातोः क्विपि खन्ज् शब्द स्तस्य सत्सङ्गान्तहरे—खन् खञ्जौ खङ्भ्याम् खङ्षु खङ्क्षु।

अमृता०—१०२. सस्येति। चवर्गयोगश्च पूर्वतः परतो वेति ज्ञेयम्, इश्योगः परतः। अच्शु इत्यादौ तु पूर्वतः। ररामस्य ऋराम इति—ग्रहिज्या व्ययि व्यधि वशि व्यचि व्रश्चि प्रच्छि भ्रस्जीनां सङ्कर्षणः कंसारावित्यनेन सोर्हर इति—राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादिना।

अमृता०—१०३. छशोरिति। विष्णुपदान्तेविषये वैष्णवे च परे छराम-शरामयोः स्थाने राजादीनामन्तवर्णस्थाने च षराम आदिश्यते। तत्रछस्य शोवस्य ऊदित्यादिना

बाल०— तिर्यच्। भगवति परे तिर्यचः स्थाने तिरश्चिर्भवति, तस्मिन्नेव परे उदचः स्थाने उदीचिर्भवति। क्रुङ्ष्विति 'ईश्वर-हरिमित्र-क-ङेभ्य' इत्यादिना षत्वम्। पूजार्थे इति 'अञ्चेः पूजायां नलोपाभाव' इत्यनेन, पूजार्थे नलोपनिषेधः, प्रत्यगादिशब्दानां सप्तमीबहुवचने प्रत्यक्षु प्रत्यङ्ष्वित्यादयः प्रयोगाः प्रसिद्धाः। अन्येषां मतन्त्वेवं शषसे वर्गाद्यास्तद्वितीय इत्यनुपदकारा आहुः, तन्मते प्रत्यक्ख्सु इत्यादयः। पक्षे यथासम्भवं द्वित्वादिकं ज्ञेयम्। केचिन्मते वर्गादिस्तद्वितीयः शषसे वा इत्यनेन, तन्मते प्रत्यक्सु प्रत्यक्ख्सु इत्यादिकमिति। दन्त्यमध्यो दन्तवर्णमध्यः ॥१०१॥

बाल०—सस्य। तस्य व्रश्च इत्यस्य। ररामस्य ऋरामः। इति 'ग्रहि-ज्या-व्ययि-व्यधि-वशि-व्यचि-व्रश्चि-प्रच्छि-भ्रस्जीनां सङ्कर्षणः कंसाराबि'त्यनेन। 'सपरसर्वेश्वर-यवराणामि-उरामदेशः सङ्कर्षणसंज्ञ' इति। सोर्हर इति 'राधाविष्णुजनाभ्या'मित्यादिना ॥१०२॥

शोविष्णुपदान्ते वैष्णवे च ।

अथ नैमित्तिकापाये दन्त्यमध्य एव ।

१०४. स्कोः सत्संगाद्यो हरो विष्णुपदान्ते वैष्णवे च ।

१०५. षस्य डो विष्णु पदान्ते हरिघोषे च ।

१०६. विष्णुदासस्य हरिकमलं वा विरामे ।

दैत्यवृट् दैत्यवृड् दैत्यवृश्चौ दैत्यवृश्चः । दैत्यवृड्भ्यां दैत्यवृट्सु । जलमुच् । सत्सङ्गान्त हरेणैव सुलोपसिद्धौ राधाविष्णु जनाभ्यामित्यत्र विष्णुजन-ग्रहणवलात् नात्रस्कोरिति हरः । जलमुक् जलमुग् जलमुचौ जलमुचः ।

छरामस्य शरामे प्राप्तेऽपि पुनरिह छग्रहणं पृच्छादीनां प्रष्टा प्रष्टु मित्यादि सिध्यर्थम् । अन्यथा तत्र कंसारि वैष्णवस्यनिमित्तत्वनिर्देशात् पृष्टः पृष्टवानित्याद्येव सिध्येत् नतु प्रष्टादि । अतइह छरामस्य कंसारीतर वैष्णवेहि षविधानं ज्ञेयम् । निज्भ्यामिति वत् शरामस्य जरामे प्राप्ते, राजादीनाञ्च वक्ष्यमाणसूत्रेण कत्वेप्राप्ते तत्तादपवादो षरामोऽयं विहितः । छशोरिति धातोरेव, तथाराजादीनामष्टानामिह धातुस्वरूपो निर्दिष्टः । प्रच्छ-प्राट्, विश-विट् । राजादीनां—सम्राट् देवेट् परिभ्राट्, विश्वसृट् मन्दिरमृट्, धानाभृट्, दैत्यवृट् । नैमित्तिकः शरामः, निमित्तं चरामः; अत्रापि वैष्णवग्रहणं धात्वर्थम् । विष्णु-पदान्त इति किम्—दैत्यवृश्चौ । वैष्णवे किम्—वृश्चति ।

अमृता०—१०४. स्कोरिति । विष्णुपदान्तेविषये वैष्णवे वा परे सत्सङ्गाद्य स्थि-तयोः सरामकरामयो हरो भवति । चकारो विभाषार्थकः । विषयेइति प्रायःशब्दसाधनपरं परे इतितु प्रायोधातुपरं ज्ञेयम् वैष्णवे—अभार्क्षीत्, अमांक्षीत् । सत्सङ्गाद्योरिति किम्—अमार्क्षीत्, हिंस्तः । विष्णुपदान्ते किम्—प्रत्यक्षु । वैष्णवे किम्—वक्ष्यति शिक्षते ।

अमृता०—१०५. षस्येति । विष्णुपदान्ते विषये हरिघोषे चपरे षरामस्य डरामः स्यात् । हरिघोषे—अकृड्ढ्वम् ।

अमृता०—१०६. विष्ण्वति । परवर्णस्यादर्शने सति विष्णुदासस्य स्थाने हरिकमलं वादिश्यते । विष्णुदासस्येतिकिम्—प्रत्यङ् । विरामे किम्—दैत्यवृड्भ्याम् । दैत्यबृट्सु इति—षस्य डे कृते यादवमात्रे हरिकमलमिति डरातस्य ढरामः । पक्षे तुकि च दैत्य वृट्त्सु । ननुजलमुच्शब्दस्यसौ चरामस्य करामेकृते सुलोपात् प्राक् स्कोरित्यादिना

बाल०—छशो राज् । विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे च परे छशोः स्थाने राज्-यजादीनामन्तस्य च स्थाने षो भवति । अथेति । नैमित्तिकोऽत्र शरामः ॥१०३॥

बाल०—विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे च परे सत्सङ्गादिस्थितयोः सराम-कराम-योर्हरो भवति ॥१०४॥

बाल०—षस्य । विष्णुपदान्ते विषये हरिघोषे च परे षस्य स्थाने डो भवति ॥१०५॥

जलमुग्भ्याम्। पाणिनीयाः प्रत्याहार वाचिनामच् शब्दादीनां उञ् नञ् अनुकरणस्य च न कवर्गादित्वम्। अच् अचौ अचः। अज्भ्याम्, सस्य शः अच्शु, छत्वे-अच्छु। उञ् उञौ उञः। यदुराज्—यदुराट् यदुराड् यदुराजौ यदुराजः। भ्रस्ज् धातोः क्विपि भृज्ज्—भृट् भृड् भृज्जौ भृज्जः।

करामहरः कथं न प्रवर्त्तते? तत्राह—सत्सङ्गान्तेति। सत्सङ्गान्तस्य हरो विष्णुपदान्त इत्यनेनैव विष्णुजनात् परस्य सोर्हरः सिध्यतीति राधाविष्णुजनाभ्यामित्यत्र विष्णुजन ग्रहणमनर्थकं स्यात्। अतस्तत्र विष्णुजनग्रहणसामर्थ्यात् प्रथममेव विष्णुजनात् परस्य सोर्हरो भवति, तदा च करामस्य तत्सङ्गाभावः। तत्र विष्णुजनग्रहणस्यायमाशयः—सत्सङ्गान्तहरलक्षणस्य वह्वाश्रितत्वाद् वहिरङ्गता, स्कोरित्यस्य तु स्वल्पाश्रितत्वादन्तरङ्गता। इतिस्थिते यदि तत्र विष्णुजनग्रहणं न क्रियेत तदा अन्तरङ्गस्य वलवत्वेन स्कोरिति सत्सङ्गाद्यहरस्य प्रवृत्तेः जलमुरित्येवमनिष्टरूपमपद्येतेति। जलमुग् मेघः। जलमुगिति—चवर्गस्यकवर्गे कृते विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यादि सन्धिसूत्रेण करामस्य गरामः, ततो विष्णुदासस्य हरिकमलं वाविरामे, पक्षे गरामस्य च स्थितिः। एवमग्रेऽपि योज्यम्। पाणिनीया इति—अल्पाक्षरेण वहुवर्णानां ग्राहकरूपा संज्ञैव प्रत्याहार उच्यते, तंवक्तुं शीलमेषामिति प्रत्याहार वाचिनः, अच् इच् हल् प्रभृतयः, तेषां, उञ् नञ् इत्यव्यययो स्तथा अनुकरणशब्दानाञ्च कवर्गादिकं न मन्यन्ते पाणिनीयाः।

कवर्गादित्वामिति—आदिपदेन हरिगदानिषेधादिर्वोध्यः। तेनअच्भ्यामित्यत्र न कवर्गो न वा हरिगदा। अजन्त इत्यादौ तु सूत्रनिर्देशवलात् सन्धिनिषेधस्यानित्यता। अनुकरणं तावद् द्विविधम्, शब्दानुकरणमर्थानुकरणञ्च। व्यक्ताव्यक्तभेदेन शब्दानुकरणं पुन र्द्विविधम्। व्यक्तञ्च पुन र्भेदाभेदविवक्षया द्विविधम्। यथा—रिपवः षडिति भेदे, अभेदे—अयमाहगवित्ति। अव्यक्तम्—पटपटिति शिलावर्षति। अर्थानुकरणन्तु तुल्यशब्दयोजनम्। तत्रशब्दानुकरणस्येह निषेधः कृतः। सस्य शः—चवर्गयोग इति शेषः। छत्वे इति—ततः शश्छोवेत्यनेन। भृज्जिति—ग्रहिज्येत्यादिना सङ्कर्षणः, सस्यजो जे नतु वैष्णव इत्यनेन सरामस्य जत्वम्। भृडिति—छशोरिति षत्वं, निमित्तापायात् जरामस्य पुनः सरामः, ततः स्कोः सत्सङ्गाद्यो हरे धस्य डः, हरिकमलञ्च।

बाल०—विष्णु। विरामे परवर्णादर्शने। दैत्यवृट्स्विति षस्य डे कृते 'यादवमात्रे हरिकमलमि'त्यनेन डरामस्य टरामः। ननु जलमुगित्यत्र चवर्गस्येत्यादिना चरामस्य करामे कृते स्कोरित्यादिना करामहरः कस्मान्न—स्यादिति चेत्तत्राह,—सत्सङ्गान्तेति। 'सत्सङ्गान्तस्य हरो विष्णुपदान्ते' इत्यनेनैव विष्णुजनात् परस्य सोर्हरः सिध्यतीति। 'राधाविष्णुजनाभ्यामि'त्यत्र विष्णुजनग्रहणमनर्थकं भूतं, तस्मात्तत्र विष्णुजनग्रहण-सामर्थ्यात् प्रथमं सोर्हरो भवतीति। जलमुगिति चरामस्य करामे कृते 'विष्णुदासो विष्णुपदान्त' इत्यादिना करामस्य गरामः। पक्षे गरामस्यैव स्थितिः। एवमन्यत्रापि।

१०७. स्रज् दिश् दृश् ऋत्विज् उष्णिह् दधृष् अनुदकपूर्व स्पृश् तादृश् इत्यादीनां को विष्णुपदान्ते ।

ऋतौ यजति ऋत्विक् ऋत्विग् ऋत्विजौ । युजः पुंसि ।

१०८. युजोऽसमस्तस्य नुम्कृष्णस्थाने नतु समाधौ ।

अत्र सुटीति तस्यां भ्रमः । युङ् युञ्जौ युञ्जः । युग्भ्याम् । समस्तस्य समाध्यर्थस्य च न नुम् । कृष्णयुक् कृष्णयुग् कृष्णयुजौ कृष्णयुजः । कृष्ण-युग्भ्याम् । युक् युग् युजौ ।

ऊर्जः पुंसि ।

अमृता०—१०७. स्रजिति । विष्णुपदान्तेविषये स्रजादीनामन्त्यवर्ण स्थाने करामो भवति । उदकशब्देतरशब्दपूर्वस्य स्पृशः अन्त्यस्थाने करामः स्यादित्यर्थः । एते सर्वे एव-क्विवन्ताः । तत्र स्रजिति क्विवन्तनिपातस्य मालार्थस्य ग्रहणम् । सामान्यक्विवन्तस्य तु छशोरित्यादिना षराम एवेति दर्शितम् । इत्यादिपदेन ईदृश् कीदृश् अमूदृश् सदृश् अन्यादृशादयोग्राह्याः । छशोरित्यादिना षरामे प्राप्ते विधिरयं करामार्थः ।

अमृता०—१०८. युज इति । कृष्णस्थाने परे असमस्तस्य युजो नुमागमो भवति । किन्तु युज्समाधावित्यस्य क्विवन्तस्य समस्तस्य च स न स्यात् । सुटीतितस्यांभ्रमइति—तन्मते पाण्डवस्य सुट्संज्ञा । तेन च ब्रह्मणिशिपरे अश्यान्तेः; सुटीति विधानसामर्थ्याच्च सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयोरिति ब्रह्मकार्यं नुमपि नस्यात् । ततो 'युजि' इत्येवमनर्थरूपं सम्पद्येतेति भ्रमएव । तत्र सर्वैरेव नुमइष्टत्वात् सर्वनामस्थानरूपं निमित्तं निवेशितम् । ततो 'युङ्' इत्येव शुद्धंरूपम् । कृष्णंयुगिति—कृष्णयुनक्तीति विग्रहेक्कत्समासः । संयोजनार्थ इह युज्धातुः । युगिति—समाधिवाची । ऊर्ज्ज वलप्राणनयोर्धातोः क्विपि ऊर्क् कार्त्तिकमासः । "वाहुलोर्ज्जौ कार्त्तिकिक"इत्यमरः । ऊर्ज्ज इत्यरामान्तोऽपि दृश्यते ।

पाणिनीयेति । अच् शब्दादीनामिति आदिशब्देन इच् एच् प्रभृतीनां ग्रहणम् । उञो नञ इत्येव पाठः । अनुकरणस्य अनुकरणशब्दस्य । अच्भ्यामिति लिपिकारप्रमादः, अजभ्यामिति पाठः सभ्यः, कवर्गादित्वनिषेधात् । 'सस्य शश्चवर्गयोगे' इत्यनेन शत्वम्, 'ततः शश्छो वे'त्यनेन छत्वम् इति । भृज्जिति 'ग्रहिज्या व्यचि व्यधि वेशी'त्यादिना सङ्कर्षणः । 'सस्य जो जे, न तु वैष्णवे' इत्यनेन सस्य जः ।।१०६।।

बाल०—स्रज् दिश् । विष्णुपदान्ते विषये स्रज् दिश् दृशादीनामन्तः को भवति । अनुदकेति । उदकशब्देतरशब्दपूर्वस्पृशोऽन्तः को भवतीत्यर्थः । ऋत्विगिति, 'वचि स्वपि यजादीनां सङ्कर्षण कपिल' इत्यनेन सङ्कर्षणः । छशोरित्यादिना षरामे प्राप्ते कराम-विधानम् । युजः पुंसीति रूपं निरूप्यते इति शेषः ।।१०७।।

बाल०—युजो । कृष्णस्थाने परे असमस्तस्य युजो नुम् भवति, न तु समाधाविति । युज् समाधावित्यस्य क्विवन्तस्य युजो नुम् न भवतीत्यर्थः । युङिति, युजिर् योग इत्यस्य

१०६. रात् सस्यैव सत्संगान्तहरविधिः ।

नियमोऽयम् । वहुत्र प्राप्तौ सङ्कोचनं नियमः ।

ऊर्क् ऊर्ग् ऊर्जौ ऊर्जः । विश्वसृज् – विश्वसृट् विश्वसृड् विश्वसृजौ विश्वसृजः । षत्वं नेति केचित्—विश्वसृक् । कंसजित् कंसजितः कंसजिद्भ्याम् कंसजित्सु ।

उरामानुवन्धो महत; तस्य पुंसि—नान्त धातुर्वजितेति त्रिविक्रमः, अचश्वतुर्भुजेति नुम्, सोर्हरः । सत्सङ्गान्तस्य हरः । अत्राकरणात्; क्वचिदन्तरङ्ग इत्यादि वक्ष्यमाणन्यायात् । ब्रह्मेशान्तान्नुगित्यत्र

अमृता०—१०६. रादिति । ररामादुत्तरं सत्सङ्गान्तहरविधौ प्राप्ते सरामस्यैव हरो भवति नान्यस्य । नियमलक्षणमाह—वहुत्रेति । अत्र ररामादुत्तरश्च सर्वेषांविष्णुजनानां हरेप्राप्ते सराममात्रस्य तद्विधानादेष नियमः । तेनजरामस्य लोपाभाव इत्यर्थः । षत्वं नेतिकेचिदिति—कालापाः कत्वमेव मन्यन्ते । केचित्तुविकल्पमिच्छन्ति । मरुत् भूभृत् विपश्चित् वृहत् हरित् प्रभृतयः कंसजित् शब्दवत् । महानित्यस्य साधने क्रमो लक्षितव्यः ।

प्रथमतो नुमिकृते उद्धव विघातान्नहि त्रिविक्रमः सम्भवेदिति त्रिविक्रम एवादाविष्टः । प्रकृतावपि पूर्वस्य त्रिविक्रमस्यान्तरङ्गत्वात् । ननु महानित्यत्र नामान्तस्य नस्य हरो विष्णुपदान्त इति वक्ष्यमाणेन नरामहरः कथं न स्यादितिशङ्कायां समादधाति—तत्राकराणादित्यादि हेतुत्रयेण । यद्यत्र नस्यहरः स्यात्तदा नामान्तस्येत्यादि नरामहर विधायकं लक्षणमत्रैव विधीयेत, गङ्गास्रोतोवद् विधेः प्रवर्त्तनात् । तस्मादत्राकरणान्नेह नरामहरः । हेत्वन्तरं क्वचिदिति—अन्तरंगे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यात् । अत्रनरामहरोऽन्तरङ्गम्, स्वल्पाश्रितत्वात्; सत्सङ्गान्त हरो वहिरङ्गम्, वह्वाश्रितत्वात् । "नरामादिहरो नासिद्धस्तुगादि विधेरन्यत्र" इतिवक्ष्यते नामधातौ । तत्र तुगादीति आदिशब्देन सुप्विधौ, नरामादीति आदिना तरामादि हरश्च असिद्ध एवेति टीकायां व्यक्ती भविष्यति । तेनच सत्सङ्गान्त-तराम हरस्यात्र असिद्धत्वान्न नरामहर इत्याशयः ।

क्विवन्तस्य रूपम् । असमस्तस्येति न तु समाधाविति च यदुक्तम्, तदेव व्याचष्टे समस्तस्येति । युगिति युज् समाधावित्यस्य क्विवन्तस्य रूपम् ॥१०८॥

बाल०—रात् । रात् परस्य सत्सङ्गान्तस्य हरविधिर्भवन् सस्यैव भवति नान्यस्येत्यर्थः । नियमलक्षणमाह,—बहुत्रेति । संकोचनं स्थापनविशेषेण स्थानम् । ननु महानित्यत्र 'नामान्तस्य नस्य हरो विष्णुपदान्ते बुद्धं विने'त्यनेन नस्य हरः कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्र सिद्धान्तमाह'—अत्राकरणादित्यादि । तत्रात्रेति यद्यत्र नस्य हरः स्यात्, तदा नामन्तस्येति लक्षणमत्रैव विदध्यात् तस्मादत्राकरणान्न नस्य हर इति । क्वचिदिति क्वचिदिति क्वचिदन्तरंगे कार्यं क्रियमाणे तदनिमित्तं बहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति तत्रान्तरङ्गकार्यं नस्य हरः । बहिरङ्गं नुम्बिधानम् उभयाश्रितत्वात् । 'ब्रह्मेशान्ता'दिति । नुकि कृते

ज्ञापकेन सर्वेश्वरेण त्वागम नराम हराभावस्य नाम्नि निश्चयात् नस्य हरो न स्यात्। महान् महान्तौ महान्तः। महान्तम् महान्तौ महतः। महता-महद्भ्याम्; हेमहन्।

भगवतु।

११०. अत्वसन्तोद्धोवस्य त्रिविक्रमो बुद्धवर्जितसौ धातुं विना।

भगवान् भगवन्तौ भगवन्तः। भगवन्तम् भगवन्तौ भगवतः। भगवता भगवद्भ्याम्।

१११. भगवतु अघवतु भवतूनां भगोस् अघोस् भोस् इति निपाता वा बुद्धे।

पूर्वपरयोः सहैवादेशो निपातः।

हेभगोः हेभगवन्। हेअघोः हेअघवन्। हेभोः हेभवन्। कथंभो

युक्तचन्तरश्चाह—ब्रह्मेशान्तादिति। तत्र नुग्विधानसूत्रे परनिमित्तमनुक्त्वा नुकि कृतेऽपि विष्णुजनादि विष्णुभक्तौ विष्णुपदत्वाद् नामान्तस्येत्यादिना नरामहरे दधिभ्यामित्यादि सिध्येतैव, तथापि तत्र यत्सर्वेश्वराइति परनिमित्तमुक्तं तेन सर्वेश्वर पदेन नाम्नि आः म नरामस्य हरो नहि भवेदिति ज्ञापितम्। तस्मादत्रापि नुम आगमत्वान्नहर इति फलितम्।

किञ्च उद्धवस्य त्रिविक्रमविधानसूत्रे नान्तग्रहणेन हीष्ट सिद्धौ पृथक्तया महच्छब्दोपादानमेतज् ज्ञापयति—कृतसत्सङ्गान्तहरस्य नुमो नरामस्य नान्तत्वं न मन्तव्यमिति। अतएवभगवतुप्रभृतिशब्दानां नान्तेति सूत्रेण सौ त्रिविक्रमाप्राप्तिं निश्चित्य पुनरत्वसन्तोद्धवस्येति त्रिविक्रमाय पृथग् लक्षणं करोति, अन्यथा सुवर्जं कृष्णस्थाने तन्निषेध एव युज्येत। हेमहन्निति—बुद्धं विनेति निषेधान्नोद्धवस्य त्रिविक्रमः।

अमृता०—११०. अत्वसन्तेति। बुद्धवर्जित सौ परे अतुअन्तस्य, धातुं विना असन्तस्य च शब्दस्योद्धवत्रिविक्रमो भवति। धातुं विनेति किम्—पीतवः। भगवानित्यत्र च नित्यमपि नुमं वाधित्वादावेव त्रिविक्रमः; पूर्वस्थस्य त्रिविक्रमविधेरन्तरङ्गत्वात्। यतो नित्यादप्यन्तरङ्गस्य वलवत्त्वं सिद्धान्तितम्—तेषुचोत्तरोत्तर इत्यादिना। अन्यथा उद्धवविघातेन त्रिविक्रमवाधः स्यादिति।

अमृता०—१११. भगवत्विति। भगवतु अघवतु भवतु शब्दानां बुद्धे क्रमात् भगोस् अघोस् भोस् इतिवा निपात्यन्ते। इह भवतुशब्दो मध्यमपुरुषवाची, [क्रिययान्वयस्तु

नामान्तस्येत्यादिना तस्य हरे च कृते दधिभ्यामित्यादीनां सिद्धत्वात् सर्वेश्वरस्योद्धृतत्वमतो ज्ञापकत्वम्। निश्चयादित्यनन्तरं चशब्दप्रयोग उचितः ॥१०९॥

बाल०—अत्व। अत्वन्तस्य असन्तस्य च सम्बन्धिन उद्धवस्य त्रिविक्रमो भवति ॥११०॥

वैष्णवाः ? अव्ययत्वात्। भगवत् शब्दात् भगवानिवाचरति क्यङन्तात् क्विपि भगवत्। तस्मात् स्वादौ प्रकृतवदेव रूपं स्यात्, नामावस्थायां चतुर्भुजानुवन्धत्वात् भगवान्। ददतृ जक्षतृ इत्यादि शब्दानान्तु कृत्-प्रकरणे नुम्‌निषधो वक्ष्यते। ददत् ददतौ ददतः। ददद्भ्याम्। जक्षत् जक्षतौ जक्षतः। जक्षद्भ्याम्। ऋरामानुवन्धो भवतृ, तत्पुंसि।
भवान् भवन्तौ भवन्तः। भवद्भ्याम्। हेभवन्।
मुरं मथ्नातीति मुरमत् मुरमद् मुरमथौ।
कृष्णं वेत्तीति कृष्णविद्, तत्पुंसि। कृष्णवित् कृष्णविद् कृष्णविदौ।
सुपाच्छब्दस्य सुपात् सुपाद्।

११२, पाच्छब्दस्य वामनो भगवति।

सुपदः। एवंपादशब्दस्य पदादेशेऽपि पद इत्यादि।
आमि नुटं वाधित्वा विरिञ्चिरेव, विरिञ्चितो विष्णुर्वलवान् विष्णुतः सर्वविरिञ्चिरिति न्यायेन। पदाम्।

प्रथमपुरुष वोधिकया सह]। अतु अन्तत्वादुद्धवस्य त्रिविक्रमः—भवान्। निपातलक्षणमाह—पूर्वेति। पूर्वपरयो प्रकृति-प्रत्यययोः सहैव युगपद् मिलित्वैव आदेशो निपात उच्यते। पक्षे बुद्धवर्जितेति निषेधान्नत्रिविक्रमः——भगवन् इत्यादि। भो वैष्णवा इति——भोशब्दः सम्बोधनद्योतकाव्ययम्। तथाच भाष्यम्——अव्ययमेष भो शब्दो नैव भवत्प्रकृतिरिति। भूतपूर्वस्यापि अत्वन्तस्य त्रिविक्रमइष्ट इत्याह—भगवदिति। प्रकृतवत् मूलभगवच्छब्दवत्। तत्र हेतुः——नामावस्थायामित्यादिः। नुम्‌निषेधो वक्ष्यत इति—न नारायणाच्छतुर्नुम् ब्रह्मणस्तु कृष्णस्थाने वेत्यनेन। तत्र ददतृ प्रभृतीसां द्विर्वचनार्हत्वेन नारायणत्वात् जक्षादीनाञ्च नारायणत्वातिदेशान्ननुमिति भावः। एवं सुहृद् गोत्रभिद् दिविषद् तमोनुद् प्रभृतयः कृष्णविद्वत्। सुपादिति—शोभनौ पादौ यस्य सः। संख्यासूपमानेभ्यः पादस्यान्त हर इत्यनेन समासे अन्त्यारामहरौ वक्ष्यते।

अमृता०—११२. पाच्छव्दस्येति। भगवति परे समासे लुप्तान्तस्य पाच्छब्दस्य उद्धवोवामनः स्यात्। इहवर्द्धमानेन विष्णुजने परे निशादीनां विरिञ्चित्वाभावे यद्

बाल०—भग। निपातलक्षणमाह—पूर्वेति। सहैवेति एकदैवेत्यर्थः। कथमिति ? कथं भो वैष्णवा इति भवतु भवन्तो वैष्णवा इत्येव भवितुमर्हति। तत्र सिद्धान्तमाह, अव्ययत्वादिति। तथाच भाष्यम्। अव्ययमेष भोः शब्दो नैष भवत्प्रकृतिरिति। भगवत्‌शब्दादिति। स्वादाविति स्वादौ सतीत्यर्थः। प्रकृतवत् उक्तभगवच्छब्दरूपवत्। अत्र हेतुमाह,——नामेति। नुम्‌निषेधो वक्ष्यत इति 'न नारायणाच्छतुर्नुम् ब्रह्मणस्तु कृष्ण-स्थाने वे'त्यनेन॥१११॥

निशा हृदय मास यूष दोषाणां विष्णुजने विरिञ्चि र्नास्ति भाष्य-चान्द्रादिष्वधृतत्वादिति वर्द्धमानः। विरिञ्चिसद्भावे तु षस्य डइतिवत् शस्य जो मन्तव्यः।

छशो राजेत्यादिकञ्च धातुपरमेव। निज्भ्याम् निक्शु निच्छु। कृष्ण-पूर्वस्य बुध्धातोः कृष्णं बुध्यते इति क्विपि कृष्णबुध् तत्पुंसि,—

११३, जवर्जं हरिगदादेरेकसर्वेश्वरस्य धातो र्हरिघोषान्तस्यादौ हरिघोषत्वं विष्णुपदान्ते सध्वोश्च।

कृष्णभुत् कृष्णभुद् कृष्णबुधौ कृष्णबुधः। एवंतत्त्वबुधादयः। जवर्जेति किम्—जभ् जप् जभौ जभः इत्यादि। एकसर्वेश्वरस्येति किम्—क्यन् क्विबन्तस्य धातोर्दामरुधः दामरुत्। धातुपदेन धात्ववयवोऽपि गृह्यते।

भाष्यमतमुपन्यस्तं तन्न समीचीनं, तत्रशसादावपि तदादेशस्वीकारात्। तथाहि भाष्यम्—शस् प्रभृतिष्वित्युच्यते, अशस् प्रभृतिष्वपि दृश्यत इति। तेन वर्द्धमानमतं ग्रन्थकृतोऽसम्मतमिति विरिञ्चिसद्भावे रूपाणि दर्शितानि।

ननु विरिञ्चौ कृते छशोरित्यादिना शस्य षः कथं न प्रवर्त्तते तत्राह—छशोराजेति। निच्शु इति यादवमात्रे हरिकमलम्। निच्छु इति—ततःशश्छोवेति छत्वं वा।

अमृता०—११३. जवर्जेति। विष्णुपदान्तेविषये सध्वोश्च परयोः जवर्जं हरिगदादे र्धातो र्हरिगदास्थाने हरिघोषो भवति। पुनः कथम्भूतस्य धातोः? हरिघोषान्तस्य, एकसर्वेश्वरविशिष्टस्य च। चतुर्णां विशेषणानां युगपत्सद्भावे एवादेशः स्यादिति पदकृत्यं-दर्शयति—जवर्जेति किमित्यादिभ्याम्। दामरुधमिच्छति तमिवाचरति वेत्यर्थे क्यन् ततः क्विपि यवयो र्हरो वले इति क्यनो यलोपे क्विप् लोपे च दामरुध्। हरिगदादेरितिकिम्—कंसक्रुधः कंसक्रुत्। हरिघोषान्तस्येति किम्—कृष्णगुप्। गोविन्देन भातीति—अकर्मण्यारामात् क इत्यनेन कप्रत्ययः कृत्। आरामहरः कंसारि सर्वेश्वररामधातुके इटि उषि चेत्यारामहरः। ततो गोविन्दभमाचष्टे इत्यर्थे गोविन्दभ शब्दात् "अन्येभ्य स्तत्

बाल०—पाच्छब्दस्य। आमि नुटं बाधित्वा विरिञ्चिरेवेति अत्र हेतुमाह,—विरिञ्चित इति। निशेति। नास्ति न भवति। अत्र वर्द्धमानमतन्तु नास्माकं मतम्। विरिञ्चीति। सद्भावः सत्ता विद्यमानता विरिञ्चिविद्यमानतायामित्यर्थः। ननु विरिञ्चौ कृते छशोराजेत्यादिना शस्य यः कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्राह,—छशोराजेत्यादिकञ्च धातुपरमेवेति ॥११२॥

बाल०—जवर्ज। विष्णुपदान्ते विषये सध्वोश्च परयोः एकसर्वेश्वरस्य जवर्जं-हरिगदादेर्हरिघोषान्तस्य धातोरादौ हरिघोषत्वं भवति। गोविन्दबिति गोविन्देन भातीति

तेन गोविन्देन भातीति कप्रत्ययान्तो गोविन्दभः। तस्य णि क्विवन्तस्य गोविन्दभ् गोविन्धप् गोविन्दभौ गोविन्दभः। एवं पुण्ड्रभ् पुण्ड्रप्। अत्र प्रक्रिया कलाप काशिका वृत्तयो विचार्याः। किन्तु प्रक्रियायामधोक् गोविन्धप् च प्रश्नपदं भवेत्। कालापे दामरुज्जप् च। काशिकादौ नसंशयः।

राजन् नान्तेति त्रिविक्रमः, सोर्हरः।

करोति तदाचष्टे" इत्यनेन णिः, भू सनन्ताद्याधातव इति धातुत्वम्। अरामहरो रामधातुक इत्यरामहरः। ततः क्विपि "णेर्हरोऽनिडादौ रामधातुक" इति णेर्हरः। अत्र गोविन्दभ् धातोरवयवस्य दभ् इति भागस्य हरिगदादि लक्षणवत्त्वादादौ हरिघोषत्वम्। एवपुण्ड्रभिति—पुण्ड्रेण ऊर्द्धपुण्ड्रतिलकेन भातीति कप्रत्ययान्तः पुण्ड्रभ शब्दः। तस्मात् णिक्विवन्तेन पुण्ड्रभिति पूर्ववत्। अत्रापि पुण्ड्रभधातोरवयवस्य ड्रभ् इत्यंशस्य हरिगदादिलक्षणान्वितत्वादाद्यस्य हरि घोषत्वम्—पुण्ड्रपिति।

प्रक्रियायामधोक् गोविन्धप् च प्रश्नपदं भवेदिति—'एकाचोवशो भष् झषन्तस्य सध्वो"रिति पाणिनीय सूत्रे पूर्वतो धात्ववयवेति पदान्त इतिचानुवर्त्तते। प्रक्रियायान्तु तत्तदनुवृत्ति र्न दर्शिता। अतौ धात्ववयव-ग्रहणाभावाद् गोविन्धप् इति तथा पदान्तग्रहणाभावात् अधोक् इति च पदद्वयस्य नहि सिद्धि र्भवेदित्यभिप्रायः।

कालापे दामरुज्जप्चेति—प्रश्नपदंभवेदित्यनुषङ्गः। तत्र "हचतुर्थान्तस्य धातो स्तृतीयादे रादिचतुर्थत्वमकृतवदिति" सूत्रे एकसर्वेश्वरत्वस्य जवर्जत्वस्य चानुक्तितः पदद्वयसिद्धौ संशय एवास्ति। काशिकायां सम्पूर्ण लक्षणसद्भावान्न कोऽपि सन्देह इत्यर्थः। आदिपदेन उक्तेतरव्याकरणानां ग्रहणम्।

अधोगिति—दुहधातो दिप्-सिपो रूपम्। दादेस्तुधातोर्घं इति दुघ् स्थितम्, ततो विष्णुजनाद्दिस्यो र्हरे विष्णु पदान्तत्वाद् जवर्जेति लक्षणेनादौ हरिघोषत्वम्।

'अकर्मण्यारामात् क' इत्यनेन कः। 'आरामहरः कंसारि सर्वेश्वर रामधातुके इटि उसि चे'त्यनेन आरामहरः, ततो गोविन्दभमाचष्टे इत्यर्थे गोविन्दभ्शब्दात् मुण्डमिश्रेत्यादिना णिः 'अरामहरो रामधातुके' इत्यनेन अरामहरः, ततः 'क्विप् णेर्हरोऽनिडादौ रामधातुके' इत्यनेन णेर्हरः। अत्र क्विवन्तस्य गोविन्दभो धातोरवयवस्य दभ आदौ हरिघोषत्वम्। पुण्ड्रविति पुण्ड्रेण भातीति क-प्रत्ययान्तः पुण्ड्रभस्तस्य णि क्विवन्तस्य पुण्ड्रभः पुण्ड्रविति पूर्ववत्। अत्रेति। अत्र हरिघोषत्वविधाने प्रक्रियाकलाप-काशिकावृत्तय इति प्रक्रियाकलापः काशिकावृत्तिश्चेत्यर्थः। पाठकैरेता विचार्याः। किन्तु प्रक्रियायां अधोगिति गोविन्दबिति च प्रश्नपद भवेद्भवति तस्मात् प्रक्रियायां संशयो वर्त्तते इत्यर्थः। कलापे दामुरुद् जप् च प्रश्नपदं, तस्मात्तत्रापि संशयो वर्त्तते। काशिकादावित्यादिशब्देन वृत्तेर्ग्रहणम्। अधोगिति दुहप्रपुरणे भूतेश्वरभूतेशाजितेष्विति धातोः पर्वतम्, 'लघूद्धवस्य गोविन्द' इत्यनेन गोविन्दः, 'दादेस्तु धातो र्घ' इति हस्य घः, 'विष्णुजनात् दिस्योर्हर'

११४. नामान्तस्य नस्य हरो विष्णुपदान्ते बुद्धं विना ।

प्रथमतो नलोपाभावः, पथिन्मथिन् इत्यादौ वक्ष्यमाण नलोपवैयर्थ्यात् । राजा राजानौ राजानः । राजानं राजानौ । वमसत्सङ्गहीनस्य इत्यरामहरः । तवर्गस्य कवर्गः । जञोः सत्संगे ज्ञः । राज्ञः, राज्ञा । क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति न्यायेन नस्यहरासिद्धेः कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इत्यादिकं प्राप्नोतीत्यर्थः । किञ्च न-वयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्या । राजभ्याम् राजभिः । राज्ञे राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राज्ञोः राज्ञाम् । ईङ्चोस्तु वा, राज्ञि राजनि राज्ञोः राजसु । हेराजन् ।

अमृता०—११४. नामान्तस्येति । विष्णुपदान्ते विषये नाम्नोऽन्तेस्थितस्य नस्य हरो भवति बुद्धेतु स न स्यात् । प्रथमतो नलोपाभाव इति—अत्रायमाशयः,—पथिन् मथिन्नित्यादि वक्ष्यमाण लक्षणं विनापीष्टपदं साधयितुं शक्यते । यथाहि—पथ्यादीनामिरामस्यारामः, थातपूर्वं नुक् च; ततो नामान्तस्येति नस्य हरे, स-र-रामयोरिति विष्णुसर्गे च पन्थाः । तदेवंप्रथमतो नलोपमन्तरेणापीष्टरूपं नितरां सिध्यति । तथापि "पथिन् मथिन्नि"त्यादि पृथक्लक्षणेन यत् प्रथमं नलोपः कृतस्तेनेदं ज्ञाप्यते—नान्तानां मध्ये पथ्यादि त्रयाणामेव प्रथमतो नलोपोभवति, अन्येषां नान्तानान्तु पश्चादिति । अन्यथा सिद्धेऽपीष्टे साधनप्रयासः । पिष्टपेषणवन्निष्फलः स्यात् । अथान्येषां राजन् शार्ङ्गिन् प्रभृतीनां प्रथमं नलोपेकृते तु विष्णुजनान्तत्वाभावात् सुलोपाभावे राजाः शार्ङ्गीः इत्येवमादि सविष्णुसर्गानिष्टरूपमपतेदिति दोषएव ।

ननु राजभ्यामित्यादौ नरामहरे कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इतिकथं न प्रवर्त्तते ? तत्राह—क्वचिदिति । अत्रोभयोः प्रकृत्याश्रितत्वेऽपि पूर्वस्थित कार्यस्य त्रिविक्रमस्यान्तरङ्गता । तत्परस्थितस्य नरामहरस्य वहिरङ्गतेति स्थिते त्रिविक्रम विधौ क्रियमाणे तदनिमित्तं नरामहरः असिद्धः । सुप् विधौ नरामादिहरोऽसिद्ध एवेति भाविवचनानुसारात् । ततो नरामस्यासिद्धत्वेन स्यानिवत्त्वात् त्रिविक्रमस्य न हि प्रसङ्ग इति मर्म । सिद्धान्तएष

इत्यनेन दिपसिषोर्हरः, ततो 'जवर्जे'त्यादिना दस्य घः 'विष्णुदासो विष्णुपदान्ते'त्यादिना गरामः 'विष्णुदासस्य हरिकमलं वे'त्यनेन करामः ॥११३॥

बाल०—नामान्तस्य । नामान्तस्य नाम्नोऽन्तेस्थितस्य । प्रथमतो न लोपाभाव इति त्रिविक्रमानन्तरं प्रथमतो न लोपे सति न लोपस्य महाहरत्वात् राजा इति सविष्णुसर्गरूपं स्यात् । प्रथमतो नलोपाभावे वेतमाह पथिन्निति । 'पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन्नित्येषां नस्य हरः सा'वित्यस्मिन् लक्षणे बक्षमाणस्य नलोपस्य वैयर्थ्यादिति तस्मात्तत्र प्रथमतो न लोपः, अतः पन्था इत्यादि सविष्णुसर्गरूपं भवति । क्वचिदिति अत्रान्तरङ्गकार्यं त्रिविक्रमादि । बहिरङ्गं नस्य हरः । न प्राप्नोतीत्यर्थः । इति वहुषु पुस्तकेषु दृश्यते

यूष शब्दस्य यूषन्नादेशे आदेशः स्थानिवत् क्वचित्। नामधातु प्रत्यय विष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिवद्भावः सर्वत्रैव। वर्णानां तद्व्यक्तिवद्भावश्च यत्र मंस्यते तत्रैवेत्यर्थः। तेन नामत्वे सत्यनोऽरामहरः। यूष्णः यूष्णा। एवं यज्वन् आत्मन् सुधर्मन् इत्यादयः। किन्तु वमसत्सङ्ग-हीनस्येति विशेषणादरामहरो नास्ति। यज्वनः यज्वना।
एवं श्वन् युवन् मघवन्। क्वचिद्विशेषः,—

११५. श्वन्युवन् मघवन् इत्येषां वस्य उर्भगवति।
ईव्वर्जित-तद्धिते तु न युवतीत्येतद्वर्जम्॥*

वस्येति सरामनिर्देशः। शुनः शुना श्वभ्याम् श्वभिः।
यूनः यूना युवभ्याम् युवभिः। एवं मघोनः मघोना।

कृष्णसंज्ञत्वमभ्युपगम्य ज्ञेयः। तदनङ्गीकारोऽपि सम्मत इत्याह—किञ्चेति। एकेनैव सिद्धेऽपि पक्षयुगलस्य प्रपञ्चश्छात्राणां वुद्धिवैचित्र्यर्थः। एवं प्रेमन् गरिमन् प्रभृतयश्च आदेशः स्थानिवत् क्वचिदित्यादिसन्दर्भो यूषन्नित्यादेशस्य नामत्वप्रतिपादनार्थः। अत्र-क्वचित्पदं विशदयति—नामेत्यादिभिः। नाम्नो धातोः प्रत्ययस्य तथाविष्णुपदस्य चादेशस्य तत्तज्जातिवद्भावोऽर्थान्नामत्व-धातुत्वादिकं सर्वत्रैव मन्यते। वर्णानामादेशस्य तु तद्व्यक्तिवद्भावोऽर्थात्तद्वर्णत्वं कार्यानुरोधेन यत्रप्रयोजनं तत्रैवमंस्यते नतुसर्वत्र। तेन-यूषशब्दस्य यो यूषन्नादेशस्तस्यापि नामत्वात् नामविहितकार्यं भवतीतिदर्शयन्नाहफलम्—अनोऽरामहरइति।

अमृता०—११५. श्वनिति। भगवति परे श्वन् युवन् मघवन् शब्दानां वरामस्य उराम आदिश्यते। ईव्वर्जित तद्धितेतु तेषां वस्य उर्नभवति। यथाहि—शौनवं यौवनं माघवानः। ईपि तु भवत्येव उरामः—शुनी यूनी मघोनी। तत्रपुनरीवन्तेषु युवतिशब्दो वर्जयितव्यः-

---

तत्तु लिपिकरप्रमादकृतम्। न प्राप्नोतीत्यन्य इत्येव ज्ञेयम्। अत्र क्वचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायाङ्गीकारमकृत्वा कृष्णसंज्ञात्वमेव निषिध्यते किन्तु यवयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्येति। सूत्रे प्रत्ययरूपनिमित्तादन्यस्य हरोऽपि महाहर इति महाहरत्वात् त्रिविक्रमादिकं न स्यादिति ज्ञेयम्। आदेशः स्थानिवत् क्वचिदिति अर्थमाह नामेति नाम्नोः धातोः प्रत्ययस्य विष्णुपदस्य च आदेशस्य तज्जातिवद्भावः नामादिस्वरूपवद्भावः सर्वत्रैव भवति। वर्णानामादेशस्य तद्व्यक्तिवद्भाव आदेशि-वर्णस्वरूपवद्भावश्च। यत्र मन्तव्यस्तत्रैव, न तु सर्वत्रेति। अतो अत्र युष्मन्नादेशस्यापि नामत्वं क्वचिद्विशेष इति विशेषमाह॥११४॥

बाल०—श्वन् युवन् ईव्वर्जित। युवती इति आदिर्येषां तान् वर्जयित्वा ईवर्जिततद्धिते तु परे वस्य उ नं भवति। ईव्वर्जिततद्धिते निषेधात् नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि

---

* "युवतीत्यादिवर्जमिति"ति तु लिपकार प्रमाद, आदिपदस्यानर्थकत्वम्।

सौ मघवा। मघवानिति तु कालापाः।
वहति स्वेच्छया वायुरुद्गच्छति च भास्करः।
हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ॥ इतिभट्टिः।
मघवतु शब्दोऽप्यस्ति। "मघवद् वज्रलज्जानिदानम्" "सएवमुक्त्वा-मघवन्तमि"त्यादि प्रयोगदर्शनात्। मघवान् मघवन्तौ मघवन्तः। मघवद्भ्याम्।
अथ दिवस वाची प्रतिदिवन् शब्दः। प्रतिदिवा प्रतिदिवानौ प्रति-दिवानः। प्रतिदिवानं प्रतिदिवानौ।

११६. धातो रवप्रागिदुतोस्त्रिविक्रमो, रवतो विष्णुजने; न कुर-छुर-नामधातूनां नचतद्धितये।

नाम्नो जातो धातु र्नामधातुरिति वक्ष्यते। अत्रपाठाद् विष्णुजनो वर्ण-

---

"यूनस्तु युवतिः साधु" इति वक्ष्यमाणत्वात्। भगवतीति किम्—श्वानौ युवभ्यां मघवसु। क्वचिद् ग्रहणादिह वराम स्थाने उरामादेशस्य तद्व्यक्तिवद्भायोऽर्थाद् वरामभावो न, ततो यून इत्यादौ त्रिविक्रमादिः सिद्धः। लूनीत्यादौ तरामस्थाने नरामादेशस्य तद्व्यक्ति-वद्भावोऽर्थात् तरामभाव इष्टः। तेन हि ख्य-त्याभ्यामित्यादिना ङसिङसोरस्य उच् सिद्धः।

मघवानिति तु कालापा इत्यत्र तु शब्दो मतभेदेन सारस्य द्योतकः। ननु भट्टि प्रयोगेऽपि मघवानिति पददर्शनात् कथमसारस्यत्वमिति चेत्तत्र सङ्गतिं करोति—मघवतु शब्दोऽप्यस्तीति। तस्यैव प्रयोगोऽयं भट्टौ नतु मघवन् शब्दस्य। उभावपीन्द्र वाचिनौ। तदेव द्रढयति प्राचीन प्रमाणैः—मघवद् वज्रलज्जानिदानमित्यादिभिः। प्राचीन प्रमाणद्वये मघवतुशब्दस्यैव प्रयोगो नतु मघवन् शब्दस्य, तत्र तराम-नुमोरप्रसङ्गात्।

अमृता०—११६. धातोरिति। रवतउत्तरं विष्णुजने परे सति धातुसम्बन्धिनोः रवाभ्यां पूर्वयोरिरामोरामयो स्त्रिविक्रमः स्यात्। यदि धातोरिदतीः परस्यः ररामो

ग्रहणमिति न्यायाङ्गीकारेण युवतीत्यादिषु वस्य उः स्यादिति ज्ञेयम्। युवतीति ईवन्तम्। वस्येति तारामनिर्देश इति तस्मादरामसहित वरामस्य उर्भवतीति। ननु यून इत्यत्र लुल-वुष् इतिवदुरामे कृते धातुश्रुतुःसनस्येयुवावित्यनेन उवादेशः कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्रैवम् आदेशः स्थानिवत् क्वचिदिति न्यायेनात्र उरामस्य पूर्ववराम-व्यक्तिवद्भावो मन्तव्यस्तत्र तु न सौ। अस्माकं मते मघवेति। मघवानिति तु कालापा वदन्तीति शेषः। मघवानिति पदं न विरुद्धमिति भट्टिप्रयोगं दर्शयति हरिर्जक्षितीति। मघवन्शब्द इन्द्रवाचकः। यदि मघवानित्यविरुद्धं, तर्हि अस्माकं मते तत्कथं भवत्विति चेत्तत्राह,—मघवतुशब्दोऽप्यस्तीति सोऽपीन्द्रवाचक एव। मघवतुशब्दसद्भावे हेतुमाह मघवद्वज्रेति॥११५॥

बाल०—धातोरव। रवतः परवर्त्तिनि विष्णुजने परे धातुः सम्बन्धिनोः रवाभ्यां

मात्रं गृह्यते न केवलस्वादयः। कुरादिनिषेधान्नाम्नोऽन्यत्रापि ज्ञेयम्। ततः शसि प्रतिदीव्नः। प्रतिदीव्ना।

अरामहरस्य निमित्तत्वं मत्वैवात्र त्रिविक्रम विधानम्, ततो नासिद्धत्वम्। प्रतिदिवभ्याम्। तदेतत् प्रक्रियाकौमुद्यादौ। अन्येतु प्रतिदीव्नो नस्य विष्णुसर्गो विष्णुपदान्ते इति मन्यन्ते। प्रतिदिवा प्रतिदिवोभ्याम्।

वरामो वा विष्णुजनेन सह सत्सङ्गः स्यात्तदैव इरामस्य उरामस्य वा त्रिविक्रमो भवतीति फलितार्थः। न कुर छरेत्यादि किम्—कुर्वः छुर्यते; नामधातौ—चतुर्यति गिर्यति; तद्धित ये—धुर्यं दिव्यमित्यादौ न त्रिविक्रमः। इसरोः अविष्णुपदार्थमेतत्। विष्णुपदान्तार्थमग्रे वक्ष्यते। रवतो विष्णुजने इति किम्—प्रतिदिवा।

अत्रेति—अत्रधातुसम्वन्धीयलक्षणे पाठाद् विष्णुजन परत्वं नाम्नो धातो र्वा स्वादेस्तिवादे र्वा ज्ञेयम्। अतएव त्रिविक्रममनेनहि सेत्स्यति। धातोरित्येव, तेन निर्गुणः चतुर्धा इत्यादौ न त्रिविक्रमः।

नासिद्धत्वमिति—क्वचिदन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धमिति नासिद्ध स्त्रिविक्रमः, तं प्रति अरामहरस्य निमित्तत्यमननात्। अत्रोभयकार्यस्य प्रकृताश्रितत्वेऽपि पूर्वस्य कार्यस्य त्रिविक्रमस्य वलवत्ता, प्रकृतावपि पूर्वपूर्वमन्तरङ्गमित्युक्तेः। अनोऽरामहरासिद्धे तु स्थानिवत्त्वात् तद्व्यवधाने त्रिविक्रमो नैव सिध्येत्। नत्वेवं स्थानिवत्त्वाभावे छस्यशो वस्य ऊठित्येव कथं न प्रवर्त्तत इति शङ्क्यम्, उभयोः प्रकृताश्रितत्वेऽपि वरामात्पूर्ववर्त्तिन इरामस्य त्रिथिक्रमविधेरेवान्तरङ्गत्वेन वलवत्त्वात्।

पूर्वयोरिरामोरामयोस्त्रिविक्रमो भवति। न कुर। कुर-छुर नामधातूनां त्रिविक्रमो न भवति। अतः कुर्वः कुर्मः कुर्यादित्यादौ छुर्यत इत्यादौ नामधातौ दिव्यति चत्तर्यतीत्यादौ। व्यतिरेकेण कुक्कुरायत इत्यादौ च त्रिविक्रमो न भवति।

न च। तद्धित ये च परे त्रिविक्रमो न भवति, अतः धुर्यं इत्यादौ त्रिविक्रमाभावः। रवत इति स्पष्टार्थमन्यथा येन न व्यवधानं सम्भवति, तेना व्यवधानेऽपि स्यादिति न्यायेनास्य व्यवधानेऽपीति प्रतिदिवानावित्यादौ त्रिविक्रमशङ्का स्यात्। किञ्च स्थान्यंशेऽनयोः सद्भावे एव निमित्तांशे सद्भाव उचितो विपरीते तु विपरीतस्तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानात्। एवं निमित्तांशेऽपि योज्यं तस्मादनयोः परतः परवर्त्तिनि विष्णुजने सति अनयोः पूर्वस्मिन् धातोरिदुतो स्त्रिविक्रमो भवति नान्यव्यवधानेन। रवप्रागिति किं विध्यति बुध्यति। धातोरिति किं निर्गुणः चतुर्द्धा बलिव्यवसितिः गुरुव्यवस्थाथुरित्यादौ न त्रिविक्रमेण भाव्यं कुरादिगणपठनानुरोधात् तत् उबु क्विप् उप् उभ्यां तृण-उब्जितेत्यादौ च ररामसाहचर्यादन्त्यस्थस्यैव ग्रहणादस्य त्वौष्ठत्वात् न विष्णुजन इति किं प्रतिदिवानौ। अत्रेति अत्र धातुसम्बन्धि-लक्षणे विष्णुजनस्य पाठात् विष्णुजनवर्णमात्रं गृह्यते। नाम्नोऽन्यत्रापि ज्ञेयमिति दीव्यतीत्यादौ त्रिविक्रमो भवति अरामहरस्येति प्रतिदीव् इत्यादौ अरामहरस्य निमित्तत्वं मत्वैव त्रिविक्रमविधानं कृतमिति क्वचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायेन अरामहरस्य

११७. पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन्नित्येषां नस्य हरः सौ ।

११८. पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्णस्थाने, थात्पूर्वं नुक् च ।

अविष्णुपदान्तस्येति विष्णुचक्रस्य हरिवेणुरिति । अत्र नागरलिपावप्य-विष्णुपदान्ते यद्विष्णुचक्रं तन्नोचितम् । पन्थाः पन्थानौ पन्थानः । पन्थानं पन्थानौ --

११९. पथ्यादीनां संसार हरो भगवति ।

पथः पथा । एवकारेणैव सर्वत्र नियमान्नामान्तस्य नस्य हरः । तेन पथिभ्याम् पथिभिः । एवं मन्थाः मन्थानौ मन्थानः । ऋभुक्षा ऋभुक्षाणौ ऋभुक्षाणः । अथ शार्ङ्गिन्

अमृता०—११७. पथिनिति । सौपरे पथिन् ऋभुक्षिन् शब्दानां नरामस्य हरः स्यात् । नच नामान्तस्येत्यादिनाहि सिद्धे व्यर्थमिदमिति वाच्यं, प्रक्रिया विपर्यय दोषात् । कृतेतु सर्वत्र प्रथमं नलोपे राजन् शब्दस्य राजाः इत्येवं सविष्णुसर्गं रूपमपद्येत, तत्त अनिष्टमिति प्रागुद्दिष्टम् ।

अमृता०—११८. पथ्यादीनामिति । कृष्णस्थाने षरे पथ्यादि त्रयाणामिरामस्य आरामः स्यात्, आद्ययोः थात् पूर्वं नुमागमश्च स्यात् । आगमत्वेन—आरामात् परं नुकि प्राप्ते थात्पूर्वमिति विशेषोक्तिः । अविष्णुपदान्तस्येत्यादिना नस्य विष्णुचक्रं, ततो विष्णु चक्रस्य हरिवेणुः, सररामयोरिति विष्णुसर्गे पन्थाः ।

अमृता०—११९. पथ्यादीनामिति । भगवति परे पथ्यादि त्रयाणां संसारहरः स्यात् । ननु पथ्यादीनां सौ पृथक्लक्षणेन नलोपविधानात् तदन्यत्र तद्विधानवलादेव नस्य लोपो नभवतु इति चेत्तत्र समाधत्ते—एवकारेणैवेति । एवकारेण हि सर्वत्र नियमो भवति, अत इहसूत्रे एवकाराभावान्नियमाभावः । तेननामान्तस्येत्यादिसामान्यविधिना नरामहरः स्यादेवेत्यर्थः । ऋभुक्षा इन्द्रः । मन्थाः मन्थनदण्डः । बुद्धेच हेपन्थाः ।

नासिद्धत्वम् । तदिति तदेतत् दर्शितं रूपं मतं वा प्रक्रियाकौमुद्यादौ सम्मतमिति शेषः । अन्ये तु प्रतिदीव्नो नस्य विष्णुसर्गो विष्णुपदान्ते इति मन्यन्ते । तन्मते प्रतिदिवा प्रति-दिवोभ्यामिति प्रतिदिवा इति प्रथमतस्त्रिविक्रमस्ततः सोर्हरः ततो नस्य विष्णुसर्गः ।।११६।।

बाल०—पथिन् ।।११७।।

बाल०—पथ्या । अविष्ण्वति अविष्णुपदान्तस्य नस्य मस्य च विष्णुचक्रं वैष्णवे इत्यनेन विहितस्य विष्णुचक्रस्य स्थाने विष्णुचक्रस्य हरिवेणुर्विष्णुवर्ग इत्यादिना हरिवेणु-रिति । यत्रेति नागरलिपौं नागरालेखने ।।११८।।

बाल०—पथ्या । ननु पथिन् मथिन् इत्यादि लक्षणस्य पृथक्करणात् पथिभ्या-मित्यादौ नामान्तस्येत्यादिना नलोपो न भवत्विति चेत्तत्राह—एवकारेणैवेति एवकारणैव सर्वत्र नियमः, अत एवकाराभावेन नियमाभावात् नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः स्यादेवेति ।

१२०. इन् हन् पूषन् अर्यमन् इत्येषामुद्धवस्य त्रिविक्रमः सुश्योरेव ।

शार्ङ्गी शार्ङ्गिणौ शार्ङ्गिणः । शार्ङ्गिणम् शार्ङ्गिणौ शार्ङ्गिणः । शार्ङ्गिभ्याम् हेशार्ङ्गिन् । एवंवनमालिन् हलिन् दण्डिन् । हनिति हन्धातुः । ततःकंसहन्—कंसहा कंसहनौ कंसहनः । कंसहनम् कंसहनौ; वमसत्-सङ्गहीनस्येत्यरामहरः ।

१२१. हनो हस्य घो णिन्नयोः ।

कंसघ्नः । कंसघ्ना कंसहभ्याम् । ङौ कंसहनि कंसघ्नि । हेकंसहन् । एवं पूषा पूषणौ । पूष्णि पूषणि, पूषिचेत्येके । अर्यमा अर्यमणौ । संख्या शब्दाः पञ्चन् प्रभृतयो नित्यवहुवचनान्ताः त्रिषुसरूपाः । षणान्त संख्यातः कतेश्चेति । पञ्च पञ्च पञ्चभिः पञ्चभ्यः ।

१२२. रषणान्तसंख्याभ्यो नुडामि स्वार्थे ।

अमृता०—१२०. इनिति । इन्नन्तस्य, क्विवन्तहनधातोः, पूषन् अर्यमन् शब्दयोश्च उद्धवस्य त्रिविक्रमः स्यात् सुश्योरेवपरयो र्नान्यत्र । नान्तेत्यादिना कृष्णस्थाने परे त्रिविक्रमे प्राप्तेऽयं नियमः । इह नियमसूचनार्थ एवशब्दः । सौशौ चैवेत्यर्थः । तेनशार्ङ्गिणौ इत्यादौ न त्रिविक्रमः । पूषा अर्यमा च सूर्यः । एवं इन् विन् प्रत्ययन्ताः गुणिन् स्रग्विन् प्रभृतयः ।

अमृता०—१२१. हन इति । णइत् यस्य सणित् । णिच्च नश्च णिन्नौ तयोः । णिति प्रत्यये नरामे वा परे हनधातो र्हराम स्थाने घराम आदिश्यते । हन् इति धातुग्रहणात् शब्दस्य निरासः । तेन अह्न इत्यादौ नघत्वम् । णिति—आख्यातादौ जघानेत्यादि । हस्येति अराम उच्चारणार्थः । तेनवमसत्सङ्गहीनस्येत्यादिना हन अरामहरे सतीह नराम परत्वम् । आख्यातादौ तूद्धवादर्शनात् नरामपरतैव—घ्नतीत्यादौ । तस्मादराम व्यवधाने तु न, हननमित्यादौ । तथा णिति चारामव्यवधाने न—वृत्र हनमाचष्टे इत्यर्थे णौ वृत्र-हयतीति । पूषि चेत्येक इति—तन्मते ङौपक्षे अनएव लुग्भवति नतु तदरामस्य । पञ्चन्-प्रभृतय स्त्रिषु लिङ्गेषु सरूपाः समानरूपाः । कतेश्चेतीति—जस्शसो र्महाहर इति शेषः ।

अमृता०—१२२. रषेति । संख्या वाचिभ्यो रषणान्तशब्देभ्यः स्वार्थे नुडागमः स्यात् आन् प्रत्यये परे । तत्ररान्तः चतुर्, षान्तः षष्, नान्ताः—पञ्चन् सप्तन् नवन् दशन् शब्दाः । संख्याभ्य इति किम्—गिरां गुणिनाम् ।

बाल०—इन् हन् । नियमसूचनार्थमेवशब्दोपादानम् ।।१२०।।

बाल०—हनो हस्य । ण इत् । यस्य सणित् णिच्च नश्च णिन्नौ तयोः परयोः । पुषि चेत्येक इति तन्मते ङौ परे अनो लुग् भवति । संख्याशब्दाइति त्रिषु लिङ्गेषु । सरूपाः समानरूपाः । षणान्तेति जस्-शसोर्महाहरः ।।१२१।।

१२३, नान्तोद्धवस्य त्रिविक्रमो नामि ।

पञ्चानां पञ्चसु । एवं सप्तन् अष्टन् नवन् दशन् ।

१२४, अष्टनआविष्णुभक्तिषु वा ।

१२५, तस्मात् जस् शसो रौश् स्वार्थे ।

शइत् । शित् सर्वस्येति न्यायेन शिदादेशः सर्वादेशः । अष्टौ अष्ट अष्टौ अष्ट अष्टाभिः अष्टभिः अष्टाभ्यः अष्टभ्यः अष्टाभ्यः अष्टभ्यः । पक्षद्वयेऽप्यष्टानाम् । अष्टासु अष्टसु । एवं परमपञ्च परमाष्टौ इत्यादि । अस्वार्थेतु—प्रियपञ्चा प्रियपञ्चानौ प्रियपञ्चानः । भगवति—पियपञ्च्ञः इत्यादि । आमिप्रियपञ्च्ञाम् ।

अमृता०—१२३. नान्तेति । संख्येत्यनुवर्त्तते । संख्यावाचिनां नान्तानामुद्धबस्य त्रिविक्रमः स्यात् नामि प्रत्यये परे । इह लोपानन्तरं वामनस्य त्रिविक्रमो नामीति नप्रवर्त्तते नलोपस्यासिद्धत्वात् । तस्मादद्धात्ते विधानमेतत् । नच संस्यानान्तोद्धवस्य त्रिविक्रम नामोति कृतेऽभीष्टसिद्धे नान्तान्नुड् विधानं, पुनश्च नरामहर इत्येवंप्रक्रिया गौरवमिति वाच्यम्; अष्टानामित्यत्र "अष्टन आ" इत्यारामे कृते नुड्विधानाभावात् अष्टानामिति तथा अस्वार्थे प्रियपञ्चानामिति चानिष्टरूपमापद्येत। पञ्चानामिति–रषणान्तेति नुट्, नान्तोद्धवस्येति त्रिविक्रमः, पूर्वस्य विष्णु पदवत्त्वान्नातान्तस्येति नरामहरः । अत्र विष्णुजनादि प्रत्ययं 'नाम' निमित्ततया गृहीत्वैव नलोपः क्रियते अतो न तस्यासिद्धत्वमिति विवेच्यम् । अत्राकरणात् सन्निपात लक्षण विधिस्तु नेष्टः ।

अमृता०—१२४. अष्टन इति । एकवर्णविधित्वादष्टन्शब्दस्य नराम स्थाने आरामो वादिश्यते विष्णुभक्तौ परस्याम् । विष्णुभक्ताविति किम्—अष्टत्वम् ।

अमृता०—१२५. तस्मादिति । अष्टन्शब्दस्य विहितारामादुत्तरयोर्जस्शसोः स्थाने औश् भवति स्वार्थे । पक्षद्वयेऽप्यष्टानामिति—ननुआदेशपक्षे तस्यनित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्च प्रागेवात्वेकृते नान्तत्वाभावान्नुटोऽप्रवृत्तेः "अष्टामि" त्येव रूपं भवितु मर्हतीति चेन्न, परिभाषा क्रमविपर्ययात् । यथाहि—विष्णुभक्तिस्विति समग्रव्यापोह्यारामादेश इत्यसौ सामान्यः, "नुड़ामि" इत्येकदेशव्यापीति विशेषएषः । एवंस्थिते पूर्वपरयोः परविधि र्बलवानित्यादौ—"तेषुचोत्तरोत्तर" इत्यनेन नित्यादन्तरङ्गादपि विशेष (अपवाद) विधे

बाल०—रष ॥१२२॥

बाल०—नान्तौ । ननु मान्तात् कथं नुड्विधीयते पञ्चानामित्यादीनां संख्यानान्तोद्धवस्य त्रिविक्रम आमीति कृते सिद्धत्वादिति न वाच्यं अस्वार्थे प्रियपञ्च्ञामित्यत्र प्रियपञ्चानामित्यनिष्टरूपं स्यात् । अष्टानामित्यत्र 'अष्टन् आ विष्णुभक्तिषु वे'त्यनेनारामे कृते अष्टामिति च स्यात् ॥१२३॥

बाल०—अष्ट । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तते इति नरामस्यारामः ॥१२४॥

अष्टनः परार्थत्वेऽप्यात्वं वा नत्वौश् । प्रियाष्टा प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः । भगवति विश्वपा वदेव—प्रियाष्टः । आमि प्रियाष्टाम् । पक्षे प्रियाष्टा प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः । भगवति—प्रियाष्ट्नः । आमि प्रियाष्ट्नाम् ।

अर्वन् अर्वा ।

१२६, अनञ्पूर्वस्यार्वणोऽर्वतृ सुंविना ।

चतुर्भुजानुबन्धानां नुम् ।

१२७, नवर्जतवर्गस्थस्य नस्य न णत्वम् ।

अर्वन्तौ अर्वन्तः । अर्वन्तम् अर्वन्तौ अर्वतः । अर्वता अर्वद्भ्याम्, हेअर्वन् ।

र्वलवत्त्वं निर्द्धारितमस्ति सन्धि प्रकरणे । तस्मादिह प्रथमं रषणान्तेति नुटि कृते, आत्वे चाष्टानामित्येव सिद्धम् । अनादेशपक्षेऽपि नुट्, नान्तोद्धवस्येति त्रिविक्रम स्ततो नामान्तस्य नस्यहरः । परमपञ्चेति—परमाश्चतेपञ्च चेति विग्रहः । इहसंख्यायाः प्राधान्यमिति तदन्तविधिः । प्रियपञ्चेति—प्रियाः पञ्च यस्य सः । गौणत्वात् संख्याया अप्राधान्यमिति अस्वार्थता । भगवति प्रियपञ्च्ञइति—वमसत्सङ्गहीनस्येति अनोऽरामे हरेतवर्गस्य चवर्गः । प्रियपञ्च्ञामिति—अस्वार्थत्वान्ननुम् । एतच्च काशिका सुपद्मादि सम्मतम् । दीक्षित–दुर्गादासौ तु प्रियपञ्चां प्रियपञ्चानामिति साधयतः । अष्टनः परार्थत्वेप्यात्वमिति—आरामविधानसूत्रे स्वार्थशब्दाग्रहणात् । नत्वौशिति—औश् विधायक सूत्रे स्वार्थपद-निवेशात् । भगवति प्रियाष्टन् इति—अत्राप्यनोऽरामहरः । इहतवर्गस्य (नस्य) टवर्ग युक्तत्वेऽपि न टवर्गत्वम् अन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे वहिरङ्गस्यारामहरस्यासिद्धत्वात् । उभयाश्रितत्वेन अरामहरस्य वहिरङ्गता, केवलप्रकृत्याश्रितत्वेन णत्वत्यान्तरङ्गता ज्ञेया ।

अमृता०—१२६. अनञिति । सुंविनेतरप्रत्ययेषु नञ्पूर्वभिन्नस्यार्वन् शब्दस्य अर्वतृ इत्येवमादेशोभवति । ऋराम इत् नुमर्थः । प्रत्ययेष्विति व्याख्यानात् तद्धितेऽपिस्यादेवा-देशः, आर्वतमित्यादि प्रयोगसिद्धौ वामन-वोपदेव-दुर्गसिंहादीनांमतैक्यदर्शनात् । प्रत्यय इति किम्—समासेमाभूत्; तेन''सहस्रदृगर्वगर्व इति नैषधे श्रीहर्षः ।

अमृता०—१२७. नवर्जेति । ववर्गस्थस्य नस्य ररामादेरुत्तरं प्राप्त णत्वं न स्यात् । तवर्गान्तो यो नराम स्तत्र स्थितस्य नरामस्य स्यादेवणत्वं क्षुण्णमित्यादौ । अर्वन् शब्दो

बाल०—तस्मात् । तस्मादरामात् परयोर्जस्शसोः स्थाने स्वार्थे औश् भवति । शिदित सर्वादेशः । परमपञ्चेति परमाश्च ते पञ्च चेति विग्रहः । एवं परमाष्टाविति प्रिय-पञ्चेति प्रियाः पञ्च यस्येति विग्रहः । अष्टन इति परार्थत्वेप्यत्वं वेति आरामविधानसूत्रे स्वार्थशब्दोपादानाभावादिति शेषः । न त्वौशिति औश् विधानसूत्रे स्वार्थशब्दोपादाना-दिति शेषः ।।१२५।।

बाल०—अनञ् । सुं विना विष्णुभक्तिषु परासु अनञ्पूर्वस्य अर्वन्शब्दस्य स्थाने अर्वतृ भवति ।।१२६।।

नञ् पूर्वस्य तु अनर्वा अनर्वाणौ। कृष्णगुप् तस्य पुंसि—कृष्णगुप् कृष्णगुव् कृष्णगुपौ। मान्तः प्रशाम् तस्य पुंसि—

१२८. धातोर्मो नो विष्णुपदान्ते मवयोश्च।

अत्र झलि चेति तस्यां भ्रमः, संगस्यत इत्यादौ विधानवलान्नरामस्यैव स्थितिः स्यात्। प्रशान्। प्रशानो नस्य चादाविति ज्ञापकान्नस्य हरो नस्यात्। प्रशामौ प्रशामः। प्रशान्भ्याम्। चतुर् नित्यं वहुवचनान्त स्तस्य पुंसि—

घोटकवाची। कृष्णं गोपायति रक्षतीति कृष्णगुप् श्रीनन्दादिः। प्रशामिति—शमु उपरमे धातोः क्विपि हरिवेण्वन्तोद्धवस्येत्यादिना त्रिविक्रमः।

अमृता०—१२८. धातोरिति। विष्णुपदान्ते विषये मवयोश्च परयो र्धातो र्मरामस्य नरामादेशः स्यात्। विष्णुपदान्त इति किम्—प्रशामौ। मवयो र्यथा—जङ्गन्मि, जङ्गन्वः क्वति च क्वसौ—जगन्वान्। मवयोः किम्—प्रशाम्यति। धातोरिति किम्—इदम् किम्। एवं तमु दमु धात्वोः प्रताम् प्रदामौ। तस्यां भ्रम इति सर्वेषाममतत्वात्। अत्रदोषमपि दर्शयति—संगंस्यतइत्यादाविति। सम्पूर्वात् गम्लृ धातोः कल्कौ स्यते प्रत्ययान्तं पद-मेतत्। अविष्णु पदान्तस्येत्यादिना मरामस्य विष्णुचक्रम्। प्रकषेण शाम्यतीति प्रशान् भगवद्वाची।

ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कथं न स्यात् तत्रसिद्धान्तयति—प्रशान् इत्यादि। प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुरिति सन्धिसूत्रम्—प्रशाम् शव्दस्य विष्णु-पदान्ते विहित-नरामस्य हराभावं ज्ञापयति, अन्यथा नरामासद्भावे विधानवैफल्यं स्यात्। वस्तुत आदेशः स्थानिवत् क्वचिदित्यादौ वर्णानांतद्व्यक्तिबद्भावो यत्रमंस्यते तत्रैवेति न्यायादिहैव (मराम) स्थानिवत्त्वस्य न्याय्यत्वाद् विधानसामर्थ्याच्च नरामहरो न स्यात्।

नच वाच्यं—मरामहरस्य लक्षणविधानाभावात्तल्लोप प्राप्त्यर्थं मेव नरामविधान-मिति। विष्णुपदान्ते मरामहरस्य पृथग्विधाने कृतेहि तत्सिद्धेः नरामं विधाय तुनस्तल्लोपस्य प्रक्रियागौरवात्। "नत्वस्यासिद्धत्वान्न नकार लोपः" इति काशिका च। प्रशान्भ्यामित्यादौ पदान्तत्वान्नविष्णुचक्र-हरिवेणू।

बाल०—नवर्जं। सुगमम् ॥१२७॥

बाल०—धातोः। विष्णुपदान्ते विषये मवयोश्च परयोः। अत्रेति झलि चेति तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमः सर्वेषाममतम्। दोषमप्याह संगस्यत इत्यादाविति विधानवलात् विधानसामर्थ्यात्। गंस्यत इति गम्लृ सृप्लृ गतौ कन्किस्यते अवि०ुपदान्तस्येत्यादि-नामस्य विष्णुचक्रम्। यद्यत्र नरामः स्यात्, तदा तस्यैव स्थितिः स्यात् अन्यथा झलीति तद्विधानमनर्थकं भवतीति प्रशान्भ्यामित्यादीनां प्रक्रियाकौमुदीमतेऽपि विष्णुपदत्वेनैव सिद्धिरिति ज्ञेयम्। ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कस्मान्न भवतीति

१२६. चतुरनडुहोराम् कृष्णस्थाने बुद्धेत्वम् ।

मइत् । चत्वारः चतुरः । विष्णुसर्गे कृते पुनारराम:—चतुर्भिः चतुर्भ्यः । रषणान्तेति नुट् चतुर्णाम् ।

१३०. ररामस्य नविष्णुसर्गः सुपि ।

चतुर्षु । प्रियचतुर् —प्रियचत्वारौ प्रियचत्वारः । अस्वार्थादामि न नुट् प्रियचतुराम्, हेप्रियचत्व. । हल् शब्दस्य सुपि हल्षु । अभ्रतीति क्विपि अभ्र् शब्दात् सौ सत्सङ्गान्त हरे अप् अव् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति तस्यां कल्पितम् ।

दैत्यवृश्चमाचष्टे इति ण्यन्तात् विवप् प्रत्ययः । दैत्यव् दैत्यवौ ।

अमृता०—१२६. चतुरिति । कृष्णस्थाने चतुर् अनडुह् शब्दयोः आमामम: स्यात् । बुद्धस्य कृष्णस्थानत्वात् तत्राप्यामि प्राप्ते अमिति विशेष विधानम् । आमो मरामेत्त्वात् चतुर् इत्यस्य उरामात् परं स्थितिः । चतुर्भिरित्यादौ सररामयोरिति विष्णुसर्गेकृते, अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन पुनश्च ररामः । शामि—ररामात् सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विनेतिद्वित्वेचतुर्ण्णाम् । अधातुत्वादुकारस्य न दीर्घता ।

अमृता०—१३०. ररामस्येति । सुपि विष्णुभक्तौ स-र-रामयोरित्यनेन प्राप्तो यो विष्णुसर्गः सतु नस्यात् । चतुर्ष्विति—ररामात्सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विनेति निषेधात् षस्य न द्वित्वम् । हेप्रियचत्वरिति—बुद्धेअम्विधानात् । बहुवचनातत्वाच्चतुर्शब्दस्य स्वार्थे तु बुद्धत्वं नसम्भवेदित्यस्वार्थे दर्शितम् । तदन्तविधेरिष्टत्वात् परमचत्वा इत्यादि । आमितु नुडेव—परमचतुर्णामिति ।

हल्ष्विति—ईश्वरेत्यादिना षत्वम् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति-सत्सङ्गान्यस्य हर इत्यत्र यणः (हरिमित्राणाम्) सत्सङ्गान्तत्वे सति लोपस्य निषेध इति मतं प्रक्रियाकौमुद्यां स्वकल्पितम्, कुत्राप्येवमदर्शनादिति भावः । अभ्रतीति—मेघवाची अभ्रशब्दः । तस्मात् यइवाचरतीत्यर्थे क्यङः क्विप्; अराम हरोरामधातुके, पुनः कृत् क्विपि अभ्र् शब्दो-निष्पन्नः । दैत्यविति—अनेकसर्वेश्वरस्य संसार हर इतिणौ संसारहरे—दैत्यविधातोः क्विप् । ततो णेर्हरे क्विपो लोपेच दैत्यव् । विरामे न हरिकमलं, विष्णुदासत्वाभावा-दन्तस्थवस्य ।

चेत्तत्राह प्राशान इति यद्यत्र नस्य हरः स्यात्तदा प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुरिति सूत्र-मनर्थकं स्यात्तस्मान्नात्र नस्य हरः ॥१२८॥

बाल०—पुनर्राम इति अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन ॥१२६॥

बाल०— ररामस्य । सुपि परे हल्स्विति । ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना षत्वम् । यल इति यलो हरिमित्रस्य लुक् प्रतिषेधो वाच्य इति अब्भ्रशब्दस्य ररामहरो न भवतीति तु मतं तस्यां कल्पितमेव, नतु पूर्वाचार्यस्य सम्मतम् । दैत्येति अनेकसर्वेश्वरस्य संसारहर

१३१. यवयो र्विष्णुपदान्तयोर्हरो गोपाले ।

नवयो र्हर इति दैत्यभ्यां दैत्यभिः दैत्यव्षु ।

१३२. सर्वेश्वरे तु विकल्पः; हरेसति पुनर्न सन्धिश्च ।

दैत्यआयाति दैत्यवायाति । प्रच्छ्धातोः क्विवन्तः शरामान्तः कृष्ण-प्राश् । कृष्णप्राट् कृष्णप्राशौ कृष्णप्राच्छावित्येके । एवं वाञ्छेर्वानिश् । हरविधेर्नित्यत्वात् वान्, वांशौ वांशः । वाञ्छावित्येके । कृष्णस्पृश्, कृष्णस्पृक् कृष्णस्पृशौ ।

उदकपूर्वत्वेतु—उदकस्पृट् । षरामान्तो दधृष् । दधृक् दधृशौ । कंस-द्विष् । षस्यडः, कंसद्विट् कंसद्विड् कंसद्विषौ ।

षष् नित्यंबहुवचनान्तः । षणान्तेति,—षट् षड् षड्भिः षड्भ्यः । रषणान्तेति नुट्, षस्यडः ।

अमृता०—१३१. यवयोरिति। गोपालेपरे विष्णुपदान्तस्थितयोर्यरामवरामयोर्हरः स्यात् । विष्णु पदान्तयोरिति किम्—अय्यते मव्यते । नवयोर्हर इति कृष्णसंज्ञा न वाच्येति शेषः । तेन दैत्यभ्यामित्यादौ न त्रिविक्रमः । दैत्यव्ष्विति हरिमित्रात् षत्वम् । गोपालपरत्वाभावान्नहि वलोपः ।

अमृता०—१३२. सर्वेश्वर इति । सर्वेश्वरे परेतु विष्णुपदान्तयो र्यवयो र्हरो वा भवति, हरपक्षे सन्धि निषेधश्च भवति । कृष्णप्राशिति—प्रच्छधातोः क्विप् प्रच्छादीनां त्रिविक्रमः, छस्यशो वस्य ऊठित्यादिना छस्य शत्वे कृष्णप्राश् शब्दः । सौ कृष्णप्राडिति—छशोराजेत्यादिना शस्य षः, ततः षस्य डोविष्णु पदान्त इति षस्य डः, पक्षे हरिकमलश्च कृष्णप्राट् । एवंविश् प्रभृतिः । वान्शिति—वाछिइच्छायाम् धातोः क्विप् । इरामेद्धातो र्नुम्, छस्यशोवस्य ऊठित्यादिना छरामस्य शरामः । हर विधेर्नित्यत्वादिति—वान्श्-शब्दस्य शरामस्य छशो रित्यादिना षत्वे कृते न कृतेच सत्सङ्क्रान्तस्य हरो भवत्येवेति तस्य नित्यता । कृष्णस्पृगिति—स्रजदिशित्यादिना शस्य कः । एवं दधृक् । षणान्तेति—जस्शसो र्महाहर इतिशेषः ।

इत्यनेन संसारहरः । दैत्यवित्यत्र वरामस्य विष्णुदासत्वाभावात् पक्षे हरिकमलत्वाभाव इति ॥१३०॥

बाल०—यव । सुगमम् । यवयोर्हर इतीति । यवयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्येति दैत्य-भ्यामित्यादौ न त्रिविक्रमादि । दैत्यव्ष्विति ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना षत्वम् ॥१३१॥

बाल०—सर्वे । विष्णुपदान्तयोर्यवयोः सर्वेश्वरे तु परे हरो भवति । हरे कृष्ण-प्राशिति प्रच्छधातोः क्विप् प्रच्छादीनां त्रिविक्रमो न च सङ्कर्षण इति त्रिविक्रमं सङ्कर्षण-निषेधश्च । 'छस्य शो वस्य उट् हरिवेणौ क्वौ कंसारि वैष्णवे च' इति छस्य शः ।

१३३. नित्यं हरिवेणुविधिः प्रत्ययहरिवेणौ ।

मयट्येवेति तस्यां भ्रमः ।

१३४. षात् परस्य टवर्गयुक्तस्य च तवर्गस्य टवर्गः, नतु विष्णु-पदान्ताट्टवर्गादनाम-नवति-नगरीणाम् ।

तेननामष्टवर्गत्वं —षण्णां षट्सु । नवति-नगर्योष्टवर्गत्वम् षण्णवति षड्णवति; षण्णगर्यः षड्णगर्यः ।

अमृता०—१३३. नित्यमिति । प्रत्ययहरिवेणौ परे हरिवेणुविधि र्नित्यंभवति । हरिवेणौ हरिवेणु र्वेत्यनेन विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थमिदम् । अनेन डरामस्य णरामः । तस्यां भ्रमइति—मयटि प्रत्यये एव नित्यत्वविधानेन सुपिअव्याप्तेरत्र षड्णामिति पाक्षिकतायां दोष इत्याशयः ।

अमृता०—१३४. षात्परस्येति । षात् परस्य तवर्गस्य, टवर्गयुक्तस्य च तवर्गस्य टवर्गोभवति । विष्णुपदान्तादुत्तरस्य नाम-नवति-नगरीभिन्नस्य तु तवर्गस्य टवर्गो न भवति । नामिति नुटासहामो निर्देशः । तेनविष्णुपदान्ते नामादिवर्जस्यैव निषेधात् तेषां तु टवर्गत्वं स्यादेव । तत्र षात्परस्य तवर्गस्य टवर्गोयथा—पेष्टा कृष्ण इत्यादि । टवर्ग-युक्तस्य यथा—अड्डति, कंसजिट्टीकते, अग्निचिड्डीनः, चक्रिण्ढौकसे इत्यादि । विष्णु पदान्ताट्टवर्गात्तु नानादि त्रयाणामेव टवर्गत्वं नान्येषाम् । षण्णमिति—षस्य डत्वे, टवर्ग-युक्तस्य नामो नस्य णत्वे च नित्यं हरि वेणुविधिरिति पूर्व डरामस्य णत्वम् । नवति-नगर्योः प्रत्ययत्वाभावाद् विभाषयैव हतिवेणुविधिः । षण्नरः षड्नर इति—षट् च ते नरश्चेति श्यामरामः । नर इति नृशब्दस्य जसो रूपम् । विष्णु पदान्तत्वात् नामादिभिन्नत्वाच्च नरइत्यत्र न णत्वम् । प्रत्ययाभावान्नापि नित्यं हरियेणुविधिः । अत्र षण्नरः स्थले षण्नव षड्नवेति पाठश्च क्वचित्; तदा षड्गुणिता नव षण्नवेति विग्रहः ।

कृष्णप्राडिति छशोराजे'त्यादिना शस्य षः, 'षस्य ड' इत्यादिना षस्य डः 'विष्णुदासे' त्यादिना डस्य टः । वान्शिति वाछि इच्छयोः इरामेत्यान्नुम् 'छस्य श' इत्यादिना छस्य शः । वानिति 'छशोराजे'त्यादिना शस्य षे कृतेऽपि षस्य हरो भवतीति षविधानात् पूर्वमेव 'सत्सङ्गान्तस्ये'त्यादिना शस्य हरो भवति । कृष्णस्पृगिति 'स्रज् दिश् दृशे'त्यादिना शस्य कः । दधृगित्यत्रापि तेनैव षस्य कः । 'षनान्ते'ति जस्-शसोर्महाहरः ।।१३२।।

बाल०—नित्यम् । प्रत्ययहरिवेणौ परे हरिवेणुविधिर्नित्यं भवति । 'हरिवेणौ हरिवेणुर्वे'त्यनेन विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थं सूत्रमिदम् । अत्रानेन डरामस्य णरामः ।।१३३।।

बाल०—षात् परस्य । षात् परस्य तवर्गस्य टवर्ग भूतस्य तवर्गस्य च स्थाने टवर्गो भवति । न तु । विष्णुपदान्ताट्टवर्गात् परस्य नाम-नवति नगरीभिन्नानां तवर्गस्य टवर्गो न भवति । तेनेति नसहित आम् नाम् तस्य नामः । षण्णव इति नाम-नवति-नगरीभिन्न-त्वान्न टवर्गत्वम् । ननु यद्यत्र टवर्गयुक्तस्येति कृतं, तर्हि कंसजिट्टीकत इत्सादीनि

नेह—षण्नरः षड्नरः। दतौ परवर्णें इत्यादीनि तु सन्धिमात्र सुबोधाय-पृथगुक्तानि। नतुविष्णुपदेत्यादौ विष्णुपदान्तग्रहण फलं घट्टिरित्यादौ दर्शयिष्यते। अस्वार्थत्वात् प्रियषषः प्रियषषाम् सजुष्।

१३५. सजुष् आशिष् इत्यनयोरिसुसन्तधातोश्चरो विष्णुपदान्ते, तस्य विष्णुसर्गश्च सुपि।

धातुग्रहणफलं समासकार्ये सषविधाने सर्पिष्काम्यतीत्यत्र वक्ष्यते।

ननु षात्परस्येत्यादि लक्षणेनैव सिद्धेः कथं मन्धौ कंसजिट्टीकते चक्रिण्ढौकसे इत्यादि सिद्धये दतौपरवर्णौ इत्यादि लक्षणप्रपञ्च इतिचेत्तत्राह—दताविति। आदिशब्देन—"डढणेषु णरामः", "प्रशानोनस्य चादौ हरिवेणु" रित्येतयोर्ग्रहणम्। उक्त लक्षणत्रयं प्रथमतः सुकोमलमतीनां विद्यार्थिनां सन्धिमात्र सुखबोधाय तत्रपृथगुक्तं, वस्तुतस्तु तत्सर्व-मनेनैव सिध्यतीत्यर्थः। घट्टिरिति—घट चेष्टायांधातोः—"क्तिर्लक्ष्म्यां भावे" इति क्तिप्रत्ययः। सूत्रे विष्णुपदान्तादेव टवर्गात् तवर्गस्य टवर्गत्व निषेधेन इहाविष्णुपदान्तात् टवर्गत्वमित्यर्थः। अस्वार्थत्वादिति—प्रियाः षट् येषां ते प्रियषषः, गौणत्वान्न जस-शसो-र्महाहरः। एवंमामि रषणान्तेत्यनेन नुट् च न। सजुषिति—जुष प्रीतिसेवनयो र्धातोः क्विपि जुष्, ततो जुषा सह वर्तत इति संजुष्।

अमृता०—१३५. सजुषिति। विष्णुपदान्ते सजुष् आशिष् शब्दयो स्तथा इसुसन्त धातोश्चान्तवर्ण स्थाने रःस्यात्। सजुषाशिषोर्धातुत्वेऽपि मूर्द्धण्यान्तत्वात् पृथगुक्तिः। तस्य ररामस्य सुपि परे विष्णुसर्गश्च स्यात्। ररामस्य न विष्णुसर्गः सुपीति निषेधे प्राप्तेऽयं विधिः। तत्र सहजररामस्यैव विष्णुसर्गं निषेधः चतुर्षु प्रभृतिषु। कृत्रिमत्वादिह तु स्यादेवेतिभावः। सजुषाशिषोः षस्य डो विष्णुपदान्त इतिप्राप्ते तदपवादार्थं रविधानम्, इसुसन्तधातोस्तूद्धवस्य त्रिविक्रमार्थं ज्ञेयम्। सर्पिष्काम्यतीति—सर्पिरिच्छतीत्यर्थे काम्य-प्रत्ययः। उक्तार्थानामित्यादि न्यायेन इच्छतेरप्रयोगः, ततः सर्पिस्काम्य इतिस्थिते विष्णुपदान्तत्वात् सरामस्य ररामः स्याद् यद्यत्रसूत्रे धातु ग्रहणं न क्रियेत। इह तु सरामस्य विष्णुसर्ग स्तस्यपुनः "काम्ये तु न-ररामजविष्णुसर्ग विनेति षरामः। सनाद्यन्तानाञ्च धातुत्वात् तिप् शवादयः।

प्रशाण्टीकत इत्यादीनि गरुत्मण्डयसे चक्रिण्ढौकस इत्यादीनि चानेनैव सिद्धयन्ति, तत् किमर्थं तत्सिद्धयर्थं सन्धिप्रकरणे लक्षणं कृतमिति चेत्तत्राह दताविति। टवर्गे परे दतौ परवर्णाविति। टठे परे प्रशानो नरामस्य हरिवेणुरिति। डढणेषु णराम इति लक्षणञ्च सन्धिमात्रसुबोधाय पृथगुक्तम्। वस्तुतस्तु अनेनैव सिद्धयन्तीति। न त्विति। न तु विष्णु-पदान्ताट्टवर्गादनाम-नवति-नगरीणामिति सूत्रे। घट्टिरिति घट चेष्टायाम्। 'क्तिर्लक्ष्म्यां भाव' इति क्तिः। यदि विष्णुपदान्तादिति न कृतं स्यात्तदात्रापि टवर्गो न स्यादिति। प्रियषष् इति प्रिया षट् येषां ते इति अस्वार्थत्वात् षनान्तेत्यादिना न जसशसोर्महाहरः। प्रियदषामिति अस्वार्थत्वात् रषनान्तेत्यादिना न नुट् ॥१३४॥

१३६. इरुरन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमो विष्णुपदान्ते ।

सजूः सजुषौ सजूर्भ्याम् सजूःषु, शौरित्वं सजूःष्षु । सनन्तधातोः क्विप्,–पिपठिष् । विष्णुपदान्तत्वान्निमित्तत्व निवृत्तेः षत्वापायः । पिपठीः पिपठिषौ पिपठिषः ।

पिपठीर्भ्याम् पिपठीःषु ।

एवं विश्वचिकीर्ष् । रात्सस्यैवेति—विश्वचिकीः विश्वचिकीर्षौ विश्वचिकीर्भ्याम् विश्वचिकीर्षु ।

अमृता०—१३६. इरुरन्तेति । विष्णुपदान्ते विषये इरुरन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमः स्यात् । नच धातोरवप्रागिदुतोरित्यादिना इरुरुद्धवस्य यस्त्रिविक्रमो विहितस्तेनैवेष्टसिद्धः किमनेनेति वाच्यम्; विष्णुजन सामान्यनिमित्तग्रहणादपदान्त एवासौ त्रिविक्रमइष्टः, इह तुपदान्त एवेति विशेषः । किञ्च सौ सजू; पिपठीः प्रभृति स्थले ह्यस्य सम्यक् चरितार्थता, एवमादिस्थले तस्याविषयत्वात् । सनन्तधातोरिति—पठितुमिच्छतीति वाक्ये सनन्त पिपठिष धातोः क्विपि अरामहरे पिपठिष् शब्दः । तदाअविष्णुपदान्तत्वादीश्वरहरिमित्रेत्यादिना सनः सरामस्य षत्वं जातम् । अथ विष्णुपदान्ते तन्निमितापायात् नैमित्तिकस्य षत्वस्यापाये पुनः सरामः, ततश्च रविधानं त्रिविक्रमश्च पिपठीः ।

विश्वचिकीर्ष्—अयञ्च शब्दः सनन्त विश्वचिकीर्ष् धातोः क्विपि सिद्धः । इहापि विष्णुपदान्तत्वेन षत्वापायात् विश्वचिकीर्स् इति पूर्ववत्; सौरात्सस्यैवेति सस्य हरः । ततो यावत्सम्भव स्तावद्विधिरिति न्यायेन धातो रवप्रागिदुतो रित्यादिना भूतपूर्वस्य त्रिविक्रमस्यापायः, विष्णुजनरूप निमित्तापायात् । पुनरिरुरन्तधातो रित्युद्धवस्य त्रिविक्रमो ररामस्यविष्णुसर्गश्च—विश्वचिकीः ।

बाल०—सजुष् । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तते इति अन्ते ररामो भवतीति । तस्य । तस्य ररामस्य स्थाने सुपि परे विष्णुसर्गः स्यात् । ररामस्य न विष्णुसर्गः, सु-पीत्यनेन प्रतिषेधे प्राप्ते विधानम् । सर्पिष्काम्यतीति सर्पिरिच्छतीत्यर्थे काम्यप्रत्यये कृते उक्तार्थानामप्रयोग इति न्यायेन इच्छतेरप्रयोगः । अन्तरङ्गेत्यादिना अमो महाहरः, ततः सर्पिष्काम्य इति स्थिते विष्णुपदान्तत्वात् सरामस्य ररामे प्राप्ते धातुग्रहणात् न तत् प्राप्तिस्ततः सरामस्य विष्णुसर्गः, काम्ये तु न ररामजविष्णुसर्गं विनेत्यनेन विष्णुसर्गस्य षरामः । ततो धातुसंज्ञत्वात् तिप् शप् ॥१३५॥

बाल०—इरुरन्त । शौरित्वमिति 'शौरिषु शौरिर्वे'त्यनेन । सनन्तेति सनन्तधातोः पिपठिषः क्विवन्तः पिपठिष शब्द इति । विष्णिति निमित्तत्वमविष्णुपदान्तत्वम् । विश्वचिकीरिति विष्णुपदान्तत्वात् षत्वापायः, रात्सस्यैवेति सत्सङ्गान्तस्य सस्य हरः, इरुरन्तेन त्रिविक्रमः, ररामस्य विष्णुसर्गः । विश्यचिकीर्ष्विति ररामस्य न विष्णुसर्गः सुपीत्यनेन विष्णुसर्गनिषेधः ॥१३६॥

१३७. सहजस्य मूर्द्धन्यजातकरामसम्बन्धिनश्च क्षरामस्य सत्-संगादिहरे डः अन्यस्य तु को वक्तव्यः, दिशिदृश्यनुदक पूर्वस्पृशि जातस्य च ।

तत्र सहजे गोरक्ष् । गोरट् गोरड् गोरक्षौ गोरक्षः । गोरड्भ्याम् गोरट्सु ।

१३८. रक्षे र्वा क इति केचित् ।

गोरक् । मूर्द्धन्यजे विश्विष्लृ धात्वोः सनि विविक्ष् —विविट् विविड् विविक्षौ विविक्षः । वह धातोर्वोढुमिच्छति विवक्ष् --विवट् विवड् विवक्षौ विवक्षः । अन्यस्य तु—वच धातो र्विवक्ष्—विवक् विवग् विवक्षौ । दहधातो र्दिधक्ष् —दिधक् दिधग् दिधक्षौ दिधक्षः । दिश्या-दीनाम् दिदिक् दिदृक् पिस्पृक् । मन्यन्ते च तदिदं पाणिनीयाः ।

अमृता०—१३७. सहजस्येति । सहजस्य स्वाभाविकस्य क्षरामस्य, मूर्द्धन्य वर्णजात करामसम्बन्धिनश्च क्षरामस्य सत्सङ्गादिहरे सति शेषस्व षरामस्य स्थाने डरामो भवति । तदन्यक्षरामस्य तु सत्सङ्गादिहरे षरामस्य करामो वाच्यः । दिश्यादिजात क्षरामस्य च सत्सङ्गादिहरे शेषस्य करामो वक्तव्यः । दिश्यादीनां मूर्द्धन्यजातक्षरामत्वात् डरामेप्राप्ते करामार्थं पुनर्ग्रहणम् ।

अमृता०—१३८. रक्षेरिति । रक्षेः सत्सङ्गादिहरे शेष षरामस्य करामो वा स्या-दिति केचिदाहुः । पक्षे डरामश्च । अयमत्रविमर्शः—रक्षि तक्षिभ्यां ण्यन्ताभ्यां क्विपि तु स्कोरिति नप्रवर्त्तते, णिलोपस्य स्थानिवद्भावादित्युक्त्वा केचित् सत्सङ्गान्तलोपं कुर्वन्ति । केचित् पुनः सहजत्वात् स्कोरित्यादिना सत्सङ्गादिलोपमेव मन्यन्ते । तदे-तन्मतभेदे केचिद्विकल्पमिच्छन्तीति मतान्तरं दर्शितम् । नात्रस्वमतत्वेन भ्रमितव्यम्, सहजत्वेनोदाहृतत्वात् ।

विविक्षिति—विश प्रवेशने सनि द्विर्वचनं, छशोरित्यादिना शस्य षः, षढोः कः से इति षस्य कः । ततः सनः सस्य षत्वं, कषसंयोगेक्षः । एवं विष्लृ व्याप्तावित्यस्यापि । विवक्षिति—सनि द्विर्वचने नरारामस्येरामः सनीति नरारामस्य इरामः अन्यत् पूर्ववत् । वचधातोर्वक्तुमिच्छतीत्यर्थे विवक्ष्; चवर्गस्येत्यादिना चस्य कः, षत्वमिति विशेषः ।

बाल०—सहजस्य स्वभावसिद्धस्य मूर्द्धन्यवर्णजातकरामसम्वन्धिनश्च क्षरामस्य सत्सङ्गादि हरे सति डो भवति । षरामस्य स्थाने डो भवतीत्यर्थः । अन्यस्य । अन्यस्य तु क्षरामस्य सत्सङ्गादि हरे सति को वक्तव्यः । दिशि । दिश्यादि जातस्य क्षरामस्य च सत्सङ्गादिहरे को वक्तव्यः ॥१३७॥

बाल०—रक्षेर्वेति रक्षधातोः क्षरामस्य सत्सङ्गादि हरे को वा भवतीति केचिन्मन्यन्ते । मन्मते गोरगित्यपि । विविक्षिति विश प्रवेशने सन् द्विर्वचनं छशोराजे-

कालापास्तु घकार चवर्ग स्थानिकादन्यस्य षढादि–स्थानिकस्यापि कस्य लोपमाहुः। तेन विवीरित्याहुः। पिस् धातोः सरामान्तः सुपिस्, तुस्धातोः सुतुस्। सुपीः सुपिसौ सुपिसः। सुतूः सुतुसौ सुतुषः। षत्वं सुपीः षु, सुतूः षु।

उरुश्रवस्। अत्वसन्तोद्धवस्येति त्रिविक्रमः, उरुश्रवाः उरुश्रवसौ उरुश्रवसः। उरुश्रवोभ्यां उरुश्रवःसु, हे उरुश्रवः। एवंविष्टरश्रवस् वेधस् इत्यादिः।* अथ दोष् उणादि प्रत्ययान्तः। दोः दोषौ दोषः। दोषम् दोषौ।

दिधक्षिति—दहभस्मी करणे द्विर्वनादि पूर्ववत्; दादेस्वधातोर्घ इतिहस्य घत्वं, जवर्ज हरिगदादे रित्यादिना दस्यधः, यादवमात्रे हरिकमलमिति घस्य क षत्वम्। दिदृक्षिति—दृशिर प्रेक्षण इत्यस्य। नरऋरामस्याराम स्ततो नरारामस्येराम इतिविशेषः। पिस्पृक्षिति—स्पृश संस्पर्शे इत्यस्य पूर्ववत्। उदकपूर्वत्वेतु—उदकस्पृडिति। एतानि पाणिनिसम्मतानि।

कालापास्तु षढादि स्थानिकस्य—मूर्द्धन्य जातस्येत्यर्थः; अपिकारात् सहजक्षरामश्लिष्टकरामस्य च लोपमेवाहुर्नत्ववशिष्टषरामस्य डरामादिविधानम्। तेन तन्मते विवीरिति हि सिध्यति। यथाहि—विष्लृधातोः सन् क्विवन्तात् विविक्ष् शब्दात् सु; षरामस्थानीयस्य कस्य लोपे निमित्तापायाद् नैमित्तिकस्य षत्वस्यापायः सुलोपः, ततो विविस् इति स्थिते इसुसन्तधातोरिति सस्य रः, इरुरन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमे ररामस्य विष्णुसर्गः—विवीः। सुष्टु पेषति गच्छति चूर्णयति वेति सुपीः। एवं सुष्टु तोसति खण्डयतीति सुतूः। सुपीः ष्विति—सजुषाशीषित्यादिना सस्यरः, इरुरन्तधातोरित्युद्धवत्रिविक्रमः, तस्य विष्णुसर्गश्च सुपीति ररामस्य विष्णुसर्गः। नुम्विष्णुसर्गव्यवधानेऽपीति विष्णुसर्ग व्यवधाने ऽपि षत्वमित्यर्थः। दोरिति—विष्णुपदान्तत्वात् षत्वापाये सस्य विष्णुसर्गः।

त्यादिना शस्य षः, षढो कः से इत्यनेन षस्य कः, शत्वं क ष संयोगे तु क्षः विषलृ व्याप्तावित्यस्मादपि सन्, द्विर्वचनं, 'षढोः कः से' इति षस्य कः, षत्वम्। विवक्षिति वह प्रापणे सन् द्विर्वचनं 'नरारामस्येरामः सनी'त्यनेन नरारामस्येरामः। 'हस्य ढ' इत्यादिना हस्य ढः, 'षढोः कः स' इति ढस्य कः षत्वम्। विविक्षिति वचपरिभाषणे सन्, द्विर्वचनं, नरारामस्येरामः, चवर्गस्येत्यादिना चस्य कः, षत्वम्। दिधक्षिति दह भष्मीकरणे सन्, द्विर्वचनं नरारामस्येरामः, दादेस्तु डातोर्घः इति हस्य घः, जर्वजहरिगदादेरित्यादिनादस्य धः, यादवमात्रे हरिकमलमिति घस्य कः, षत्वम्। दिदिगिति दिदिक्षशब्दस्य रूपं दिदिक्षिति। दिश अतिसर्जने सन्, द्विर्वचनं, छशोराजेत्यादिना शस्य षः, षढोः कः स इति

---

* एवं चन्द्रमस् प्रचेतस् दिवौकस् दुर्म्मनस् प्रभृतयो वेधस् शब्दवत्।

१३८. दोषो दोषन् यदुषु वा ।

वमसत्सङ्गेति अरामहरः । दोष्णः दोषः, दोष्णा दोषा दोर्भ्याम् दोषभ्यामित्यादि ।

पीतं वस्ते परिदधाति पीतवस् । धातुं विनेति त्रिविक्रमाभावः— पीतवः पीतवसौ । कंसंहिनस्तीति कंसहिंस् । अन्तरालपाठाद् विष्णु-चक्र-विष्णुसर्गयोः सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वञ्चास्तीति सत्सङ्गान्तत्वात् सस्य हरः । निमित्तापायान्नराम एव । धातु वर्जितेति विशेषणान्नात्र त्रिविक्रमः । कंसहिन् कंसहिसौ कंसहिन्भ्याम् । षत्वविधौ नुमा विष्णु चक्रमेव गृह्यते, ततो नेह षत्वं—कंसहिन्सु ।

वैकुण्ठध्वस्

अमृता०—१३८. दोष इति । सुगमम् । पीतमिति पीतंवस्त्रमित्यर्थः । वस्ते इति वसआच्छादने धातुरदादिः । अन्तरालपाठात् मध्ये पाठात् सर्वेश्वर-विष्णुजनयोरिति शेषः । सत्सङ्गान्तत्वात् सस्यहर इति—विष्णुचक्रस्यात्रविष्णुजनत्व मननात् सत्सङ्गान्तस्य सस्य हर इत्यर्थः । धातुवर्जितेति विशेषात्—नान्त धातुर्बजित जान्तसत्सङ्गेत्यादि लक्षणे इति शेषः । ननु कंसहिन्सु इत्यत्र नुमा व्यवधानेन कस्मात् षत्वं न ल्यादिति चेत्तत्र समादधाति—षत्वविधावित्यादिना । तत्र नुम् शब्देन विष्णुचक्रमेव लक्ष्यत इत्यर्थः अत्रतु विष्णुपदान्तस्य नुमो विष्णुचक्रत्वाभावान्न षत्वमिति मर्म ।

षस्य कः षत्वम् । दिदृगिति दिदृक्ष शब्दस्य रूपं दिदृक्षिति दृशिर् प्रेक्षणे सन्, द्विर्वचनं, नर ऋरामस्य राम इति नरऋरामस्यारामः, नरारामस्येरामः, छशोराजेत्यादिना शस्य षः, तनः षस्य कः, षत्वम् । पिस्पृगिति पिस्पृक्षशब्दस्य रूपं पिस्पृक्षिति स्पृश संस्पर्शे सन्, द्विर्वचनं नरऋरामस्यारामः, वरारामेस्येरामः, शस्त षः षस्य कः, षत्वं मन्यन्ते चेति तदिदं मतं पाणिनीयाश्च मन्यन्ते इति । कालापास्त्विति घकारचवर्ग स्थानीयात् ककारादन्यस्य षढादि स्थानीयस्यापि ककारस्य लोपम् आहुः, न तु क्षइत्यस्य संयोगादि लोपे डकारककारविधानं तेन ते विवीरित्याहुः । विवीरिति विशविष्लृधात्वोः सनन्तस्य विविक्षधातोः क्विवन्तस्य रूपम् अत्र ककारः यकारस्थानीयः । तन्मते कलोपे कृते सनः सस्य पूर्वं यत् सत्वं विहितं तस्य पदान्तत्वान्निवृत्तिर्भवति । ततः सस्य रः, ततो दीर्घः रस्य विसर्गः । षत्वमिति विष्णुसर्गव्यवधाने ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिनेति शेषः । दोरिति विष्णुपदान्तत्वात् षत्वापायः ॥१३८॥

बाल०—दोषो । पीतमिति पीतवस्त्रमित्यर्थः । वस्तु इति वस आच्छादने अदादि । अन्तरालेति वर्णक्रमे अंश इति द्वौ सर्वेश्वर-विष्णुजनयोर्मध्ये पठितौ, अत एतयोः सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वञ्चास्तीति । अत्र विष्णुचक्रस्य विष्णुजनत्वम् अतः हत्सङ्गान्तत्वात् सस्य हर इति । धात्विति धातुर्वजितेति विशेषणात् नान्त-धातुर्वजित-सान्तसत्सङ्गेत्यादिना नात्र

१४०. ध्वंसुस्त्रंसु वस्वनडुहां दो विष्णुपदान्ते ।

अत्र झलि चेति तस्यां भ्रमः; ध्वस्त इत्यादौ दोषश्च । ध्वंसुस्त्रंसुधातू । चतुर्भुजानुवन्धत्वं नामावस्थायामेवगृहीतम् अच उपादानात् । तेनात्र न नुम्—वैकुण्ठध्वद् वैकुण्ठध्वत् वैकुण्ठध्वसौ वैकुण्ठध्वद्भ्याम् । एवं-वैकुण्ठश्रत् । अत्र वसु प्रत्ययः, विद्वसु । उदित्त्वाच्चतुर्भुजानुवन्धानाश्च नुम्, नान्तेति त्रिविक्रमः, सत्सङ्गान्तहरः—विद्वान् विद्वांसौ विद्वांसः । विद्वांसम् विद्वांसौ ।

अमृता०—१४०. ध्वंसिति । विष्णुपदान्ते ध्वंसादीनामन्तवर्णस्य स्थाने दरामादेशः स्यात् । ध्वंसादि त्रयाणांविष्णुसर्गापवादः, अनुडुहस्तु ढराम वाधकः । प्रक्रियाकौमुदीमतं दूषयति—ध्वस्त इत्यादौ दोषश्चेति । ध्वन्सुधातो विष्णुनिष्ठा क्तप्रत्यये अनिरामेता-मित्यादि वक्ष्यमाण सूत्रेणोद्धवनरामहरः । तरामस्य फलत्वात् (वैणवत्वात्) सरामस्य दरामप्रसङ्गः स्यादिति दोषः । ननु वैकुण्ठध्वदिति चतुर्भुजानुवन्धत्वेपि कथं नुमाभावः ? तत्र सङ्गतिमाह—नामावस्थायामेवेति । तत्रच हेतुः—अच उपादानादिति । चतुर्भुजानु-वन्धत्वसन्नु इत्यस्याप्यस्ति तथापि तत्र यत् अच इति पृथग् ग्रहणं कृतं तेन धात्ववस्थायां चतुर्भुजानुबन्धत्वस्य न नुम् प्रसङ्गः किन्तु नामावस्थायामेवेति ज्ञापितमिति विशदः । ननु च विद्वस्शब्दस्यसौ नुमि सति विद्वन्स् इत्यवस्थायां सान्तसत्सङ्गत्वेऽप्युद्धव स्थाने नुमो विद्यमानत्वात् कथमुद्धव त्रिविक्रम इतिचेत् ? सत्यमत्रेदमवधेयम्,—त्रिविक्रम लक्षणस्य वृत्तौ—"धातुवर्जितसान्त सत्सङ्गस्येति" एकवचननिर्देशतः, तथा "सान्तरूपेण यः सत्-सङ्गः" इत्येवं व्याख्यानतश्च सत्सङ्गस्य तत्रैकवर्णत्वमभिप्रेतम्, अन्यथा तत्पूर्वस्थस्य सर्वेश्वरस्य उद्धवत्वासम्भवालक्षणे असम्भव नाम दोषआपतेत् । तस्मात् सान्तसत्सङ्गेति त्रिविक्रमः, ततो हर विधे नित्यत्वात् दरामं वाधित्वा सत्सङ्गान्तहरः । वसु प्रत्ययान्ते दविधेः सार्थक्यन्तु भ्यामादौ हि ज्ञेयम् । नचात्र सत्सङ्गान्तहरे नान्तत्वेन हि त्रिविक्रमे सिद्धे कथमनया कष्टकल्पनया व्याख्ययेति वक्तव्यम्,—कृत्सत्सङ्गान्तहह आगम नरामान्तो नान्तत्वेन नहिग्राह्यः; नान्ततयैवेष्टसिद्धावपि त्रिविक्रमसूत्रे महच्छब्दस्य पृथगुपादान ज्ञापकादिति प्रागेवमहतु शब्दप्रसंगे प्रपञ्चितमस्ति ।

त्रिविक्रम इति । ननु कंसहिंस्वित्यत्र नुम्व्यवधाने षत्वं कथं न स्यादिति चेत्तत्राह षत्व-विधौ न्विति नुम् स्थाने विहितस्य विष्णुचक्रस्यैव व्यवधाने षत्वं भवतीति नात्र षत्वम् । विष्णुपदान्तत्वात् नात्र नस्य विष्णुचक्रम् ॥१३९॥

बाल०—ध्वंसु । विष्णुपदान्ते विषये ध्वंस्वादिनाम् अन्तस्य दो भवति । अत्रेति । दोषमप्याह ध्वस्त इत्यादौ दोषश्चेति । ध्वस्त इति ध्वन्सु अधःपतने क्तः । अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामुद्धवनरामो हरः कंसारावित्यनेन नरामोहरः । ननु वैकुण्ठध्वदित्यत्र चतुर्भुजानुवन्धत्वात् अच इत्यादिना नुम् कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्राह चतुर्भुजानुबन्धत्वमिति हि नामावस्थायां यस्य चतुर्भुजानुवन्धत्वं तस्य नुम् भवति, अस्य तु धात्ववस्थायां

१४१. वसोर्वस्य उर्भगवति ।

वस्येति सारामनिर्देशः । षत्वम्, विदुषः विदुषा विद्वद्भ्यां विद्वद्भिः । विदुषे हेविद्वन् ।

आदिवस् प्रभृतयः कृत्प्रकरणे साधयिष्यन्ते । रूपाणि यथा—आदिवान् आदिवांसौ आदिवांसः । आदिवांसं आदिवांसौ आदुषः । आदुषा आदिवद्भ्याम् । एवं जक्षिवस् । अथ जग्मिवस् । जग्मिवान् जग्मिवांसौ जग्मिवांसः । जग्मिवांसं जग्मिवांसौ । तथा जगन्वस् । जगन्वान् जगन्वांसौ जगन्वांसः । उभयत्रभगवति जग्मुषः इत्यादि । पुंस् ।

१४२. पुंसः पुमसुः कृष्णस्थाने ।

अत्र च सुटीति तस्यां भ्रमः; गौणत्वे ब्रह्मणि दोषश्च । उराम इत् । पुमान् पुमांसौ पुमांसः । पुमांसं पुमांसौ पुंसः । पुंसा पुंभ्यां पुभ्याम् ।

अमृता०—१४१. वसोरिति । भगवति परे वसोर्वस्य उः स्यात् । साराम निर्देश इति—अराम सहितस्य वरामस्य स्थाने उरामो भवतीत्यर्थः । वसोरिति सामान्येन ग्रहणं क्वसोरपि प्राप्तचर्थम् । तेनकृत्प्रकरणे ये आदि वस्प्रभृतयो वक्ष्यन्ते तेषामपि वरामस्य उरामो भवतीति दर्शयति—रूपाणि यथेति । आदुष इति—निमित्तस्य वसो र्वरामस्यापायादिटो निवृत्तौ षत्वम् । उभयत्रेति—क्वसौ विहित-विकल्पितेटो गम्लृधातो र्जाते जग्मिवस् जगन्वस् शव्दद्वयेऽपीत्यर्थः । जग्मि वस्शब्दस्य वस्यउरामे कृते निमित्तापायादिटो निवृत्तौ षत्वे च जग्मुषः । जगन्वस् शब्दस्य तु वस्योरामे कृते निमित्तस्य वरामस्यापायात् पुनर्नरामस्य मरामः । ततोगमहनजनेत्यादि वक्ष्यमाणसूत्रेणोद्धवादर्शने जग्मुष इति । एवं चतुर्भुजानुवन्धादीयसु प्रत्ययान्तानां श्रेयस्प्रभृतीनां श्रेयान् श्रेयांसावित्यादि ।

अमृता०—१४२. पुंस इति । कृष्णस्थाने परे पुमुस् शब्दस्य पुमसु रित्यादेशः स्यात् । गौणत्वे ब्रह्मणि दोषश्चेति—तत्रपाण्डवस्यहि सुटसंज्ञत्वेन ब्रह्मणिअतिपुमुस् शब्दस्य द्वितीया बहुत्वे शौ त्वव्याप्तेः—'अतिपुंसि' इत्यनिष्टरूपं स्यादिति दोषः; यत स्तत्र

चतुर्भुजानुबन्धत्वम् अतो न नुम् । अत्र हेतुमाह,—अच उपादानादिति अन्यथा अच इति न कृतं स्यात् ॥१४०॥

बाल०— वसोर्वस्य । सारामनिर्द्देश इति अरामसहितस्म वरामस्य स्थाने उर्भवतीत्यर्थः । आदुष इति निमित्तापायादिटो निवृत्तिः । उभयत्रेति उभयत्र जग्मिवस् जगन्वस् इति शब्दद्वये । जग्मिवस्शब्दे वस्य उरामे कृते निमित्तापायादिटो निवृत्त्या जग्मुष इत्यादि भवति । जगन्वस् शब्दे तु वस्य उरामे कृते निमित्तापायान्नरामस्य मरामः । ततो गम् हन् जन् खन् घसामुद्धवादर्शन कंसारि सर्वेश्वरे ङं विनेत्यनेन उद्धवादर्शनमिति जग्मुष इत्यादि अत्र असिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञाया व्यभिचारो जात इति ज्ञेयम् ॥१४१॥

नुमा सर्वोऽप्यनुस्वारो लक्ष्यते इति भागवृत्तिकारादयः। अत औणादिक-सस्यास्य पुंस इत्यादौ तत्व निषेधो वाच्यः। अत्रतु षत्वम्—पुंषु। नेत्यन्ये—पुंसु। उशनस्, उशना उशनसौ उशनसः।

१४३. उशनसो नान्तत्वं सलोपित्वं विष्णुसर्गत्वञ्च बुद्धे।

हेउशनन् हेउशन हेउशनः। एवं अनेहा अनेहसौ। पुरदंशा पुरदंशौ।

'अतिपुमांसि' इत्येबं भवितव्यम्। पुमानिति—चतुर्भुजानुबन्धत्वान्नुम्, नान्त धातुर्वजितेति त्रिविक्रमः, सत्सङ्गान्तहरः, सोर्हरश्च। पुंम्यामित्यादि—सत्सङ्गान्तहरे मोविष्णुचक्रं, ततो विष्णुपदान्त त्वाद् विष्णुचक्रस्य वा हरिवेणुः।

नुमेति—षत्वविधौ "नुम् विष्णु सर्ग व्यवधानेऽपि" इत्यत्र नुम्शब्देन सर्वविधोऽप्यनुस्वारो लक्ष्यते; अर्थादविष्णु पदान्तस्य नस्य मस्य च वैष्णवइति विधानानुसारतो नराम स्थानिकं मरामस्थानिकश्च विष्णुचक्रं नुम्शब्देन लक्ष्यीक्रियत इत्याहुर्भागवृत्ति-कारादयः। अतः पुंसः पुंसा इत्यादौ मरामस्थानिकानुस्वार व्यवधानेऽपि षत्वं प्राप्तमिति तन्निषिध्यति—औणादिकसस्येति। अस्य पुंम्स् शब्दस्य औणादिक सस्य षत्व निषेधो वाच्यः, वक्तुमुचित इत्यर्थः। अन्येषामौणादिकसरामाणान्तु भवत्येव षत्वं—दोषः हवींषीत्यादौ।

पुंष्विति—सत्सङ्गान्त सरामस्य हरे निमित्तापाये नैमित्तिक विष्णुचक्रस्यापाये च पुनः "मो विष्णुचक्रं विष्णुजन" इति विष्णुचक्रम्, सुपः सस्य षत्वञ्च। नेत्यन्य इति पाणिनि-क्रमदीश्वरादयः। उशनेति—ऋरामसखिभ्यामिति सोरान्त् संसारहरश्च। उशना शुक्रः। शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कवि रित्यमरः।

अमृता०—१४३. उशनसइति। बुद्धेपरे उशनसो नान्तत्वं—सरामस्थाने नरामः सलोपित्वं—सरामस्य लोपः, तथा विष्णुसर्गत्वं—सरामस्य विष्णुसर्गश्च भवतीत्यर्थः। हे उशनेति सलोपे कृते एओवामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनम्। हेउशन इति—सस्य विष्णुसर्गेकृते

बाल०—पुंसः। अत्र चेति। दोषमप्याह गौणत्वे ब्रह्मणि दोषश्चेति तथाहि अति-पुम् इत्यादौ पुमसः स्यात्। नुमेति यस्य कस्यापि स्थाने योऽनुस्वारो विधीयते, नुमा स सर्वोऽपि लक्ष्यते। षत्वविधाविति शेषः इति भाषावृत्तिकारादयो वदन्तीति शेषः। ननु तर्हि पुंस इत्यादौ षत्वं कथं न स्यादि चेत्तत्राह अत इति अस्य औणादिकस्येति सरामस्य प्रत्ययत्वसूचनार्थमौनादिकसस्यैव षत्वनिषेधज्ञापनार्थञ्चोक्तम्। अत्र तु षत्वं पुंष्विति यतः स्वादि-सरामोऽयम्। नेत्यन्य इति अन्ये क्रमदीश्वरादयः। उशनेति ऋरामसखिभ्यामुशनस् इत्यादिना सोराच्। संसारस्य हरश्चिति इत्यमुहरः ॥१४२॥

बाल०—उशः। बुद्धे परे उशनसो नान्तत्वं भवति। सरामस्य स्थाने नरामो भवतीत्यर्थः। सलोपित्वमिति सरामस्य लोपो भवतीत्यर्थः। विष्णुसर्गन्तित्वञ्चेति सरामस्य विष्णुसर्गो भवतीत्यर्थः। हे उशनेति सलोपे कृते 'एओवामनेभ्य' इत्यादिना

हेअनेहः हेपुरदंशः। श्वेतवाह् पुरोडास् उक्थशास् प्रभृतयस्तु छान्दसाः। कृष्णवाह्।

१४४. हस्य ढः नहो धः दादेस्तु धातोर्घः, द्रुह मुह नश स्नुह स्निहां वा विष्णु पदान्ते वैष्णवे च।

एते सर्वेऽपि धातवः। कृष्णवाट् कृष्णवाड् कृष्णवाहौ कृष्णवाहः।

१४५. वाहो वा ऊठ् भगवति।

१४६. अद्वयादूठो वृष्णीन्द्रः।

कृष्णौहः। कृष्णौहा कृष्णवाड्भ्यां कृष्णवाट्सु।

अत्र कंसद्विदसु इत्यत्रच षढोः कःसे इति नप्राप्नौति, अत्राकरशेन केवल-

---

अन्तरालपाठाद् विष्णुसर्गस्य विष्णुजनत्वस्वीकारेण राधाविष्णुजताभ्यामिति सोर्हरः। अनेहा कालः।

अमृता०—१४४. हस्येति। विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे च परे धातो र्हरामस्य ढरामः स्यात्, नह बन्धने धातो र्हस्य धः स्यात्, दरामादिधातोस्तु हस्य घः स्यात्। द्रुहादि पञ्चानां धातूनामन्तवर्णः घरामो वा स्यात्, पक्षे यथासम्भवं ढरामादयः। ननुहरामान्त-धातूनामिह ढत्वे घत्वे विहिते, नशेस्तु हरामान्तत्वाभावात् ढत्वमपि न सिध्यति कुतः पुन र्घत्वम्। अतएतैः सह नशेः पाठ उभयाङ्गासम्भवादप्रासङ्गिक इति चेत्? सत्यं श्रूयताम्। नशे र्घत्वं वेति लक्षणेन पृथगारम्भेगौरवं स्यादिति यावत् सम्भवविधेरनुसरणे-नेत्थं विवरणीयम्—द्रुहो दादित्वान्नित्यं घत्वे प्राप्ते पाक्षिकढत्वम्, नशेः छशो रित्यनेन नित्यंषत्वे प्राप्ते पाक्षिकघत्वम्, अन्येषां नित्यं ढत्वे प्राप्ते पाक्षिक घत्वमनेन विहितमिति। अन्येषामुदाहरणानि वक्ष्यन्ते। नशेः—नक् नग् नट् नड् नग्भ्यां नड्भ्यां नक्षु नट्सु। कृष्णवाट् वासुदेवः।

अमृता०—१४५. वाह इति। भगवति परे वाह् इत्यस्य वा स्थाने ऊठ् भवति। वा इति लुप्तषष्ठीकः।

अमृता०—१४६. अद्वयादिति। अद्वयात् परस्य ऊठो वृष्णीन्द्रः स्यात्। पुनः सन्धिना कृष्णौहः। अत्र कृष्णवाट्सु इत्यत्र। अकरणेऽपि हेतुः—केवलधातु विषयत्वादिति।

बुद्धस्यादर्शनम्। हे उशन इति सस्य विष्णुसर्गे कृते अन्तरालपाठाद्विष्णुसर्गस्य विष्णु-जनत्वात् राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादिना सोर्हरः॥१४३॥

बाल०—हस्य ढः। हस्य स्थाने ढो भवति, नहो हस्य स्थाने धो भवति, दादे-र्धातोस्तु हस्य स्थाने घो भवति, द्रुहमुहादीनामन्तस्य घो वा भवति विष्णुपदान्ते वैष्णवे चेति सर्वत्र योज्यं सर्वेऽपीति सर्व एवेत्यर्थः॥१४४॥

बाल०—वाहो वा। वेति सूत्रबलेन लुप्तषष्ठी॥१४५॥

धातु विषयत्वात् । ततश्च कृष्णवाट् साद्भवतीत्यादौ कृदन्तधातो स्तद्धितोऽपि नस्यात् । सम्मत रूपत्वात् । पाणिनीयैरपि समाधेयमेवेदम् । असुपीत्युक्त्वापि क्रमदीश्वर-पद्मनाभाभ्यां तद्धिते तुसमाधेय मेव। कृष्णपण्डित स्त्वपदान्त इत्युक्त्वा सर्वमेव समादधे।

अथ अनडुह् । चतुरनडुहो राम् ।

१४७. अनडुहो नुम् च सौ ।

सत्सङ्गान्त हरः । असिद्धत्वान्ननस्यहरः । अनड्वान् अनड्वाहौ अनड्वाहः । अनड्वाहम् अनड्वाहौ अनडुहः । अनडुहा अनडुद्भ्याम् । बुद्धेत्वम् हेअनड्वन् ।

क्विवन्तस्य धातुत्वेऽपि नामत्वविद्यमानत्वान्न केवल धातुत्वम्; शुद्धधातुत्वाभाव इत्यर्थः । कृष्णवाट्सादिति—देये अधीने च सातिप्रत्यय स्तद्धितः । पाणिनीयैरपि कृष्णवाट् सादिति रूपं समा धातव्यम् । अत्रच समात्र निमित्तत्वेन तद्धित साति प्रत्ययेऽति व्याप्तेः समाधानमावश्यकमित्यर्थः । असुपीत्युक्तेऽपि सुव्भिन्ने तद्धिते अतिप्रसङ्गः स्यादिति तत्र च समाधानं कर्त्तव्यं क्रमदीश्वर पद्मनाभाभ्याम् । कृष्णपण्डितः प्रक्रिया कौमुदी टीकाकारः । तेन खलु "षढोः कःसेऽपदान्ते" इत्येवं व्याख्यातम् । तेनाि धातुविषयत्व मेवायातम् । कृष्णवाट्सु कृष्णवाट्सादित्यादौ पदान्तत्वान्न कत्व प्रसङ्ग इति सम्यक् समाहितं तेन ।

अमृता०—१४७. अनडुह इति । असिद्धत्वादिति—क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे इत्यादि न्यायेन नस्य हरो न भवति । अत्रान्तरङ्गकार्यं नरामहरः, स्वल्पाश्रितत्वात् । वहिरङ्गं सत्सङ्गान्तहरः, वह्वाश्रितत्वात् । अनः शकटं वहतीति अनड्वान् वृषभः । अनडुद्भ्यामिति—ध्वंसु स्रंसु इत्यादिना हरामस्य दरामः । गोधुगिति—दादेस्तु धातो र्घं इति हस्य घत्वम् । विष्णुदास इत्यादिना घरामस्य गरामः ।

बाल०—अद्व । अत्रेति अत्र कृष्णवाट् सु इत्यत्र च । हेतुमाह अत्रेति अत्र नामजविष्णुपदप्रकरणे अकरणेन तस्य लक्षणस्य केवलं धातुविषयत्वादिति । ततश्चेति ततः केवलधातुविषयत्वाद्धेतोः कृष्णवाट् सादिति साति प्रत्ययस्तद्धितः । तद्धितेऽपि न स्यादिति । यतः अत्र केवलधातुविपयत्वाभावः । सम्मतेति कृष्णवाट् सादित्यादेः सर्वसम्मतरूपत्वात् पाणिनीयैरपि इदं कृष्णवाट् सादित्यादिकं रूपं समाधेयमेव, तेषामत्र स्पष्टं समाधानं नास्तीति तैरप्यत्र समाधानं कर्त्तव्यमित्यर्थः । असुपीति क्रमदीश्वर-पद्मनाभाभ्यामसुपीत्युक्त्वा कृष्णवाट्स्वित्यादिकं समाहितं तद्धिते कृष्णवाट् सादित्यादिकन्तु ताभ्यां समाधेयमेव भवति, न तु समाहितम् । कृष्णेति कृष्णपण्डितः प्रक्रियाटीकाकारः । अपदान्त इत्युक्त्वेति करामविधानसूत्रे इति शेषः । कृष्णवाट् सादित्यादौ च पदान्तत्वादसमाधेयपरो न भवतीति ।।१४६।।

बाल०—अन । असिद्धत्वादिति क्वचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायेनेति शेषः । गोधुगिति

गोदुह् । जवर्जहरिगदादेरित्यादि; गोधुक् गोधुग् गोदुहौ गोधुग्भ्यां गोधुक्षु । घत्वे धातोरित्यौपदेशिकत्वमेव गृह्यते, तेनदामलिड़िवाचरतीति क्विबन्तात् क्विपि दामलिट् ।

कंसद्रुह् । कंसध्रुक् कंसध्रुग् कंसध्रुट् कंसध्रुड् कंसद्रुहौ । कंसध्रुग्भ्याम् कंसध्रुड्भ्याम् । एवं कृष्णमुह् कृष्णस्निह् इत्यादयः । कृष्णाङ्घ्रिलिह् । हस्य ढः,कृष्णाङ्घ्रिलिट् कृष्णाङ्घ्रिलिड् कृष्णाङ्घ्रिलिहौ । तुरासाह् ।

१४८. साढः षाट् ।

तुराषाट् तुराषाड् तुरासाहौ तुरासाहः । तुराषाड्भ्याम् ।

॥ इति विष्णुजनान्ताः पुंलिङ्गाः ॥

घत्वे इति—घत्वविधान सूत्रे धातो रिति औपदेशिकत्वं आद्योच्चारण सिद्ध धातुत्वं नतु कृत्रिमम्; गण पठितधातुरेव गृह्यत इति फलितार्थः । तेनेति—दामलिह्यतीति क्विपि दामलिट् शब्दः । ततो दामलिडिवाचरतीत्यर्थे क्वचित् क्यङः क्विविति नामधातौ दामलिट्; पुनस्तस्मात् कृत्क्विपि दामलिट् शब्दः । इहनामधातो र्धातुत्वेऽपि न हि स्वाभाविकधातुत्वं, नाम्न उत्तरे प्रत्ययान्तरेण तद्विधानात् । अतो हस्थानिकस्य टरामस्य न हि घत्वमित्यभिप्रायः । एवं कृष्णस्निक् कृष्णस्निट् कृष्णस्निग्भ्यां कृष्णस्निड्भ्यां कृष्णस्निक्षु कृष्णस्निट्सु ।

अमृता०—१४८. साढ इति । साढः स्थाने साट् स्याद् विष्णुपदान्त इति शेषः । हस्य स्थाने ढेकृतेसति षत्वं भवतीत्यर्थः । तुरं वेगं सहत इति तुराषाट् देवराजः ।

॥ इतिव्याख्याता विष्णुजनान्ताः पुलिङ्गाः ॥

दादेस्तु धातोर्घ इति हस्य घः, विष्णुदास इत्यादिना घस्य गः, विष्णुदासस्य हरिकमलमित्यादिना गस्य कः, पक्षे गरामस्यैव स्थितिः । घत्व इति घरामविधाने धातोरित्यस्य औपदेशिकत्वमेव गृह्यते । उपदेशे उच्चारणमात्रे यो दादिधातुस्तस्य हरामस्य स्थाने घो भवतीत्यर्थः । गणपठित-धातोरेव ग्रहणमिति फलितार्थः । तेनेति दामलिडिवाचरतीति य इवाचरति तस्मात् क्यङिति क्यङ्, क्वचित् क्यङ क्विप्, ततः कृत् क्विप् क्विविति क्यङ क्विप् । कंसध्रुगिति द्रुहमुहेत्यादिना हस्य घः, पक्षे हस्य ढः कंसध्रुडिति ।।१४७।।

बाल०—साढः । साढः स्थाने षाट् स्यात्, हस्य स्थाने ढे सति षत्वं भवतीत्यर्थः ।।१४८।।

॥ इति विष्णुजनान्ताः पुलिङ्गाः ॥



तत्र चरामान्त ऋच् । चवर्गस्येति ऋक् ऋग् ऋचौ ऋचः । ऋग्भ्यां ऋक्षु । एवंत्वच् वाच् ।*

स्रज् दिश्दृश् इत्यादि—स्रक् स्रग् स्रजौ स्रजः । समिध् समित् समिद् ।१ सीमन्—सीमा सीमानौ सीमानः । सीम्नः सीम्ना । ईङ्योस्तु वा सीम्नि सीमनि ।

अप् नित्यंवहुवचनान्तः । नान्तेति त्रिविक्रमः—आपः अपः ।

१४९. अपो दोभे ।

अद्भिः अप्सु । हेआपः । तदन्तत्वात् स्वद्भिरित्यादि । ककुभ्—ककुप् ककुव् ककुभौ ककुव्भ्यां ककुप्सु । गिर,—इरुरन्तधातोः । गीः गिरौ गिरः । गीर्भ्याम् गीर्षु । एवं पुर्— पूः पुरौ पुरः । चतुर्—स्त्रियां चतस्रादेशः । चतस्रः चतस्रः चतसृभिः चतसृभ्यः चतसृणां चतसृषु । लक्ष्मीस्थयोरिति विशेषणात् समस्तस्यान्यलिङ्गत्वेऽपि तत्तदादेशः । प्रियास्तिस्रो यस्य सप्रियतिसा प्रियतिस्रौ प्रियतिस्रः । प्रियचतसा प्रियघतस्रौ प्रियचतस्रः । ङसिङसोः प्रियतिस्रः प्रियचतस्रः । प्रिय-

---

ऋच्यते स्तूयतेऽनया ऋक् वेदोमन्त्रश्च । क्षुत् तडित् सरित् प्रभृतयः कंसजित् शब्दवत् । उषनिषद् सम्पद् सम्विद् शरद् दृषद् मृद् प्रभृतयः कृष्णविद् वत् । समित् तृणकाष्ठादीन्धनम् । पामम् शब्दो रोगवाची सीमन् वत् । आप्नुवन्तीति आषः जलानि ।

अमृता०—१४९. अप इति । भरामे परे अपोऽन्तस्य दराम आदिश्यते । भे इति किम्—अप्सु । ककुभ्शब्दो दिग्वाची । इरुरन्त धातोरित्यादिना उद्धवस्य त्रिविक्रम इतिशेषः ।

गृणातीति गी र्वाक् । प्रियचतसेति—प्रियाश्चतस्रो यस्येति विग्रहः । प्रियतिस्र इति

बाल०—अपो । भे परे अपोऽन्तस्य दो भवति । इरुरन्तधातोरित्यादिना उद्धवस्य त्रिविक्रमः । प्रियचतस्येति प्रियाश्चतस्रो यस्येति विग्रहः प्रियत्रिरिति प्रियास्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्याः सेति अत्र समस्तस्यैव लक्ष्मीत्व न तु त्रिशब्दस्येति न तिस्रादेशः ।।१४९।।

---

* एवं सच शुच् प्रभृतयश्च । रुज्शब्दो व्याधिवाची स्रज्वत् ।

१ एवं क्षुध्, युध्, वीरुधादयश्च ।

तिसृणाम् । समस्तमात्रस्य लक्ष्मीत्वेतु प्रियत्रिः प्रियत्री प्रियत्रयः । दिव् ।

१५०. दिव ओसौ ।

द्यौः दिवौ दिवः । दिवं दिवौ दिवः । दिवा

१५१. दिव उर्विष्णुपदान्ते ।

द्युभ्यां द्युषु । दिश् —दिक् दिग् दिशौ दिग्भ्याम् दिक्षु । एवं दृश् अथ-द्विष् कंसद्विड्वत् । एवंविप्रुष् । अथाशिष्—सजुषित्यादिना रः । आशीः आशिषौ आशिषः । आशीर्भ्याम् आशीःषु । उष्णिह्—उष्णिक् उष्णिग् उष्णिहौ । उपानह्—नहोधः—उपानत् उपानद् उपानहौ ।

॥ इति विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

—तिस्र चतस्रो रिति रः । प्रियत्रिरिति—प्रिया स्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या इति विग्रहः ।

अमृता०—१५०. दिव इति । सौपरे दिवः अन्तस्य औरामादेशः स्यात् । द्यौः स्वर्गः । सुरलोको द्यौ दिवौ द्वेस्त्रियां क्लीवे त्रिपिष्टपमित्यमरः ।

अमृता०—१५१. दिव उरिति । विष्णु पदान्ते विषये दिवोऽन्तस्य उरामादेशो भवति । द्यु भ्यामिति—वरामस्योरामे सति इद्वयमेव यः सर्वेश्वर इति यरामः । विप्रुड् विन्दुः । पृषन्ति विन्दु पृषताः पुमांसो विप्रुषस्त्रियामित्यमरः । एवं रुष् तृष् त्विष् प्रभृतयः । त्विट् कान्तिः । तथा सरामान्ता अप्सरस् सुमनस् प्रभृतयो वेधस् शब्दवज् ज्ञेयाः । उष्णिक् सप्ताक्षरचरणं छन्दः । स्रज्दिशित्यादिना करामः । उपनह्यति पाद-मित्युपानत् पादुकेत्यर्थः ।

॥ इति व्याख्याता विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

बाल०—दिवः सौ परे दिवोऽन्तस्य और्भवति ॥१५०॥

बाल०—दिवः । विष्णुपदान्ते विषये दिवोऽस्य उर्भवति ॥१५१॥

॥ इति विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥



अथ विष्णुजनान्ताः नपुंसकलिङ्गाः ।

तत्रापि प्रत्यच् । प्रत्यक् प्रतीची प्रत्यञ्चि । २ । प्रतीचा प्रत्यग्भ्याम् ।
एवंप्राच् । प्रत्यञ्च् प्राञ्च् शब्दयोस्तु—प्रत्यङ् प्रत्यञ्ची प्रत्यञ्चि । २ ।
शौङरामद्वयंलेख्यं किन्तु मितः स्थाने नरामसद्भावे नुम्न दृश्यते । यथा
कंसहिंसो ब्रह्मणि—कंसहिंसीति केवलं विष्णुचक्रं स्यात् ।
तिर्यच्—तिर्यक् तिरश्ची तिर्यञ्चि । २ । ऊर्ज्—ऊर्क् ऊर्ग् ऊर्जी ऊर्न्जि ।२

१५२. वहुर्जो नुम् प्रतिषेधः ।

वहूर्जि । अन्त्यात् पूर्वं नुमिच्छन्त्येके । वहूर्ञ्जीति ।
जगत् जगती जगन्ति । २ ।
अथ शतृ प्रत्ययान्तभवतृ—भवत् । ईप्रत्यये नुम् कृत् प्रकरणे वक्ष्यते—
भवन्ती भवन्ति ।

प्रतीची इति—अचोऽरामहरो भगवतीत्यरामहरे निमित्तापाये नैमित्तिकस्य यरामस्येराम स्तत स्तस्य त्रिविक्रश्च । प्रत्यञ्चि इति—शेःकृष्णस्थानसंज्ञत्वेन तस्मिन् परे सर्वेश्वर वैष्णवान्तयोरिति नुम्, तवर्गस्य चवर्ग इति नरामस्य ञरामः । टादौ पुरुषोत्तमवत् । शौञरामद्वयं लेख्यमिति—पूजार्थवाचिनां प्रत्यञ्चादिशब्दानां शौ—सर्वेश्वर वैष्णवान्तयोरित्यनेन नुमि कृतेञरामद्वयं लेख्यं, नुमोऽपरिहार्यत्वात् । किन्तु मितः स्थाने अर्थादन्त्यसर्वेश्वरात्परे नरामे विद्यमाने सति नुम् न दृश्यते, नतिष्ठतीत्यर्थः । अन्यदप्युदाहरति—यथेति । कंसहिंसीत्यत्र केवलंविष्णुचक्रमेव तिष्ठति नतु नुम् । धातोः सरामत्वादिह नषत्वम् । तिरश्चीति—तिर्यंच स्तिरश्चिरिति तिरश्चादेशः । शोणित वाची असृज शब्द ऊर्ज वत् ।

अमृता०—१५२. वहूर्ज इति । सर्वेश्वर वैष्णवान्तयोरिति शौ प्राप्तनुम्—वहूर्ज् शब्दस्यनिषिद्धः स्यात् । अन्त्यादिति—जरामात् पूर्वं ररामात्तु परम् । तथाहि वार्त्तिकं—अन्त्यात् पूर्वं नुममेक इति । भाष्यमते तु नुम् न प्राप्नोति । "अचः परो यो फल् तदन्तस्य

अथ विष्णुजनान्ताः नपुंसकलिङ्गाः ।

प्रतीची इति अचोऽराम हर इत्यादिना अरामहरः । निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय इति न्यायेन यरामस्य इरामस्ततस्त्रिविक्रमश्च । शाविति शौ ञराम द्वयं लेख्यं भवति सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयोर्नुम् शावित्यनेन विहितस्यनुमोऽपरिहार्यत्वादिति शेषः, किन्तु मितः स्थाने अन्त्यसर्वेश्वरात् परे नरामसद्भावे नरामविद्यमानतायां सुम् न दृश्यते नुम् न तिष्ठतीत्यर्थः । यथेति कंसहिंसो व्रह्मणि शौ कंसहिंसीति भवति । अत्र केवलं विष्णुचक्रं भवति, न तु नुम् तिष्टतीति । तिरश्ची इति तिर्यचस्तिरश्चित्यादिना तिर्यचस्तिरश्चि ।

बाल०—बहूर्जो । अन्त्यादिति अन्त्यात् जरामात् । ईप्रत्यये नुम् कृत्प्रकरणे

तुदतृ भातृ करिष्यतृ प्रभृतीनां विकल्पः। तुदत् तुदत् तुदती तुदन्ती तुदन्ति। एवं भात् भाती भान्ती। करिष्यत् करिष्यती करिष्यन्ती। महच्छब्दः—महत् महती महान्ति।२। ब्रह्मन्—ब्रह्म। वमसत्सङ्ग-हीनस्येति विशेषणादरामहराभावः। ब्रह्मणी ब्रह्माणि।२। ब्रह्मणा ब्रह्मभ्याम्।

१५३. नस्य हरो वा ब्रह्मणि बुद्धे।

हेब्रह्म हेब्रह्मन्। एवं चर्मन् वर्मन् शर्मन्।

अथ अहन्।

१५४, अह्नो विष्णुसर्गौ विष्णुपदान्ते।
न समासे पुंसीति वाच्यम्।

अहः। ईङ्योस्तु वा, धातुत्वाभावाद् घत्वाभावः। अह्नी अहानि।२। अह्ना।

१५५, अस्य स्वाद्यभावएव रविधि र्वाच्यः।

अहोभ्याम्। बुद्धेऽपि हेअहः। समासेपुंसि तु दीर्घाहा निदाघः। बुद्धेतु

नुम्'' इत्येवं व्याख्यानात्। नुमृक्तत्प्रकरणे वक्ष्यत इति—शप् शाभ्यां शतु र्नुम् ईप्रत्यये इत्यनेन। तुदतृ प्रभृतीनां विकल्प इति—तत्रैव शेषाद्वयात्तु वेत्यनेन। महान्तीति—नान्तेत्यादि लक्षणे महदपामित्यनेनोद्धवस्य त्रिविक्रमः। ब्रह्मभ्यामिति—नामान्तस्येति नस्य हरः।

अमृता०—१५३. नस्येति नपुंसक लिङ्गे बुद्धे परे नस्य हरो वा स्यात्। नामान्तस्य नस्य हरो बुद्धं विनेति नित्यं हराभावे प्राप्ते विकल्प वचनम्। नामन् शब्दस्य नाम नामनी नाम्नी नामानि। ठादौ पुरुषोत्तमवत्। एवंप्रेमन् धामन् व्योमन् प्रभृतयो नामन् वत्। तथा जन्मन् कर्मन् मर्मन् वर्त्मन् भस्मन् छद्मन् सद्मन् प्रभृतयश्च ब्रह्मन्वत्।

अमृता०—१५४. अह्न इति। विष्णुपदान्ते विषये अहन् शब्दस्य नरामस्य विष्णु सर्ग आदिश्यते। समासे पुंसि तु स न भवति। धातुत्वाभावादिति—हनो हस्य घो णिन्नयोरित्यनेन घरामो नभवति, यतस्तल्लक्षणं हनधातुपरमेव।

अमृता०—१५५. अस्येति। अहन् शब्दसम्बन्धीय-विष्णुसर्गस्य स्वादिप्रत्ययाभावे

क्ष्यत इति 'शप् शाभ्यां शतुर्नुम ईप्रत्यये' इत्यनेनेति शेषः। तुदतृ भातृकरिष्यतृप्रभृतीनां विकल्प इति शेषादद्वयात्तु वेत्यनेनेति शेषः॥१५२॥

बाल०—नस्य। सुगमम्॥१५३॥

बाल०—अह्नो। विष्णुपदान्ते विषये अह्नोऽन्तस्य विष्णुसर्गो भवति। न समासे। धातुत्वाभावात्। हनो हस्य घो निन्नयोरित्यनेन घो न भवति॥१५४॥

हेदीर्घाहन् । अत्रणत्वं वाच्यम्—दीर्घाहाणौ दीर्घाहाणः दीर्घाह्नः। सुपथिन्—सुपथि सुपथी सुपन्थानि। शसि च सुपन्थानि। पथ्यादीनां सुटि नुमिति तस्यां भ्रमः।

दृष्टशार्ङ्गिन्—दृष्टशार्ङ्गि दृष्टशार्ङ्गिणी दृष्टशार्ङ्गीणि। एवं दृष्टकंसह दृष्टकंसहनी दृष्टकंसघ्नी दृष्टकंसहानि।२। दृष्ट पूषन् दृष्टार्यमन्। स्वप् स्वपी, नान्तधातुर्वजितेति त्रिविक्रमः स्वाम्पि।२। स्वद्भ्याम्। वार्—वाः वारी वारि।२। अनीश्वरादपि ररामजः—वार्भ्याम्। अत्रापि चतुर्—चत्वारि।२।

पयस्—पयः पयसी पयांसि।२। पयोभ्याम्।(१)

एव रविधिर्वाच्यः; "अह्नो विष्णुसर्गस्य रः" इत्यादिना विहितो रविधि रित्यर्थः। तेनात्र स्वादित्वात् अहोभ्यामिति नरामः किन्तु "आदरामगोपालयो"रिति सन्धिरेव। दीर्घा-हेति—दीर्घाणि अहानि यत्रेति पीताम्बरः। तस्यान्यपदार्थवाचित्वात् पुरुषोत्तमता। निदाघो ग्रीष्मकालः। दीर्घाहन्निति—समासे पुंस्त्वान्न विष्णुसर्गः। णत्वं वाच्यमिति—समासे पूर्व पदान्नस्य णोवक्ष्यते। सुन्दरः पन्था यत्र तत् सुपथि नगरम्। सुपथि इति—नामान्तस्य नस्य हरः। सुपथी इति—पथ्यादीनां संसारहरो भगवतीति संसारहरः। सुपन्थासीति—पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्णस्थाने, थात् पूर्वं नुक् च। पथ्यादीनां सुटिनुमिति—तथा सति शसः स्थाने शेः सुट्त्वाभावात्तत्र नुमः (तन्मते नुकः) प्राप्ति र्न स्यादिति दोष एव।

दृष्टशार्ङ्गीणीति—इन्हन्नित्यादिना शौ उद्धवस्य त्रिविक्रमः। दृष्टकंसघ्नी इति—अनोऽरामहरे हनो हस्य घः। ईङ्चोस्तु वेति अरामहराभावपक्षे दृष्ट कंसहनी इति। सुष्ठु आपो यस्मिन् तत् स्वप् सरः। स्वद्भ्यामिति—"अपो दो भे"इति परामस्य दरामः। पयः क्षीरं पयोऽम्बुचेत्यमरः। घृतमाज्यं हविः सर्पिरिति चामरः। हविषी इति—प्रत्यय-सरामत्वादीश्वरात् षत्वम्। हविःषु इति—सररामयो रिति विष्णुसर्गः, ततस्तद् व्यवधाने ऽपि षत्वमित्यर्थः।

अतिपुमिति—अतिक्रान्तं पुमांसमितिविग्रहः। अन्तराल पाठाद् विष्णुचक्रस्य

बाल०—अस्य। अस्य विष्णुसर्गस्य स्थाने रविधिः स्वाद्यभाव एव वाच्यः, तेन अहोभ्यामित्यादौ अह्नो विष्णुसर्गस्य र इत्यादिना ररामो न भवति दीर्घाहेदि दीर्घानि अहानि यत्रेति विग्रहः। पथ्यादीनामिति अस्माभिः कृष्णस्थाने थात् पूर्वं लुग्विधीयते, अतः सुपथीत्यादौ न लुग् भवति। सुटि परे थात् पूर्वं नुम् भवतीति प्रक्रियाकौमुदीमतं तत्तु भ्रम एवेति। दृष्टकंसघ्नी इति हनोदस्य घो निन्नयोरिति हस्य घः। स्वद्भ्यामिति

---

१. एवं अम्भस् अरुस् आगस् उरस् एनस् ओजस् तपस् तेजस् तमस् नमस् मनस् यशस् रहस् वचस् वत्तस् वासस् शिरस् श्रेयस् सरस् सदसादयः।

हविस्—हविः । औणादिकसरामोऽयं प्रत्ययः । अतः षत्वम्—हविषी हवींषि ।२। हविर्भ्याम्, विष्णुसर्गः षत्वं—हविःषु । शौरित्वं हविष्षु । एवं धनुस् ।(१)

अतिपुंस्—अतिपुम् अतिपुंसी अतिपुंमासि ।२।

स्वनडुह्—स्वनडुत् स्वनडुही स्वनड्वांहि ।२।

॥ इति नपुंसकलिङ्गाः ॥

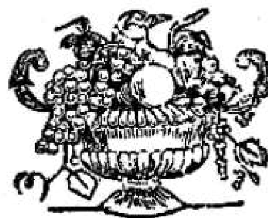
॥*॥ इति लिङ्गत्रयं दर्शितम् ॥*॥

सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वञ्च स्वीकारादिहतुविष्णुजनत्वमननेन सत्सङ्गान्तस्य सस्य हरः, अथ निमित्तापायात् विष्णुचक्रस्य पुनर्मरामः। अतिपुमांसीति—पुंसः पुमसुरिति पुमसादेशे विष्णुचक्रेण सान्तसत्सङ्गत्वादुद्धवस्य त्रिविक्रमः। षत्वन्तु निषिद्धं पुलिङ्गप्रकरणे। स्वनडुदिति—ध्वंसु स्रंसु वस्वनडुहामिति हरामस्य दरामः। अनड्वांहीति—चतुरनडुहो-रित्याम्, सर्वेश्वरवैष्णवान्तयोरिति नुम्। न चामः प्रागेव नुमि कृतेऽपि तुल्यमेव रूपमिति किमनयासाधनरीत्येति वक्तव्यम्। नुम् विधिर्वह्वाश्रितत्वाद् वहिरङ्गम्, आम्विधिस्तु स्वल्पाश्रितत्वेनान्तरङ्गम्। अतो वलवत्त्वादादौ हि आमः प्रवृत्ति स्ततो नुम इति।

॥ इति व्याख्यातं लिङ्गत्रयम् ॥

अपोदोभे इत्यनेन परामस्य दः। अतिपुमिति सत्सङ्गान्वस्य हर इत्यादिनासराम-हरः ॥१५५॥

॥*॥ इतिन पुंसकालिङ्गाः ॥*॥



१. एवं सर्पिस् चक्षुस् वपुस् यजुसादयश्च ।

अथ विशेष्य-विशेषणादिविवेकः।

१५६. तत्र कृष्णादि शब्दाः संज्ञाविषेषादौ नियत पुरुषोत्तमादयः।

१५७. संख्यादिशब्दास्तु वाच्यलिंगाः।

१५८. समानाधिकरण विशेषणरूपा विशेष्यलिंग विष्णुभक्ति वचनानि भजन्ते।

अमृता०—१५६. तत्रेति। तत्र लिङ्गत्रये कृष्णादिशब्दाः संज्ञाविशेषादौ वर्त्तमानाः सन्तो नियतं सर्वदा पुरुषोत्तमादयो भवन्ति। कृष्णादीतिआदिशब्देन रामादीनां राधादीनां तथा गोकुलादीनाञ्च ग्रहणम्। पुरुषोत्तमादय इह आदि शब्देन नियत लक्ष्मीं ब्रह्मणोर्ग्रहणम्। संज्ञाविशेषादाविति—संज्ञयाभेदत्रयं लक्ष्यते, यथारूढिविशेषे, योगरूढ़िविशेषे, यौगिक विशेषे चेति ज्ञेयम्। तत्रच यदृच्छाशब्दा डित्थ डवित्थादयो रूढयः, पङ्कजादयो योग रूढयः, पाचकादयो यौगिका इति कृदन्ते प्रपञ्चयिष्यते।

अमृता०—१५७. संख्यादीति। संख्यादि शब्दास्तु समानाधिकरण विशेषणरूपत्वाद् वाच्यलिङ्गाविशेष्यलिङ्गादिभाजः; वाच्यलिङ्गानां हितादृश एव स्वभावः। संख्यादीत्यत्र आदिना जातिगुणक्रियाणां ग्रहणम्।

अमृता०—१५८. समानेति। समानं तुल्यंमेकमित्यर्थः, अधिकरणमाधारो येषां तेसमानाधिकरणाः। विशेषणमेवरूपं स्वरूपं येषां ते विशेषणरूपाः। समानाधिकरणाश्चामी विशेषणरूपाश्चेति तथा। लिङ्गञ्च विष्णुभक्तिश्च वचनञ्चेति लिङ्ग विष्णुभक्ति वचनानि। विशेषणरूपाः शब्दाः विशेष्यस्य लिङ्गविष्णुभक्ति वचनानिभजन्ते। विशेष्ये प्रयुक्त-लिङ्गादिवल्लिङ्गादिकं विशेषणं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यथाचोक्तम्—विशेष्यस्य हि यल्लिङ्गं विभक्ति वचने च ये। तानि सर्वाणि योज्यानि विशेषणपदेष्वपि। इति। पायश एषहि विधिः, व्यभिचारस्त्वग्रिमे वक्ष्यते।

विशेष्य-विशेषण लक्षणे आह—

अथ विशेष्य-विशेषणादिविवेकः।

बाल०—अत्रेति अत्र लिङ्गत्रये कृष्णादिशब्दाः संज्ञाविशेषादौ वर्त्तमानाः सन्तो नियतः पुरुषोत्तमादयो भवन्तीति शेषः। कृष्णादीति आदिशब्देन राम-वामनादीनां राधादीनां गोकुलादीनाञ्च ग्रहणम् नियतपुरुषोत्तमादय इति आदिशब्देन नियत लक्ष्मी-नियतब्रह्मणोर्ग्रहणम्। संज्ञाविशेषादावित्यादि शब्दश्चिन्त्यः। संज्ञाविशेष एव नियत-पुरुषोत्तमादित्वसम्भावात् किंवा संज्ञाविशेषादाविति रूढिविशेष-योगरूढिबिशेष यौगिक विशेषादावित्यर्थोऽनुसन्धेयः॥१५६॥

बाल०—संख्येति संख्यादिशब्दास्तु समानाधिकरणविशेषणरूपाः सन्तो विशेष्य-लिङ्गादीनि भजन्ते। यतो वाच्यलिङ्गाः वाच्यलिङ्गानां हि तादृश एव स्वभाव इति। संख्यादीति आदिशब्देन जातिगुणक्रियादेर्ग्रहणम्॥१५७॥

१५६. जातिगुणक्रियाद्वारा यस्य विशेषः कथ्यते तद् विशेष्यम्, येनतस्य विशेषः कथ्यते तद्विशेषणाम्।

यथा—गोपःकृष्णः, गोपी राधा, क्षौमं वसनम्। श्यामः कृष्णः, गौरी

अमृता०—१५६. जातीति। जात्यादीनांयेनकेनचिदेकेनत्रिभिर्वा यस्य वैशिष्ट्यमुच्यते तद् विशेष्यं संज्ञं स्यात्। तद्वैशिष्ट्यञ्च येन प्रकाश्यते तद्विशेषण संज्ञं भवतीत्यर्थः। उक्तञ्च—गुणादिभिस्तु यद्भेद्यं तद्विशेष्यसुदाहृतमिति। भेद्यं विशिष्टमित्यर्थः।

अत्रेदमवधेयम्—विष्णुपदं तावद्द्विविधं, सुवन्तं तिङन्तञ्च। तिङन्ताः खलु क्रियापदतयाभिधीयन्ते; सुवन्तानां चातुर्विध्यमाधुनिका आहुः। विशेष्य-विशेषण-सर्वनामाव्यय भेदात्। तत्र च सर्वनाम्नां (कृष्णनाम्नां) विशेष्यानुवादत्वेऽपि (विशेष्य प्रतिनिधित्वेऽपि) तल्लिङ्ग-विष्णुभक्ति-वचनभाक्त्वेन विशेषण साम्यम्। अतएव स्वयमेववक्ष्यते—विशेषण शब्देषु कृष्णनामाख्यशब्दा उच्यन्त इति। अव्ययेषु येवाचकाः स्वर् प्रभृतय स्तेहि विशेष्यान्तर्गताः, द्योतकास्तु विशेषणकल्पाः।

अथ विशेषणविवेकः—विशेषणं प्रथमतोद्विविधं, समानाधिकरणं व्यधिकरणञ्चेति। तत्र समानाधिकरणञ्च त्रिविधं, विशेष्यस्य विशेषणस्य क्रियायाश्चेति दर्शनात्। तत्र विशेष्य विशेषणं—गोपः कृष्ण इत्यादि मूले एवोक्तम्। द्वितीयंयथा—घनः श्यामः कृष्णः, दीव्यद् गौरीराधेत्यादि। शेषं क्रियायाः प्रकारविशेषमात्रवाचकं यथा—स्वच्छन्दं विहारी कृष्णः, शीघ्रं मालां करोतीत्यादि। अत्र विशेष्य-विशेषण स्थले श्यामादिशब्दस्य परस्थ कृष्णादिशब्दमपेक्ष्य विशेषणत्वेऽपि पूर्वस्थ घनादिशब्दमपेक्ष्य पुन र्विशेष्यत्वमितिगम्यते। तत्रसमानाधिकरणविशेषणे हि विशेष्यस्य लिङ्गादिकं प्रयुज्यते, व्यधिकरणे तु तृतीयैवेति वक्ष्यते।

किञ्च यदा तद् विशेषणं विशेष्यस्य परवर्त्तितया व्यवह्रियते तदा विधेयविशेषणाख्या तस्य विशेष्यस्य तदा तूद्देश्यसंज्ञा अनुवाद संज्ञा वा। तत्तल्लक्षणं यथा—यदुद्दिश्य क्रिया प्रवर्त्तते अर्थाद् यद वस्तु प्राग् विज्ञातं तदुद्देश्यमनुवादो वोच्यते यत्र विधीयते तद्विधेयमिति। उदाहरणञ्च—उपाध्यायो पितृतुल्यो भवेदिति। अत्र प्राग्विज्ञातमुपाध्यायमुद्दिश्य क्रिया प्रवृत्तेति सउद्देश्यः। तस्य पितृसमत्वंछात्रस्याज्ञातमासीदिति तद्विधीयमानत्वात् 'पितृतुल्य' इति विधेयम्। इह चोद्देश्य विधेयभावे लिङ्गादि साम्यस्य नतन्त्रता, ततएव धर्म्मे वेदाः प्रमाणमित्यत्र लिङ्गवचन व्यतिक्रमः।

बाल०—समानेति। समानमेकमधिकरणं यस्य तत्समानाधिकरणं, तच्च तत् विशेषणञ्चेति समानाधिकरण-विशेषणं तदेव रूपं स्वरूपं येषां त इति। अथवा समाना मेकमधिकरणं येषां ते समानाधिकरणाः विशेषणमेव रूपं स्वरूपं येषां ते विशेषणरूपाः। समानाधिकरणाश्चामी विशेषणरूपाश्चेति समानाधिकरणविशेषणरूपाः। विष्णुभक्तेर्वचनानि विष्णुभक्तिवचनानि लिंगानि च विष्णुभक्तिवचनानि च लिंग-विष्णुभक्ति-वचनानि विशेष्यलिग-विष्णुभक्ति-वचनानि भजन्ते इत्यर्थः॥१५८॥

राधा, पीतंवसनम् । विहारी कृष्णः, विहारिणी राधा, विहारि गोकुल-मित्यादि ।

१६०. अव्ययविशेषणं ब्रह्म ।

यथा--महत् स्वः ।

१६१. केचित् शब्दा विशेषणत्वेऽपि स्वलिंग नत्यजन्ति ।

यथा प्रधानं कृष्णः, प्रधानं राधा । गतिः कृष्णः, आश्रयो राधाइत्यादि ।

१६२. एकस्य विशेषणस्य विशेष्यमनेकञ्चेत् प्रत्येकं समुदायस्य वा संख्यानुरूपं वचनम् ।

चार्थस्य समुच्चयेतरेतरयोगभेदेन द्वैविध्यात् । यथा—राम, कृष्णश्च

उद्देश्यतु सदैव पूर्ववर्त्तित्वमिति नियम । "अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेदि" त्यालङ्कारिकाः ।

अमृता०—१६०. अव्ययेति । अव्ययस्य विशेषणं ब्रह्म अर्थात् नपुंसकलिङ्ग भवति । स्वर् शब्दोऽव्ययं स्वर्ग वाची । "स्वरव्ययं स्वर्ग नाक त्रिदिव त्रिदशालया" इत्यमरः ।

अमृता०—१६१. केचिदिति । स्वलिङ्ग न त्यजन्तीति—तेषां तादृशाव्यभिचारि स्वभावत्वादजहल्लिङ्गसंज्ञाश्च । नचेह लिङ्गवैषम्ये समानाधिकरणत्वाभाव इति वाच्यम्, भिन्न प्रवृत्ति-निमित्तयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामान्याधिकरण्यमिति वक्ष्यमाणत्वात् । अत्र प्रधान शब्दस्य कृष्णशब्दस्य च प्रवृत्तिनिमित्तयोः श्रेष्ठत्व-नन्दनन्दनत्वयोर्भिन्नत्वेऽपि एकत्रवृत्तित्वात् सामान्याधिकरण्यमस्त्येव । प्रधानमिति भावे अनः । भाव कृद् ब्रह्माति ब्रह्मत्वम् । पुंलिगस्य विशेषणे सत्यपि प्रधानशब्दस्योक्तानुशासनवलान्न पुंस्त्वम् । एवं क्तिर्भावे लक्ष्म्यामिति शासनात् गतिशब्दस्य पुंविशेषणत्वेऽपि नपुंस्त्वम् । तथा घण्णल-युकयः पुंसीतिवचनेन घण् प्रत्ययान्तस्य पुंस्येव नियमादाश्रयशब्दस्य स्त्रीविशेषणत्वेऽपि न हि स्त्रीत्वम् ।

अमृता०—१६२. एकस्येति । प्रत्येकमेकैकस्य समुदायस्य वा संख्याया अनुरूपं वचनं भवति, विशेषणपदे इतिशेषः । तत्र हेतुं निर्दिशति—चार्थस्येति । रामः कृष्णश्च

बाल०—विशेष्यलक्षणमाह,—जातीति जातिद्वारा गुणद्वारा क्रियाद्वारा च । विशेषणलक्षणमप्याह,—येनेति तस्येति विशेष्यस्येत्यर्थः । उदाहरणं दर्शयति । यथेति क्षौममिति क्षौमं दुकूलमित्यमरः ॥१५९॥

बाल—अव्यय । अव्ययस्य विशेषणं ब्रह्म भवति । स्वरिति स्वर्-शब्दोऽव्ययं स्वर्गवाची । स्वरव्ययमित्यमरः ॥१६०॥

बाल०—केचिदिति स्वलिंगं न त्यजन्तीति तेषां तादृशस्वभावत्वादिति शेषः ॥१६१

सुन्दरः। रामः कृष्णश्च प्रत्येकमित्यर्थः सुन्दरौ वा। रामः कृष्ण इति द्वावित्यर्थः। तदिदं रामकृष्णसमासेविवरणीयम्।

१६३. क्वचिद् वहूनां विशेषणत्वेऽप्येकत्वम्।

यथा—धर्म्मे वेदाः प्रमाणमित्यादि।

१६४, विंशत्याद्याः सदैकत्वे अनावृत्तौ।

विंशति वैष्णवाः। तासामेवावृत्तौ तु—द्वेविंशती, तिस्रो विंशतयः।

सुन्दर इति—अत्र चशब्दस्य समुच्चयार्थान्नहि समासप्रसङ्गः। समाहारेतरेतरयोगरूपावर्थौ हि समासविषयाविति तत्र स्फुटीभविष्यति। सुन्दराविति—अत्रेतरेतरयोगार्थो हि चशब्दः। तेनविग्रहपक्षे रामः कृष्णश्चेति; समासपक्षे तु रामकृष्णौ। इह चशब्दस्य द्विविधार्थस्य खलु प्रसंगात् तदेवोक्तं, वस्तुतस्तस्य चातुर्विध्यं समास प्रकरणे विवरिष्यते।

अमृता०—१६३. क्वचिदिति। विशेष्य-विशेषणयो लिङ्ग साम्ये सत्येव वचनसाम्यं तन्त्रं; नतुभिन्नलिङ्गयो स्तयोः। यथा—प्रधानमवताराः; राधा कृष्णौ गति र्ममेत्यादि। तद्वदिहापि भिन्नलिङ्गत्वाद् वचना-समत्वम्। भावप्रत्ययस्यासत्ववाचित्वात् संख्या नापेक्षिता, एकवचनन्तुसाधुत्वार्थम्, अतः प्रमाणमित्येकवचनम्।

अमृता०—१६४. विंशत्याद्या इति। वहूनां विशेषणत्वेऽपि विंशत्याद्याः संख्याशब्दा अनावृत्तौ सत्यां सदाएकत्वे वर्त्तन्ते। तासां विंशत्यादीनामावृत्तौ गुणितत्वे द्विवनादिकं भवत्येव। द्वेविंशतौ—चत्वारिंशत्। तदन्तत्वात् विंशत्याद्यन्तत्वादेकत्व मित्यर्थः।

अत्रायं विवेकः—अष्टादशपर्यन्त संख्याः संख्येये वर्त्तन्ते; ततः पराः संख्याः संख्याने-चेति वक्ष्यते समासे। तेन यदैने संख्यय वृत्तयस्तदा बिशेषणभावत्वाद् विशेष्यानुरूप वहुवचने प्राप्ते सूत्रमिदमेकवचनार्थम्। यदातु संख्यानबृत्तय स्तदा समुदायस्यैकत्वा-भिधानेन नहि वहुत्वप्रसंगः। तदैव विंशति बैष्णवानामिति प्रयोगो, विंशत्यादे र्विशेष्य-वत्वञ्च ज्ञेयम्। आवृत्तौ तु सख्याने द्वेविंशतीवैष्णवा इति तु पद्मनाभः।

बाल०—एकस्येति एकस्य विशेषणस्य यदि अनेकं विशेष्यं भवति, तदा प्रत्येकं समुदायस्य वा संख्यायाः अनुरूपं वचनं भवति विशेषण इति शेषः। हेतुमात्रं चार्थस्येति चार्थस्य चकारार्थस्य। द्वैविध्यात् द्विविधत्वात्। रामः कृष्णश्च सुन्दर इत्यत्र चशब्दः समुच्चयार्थः। तदिदमिति तदिदं चार्थविवरणं रामकृष्णसमासे विवरणीयं विस्तार्य कथनीयम्॥१६२॥

बाल०—सुगमम्॥१६३॥

बाल०—विंश। वहूनां विशेषणत्वेऽप्यनावृत्तौ विंशत्याद्याः सदा एकत्वे वर्त्तन्ते। तांसामिति तासां विंशत्याद्यानां संख्यानाम् आवृत्तौ पुनर्गणनायाम्। एवमिति यथा विंशतिर्वैष्णवा इति भवति, तथा एकं विंशतिवैष्णवा इति भववतीति। तदन्तत्वादिति तदन्तत्वात् विंशत्यन्तत्वात् तथा चेयं व्यवस्था स्वीकर्त्तव्या अष्टादशपर्यन्ताः संख्या संख्येये वर्त्तन्ते, ततः पराः संख्या संख्याने चेति समासप्रकरणे वक्ष्यते। अतएव यदैते संख्येयवृत्तयो

एवमेकविंशतिरित्यादि । तदन्तत्वादूनविंशतिश्च ।

अत्र विशेषणशब्देषु कृष्णनामाख्यशब्दा उच्यन्ते ।

अथ कृष्णनामप्रकरणम् ।

१६५, सर्वादीनि कृष्णनामानि ।

सर्वनामानीत्यन्ये । सर्वविश्व उभ उभय अन्य अन्यतर ततर ततमयतर यतम कतरकतम एकतर एकतम इतर त्वत् त्व नेम सम सिम पूर्व पर अवर दक्षिण उत्तर अपर अधर स्व अन्तर त्वद् छान्दसः तद्यद् एतद् इदम् अदस् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम् ।

तत्र पुंसि सर्व, सर्वौ ।

तत्र विशेषणशब्देष्विति—कृष्णनामाख्यशब्दानां विशेषणतयाभिधानं—आधिक्येन व्यवदेशा इति न्यायेन तद्गण पठितानाभधिकशब्दानां विशेषणत्वात् पदपेक्ष्य हि वोध्यम्; वस्तुतस्तु तेषु युष्मदस्मदौ विशेष्यौ । कारक प्रकरणे "उक्तानुरूपं पुरुषवचनादिकं क्रियाददे" इत्यत्र विशेष्यशब्द-क्रिययोर्वचनव्यवस्थावसरे नाम्नि प्रथमः युष्मदि मध्यमः अस्मद्युत्तम इतिविधान ज्ञापकात् तेथा "सविशेषणत्वे न" इति वहुत्वं निषिध्य "वैष्णवोऽहं व्रवीमी"त्युदाहरिष्यमाणत्वाच्च । वस्तुतो युष्मदस्मदोः कस्यापि प्रतिनिधित्वाभावाद् विशेष्यतया हि व्यवहारो युक्त इतिभावः ।

अमृता०—१६५. सर्वादीनीति संज्ञासूत्रम् । आदिपदंविवृणोति—सर्वेत्यादिभिः ।

भवन्ति, तदा वैष्णवादिपदैः सह तेषां विशेष्य-विशेषणभावः । ततः संख्येयस्य वहुत्वाद्-बहुबचने प्राप्ते एकवचनविधानार्थं सूत्रम् । यदा तु संख्या न बृत्तयोऽमी भवन्ति, तदा समुदायस्यैकत्वेन बहुवचनत्वाभावान्न वहुत्वप्रसङ्गः । अस्मादेव गोपानां विंशतिः गोपीनां विंशतिरित्यादिभिरुदाहार्यम् । आवृत्तौ यदा पुनरमी विंशत्यादाः संख्या न वृत्तयः स्युः, तदैकत्वे एकवचनं, द्विरावृत्तौ द्विवचनं, बहुधा वृत्तौ वहुवचनम् सूत्रेण यर्ह्येते संख्येय-वृत्तयस्तदामीषां विशेषणत्वेनावृत्त्यभिधान-शक्तिर्नास्त्यनभिधानादतो नहि भवति द्वे विंशती वैष्णवाः तिस्रो विंशतयो गोप्य इत्येके । अस्माकं मते भवति किं नेति, न निश्चिन्म इति ॥१६४॥

अथ कृष्णनामप्रकरणम् ।

बाल०—सर्वा इति । संज्ञासूत्रमेतत् ॥१६५॥

१६६. कृष्णनाम-कृष्णतो जसः शीः ।

शइत् सर्वे । सर्वं सर्वौ सर्वान् । सर्वेण सर्वाभ्यां सर्वैः । सर्व-ङे—

१६७. कृष्णनाम-कृष्णतो ङेः स्मैः ।

सर्वस्मै सर्वाभ्यां सर्वेभ्यः ।

१६८. कृष्णनाम-कृष्णतो ङसेः स्मात् ।

सर्वस्मात् । पञ्चम्यां तस् प्रत्ययस्तद्धितः सर्वतः सर्वाभ्यां सर्वेभ्यः । सर्वस्य सर्वयोः सर्व-आम्—

१६९. कृष्णनाम-कृष्ण-राधाभ्याँ सुडामि ।

उटावितौ, कृष्णस्य ए, षत्वं सर्वेषाम् ।

१७०. कृष्णनाम कृष्णतो ङेः स्मिन् ।

सर्वस्मिन् सर्वयोः सर्वेषु । सप्तम्या स्त्रप्रत्यय स्तद्धितः, सर्वत्र । हेसर्व । आदि शब्दः प्रसिद्धगणविशेषग्राहकः । ततश्च—

अमृता०—१६६. कृष्ण नामेति । अरामान्तः कृष्णसंज्ञः । नचेह जसः शिरिति कृतेऽपीष्टसिद्धेः शीरित्यनेन कोधिक लाभ इति वाच्यम्, शिरिति कृते सर्वशब्दादुत्तरं "सर्वेश्वरवैष्णवान्तयो नुम् शौ" इत्यस्य प्रवृत्ति शङ्का स्यात्, तत्रलिङ्गविशिष्टेन निर्देशाभावात् । अतः शीरिति कृत्वा तादृश-शङ्कावसरं निरस्तम् ।

अमृता०—१६७–१६८. सूत्र द्वयं सुस्पष्टम् ।

अमृता०—१६९. कृष्णेति । आमि परे कृष्णनाम-कृष्णात् कृष्णनाम-राधायाश्च उत्तरे सुडागमो भवति । नुटो बाधक एषः ।

अमृता०—१७०. कृष्णेति स्पष्टम् । आदिशब्दइति—सर्वादीनि कृष्णनामानीत्यत्र आदि शब्दः प्रसिद्धस्य गणविशेषस्य ग्राहकः । ततो विशेषमाह—

बाल०—कृष्ण पुंस्येवायं विधिरिति ज्ञेयम् । अरामान्तः कृष्णसंज्ञ इति । ननु शीरित्यत्रः शिरिति कृते को दोष इति चेत् तत्रोच्यते सर्वे इत्यादौ सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयोर्नुम् शावित्यस्य प्रवृत्तिशङ्का स्यात् ॥१६६॥

बाल०—कृष्ण सुगमम् ॥१६७॥

बाल०—कृष्ण सुगमम् ॥१६८॥

बाल०—कृष्ण सुगमम् ॥१६९॥

बाल०—कृष्ण । आदिशब्द इति सर्वादिनीत्यत्रादिशब्दः प्रसिद्धस्य गणविशेषस्यैव ग्राहकः । ततश्च हेतोः सर्वादीनि कृष्णनामानीति सामान्यत उक्त्वा तत्र विशेषमाह ॥१७०॥

१७१. सर्वादिः कृष्णनामाख्यो गौण-संज्ञे विना भवेत् ।

तेन नेह—सर्वमतिक्रान्ताय–अतिसर्वाय । दृष्टः सर्वो येन तस्मै दृष्ट-सर्वाय । सर्वो नाम कश्चित् तस्मै सर्वाय ।

१७२. पूर्वादि च व्यवस्थायां सप्यकं कृष्णनामकम् ।

दिग्देशकाल विभागोऽत्र व्यवस्था, तस्याँ गम्यमानायाम् । पूर्वस्मै दिगन्तराय देशादयेवा । तथा पूर्वस्मै कालायदिनाय पदार्थ विशेषाय वा । अन्यत्र तु पूर्वाय श्रेष्ठाय इत्यर्थः । दक्षिणाय प्रवीणायेत्यर्थः । गौण संज्ञे विनेत्येव— अत्युत्तराय, उत्तराः कुरवः ।

१७३. समोऽतुल्ये कृष्णनाम ।

समस्मै सर्वस्मायेत्यर्थः । नेह–समाय तुल्यायेत्यर्थः ।

अमृता०—१७१. सर्वादिरिति । गौणार्थं विना संज्ञाञ्च विना सर्वादिशब्दाः कृष्ण-नामसंज्ञकाः स्यु रित्यर्थः । परम सर्वस्मै नमः, सुसर्वस्मिन्नुत्सुक इत्यादि प्रयोगत स्तथा 'नकृष्णनाम द्वन्द्वे' इति ज्ञापकतश्च कृष्णनामसु तदन्तविधेरुभ्युपगमात् समासे गौणस्यात्र प्रतिषेधः । तमेव दर्मयति प्रत्युदाहरणैः—तेन नेहेत्यादिभिः । अतिसर्वायेति—अत्यादयो द्वितीययेत्यनेनास्य पूर्वपदप्रधान त्वादुत्तरपदस्य सर्वस्य गौणत्वम् । दृष्टसर्वायेति—पीताम्वरसमासस्यान्य पदप्रधानत्वात् सर्वपदस्य गौणत्वम् । तथा सर्वइतिकस्यचित् संज्ञा, तेन गौणत्वान्न कृष्णनामत्वम् । तदेवादि पदं विवृणोति,—

अमृता०—१७२. पूर्वादीति । ताञ्च व्यवस्थां विशिनष्टि—दिग्देशेति । दिशः देशस्य कालस्य च विभागोऽवयव-कल्पना हि व्यवस्था । पदार्थ विशेषाय वेति—अत्र पदार्थे कालविभाग उपचर्यते, तेन पूर्वं कलस्य पदार्थावित्यर्थः । आकृष्णनामसमाप्ते गौंण-संज्ञे विनेत्यनुवर्त्तत एवेति सूचयति—अत्युत्तरायेति दृष्टान्तद्वयेन ।

अमृता०—१७३. सम इति । सर्वार्थे एव समशब्दः कृष्णनाम इत्यर्थः ।

बाल०—सर्वादिः गौणसंज्ञे विनेति । यदा गौणः संज्ञा च न भवतीत्यर्थः ॥१७१॥

बाल०—पूर्वादि च । पूर्वादिसप्तकं व्यवस्थायां कृष्णनामकं स्यात् । व्यवस्था-लक्षणमाह,—दिक्कालेति । दिक्-कालयोर्विभाग इति दिग्विभागः कालविभागश्चेत्यर्थः । विभागोऽंशः । पदार्थविशेषाय वेति पदार्थविशेषस्य कालविभागत्वमुपचारेणेति ज्ञेयम् । गौणसंज्ञे इति इदं लक्षणं प्रति गौणसंज्ञे विनेति अनुवर्त्तत एवेत्यर्थः । अत्युत्तरायेति उत्तरमतिक्रान्तोऽत्युत्तरस्तस्मै । उत्तराः कुरव इति अत्र दिग्विभागो गम्यो भवत्येव, किन्तु उत्तरशब्दस्य कुरुशब्दस्य देशविशेषस्य नामत्वात् न कृष्णनामत्वम् ॥१७२॥

बाल०—समो । अतुल्येऽर्थे समशब्दः कृष्णनाम भवति । सर्वार्थस्यैव कृष्ण-नामतेत्यर्थः ॥१७३॥

१७४. स्वमज्ञातिधनाह्वये ।

स्वोज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियांधने इत्यमरः। स्वस्मै आत्मने आत्मीयाय वेत्यर्थः। नेह स्वाय ज्ञातये धनायवेत्यर्थः।

१७५. अन्तरो वाह्य-परिधानयो र्नत्वसौ पुरि ।

अन्तरस्मै वाह्यायेत्यर्थः। वस्त्रान्तरावृतपरिधानीयायेति वा। वाह्यत्वेऽपि पुरि वर्त्तमानस्तु न—अन्तराय पुराय वाह्यायेत्यर्थः।

१७६. पूर्वादीनि नव कृष्णनामानि जसि वा ।

पूर्वेपूर्वाः स्वे स्वाः अन्तरे अन्तराः। सर्ववद् विश्वादयोऽप्यरामान्ताः। उभ शब्दो नित्यं द्विवचनान्तः। उभे २ उभाभ्यां ३ उभयोः २। उभस्य सर्वादिपाठो हेत्वर्थे कृष्णनाम्नो योगे सर्वविष्णुभक्त्यर्थ स्तस्य

अमृता०—१७४. स्वमिति। ज्ञात्यर्थं धनार्थञ्च विना अन्यार्थेस्वम् शब्दः कृष्णनाम स्यात्। कस्तावदन्यार्थं इति वोधनार्थममरकोषवाक्यमुट्टङ्कयति—स्वोज्ञाताविति। ज्ञात्यर्थे स्वम् शब्दः पुलिङ्गः, आत्मार्थे नपुंसकः, आत्मीयार्थे त्रिलिङ्गः, धनार्थे पुलिङ्गो नपुंसकश्चे त्यर्थः। एतेन स्वम् शब्दस्य चत्वारोऽर्थादर्शिताः तेषु च नपुंसकयोरात्मात्मीयार्थयोरेव कृष्णनाम संज्ञा तस्येति उदाहरण·प्रत्युदाहरणाभ्यां व्यक्ती कृतम्। स्त्रीलिङ्गे-त्वात्मीयार्थे एव।

अमृता०—१७५. अन्तर इति। वाह्य-परिधान यो रर्थयो रन्तर शब्दः कृष्णनाम भवति, किन्तु वाह्यत्वेऽपि पुरि अर्थे सति कृष्णनाम न स्यात्। परिधानीयशब्देनात्र वस्त्रावृतं वस्त्रमेवोच्यते इत्युदाहरणेन स्फटयति—वस्त्रान्तरावृतेति। वाह्य-परिधानीययोरिति किम्—ग्रामयोरन्तरे तापसस्तिष्ठति, ग्राम द्वयस्य मध्ये इत्यर्थः।

अमृता०—१७६. पूर्वादीनीति। ननुकृष्णनाम शब्देषु कृष्णसंज्ञकानामेकवचने वहुवचने चैव कृष्णनामकार्याणि लक्ष्यन्ते; तर्हि यद्युभशब्दोनित्यं द्विवचनान्त स्तदैतस्य सर्वादिगणे पाठस्य किं फलमिति चेत्तत्राह—उभस्येत्यादि। अत्रउभस्येति अनुकरणत्वादेकत्वम्। हेत्वर्थे इति—"कृष्णनाम योगे निमित्तकारण हेत्वर्थाद् द्वितीया वर्जं सर्वा

बाल०—स्वम्। अज्ञाति-धनाह्वये स्व कृष्णनाम। आत्मनि आत्मीये च कृष्णनामता, आह्वयो नाम ज्ञातिनाम्नि धननाम्नि च न कृष्णनामतेत्यर्थः। स्वशब्दस्य ज्ञात्यादि वाचित्वं स्पष्टयितुं नानार्थ वर्गमाह,—स्वो ज्ञाताविति ॥१७४॥

बाल०—अन्तरो। वाह्य-परिधानीययोर्वर्त्तमानोऽन्तरः कृष्णनाम भवति असौ अन्तरः बाह्यत्वेऽपि पुरि वर्त्तमानस्तु कृष्णनाम न भवति। परिधानीयशब्देनात्र अन्यवस्त्राबृतपरिधानीयमेवोच्यते, अतएवोक्तं वस्त्रान्तराबृतेति अन्तरशब्दोऽप्यार्थः। बाह्य-परिधानीययोरिति किं ग्रामयोरन्तरे तापसः मध्ये इत्यर्थः ॥१७५॥

वृत्तिमात्रे पुंवद् भावार्थश्च । त्वत् त्वौ अन्यपर्यायौ । नेमोऽर्द्धपर्यायः । समादय उक्तार्थाः । सिमश्च सर्वार्थः; शक्तावबद्ध मर्यादानां वाचीति तु मतभेदाः, अन्ये तु प्रसिद्धाः ।

१७७, पूर्वादिभ्यो नवभ्यः स्मात्स्मिनौ वा ।

पूर्वस्मात् पूर्वात्, पूर्वस्मिन् पूर्वे ।

१७८, न कृष्णनाम तृतीया समासे तद्वाक्ये च ।

मासेन पूर्वायेति वाक्ये मासपूर्वाय । केवल वाक्येतु मासेन पूर्वस्मै धनं देहि ।

विष्णुभक्तय" इति शासनेन—उभौ हेतू, उभाभ्यां हेतुभ्यामित्यादिप्रकारेण सर्वविष्णुभक्ति प्राप्तये पाठ इत्यर्थः । तथा कृष्णनाम्नौ वृत्तिमात्रे एकपदत्वे पुंवद्भावाय च पाठः । अपि च "अव्यय कृष्णनाम्नोस्तु संसारात् प्रागक्" इत्यनेन विधास्यमानाक् प्रत्ययार्थश्चेत्यनुसन्धेयम् । पर्यायिशब्दोऽर्थ वाची, त्वत् त्वौ अन्यार्थावित्यर्थः ।

अमृता०—१७७. पूर्वादिभ्य इति स्फटम् ।

अमृता०—१७८. नकृष्णेति । तृतीया समासे तृतीयासमास-वाक्ये च सर्वादिः कृष्णनाम न भवति । तदन्तविधिना समस्तमात्रे प्राप्त प्रतिषेध एषः । मास पूर्वायेति—"ष्टतीयार्थ कृतगुणवचनेनार्थादिभिश्च"त्यनेनार्थादिभिस्तृतीया समासः । इह यद्यपि सामान्यत स्तृतीयासमासइत्युक्तस्तथापि टीकोक्तलक्षणस्थार्थादिभिरेव समासे तद्वाक्ये वा कृष्णनामत्व-प्रतिषेधो ज्ञेयः, प्राचीनसम्मतत्वात् । तेन 'कर्त्तृ करणेकृते'त्यनेन समासे तु कृष्णनामभवत्येव । त्वयका कृतं त्वकत्कृतमित्यादि । काशिका । मासेन पूर्वस्मै इत्यादि तु नसमास वाक्यं क्रियासापेक्षत्वात् ।

बाल०—पूर्वादीनि । सर्ववदिति सर्वशब्दवदित्यर्थः । ननु उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्त एव । अरामान्तशब्दानां कृष्णनामकार्याणि तु एकवचन-वहुवचनविषयाणि तत्कथमयं सर्वादिगणे पठ्यते इति चेत्तत्राह उभस्येति अनुकरणत्वादेकवचनम् उभशब्दस्येत्यर्थः । कृष्णनाम्नो योगे त्वर्थे सर्वविष्णुभक्त्यर्थः इति । कृष्णनामयोगे निमित्तकारण हेत्वर्थात् द्वितीयावर्जं सर्वाविष्णुभक्तयः इत्यनेनेति शेषः । तस्य उभशब्दस्य वृत्तिमात्रे पुम्वद्भावार्थश्चेति कृष्णनामवृत्तिमात्रे इत्ययेनेति शेषः । वृत्तिनात्रमेकपदत्वम् । अव्ययकृष्णनाम्नोस्तु संसारात् प्रागक इत्यनेन अकप्रत्ययार्थः सप्तमीत्यत्र इत्यनेनात्र प्रत्ययार्थश्चेति च ज्ञेयम् । अन्यपर्यायाविति अन्यार्थावित्यर्थः । अर्द्धपर्यायोऽर्द्धार्थः । समादय इति समस्वान्तरा उक्तार्थाः कथितार्थाः । शक्तेति सिमशब्दः पुमः शक्तादीनां वाचीति तु मतभेदा इति च पाठान्तरं दृश्यते । शक्तस्य वाचीति मतभेदः अववद्धस्य वाचीति मतभेदः । मर्यादाया वाचीति मतभेदः एवं क्रमेण मतभेदा इत्यर्थः । अन्ये त्विति अन्ये तु शब्दाः प्रसिद्धा इत्यर्थं ॥१७६॥

बाल०—पूर्वा । सुगमम् ॥१७७॥

१७९. न कृष्णनाम द्वन्द्वे जसि तु वा ।

पूर्वापराणां, वैष्णवेतरे वैष्णवेतराः ।

१८०. प्रथम-चरम-तयायाल्पार्द्ध कतिपयनेमा कृष्णनामानि जसि वा ।

प्रथमे प्रथमाः । तयायौ प्रत्ययौं—द्वितये द्वितयाः, द्वये द्वयाः । शेषं कृष्णवत् । उभयस्य द्विवचनाभावः । उभयः उभये उभयाः । इहापि जसः कार्यं प्रति विभाषेति काशिका । उभये इति नित्यं भाषायामिति तुकालापाः । नेमे नेमाः, शेषं सर्ववत् ।

अमृता०—१७९. नकृष्णेति । द्वन्द्वसमासे सर्वादि कृष्णनाम नभवति, जसि परे तु वाभवति । पूर्ववत् सर्वत्र प्राप्ते निषेधः । पूर्वापराणामितिपूर्वेच अपरे च पूर्वापरा स्तेषाम् । अत्र कृष्णनामकार्यं सुट् न स्यात् । एवमुत्तरत्रोदाहरणे जसः शी वा ।

अमृता०—१८०. प्रथमेति । इह प्रथमादि कतिपयान्तानां सर्वादिष्वपाठाज्जसि विकल्पेन कृष्णनामात्वप्राप्त्यर्थं ग्रहणम् । नेमशब्दस्य तु नित्ये प्राप्ते विभाषार्थम् । द्वितये इति—'अवयववृत्तेः संख्यायाः केशवस्तय" इतितयप्रत्यय स्तद्धितः । द्वये इति—"द्वित्रिभ्यामयश्च" इति अय प्रत्ययः । उभये इति—"उभादय" इत्यनेन अय प्रत्ययान्तत्वाज्जसि विकल्पः । अत्र काशिकाया अपि—सम्मतिं दर्शयति—इहापीति । कालापमते—उभया इति छान्दसप्रयोगः ।

बाल०—न कृष्ण । तृतीयासमासे तृतीयासमासवाक्ये च सर्वादि कृष्णनाम न भवति । मासेन पूर्वायेति वाक्ये 'तृतीयार्थकृत-गुणवचनेनार्थादिभिश्च'त्यनेन तृतीयासमासः । तृतीयेति पदोपादाने यः समासः, स तृतीयासमासः; अतः 'कर्तृकरणे कृते' त्यनेन समासे तु कृष्णनाम कार्यं भवत्येव त्वयकाकृतं त्वकत्कृतं मयकाकृतं मकत्कृतमिति । मासेन पूर्वस्मै धनं देहीति नैदं समासवाक्यम् ।।१७८।।

बाल०—न कृष्ण । द्वन्द्वसमासे सर्वादि कृष्णनाम न भवति । जसि तु वा भवति । पूर्वापराणामिति पूर्वे च अपरे च पूर्वापरस्तेषाम् । वैष्णवेतरे इति वैष्णवाश्च इतरे चेति विग्रहः ।।१७९।।

बाल०—प्रथ । प्रथम-चरमादयः जसि कृष्णनामानि वा भवन्ति । नेमव्यतिरिक्ता सर्वे जसि कृष्णनामानि वा भवन्ति । अन्यत्रैषां न कृष्णनामत्वम् सर्वादिष्वपाठादित्यर्थः । द्वितये इति अवयववृत्तेः संख्यायाः केशवस्तय इत्यनेन तयप्रत्ययः । द्वये इति द्वित्राभ्यामयश्चे'त्येनेन अयप्रत्ययः । शेषमिति शेषं रूपमित्यर्थः । उभये इति उभादय इत्यनेन अयप्रत्ययः । ईहापीति उभयशब्देऽपीत्यर्थः । अत्र काशिकामतमेवास्माकमपि मतम् । उभये इति छान्दसमिति कालापानां मतम् ।।१८०।।

१८१. तीयस्य कृष्णनामता वृष्णिषु वा।

द्वितीयस्मै द्वितीयाय, द्वितीयस्मात् द्वितीयात्, द्वितीयस्मिन् द्वितीये। शेषं कृष्णवत्। एवं तृतीयः। अर्थवद् ग्रहणात्तु—गोपजातीयाय। अथ तदादयः।

१८२. तदादिसप्तानां संसारस्यारामः स्वादौ दस्य च मः, तदादेस्तः सः सौः।

सःतौते। तंतौ तान्। तेन ताभ्यां तैः। तस्मै ताभ्यां तेभ्यः। तस्मात् इत्यादि। बुद्धस्यादर्शनं हेस। तदोः सः सावनन्त्ययोरितिसूत्रे काशिकादावप्येतद्दर्शितम्। हेस हेअसाविति भाष्योदाहरणात्। प्रक्रिया तु चिन्त्या।

गौण-संज्ञयोस्तु न तदादि कार्यम् सर्वादिगणत स्त्यागात्। अतित्वद्

अमृता०—१८१. तीयस्येति। तीयप्रत्ययान्तस्य वृष्णिषु कृष्णनामता वा स्यात्। अप्राप्ते विधिरयम्। द्वितीयस्मै इति—द्वितीय तृतीयौ पूरणे साधू इत्यनेन तीय प्रत्ययः। गोपजातीयायेति—प्रकारवति जातीय इत्यनेन जातीयप्रत्ययो नतु तीय एषः।

अमृता०—१८२. तदादीति। स्वादौ परे तदादि सप्तानां संसारस्य स्थाने अरामादेशः स्यात्, इदमदसोः दरामस्य स्थाने मरामश्च। सौ परे तु तदादेर्मध्ये तदेतयोः तरामः सरामः स्यात्। सइति—तदादिसप्तानामिति संसारस्यारामे कृते तदादेरिति तरामस्य सरामः, सोर्विष्णुसर्गः। हेस इति—बुद्धस्यादर्शने काशिकाभाष्ययोः सम्मतिं दर्शयति—तदोरिति। काशिकायां प्रत्युदाहरणतया धृतमेतत्। यथा—अनन्त्ययोरिति किम्—हेस इति। तथैव भाष्ये—"यद्यन्तयोः सत्वं स्यादिह वेस इति एङ् ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपो नस्यादिति।" यदि अन्तयोरपि तदोः सः स्यात्तदा तच्छन्दस्यापि अन्तस्य दरामस्य सत्वं प्रसज्येत, तर्हि एओ वामनेभ्य इति बुद्धस्यादर्शनं न स्यादित्यर्थः। नच—राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादिना सुलोपे कृतेऽपीष्टं सिध्येदिति वक्तव्यम्। तथा सति—हेसः इत्थं सविष्णुसर्गं रूपमापद्येत। प्रक्रिया मते हेस इति नसिध्यतीत्यत आह—चिन्त्येति। तदादि

बाल०—तीयस्य। तीयप्रत्ययान्तस्य वृष्णिषु कृष्णनामता वा भवति नान्यत्र कृष्णनामत्वम्। द्वितीयस्मै इति पूरणार्थे तीयप्रत्ययः। गोपजातीयायेति 'प्रकारवति जातीयः' इत्यनेन जातीयप्रत्ययः। जातीयाऽरयववतीयस्यार्थे नास्ति ॥१८१॥

बाल०—तदादि। स्वादौ परे तदादि सप्तानां संसारस्य स्थाने अरामः, दस्य स्थाने मरामश्च भवन्ति। तदा। सौ परे तदादेस्तरामः सरामो भवति। तदोरिति एतत् हे स इति पदम्। एतद्दर्शने हेतुमाह—हे स हे असाविति भाष्योदाहरणादिति प्रक्रिया तु चिन्त्येति। हे स इति न भवतोति प्रक्रियामतम्। अतितदिति अतिक्रान्तस्तमिति विग्रहः।

अतित्वदौ । तद्धिते पञ्चम्यां यतः, सप्तम्यां यत्र । एतद्—एषः एतौ एते । तद्धिते पञ्चम्यां अतः, सप्तम्यां अत्र ।

१८३, इदमोऽयं सौ इयन्तु लक्ष्म्याम् । साकस्य त्वयकमियकमौ ।

अयम् इमौ इमे । इमम् इमौ इमान् ।

१८४, इदमोऽकरामस्य अनष्टौसोः ।

१८५, वैष्णवेत्वश् ।

१८६, सकरामस्य च कथितानुकथने ।

शित् सर्वस्येति सर्वादेशः । आभ्याम् । इमकाभ्यामहः कृष्णोऽर्चितः,

---

सप्तानां सम्बुद्धिर्नास्तीत्याधुनिकाः । एष इति—तदादिसप्तानामिति संसारस्यारामे एत इति स्थिते तदादे स्तः सः, ततो विरिञ्चि त्वादीश्वर हरिमित्रेत्यादिना षत्वम् ।

अमृता०—१८३. इदमइति । सौ परे इद्मशव्दस्थाने पुंसि अयमादेशोभवति लक्ष्म्यान्तु इयमिति । साकस्य तु इदमः स्थाने सौ परे पुंसि अयकं स्त्रियान्तु इयकमित्यादेशः स्यात् । अक् प्रत्ययश्च तद्धिते वक्ष्यते—अव्यय कृष्णनाम्नोस्तु संसारात् प्रागक् इत्यनेन । अयमिति—राधाविष्णुजनाम्यामिति सोर्हरः ।

अमृता०—१८४. इदमइति । टाओस् परयोः करामरहितस्य इदमः स्थाने अन-इत्यादेशो भवति ।

अमृता०—१८५. वैष्गव इति । अकरामस्येदमः स्थाने वैष्णवे परे तु अश् भवति ।

अमृता०—१८६. सकरामस्येति । कथितात् अनुपश्चत् कथनेऽर्थादन्वादेशेसति सकरामस्य चेदमः स्थाने वैष्णवे परे अश् भवति । अनेनेति—अरामान्तादेशत्वात् "कृष्णात् टा इनः ।" आभ्यामिति—आद्यन्तवदेकस्मिन्निति रीत्या कृष्णस्य त्रिविक्रमः ।

तद्धिते पञ्चम्यां ततः इति तदस्ततस्तत्र । यदो यतो यत्र । एतदोऽतोऽत्र । इदम इत इ० । अदसो अमुतोऽमुत्र । किमः कुतः कुत्रेति । तस् त्राभ्यां हे न च त्रिष्वपि लिङ्गेषु साधवः कुत्रस्य क्वेति चेति तद्धिते वक्ष्यते ।।१८२।।

बाल०—इद । सौ परे इदमः स्थाने अयमिति निपात्यते । इयन्तु सौ परे लक्ष्म्यान्तु इयमिति निपात्यते ।

साकस्य । साकस्य तु इदमः स्थाने सौ परे अयकमियकमौ निपात्येते पुरुषोत्तम-लक्ष्म्योरिति शेषः ।।१८३।।

बाल०—इद । न विद्यते करामो यत्र तादृशस्य इदमः स्थाने टौसोः परयोरनो भवति ।।१८४।।

बाल०—वैष्ण । अकरामस्य इदमः स्थाने वैष्णवे तु परे अश् भवति ।।१८५।।

अथ आभ्यां रात्रिमपि ।

१८७, इदमदोभ्यामकरामाभ्यांनैस् ।

एभिः । अस्मै आभ्यां एभ्यः । अस्मात् आभ्याम् एभ्यः । तद्धिते पञ्चम्यां इतः । अस्य अनयोः एषाम् । अस्मिन् अनयोः एषु । तद्धिते सप्तम्यां इह । संसारात् पूर्वमक् प्रत्यये इदमक् शब्दो भवति । अयकम् इमकौ इमके सर्ववत् ।

१८८, एतदिदमोरेनः कथितानुकथने द्वितीयाटौस्सु ।

एतम् इमम् वा दीक्षय, अथो एनं पाठय । एनम् एनौ एनान् । एनेन एनयोः ।२।

अदस् सु संसुारस्यारामः;

१८९, अदसो दस्य सः सौ, सोरौच् ।

असौ । अमौ इति स्थिते—

इमकाभ्यामिति—संसार स्यारामः, दस्यमः, कृष्णस्य त्रिविक्रमः; तत इमा इत्यवस्थायां संसारात् प्रागक् । अथेत्यादिना अनुकथनात् सकरामस्य इदमः स्थाने आभ्यामिति ।

अमृता०—१८७. इदमिति । करामरहिताभ्यां इदमदस् शब्दाभ्यां परस्य भिसः स्थाने ऐस् न स्यात् । वैष्णवे त्वशिति अशिकृते कृष्णाद्भिस ऐस् प्राप्ते निषेधोऽयम् । ततः प्राप्तावसरस्य—'कृष्णस्य एवैष्णवे बहुत्वे' इत्यस्यैव प्रवृत्तिः । वृष्णिषु संसारस्यारामे दस्य च मरामे कृते स्वैप्रभृत्यादेशः, ततश्च वैष्णव परत्वात् अश् ।

अमृता०—१८८. एतदिति । कथितानुकथने अन्वादेशे सति द्वितीयाटौस्सु एतदिदम् शब्दयोः एन इत्यादेशः स्यात् । एनेनेति—एतेन अनेन वा रात्रौ हरि र्गीतः, अथ एनेन अहरपि पूजितः । एवं एतयो रनयो र्वा नम्रस्वभावः, अथ एनयोः शुद्धा प्रीतिश्च ।

अमृता०—१८९. अदस इति । सौपरे अदसः दस्य स्थाने मरामापवादः सरामः

बाल०—सक । अनुशब्दः पश्चादर्थे । कथितस्यानुकथनं तस्मिन् सति सकरामस्य च इदमः स्थाने अश् भवति ।

अहरिति । अहरिति द्वितीयैकवचनान्तं 'कालाध्वनोरत्यन्तव्याप्तौ द्वितीये'त्यनेन द्वितीया । अथ आभ्यामिति अत्र सकरामस्याश् ।।१८६।।

बाल०—इद । अकरामाभ्याम् इदम् अदस् इत्येताभ्यां परस्य भिसः स्थाने ऐस् न भवति । कृष्णाद्भिस् ऐसित्यनेन प्राप्ते निषेधः । एभिरिति इदमः स्थाने अशि कृते 'कृष्णस्य ए वैष्णवे बहुत्वे' इत्यनेन अरामस्य एरामः ।।१८७।।

बाल०—एत । एनेनेति एतेन अनेन वा रात्रिरधीता अथो एनेनाहरप्यधीतम् । एनयोरिति एतयोरनयोर्वा शोभनं शीलम् । अथ एनयोर्भक्तिश्च निर्गला इति ।।१८८।।

१८०, अदो मात् परस्य सर्वेश्वरस्य उऊ यथेष्टसिद्धि ।

वामनस्य वामनः, त्रिविक्रमस्य त्रिविक्रमः । अमू । जसि अमेइतिस्थिते—

१८१, अदसएतई बंहुत्वे नतु कात् ।

अमी । अम् अमू अमून् । मत्वे चोत्वे चकृते हरितष्टाना, अमुना । भ्यामि कृष्णस्य त्रिविक्रमः पश्चाद् ऊ अमूभ्याम् अमीभिः । स्मै प्रभृतौ कृते पश्चादुरामः । अमुष्मै अमूभ्याम् अमीभ्यः । अमुष्मात् अमूभ्याम् अमीभ्यः । तद्धिते पञ्चम्यां अमुतः । अमुष्य, एत्वे अयादेशे च कृते पश्चादुरामः,अमुयोः अमीषाम् अमुष्मिन् अमुयोः अमीषु । तद्धिते अमुत्र । चित्करणेन हेअसाविति बुद्धस्यादर्शनं न स्यात् । अदस औ सुलोपश्चे-त्यत्र काशिकादावप्यस्य सम्मतिः प्रसादे च । अक् प्रत्यये असकौ,

---

स्यात् सुस्थाने औच् च स्यात् । असाविति—प्रथमतः संसारस्य अरामः, ततो दस्य से, औचि च, संसारहरे च असौ ।

अमृता०—१८०. अद इति । इष्ट सिद्धमवति क्रम्येति यथेष्टसिद्धि; अव्ययीभावे ब्रह्मत्वम् । अदसो दस्य च म इत्यनेन जातात् मात् परस्य सर्वेश्वरस्य यथेष्टसिद्धि उऊ भवतः । वामन सर्वेश्वरस्य उः, त्रिविक्रमस्य ऊः स्यातामित्यर्थः ।

अमृता०—१८१. अदस इतिं । वहुत्वे विषये अदसः प्राप्तस्य एरामस्य स्थाने ईरामोभबति । करामादुत्तरस्य तु एरामस्य स न भवति । टादौ साधन क्रमः स्वय-मेवोक्तः । तत्रअमीभिरिति—संसारस्यारामे मत्वे च कृते, "कृष्णस्य एवैष्णवे वहुत्वे" इत्येरामः । तत ईविधेर्वलवत्त्वादूरामं वाधित्वा एतईः । ननु हेगोकुल इत्यत्र यथा बुद्ध-स्थानीयत्वादमोऽप्यदशनं कृतं तथेहापिऔचोऽदर्शनं कथ नस्यात्तत्र सिद्धान्तमाह—चित् करणेनेति । चित्करणेन संसारहरे सति वामनाभावान्न बुद्धादर्शनमित्यर्थः । किञ्चात्र राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादिनापि सोर्हरो नोपपद्यते, सन्निपात लक्षणत्वादिति ध्येयम् । तत्र

बाल०—अद । सौ परे अदसो दस्य स्थाने सो भवति, सोः स्थाने औच् च भवति । असाविति औचि कृते संसारहरः ॥१८८॥

बाल०—अदो मात् । अदो मात् परस्य सर्वेश्वरस्य स्थाने यथेष्टसिद्धि उऊ भवति । यथेष्टसिद्धीति इष्टसिद्धिमनतिक्रम्येत्यर्थ 'अव्ययं सप्तम्याद्यर्थेषु नित्यमि'त्यनेनाव्ययी-भावः । तस्याव्ययत्वं ब्रह्मत्वञ्चेति अव्ययत्वं ब्रह्मत्वञ्च । येन प्रकारेण इष्टसिद्धिर्भवति, तथैव उ ऊ भवतीत्यर्थः ॥१८०॥

बाल०—अद । वहुत्वे विषये अदस एतः स्थाने ई भवति । कादुत्तरस्य एतः स्थाने ई न भवति । ननु हे गोकुलेत्यत्र यथा वुद्धस्थानीयत्वादमोऽदर्शनं कृतं, तथा हे असावित्य-त्रापि औचोऽदर्शनं कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्राह,—चित्करणेनेति चित्करणेन संसारहरो

अमुकश्चेति मन्यन्ते । औ प्रभृतौ मराम मध्याः; अमुकौ अमुके । एकः सर्ववत् ।

अथ द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः ।

१८२, न द्वेर्मः ।

द्वौ द्वौ द्वाभ्याम् द्वाभ्याम् द्वाभ्याम् द्वयोः द्वयोः ।

युष्मदस्मदौ त्रिष्वपिसमानौ ।

१८३, युष्मदस्मदो स्त्वमहमादयः स्वादिना सह ।

तत्र युष्मच्छब्दस्य—त्वं युवां यूयम् । त्वां युवां युष्मान् । त्वया युवाभ्यां युष्माभिः । तुभ्यं युवाभ्यां युष्मभ्यः । त्वत् युवाभ्यां युष्मत् । तव युवयोः युष्माकम् । त्वयि युवयोः युष्मासु ।

अस्मच्छब्दस्य—अहं आवां वयम् । मां आवां अस्मान् । मया आवाभ्यां अस्माभिः । मह्यं आवाभ्यां अस्मभ्यम् । मत् आवाभ्यां अस्मत् । मम आवयोः अस्माकम् । मयि आवयोः अस्मासु ।

काशिकादिसम्मतया स्वमतं दृढयति—अदस औ इत्यादिभिः । अमुकेइति—अदसएत्ईई इत्यादौ नतु कात् इति निषेधान्न ईः ।

अमृता०—१८२. नद्वे रिति दस्य च म इत्यनेन तदादेः प्राप्तः मरामो निषिध्यते । युष्मदस्मदौ शब्दौ त्रिष्वपि लिङ्गेषु समानरूपकौ इत्यर्थः । ननु प्रागनयो विशेष्यत्वमुपपादितम्, इह चत्रिलिंगेषु समरूपत्वलाभादनयो विशेषण शब्देषु कथं लिङ्गनिश्चयः ? वैष्णवस्त्वं ब्रवीषीत्यादौ त्वं पदे लिङ्गविशेष वोधाभावात् तद्विशेषणीभूते वैष्णवपदेऽपिलिङ्गनिश्चयो मा भूदिति चेत् ? सत्यमुच्यते—पदार्थमवगम्य हि लोकेपदंप्रयुज्यते; अतः त्वं पदप्रयोगात् प्रागेव त्वंपद वाच्यः पदार्थः सलिङ्गो हि तत्प्रयोक्तुर्बुद्धिविषयीभवति । तत स्तद्विशेषणे च तदनुरूपलिङ्ग परिग्रहः सुकर एवेति न तत्र लिङ्गानिश्चयशङ्का ।

अमृता०—१८३. युष्मदस्मद् शब्दयोः स्थाने स्वदिनासह त्वमहमादयो निपात्यन्ते ।

भवतीति वामनाभावात् न बुद्धादर्शनमिति । अदस इति अदस औं सुलोपश्चेत्यत्र लक्षणे काशिकादावपि अस्य हे असावित्यस्य बुद्धादर्शनाभावस्य बासम्मतिर्वर्त्तत इति शेषः । प्रसादे चास्य सम्मतिः । प्रसादो व्याकरणविशेषः । मन्यन्त इति पूर्वाचार्या इति शेषः । मराममध्या इति प्रयोगा इति शेषः । अमुके इति न तु कादिति न ई ॥१८१॥

बाल०—न द्वेर्मः । द्विशब्दस्य दरामस्य स्थाने मो न भवति ॥१८२॥

बाल०—युष्म । स्वादिना सह युष्मदस्मदोः स्थाने त्वमहमादयोनिपात्यन्ते ॥१८३

१९४, अनयो र्विष्णुपदत्वे सत्येव संसारात् पूर्वमक् प्रत्ययः ।

त्वकम् युवकाम् यूयकम् । किन्तु त्रि-सर्वेश्वरत्वे मध्यसर्वेश्वरात् पूर्वमक् । युवकाभ्याम् युष्मकाभिः युष्मकभ्यम् युष्मकाकम् युष्मकासु । एवमस्मदोऽपि । गौणत्वे त्वामतिक्रान्त इत्यर्थे अतित्वत् । युवामतिक्रान्त इत्यर्थे अतियुवत् । युष्मानतिक्रान्त इत्यर्थे अतियुष्मत् । एवंअतिमत् अत्यावत् अत्यस्मत् । एवं प्रत्वदादयोऽपि ।

१९५, तेषां सर्वेषाँ त्वमहमादय एव सुजस् ङेङस् सु ।

यथा अतित्वं अतियूयं अतितुभ्यं अतितव । एवमत्यहमित्यादि ।

१९६. अन्यत्र वमपर्यन्त वर्जमक्षराणि प्रकृतपदवत् कार्यांणि ।

यथा अतित्वद् औ इति स्थिते अद् औ भागस्य युवामित्यन्तस्थित आम्-भाग आदिश्यते—अतित्वाम् । एवं अम्-अतित्वाम् । पुमरौ अतित्वाम् । शस् अतित्वान् । टा अतित्वया । यथा च अतियुवच्छात्-अतियुवाम् ।३

अमृता०—१९४. अनयोरिति । युष्मदस्मदोः शब्दयो र्विष्णुपदत्वे सत्येवेतिसिद्ध पदावस्थायामित्यर्थः । गौणत्वे अतित्वादादयः सर्वे दरामान्ता ज्ञेयाः, अग्रे दर्शयिष्यन्ते ।

अमृता०—१९५. तेषामिति । अतित्वदादीनां प्रत्वदादीनाञ्च सुजस् ङेङस् विष्णु भक्तिषु त्वमहमादय एव निपात्यन्ते । अतित्वमिति—अतित्वदः अतियुवदः अतियुष्मदश्च सौ रूपम् । एवमतियूयमिति—त्रयाणामेव जसि रूपम् । एवं ङेङसोश्च । एवमत्यहमिति —अतिमत् अत्यावत् अत्यस्मत् शब्दानां सौरूपम् । तथा जसि तेषामेवअतिवयमिति । एवं ङे ङसोश्च ज्ञेयम् ।

अमृता०—१९६. अन्यत्रेति । उक्तेभ्योऽन्यत्र विष्णुभक्तिषु आदेशिनो युवामित्यादि पदस्य प्रकृतस्यातित्वदादेश्च वम पर्यन्तभागं वर्जयित्वा अक्षराणि अवशिष्टभागः प्रकृत

बाल०—अनयोरिति युष्मदस्मदोः । किन्त्विति । त्रिसर्वेश्वरत्वे इति विष्णुपदस्येति शेषः । गौणत्व इति अतित्वदिति अतित्वच्छब्दो भवतीति मन्तव्यमित्यर्थः । एवमतियुवदित्यादि । अतित्वदित्यस्य अदेशावस्थायां दान्तत्वं ज्ञेयम् । अतित्वद् औ इति स्तिते अद औभागस्येत्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । एवमतियुवदित्यादेः तान्तता तु पदत्वेन । एवमतिमदिनि मामतिक्रान्त इत्यर्थे अत्यावदिति आवाततिक्रान्त इत्यर्थे अत्यस्मदिति अस्मानतिक्रान्त इत्यर्थे । एवमिति प्रकृष्टः त्वं यत्रेत्यर्थे प्रत्वदिति ।।१९४।।

बाल०—तेषाम् । तेषां सर्वेषाम् अतित्वदित्यादीनां प्रत्वदादीनाञ्च त्वदादीनां स्थाने सु-जस्-ङे-ङस्सु त्वमहमादय एव निपात्यन्ते । उदाहरणं दर्शयति यथेति । अतित्वमिति अतित्वच्छब्दस्य अतियुवच्छब्दस्य अतियुष्मच्छब्दस्य च रूपम् एवमतिययमित्यादि ।।१९५।।

अतियुवान् अतियुवया । यथाच अतियुष्मच्छब्दात्—अतियुष्मां३ । अतियुष्मान् अतियुष्मया । आमि च अतित्वाकमित्यादि । अतित्वयाकमित्यादि केषाञ्चित् ।

एवमस्मदोऽपि ।

१९७. विष्णुपदाद् वा, अन्वादेशेतु नित्यम् ।

अधिकारोऽयम् । उत्तरप्रकरणव्याप्यधिकारः । वां नौ पर्यन्ता ये विरिञ्चयो वक्ष्यन्ते तेसर्वे विष्णुपदाद् वक्तव्याः । तेच अनन्वादेशे वा, अन्वादेशे तु नित्यमित्यर्थः । पुनः कथनमान्वादेशः ।

१९८. युष्मान् युष्मभ्यं युष्माकमित्येषां वस् ।
अस्मान् अस्मभ्यं अस्माकमित्येषां नस् ॥

हरियुष्मानवतु हरिर्वोऽवतु । हरिर्युष्मभ्यं रोचतां हरि र्वो रोचताम् । हरिर्युष्माकं सर्वस्वं हरि र्वः । हरिरस्मानवतु हरि र्नः । हरिरस्मभ्यं

पदवत् कथित पदवत् कर्त्तव्यानि । एवंअमिति—अतित्वद् अम्इतिस्थिते अद् अम् भाग स्थाने त्वामित्यन्तस्थित आम्भाग आदिश्यते । एवमग्रेऽपि ।

अमृता०—१९७. विष्णुपदादिति । अधिकारसूत्रमेतत् । मूलएव व्याख्यातम् । अधिकारलक्षणमाह—उत्तरप्रकरण व्यापीति । उत्तरप्रकरणं वक्ष्यमाण प्रकरणं व्याप्तुं शीलमस्येति तथा ।

अमृता०—१९८. युष्मानिति । विष्णु पदादुत्तरं युष्मान् युष्मभ्यं युष्माकमित्येषां स्थाने अनन्वादेशे वस् वा भवति, अन्वादेशे तु नित्यम् । एवमग्रेऽप्युन्नेयम् ॥१९८॥

बाल०—अन्यत्र । सु-जस्-ङे-ङस् भ्योऽन्यत्र वमपर्यन्त वर्जम् अवशिष्टानि अक्षराणि वमपर्यन्तवर्जं प्रकृतपदवत् पूर्वोक्तपदवत् कार्याणि कर्त्तव्यानि । अतित्वच्छब्दस्य उदाहरणं दर्शयति यथेति । एवम् अम् अतित्वामिति अतित्वद् अम् इति स्थिते अद् अम् भागस्य त्वामित्यन्तस्थित आम भाग आदिश्यते एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । अतियुवच्छब्दस्योदाहरणं दर्शयति यथाचेति अतियुवामिति अतियुवद् औ इति स्थिते अद औभागस्य युवामित्यन्तस्थित आम्भाग आदिश्यते । एवमन्यत्रापि वोद्धव्यम् । अतियुष्मच्छब्दस्या।दाहरणं दर्शयति यथा—चेति अतियुष्मामिति अतियुष्मद् औ इतिस्थिते-अद् औ भागस्य युवामित्यन्तस्थित आम् भाग आदिश्यते । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । अतित्वाकमिति अतित्वद् आम् इति स्थिते अद् आम् भागस्य युष्माकमित्यन्तस्थित आकम् भाग आदिश्यते । आदिशब्देन अतियुवाकम् अतियुष्माकमिति । अतित्वयाकमित्यादीति आदिशब्देन अतियुवयाम् अतियुष्मयामिति ॥१९६॥

बाल०—विष्णु । अधिकारलक्षगमाह,—उत्तरेति ॥१९७॥

रोचतां हरि र्नः । हरि रस्माकं सर्वस्वं हरिर्नः । अन्वादेशे तु नित्यम् । हरिरस्मानवतु अथो न स्तद्भक्ताः कृपयन्तु । इत्यादि सर्वत्र योज्यम् ।

१९९. तुभ्यं तवयो स्ते मह्यं ममयो र्मे ।

हरि स्तुभ्यं रोचतां हरिस्ते । एवं हरि स्तव हरिस्ते । हरिस्तुभ्यं रोचताम्, अथो हरिस्ते प्रेम ददातु । हरिमह्यं हरिर्मे । हरिर्मम हरिर्मे ।

२००. त्वां मां त्वा मा ।

हरि स्त्वां पातु हरिस्त्वा पातु । हरिर्मां पातु हरिर्मा । हरिस्त्वां पातु अथोहरिस्त्वा पश्यतु । हरिर्मां पश्यतु अथोहरिर्मा रक्षतु ।

२०१. युष्मदस्मद् विष्णुपदयो र्वांनौ द्वितीया चतुर्थी षष्ठी द्वित्वे नतु समासे ।

हरिर्युवां पातु हरिर्वां । हरिर्युवांरक्षतु अथ हरिर्वां पश्यतु । हरि र्युवाभ्यां रोचतां हरिर्वाम् : हरिर्युवयोः स्वामी हरिर्वाम् । हरिरावां

अमृता०—१९९. तुभ्यमिति । स्पष्टम् । तवयोरिति—अनुकरण "तव" शब्दाद् विष्णुभक्तिः । एवं ममयो रिति च ।

अमृता०—२००. त्वामिति । स्फटम् । त्वामिति मामिति च सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी ।

अमृता०—२०१. युष्मदिति । युष्मदस्मदोः सिद्धयो र्विष्णुपदयो र्यथाक्रमं वांनौ आदशौ भवतो द्वितीया चतुर्थी षष्ठी द्विवचने । किन्तु सभासे तत्तदादेशौ न स्याताम् । अत्र पूर्वत्र चादेशाः पदाद् विकल्पेन अन्वादेशे तु नित्यमित्यनुवर्त्तत एव । अस्मत् स्वामीति —आवयोः स्वामीति विग्रहः । इहपूर्वस्थं हरिरितिपदमपेक्ष्य हि आदेशः, विष्णुपदादि-

---

बाल०—युष्मान् । विष्णुपदं प्राप्य युष्मान् युष्मभ्यं युष्माकमित्येषां स्थाने अनन्वादेशे वस् वा भवति, अन्वादेशे तु नित्यं भवति । एवं सर्वत्र बोद्धव्यम् । अस्मान् अवतु रक्षतु । तद्भक्ता हरिभक्ताः ।।१९८।।

बाल०—तुभ्यम् । तुभ्यं-तवयोरिति अनुकरणत्वात्, एवं मह्यं-ममयोरिति ।।१९९।।

बाल०—त्वां मां त्वामिति मामिति च सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी । पातु रक्षतु ।।२००।।

बाल०—युष्म । द्वितीयाद्वित्वे चतुर्थीद्वित्वे षष्ठीद्वित्वे च युष्मदस्मच्छब्दसिद्धयो-र्विष्णुपदादुत्तरयोर्विष्णुपदयोः स्थाने अनन्वादेशे वां नौ इत्येतौ वा भवतः । अन्वादेशे तु नित्यं भवतः, समासे तु न भवतः । हरिरावामिति पात्विति शेषः । हरिरावाभ्यामिति रोचतामिति शेषः हरिरावयोरिति स्वामीति शेषः । अस्मत् स्वामीति आवयोः स्वामीति विग्रहः ।।२०१।।

पातु हरिर्नौ। हरिरावाभ्यां रोचतां हरिर्नौ। हरिरावयोः स्वामी हरिर्नौ। समस्ते तुन—हरिरस्मत् स्वामी।

२०२. सपूर्व पदात् प्रथमान्ताद् वान्वादेशेऽपि ते विरिञ्चयः।

व्रजे कृष्णो मम स्वं मे वा अथ वृन्दावने कृष्णो ममस्वं मेवा।

२०३. नते वाक्यादौ श्लोकपादादौ च।

हेवैष्णव त्वं सुखी भव। त्वां हरिःपातु मां हरिः पातु। कृष्णैकशरणस्यास्य तवहन्त कुतो भयम्। इत्यादि।

२०४. नच चादिभि र्योगे।

कृष्णो मम च सौख्याय राम स्तव च शर्मणे।

त्यनुवृत्तेः। समास स्त्वन्यपद सापेक्षत्वे न स्यात्, अतः समासपक्षे हरिपदस्य पश्चाद् योगेन विष्णुपद पूर्वत्वाभावान्नादेश इत्यभिप्रायः।

अमृता०—२०२. सपूर्वेति। पूर्वपदेन सह विद्यमानात् प्रथमान्तात् तेविरिञ्चयोऽर्थात्वस् नसादयः अन्वादेशेऽपि विभाषया भवन्ति। अन्वादेशे नित्यं प्राप्ते विकल्पार्थमिदम्। व्रजे इतिवाक्ये पूर्वेणैव विकल्पः सिद्धः। वृन्दावने इति सपूर्वपदात् कृष्ण इति प्रथमान्तात् विद्यमानो 'मे' आदेशोऽन्वादेशेऽपि विभाषया हि सञ्जात इति दर्शितम्। केवलात् प्रथमान्तात्त नित्यमेवेदि—"अथहरिर्वां पश्यत्वि"त्यत्र व्यक्तमेव।

अमृता०—२०३. प्रतिषिध्यति—नते इति। क्रियान्वयावच्छिन्नः पद समूहो वाक्यम्। श्लोकस्य पाद श्चतुर्थांशः। वाक्यस्य आदौ श्लोकपादस्यादौ च ते विरिञ्चयो नभवन्ति। कृष्णैकेति—कृष्णः एकः केवलः शरणमाश्रयो यस्य एवम्भूतस्य तव कुतः कस्माद्भयम्। न कुतोऽपि भयमित्यर्थः। एके मुख्यान्य केवला इत्यमरः। अत्रानुष्टुपछन्दसो द्वितीय पादस्यादौ तव स्थाने ते आदेशो न।

अमृता०—२०४. नचेति। चवा ह अह एव एभिर्योगे तेविरिञ्चयो न भवन्ति। समुच्चयार्थत्वात् चकार इह युष्मदस्मदोर्योगं द्योतयति। तेन तव मम च सौख्याय कृष्ण

बाल०—सपूर्व। सहशब्दो विद्यमानवचनः पीताम्बरो वेत्यनेन सभावः विद्यमानपूर्वपदात् प्रथमान्तादुत्तरेषां पूर्वोक्तानामादेशिनां स्थाने अन्वादेशेऽपि ते विरिञ्चयो वा भवन्ति ॥२०२॥

बाल०—न ते। क्रियान्वयावच्छिन्न-पदसमूहो वाक्यम्, तस्य आदौ श्लोकपदादौ श्लोकचतुर्थांशस्यादौ च वर्त्तमानानामादेशिनां स्थाने ते विरिञ्चयो न भवन्ति। पादारश्म्यङ्घ्रतुर्यांश इति नानार्थवर्गात् पादशब्देन चतुर्थो भाग उच्यते। स तु गद्यस्यापि सम्भवतीति श्लोकशब्दोपादानं कृतम्। कृष्णैकेति कृष्ण एको मुख्यः केवलो वा शरणं रक्षिता यस्य एवम्भूतस्यास्य तव कुतः कस्माद्भयमिति। एके मुख्यान्य-केवला इति नानार्थवर्गः ॥२०३॥

च वा हाह एव ।

२०५. परम्परा योगे तु न निषेधः ।

हरिश्च मे स्वामी ।

२०६. नच दर्शनार्थै रचाक्षुषत्वे ।

चेतसा त्वामीक्षते वैष्णवः ।

२०७. परम्परा योगेऽपि न ।

कृष्णश्चेतसा तवरूपमीक्षते । भक्त स्तवरूपं ध्यायतीति तु तस्यां

इतिपरामर्शः । वादयो यथाक्रमं विकल्प-स्फटता प्रशंसावधारणानि द्योततन्ति । यथा—ग्रन्थ एष तुभ्यं वा दीयते मह्यं वा । तुलसी त्वांह प्रीणयति । कृष्णोयुष्माकमह स्वम् । प्रसादो युवाभ्यामेव दास्यते । इत्यादि ।

अमृता०—२०५. परम्परेति । चादिभिः सहादेशिनां परम्परा योगेनसाक्षात् सम्बन्धाभावे तु निषेधो नस्यात्; आदेशः स्यादेवेत्यर्थः । अयमर्थः—चकारो यदा युष्मदस्मदो साक्षात् समुच्चायकोभवेत्तदैवादेश निषेधः; यदा तुस साक्षात् पदान्तरसमुच्चायकः, युष्मदस्मद्भ्यान्तु परम्परया सम्बध्यते तदा भवत्यैवादेशः । हरिश्चेति—रामो हरिश्च मे स्वामीति चकारस्य समुच्चयार्थ द्योतनम् हरो हरिश्च मे स्वामीति दीक्षितः । अत्र रामहरि शब्दयोरेव चशब्देन साक्षाद् योगः । अस्मच्छब्दस्य तु हरिशब्देन योगः, तयोः स्व-स्वामित्व सम्बन्धनियमात् । अत स्तस्य चकारेणयोगः परम्परया । एवं वादीनां परम्पराद्योतकत्वेऽप्यादे शाः ज्ञेयाः ।

अमृता०—२०६. नचेति । चाक्षुषत्वं चक्षुर्विज्ञानम् । चक्षुर्विज्ञानाभावे सति दर्शनार्थैः क्रियापदै र्योगे च तेविरिञ्चयों न भवन्ति । अत्रेक्षते अनुभवतीत्यर्थः ।

अमृता०—२०७. परम्परेति । अचाक्षुषत्वे सति दर्शनार्थैः पदैः सह्र युष्मदस्मदोः परम्परा योगेऽपि तेविरिञ्चयो न भवन्तीत्यर्थः । इह दर्शनार्थेन ईक्षते पदेन सह रूपस्य हि साक्षादन्वयः, तत् साधनार्थमेव क्रिया प्रवृत्तेः । युष्मदः पुनः रूपेण सहावयविसम्बन्धान्वय इति परम्परा योगः, तथापीह नादेशः । भक्त स्तव रूपं ध्यायतीति प्रक्रियाकौमुद्यामुदाहरणे विरिञ्चि निषेधो नयुक्त इत्यत्र हेतुमाह—दर्शनार्थधातुयोगाभावादिति । किञ्च—'अधातुजं समानाधिकरणमसद्वद्भवतीति''भाष्यम् ।

बाल०—न च । चादिभिर्योगे ते विरिञ्चयो न मवन्ति । मम चेति अत्र चशब्देन सह साक्षात् सम्बन्धः । सौख्याय सुखाय भवत्विति शेषः । शर्मणे सुखाय ॥२०४॥

बाल०—पर । चादिभि सह परस्परायोगे साक्षात् सम्बन्धाभावे तु निषेधो न भवति ॥२०५॥

बाल०—न च दर्शनार्थैयोगे ते विरिञ्चयो न भवन्ति । अचाक्षुषत्व इति चाक्षुषत्वे तु निषेधो न भवतीत्यर्थः । त्वामीक्षत इति त्वामनुभवतीत्यर्थः ॥२०६॥

विचार्य, दर्शनार्थं धातुयोगाभावात्। चाक्षुषत्वे तु कृष्ण स्त्वा पश्यति।

२०८. आमन्त्रितं पूर्व मसद्वत्।

ततो नादेशाः। इति काशिकादौ च मतम्। हेकृष्ण तवाहम्। हेराम-कृष्णौ युवयोरहम्। कथं"मुचितं रचयामिदेवि तेइति? आमन्त्रितस्य असत्त्वेऽपि तत् पूर्वपदस्य सत्त्वात्।

२०९. सामान्य वचन तुल्याधिकरणे आमन्त्रिते क्रमस्थे चेत् पूर्वसत्।

२१०. बहुवचने चेद् वा।

तत आदेशाः। हेवैष्णव सप्रेमस्ते कृष्णः। वैष्णवोऽत्र सप्रेमातदरहिताश्च

तत्रायमाशयः—विष्णुपदादुत्तरममी आदेशा वा स्यु रिति व्यवस्थापितम्। विशेष स्त्वेषः—विष्णु पदञ्च तदादेशेन सह समानाधिकरणञ्चेत् तदा तेन धातुजेन (कृदन्तेन) भवितव्यम्, तत एवादेशः। यथा—दयालो स्ते स्वम्, ग्राहिणोवां स्वम् पाचकानां वः स्वमित्यादि। तद्विष्णुपदं समानाधिकरणंसत् पुनरधातुजं (तद्धितजं) चेत् तदा तु तदविद्यमानवद् भवति; तेन विष्णुपद पूर्वाभावान्नादेश इत्यर्थः। यथा—पांशुलस्य तव स्वम्; दण्डिणोर्युवयोः स्वम्, गोमतां युष्माकं स्वमित्यादयः। एवमस्मदोऽपि ज्ञेयम्।

अमृता०—२०८. आमन्त्रितमिति। आदेशात् पूर्वस्थितमामन्त्रितं सम्बोधन पदमसद्वत् अविद्यमान वद् भवति; विद्यमानेऽपि अविद्यमान वन्मन्यत इत्यर्थः। तेन विष्णुपदपूर्वत्वाभावात्—विष्णुपदाद् वेत्यादिनादेशो नस्यादिति भावः।

अमृता०—२०९. सामान्येति। सामान्य वचनञ्च (विशेष्यञ्च) तुल्याधिकरणञ्च, (विशेषणञ्च) ते सामान्य वचनतुल्याधिकरणे आमन्त्रिते चेत् क्रमस्थे भवत स्तदा पूर्व सामान्य वचनमामन्त्रितं पदं सत् विद्यमानंस्यात्। ततश्चादेशा भवन्त्येवेत्यर्थः।

अमृता०—२१०. बहुवचनइति। यदि वहुवचने सामान्यवचन तुल्याधिकरणे

बाल०—पर। परम्परायोगेऽपि विरिञ्चयो न भवन्ति। कृष्णश्चेतसा तव रूप-मीक्षते इत्यत्र दर्शनार्थेन न युष्मदो योगः, किन्तु तव् सम्बन्धिनो रूपस्य। भक्तस्तव रूपं ध्यायतीत्यत्र विरिञ्चिनिषेधो न भवतीति विचार्यत्वम्। पश्यतीति निरूपयतीत्यर्थः ॥२०७

बाल०—आम। पूर्वं पूर्वस्थितमामन्त्रितं पदम् असद्वत् अविद्यमानवद्भवति ततो आदेशा न भवन्तीति। पदस्यामन्त्रितत्वमुपचारेणेति ज्ञेयम्। कथमिति सिद्धान्तमाह,—आमन्त्रितस्येति आमन्त्रितस्य देवीत्यस्य असद्वत्वेऽपि अविद्यमानत्वेऽपि तत्पूर्वपदस्य सत्त्वात् विद्यमानत्वादिति ॥२०८॥

बाल०—सामान्य। सामान्यवचनञ्च तुल्याधिकरणञ्च ते इति सामान्यवचन-तुल्याधिकरणे आमन्त्रिते चेत् यदि क्रमस्थे भवतः, तदा पूर्वं सामान्यवचनम् आमन्त्रितं सद्भवति ॥२०९॥

भवतीति सामान्य वचनः। तैद्वौ तद्विशेषौ। तत्रान्वादेशे नित्यमादेशाः, अनन्वादेशे तु वा। सामान्य वचने इति किम्—ब्रह्मरात कृष्णत्र तवकृष्णः। ब्रह्मरात इत्येकस्य नाम, ततोन सामान्य वचनम्। तत उभयमप्यामन्त्रितमसद्वत्। एवंहरे कृपालो अस्मान् पाहि।

वहुवचने वैष्णवाः श्रीभागवताज्ञाः वःकृष्णः युष्माकंवा। अन्वादेशेऽप्यादेशा वा। एतत् पाणिनीयमतं प्रक्रिया धृतम्। मतान्तरन्तु न किञ्चित्।

तथाहि तत्सूत्रत्रयम्ः—

आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्।१।

नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्य वचनम्।२।

विभाषितं विशेषवचने वहुवचनमिति।३।

आमन्त्रिते इत्यादिषु परसप्तम्येय। मध्यमे सूत्रे सामान्य वचनस्याविद्यमानताखण्डनात् तन्मूलाएवादेशाः। अन्तिमे तु तद्विकल्पात्तद् विकल्पः।

आमन्त्रिते क्रमस्थे स्यातां तदा पूर्वं सामान्य वचनं सम्बोधनं विभाषयासद् भवति। सप्रेमन्निति वैष्णवस्य तुल्याधिकरणम्। तद्रहितः प्रेमरहितः। तौ सप्रेमन् अप्रेमन्निति द्वौ, तद्विशेषौ वैष्णत्र विशेषौ। तत्र द्वयो रामन्त्रितयो र्मध्ये—'आमन्त्रितपूर्वमसद्वदि'' त्यनेनादेशाव्यवहित पूर्वस्य वैष्णवपदस्याविद्यमानवत्ता, 'सामान्यवचने'त्यादिना ततूपूर्वस्य सप्रेमन्पदस्य तु विद्यमानवत्ता, ततस्तस्य पूर्वपदत्वमननात्—'विष्णुपदादवे'ति विभाषयादेशः। उभयमप्यामन्त्रितमसद्वदिति—''आमन्त्रितं पूर्वमसद् वदित्यनेन आदेशाव्यवहित पूर्वस्याविद्यमानवत्ता, सामान्यबचनाभावात् तत्पूर्वस्य च तथा। तत उभयोरामन्त्रितमोरसद्भावेन विष्णुपद पूर्वत्वाभावात् विष्णुपदाद वेत्यादिनापि नादेशा इति भावः। एवं हरेइत्यादावपि। अत्र च हरि शब्दस्य एकाभिधायित्वेन तस्मिन् कृपालुत्वस्याव्यभिचारत्वेन च सामान्यवचनाभावान्नहि बिद्यमानवत्त्वयतश्च नादेशाः। आमन्त्रितमित्याति—व्याख्या च काशिका कृता—आमन्त्रितंपूर्वमविद्यमानवद्भवति, तस्मिन् सति यत्कार्यं तन्नभवति। नामन्त्रिते इति अविद्यमानवत्त्वस्य प्रतिषेधः। आमन्त्रितान्ते समानाधिकरणे

बाल०—वहु। यदि बहुवचने आमन्त्रिते क्रमस्थे भवतः, तदा पूर्वं सामान्यवचनमामन्त्रितं सद्वा भवति। तत आदेशा भवन्तीति वैष्णवेति सप्रेमन्निति वैष्णवस्य तुल्याधिकरणम्। तद्रहितः प्रेमरहितः। ताविति तौ द्वौ तु सप्रेमा अप्रेमाणौ तद्विशेषौ वैष्णवविशेषौ। उभयमप्यामिन्त्रितमसद्वदिति आमन्त्रितं पूर्वमसद्वदित्यनेनेति शेषः। हरे कृपालोऽस्मान् पाहीति अत्र हरिशब्दस्यैकाभिधायित्वात् न सामान्यवचनत्वम्: तत्

भवतु शब्दो युष्मद् वाचको भगवतु शब्दवत् ।

अथ किम् शब्दः ।

२११. किमः को विष्णुभक्तौ साकस्यापि ।

कः कौ के । कम्कौ कान् । सर्ववत् । तद्धिते पञ्चम्यां कुतः, सप्तम्यां क्वकुत्र ।

अथ कृष्णनाम्नां लक्ष्मीलिङ्गोदाहरणम् ।

कृष्णादाप् लक्ष्म्यामिति वक्ष्यमाण सूत्रात् सर्वशब्दादाप् । सर्वा सर्वे इत्यादि राधावत् । वृष्णिष्वामि च विशेषः ।

सर्वा ङे —

२१२. कृष्णनामराधातः स्याप् वृष्णिषु पूर्वस्य च वामनः ।

पइत् । सर्वस्यै । ङसि सर्वस्याः । ङस् सर्वस्याः । आमि कृष्णनाम कृष्णराधाभ्यामिति सुट् सर्वासाम् । ङि—नीराधाभ्यां ङेराम् सर्वस्याम् । तद्धिते पूर्ववत् । एवं विश्वादयः ।

परतः पूर्वमामन्त्रितान्तं सामान्य वचनं नाविद्यमानवद् भवति । विभाषितमिति पूर्वेणाविद्यमानवत्त्वे प्रषिसिद्धे विकल्प उच्यते । विशेषवचने समानाधिकरणे आमन्त्रितान्ते परतः पूर्वमामन्त्रितं वहुवचनान्तं विभाषितमविद्यमानवद् भवतीति ।

अन्तिमेत्विति—तद्विकल्पात् अविद्यमान वत्त्वस्य विकल्पात् तद्विकल्प आदेशविकल्प इत्यर्थः ।

अमृता०—२११. किम इति । बिष्णुभक्त्यां परस्यां साकस्यापि केवलस्यापि किम् शब्द स्थाने कइत्यादेशो भवति । किम् शव्द स्थाने कइत्यादेशो भवति । किम् शब्दस्य तदादित्वाभावाद प्राप्ते संसारस्यारामे विधानमेतत् ।

अमृता०—२१२. कृष्णेति । वृष्णिषु परेषु कृष्णनामराधात्ते उत्तरे स्याप् आगमो भवति; पूर्वस्य त्रिविक्रमस्य वामनश्च स्यात् ।

सूत्रत्रयं पाणिनिसूत्रत्रयम् आमन्त्रितमिति व्यक्तार्थम् । नामन्त्रित इति समानाधिकरणे आमन्त्रिते परे सामान्यवचनम् । आमन्त्रितं न अविद्यमानवद्भवति । विभाषितमिति विशेषबचने आमन्त्रिते परे बहुवचनमामन्त्रितं विभाषितम् अविद्यमानवद्भवति विकल्पेनाविद्यमानवद्भतीत्यर्थः । पाणिनिसूत्रयोः आमन्त्रित इत्यादिपदेषु । तन्मूला एव अविद्यमानता खण्डमूला एव । अन्तिमे तु सूत्रे तद्विकल्पात् अविद्यमानवत्त्वस्य विकल्पात् तद्विकल्पः विरिञ्चिविकल्पः ॥२१०॥

बाल०—किम् । विष्णुभक्तौ परस्यां किमः स्थाने को भवति, साकस्यापि किमः स्थाने को वभति ॥२११॥

२१३. दिग् बहुव्रीहौ कृष्णनामता वा ।

उत्तरपूर्वस्यै उत्तरपूर्वायै । तदादि सप्ताना संसारस्यारामे कृते पश्चादाप् । तदादे स्तः सः सौ । सा ते ताः । ताम् ते ताः । एवं यद्—या ये याः । एतद्—एषा एते एताः ।

इदम्—इयन्तु लक्ष्म्याम्—इयम् इमे इमाः । इमाम् इमे इमाः । इदमोऽकरामस्य अन ष्टौसोः—अनया । वैष्णवे त्वश् आभ्याम् आभिः । अस्यै अस्याः । सुट् अश् पश्चादाप् आसाम् । अदस् शब्दस्य सौ पुंवत् असौ । दस्य मः, आप् , अदोमात् परस्य उऊ—अमू अमूः । अमुम् अमू अमूः । अमुया अमूभ्याम् अमूभिः । स्याप् पूर्वस्य च वामनः—अमुष्यै अमूभ्याम् अमूभ्यः । अमुष्याः अमूभ्याम् अमूभ्यः । अमुष्याः अमुयोः अमूषाम् । अमुष्याम् अमुयोः अमूषु ।

एकः सर्ववत् । द्विशब्दस्य द्वे द्वे द्वाभ्याम् द्वाभ्याम् द्वाभ्याम् द्वयोः द्वयोः । भवत् शब्दादीप् भवती भवत्यौ । किम् शब्दस्य—काके काः । काम् के काः । सर्ववत् ।

अमृता०—२१३. दिगिति । उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशो यदन्तरालं सा उत्तरपूर्वा विदिक् तस्यै । दक्षिण पूर्वादय स्तदन्तराले इति पीताम्बर समास सूत्रम् । तदादि सप्तानां आपि कृते वृष्णिषु स्याप् वामनश्च कार्यः । इमे इति—संसारस्यारामे आपि च कृते दस्य मः, राधा ब्रह्मभ्यामौईः । अनया आभ्यावित्यादादेशानन्तरमाप् विधेयः, वृष्णिषु तु प्रागेव । इदम आमि सुटिकृते वैष्णवपरत्वात् अश्, पश्चादाप् आसामिति ।

अमुयोरिति—संसारस्यारामः, दस्य मः, आप् पश्चात् उः । अत्रापि वृष्णिषु प्रागेवाप् ततः स्याप् । अमुयोरिति—आपि कृते राधाया ए टौसो रित्येरामः, पश्चात् उः । एकःसर्ववदिति—एका एके एकाः, एकस्यै इत्यादि ज्ञेयम् ।

अथ लक्ष्म्याम्

बाल०—कृष्णनाम । वृष्णिषु परेषु कृष्णनामराधात उत्तरे स्याप् भवति पूर्वस्य वामनश्च ॥२१२॥

बाल०—दिग्बहु । उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं सा उत्तरपूर्वा विदिक् तस्यै । दक्षिणपूर्वादयस्तदन्तराल इति पीताम्बरसूत्रम् । दिग्बहुव्रीहिरित्यत्र दिक् पीताम्बर इति पाठ उपयुक्तः । अदःशब्दस्येति पुंवदिति पुंलिङ्ग इवेत्यर्थः । सर्वाणीति ब्रह्मतो जस्शसोः शिरिति यशः शिः । सर्वेश्वर-वैष्णवेत्यादिना नुम् नान्तेत्यादिना त्रिविक्रमः ॥२१३॥

अथ नपुंसके ।

सर्वम् सर्वे सर्वाणि । पुनस्तद्वत् । तृतीयादौ पुरुषोत्तमवत् । उभे ।

२१४. अन्यादिभ्यस्तुक् स्वमोर्ब्रह्मणि ।

उकावितौ । अन्यत् अन्यद् अन्ये अन्यानि ।

अन्यादय एकादशैकतरवर्जम् । तत् ते तानि ।२।

इदम् इमे इमानि ।२।

२१५. द्वितीयैकत्वे कथितानुकथने इदमेतदो रेनदादेशो ब्रह्मणि वाच्यम् ।

एतद् गच्छति अथो एनत् पश्य ।

अदः अमे इतिस्थिते पश्चाद् ऊ अमू अमूनि ।२।

द्वे द्वे । भवत् भवती भवन्ति । पुनस्तद्वत् । किम् के कानि । पुनस्तद्वत् ।

सर्वाणीति—ब्रह्मतो जस्शसोः शिः, सर्वेश्वर वैष्णवान्तयोरिति नुम् नान्तेति उद्धवस्य त्रिविक्रमः ।

अमृता०—२१४. अन्यादिभ्य इति । ब्रह्मणि अन्यादिभ्यः शब्देभ्यः तुगागमः स्यात् स्वमोः प्रत्यययोः परयोः । केतावदन्यादय इत्यपेक्षायां तदाह—अन्यादय इति । सर्वादिषु अन्यमारभ्य इतर पर्यन्तमेकादशशब्देभ्य एकतरं वर्जयित्वा दशशब्दाहि अन्यादय इत्यर्थः ।

ननु तुकि कृते किदागमस्य पूर्वसम्बन्धित्वादन्यादेररामान्तत्वाभावेन स्वमो र्महाहरे सति निमित्तापाये नैमित्तिकस्य तुकोऽपायः कथं न स्यात् ? सत्यम् अत्रोच्यते—ब्रह्म-कार्यस्य वलवत्तया स्वमोर्महाहर इहानिवार्यः, तथापि तौनिमित्तीकृत्य यत् तुग् विधानं कृतं तेनेदं ज्ञाप्यते—स्वमो र्महाहररूप निमित्तस्यापायेऽपि नैमित्तिकस्य तुको नहिभवेद-पाय इति । अतः सन्निपात लक्षणमिह प्रवर्त्तनीयम् । तल्लक्षणञ्चाग्रे प्रपञ्चयिष्यते ।

अमृता०—२१५. द्वितीयेति । कथितानुकथने सति ब्रह्मणि इदमेतद् शब्दयो-र्द्वितीयैक वचने एनत् आदेशो भवति । एकत्ववर्जं द्वितीयाया द्वित्व वहुत्वयोस्तथा टौसोश्च एतदिममोरेण इत्यादिना प्राग्विहितएनः स्यादेव । अमू इति—संसारस्यारामः, दस्य च मः, ततः अदोमात् परस्येत्यादिना दीर्घऊः ।

अथ ब्रह्मणि

बाल०—अन्या । स्वमोः परयोः । तदिति ब्रह्मतः स्वमोर्महाहरः इत्यनेन प्रथमं महाहर एव भवति अतोऽस्वादिपरत्वाभावात् न संसारस्यारामः ।।२१४।।

बाल०—द्विती । द्वे इति संसारस्यारामे कृते औ ई ।।२१५।।

२१६. अव्ययात् स्वादे र्महाहरः ।

स्वरादि चादि वदादि तद्धितः क्त्वामान्तश्च कृदव्ययम् । अव्ययाः खलुवाचका द्योतकाश्च । तत्र वाचकाः स्व प्रातरित्यादयः । एषां विशेषणस्य ब्रह्मत्वमेव । सुन्दरं स्वः, सुन्दरे स्वः, सुन्दराणि स्वः, इत्यादयः ।

अत्रैकवचनमेवेति तस्यां भ्रमः । द्वित्वादीनामनिवार्यत्वात्; अव्ययादाप् सुप इति सुलोपे* विरोधाच्च ।

अमृता०—२१६. अव्ययादिति । नविद्यते व्ययो लिङ्ग विभक्ति वचनेषु रूपान्तरं यस्य तदव्ययम् । उक्तञ्च प्राचीनैः—सदृशंत्रिषुलिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्येति तदव्ययमिति । नियमोऽयन्तु लिङ्ग संख्याकारकाभावार्थः । तेन—"वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्यो रुपसर्गयो"रिति सिध्यति । यथा—वगाहः अवगाहः, पिधानं अपिधानमित्यादि ।

अव्ययभेदानाचष्टे—स्वरादिरित्यादिना । स्वराद्यव्ययं चाद्यव्ययं, वदादि तद्धितोऽव्ययं, क्त्वा मान्तश्च कृदव्ययमित्यन्वयः । प्रातरित्यादय इत्यत्रादिपदेन—अन्तर् पुनर् उच्चैस् नीचैस् शनैस् ऋते आरात् पृथक् ह्यस् श्वस् सायम् मनाक् ईषत् जोषम् तूष्णीम् अद्धा निकषा समया वहिस् स्वयम् नक्तम् दिवा वृथा मुधा मृषा मिथ्या विना नाना सहसा नमस् स्वस्ति स्वधा अस्ति पुरा मिथो मिथस् प्रायस् मुहुर् सह साकम् सार्द्धम् अञ्जसा अकस्मात् अधुना प्रादुर् अविर् सम्यक् प्रभृति प्रसह्य द्राक् झटिति अह्नाय दिष्टया ध्रुवं परं जातु कृते चिरंसकृत्सपदि अलं अवश्यमित्यादयश्च ।

एषां वाचकाव्ययानां विशेषणस्य ब्रह्मत्वमेव । अत्र वाचकाव्ययेषु एकवचनमेवेति प्रक्रिया कौमुद्यां भ्रमः । तत्र हेतुञ्चाह—द्वित्वादीनामनिवार्यत्वादिति । तेषां वाचकधर्मत्वेन तत्संख्यावाचित्वस्य स्वाभाविकत्वादित्यर्थः । दोषश्चोच्यते—अव्ययादापित्यादि । अव्ययादापः सुपश्च लुक् स्यादिति हि तत्सूत्रार्थः । अत्र सुपो लुग्विधानमेव तदुत्पत्ते र्ज्ञापकम् । यद्यव्ययात् सुप् साकल्यस्योत्पत्ति र्नस्यात्तदा तस्य सुपो लुक् (महाहर) विधानमप्रासङ्गिकं भवेत्, शिरो नास्ति शिरः पीडेति वत् । अतः अव्ययात् केवलसोरुत्पत्तिः तल्लोपश्चेति स्वीकारे दोष आपतेदिति भावार्थः ।

बाल०—अव्ययात् । अव्ययादुत्तरस्य स्वादेर्महाहरो भवति । ननु अव्ययमेव किम् इति चेत्तत्राह स्वरादीति स्वरादि अव्ययं चाद्यव्ययं वदादि तद्धिताऽव्ययं क्त्वामान्ताश्च कृदव्ययमिति स्वः प्रातरित्यादय इति आदिशब्देन अन्तर् प्रादुर् पुनर् उच्चैस् नीचैस् शनैस् ऋते युगपद् आरात् पृथक् ह्यस् श्वस् दिवा सायम् मनाक् ईषत् तूष्णीम् वहिस् निकषा समया स्वयम् नक्तम् मृषा अद्धा सामि इत्यादीनां ग्रहणम् । एषामिति एषां

---

* सुब्लोपे इति च पाठान्तरम् तत्तु न सङ्गच्छते ।

द्योतकाः—च वा ह अह वँ तु अपि इत्यादयः। प्रायदश्च।

२१७. चादयो निपात संज्ञाः।

एतेभ्यो द्योततया अर्था विद्यन्ते एषामित्यर्थवत्त्वात् स्वाद्युत्पत्तिः। किन्तु प्रथमैकवचनमेव। वदादि तद्धितः। हरिवत्, कृष्णीभवति इत्यादयः। क्त्वा मान्तः कृत्। कृत्वा कर्त्तुं कारंकारमित्यादि च। महाहरत्वादो औ पाण्डवेषु न, अहो इत्यादि ज्ञेयम्।

॥ इतिश्रीहरिनामामृताख्ये वैष्णव व्याकरणे नामविष्णुपदं प्रकरणं द्वितीयम् ॥

द्योतकाः च वेति—अत्र चादि पदेन—एव इव एवं तूनं शश्वत् युगपत् भूयस् यदि चेत् कच्चित् हन्त मा माञ् मास्म स्म नञ् स्वाहा खलु किल अथो अथ उत अहो तु हि नु ननु सुष्ठु नाम इति इत्यादयश्च ज्ञेयाः।

अमृता०—२१७. चादय इति। एतेभ्यः चादिभ्यः प्रादिम्यश्च स्वाद्युत्पत्तिरित्यन्वयः। किन्तु प्रथमैकवचनमेवेति—अद्रव्य द्योतकत्वेन (वाचकत्व विरहेण) लिङ्ग-संख्याविनिर्मुक्तत्वादित्याशयः। नाममात्रार्थद्योतकतया प्रथमा। एकवचनन्तु साधुत्वार्थं ज्ञेयम्। कृष्णीभवति इत्यादय इत्यत्रादिपदेन—कदा कर्हि कुतः क्व कुत्र पुरः अवः अधः कथं सद्यस् अद्य वहुधा वहुश इत्यादयश्च वक्ष्यन्ते।

॥ इति श्रीहरिनामामृते व्याकरणे अमृतास्वादन्यां टीकायां नामप्रकरणं व्याख्यातम् ॥

वाचकाव्ययानाम्। अत्रेति अत्र वाचकाव्ययेषु भ्रमे हेतुमाह,—द्वित्वादीनामिति। हेत्वन्तरमप्याह,—अव्ययादिति। द्योतका इति चादयः प्रायदश्च द्योतकाः। इत्यादय इति आदि शब्देन एव एवम् इव नूनम् शाश्वत् चित् क्वचित् हन्त नञ् तत् उत त्वम् उताहो आहो खलु किल अथ अहो ननु जातु इत्यादीनां ग्रहणम् ॥२१६॥

बाल०—चाद। एतेभ्य इत्यस्य स्वाद्युत्पत्तिरित्यनेनान्वयः। किन्तु प्रथमैकवचनमेवेति। यत उक्तं लिङ्गसंख्याविनिर्मुक्तात् सुः पदत्वार्थमव्ययादिति अद्रव्यवाचिनामव्ययानां लिङ्गसंख्याविनिर्मुक्तत्वमिति। हरिवदिति 'उपमानक्रियाद्वति तत्क्रियातुल्यक्रियत्व' इत्यनेन वतिप्रत्ययः। कृष्णीभवतीति अकृष्णः कृष्णो भवतीति 'अभूततद्भावे कृभ्वस्ति योगे वि'रिति विः। विः सर्वं इत् अद्वयस्य वा वीराम इति अद्वयस्य ईराम। कृत्वेति 'एककर्त्तृकयोः क्रिययोः पूर्वकालस्थधातोः क्त्वे'ति क्त्वाप्रत्ययः। कर्त्तुमिति 'तुमुणकौ तत्क्रियार्थत्व" इति तुमुः। कारं कारमिति 'क्त्वार्थे नमुश्चाभीक्ष्ण्ये' इति नमुः 'आभीक्ष्ण्यवीप्सयो'रिति द्विरुक्तिः। महाहरत्वादिति सोर्महाहरत्वात् 'ओ औ पाण्डवेष्वि' त्यनेन न औरामः ॥२१७॥

इति श्रील-हरेकृष्णाचार्यविरचितायां श्रीमद्गोपीचरणदासपरिशोधितायां श्रीहरिनामामृताख्य-वैष्णवव्याकरणटीकायां बालतोषणीनाम्न्यां द्वितीया नाम विष्णुपदप्रकरण टीका समाप्ता।

प्रवर्त्तन्ते क्रियाः सर्वा यतोऽर्वाचीनवस्तुषु ।
हरेस्तस्यैव लीला स्ता निरूप्यन्ते यथामति ॥

अथ धातुजानि विष्णुपदानि ।

१. भू-सनन्ताद्या धातवः ।

भू सत्तायामित्यादयः सनादिप्रत्ययान्ताश्च धातुसंज्ञाः स्युः ।

नमः श्रीलोकवल्लीलाकैवल्याय ।

शब्दप्रकरणस्यादौ यएकः सर्वरूपाणामित्यादिना पदनिरूपणस्य विष्णु सम्बन्धित्वेन श्रीभगवदनुशीलनत्वमेवेति प्रतिपादितम् । अथेदानीं क्रियापदनिरूपणस्यापि हरिलीला-निरूपणत्वमेवेतिप्रतिपादयन्नाख्यात प्रकरणं प्रक्रमते—प्रवर्त्तन्त इत्यादिना । यतो हरेः अकाशात् सर्वाः क्रियाः भवति शोभते नश्यतीत्यादयः लक्षणया तद्वाचि पदानि च अर्वाचीन वस्तुषु लौकिक वस्तुषु प्रवर्त्तन्ते व्यवहारत्वेनोपयुज्यन्ते तस्यैव हरे स्ताः लीलाः क्रीडारूपाः क्रियाः तत्पदानि च बुद्धिमनतिक्रम्य स्वज्ञानानुरूपमित्यर्थः, निरूप्यन्ते निर्णीयन्ते मयेति शेषः । श्रीहरिकृतलीलाएव क्रियारूपेण व्यज्यमाना लोकेषु व्यवह्रियन्ते, अतः क्रिया निरूपणेनैव हरिलीलानुशीलनमेव भवतीति तात्पर्यम् ।

इतः पूर्वं नामज-विष्णुपदानि निरूप्य अधुना धातुजविष्णुपदानि निरूपयितुं तत्-सूचयन्नाह—अथेति । तान्येवक्रियापदान्युच्यन्ते ।

अमृता०—१. भूसनन्ताद्या इति । भूश्च सनन्तश्च भू-सनन्तौ तौ आद्यौ येषामिति विग्रहः ।

आख्यातप्रकरणम्

श्रीमज्जीवगोस्वामि-चरणेभ्यो नमः ।

निखिलान्मायवेद्यस्य लीलाभगवतः क्रिया ।
प्रवर्त्तन्ते जने यास्ता व्याख्यायन्तेऽधुना मया ।

पूर्वं 'य एक' इत्यादिना पदनिरूपणस्य विष्ण्वनुशीलनत्वं प्रतिप्रादितमेव संप्रति क्रियापदनिरूपणाय हरिलीलानिरूपणत्वमपि प्रतिपादयन् तदारभते प्रवर्त्तन्ते इति । क्रिया शब्देनात्र लक्षणया उपचारेण वा क्रियापदान्युच्यन्ते, ततश्च यतो हरेः सकाशात् भवति स्पर्द्धते वर्द्धते शोभते नश्यतीस्ताद्या याः सर्वाः क्रिया अर्वाचीनवस्तुषु आधुनिकवस्तुषु प्रवर्त्तन्ते, तस्यैव हरेर्लीलारूपास्ताःक्रिया निरूप्यन्ते साध्यन्ते यथामतीति मत्यनतिक्रमेणत्यर्थः । मतिर्ज्ञानम् ॥

अथेति । धातोर्जातानि यानि विष्णुपदानि अथानन्तरं तानि निरूप्यन्ते ॥

बाल०—भू-स । भूश्च सनन्तश्च भू सन्नतौ । भूसन्नतौ आदौ येषामिति विग्रहः ।

२. धातोः ।

अधिकारोऽयम् । पूर्वनिमित्तादिभेदेन सचाधिकारश्चतुर्विधः । तत्र कार्यश्च संज्ञा विधिनिषेधभेदेन त्रिविधमिति सप्तविधः । सच सजातीय-विजातीयानेकाधिकारस्य व्यापी वासुदेवसंज्ञः । तदवान्तरानेकाधिकार-व्यापी विभु संज्ञः । केवलः प्रभु संज्ञः । तत्र वासुदेवोऽयम् । किन्तु धातोरिति सम्बन्ध सामान्यनिर्देशाद् यथायथं पञ्चम्याद्यर्थो ज्ञेयः ।

३. तत्र प्रायो वर्त्तमानकाले तिवादयोऽष्टादशाच्युतनामानः ।

अमृता०—२. धातोरिति । उक्तञ्चाधिकारलक्षणम्—उत्तरप्रकरणव्यप्याधिकार-इति । पूर्वनिमित्तादीति—प्राङ्‌निमित्त कार्यी कार्यं परनिमित्तमिति चतुर्विधः । तत्र कार्यस्यैव संज्ञादिभेदात् सप्तविधत्वानुपपत्तेः संज्ञायाश्च पूर्वापरत्वरूपं द्वैविध्यं मन्तव्यम् । तेन प्राङ् निमित्तादि त्रिविधः, कार्यश्च चतुर्विध इत्येवं सप्तविधोऽधिकरभेदः । तत्र च न्यूनाधिक्येन प्रकारान्तरसंज्ञाभेदान् दर्शयति—सचेति । सचाधिकारो यदि सजातीय-विजातीयरूपमनेकाधिकारं व्याप्नोति तदासौ वासुदेवसंज्ञको भवति । तदवान्तरा-वासुदेवान्तर्गतः अनेकाधिकारस्य व्यापी चेद् भवेत् तदा स विभुसंज्ञः स्यात् । केवलो विभुवासुदेवलक्षणाभ्यां रहितोधिकारः प्रभुसंज्ञः स्यादित्यर्थः ।

किन्तु धातोरितीति—सम्बन्धसामान्ये षष्ठीनिर्देशाद् यथायोग्यं प्राङ् निमित्ते पञ्चमी च ग्रहीतव्य। । तथा क्वचिद् विभक्ति विपरिणामेन परनिमित्त सप्तमी च ग्राह्या ।

अमृता०—३. तत्रेति । स्वादि-तिवादि-भेदेन विष्णुभक्ते द्वैविध्यमुक्तम् । तत्र

अत्रतद्गुणसंविज्ञानपीताम्नो ज्ञेयः । तद्गुणस्य समस्तैकदेशस्थपदस्य सम्यक् विज्ञानं यत्र स इति ।।१।।

बाल०—धातोः । धातोरिति षष्ठ्यन्तम् । अधिकारोयमिति उत्तरप्रकरणव्यापी अधिकार इति पूर्वनिमित्तादीति 'प्राङ्ग् निमित्तम् तथाकार्य्यी कार्य्यं परनिमित्तकमि'ति चतुर्व्विध इत्यत्र पञ्चविधि इति पाठः क्वचिद्दृश्यते, स तु न सङ्गच्छते 'क्वचित् परनिमि-त्तस्य स्थाने विषयसप्तमी' त्यस्योक्तत्वेऽपि पाञ्चविध्यानु पपत्तेः । सप्तविध इत्यत्र षड्विधि इति पाठ उचितः, साप्तविध्यानुपपत्तेः । अथो वा संज्ञायाः पूर्व्वापरत्वद्वैविध्येन सह निषेध विधिद्विविधिस्य ग्रहणात् कार्यस्य तावच्चर्तुविधत्वमतः पूर्वोक्त प्राङ् निमित्तादि त्रिविधेन सह मिलित्वा सप्तविधत्वंसङ्गच्छत इति । स चेति स चाधिकारः सजातीयेत्यादि लक्षणो यदि भवति, तदा वासुदेवसंज्ञ इति । तदिति वासुदेवाऽवान्तरानेकाधिकारव्यापी यदि भवति, तदा विभुसंज्ञ इति । केवल इति केवलो यदि भवति, तदा प्रभुसंज्ञ इति । केवलत्वम् अधिकान्तराव्यापित्वम् । तत्रेति तत्र वासुदेव-विभु प्रभुषु । किन्त्विति धातो-रित्यस्य सम्वन्धसामान्यनिर्द्देशात् । यथायथम् । यथायोग्यं यथोचितमिति यावत् पञ्चम्या-द्यर्थो ज्ञेय इति क्वचित् पञ्चम्यर्थः क्वचित् षष्ठ्यर्थः क्वचित् सप्तम्यर्थश्च ज्ञेयः ।।२।।

तिप् तस् अन्ति । सिप् थस् थ । मिप् बस् मस् । ते आते अन्ते । से आथे ध्वे । ए बहे महे ।

एते वर्त्तमान इत्यन्ये, लडित्येके ।

४. विधिसम्भावनादौ यादादयो विधिनामानः ।

यात् यातां युस् । यास् यातं यात । याम् याव याम । ईत ईयाताम् ईरन् । ईथास् ईयाथाम् ईध्वम् । ईय ईवहि ईमहि ।

एतेसप्तमीत्यन्ये विधिलिङित्येके ।

५. आशीः प्रेरणादौ तुबादयो विधातृनामानः ।

तुप् ताम् अन्तु । हि तम् त । आनिप् आबप् आमप् । ताम् आताम्

स्वादिविष्णुभक्तयस्तदन्तपदानि च दर्शितानि पूर्वप्रकरणे । इदानीं धातुज-विष्णुपदं साधयिष्यन् प्रथमं तावत् तिवादि विष्णुभक्ती ब्रुवन् कालभेदेन तासां संज्ञाभेदान् दर्शयति —तत्रेति । वर्त्तमान काले धातोरुत्तरे तिवादयोऽष्टादश विष्णुभक्तयो भवन्ति, तासामच्युत-संज्ञा स्यात् । प्रायः शब्दग्रहणात् पुरादियोगे भूतकाले कदा कर्ह्यादियोगेभविष्यति चाच्युत प्रयोगो भवतीति सूचितम् । व्यक्त्या जात्या चैक क्रिया व्याप्तत्वेन भूतभविष्यदतिरिक्ततया विवक्षितः कालो वर्त्तमान इति वक्ष्यते । न च्यवते च्योतति वेति अच्युतः कृष्णः । पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गीत्यमरः ।

कालस्तावन्नित्यो विभुपदार्थः । तस्य विभागस्तु मानवस्थित्याद्यपेक्षया परिकल्प्यते एव । तत् परिकल्पनञ्च भूत-वर्त्तमान-भविष्यद् भेदेन त्रिविधिम् । दशबिध लकारस्य तेष्वेवान्तर्गतत्वं परिलक्ष्यत इति बोध्यम् । अन्ये इति कालापादयः । एके इति पाणिन्या-दय इत्यर्थः ।

अमृता०—४. विधीति । बिधत्ते इति विधि र्ब्रह्मा । वि—धा+कि । विधिरज्ञात-ज्ञापनं प्रेषणञ्चेति वक्ष्यते । सम्भावना क्रिया योग्यता संशयः । आदि पदेन निमन्त्रणा-मन्त्रणाधीष्टि संप्रश्न प्रार्थनेषु चेति वक्ष्यते ।

अमृता०—५. आशीरिरिति । आशीर्मङ्गलबादः । प्रेरणं नियोगः । अत्र च आदि

बाल०—तत्र । बर्त्तमाने काले धातोरुत्तरे तिवादयोऽष्टादश भवन्ति ते तु अच्युत-नामानः । पुरादियोगे भूतकाले भवन्ति, यावत् पुरा-कदा-कर्ह्यादियोगे भविष्यति भवन्तीति प्रायः शब्दोपादानं कृतम् । 'व्यक्त्या जात्या चैकक्रियाव्याप्तत्वेन भूत-भविष्यदतिरिक्ततया विवक्षितः कालो वर्त्तमान' इति वक्ष्यते । तिवादीनाह,—ति् तस् अन्तीत्यादि ॥३॥

बाल०—विधि । विधि सम्भावनादो गम्यमाने धातोरुत्तरे यादादयोऽष्टादश भवन्ति ते तु विधिनामानः । विधिरज्ञातज्ञापनं प्रेषणञ्च, सम्भावना तत् क्रियायोग्यतानिश्चितः । यादादीनाह,—यात् यातामित्यादिः ॥४॥

अन्ताम् । स्व आथां ध्वं । ऐप् आवहैप् आमहैप् ।
एते पञ्चमीत्यन्ये, लोडित्येके ।

६. अनद्यतनभूते दिवादयो भूतेश्वर नामानः ।

दिप् तां अन् । सिप् तं त । पम् बम । त आतां अन्त । थास् आथां ध्वम् । ईबहि महि । एते ह्यस्तनीत्यन्ये, लङित्येके ।

७. भूते दिवादयो भूतेश नामानः ।

एते अद्यतनीत्यन्ये, लुङित्येके ।

८. परोक्षभूते णलादयोऽधोक्षजनामानः ।

णल् अतुस् उस् । थल् अथुस् अ । णल् ब म । ए आते इरे । से आथे ध्वे । ए वहे महे । एते परोक्षेत्यन्ये, लिडित्येके ।

पदेन विधि निमन्त्रणादयो ज्ञेयाः । बिधाता ब्रह्मा । वि–धा+तृल् । विधाता विश्वसृड् विधिरित्यमरः ।

अमृता०—६. अनद्यतनेति । भूतकाल स्तावद् द्विविधः, अद्यतनोऽनद्यतनश्चेति पूर्वापर निशयो र्द्वाभ्यां द्वाभ्यां यामाभ्यां सह दिवसमद्यतनः, मद्भिन्नोऽनद्यतन इति वक्ष्यते । भूतानामीश्वरो भूतेश्वरो महादेवः ।

अमृता०—७. भूत इति । अत्र विशेष नियमाभावादद्यतनेऽनद्यतने च भूते भूतेश नाम लकारस्य प्रयोगो वोद्धव्यः । भूतेशोऽपि महेश्वरः ।

अमृता—८. परोक्षेति । अक्ष्णः परं परोक्षमिति समासे निपात्यते । चक्षुषोरगोचर भूत इत्यर्थः । तथासित उत्तमपुरुष प्रयोगानपपत्तेःक्वचिदपह्नवोदचर्थे चाधोक्षज प्रयोगो मन्तव्यः । अधोक्षजःश्रीकृष्णः । अक्षाणामिन्द्रियाणामधः वहिर्जायते प्रकाशते इत्यधोक्षजः, विशुद्धसत्व जात इत्यर्थ. । किञ्च अक्षस्याधः पुनर्जात इबेति शकटभञ्जनानन्तरं श्रीनन्दादिभिः प्रकटितेयंसंज्ञा ।

बाल०—आशीः । आशीः प्रेरणादौ गम्यमाने धातोरुत्तरे तुवादयोऽष्टादश भवन्ति ते तु विधातृनामानः । आशीरिष्टार्थस्याशासनम् आशासनमिच्छा, प्रेरणं नियुक्तिः ।।५।।

बाल०—अन । अनद्यतन-भूतकाले धातोरुत्तरे दिवादयोऽष्टादश भवन्ति, ते तु भूतेश्वरनामानः । पूर्वापरनिशयोर्द्वाभ्यां सह दिवसमद्यतनः कालस्तद्भिन्नोऽनद्यतन इति वक्ष्यते ।।६।।

बाल०—भूते । भूकाले दिवादयोऽष्टादश भवन्तिः ते तु भूतेशनामानः । दिवादयस्तूक्ता एव ।।७।।

बाल०—परोक्ष । परोक्षभूते धातोरुत्तरे णलादयोऽष्टादश भवन्ति, ते तु अधोक्षजनामानः । अक्ष्णः परं परोक्षमिति परोक्षशब्दः समासान्तप्रकरणे निपातनीयः ।।८।।

९. आशिषि यात् यास्तामित्यादयः कामपालनामानः ।

यात् यास्तां यासुस् । यास् यास्तं यास्त । यासं यास्वयास्म । सीष्ट सीयास्तां सीरन् । सीष्ठास् सीयास्तां सीध्वं । सीय सीवहि सीमहि । एते आशीरित्यन्ये, आशीर्लिङित्येके ।

१०, अर्हार्थेऽनद्यतनभविष्यति च तादयो वालकल्किनामानः ।

ता तारौ तारस् । तासि तास्थस् तास्थ । तास्मि तास्वस् तास्मस् । ता तारौ तारस् । तासे तासाथे ताध्वे । ताहे तास्वहे तास्महे । एते श्वस्तीत्यन्ये, लुडित्येके ।

११; भविष्यत् काले स्यत्यादयः कल्कि नामानः ।

स्यति स्यतः स्यन्ति । स्यसि स्यथस् स्यथ । स्यामि स्याबस् स्यामस् । स्यते स्येते स्यन्ते । स्यसे स्येथे स्यध्वे । स्ये स्याबहे स्यामहे । एते भविष्यति इत्येके, लृडित्येके ।

१२, साकाङ्क्षंयत्र क्रियातिक्रमो निर्दिश्यते तत्र कार्यकारणयोः स्यदादिका अजित नामानो भूते भविष्यति च ।

स्यत् स्यतां स्यन् । स्यस् स्यतं स्यत । स्यम् स्याब स्याम । स्यत स्येतां

अमृता०—९. आशिषीति । कामान् पालयति तथा कामं कामदेवं कृष्णं पालयति अग्रजातत्वादिति कामपाली वलदेवः । कामपालो हलायुध इत्यमरः ।

अमृता०—१०. अर्हार्थे इति । अर्हार्थे योग्यार्थे तथानदद्यतनभविष्यति काले च तादीनामष्टादश विष्णुभक्तीनां वालकल्किसंज्ञा स्यात् । कल्किर्भविष्यदबतारः प्रसिद्धः तस्यैव वालविग्रहो वालकल्किः ।

अमृता०—११. भविष्यदिति । विशेषनिर्देशाभावादद्यतनेऽनद्यतने च भविष्यति कल्केः प्रयोगो ज्ञेयः ।

अमृता०—१२. साकांक्षमिति । क्रियाया अतिक्रमोऽनिष्पत्तिः क्रियातिक्रमः । यत्राकांक्षया सह विद्यमानः क्रियातिपत्ति र्निदिश्यते तत्र पुनः कार्यकारणभावयोर्गम्यमानयो

बाल०—आशिषि । आशिषि मम्यमानायां धातोरुत्तरे यात् यास्तामित्यादयोऽष्टादद्य भवन्ति, ते तु कामपालनामानः ।।९।।

बाल०—अर्हार्थे । अर्हतीति अर्हो योग्यः । अर्हे कर्त्तरि अर्थे सति अनद्यतन भविष्यति च तादयोऽष्टादश भवन्ति, ते तु बालकल्किनामानः ।।१०।।

बाल०—भविष्यत् । भविष्यत्काले सत्यादयोऽष्टादश भवन्ति' ते तु कल्किनामानः ।।११।।

स्यन्त । स्यथास् स्येथाम् स्यध्वम् । स्ये स्यावहि स्यामहि । एतेक्रियाति-पत्तिरित्यन्ये, लृङित्येके । अच्युतादयस्तिङित्येके, आख्यातमिति सर्वे । सर्वत्र पराम इत्, ण लौ च, दिप्सिपोरिरामश्च ।

१३, पित् पृथुः ।

१४, णिन्नृसिंहः ।

१५, कित् कपिलः ।

१६, ङिन्निर्गुणः ।

स्यदादीनामष्टादशामजित संज्ञा स्यात् भूते भविष्यति च काले । नजितः पराभूतः केनचि-दिति अजितो विष्णुस्तन्नामा भगवदतार विशेषो वा । तिङिति पाणिनीयाः । अच्युतादि दशानां लकार संज्ञाच प्राचां प्रयोगे दृश्यते । सर्वत्र पराम इदिति—शब्दप्रकरणटीकाया-मिद्विधान प्रसङ्गे दर्शितमेव ।

अमृता०—१३. पिदिति । पइत् यस्य स पृथुसंज्ञो भवति । एवमग्रेऽपि । पृथुर्नृपति-र्भगवतः शक्त्यावेशावतारः ।

अमृता०—१४. णिदिति । किञ्चिदङ्गं नरः किञ्चिदङ्गं सिंह इतिनृसिंह—प्रह्लाद रक्षकः, हिरण्यकशिपुहन्ता लीलावतारः ।

अमृता०—१५. किदिति । सेश्वर-निरीश्वर-साङ्ख्य-प्रवर्त्तकद्वयं हि भगवदवतार एवेति बोध्यम् । "प्रोक्तः कपिलवर्णत्वात् कपिलाख्यो विरिञ्चिना ।" इतिलघु भागवतामृतम् ।

अमृता०—१६. ङिदिति । निर्नसन्ति गुणाः मायिक सत्वरजस्तमो रूपा यत्र यत् स्वरूपे स निर्गुणो हरिः । हरिर्हि निर्गुण इति श्रीमद्भागवतम् ।

बाल०—साकाङ्क्षम् । साकाङ्क्षम् यथा स्यात्तथा यत्रक्रियातिक्रमः क्रियाया अनिष्पत्तिः निर्दिश्यते, तत्र कार्य-कारणयोर्गम्यमानयोर्भूते भविष्यति च काले स्यदादिका अष्टादश भवन्ति, ते तु अजितनामानः ।

सर्वत्रेति । तिवादीनां परामः अन्त्यो विष्णुजनश्चेत्यनेन इद्भवति । पमः परामस्य इत्वविधानसूत्रं न दृश्यत इति इति यत्नान्तरामास्थेयम् यतनान्तरन्तु तत्प्रकरणे उक्तम् । ण-लौ चेति तत्र णरामः प्रत्ययाद्या जटनाइत्यनेन इद्भवति । नरामस्तुत्यो विष्णु-जनश्चेतेनेन इद्भवति । दिपसिपोरिरामश्चेति सिद्धोपदेश इत्यादिनेति शेषः ॥१२॥

बाल०—पित् । पित् पृथुसंज्ञो भवति॥१३॥

बाल०—नित् । नित् नृसिंहनामा भवति ॥१४॥

बाल०—कित् । कित् कपिलनामा ॥१५॥

बाल०—ङित् । ङित् निर्गुणनामा ॥१६॥

१७, किच्च ङिच्च कंसारिः ।

१८, शित् शिवः ।

१९, तिवादि नवनवानां पूर्वपूर्वाणि परपदसंज्ञानि ।

परस्मै पदानीत्यन्ये । तिप् तस् अन्त्यादीनि । यात् यातां युसित्यादीनि । एवमुत्तरत्रापि ।

२०. उत्तरोत्तराण्यात्मपद संज्ञकानि ।

आत्मनेपदानीत्यन्ये, तङिति च । ते आते अन्ते इत्यादीनि । ईत् ईयातां ईरन् इत्यादीनि । एवमुत्तरत्रापि ।

२१. नवकेषु त्रीणि त्रीणि प्रथम-मध्यमोत्तम पुरुष संज्ञकानि ।

- यथा तिप् तस् अन्ति इति प्रथम पुरुषः । सिप् थस् थ इति मध्यमः । मिप् बस् मस् इति उत्तमः । ते आते अन्ते इत्यादि ।

अमृता०—१७. किच्चेति । कंसारि र्वासुदेवः । यद्यपीह कपिल-निर्गुण-संज्ञाभ्यामेव कार्याणि साधयितुं शक्यन्ते तथापि यत्र तदुभयोरेव युगपद् निमित्तत्वेन निवेशनमावश्यकं तत्र तदुभयस्तयोः पृथङ्निर्देशेतु गौरवः स्यादिति संक्षेपार्थं कंसारि संज्ञाकरण प्रयोजनम् ज्ञेयम् ।

अमृता०—१८. शिदिति । शिवो भगवतो गुणावतारः ।

अमृता०—१९. तिवादीति । अच्युतादि प्रति लकारेषु प्रथम नवानां परपदसंज्ञा भवतीत्यर्थः । परपदशब्दस्य वैकुण्ठ वाचित्वाद् भयवन्नामत्वम् ।

अमृता०—२०. उत्तरेति । अच्युतादि प्रतिलकारेपूत्तरनवानामात्मपद संज्ञा स्यादित्यर्थः । आत्मशब्दस्य परमात्म। वाचित्वाद् भगन्नामता ।

अमृता०—२१. नवकेष्विति । नवानामपि मध्ये प्रथमत्रयं प्रथमपुरुषसंज्ञम् । मध्यमत्रयंमध्यमपुरुष संज्ञम् । अन्तिमत्रयमुतमपुरुषसंज्ञमित्यर्थः । तत्र प्रथमपुरुषो महत्तत्वसृष्टा कारणार्णवशायी । मध्यमपुरुषो ब्रह्माण्डान्तर्यामी गर्भोदशायी । उत्तमपुरुषो व्यष्टि जीबान्तर्यामी क्षीरोदशायीति पुरुषत्रयविवेकः ।

बाल०—किच्च । किच्च ङिच्च कंसारिनामा ॥१७॥

बाल०—शित् । शित् शिवनामा ॥१८॥

बाल०—तिवादि । तिवादि नव-नवानां पूर्वं-पूर्णाणि नव-नव परपदसंज्ञानि भवन्ति परपदशब्देन वैकुण्ठादिकमुच्यते इतिभगवन्नामता । सर्वेषामादौ तिप् वर्त्तत एव इति तिवादीत्युक्तम् । नवनवानामिति वीप्सायां द्विरुक्तिः, न तु रामकृष्णसमासः ॥१९॥

बाल०—उत्त । तिवादि नवनवानामुत्तरोत्तराणि नव-नव आत्मपदसंज्ञानि भवन्ति, आत्मशब्दस्य ब्रह्मवाचित्वात् आत्मपदं ब्रह्मपदमिति भगवन्नामता ॥२०॥

२२. अच्युतादयः पञ्च शिवश्च कृष्णधातुकाः ।

सार्वधातुकानीत्येके ।

२३. अन्ये प्रत्यया रामधातुकाः ।

आर्द्धधातुकानीत्येके ।

२४. पर पदानि कर्त्तरि ।

२५. आत्मपदिभ्य आत्मपदानि ङितश्च ।

२६, उभयपदिभ्य उभयपदानि ञितश्च ।

२७, आत्मपदान्येव कर्मणि ।

२८, आत्मपद प्रथमपुरुषैक वचनमेव भावे ।

भावो धात्वर्थ, । कर्त्तृ-कर्मणी वक्ष्येते ।

अमृता०—२२. अच्युतादय इति । अच्युत-विधि विधातृ-भूतेश्वर-भूतेशेति पञ्च लकारा स्तथा शइत् यस्य तादृशः प्रत्ययादिश्च कृष्ण धातुक संज्ञकाः स्युः । शिवस्य कृष्ण धातुकत्वमग्रे दर्शयिष्यते ।

अमृता०—२३. अन्ये इति । कृष्णधातुकेभ्योऽन्ये प्रत्यया रामधातुक संज्ञका-भवन्ति ।

अमृता०—२४. परेति । कर्त्तरि वाच्ये धातोरुत्तरे पर पदानि प्रयुज्यन्ते ।

अमृता०—२५. आत्मेति । कर्त्तरि वाच्ये आत्मपदिभ्यो धातुभ्यः, ङिद्भ्यश्च धातुभ्य उत्तरे आत्मपदानि प्रयुज्यन्ते ।

अमृता०—२६. उभयेति । कर्त्तरिवाच्ये उभयपदिभ्यो ञिद्भ्यश्च धातुभ्य उत्तरे उभयपदानि प्रयुज्यन्ते ।

अमृता०—२७. आत्मपदानीति । कर्मणि वाच्ये धातोरुत्तरे आत्मपदानि एव प्रयुज्यन्ते नतु परपदानीति नियमः ।

अमृता०—२८. आत्मपदेति । भावे वाच्ये धातोरुत्तरे आत्मपदस्य प्रथम पुरुषस्यैक

बाल०—नवकेषु । सुगमम् ।।२१।।

बाल०—अच्युता । अच्युतादयः पञ्च शिवश्च कृष्णधातुकनामानो भवन्ति ।।२२।।

बाल०—अन्ये । कृष्णधातुकेभ्योऽन्ये प्रत्यया रामधातुकनामानो भवन्ति ।।२३।।

बाल०—पर । कर्त्तरि वाच्ये धातोरुत्तरे परपदानि भवन्ति ।।२४।।

बाल०—आत्म । कर्त्तरि वाच्ये आत्मपदिभ्यो ङितश्चोत्तरे आत्मपदानि भवन्ति ।।२५

बाल०—उभय । कर्त्तरि वाच्ये उभयपदिभ्यो ञितश्चोत्तरे उभयपदानि भवन्ति ।।२६।।

बाल०—आत्म । कर्मणि वाच्ये आत्मपदान्येव भवन्ति, न तु परपदानि ।।२७।।

अत्र भूवादिगणे परपदिनां पदानि दर्श्यन्ते ।
भू सत्तायाम्; सत्ता विद्यमानता ।
तत्र कर्त्तरि एक वचनादयः स्वादिवज्ज्ञेयाः ।
भू-तिप् इति स्थिते पइत् ।

२९. शप् कृष्णधातुके ।

विकरणाख्योऽयम् । शपावितौ अरामशेषः ।

३०. धातोरन्तस्य गोविन्दः प्रत्यये ।

सइद्वयादीनामेव विहितः । शिवत्वात् कृष्णधातुकत्वम् ।

वचनमेव प्रयुज्यत इतिनियमः । धात्वर्थः क्रिया; तेनाद्रव्य वाचित्वात् तत्रसंख्या नापेक्ष्यते, तथाप्येकवचनन्तु पदसंस्कारार्थम्; "नापदं शास्त्रे प्रयुञ्जीत" इति शासनात् । कर्त्तृकर्मणी वक्ष्येते इति—स्वतन्त्रं तत्प्रयोजकश्च कर्त्तृ; क्रिया यत् साधिका तत् कर्म । विशेष विवरणं कारक प्रकरणे द्रष्टव्यम् । भूवादिगणे पर पदिनां पदानि दर्श्यन्ते इत्यत्र प्रथमत इत्यूह्यम्, इतः परमेवात्मपदि पदानां दर्शयिष्यमाणत्वाद् विरोधापत्तेः । स्वादिवज्ज्ञेया इति—प्रथमपुरुषे एकवचनम् तिप्—द्विवचनम् तस्, बहुवचनम् अन्ति । एवं मध्यमोत्तमयोश्च ज्ञेयम् ।

अमृता०—२९. शबिति । कृष्णधातुके परे धातोरुत्तरे शप् भवति । प्रकृतिप्रत्यययो मध्येजातत्वेऽपि अस्य विकरणाख्या प्रसिद्धा भ्वादे श्चरादेश्च शप्, दिवादेः, श्यः तुदादे शः स्वादेः श्नुः, तनादेः उः रुधादेः श्नम्, क्र्यादेः श्नाः, एतेषामेव विकरण संज्ञा यद्यप्येते सप्त विकरणाख्यां लभन्ते तथापि धातोरुत्तरे विहितत्वात् पुनः प्रत्ययत्वेन च क्वचिद् व्यपदिश्यन्ते ननुप्रकृति प्रत्यययोर्मध्ये जातस्य आगमत्वं हि प्रसिद्धम् तर्हि कथं तस्य विकरणत्वमिति चेत् ? सत्यमवधीयताम्—"तत्रटिन्मितौ सर्वत्रागमौ" इति परिभाषा सूत्रे मित्वेन श्नम् आगमत्व प्राप्तौ हि तत्र तन्निषिद्धं—श्नमं विनेत्यनेन । अतस्तदिङ्गितेन चान्येषामपि षण्णा मागमत्वमनङ्गीकृतमति ।

अमृता०—३०. धातोरिति । पूर्वोक्तमेव स्मारयति—सइद्वयादीनामिति । "उद्वयस्थ ए, उद्वयस्य ओ" इत्यादिना विहितो यो गोविन्दः स एवात्र प्रयुज्यते । धातोरित्यनुवर्त्तनत्वेऽपि पुनरिह धातुग्रहणफलमग्रे वक्ष्यते ।

बाल०—आत्म । भावे वाच्ये आत्मपदप्रथमपुरुषैकवचनमेव भवति । भावलक्षणमाह—भावो धात्वर्थ इति । धात्वर्थः सत्तादिः । कर्त्तृ-कर्मणी वक्ष्येते इति 'स्वतन्त्रम् तत् प्रयोजकश्च कर्त्तृ' 'क्रिया यत् साधिका तत् कर्मे'ति ।।२८।।

बाल०—शप् । कृष्णधातुके परे धातोरुत्तरे शप् भवति ।।२९।।

बाल०—धातो । प्रत्यये परे धातोरन्तस्य गोविन्दो भवति । स इति स गोविन्दः

३१. अपृथु कृष्णधातुको निर्गुणः।

तस्मात् पृथुत्वान्नात्र निर्गुणत्वम्। ओ अव्-भवति। भू+तस्, स-र-रामयोर्विष्णुसर्गः—भवतः। भू+अन्ति।

३२, अरामहर एअयोरविष्णुपदान्ते।

भवन्ति। अविष्णु पदान्त इतिकिं—प्लायते। दैत्यमर्दतिइति कर्मण्यणि दैत्यार्द इत्यादीनां वक्ष्यमाणत्वादरामहरो नस्यात्। भवसि भवथः भवथ।

अमृता०—३१. अपृथ्विति। पृथुभिन्नः कृष्णधातुको निर्गुणो भवति। तस्मिन् परे धातो र्गोविदो न भवतीत्यर्थः। नात्र निर्गुणत्वमिति—शपः पित्वेन पृथुत्वाद् न निर्गुणत्वं ततो धातोरन्तस्येत्यादिना गोविन्दएव। गोविन्दविधान सूत्रे प्रत्ययस्य परनिमित्तत्वेन निर्देशाद् विकरणत्वेऽपि शपः प्रत्ययत्वं मन्तव्यं कार्यानुरोधात्। न च येननाव्यवधानम् सम्भवति तेन व्यवधानेऽपीत वक्ष्यमाण न्यायेन शपा व्यवधानेऽपि तिवादि प्रत्ययमेव निमित्तं मन्यतामिति वाच्यम्, तथासति चापृथप्रत्यये तसादौ निर्गुणत्वमनपहारमिति। ननुभवतीत्यत्र शपः कृष्णधातुकत्वात्तन्निमित्तीकृत्य पुनश्च शप् कथं नापद्यते इति चेन्नः, पुनः कृतेऽपि शपि अरामहर एअयौ रित्यन्तर सूत्रेणैव तस्य हरो भवत्येवेति किं पुन व्यर्थं श्रमेण।

अमृता०—३२. अरामेति। अविष्णुपदान्ते विषये एराम अरामपरयो ररामस्य हरो भवति। प्लायत इति—प्रपूर्व अय गतौधातो रूपम्। "प्रपरा परीणां ररामस्य लत्वमयतो' इत्ययनेन प्रोपेन्द्रस्य रस्य लत्वम्। अविष्णु पदान्त इत्यनुक्ते तु तत्र-तत्रप्लयते दैत्यार्द इत्यादिकं सिद्ध्येत। समासे अन्तर्भिन्न पदत्व स्वीकारात् प्लायते दैत्यार्द इत्यनयोः सन्धिस्थले विष्णुपदान्तत्वमेवेति न अरामहरः।

इद्वयादीनामिति आदिशब्देन उद्वयस्य ऋद्वयस्य लृद्वयस्य च ग्रहणम्। धातोरित्यनुवर्त्तत एव, तथापि धातोरिति यत् कृतम्, तत् फलमग्रे वक्ष्यते ॥३०॥

बाल०—अपृथुः। पृथुभिन्नः कृष्णधातुको निर्गुणो भवति। भवतीत्यत्र शपः कृष्ण धातुकत्वात्तस्मिन् परे पुन; शपि कृतेऽपि 'अरामहर ए-अयोरविष्णुपदान्त' इत्यनेन तस्य हरो भवतीति पुनः शप् न भवतीति ज्ञेयम् ॥३१॥

बाल०—अराम ए अयोः परोयोररामहरो भवति अविष्णु पदान्ते विषये। प्लायते इति। अयगतौ प्र परा-परीणां ररामस्य लत्वमयतौ' इत्यनेन ररामस्य लरामः। दैत्यार्द इति अर्द्द पीडायां कर्मण्यण् इत्यनेन अण्। प्लायते दैत्यार्द इत्यादीनां यदि उक्तत्वं स्यात् तदा यत्राकरणादेव अरामहरो न स्यात् इदानीन्तु वक्ष्यमाणत्वात् अरामहरः स्यादेव अतोऽविष्णुपदान्त इति कृतम् ॥३२॥

३३, अआ बमो ।

भवामि भवावः भवामः ।

अकर्मकोऽयम् । यतः—

सत्ता वृद्धि विशुद्धि सिद्धि शयने स्थानासने भासने; लज्जा जीवन रोदने च हदने नृत्ये विलासे क्रुधि । त्रास स्यन्द निवास शोष मरण स्पर्द्धा विहारेष्वपि ज्ञातो धातुरकर्मकः क्षयमदोद्वेगप्रकम्पेष्वपि ।

उपलक्षणञ्चैतत् जागरणार्थादिष्वपि । तस्मान्नास्य कर्मणि प्रयोगः । भावे दर्श्यते । भू-ते इति स्थिते,—

३४. यक् कृष्णधातुकेभाव कर्मणोः ।

क इत् ।

३५. ईशस्य नगोविन्द वृष्णीन्द्रौ कंसारिषु ।

भूयते । ईशस्येति किम्—कामयते । प्राप्त्यर्थोऽपि भू धातुरस्ति । तदा

अमृता०—३३. अ आ इति । अ इति लुप्तषष्ठीकः । अकर्मकधातून् निर्दिशति—सत्तेतिपद्येन । सत्ताद्यर्थेषु धातुरकर्मको ज्ञात इत्यन्वयः । तत्रस्थानं स्थितिः; आसनमुपवेशनम्, भासनमिति दन्त्यमध्यो दीप्त्यर्थः । हदनंपुरीषोत्सर्गः । विलासी लीला हावभेदो वा । क्रुत् क्रोधः, स्यन्दः क्षरणम्, विहारो भ्रमणम् । उपलक्षणेनान्यत्रार्थेऽपि अकर्मको भवतीति दर्शयति–जागरणार्थादिष्वपीति । तेनादिपदेन धावन-हसन-जननाद्यर्थेष्वपि धातवो ह्यकर्मका भवन्तीति ज्ञेयम् ।

अमृता०—३४. यगिति । भाव-कर्मणोर्वाच्ययो कृष्णधातुके परे धातोरुत्तरे यक् आगमो भवति ।

अमृता०—३५. ईशस्येति । कंसारिषु परेषु ईशसंज्ञस्य वर्णस्य गोविन्द वृष्णीन्द्रौ न भवतः । ईशस्येति निर्देशात् धातोरन्तस्य तथा लघूद्धवस्य च प्राप्तगोविन्दः निषिद्धोऽनेन । एवमन्तस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंहे इत्यनेन विधास्यमानो नृसिंहश्चानेन निषिद्धः । सूत्रे

बाल०—अ आ । अ इति सूत्रबलेन लुप्तषष्ठी । व मोः परयोररामस्य स्थाने आरामो भवति ।

सत्तेति । सत्तादिषु प्रकम्पान्तेषु अर्थेषु धातुरकर्मको ज्ञातः पण्डितैरिति शेषः । तत्र स्थानं स्थितिः । आसननुपवेशनम् । भासनं दीप्तिः । हदनं पुरीषोत्सर्गः । क्रुत् क्रोधः । स्यन्दः श्रवणम् । उपलक्षणमिति । जागरणरूपार्थादिष्वप्यर्थेषु धातुरकर्मको ज्ञातः । तस्मादिति अस्य भूधातोः ॥३३॥

बाल०—यक । भाव कर्मणोर्वाच्ययोः कृष्णधातुके परे धातोरुत्तरे यक् भवति ॥३४

सकर्मकत्वेन कर्मणि च । तथाचाख्यातचन्द्रिका,—प्राप्तौ प्राप्नोति भवति विन्दत्यवरुणद्ध्यपि, आत्मनेऽपि द्वयमिति । भवत्यप्यात्मने इति केचित् । भूयते, भूय-आते—

३६. अत आ इ स्तथयोः ।*

भूयेते भूयन्ते । भूयसे भूयेथे भूयध्वे । भूये भूयावहे भूयामहे ।
अथ विधौ कर्त्तरि ।

३७, अतो याइः ।*

भवेत् भवेताम् ।

ईशग्रहणफलंप्रत्युदाहरणेन स्फुटयति—कामयते इति । कमु कान्तौधातोः कमेर्णिङ् । उद्धवारामस्येति वृष्णीन्द्रः, ततः शवादिकं, ङित्त्वादात्मपदम् । ईशस्यैव निषेधादरामस्य त्वनीशत्वेन ङित्त्वेऽप्यत्र वृष्णीन्द्रएव । भूधातोः प्राप्त्यर्थोऽस्तीति धातुकोषोक्त्या द्रढयति—तथाचेति । आत्मनेऽपि द्वयमिति—शेषोक्तं धातुद्वयमात्मनेपदीत्यर्थः । आख्यात चन्द्रिकायान्तु "प्राप्तौप्राप्नोतिभवते" इत्यपि पाठो दृश्यते । तेन विन्दति विन्दते अवरुणद्धि अवरुन्धे इत्यादि । भूधातोः प्राप्त्यर्थे परपदात्मपद विषये मतभेदोऽस्ति ।

अमृता०—३६. अत इति । स्पष्टम् । आ इति लुप्त षष्ठीकम् । अतः किम्—आसाते ।

अमृता०—३७. अत इति । या इति च लुप्तषष्ठीकम् । धातो ररामादुत्तरं या इत्येतस्य इरामो भवति । अत इति किम्—यायात् शृणुयात् ।

बाल०—ईशस्य । कंसारिषु परेषु ईशस्य गोविन्दवृष्णीन्द्रौ न भवतः । भूयत इत्यत्र धातोरन्तस्य गोविन्दः इत्यादिना गोविन्दे प्राप्ते निषेधविधानम् । कामयत इति कमु कान्तौ कमेर्णिङ् 'उद्धवारामस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंहे' इत्यनेन वृष्णीन्द्रः ङित्वादात्मपद शप् गोविन्द ए अय् । ईशस्यैव निषेधात् अत्र ङित्वेऽपि वृष्णीन्द्रः । कर्मणि चेति प्रयोगो दर्श्यते इति शेषः । भूधातो प्राप्त्यर्थं द्रढयति तथा चेति । आत्मनेऽपीति द्वयं शेषोक्तधातुद्वयम् आत्मनेपदीति । भवत्यप्यात्मन इति च केचित् वदन्तीति शेषः । आत्मनेऽपीति आत्मने पद्यपीत्यर्थः । ततश्च विन्दत इत्यादि । अवरुन्धे इत्यादि । भवते इत्यादि च भवतीति ॥३५॥

बाल०—अ आ । आ इति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी । तथयोः परयोः अत उत्तरस्य आरामस्य स्थाने ईभवति । भूयन्ते इत्यत्र भूये इत्यत्र च 'अरामहर' इत्यादिना अरामहरः । भूयावहे इति 'अ आ वमो'रित्यनेन अरामस्यारामः ॥३६॥

---

* कतिषु हस्तलिखितग्रन्थेषु सूत्रद्वयस्य "अत आइस्तथयोः", "अतो या ई" इत्येवंपाठो दृश्यते । कतिषु तु चतुर्थसर्वेश्वरस्थले तृतीय सर्वेश्वरो (वामनः) दृश्यते । उभयत्र तुल्यफलत्वेऽपि तत्र तत्र वामनपाठोहि समीचीनत्वेन ग्राह्यः । परवर्त्ति सूत्रद्वये ह्रस्वोपादानात्, काशिका-कलापादिष्वपि ह्रस्ववर्णस्यैव निर्देशाच्च ।

३८, अत इट् युसि ।

भवेयुः । भवेः भवेतम्, भवेत ।

३९, अतो याम इयम् ।

भवेयम्, भवेव भवेम । भावे भूयेत । प्राप्त्यर्थे कर्मणि,–भूयेत भूयेयाताम् भूयेरन् । भूयेथाः भूयेयाथाम् भूयेध्वम् । भूयेय भूयेवहि भूयेमहि ।

अथ विधातरि कर्त्तरि । भवतु ।

४०, तुह्यो स्तातङाशिषि वा सर्वत्र ।

भवताद् वा, भवताम्, भवन्तु ।

४१, अतो हेर्हरः ।

भव भवताद् वा, भवतम् भवत । भवानि भवाव भवाम ।

४२, प्रादयउपेन्द्रसंज्ञा धातुयोगे, तेच प्राक् ।

उपसर्गा इतिप्राञ्चः ।

अमृता०—३८. अत इति । सुगमम् । अत इति किम्—शृणुयुः ।

अमृता०—३९. अतइति । स्पष्टम् । अतःकिम्—कुर्याम् ।

अमृता०—४०. तुह्यो रिति । आशिषि गम्यमानायां सर्वधातुषु तुस्थाने हिस्थाने च तातङ् इत्यादेशो वास्यात् । ङित् करणं गोविन्द बृष्णीन्द्र प्रतिषेधार्थम्, स्थानिवत्त्वेन पृथुत्व निरासार्थञ्च । तेनब्रू तात् मृष्टादित्यादौ न गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ । किञ्च क्वचित् हरार्थं, स्तादित्यादौ; क्वचिद् विरिञ्चचर्थञ्च, शिष्टात् लुनीतात् कुरुतादित्यादौ ज्ञेयम् ।

अमृता०—४१. अत इति । अरामादुत्तरस्य हिप्रत्ययस्य हरो भवति । ननु भव इत्यत्र यथा हेर्हरः प्रवर्त्तते यथा भवतादित्यत्रापि हिस्थानीयत्वात् तातङश्च हरः क्रियतामिति चेन्न, तथा सतिभ्वादिगणे च हि स्थाने तातङ्विधानमनर्थकं स्यात् । तेन विधानसामर्थ्यादेव तातङो हरोनैव भवेदिति ।

अमृता०—४२. प्रादय इति । धातुभिः सहयोगे सति प्रादयो येऽव्ययसंज्ञकास्तएवोपेन्द्रसंज्ञका भवन्ति । तेच प्रादयो धातोः प्रागेव प्रयुज्यन्ते । तानाचष्टे—प्रपरेत्यादि

बाल०—अतो । या इति लुप्तषष्ठी । अत उत्तरस्य यारामस्य स्थाने ईभवति ।।३७।।

बाल०—अतः । युसि परे अत उत्तरे इड् भवति ।।३८।।

बाल०—अतो । अत उत्तरस्य यामः स्थाने इयम् भवति ।।३९।।

बाल०—तुह्यो । आशिषि गम्यमानायां सर्वत्र तुह्योः स्थाने तातङ् वा स्यात् ।।४०

बाल०—अतो । अत उत्तरस्य हे र्हरो भवति ।।४१।।

बाल०—प्रादयः । धातुयोगे सति प्रादय उपेन्द्रसंज्ञा भवन्ति । ते च प्रादयः प्राक्

प्रपराप-समन्वव-निर्दुरभि
व्यधि-सूदति-नि-प्रति-पर्यपयः ।
उपआङिति विंशति रेवसखे
उपसर्गविधिः कथितः कविना ॥

प्र परा अप सम् अनु अव निर् दुर् अभि-वि-अधि-सु उत् अति निप्रति परि अपि उप आङ् । निसिति पाठान्तरम् । आङो ङइत् ।

ततो भूधातोः प्रपूर्वत्वे प्राद्यव्ययात् स्वादेर्महाहरः । एवं सर्वत्र । प्रभवति प्रभवत इत्यादि ।

पद्येन । हेसखे ! इति विंशतिः प्रादयो भवन्तीति शेषः । एष—"धातुयोगे ते च प्राक्" इत्येष उपसर्गविधिस्तत्सम्बन्धीय-व्यवस्था कविभिः कथित इत्यन्वयः । अत्र एष इति विधेयविशेषणम् कृत्वा विंशतिः प्रादय इत्येतस्योद्देश्यत्वेस्वीक्रियमाणे— "उद्देश्य-विधेययो रुद्देश्य-समान-वचनत्वमाख्यातस्ये"ति काशिकोक्त्या सह विरोध आपतेदिति विवेचनीयम् । तथैवानुमतं महाकवीनां प्रयोगैः । यथा—केवा नस्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्ना इति मेघदूते । यदालम्ब्य क्रियाप्रवर्त्तते तदुद्देश्यम्, यत्तु विधीयते तद्विधेयमिति तत्तल्लक्षणम् ।

उपसमीपे सृज्यते सम्बध्यते इत्युपसर्गः । अत्र च धात्वधिकाराद् धातुनैव साकं-प्रादय उपेन्द्रा भवन्ति, अतएवोक्तं धातुयोग इति । सच योगो धातोः पूर्वपरंवेति सन्देहे निश्चिनोति—ते च प्रागिति । एवमिति—सर्वोपेन्द्रेषु स्वादेर्महाहरो वोद्धव्यः । एतएवगति संज्ञका प्राचाम् । उपसर्गाश्चार्थ विशेषस्य द्योतका नतु वाचकाः । धातूनामेवानेकार्था उपसर्गैः प्रकाश्यन्ते । तथाह्युक्तम्—उपसर्गेण धात्वर्थो वलादन्यः प्रतीयते । प्रहाराहार संहार विहार-परिहारवत् । इति ।

धातोः पूर्वे प्रयुज्यन्ते इत्यर्थः । प्र-परापेति हे सखे इत्येते प्रादयो विंशतिः कविना उपसर्ग-विधिः कथित इत्यन्वयः । एव इत्यस्य उपसर्गविधिरित्यनेनान्वयः । प्राचीनोक्तत्वात् । तदेवोह्यते—उद्देश्यश्च विधेयश्च यत्रोक्तत्वं द्वयमपि । उद्देश्यगत-संख्यादि न तु वैधेयकं भवेत् ।

उद्देश्यश्च विधेयश्च यत्रोक्तत्वं द्वयमपि । नोद्देश्यगतसंख्यादि वैधेयकं सदा भवेदिति द्वयप्रकारादत्र वैधेयगतं संख्यादि ज्ञेयम् । भूतलं भूरिति वत् उपसर्गविधिरुपसर्ग इति ज्ञेयम् । उपसृज्यते समीपे सम्बध्यते इत्युपसर्गः । सम्बन्धश्च केनापि सह भवति, स च धात्वधिकारो धातुना सहेति; अतएवोक्तं धातुयोग इति ते च प्रागिति च । निसितीति निरित्यत्र । 'आङिति आङ्माङि'त्यनेन ङित् । प्राद्यव्ययात् स्वादे र्महाहरः इति 'अव्ययात् स्वादे र्महाहर' इत्यनेनेति शेषः । एवमिति एवं सर्वत्र उपेन्द्रेषु स्वादेर्महाहरो बोद्धव्यः ॥४२॥

४३. पूर्वोक्त निमित्तत्वे सत्येव षत्व-णत्वे ।

सर्वत्र नियमोऽयम् ।

४४. उपेन्द्राण्णोपदेशस्य णत्वम् ।

४५. हिनुमीनानिपाश्च ।

४६. निंस् निङ्क्ष् निन्दां वा ।

निंसादीनां कृतीत्येके । हिगतौश्नु हिनु । मीञ् हिंसायां श्ना मीना । आनिप् । प्रभवाणि । उपेन्द्रादिति किम्—प्रगतो नायकः प्रनायकः । दुरुपसर्गस्य प्रतिषेध इति भाष्यम्—दुर्भवानि । उपसर्ग प्रतिरूपकत्वादेव न णत्वमित्यष्टकवृत्तिकृत् ।

अमृता०—४३. पूर्वोक्त ति । पूर्वोक्तयो निमित्तयोः सतोरेव षत्व-णत्वे भवतः । तत्र षत्वे ईश्वर-हरिमित्र-कङ्केभ्य इति, णत्वे—रष ऋद्वयेभ्य इति । एतदतिरिक्तम् नान्य निमित्तं ग्रहणीयमित्यर्थः ।

अमृता०—४४. उपेन्द्रादिति । उपेन्द्रादुत्तरस्य णोपदेशस्य धातो र्णत्वं भवति । सर्वे नादयो णोपदेशा नृ नृतीत्यादि वर्जमिति वक्ष्यते । ननु सिद्ध णरामस्य पुनर्णरामविधानं पिष्ट पेषणमेवेति चेन्न; "धात्वादेर्णोन" इत्यनेन विधास्यमान-नस्य हि उपेन्द्रात् पुन र्णत्वम् विहितमनेन । अकरणेऽस्मिन् विधाने पुनर्णत्वं न प्राप्नोतीति भावः ।

अमृता०—४५. हिनु इति । उपेन्द्रादुत्तरेषां हिनु-मीनानिपाश्च नस्य णत्वं भवति, समानविष्णुपदत्वाभावादप्राप्ते विधानमेतत् ।

अमृता०—४६. निंसेति । उपेद्रादुत्तरेषां निंसादीनां नस्य णत्वं वा भवति । एतेषां कृति हि णत्वं वा भवतीत्येके वदन्ति । समानविष्णु पदत्वाभावादप्राप्ते विभाषेदम् । हिनुप्रभृतेः स्वरूपमाह—हि गतावित्यादि । प्रनायक इत्यत्र धातुयोगाभावात् प्रशब्दस्य नोपेन्द्रत्वं किन्तु केवलाव्ययत्वमेव दुरुपसर्गस्य प्रतिषेध इति—दुरित्यस्योपसर्ग त्वनिषेध इत्यर्थः । तथाहि—"सुदुरोः प्रतिषेधो नुम्विधित्व-षत्व-णत्वेषु" इति भाष्यम् । सुलभं दुर्लभं, सुस्तुतं दुर्णयमित्यादि । वचनमिदं सव्यभिचारीति लक्ष्यते, दुर्याणमित्यत्र उपेन्द्रात् कृष्णस्येत्यादिना दुरित्येतमुपेन्द्र मत्वैव णत्वस्य विधास्यमानत्वात् । उपसर्ग प्रतिरूपक-उपसर्ग सदृशत्वात्, उपेन्द्रत्वाभाव इत्यर्थः ।

बाल०—पूर्वोक्त । पूर्वोक्तयोः ईश्वरादि-र षाद्योर्निमित्तत्वे सत्येव षत्वणत्वे भवतः ।।४३।।

बाल०—उपेन्द्रात् । उपेन्द्रादुत्तरस्य नोपदेशस्य धातोर्नस्य णत्वं भवतीत्यर्थः । सर्वे नादायो णोपदेशाः, 'नृ नृति नर्द्द नन्दि नाथ नटि नक्कि वर्जमि'ति वक्ष्यते ।।४४।।

बाल०—हिनु । उपेन्द्रादुत्तरेषां हिनिमिनानिपश्च नस्य णत्वं भवति ।।४५।।

बाल०—निंस । उपेन्द्रादुत्तरेषां निंसि-निंक्ष-निन्दा नस्य णत्वं वा भवति ।

४७. आङोऽन्येनविष्णुपदेन व्यवधानेन न णत्वम् ।

पर्यवभवानि ।

४८. वक्ष्यमाण कृदादौच ।

प्रापयानम् । आङातु णत्वमेव–पर्याभवाणि ।

४९. बमादयस्ते त्वच्युतादेरेव नान्यस्य ।

नियमोऽयम् । तेन अवहदित्यादौ न त्रिविक्रमादि । भावे भूयताम् । कर्मणि—भूयताम् भूयेताम् भूयन्ताम् । भूयस्व भूयेथाम् भूयध्वम् । भूयै भूयावहै भूयामहै । भूतेश्वरकर्त्तरि—

अमृता०—४७. आङ्इति सुगमम् ।

अमृता०—४८. वक्ष्यमाणेति । वक्ष्यमाण कृदादौ चाङोऽन्येन विष्णुपदेन व्यवधाने सति तत्र विहितं णत्वं नस्यात् । प्रापयानमिति प्र-अपाभ्यांया धातोर्भावे अनः । इह "उपेन्द्रात् कृष्णस्य सर्वेश्वरात् परस्ये"ति णत्वं प्राप्तं, तन्निषिद्धमनेन । कृदादाविति—आदिपदेन समासे चाङोऽन्येन व्यवधानेन नणत्वम् । यथा—हरियागयोगेन । याग पदव्यवधानान्नेह णत्वम् ।

अमृता०—४९. वमादय इति । अ आ वमोरित्यादौ ये वमादयः परनिमित्ततयोक्ताः, स्तेत्वच्युतादि लकाराणामेव गृहीता नान्येषामित्यर्थः । अवहदितिवह्प्रापणे भूतेश्वर-दिप् । अत्र धातोर्वरामपरत्वान्न अरामस्यारामः ।

निंसा । निंसादीना कृति णत्वं वा भवतीत्येके बदन्ति । हिन्वित्यादि यदुक्तम् तदेव विवृणोति हिगतावित्यादि । प्रनायक इति अत्र धातुयोगाभावात् नास्योपेन्द्रत्वम् । उपसगति दुरः उपसर्गप्रतिरूपकत्वादेव उपसर्गसदृशत्वादेव न णत्वमिति दुर उपसर्गसदृशः, न तूपसर्गः इति णत्वं न भवतीत्यर्थः । अष्टकवृत्तिकृति ग्रन्थकारविशेषः ।।४६।।

बाल०—आङो । आङोऽन्येन विष्णुपदेन व्यवधाने सति णत्वं न भवति ।।४७।।

बाल०—वक्ष्य । वक्ष्यमाणकृदादौ च प्रापयानमित्यत्र विहितः णत्वं आङोऽन्येन विष्णुपदेन व्यवधाने सति न भवति । प्रापयानमिति उपेन्द्रात् कृष्णस्य सर्वेश्वरात् परस्य णत्वमित्यनेन णत्वं स्यात् । कृदादावित्यादिशब्देन समासे विहितं णत्वं च न भवति, तेन हरियोग योगेनेत्यत्र एक सर्वेश्वरे कवर्गवति चोत्तरपदे सति नित्यमित्यनेन न णत्वं अत्र यागपदेन व्यवधानात् । वक्ष्यमाणकृदादावित्यत्र श्यामरामसमासश्चिन्त्यः । वक्ष्यमाणेत्यंस्य व्यावर्त्तकत्वाभावात् । आङाबिति व्यवधान इति शेषः ।।४८।।

बाल०—वमा । अ आ वमोरित्यादौ ये वरामादयो गृहीतास्ते तु अच्युतादेरेव गृह्यन्ते नान्यस्येति । अवहदिति वहप्रापणे भूतेश्वरे दिप् शप् धातोः पूर्वं अत् । अत्र वहोधातोर्वरामे परे न अरामस्यारामः ।।४९।।

५०. धातोः पूर्वमत्भूतेश्वर-भूतेशाजितेषु ।

विष्णुरयम् । अट् पा । अत्रपेति पाणिनीयानामिति सङ्केतितम् । येन नाव्यवधानं सम्भवति तेन व्यवधानेऽपि स्यादिति वचन प्रामाण्यात् शपादि व्यवधानेऽपि अभवत् अभवताम् अभवन् । अभवः अभवतम् अभवत । अभवम् अभवाव अभवाम । भावे–अभूयत । कर्मणि— अभूयत अभूयेताम् अभूयन्त । अभूयथाः अभूयेथाम् अभूयध्वम् । अभूये अभूयावहि अभूयामहि ।

भूतेश कर्त्तरि—भू दिप् अदागमः ।

५१. सिर्भूतेशे ।

इराम इत् । सिच् पा ।

अमृता०—५०. धातोरिति । भूतेश्वर-भूतेशाजितेषु परेषु धातोः पूर्वमत् स्यात् । सर्वेभ्यः प्राग्विष्णोः सत्तां सूचयन् धातोः पूर्वं विष्णोः स्थितिं ज्ञापयति—विष्णुरयमिति । ननु अभवदित्यादौ शपा व्यवहितत्वेन भूतेश्वर परत्वाभावात् कथमत् प्रवर्त्तत इति चेत्तत्राह—येनेति । येन अव्यवधानं न सम्भवति तेन व्यवधानेऽपि कार्यं स्यादित्यर्थः । भूतेश्वरे शपा अव्यवधानं नसम्भवेदत स्तत् व्यवधाने चात् भवेदेवेति भावः । एवमभूयते-त्यत्रापि यका व्यवधानेऽपिधातोः पूर्ववत् स्यात् ।

ननु धातोरित्यधिकारेणानुवृत्तेरपि कथमिह पुनर्धातु पदोपादानमिति चेत् ? अहो श्रूयताम्—अधिकारे धातोरिति प्रायः प्राङ् निमित्ततया गृह्यते, इहतु तन्न, किन्तु दिग्-वाचिपूर्वशब्दयोगेहि पञ्चमी । अत् नामायमद्भूतविष्णु र्धातोः पूर्वमेवाविर्भवति ननु धातोरुत्तरे इति च तत्त्वे न भ्रमितव्यम् ।

अमृता०—५१. सिरिति । भूतेशे परे धातोरुत्तरे सिरित्यागमो भवति । शपोऽ-पवादएषः । सिच् पेति पाणिनीयानां सिच् संज्ञेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । अत्र सेरिरामस्य सविष्णुचापत्वं मन्तव्यम्, इत्त्वानुरोधात् ।

बाल०—धातो; । भूतेश्वर-भूतेशाजितेषु धातोः पूर्वमद्भवति । विष्णुरयमिति औप-चारिकमस्य विष्णुत्वमिति परेषु ज्ञेयम् । पाणिनीयानामित्यस्येत्यर्थः सङ्केतितः सङ्केतम् । ननु अभवदित्याद्यौ शपा व्यवधानेन भूतेश्वरस्य परभावात् कथमद्भवत्विति चेत्तत्राह,— येनेति वचनप्रामाण्यात् लक्षणस्य प्रमाणत्वात् । अत्र वचनैकदेशे वचन शब्द प्रयोगः कृत । भूतेश्वरे शपा अव्यवधानं न सम्भवतीति तद्व्यवधानेऽपि भवत्येव । अभवन्निति अरामहर इत्यादिना अरामहरः । अभवाव अभवामेति 'अ आ वमो' रित्यनेन अरामस्यारामः । अभूयतेति 'यक् कृष्णधातुके' इत्यादिना यक् । येन नाव्यवधानं सम्भवति, तेन व्यवधानेऽपि स्यादिति यका व्यवधानेऽप्यत् ॥५०॥

५२. इण स्था पिवति दामोदर-भूभ्यः सेर्महाहरः परपदे ।

५३. दाप्दैप्दीङो विना दाधा दामोदर संज्ञाः ।

दाइत्यन्ये, घुरित्येके । दाप् दैप्दीङामदासीत् अदास्त इत्यादौ प्रयोजनम् ।

५४. भुवो न गोविन्दः सिलुकि ।

अभूत् । अत्रशपं बाधित्वा सिर्जात इति तस्य महाहरेहि शप् न स्यात् । सकृदपि विप्रतिषेधे यद्वाधितं तद्वाधितमेवेति न्यायात् । अभूताम् ।

अमृता०—५२. इण् स्थेति । इण्गतौ, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, पा पाने, दामोदरो वक्ष्यते भू सत्तायामित्येतेभ्य उत्तरस्य सेर्महाहरो भवति परपदे । पिवति निर्देशेन पारक्षणे इत्यस्य निरासः । प्रसङ्गात् दामोदरसंज्ञा कथयतिः—

अमृता०—५३. दापिति । दाप्लवने, दैप् शोधने, दीङ् क्षये, इत्येतान् दा धा इति स्वरूपाणां दामोदरसंज्ञाः स्युः । दापादीनां वर्जनफलमाह—अदासीदित्यादि । अत्र दामोदर त्वाभावान्न सेर्महाहरः । अदास्त इत्यत्र च तद्भावात् स्था-दामोदरयोरित्यादिना इरामो न ।

अमृता०—५४. भुव इति । सेर्लुकि महाहरे सति भुवो गोविन्दो न स्यात् । धातोरन्तस्य गोविन्द इत्यनेन प्राप्तस्य प्रतिषेधोऽयम् । पुनः शपागमाभावे परिभाषा-प्रमाणमाचष्टे—सकृदपीति । विप्रतिषेधे तुल्यवलविरोधे सकृदेकवारं यद्वाधितं, उत्सर्गापवादादि न्यायेन यद् वाधं प्राप्तम् तद् वाधितमेव न तस्य पुनरुत्पत्तिरित्यर्थः ।

ननु तर्हि शपोऽभावाद् भूतेशस्य कृष्णधातुकत्वं निष्फलमेवेति चेन्मैवम्, अतत इत्यादौ इटोऽभावादिरूपं साफल्यं भूतेशस्य कृष्णधातुकत्वं प्रति दर्शयिष्यते ।

बाल०—सिभूः । भूतेशे परे धातोरुत्तरे सिर्भवति । पेति पूर्ववत् । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् ।।५१।।

बाल०—इण् । इण्गतौ, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, पा पाने, दामोदरो वक्ष्यते, भूसत्तायामित्येतेभ्यः परस्य सेः परपदे महाहरो भवति । पिवतीतिनिर्द्देशः पा रक्षणे इत्यस्यादादिकस्य निरासार्थः ।।५२।।

बाल०—दाप् । दाप्लवने, दैप्शोधने, दीङ्क्षये इत्येतान् विना दा धा दामोदरसंज्ञा भवति । मीनात् मिनोति दीङामारामन्त पाठश्चतुर्व्यूह विधिस्थाने यपि चेति वक्ष्यते । दाप्दैव दीङामिति वर्जनस्येति शेषः । अदासीदिति नात्रसेर्महाहरः । अदास्तेति दीङ्क्षये मीनातीत्यदिना आत्वम् अत्र 'स्था-दामौदरयोरिरामो वैष्णवादि सावि'त्यादिना न आरामस्येरामः ।।५३।।

बाल०—भुवो । सि लुकि सति भुवो गोविन्दो न भवति । अत्रेति अत्र भूतेशे ।

५५. भुवोभूव् भूतेशाधोक्षज सर्वेश्वरे ।

अभूवन् । अभूः अभूतम् अभूत । अभूवम्, अभूव अभूम ।

५६; अत् प्रतिषेधो मामास्म योगे ।

माभवान् भूत्; मास्म भूत् । भावे—

५७, इण् भूतेश-ते भाव कर्मणोः ।

ण इत्, चिण् पा ।

५८, अन्तस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंहे ।

५९, इण स्तो हरः ।

अभावि । कर्मणि—अभावि ।

६०, इट् रामधातुके ।

अमृता०—५५, भुव इति । भूतेशाधोक्षजयोः सर्वेश्वरादि विष्णुभक्तौ परस्यां भू स्थाने भूवादेशः स्यात् । धातोरीदूतोरियुवाविति उव् प्राप्ते त्रिविक्रमविधानमिह प्रयोजनम् ।

अमृता०—५६. आदिति । मान्मास्मयोरव्ययो र्योगे धातोः पूर्वमदागमो न स्यादित्यर्थः ।

अमृता०—५७. इणीति । भाव-कर्मणोर्वाच्ययो र्भूतेशस्य तरामे परे सति धातोरुत्तरे इण् इत्यागमो भवति । सि-यको वाधक एषः ।

अमृता०—५८. अन्तस्येति । नृसिंहे प्रत्यये परे धातोरन्तस्य वृष्णीन्द्रः स्यात् ।

अमृता०—५९. इण इति । इण उत्तरस्य तरामस्य हरो भवति । औ आव् अभावि ।

अमृता०—६०. इडिति । रामधातुके परे धातोरुत्तरे इडागमः स्यात् । ननु अभावीत्यत्र इणो रामधातुकत्वेऽपि कथमिट् न कृतमिति चेत्तदुच्यतेनेढ्य-सर्वेश्वरयोरिति वक्ष्यमाण निषेधात्तत्रेटो नावसरइति ।

तस्य सेः । हेतुमाह—सकृदपीति । सकृच्छब्द एकवारवचनः । विप्रतिषेधे उभय-प्राप्तविरोधे ॥५४॥

बाल०—भुवो । भूतेशाधोक्षजयोः सर्वेश्वरे परे भुवः स्थाने भुव् भवति ॥५५॥

बाल०—अत्प्रति । माशव्दस्य मास्मशब्दस्य च योगे अत्प्रतिषेधो भवति ॥५६॥

बाल०—इण् । भाव कर्मणोर्वाच्य योर्भूतेशते परे धातोरुत्तरे इण् भवति । सर्वापवादोऽयम् ॥५७॥

बाल०—अन्तस्य । नृसिंहे परे अन्तस्य वृष्णीन्द्रो भवति ॥५८॥

बाल०—इण । इण उत्तरस्य तस्य हरो भवति ॥५९॥

६१, सहजसर्वेश्वरान्त हनुग्रहदृशिभ्य इण् वदिड् वा स्य-सि कामपाल-वालकल्किषु भाव-कर्मणोः ।

दृशस्त्विवडिति कृते पृथगारम्भे गौरवं स्यात्। अभाविषताम् अभविषताम् ।

६२, अरामान्य-वर्णादन्ते अन्तामन्तानां नस्य हरः ।

६३, शीङो रुट् च ।

अमृता०—६१. सहजेति। स्य प्रत्यये सि-विरिञ्चौ तथा कामपाले-वालकल्कौ च परेभाव कर्मणो र्वाच्ययोः स्वाभाविक सर्वेश्वरान्त-धातो स्तथा हनुर्हिसा-गत्योः, ग्रह उपादाने, दृशिर् प्रेक्षणे इत्येतेम्यश्चोत्तरे इणवदिट् वा भवति। इण्वदिति सप्तम्यर्थे वतिः,इणि इव इटि कार्यं वा भवतीत्यर्थः। अस्य च प्रयोजनानि काशिकायामुद्दिष्टानि। यथाः— चिण्वद् वृद्धिर्युक् च, हन्तेश्च घत्वं दीर्घ श्चोक्तो यो मितां वा चिणीति। इट्चासिद्धस्तेन हि लुप्यते णि नित्य श्चायं बलनिमित्तो विधाती। इति। अत्रमितां आचमिकमिवम्यादीनां मान्तानाम्। इट् इणवदिट् असिद्धो णिलोपविषये। बल्निमित्तः य सर्वेश्वरः वर्जं रामधातु निमित्त इट्तु विघाती अनित्यः। एवञ्च इण्वदिटो नित्यत्वात् सेड्भ्योऽपिप्रवर्त्तते ह्ययमेव, अस्याभावपक्षे तु सेड्भ्यः सामान्य इट् भवेदिति विभाव्यम्।

ननु इण्वदिटो यानि प्रयोजनानि दृश्यन्ते तानि दृशधातोरसम्भवात् कथं तेस्मादिण्वटिट् विधीयत इति चेत्तन्मीमांसतेदृश इति। अत्र"दृशिस्त्वद्" इति वक्तव्ये यदिण् बदिट् कृतं तत्तु पृथग् लक्षणे कृते गौरवं स्यादिति भिया हनादीनां साहचर्येणोक्तम्, वस्तुतस्तत्र दृश इड् वेति लक्षणं ज्ञेयम्। अभबिषातामिति इण्वदिटोऽभावपक्षे सेः रामधातुकत्वात् इट्रामधातुक इत्यनेन इट्।

अमृता०—६२. अरामान्येति। अरामान्यवर्णा दुत्तरेषां अन्ते अन्तां अन्त इत्येतेषां अरामस्य हरो भवति। सौत्रत्वादसन्धिः।

बाल०—इट।रामधातुके परे धातोरुत्तरे इड् भवति ।।६०।।

बाल०—सहज। स्ये सौ कामपाले बालकल्कौ च परे भावकर्मणोर्वाच्ययोः सहजसर्वेश्वरान्तात् हन् हिंसागत्योः, ग्रह् उपादाने, दृशिर् प्रेक्षणे, इत्येतेभ्यश्चोत्तरे इण्वदिड् वा भवति। ननु दृश्धातोः कथमिण्वदिट् कृतवान् ईण्वदिड् विधानस्य वृष्णीन्द्राविदिकमेव प्रयोजनं तत्तु दृश्धातोर्न सम्भवतीति। चेत्तत्राह—दृशस्त्विवड़ितीति। दृशस्त्विवड़ित्यत्रापि वेति ज्ञेयम्। दृशस्त्विवाडेति पृथगारम्भे कृते गोरवं स्यादिति। इण्वत्वस्यप्रयोजनाभावेपि गौरव भयेनैव न पृथगारम्भः कृतः इत्यर्थः। अभाविषातामिति से रामधातुकत्वात् तस्मिन् परे 'इट् रामधातुके' इत्यनेन इट् ।।६१।।

बाल०—अरामन्य। अरामादन्यद्वर्णादुत्तरेषां अन्ते अन्तमन्तानां नस्य हरो भवति। अन्ते अन्तामन्तानामिति सौत्रत्वादसन्धिरिति ज्ञेयम् ।।६२।।

६४. वेत्तेः रुट् तु वा ।

अभाविषत अभविषत । षात् परस्य टवर्गयुक्तस्येति अभाविष्ठाः अभविष्ठाः; अभाविषाथाम् अभविषाथाम् ।

६५. सस्य हरो धे ।

६६, ईश्वर-हरिमित्र-हकारेभ्यः षीध्वं-भूतेशाधोक्षजानां घस्य ढः ।

६७, इड् व्यवधाने तु वा ।

अभाविढ्वम् अभाविध्वम् अभविढ्वम् अभविध्वम् द्वित्वपक्षे अभाविड्ढ्वम् । अभाविषि अभविषि अभाविष्वहि अभविष्वहि, अभाविष्महि अभविष्महि । अधोक्षजे कर्त्तरि—भू णल् णलावितौ । भुवो भूव ।

अमृता०—६३. शीङ इति । शीङ् स्वप्ने इत्यस्मादुत्तरे रुट् चागमो भवति । चकारादन्ते प्रभृतीनां नस्य हरोऽपि स्यादित्यर्थः ।

अमृता०—६४. वेत्तेरिति । विद ज्ञाने इत्यस्मादुरे रुट् तु वा भवति, नराभहरश्च भवति नित्यम् । अभाविष्ठा इति षात् परस्येत्यादिना थस्य ठः ।

अमृता०—६५. सस्येति । स्पष्टम् । सेरेव सस्य हर इति केचित् । किन्तु नतद् ग्रन्थकृन्मतम्, चकाधीतिसाधयिमानत्वात् ।

अमृता०—६६. ईश्वरेति । ईश्वर-हरिमित्र-हरामेभ्य उत्तरस्य षीध्वमिति कामपाल प्रत्ययस्य तथा भूतेशाधोक्षजयोश्च धरामस्य ढरामः स्यात् ।

अमृता०—६७. इडिति । इटा व्यवधानेतूक्तेभ्यः षीध्वमादीनां धस्य ढो वा स्यात् । द्वित्वपक्ष इति—विष्णुजनो विष्णुजने वेत्यनेन ढस्यद्वित्वं, ततो विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यादिना पूर्वस्थ ढस्य डरामः । भुवो भूविति—भूतेशाधोक्षजसर्वेश्वरे इति शेषः ।

बाल०—शीङो । शीङो स्वप्ने इत्यस्मादुत्तरे रुट् च भवति । नस्य हरः सिध्यत्येव रुड्विधानार्थं सूत्रमिदम् ।।६३।।

बाल०—वेत्त । विद ज्ञाने इत्यस्मादुत्तरे रुट् तु वा भवति । 'षात्परस्ये' त्यादिना थस्य ठः ।।६४।।

बाल०—सस्य । धे परे सस्य हरो भवति ।।६५।।

बाल०—ईश्वर । ईश्वर-हरिमित्र-हकारेभ्य उत्तरेषां षीध्वं-भूतेशाधोक्षजानां धस्य ढो भवति ।।६६।।

बाल०—इड् वा । इड् व्यवधाने तु धस्य ढो वा भवति । द्वित्वपक्षे—अभाविड्ढ्वमिति । 'विष्णुजने विष्णुजनो वा हरौ निने'ति ढस्य द्वित्वं, ततो 'विष्णु-दासो विष्णुपदान्ते हरिघोषे च हरिगदे'त्यनेन ढस्य डः । ण-लाविताविति अरामशेष इति शेषः । भुवो भूरिति 'भुवो भूव् भूतेशाधोक्षज-सर्वेश्वरे' इत्यनेनेति शेषः ।।६७।।

६८. धातो द्विर्वचनमधोक्षज-सन्नङ्-यङ्षु ।

६९. सर्वेश्वरपर्यन्तस्यादिभागस्य अनरस्य द्विर्वचनम् ।

७०. सर्वेश्वरादित्वे तु सत्संगादि नवदर वर्जस्यान्यभागस्य ।

७१, सन् यङोस्तु तत्सम्बन्धिनः सर्वेश्वरस्य च ।

तदेवं भू इत्यस्य द्विर्वचनरूपे भू भू इत्यादेशे कृते—

७२, पूर्वो नरः ।

७३. परो नारायणः ।

अमृता०—६८. धातोरिति । अधोक्षज-सन्-अङ्-यङ्षु परेषु धातोर्द्विवचनं द्विरुक्तिर्भवति

अमृता०—६९. द्विर्वचनप्रणालीमेवोपदिशति—सर्वेश्वरेत्यादिभिः । नरेतरस्य सर्वेश्वरपर्यन्तस्य धातोः प्रथमभागस्य द्विर्वचनं भवति । यथा—पपाठ पपात जगामेत्यादि ।

अमृता०—७०. सर्वेश्वेरेति । सर्वेश्वरादित्वे सति पुनर्नवदरादिसत्सङ्गत्वे तु नवदरवर्जस्य सर्वेश्वरपर्यन्तस्यानरस्यापरभागस्य द्विर्वचनं भवति । यथा—उन्द-औन्दिदत्, उब्ज-औब्जिजत् । सर्वेश्वरादित्वे इति किम्—दिद्रासति । सर्वेश्वरपर्यन्तस्येति अनरस्येति च पूर्वतोऽनुवर्त्तते । अतः आनर्द प्रभृतौ दरामे सर्वेश्वराभावान्न तस्य द्विर्वचनम्, उर्णुनावेत्यादि सिद्धिश्च ।

अमृता०—७१. सन्यङारिति । सनन्तस्य यङन्तस्य च धातो रन्यभागस्य सन्यङ्-सम्बन्धिनः सर्वेश्वरस्य च द्विर्वचनं स्यात् । अनरस्येति वर्त्ततएव । यथा—प्रतीषिषति अटाट्यते । अनरस्येति किम्—जुगुप्सिषति ।

अमृता०—७२-७३. सुगमम् । नर-नारायणौ वदरीतीर्थ स्थितौ भगवदवतारौ ।

बाल०—धातोः । अधोक्षज-सन्नङ्-यङ् षु परेषु धातोर्द्विवचनं भवति । धातोर्द्विवचनं भवतीति सामान्यत उक्त्वा विशेषमाह ।।६८।।

बाल०—सर्वे । नरव्यतिरिक्तस्य सर्वेश्वरपर्यन्तस्य आदिभागस्य द्विर्वचन भवति ।।६९।।

बाल०—सर्वे । धातोः सर्वेश्वरादित्वे अनरस्य सर्वेश्वरपर्यन्तस्यान्यभागस्य द्विर्वचनम् । धातोः सर्वेश्वरादित्वे तु सति सत्सङ्गादिभूतान् न-व-द-रान् बर्जयित्वा अन्यभागस्य च द्विर्वचनं भवति । अत्रापि सर्वेश्वरपर्यन्तस्य अनरस्य चेति सम्बध्यते । सर्वेश्वरादित्वे सन्-यङोस्तु सतोः न-व-द-र-वर्ज्ययोः सर्वेश्वरपर्यन्तयोरनरयोर्द्विर्वचनं भवति ।।७०।।

बाल०—सन् । यङोः परयोः अन्यभागस्य सन्-यङ् सम्बन्धिनः सर्वेश्वरस्य च द्विर्वचनं भवति ।।७१।।

बाल०—पूर्वो । पूर्वो नरनामा ।।७२।।

पूर्वोऽभ्यासः परोऽभ्यस्तमिति प्राश्चः ।

७४, भूनरस्य भोऽधोक्षजे ।

७५, हरिखड्गस्य हरिकमलं हरिघोषस्य हरिगदा नरस्य ।

७६, नेट् य-सर्वेश्वरयोः ।

नित्यत्वाद् भूवादेशः—वभूव वभूवतुः वभूवुः । टिदागमः परसम्बन्धी; अत इटोऽप्यधोक्षजता—वभूविथ वभूवथुः वभूव । वभूव वभूविव वभूविम । भावे—वभूवे । कर्मणि—वभूवे वभूवाते वभूविरे । वभूविषे वभूवाथे वभूविढ्वे वभूविध्वे । वभूवे वभूविवहे वभूविमहे । वुभूवे-त्यादि केषाञ्चित् ।

कामपाले कर्त्तरि ।

अमृता०—७४. भू नरस्येति । अधोक्षजे परे भूधातोर्नरभूतभू स्थाने भइत्यादेशः स्यात् ।

अमृता०—७५. हरीति । नरभूतस्य हरिखड्गस्य हरिकमलं भवति तथाभूतस्य हरि घोषस्य हरिगदा स्यात् । अनेनच भूनरस्य वरामः ।

अमृता०—७६. नेडिति । य-सर्वेश्वरयोः परयो धातोरुत्तरे इट् तु न भवति । राम धातुकमात्रे प्राप्ते प्रतिषेध एषः । नित्यत्वादिति—अन्तस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंहे इत्यनेन वृष्णीन्द्रे कृते नकृतेऽपि भूवादेशो भवत्येवेति तस्य नित्यता; तेननित्यस्य बलवत्वात् प्रागेव भूवादेशः । अत्र वृष्णीन्द्रं कृत्वा पश्चादेकदेश विकृतमनन्यवदिति न्यायेन च भूवादेशः कर्त्तुं शक्यते किन्तु तत् प्रक्रियागौरवमालोच्य प्रथममेव भूवादेशो विहितो ग्रन्थकृद्भिः ।

ननु वभूविथेत्यादौ त्विडागमे सति अधोक्षज सर्वेश्वर-परत्वाभावात् कथं भूवादेशः क्रियत इति चेत्तत्र तावदिटोऽधोक्षत्वं प्रतिपादयितं सिद्धान्तमाह—टिदागमइति । वुभूवे-त्यादि केषाञ्चिदिति—तैस्तुभूनरस्य भआदेशो नाङ्गीक्रियते । तच्च प्रयोगविरलं ज्ञेयम् ।

बाल०—परो । परो नारायणनामा ।।७३।।

बाल०—भूनर । अधोक्षजे परे भूनरस्य स्थाने भो भवति ।।७४।।

बाल०—हरि । नरस्य हरिखड्गस्य स्थाने हरिकमलम्, नरस्य हरिघोषस्य स्थाने हरिगदा च भवति ।।७५।।

बाल०—नेट । य-सर्वेश्वरयोः परयोः इट् न भवति । ननु वृष्णीन्द्रादिकं कृत्वा पश्चा'देकदेशविकृतमनन्यवद्भवती'ति न्यायेन भूवादेशः करणीयः किं वा प्रथममेवेत्या-शङ्कायामाह—नित्यत्वाद्भूवादेश इति भूवादेशस्यावश्यकत्वात् प्रथममेव भूवादेशः । वृष्णीन्द्रादिकृतेऽप्यकृतेऽपि यदि भूवादेशः क्रियते, तदा का क्षतिः, उभयथैव वभूवेत्यादि पदानां सिद्धत्वात् उच्यते,—वृष्णीन्द्रादिकं कृत्वा भूवादेशे कृते प्रक्रियागौरवं स्यात् । ननु वभूविथेत्यादौ कथं भूवादेशः अधोक्षजसर्वेश्वरपरत्वाभावादिति चेत्तत्राह—टिदागम इति ।।७६

७७. कामपाल परपदं कपिलः ।

कपिलत्वान्निर्गणः । भूयात् भूयास्ताम् भूयासुः । भूयाः भूयास्तम् भूयास्त । भूयासम् भूयास्व भूयास्म । भावे—भाविषीष्ट भविषीष्ट । कर्मणि —भाविषीष्ट भाविषीयास्ताम् भाविषीरन् । भाविषीष्ठाः भाविषीयास्थाम् भाविषीढ्वम् भाविषीध्वम् भाविषीय भाविषीवहि भाविषीमहि । पक्षे भविषीष्टेत्यादि ।

वालकल्कौ कर्त्तरि ।

भविता भवितारौ भवितारः । भवितासि भवितास्थः भवितास्थ । भवितास्मि भवितास्वः भवितास्मः । भावे—भाविता भविता । कर्मणि —भाविता भावितारौ भावितारः । भावितासे भावितासाथे भाविताध्वे । भाविताहे भावितास्वहे भावितास्महे । पक्षे भवितेत्यादि ।

कल्कौ कर्त्तरि—

भविष्यति भविष्यतः भविष्यन्ति । भविष्यसि भविष्यथः भविष्यथ । भविष्यामि भविष्याबः भविष्यामः । भावे भाविष्यते भविष्यते । कर्मणि —भाविष्यते भाविष्येते भाविष्यन्ते । भाबिष्यसे भाबिष्येथे भाविष्यध्वे । भाविष्ये भाविष्याबहे भाबिष्यामहे । पक्षे—भविष्यतेत्यादि ।

अजिते कर्त्तरि—

अभविष्यत् अभविष्यताम् अभविष्यन् । अभविष्यः अभविष्यतम् अभविष्यत । अभविष्यम् अभविष्याव अभविष्याम । भावे—अभाविष्यत अभविष्यत । कर्मणि—अभाविष्यत अभाविष्येताम् अभाविष्यन्त । अभाविष्यथाः अभाविष्येथाम् अभाविष्यध्वम् । अभाविष्ये अभाविष्यावहि अभाविष्यामहि । पक्षे—अभवियष्यतेत्यादि ।

अमृता०—७७. कामपालेति । कामपालस्य परपदं कपिलोभवति । तेन च किमित्यतः फलमाह—कपिलत्वा न्निर्गुण इति । तस्मादीशस्य न गोविन्दवृष्णीन्द्राविति गोविन्द निषेधइत्यर्थः । भूयादित्यादौ नेट् य सर्वेश्वरयोरितीटोऽभावः ।

बाल०—काम । कामपालस्य परपदं कपिलो भवति । भूयादित्यादौ कपिलत्वात् ईशस्येत्यादिना गोविन्दनिषेधः ।. तस्माज्जागरणैकार्थादिति जागरणमेको मुख्योऽर्थो यस्य

चिती संज्ञाने। संज्ञानम् चैतन्यम्। तस्माज्जागरणैकार्थादकर्मकोऽयम्। क्वचिद् विशेषज्ञानेऽपि दृश्यन्ते; तत्र सकर्मकः। चिचेतरामस्तं क्लेशमिति भट्टिः।

७८, द्व्यक्षरधातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः सविष्णुचापः जागृकथादिवर्जम्।

चकासृप्रभृतीनामन्तः, ओवैंओश्वि प्रभृतीनां पूर्वः। तत इरामइत्।

७९, लघूद्धवस्य गोविन्दः।

वामनो लघुः। अच्युते कर्त्तरि––चेतति। भावे––चित्यते। विधौ––चेतेत्। भावे––चित्येत। विधातरि–चेततु; चित्यताम्। भूतेश्वरे––

तस्माज्जागरणैकार्थादिति—अत्र एकशब्दस्तुल्यार्थकः। तेन जागरणेन सह एकार्थः तुल्यार्थो यस्य स जागरणैकार्थस्तस्माद्धेतोः। अस्य चसकर्मकत्वं भट्टि प्रयोगेण प्रमाणयति-चिचेतेति। रामस्तं क्लेशं विशेषेणानुभूतवानित्यर्थः।

अमृता०—७८. द्व्यक्षरेति। जागृकथादिवर्जं द्व्यक्षरधातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः सविष्णुचापइत्यादिश्यते। तेनसिद्धोपदेशे विरिञ्चौ चेत्यादिना सविष्णुचाप सर्वेश्वरस्य ईरामस्य इत्त्वम्। इह धातो द्व्यक्षरत्वमनुबन्धवर्जितस्य स्वरूपस्यैव ग्राह्यम्। पूर्वस्य च परस्य चेत्यपि युगपन्न तन्त्रम्। तेनअटप्रभृतेः परस्यैवारामस्य सविष्णुचापता, नतु पूर्वस्य; तस्मिन्नपि सविष्णुचापत्वे सति धातोरेकाक्षरत्वापत्तेर्लक्षणासिद्धिः स्यात्। ओविजी प्रभृतेरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः सविष्णुचाप;। चितीप्रभृतीनामन्तः, ईशुचिर् प्रभृतेः पूर्वः। जागृवर्जनात् ऋरामस्य तत्र सविष्णुचापत्वविरहान्नेत्त्वम्। एवञ्च कथादेररामस्य नेत्वं किन्तु तस्य हरो वक्ष्यते। द्व्यक्षरत्वाभावादप्राप्त चकासृओवै प्रभृतीन् नियमयति—चकासृप्रभृतीनामन्त इति।

अमृता०—७९. लघूद्धवस्येति। लघुश्चासौ उद्धवश्चेति लघूद्धवस्तस्य गोविन्दोभवति प्रत्यये परे इतिशेषः। चित्यत इति—यकि कृते,—ईशस्येत्यादिना गोविन्दनिषेधः।

स जागरणैकार्थस्तस्य भावस्तस्मात्। तत्रेति तत्र विशेषज्ञाने। सकर्मकत्वं भट्टिप्रयोगं प्रमाणयति चिचेतेति ।।७७।।

बाल०—द्व्यक्षर। जागृकथादिवर्जं द्व्यक्षरधातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः सविष्णुचापो भवति, ततश्च ओविजीं प्रभृतीनामान्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः सविष्णुचापो भवति, चिती प्रभृतीनामान्तः सर्वेश्वरः सविष्णुचापो भवति, पूर्वसर्वेश्वरत्वाभावात्। सविष्णुचापत्वे तु सिद्धोपदेश इत्यादिना इत्वं भवति। जागृधातोर्वजनात् ऋरामस्य न सविष्णुचापत्वं तत एव नेत्वम्। कथादिवर्जनात् कथादेरन्तस्य सर्वेश्वरस्य सविष्णुचापत्वाभावान्नेत्वं किन्तु तस्य हरो वक्ष्यते। चकासृ प्रभृतीनामान्तः सर्वेश्वरः सविष्णुचापः स्यात्। ओरै ओश्वि-प्रभृतीनां सर्वेश्वरः सविष्णुचापः स्यात् ।।७८।।

अचेतत्; अचित्यत ।

भूतेशे—दिप्, सिः, इट्, गोविन्दः ।

८०, अस्ति-सिभ्यामीड् दिप्-सिपोः ।

८१, इटः सिलोप ईटि ।

अचेतीत् अचेतिष्टाम् ।

८२, सि-नारायण-वेतिभ्योऽन उस् ।

अचेतिषुः । अचेतीः अचेतिष्टम् अचेतिष्ट । अचेतिषम् अचेतिष्व अचेतिष्म । भावे अचेति ।

अधोक्षजे—चिचेत ।

८३, असंयोगादलिदधोक्षजः कपिलः ।

चेतेदिति—अतो या इरित्यनेन या इत्यस्येरामः । भूतेशे सिः इडिति—सेः रामधातुकत्वादिडागमः ।

अमृता०—८०. अस्तीति । दिप्-सिपोः परयोः अस् भुवीत्यस्मात् सेश्चोत्तरे ईड् भवति । अत्रदिप् साहचर्यात् भूतेश-सिप एव ग्रहणं नत्वच्युत सिप इति वोध्यम् ।

अमृता०—८१. इट इति । ईटिपरे इट उत्तरस्य सेर्हरो भवति । अचेतिष्टामिति—ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना षत्वम् । ततः षात् परस्येति तरामस्य टरामः ।

अमृता०—८२. सि-नारायणेति । से र्नारायणात् विद्ज्ञाने इत्यस्माच्चोत्तरस्य अन् प्रत्ययस्य उसादेशः स्यात् । द्विर्वचने सति परो नारायण इत्युक्तः । जुहोत्यादि जंक्षादिरपि नारायण इति वक्ष्यते । अतस्त्रयाणामेवात्र ग्रहणम् । अचेतीति—इण्, अन्तसर्वेश्वराभावेन वृष्णीन्द्रस्यानुपयोगाद् गोविन्द एव; इण स्तो हरः ।

अमृता०—८३. असंयोगादिति । असंयोगादुत्तरो लिदितरः अधोक्षजः कपिलः

बाल०—लघु । लघूद्धवस्य गोविन्दो भवति । चित्यत इति ईशस्येत्यादिना गोविन्दनिषेधः । चेतेदिति 'अतो या इ'रिति यरामस्येरामः ।।७९।।

बाल०—अस्ति । दिप्-सिपोः परयोः अस् भूरित्यस्मात् सेश्चोत्तरे ईड् भवति ।।८०।।

बाल०—इटः । ईटि परे इट उत्तरस्य सेर्लोपो भवति । सि हर इति पाठ उपयुक्तः । अचेतिष्टामिति ईश्वरेत्यादिना षत्वं 'षात् परस्ये'त्यादिना टत्वम् ।।८१।।

बाल०—सि.नारा । सेर्नारायणात् बिद ज्ञाने इत्यस्माच्च परस्य अनः स्थाने उस् भवति । द्विर्वचने कृते परो वर्णो नारायण इत्युक्तम्, जक्षादिरपि नारायण इति वक्ष्यते । द्वयोरेव ग्रहणम् । अचेतीति 'इण भूतेशते' इत्यादिना इण्, गोविन्दः । 'इणस्तोहर' इति तरामस्य हरः ।।८२।।

८४, स्वञ्जे र्वा।

८५, श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भिभ्य स्थल् च वा।

सत्सङ्गमात्रादिति तु नवृद्धानां मतम्। चिचितत्तुः चिचितुः। चिचेतिथ चिचितथुः चितित। चिचेत चिचितिव चिचितिम। भावे—चिचिते।

काम—चित्यात्। भावे चेतिषीष्ठ। वाल—चेतिता। भावे—चेतिता। कल्कौ। चेतिष्यति। भावे—चेतिष्यते। अजिते—अचेतिष्यत्। भावे अचेतिष्यत्। एवं कर्मणि ज्ञेयम्।

स्फुटिर् विशरणे। विशरणं विदारणम्। विसरण इति पाठे विकाशः। धातोरन्त इरित्। कर्त्तरि—स्फोटति। कर्मणि स्फुट्यते।

स्यात्। अतस्तस्मिन् परे ईशस्य न गोविन्देत्यादिना गोविन्दनिषेधः। असंयोगादिति धातोरसंयोगवर्णादित्यर्थः।

अमृता०—८४. स्वञ्जेरिति। स्वन्ज परिष्वङ्गे इत्यस्मात् परोऽलिदधोक्षजः कपिलो वा स्यात्। संयोगान्तत्वादप्राप्ते विभाषेयम्।

अमृता०—८५. श्रन्थीति। श्रन्थविमोचन-प्रतिहर्षयोः, ग्रन्थ सन्दर्भे, दम्भ दम्भे इत्येतेभ्यः परोऽलिदधोक्षजः थल् च कपिलो वा भवति। इहापि संयोगान्तत्वात् श्रन्थादीनां तथा लित्त्वात् थलः अप्राप्ते विकल्प विधानम्। सत्सङ्गेति—सत्सङ्गमात्रादलिदधोक्षजः थल् च विभाषया कपिलः स्यादिति मतं कस्यचिन्नतु प्राचाम्। विशरणं विदारणं, तत्र सकर्मको यथा—स्फोटति शत्रून् विशिखेन पार्थ इति। विकाशेऽकर्मको यथा—स्फोटति सरसि राजीवराजिरिति।

बाल०—असंयो। असंयोगात् परोऽलिदधोक्षजः कपिलो भवति ॥८३॥

बाल०—स्वञ्ज स्वञ्जपरिसङ्गे इत्यस्मात् परोऽलिदधोक्षजः कपिलो वा भवति। संयुक्तान्तत्वात् अप्राप्ते विभाषा ॥८४॥

बाल०—श्रन्थि। श्रन्थ मोचन-प्रतिहर्षयोः ग्रन्थ सन्दर्भे, दम्भ दम्भे इत्येभ्यः परोऽलिदधोक्षजः थल् च कपिलो वा भवति।

सत्सङ्गेति। सत्सङ्गमात्रात् परोऽलिदधोक्षजः स्थल् च कपिलो वा स्यादिति तु न बृद्धानां प्राचीनानां मतम्। चिचितत्तुरित्यादौ कपिलत्वान्न गोविन्दः। कामेति कामपाले। चित्यादिति कपिलत्वान्न गोविन्दः। चेतिषीष्टेति भावः। वालेति वालकल्कौ। भावेऽपि। चेतितेति चेतिष्यते इति भावे। विशरणं विदारणमिति विदारणे सकर्मकः,—यथा स्फोटति वाणेन शत्रुं हरिः। विदारयतीत्यर्थः। तुदादिरपि स्फुटधातुरस्ति। यथा—स्फुटति नाङ्गो मनसिजविशिखैरेति जयदेवः। अत्र ण्यर्थशून्यत्वादकर्मकः। न स्फुटति न विदीर्णो भवतीत्यर्थः। विकाशेऽकर्मकः। यथा स्फुटितसरोजान् पश्येति ॥८५॥

८६, अरामहरस्य निमित्तमरामः पूर्ववच्च ।

ततो न नस्य हरः– स्फुटच्यन्ते । विद्यादौ–स्फोटेत्, स्फुटच्येत । स्फाटतु स्फुटच्यताम् । अस्फाटतु, अस्फुटच्यत । भूतेशे—

८७. इरनुबन्धान् ङोवा भूतेश परपदे ।

ङइत्, अरामः शेषः । अङ् पा । अस्फुटत् अस्फोटीत्, अस्फुटतां, अस्फोटिष्टाम् । इटो व्यवधानतया निर्देशान्न निमित्तत्वं, ततो न ढत्वम् —अस्फोटिध्वम् । अधोक्षजे—

८८. नरविष्णुजनानामादिः शिष्यते ।

अमृता०—८६. अरामेति । अरामहरस्य निमित्तं परनिमित्त योऽरामः स पूर्ववत् च हरभूतपूर्वारामतुल्यो भवति । स्फुट्यन्त इत्यादौ—अरामहर ए-अयो रित्यनेन यकोऽरामेहरे तस्य महाहरत्वात् अरामान्य वर्णादित्यादिना अन्ते प्रभृतीनां नरामहरः प्रसज्येत, अतोऽरामस्य पूर्ववत्त्वविधानान्न हि नस्य हर इत्याशयः ।

अमृता०—८७. इरनुवन्धादिति । भूतेशस्य परपदे इरितोधातो रुत्तरे ङइत्यागमे । वा भवति । पक्षे यथाप्राप्तः सिः । अस्फुटदित्यादौ ङित्त्वादीशस्य न गोविन्देत्यादिना गोविन्दनिषेधः । ननु अस्फोटिध्वमित्यत्र इटईश्वरत्वेन ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना धस्य ढत्वं कथं न स्यात्तत्राचष्टे—इटोव्यवधानतयेति । इटो न निमित्तत्वं ढत्वं प्रतीति शेषः । यदि तस्य निमित्तत्वं विवक्षितं स्यात्तर्हि "इट स्तु वा" इत्येवं विदध्यादिति भावः ।

अमृता०—८८. नरेति । नरश्चेत् संयुक्तवर्ण स्तदा नरविष्णुजनानां मध्ये य आदिः प्रथमस्थितः स हि शिष्यते अवशेषतया स्थाप्यते; अन्यो विष्णुजनो नरक्ष्यते । तेन स्मृ प्रभृते नरत्वेन सरामस्य हि स्थितिर्नतु मरामस्य ।

बाल०—अराम । अरामहरस्य निमित्तम् अरामः पूर्ववच्च पूर्वारामवच्च भवति । स्फुट्यन्त इत्यादौ अरामहर इत्यादिना अरामहरे कृते तस्य महाहरत्वात् 'अरामान्य-वर्णादन्ते अन्तामन्तानां नस्य हर' इत्यनेन नस्य हरः स्यादित्यरामस्य पूर्ववत्त्वं विहितमतो न नस्य हरः । स्फुट्येतेति कर्मणि, एवमन्यत्र च ॥८६॥

बाल०—इरनु । भूतेशस्य परपदे इरनुबन्धाद्धातोरुत्तरे ङो वा भवति । अस्फुटदिति ईशस्येत्यादिना गोविन्दनिषेधः । ननु अस्फोटिध्वमित्यादौ इट ईश्वरत्वात् 'ईश्वर हरिमित्रे'त्यादिना ढत्वं कथं न स्यादिति चेत्तत्राह–इट इति । न निमित्तत्वमिति ढत्वे इति शेषः । ततो न ढत्वमिति । अन्यथा 'इड् व्यवधाने तु वे'त्यत्र इटस्तु वेति विदध्यात् ॥८७॥

बाल०—नर । नर-विष्णुजनानामादिः शिष्यते, अवशिष्टतया स्थाप्यते अन्यो विष्णुजनो न रक्ष्यते । यथा–प्रच्छादीनां प्रादेर्द्विर्वचने कृते पादेरेव स्थितिर्न तु रादेः ॥८८॥

---

* तेन त्रिविष्णुजनत्वे ष्ट्यै धातो र्नरे सात्वत एव तिष्ठति नतु ष-यरामौ–तिस्त्याय ।

८९. शौरि शिरस्कस्तु सात्वतः ।

अन्यो विष्णुजनो नरक्ष्यते । पुस्फोट, पुस्फुटे । कामस्फुट्यात्, स्फटिषीष्ट । वालकल्कौ स्फोटिता । कल्कौ—स्फोटिष्यति, स्फोटिष्यते । अजिते—अस्फोटिष्यत्, अस्फोटिष्यत । एवं श्च्युतिर् क्षरणे । दन्त्यादिरयम् । सस्यशश्चवर्गयोगे । श्च्योतति । अश्च्युतत् अश्च्योतीत् । चुश्च्योत । एवं च्युतिर् आसेचने । मन्थ विलोडने । मन्थति ।

९०. अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामुद्धव नरामहरः कंसारौ ।

९१, लगि-कप्योरुपताप-शरीर-विकारयोः ।

मथ्यते । भूतेशे—अमन्थीत्, अमन्थि । अधोक्षजे—ममन्थ, ममन्थे । काम—मथ्यात्, मन्थिषीष्ट । कुथि हिंसा-संक्लेशयोः ।

९२, इरामेद्धातो र्नुम् ।

उपदेशएवायं नुम् । कुन्थति । इरामेंत्त्वान्ननस्यहरः—कुन्थ्यते ।

अमृता०—८९. शौरीति । शौरिः शिरसि यस्य स शौरिशिरस्क स्तादृशो नरभूतः सात्वत एव शिष्यते; अन्यो विष्णुजनो न रक्ष्यते ।* अत्र द्विर्वचने पुस्फुट इति स्थिते हरिखड्गस्य हरिकमलं परामः, लघूद्धवस्येति गोविन्दः—पुस्फोट । श्चुचिर् क्षरणइति—क्षरणं स्यन्दनं विलोडनं प्रतिघातश्च । अश्चुतदिति—इरनुवन्धान् ङो वेत्यनेन ङः । अश्चोतीदिति सि पक्षे ।

अमृता०—९०. अनिरामेति । इराम इत् येषां ते इरामेतः । न इरामेत अनिरामेतस्तेषां विष्णुजनान्तानां धातूनां कंसारौ प्रत्यये परे उद्धव-नरामस्य हरोभवति । तेन मथ्यते इत्यत्र नरामहरः ।

अमृता०—९१. लगीति । उपताप-शरीर विकारयोरर्थयो र्गम्यमानयोः लगि गतौ कपि चलने इत्येतयो रुद्धवनरामस्य हरः स्यात् । इरामेत्त्वादप्राप्ते विधानम् । ममन्थे इति—संयोगान्तत्वेन कपिलत्वाभावान्न नरामहरः । मथ्यादिति—कामपाल-परपदस्य कपिशत्वान्नरामहरः ।

बाल०—शौरि । शौरिशिरस्कस्तु सात्वतः शिष्यते अन्यो न रक्ष्यते । पुस्फोटेति 'हरिखड्गस्य हरिकमलमि'त्यादिना फस्य पत्वम् । अश्च्युतदिति 'इरनुबन्धान् ङो वे'त्यादिना ङः ।।८९।।

बाल०—अनि । इराम इत् येषां ते इरामेतः न इरामेतः अनिरामेतस्तेषां विष्णुजनान्तानां कंसारौ परे उद्धवनरामस्य हरो भवति ।।९०।।

बाल०—लगि । उपताप-शरीरविकारयोर्वर्त्तमानयोर्लगि गतौ, कपि चलने इत्येतयोरुद्धव-नरामस्य हरो भवति । इरामेत्वादप्राप्ते विधानम् ।।९१।।

६३, कवर्ग-नरस्य चवर्गः ।

चुकुन्थ । लगि गतौ—विलग्यते । कपि चलने-बिकप्यते । उपतापादिभ्या-मन्यत्र तु—लङ्च्यते कम्प्यते । षिधु गत्याम् ।

६४. धात्वादेः षः सः ।

६५. सर्वेश्वर-दन्त्यपराधातोरादिसाः षोपदेशाः ।

६६. स्वक्क-स्विद-स्वद-स्वञ्ज-स्वप-स्मिङाश्च ।

अमृता०—६२. इरामेदिति । इराम इत् यस्य तादृशधातोर्नुम् स्यात् । अत्र षष्ठी सम्बन्धे नतु स्थान्यर्थे, कार्यविरोधात् । उपदेश एव—उच्चारणमात्र एव, सहजवदेवेत्यर्थः । अन्त्यसर्वेश्वरात् परं मित स्थानमिति शासनात्—कुन्थति ।

अमृता०—६३. कवर्गेति । सुगमम् । विलग्यत इति—उपतप्यत इत्यर्थः । विकप्यत इति—शरीर विकारोऽत्रार्थः । सतूपतारादविलक्षण एव । अन्यथा उपताप इत्यनैव सिद्धे शरीर विकार ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।

अमृता०—६४. घात्वादेरिति । धातोरादिस्थितः षरामः सराम आदिश्यते ।

अमृता०—६५. के तावद् मूर्द्धण्यषरामादयो वेति संशये षोपदेशान् व्याचष्टे—सर्वेश्वरेति । सर्वेश्वराश्च दन्त्याश्च सर्वेश्वर दन्त्या स्ते परायेभ्य स्तादृशाः धातोरादिस्थिताः सरामाः षोपदेशा भवन्ति प्रथमेवषरामत्वेनोच्चार्यन्त इत्यर्थः । केचित्तु सर्वेश्वर दन्त्यपर सादयो धातवः षोपदेशत्वेन मन्यन्ते । तथाहि भाष्यम्—अज्दन्त्यपराः सादयः षोपदेशा इति । उद्देश्यन्तु समानमेव ।

अमृता०—६६. स्वक्केति । स्वक्क गतौस्विदा गात्र प्रक्षरणे स्वद आस्वादने स्वनूज परिष्वङ्गे ञिस्वप् शये स्मिङ् ईषद्धसने इत्येतेषाञ्चादिसाः षोपदेशाः स्युः । दन्त्यवर्ण-परत्वात् पूर्वेणहि षोपदेशत्वे सिद्धे पुनरेषाँ ग्रहणेन दन्त्यपरेषु मध्ये एषामेव षण्णां षोपदेशत्वं नियमितं नत्वपरेषां स्वृ प्रभृतीनामिति परसूत्राद्दधो मूले वक्ष्यते ।

बाल०—इरा । इराभ इद यस्य स इरामेत् इरामेच्चासौ धातुश्चेति इरामेद्धातु-स्तस्य नुम् भवति ।

उपेति । उपदेश एव उच्चारणमात्र एव ॥६२॥

बाल०—कवर्ग । कवर्गनरस्य स्थाने चवर्गो भवति । विलग्यते इति उपतापोऽत्रार्थः । विकप्यते इति शरीरविकारोऽत्रार्थः । उपताप-शरीरविकाराभ्याम् ॥६३॥

बाल०—धात्वादेः । धात्वादेः षरामः सरामो भवति । ष इत्यत्र षस्येति पाठः सभ्यः । कार्यस्थाने तु षष्ठिकेत्युक्तत्वात् । ष इति षष्ठ्यन्तं वा ष इत्यराम उच्चारणार्थः ॥६४

बाल०—सर्वे । सर्वेश्वराश्च दन्त्याश्च सर्वेश्वरदन्त्या-स्ते पराः परभूता येभ्यस्तादृशा धातोरादिसाः षोपदेशाः । सरामाणां षोपदेशत्वं कष्टप्रतिपाद्यं तस्मात् सर्वेश्वरदन्त्य-परसादयो धातवः षोपदेशा इति सुसङ्गतः पाठः ॥६५॥

९७. सृप्लृ-सृ-स्तृ-सृज्-स्तॄ-स्त्या-सूच-सूत्र-स्तन-संग्राम सार-साम-सभाज-सेकृ-स्तेन-स्तोम वर्जम् ।

सत्र स्थूल सुखाश्च धातुप्रदीपे दृश्यन्ते । दन्त्यपरत्वेऽपि स्वक्कादीनां पाठो नियमार्थः । तेनस्वृ प्रभृतीनां नस्यादिति । सेधति ।

९८. उपेन्द्रादपि षोपदेशस्य षत्वं क्वचित् ।

निषेधति । अद्व्यवधानेऽपि— न्यषेधत् ।

षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च । ऊराम इत् । शास्त्रमनुशासनं माङ्गल्यं शिवम् । सेधति शिष्यं गुरुः । सेधति हरिभक्तिः ।

अमृता०—९७. सृप्लृ इति । सृप्लृ गतौ सृगतौ स्तृञ् आच्छादने स्वादिः सृजविसर्गे स्तॄञ् आच्छादने क्र्यादिः, स्त्यै शब्दसंघातयोः, सूच पैशुन्ये सूत्रवेष्ठने स्तन शब्दे संग्रामयुद्धे सार दौर्बल्ये साम सान्त्वने सभाज संपूजने सेकृगतौ स्तेन चौर्ये स्तोम श्लाघायामित्येतान् वर्जयित्वा अन्ये हि षोपदेशाः स्यु । सृप्प्रभृतेः सर्वेश्वर परत्वात् तथा स्तृ प्रभृतेर्दन्त्य-परत्वादेतेषां पूर्वसूत्रेण षोपदेशत्वे प्राप्ते वर्जनम् । एतद्व्यतीतानामेव सर्वेश्वर-दन्त्यपर धातूनां षोपदेशत्वं मन्तव्यम् । सत्रसन्तानक्रियायां, स्थूल परिवृंहने, सुख तत्क्रियायां-मित्येते च धातु प्रदीपे दृश्यन्ते वर्जनगणे इतिशेषः । स्वक्कादीनां पाठो नियमार्थ इति व्याख्यातमेव प्राक् । तत्र भाष्यटीकायां कैयटः—दन्त्यग्रहणेन वकारो गृह्यते इत्याशङ्का स्यादिति स्विदादयो भेदेन निर्दिष्टा इति ।

अमृता०—९८. उपेन्द्रादिति । उपेन्द्रादुत्तरस्य षोपदेशस्य क्वचित् षत्वं भवति । विष्णुपदान्तत्वादप्राप्ते विधानमेतत् । अत्र ईश्वरादिनिमित्तभूताद् ह्युपेन्द्रादिति वोद्धव्यम्, पूर्वोक्तनिमित्तत्वे सत्येव षत्व-णत्वे इत्युक्त नियमात् । क्वचित् पदग्रहणात् "सेधते स्त्वगतौ

बाल०—स्वक्व । स्वक्व गतौ स्विदा गात्रप्रक्षरणे स्वद आस्वादने स्वनूज परिसङ्गे ञि स्वप शये स्मिङ ईषद्धसने इत्येषाञ्च आदि साः षोपदेशाः ।।९६।।

बाल०—सृपलृ गतौ सृ गतौ स्तृञ् आच्छादने स्वादिः, सृज विसर्गे स्तॄञ् आच्छादने क्र्यादिः, स्त्यै शब्द-सङ्घातयोः सूच पैशुन्ये सूत्र वेष्टने स्तन शब्दे संग्राम युद्धे सार दौर्बल्ये साम सान्त्वने सभाज संपूजायां सेकृ गतौ स्तेन चौर्ये स्तोम श्लाघायां इत्येतान् वर्जयित्वा एते सर्वेश्वरदन्त्यपरसादयोऽपि न षोपदेशा इति । सत्र सन्तानक्रियायां स्थूल परिवृंहने सुख तत्क्रियायां इत्येते च धातुप्रदीपे दृश्यन्ते वर्जत इति शेषः । दन्त्यपरत्वेऽपीति । तेन स्वृप्रभृतीनां न स्यात् षोपदेशत्वमिति शेषः । दन्त्यपरत्वेऽपि स्वक्कादीनां पाठो नियमार्थ इति चेत्तर्हि स्तृ स्तॄ स्त्य स्तन स्तेन स्तोम इत्येते कथं वर्ज्यन्ते ? उच्यते, वरामपरत्वेन ये दन्त्यपरसादयस्तेषां मध्ये स्तृ प्रभृतीमेनामेव वर्जनं भवति । अन्येषां तु षोपदेशत्वं भवतीति न कश्चिद्विरोधः ।।९७।।

बाल०—उपे । उपेन्द्रावप्युत्तरस्य षोपदेशस्य सस्य षत्वं क्वचिद्भवति । अद्व्यव-

९९. स्वरति सूति सूयतिधूञूदित इड्वा ।

असेधीत् असेधिष्टामित्यदि ।

१००, बिष्णुजनान्तानामनिटां वृष्णीन्द्रः सौ परपदे ।

यादवमात्रे हरिकमलम्—असैत्सीत् ।

१०१, वामन वैष्णवाभ्यां सेर्हरो वैष्णवे नत्विटः ।

१०२, हरिघोषात्तथोर्धो धावर्जम् ।

असैद्धामित्यादि । वस्यापि वैष्णवत्वाभावात् सेर्हराभावः ।

उदूठौ यत्र विद्येते प्रत्ययोऽच्-प्रभवश्च यः ।

स्मृत''मिति तथा–',न सुञः स्य-सनोः षत्वमि''त्यादि विशेष उपेन्द्रविधौ वक्ष्यते । गतौ तु परिसेघतीति दर्शयिश्यते । सेधति हरिभक्तिरिति—अत्राकर्मकः, शिवं भवतीत्यर्थः ।

अमृता०—९९. स्वरतीति । स्वृशब्दोपतापयोः सूञ् प्राणिगर्भ विमोचने अदादिर्दिवादिश्च धूञ्कम्पने, ऊरामइत् यस्य सऊदित्, इत्येतेभ्य उत्तरे इड्वा स्यात् । इट्रामधातुक इति नित्यं प्राप्ते विभाषा वचनम् ।

अमृता०—१००. विष्णु इति । परपदे सौपरे अनिष्टो ये विष्णुजनान्ता धातव स्तेषां वृष्णीन्द्रो भवति । गोविन्दापवाद एषः । असैत्सीदिति–अनिट् पक्षे ।

अमृता०—१०१. वामनेति । वैष्णवे परे वामन-बैष्णवाभ्यां परस्य सेर्हरो भवति । इटउत्तरस्य तु सन स्यात् । इटो वामनत्वात् सेर्हरे प्राप्ते निषेधः । तेन असेधिष्टामित्यादौ न सेर्हरः ।

अमृता०—१०२. हरिघोषादिति । हरिघोषादुत्तरयोः तयोः स्थाने धरामो भवति । धा धातो र्धरामादुत्तरयोस्तु तयो र्धो न स्यात् । तेनधत्त इत्यत्र तस्य नधत्वम् । तथयो र्यादवत्वेन यादवमात्रे हरिकमलमित्यनेन हरि घोषस्याविष्णु पदान्ते हरिकमलप्राप्ते नियमोऽयम् । वरामस्य वैष्णवत्वाभावं प्रमाणयति—उदूठावित्यादि कारिकया । यत्र

धानेऽपीति षत्वं भवतीति शेषः । सेधति शिष्यं गुरुरिति अनुशासनमत्रार्थः । सेधति हरिभक्तिरिति शिवमत्रार्थः ।।९८।।

बाल०—स्वरिति । स्वृ शब्दोपतापयोः सूङ् प्राणिगर्भविमोचने अदादिर्दिवादिश्च धूञ् कम्पने ऊत् इत् यस्य स ऊदित् इत्येतेभ्य उत्तरे इड्वा भवति ।।९९।।

बाल०—विष्णु । परपदे सौ परे सति अनिटां विष्णुजनान्तानां वृष्णीन्द्रो भवति । यादवमात्रे हरिकमलमिति धस्य तः ।।१००।।

बाल०—वामन । वैष्णवे परे वामन-वैष्णवाभ्या परस्य सेर्हरो भवति इट उत्तरस्य सेर्हरो न भवति । इटो वामनत्वात् प्राप्ते निषेधः, तेन असेधिष्टामित्यादौ न सेर्हरः ।।१०१।।

बाल०—हरि । धावजं हरिघोषदुत्तरयोस्तथोः स्थाने धो भवति ।

वस्यापीति । कथं वैष्णवत्वाभाव इति चेत्तत्राह उदूठाविति । यत्र वे उदूठौ विद्येते

अन्तस्थं वंविजानीयात्तदन्यो वर्ग उच्यते ॥

इति स्मरणात् । असैत्स्व असैत्स्म ।

कर्मणि—असेधि असेधिषाताम् ।

१०३, ऋद्वयाद् विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्च वैष्णवादि सि कामपालौ कपिलावात्मपदे । गमेस्तु वा ।

असित्साताम् ।

१०४, कृसृभृवृ स्तु द्रु स्रु श्रुभ्य एवाधोक्षजमात्रे नेट् । अन्येभ्य स्त्वनिड्भ्योऽपीट् ।

इतिनियमादधोक्षजे नित्यमिट् । सिसेधिथ । सीत् सीष्ट सेधिषीष्ट ।

उदूठौ विद्येते, यस्य उत् उरामः, ऊठ् वा भवतीत्यर्थः, योवः प्रत्ययः, योवः अच्प्रभवः,—सर्वेश्वरजातः, तंतं वरामं अन्तस्थं विजानीयात् तदितरो वरामो वर्ग्यः (वर्गीयः) उच्यते । तत्र उत् सङ्कर्षणे वच्यादीनाम् । "वाहो वा उठ्" इत्यनेन उठ् तूक्तमेव । अच् प्रभवः सन्धिना जातो यथा भवतीत्यादिज्ञेयम् । असैत्स्वेत्यत्र वस्य प्रत्ययत्वेनान्तस्थत्वाद् वैष्णवत्वाभावइति नसेर्हर इत्याशयः ।

अमृता०—१०३. ऋद्वयादिति । सिश्च कामपालश्च सि-कामपालौ; वैष्णव आदि र्ययो स्तौ वैष्णवादी; तौचामू सि-कामपालौ चेति वैष्णवादि सि-कामपालौ । ऋद्वयात्, विष्णुजनान्तेशोद्धवात् च धातोरुत्तरे आत्मपदे सि-कामपालौ कपिलौ भवतः । गम्लृगतौ इत्यस्मात्तु तौ कपिलौ वा स्याताम् । तेन असित्सातामिति न गोविन्दः । वैष्णवादीति किम्—असेधिषातां सेधिषीष्ट । वैष्णवादी इत्यनुक्तौ सत्यां टिदागमस्य पर सम्बन्धित्वा-दिडादावपि गोविन्दनिषेधः स्यादिति ।

अमृता०—१०४. कृसृइति । डुकृञ् करणे, सृगतौ, डुभृञ् धारण-पोषणयोः, वृङ् संभक्तौ, वृञ् वरणे द्वयोरेव ग्रहणं ष्टुञ् स्तुतौ, द्रु स्रु गतौ, श्रु श्रवणे इत्येतेभ्य एवाधोक्षज-मात्रे परे इट्न भवति । एव कारादन्येभ्यस्तु अनिड्भ्योऽपि इड्भवतीति नियमः । एवञ्च विकल्पितेट् धातूनामनिट् पक्षे ह्यधोक्षजे अनिडन्तर्गततया तावदिट् कर्त्तव्यः, इट् पक्षेतु

भवतः, यो वः प्रत्ययः, अच्प्रभवश्च यो वः, तं बम् अन्तस्थं विजानीयात् । असैत्स्वेत्यत्र वस्य प्रत्ययत्वादन्तस्थत्वम् ॥१०२॥

बाल०—ऋद्वयात् । वैष्णवादी च तौ सि-कामपालौ चेति वैष्णवादि-सि-कामपालौ ऋद्वयात् विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्च परौ वैष्णावादि सि-कामपालौ आत्मपदे कपिलौ भवतः, गमेस्तु वैष्णवादि सि-कामपालौ कपिलौ वा भवतः । वैष्णवादीति विशेषणात् असेधिष्टे-त्यादौ न कपिलत्वम् । अन्यथा टिदागमः परसम्बन्धीति इटोऽपि कपिलत्वेन गोविन्दनिषेधः स्यात् । असित्सातामिति कपिलत्वाद् गोविन्दनिषेधः ॥१०३॥

गद् व्यक्तायां वाचि ।

१०५, विष्णुजनादे र्लघोररामस्य वृष्णीन्द्र इडादौ सौ वा परपदे ।

अगादीत् अगदीत् ।

१०६, उद्धवारामस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंहे ।

अगादि । जगाद ।

१०७, उत्तम णल् नृसिंहकार्यं करो वा ।

जगाद जगद । अट् गतौ ।

१०८. सर्वेश्वरादे र्वृष्णीन्द्रोऽत्प्रसंगमात्रे ।

सिद्धएव स इति पक्षद्वयेऽपि नित्यमिट् स्यादित्यर्थः । अकृते तु लक्षणे ऊदित्वाद् विभाषयेट् प्राप्तिः स्यात् ।

अमृता०—१०५. विष्णु इति । परपदे इडादिसौ परे सति विष्णुजनादे र्धातो र्लघ्वरामस्य वृष्णीन्द्रो वा भवति । इह येन नाव्यवधानं सम्भवति तेन व्यवधानेऽपीति न्यायेन विष्णुजन व्यवधानेऽपि लघ्वरामस्य वृष्णीन्द्रो मन्तव्यो नतु सर्वेश्वरव्यवधाने । तेन हि अचकासीदित्यत्र चरामस्थस्यारामस्य न वृष्णीन्द्र इति ध्येयम् । विष्णुजनादेरिति किम्—माभवानटीत् । लघोरिति किम्—अरक्षीत् । इडादाविति किम्—पच-अपाक्षीत् । परपदे एव, आत्मपदे तु— अयतिष्ट ।

अमृता०—१०६. उद्धवेति । नृसिंहे प्रत्यये परे उद्धवारामस्य वृष्णीन्द्रो भवति । जगादेति—कवर्ग नरस्य चवर्ग इति गरामस्य जरामः । उद्धवेति किम्—चकासयति । अरामस्येति किम्—भेदयति ।

अमृता०—१०७. उत्तमेति । उत्तमपुरुषे णल्प्रत्यये णित् कार्यं विकल्पेन स्यादित्यर्थः ।

अमृता०—१०८. सर्वेश्वरादेरिति । अत्प्रसङ्गमात्रे प्राप्त्यवसरमात्रे सर्वेश्वरादे-र्धातोराद्यस्य सर्वेश्वरस्य वृष्णीन्द्रः स्यात् । तेनअदागमात प्रागेव वृष्णीन्द्रो भवति नतु अत्,

---

बाल०—कृ सृ । डुकृञ् करणे, सृ गतौ, डुभृञ् धारण-पोषणयोः, वृङ् सम्भक्तौ, वृञ् वरणे द्वयोरेव ग्रहणम्, ष्टुञ् स्तुतौ, द्रु-द्रु-स्रु गतौ, श्रु श्रवणे इत्येतेभ्य एव अधोक्षज-मात्रे परे इट् न भवति, तेन अन्येभ्यस्तु अनिड्भ्योऽपि इडिति ॥१०४॥

बाल०—विष्णु । परपदे परे इडादौ सौ परे विष्णुजनादेर्धातोर्लघोररामस्य वृष्णीन्द्रो भवति । सर्वेश्वरव्यवधाने विष्णुजनादेर्लघोरिति न मन्यन्ते, तेन अचकासी-दित्यादौ न वृष्णीन्द्र इति वक्ष्यते ॥१०५॥

बाल०—उद्धवा । नृसिंहे परे उद्धवारामस्य वृष्णीन्द्रो भवति ।

जगादेति कवर्ग नरस्य चवर्गइत्यनेन गस्य जत्वम् ॥१०६॥

बाल०—उत्तम । उत्तमपुरुषस्य णल् नृसिंहकार्यकरो वा भवति ॥१०७॥

आट्वृद्धिश्च पा । आटत् आटीत् । विष्णुजनादित्वाभावात् माभवानटीत् ।

अधोक्षजे द्विर्वचने कृते लोपापवादमाह—

१०९. नरादेररामस्य त्रिविक्रमः ।

११०. तस्मान्नुड् द्विविष्णुजन धातौ ।

आट आटतुः : रद विलेखने । रराद ।

१११. आदेशहीन नराद्यक्षरस्य धातोरसंयुक्तविष्णुजनमध्यस्याारामस्य एत्वं नरादर्शनञ्च कपिलाधोक्षजे सेट् थलि च ।

प्रयोजनाभावात् । पाणिनीयास्तु अट् कुर्वन्ति तस्य वृद्धिश्च । विष्णुजनादित्वाभावात् माभवानटीदित्यत्र विष्णुजनादे र्लघोररामस्येति वृष्णीन्द्रो नप्रवर्त्तते । लोपापवादमाहेति–अरामहर ए-अयो रित्यनेन नरामस्य हरे प्राप्ते तस्यापवाद लक्षणमाचष्ट इत्यर्थः ।

अमृता०—१०९. नरादेरिति । नरश्चासौ आदिश्चेति नरादि स्ताद्दशोऽरामस्य त्रिविक्रमोभवति । ननु नरारामस्येति कृतेऽपि सिद्धे नरादेरिति किमर्थमिहादिपदमिति चेत्तदुच्यते—नरस्यारामो नराराम इति विग्रहे पठप्रभृतेरपि त्रिविक्रमः प्रसज्येत । तस्मात् साधु विहितं नरादेररामस्येति ।

अमृता०—११०. तस्मादिति । द्विविष्णुजन धातौपरे तस्मात् त्रिविक्रम नरारामादुत्तरे नुडागमो भवति । द्विविष्णुजनेति—अनेकविष्णुजनस्योपलक्षणमिति भाषावृत्तिः । तेन ऋच्छधातोर्द्वित्वे गोविन्दे च 'आनर्च्छ' इत्यत्र नुम् स्यादेव ।

अमृता०—१११. आदेशेति । नरस्य आदि अक्षरं नराद्यक्षरं; आदेशहीनं नराद्यक्षरं यस्य ताद्दशस्य धातोरसंयुक्तविष्णुजनयोर्मध्ये योऽराम स्तस्य एरामादेशो भवति, नरादर्शनञ्च स्यात् कपिलाधोक्षजे सेट्थलि च परे । अरामस्येति किम्—ररक्षतुः, तत्सरतुः । आदेशहीनस्येति किम्—जगाम, चकमे ।

बाल०—सर्वे । अत्प्रसङ्गमात्रे सर्वेश्वरादेर्धातोर्वृष्णीन्द्रो भवति आदेरिति शेषः । आट् वृद्धिश्च पेति । अस्माकं मते सर्वेश्वरादेर्धातोरत् प्रसङ्गमात्रे आदेर्वृष्णीन्द्रो भवति, नत्वत्प्रयोजनाभावात् । पाणिनीयानान्तु मते आट् वृद्धिश्च भवतीत्यर्थः । विष्णुजनादित्वाभावादिति विष्णुजनादेर्लघोरित्यादिना न वृष्णीन्द्र इति शेषः ।

अधोक्षज इति । लोपापवादलक्षणमाह–लोपस्तु अरामहर ए-अयोरित्यादिना विहितः ।।१०८।।

बाल०—नरादे । नरश्चासौ आदिश्चेति नरादि स्तथाभूतस्य अरामस्य त्रिविक्रमो भवति । ननु नरारामस्येति कृते को दोष इति चेत्तत्रोच्यते नरस्यारामः नरारामस्तस्येति अनिष्टविग्रहे पपाठेत्यादावपि त्रिविक्रमः स्यात् ।।१०९।।

बाल०—तस्मात् । द्विविष्णुजने धातौ परे तस्मात् त्रिविक्रमादुत्तरे नुड् भवति ।।११०

११२. तफलभजत्रपां नलोपि-ग्रन्थि-श्रन्थि-दन्भीनाञ्च ।

११३. जॄ-भ्रमु-त्रस-फणादीनां हिंसार्थराधश्च वा ।

रेदतुः रेदुः । रेदिथ । आदेशयुक्तस्यतु जगदतुः । संयुक्तविष्णुजन-मध्यस्य तु—ननन्दिथ ।

इहादेशस्तु अधोक्षजनिमित्तकस्यहि ग्राह्यः । तस्मदनिमित्तकयोः (औपदेशिकयोः) नत्व-सत्वादेशयो र्न प्रतिषेधः—नेमतुः सेहे । इह धात्वादे र्णो न इत्यादि नत्व-सत्वादेशयो र्न किमपि निमित्तमिति । कपिलाधोक्षजे इति किम्—रराद । सेट्थलीति किम्—ततप्थ ।

अमृता०—११२. तृफलेति । तृप्लवन-तरणयोः, फलनिष्पत्तौ ञिफला विसरणे द्वयोरेव ग्रहणं, भज सेवायां, त्रपूष लज्जायामित्येतेषां तथानलोपिनो येग्रन्थ-श्रन्थ-दन्भगः (येषामधोक्षजस्य कपिलत्वं प्राग्विहितम्) तेषाञ्च अरामस्य एत्वं नरादर्शनं स्यात् कपिलाधोक्षजे सेट् थलिच । तरतेः सत्सज्ञाद्यदन्तस्येत्यादिना गोविन्दे कृते, शसु दद-बरामादीनां गोविन्दारामस्य चेत्यादिना निषेधे प्राप्ते विधानम् । फल-भजो रादेशयुक्त-नराद्यक्षरत्वादप्राप्ते, त्रपूषः संयुक्तविष्णुजनमध्यत्वादप्राप्ते तथा ग्रन्थादि त्रयाणां संयुक्त विष्णुजनमध्यत्वादप्राप्ते विधानमेतत् ।

अमृता०—११३. जृभ्रम्विति । जॄष वयो हानौ, भ्रमु चलने भ्वादि दिवादिश्च, त्रसी उद्वेगे इत्येषां, फणादीनां तथा हिंसार्थ राधश्च एत्वं नरादर्शनञ्चवा स्यात् । पूर्ववद

बाल०—आदेश । नरस्य आद्यक्षरं नराद्यक्षरम् आदेशहीनः नराद्यक्षरं यस्य तादृशस्य धातोरसंयुक्तविष्णुजनयोर्मध्यस्य मध्यवर्त्तिनोऽरामस्य स्थाने कपिलाधोक्षजे सेट् थलि च परे एत्वं भवति नरादर्शनञ्च भवति असंयुक्तेति एकैकहलौ सन्निहितौ यस्य तादृश-स्यैवारामस्य एत्वं भवतीति । ततश्चः तत्सरुरित्यादौ न भवति । ननु आदेशहीननरस्येति कृते को दोष इति चेत्तत्रोच्यते आदेशहीननरस्येति कृते जगदतुरित्यादावपि एत्वं नरा-दर्शनञ्च स्यात् यतोऽरामसहित-गराम एव नरः आदेशस्तु अरामरहित-गरामस्य साराम-गरामस्य आदेश इति न वाच्यं यतो हि गतावित्यस्य हे द्विवचने कृते हरामस्य जत्वं न स्यात् तस्मादरामरहितस्यैव जत्वमिति इदानीन्तु जगदतुरित्यादौ आदेशहीननराद्यक्षर-त्वाभावादेत्वं नरादर्शनञ्च न भवतीति न कश्चिद्विरोधः ।।१११।।

बाल०—तृ फल । तृ प्लवन-तरणयोः फलनिष्पत्तौञिफला विसरणे द्वयोरेव ग्रहणं भज सेवायां त्रपूष लज्जायाम् इत्येतेषां नलोपिनां श्रन्थमोचन-प्रतिहर्षयोः ग्रन्थ सन्दर्भे दन्भु दम्भे इत्येषाञ्च अरामस्य एत्वं नरादर्शनञ्च भवति तरतेः सत्सज्ञादृदन्तस्त्यादिना गोविन्दे कृते शसु दन वरामादीनां गोविन्दारामस्य च नैत्वादीत्यनेन निषेधे प्राप्ते फल-भजोरादेशहीन-नराद्यक्षरत्वाभावेनाप्राप्ते त्रपस्त्वरामस्य असंयुक्तविष्णुजनमध्यत्वा-भावाच्चाप्राप्ते विधानम् । दम्भेस्तु पूर्वेणैव सिद्धे पृथगुपादानं नियमार्थं नलोपिनां मध्ये दम्भेरेवेति ।।११२।।

णद अव्यक्तशब्दे ।

११४. धात्वादेर्णो नः ।

११५. सर्वे नादयो णोपदेशा

नॄ नृति नर्दि नन्दि नक्ष्व नाथि नाधि नटि वर्जम् ।

नाथेस्तु भाष्ये णोपदेशत्वं, पारायणे तु न । नदति । उपेन्द्रात् णोपदेशस्यणत्वम्—प्रणदति ।

११६. उपेन्द्रान्नेर्णत्वं नदगद पतपद वह वप हन्ति द्राति मा या

प्राप्ते विभाषेयम् । फणादयः सप्त भ्वादयन्तर्गणा, यथाः—फण गतौ राजृ टुभ्राजृ टुभ्रासृ टुभ्लासृ दीप्तौ स्यमुस्वन शब्दे इति । राधः संसिद्धयर्थे नैत्वादिकम्; आदेशबन्नरत्वेन तस्य एत्वादिकप्राप्त्यभावात् । हिंसार्थे तु धातूनामनेकार्थ स्वीकारात् अपरराधतुः अपरेधतुरिति । ननन्दिथेति—टुनदि समृद्धौ धातोरिरामेत्त्वान्नुम् ।

अमृता०—११४. धात्वादेरिति स्पष्टम् ।

अमृता०—११५. सर्वे इति । नॄ नये, नृति गात्रविक्षेपे, नर्द्द शब्दे, टुनदि समृद्धौ, नक्ष्व नाशने, नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु, नट नृत्ये एतान् वर्जयित्वा सर्वे नादयो णोपदेशाभवन्ति । आद्योच्चारण मात्र एवैषां णरामत्वेन पाठः स्यादित्यर्थः । नाथेरिति—पारायणमतमेवोररीकृतमत्र ।

अमृता०—११६. उपेन्द्रादिति । नद अव्यक्तशब्दे, गद व्यक्तायां वाचि, पत्लृगतौ, पद गतौ, वह प्रापणे, डुवप वीजतन्तु सन्ताने, हनंसिहा-गत्योः, द्रा कुत्सायां, मेङ्

बाल०—जॄ भ्रम । जॄष् झॄष् वयोहानौ भ्रमु अनवस्थाने दिवादिः भ्रमुचलने भ्वादिः द्वयोरेव ग्रहणं त्रसीउद्वेगे एषाम् । फलादीनां हिंसार्थे राधश्च एत्वं सरामादर्शनञ्च वा भवति अप्राप्ते विभाषेयम् । फणादयः सप्त भ्वाद्यन्तर्गणा एकत्रैव पठिताः । यथा फणगतौ, राजृदीप्तौ, टु भ्राजृ टु भ्राशृ भ्लाद्द दीप्तौ, स्यमु स्वन् शब्दे । हिंसार्थेति यद्यपि राध साध संसिद्धाविति राध बृद्धचाविति पठ्यते, तथापि धातूनामनेकार्थत्वात्तस्य हिंसार्थे बृत्तिरिति ज्ञेयम् । ननन्दतुरिति प्रमादपाठः लिपिकारेण कृतः ननन्दिथ इति पाठोबोद्धव्यः । टुनदि समृद्धौ इरामेत्त्वान्नुम् ॥११३॥

बाल०—धात्वा । धात्वादेर्णो नो भवति । णो न इति षः स इतिवद् बोद्धव्यम् ॥११४॥

बाल०—सर्वे । नॄ नये क्र्यादिः, नृति गात्रविक्षेपे दिवादिः, नर्द्द शब्दे; टुनदि समृद्धौ, नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्चर्याशीःषु चत्वारो भ्वादयः । नट-नृतावित्यपि भ्वादिः । नक्ष्व नाशने चुरादिः एतानि वर्जयित्वा सर्वे नादयो णोपदेशाः ण उपदेश आद्योच्चारणं येषां ते एवं षोपदेशा ज्ञेयाः । नाटीति केचिद्वदन्ति तन्मते नट अवस्कन्दने चुरादिः भ्वादिस्तु नोपदेश एव । नाथौ त्विति । अत्र पारायणमतमङ्गीकृतम् ॥११५॥

दामोदर शमु सो चिञि दिहि वाति प्सातिष्वद् व्यवधाने-ऽपि । कखादि सहज षान्तौ विना शेषे तु वा ।

मेति मेङ्माङोर्ग्रहणम् । मातेरपि इति केचित् । प्रणिनदति प्रण्यनदत् । एवंप्रणिगदतीत्यादि । ननाद नेदतुः । अर्ह गतौ याचने च । अर्हति प्रण्यर्हति प्रन्यर्हति । कखादि सहजषान्तौ विनेतिकिम्—प्रनिकर्षति, प्रनिखनति । भूतेश्वरे आर्हत् । नरादेरिति तस्मान्नुडिति—उदावितौ-आनर्ह । इदि परमैश्वर्ये । इरामइत् । इरामेद्धातोर्नुम्—इन्दति ऐन्दत् ।

११७. ऋच्छवर्जित गुर्वीश्वरादेरामधोक्षजे ।

आमो मस्येत्त्वनिषेधः ।

प्रणिदाने, माङ् माने, या प्राप्तौ, दामोदर उक्तः, शमु उपशम, षोऽन्तकर्मणि, चिञ् चयने, दिह उपचये, वा गतिगन्धनयोः, प्सा भक्षणे इत्येतेषु परेषु उपेन्द्रादुत्तरस्य णेरुपेन्द्रस्य णत्व भवति । इहोपेन्द्रादिति णत्वविधेर्निमित्तभूतादित्युन्नेयम् । अद्व्यवधानेऽपि नेर्णत्वं स्यात् । कखादीति—कश्च खश्च कखौ, तावादी यस्य स कखादिः; सचसहजषान्तश्चेति कखादि-सहजषान्तौ, तौ विना । शेषे नदादिभ्योऽन्यस्मिन् धातौ परे उपेन्द्रान्निमित्तात् परस्य नेर्णत्वं वा भवति, अद्व्यवधानेऽपि णत्वं वा भवति । सहजषान्तंविनेति किम्—प्रनिशिनष्टि । आनर्हेत्यत्र दरामस्य द्वित्वे त्रिविष्णुजनेऽपि नुडिष्टः, उपलक्षणाङ्गीकृतत्वात् । ऐन्ददिति—सर्वेश्वरादेवृष्णीन्द्रोऽत्प्रसङ्गमात्र इति वृष्णीन्द्रः ।

अमृता०—११७. ऋच्छेति । ऋच्छगतावित्येतद् वजिताद् गुर्वीश्वरादेर्धातोरुत्तरे आम्प्रत्ययः स्यादधोक्षजे । मस्येत्त्वनिषेधइति—अन्त्यविष्णु जनश्चेति सिद्धोपदेशस्य मरामस्येत्त्वे प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । गुर्विति किम्—इयेष । ईश्वरादेरिति किम्—ररक्ष ।

बाल०—उपेति । सुगमम् ।।११५।।

बाल०—उपे । नद अव्यक्तशब्दे गद व्यक्तायां वाचि पत्लृगतौ, पदगतौ वह प्रापणे, डुवप वीजतन्तुसन्ताने । हन हिंसागतौ । द्रा कुत्सायाम् । मेङ प्राणिदाने भ्वादिः, माङ्माने ह्वादिः या प्राप्तौ दामोदर उक्तः । शमु उपशमे षोऽन्तकर्मणि । चिञ चयने, दिह प्रलेपे, वा गति-गन्धनयो, प्सा भक्षणे इत्येतेषु परेषु उपेन्द्रादुत्तरस्य, नेरुपेन्द्रस्य णत्वं भवति अद्व्यव-धानेऽपि भवति । कश्च खश्च क-खौ कखावादी यस्य स कखादिश्च सहजषान्तश्च कखादि-सहजषान्तौ तौ विना नदादिभ्योऽन्यस्मिन् धातौ परे उपेन्द्रादुत्तरस्य नेर्णत्वं वा भवति अद्व्यवधानेऽपि वा भवति । मातेरिति मा माने इत्यसादादेः । कखादिसहजषान्तौ विनेति किम् ? प्रनिकुन्थति प्रनिखनति प्रनिघोषति एवमन्यदपि बोद्धव्यम् । अधोक्षजे नरादेर-रामस्य त्रिविक्रमः तस्मान्नुडित्यादिना नुट् ।।११६।।

११८. आमः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते ।

११९. कृञ आमन्तधातुवत् परपदादि ।

१२०. नर ऋरामस्यारामः ।

इन्दाञ्चकार ।

१२१. आमो मस्य हरिवेणुविधिर्वा ।

अमृता०—११८. आमइति । आम्प्रत्ययादुत्तरे डुकृञ् करणे, भू सत्तायां, अस् भुवीत्येते धातवोऽनुप्रयुज्यन्ते । आम इति पञ्चम्यन्तत्वात् परप्रयोगे (पूर्वनिमित्तत्वे) सिद्धेऽपि अनुशब्दोपादानं क्रिया विशेषणोपेन्द्रव्यवधानेऽपि प्राप्त्यर्थम् । तेन–तंपातयाम्प्रथम-मास पपात पश्चादिति रघुवंशे । उक्षाम्प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गानिति भट्टौ ।

अमृता०—११९. कृञ इति । आम् अन्ते यस्य सआमन्तः, सचासौधातुश्चेति आमन्तधातुस्तेनतुल्यमिति आमन्तधातुवत् । आमन्तधातुतुल्यं कृञः परपदादि भवति कर्त्तरि वाच्ये इत्यर्थः। कृञउभयपदित्वादात्मपदिन आमन्तधातोरुभयपदित्व-प्रसङ्गवारणाय विधानमेतत् । तेनामन्तस्यधातोरात्मपदित्वे कृञश्चात्मपदं, तस्य परपदित्वे कृञश्च पर पदमित्यर्थः । ईहाञ्चक्रे, इन्दाञ्चकार । भुवोऽस्तेश्च कर्त्तरि परपदमेव नत्वात्मपदम्, ईहाम्बभूव, इक्षामास । "इह कृञो ग्रहणात्भ्वस्त्योर्नभवतीति" पद्मनाभः ।

अमृता०—१२०. नरेति । नरऋरामस्थाने अरामः स्यात् । इन्दाञ्चकारेति—कृ नरस्य कः, कस्य च चवर्गत्वं, अविष्णुपदान्तत्वाद् मस्य विष्णुचक्रं, तस्य पुनर्हरिवेणुः ञरामः ।

अमृता०—१२१. आम इति । मस्येति विष्णुचक्रं लक्ष्यते । अविष्णुपदान्तत्वान्नित्ये प्राप्ते विभाषार्थं वचनमिदम् । कर्त्तरि नत्विन्दाञ्चक्रे इति—इदि धातोः पर पदित्वात् करोतेरपिपरपद नियमादित्यर्थः ।

बाल०—ऋच्छ । अधोक्षजे परे ऋच्छवर्जिताद् गुर्वीश्वरादेर्धातोरुत्तरे आम् भवति । आम् । आमो मस्य इत्वनिषेधो भवति ।।११७।।

बाल०—आम । आम उत्तरे डुकृञ् करणे,भू सत्तायां अस् भुवीत्येते अनुप्रजुज्यन्ते११८

बाल०—कृञ । आमन्त इव आमन्तवत् कृञ उत्तरे आमन्तवत् परपदादि भवति, अत आमन्तस्यात्मपदित्वे कृञोऽप्यात्मपदं भवति । ईहाञ्चक्रे इत्यादि । भुवोऽस्तेश्च कर्तरि परपदमेव नत्वामन्तवत् परपदादि ईहाम्बभूव ईहामासेत्यादि ।।११९।।

बाल०—नर । नरऋरामस्य स्थाने अरामो भवति । इन्दाञ्चकारेति अविष्णुपदान्त-स्येत्यादिना मस्य विष्णुचक्रस्य हरिवेणुरित्यादिना विष्णुचक्रस्य ञरामः ।।१२०।।

बाल०—आमो । मस्येत्यत्र विष्णुचक्रस्येति ज्ञेयम् । आमो विष्णुचक्रस्य स्थाने हरिवेणुविधिर्वा भवति । अविष्णुपदान्तत्वात् नित्यं प्राप्ते विभाषा । कर्तरि नत्विन्दाञ्चक्र इति इन्दधातोः परपदित्वादिति शेषः ।।१२१।।

१२२. द्विर्वचननिमित्त सर्वेश्वर परमात्रे सति यः सर्वेश्वरस्यादेशः स स्थानिवत् द्विर्वचने एव कर्त्तव्ये ।

इन्दांचकार इन्दाश्चकार । कर्त्तरि नत्विन्दाश्चक्रे ।

अत्रलोपोऽप्यादेशवत् । ततो गोविन्दवृष्णीन्द्रौ यादयश्चादयश्चादेशा आरामोद्धव-णिलोपश्च स्थानिवत् । ततो ररामादेशस्य स्थानिवत्त्वे कृते कृरामस्य द्विर्वचनम् । अतः पश्चादेव द्विर्वचनं यत्तत् प्रयोजनं दुदयूष-तीत्यादौ सेत्स्यति । इन्दाश्चक्रतुः इन्दाश्चक्रुः । कृसृभृवृ इति नेट्—

अमृता०—१२२. द्विर्वचनेति । द्विर्वचनस्य निमित्तभूतो यः सर्वेश्वरस्तस्मिन् परमात्रे सति यःसर्वेश्वरस्यादेशः स स्थानिवद् भवति, स्थानिना तुल्यं भवतीत्यर्थः द्विर्वचनेहि कर्तव्ये । मात्र शब्दग्रहणेनान्य व्यवधानेऽपि स्थानिवद् भवेदिति उवोरवेत्यत्र दर्शयिष्यते । ततो गोविन्दवृष्णीन्द्रावित्यादि—तत्र गोविन्दस्य स्थानिवत्त्वं—इयेष उवोख-प्रभृतिषु । वृष्णीन्द्रस्य इयाय इत्यादौ । यादयश्चेति—विव्यतुः चक्रतुरित्यादौ यादीनां स्थानिवत्त्वम् । अयादीनां क्रमेण—निनय निनाय, लुलव लुलावेत्यादौ । आरामोद्धवेति—आरामश्च उद्धवश्च णिश्चेति आरामोद्धव-णयस्तेषां लोपश्च स्थानिवत् स्यात् । तत्राराम लोपस्य स्थानिवत्वं पपतुः पपुरित्यादौ । उद्धवलोपस्य—जघ्नतुः जग्मतुरित्यादौ । णिलोपस्य—आटिटदित्यादौ ज्ञेयम् । द्विर्वचन निमित्तेति किम्—दुदयूषति । इह सर्वेश्वर ऊठ् दिवुधातौ द्विर्वचनं प्रति ननिमित्तमिति न तस्य स्थानिवत्ता । नवा नरस्य इरामः । सर्वेश्वर परमात्र इति किम्–देदीयते । अत्र यङ्परत्वाद् दाधातो रारामस्य न स्थानिवत्वं किन्तु ईरामादेशः । स्थानिवत्त्वे सति ददीयते इत्यनिष्टरूपमापद्येत ।

बाल०—द्विर्वचन । द्विर्वचनस्य निमित्ते सर्वेश्वरे परमात्रे सति यः सर्वेश्वरस्य आदेशः स द्विर्वचन एव कर्तव्ये स्थानिवद्भवति परमात्र इति व्यवधानेन अव्यवधानेन वेत्यर्थः । द्विर्वचन एवेति नान्यस्मिन् कार्ये कर्तव्ये इत्यर्थः । अत्रेति । अत्रलोपोऽपि आदेशवत् मन्तव्य इति शेषः । यदुक्तं तदेव विवृणोति तत इति । अरामेति । अरामोद्धव-णिलोपाश्च स्थानि-वद्भवन्ति इत्यर्थः । अराम इति अरामश्च उद्धवश्च णिश्च ते अरामोद्भव-णयः लोपश्च लोपश्च लोपश्च लोपाः अरामोद्धवणय एव लोपा अरामोद्धव-णिलोपाः । अथवा लोपाश्चेत्यत्र लिपिकारप्रमादात् बहुबचनान्तप्रयोगः लोप एव पाठः सभ्यः । तर्हि अरामो-द्धवणीनां लोपश्चेत्येवं व्याख्यातम् ।

आरामलोपस्य प्रयोजनं 'ग्लै हर्षक्षये' इत्यत्र आरामहरः कंसारिसर्वेश्वरेत्यनेना-रामहरे सति पश्चात् द्विर्वचने सेत्स्यति उद्धवस्य लोपस्य तु प्रयोजनं गम हन जनित्यादिना विहितोद्धवारामहरस्यानेन सूत्रेण स्थानिवत्त्वे जग्मतुरित्यादौ वक्ष्यते णिलोपस्य आटिटदित्यादौ च । तत इति ररामादेशस्य ररामरूपादेशस्य । ननु प्रथममेव द्विर्वचनं क्रियतामिति चेत्तत्राह,—अत्रेति सेत्स्यतीति सिद्धं भविष्यतीत्यर्थः दुद्यूष्यतीति । दिवु

इन्दाश्वकर्थ इन्दाश्वक्रथुः इन्दाश्वक्र । इन्दाश्वकार इन्दाश्वकर इन्दाश्वकृब इन्दाश्वकृम । इन्दाम्बभूबेत्यादि । इन्दामासेत्यादि । मात्रग्रहणादुवोखेति सेत्स्यति, आटिटदिति च ।

उख गतौ ओखति ।

१२३. उपेन्द्राद्वय हर एओ रामयोरिणेधौ विना ।

१२४. नाम धातौ वा ।

प्रओखति इति स्थिते, असिद्धत्वाद् न सत्सङ्गान्तहरः, प्रोखति । इणेधौ विनेति किम्—उपैति, प्रैधते । ओखत् । औखीत् ।

अधोक्षजे—

द्विर्वचनेएव कर्त्तव्ये इत्यनेन द्विर्वचनान्तरं यथायथमादेशोभवेन्नतु तदापि स्थानिवत्वम् । एवकाराद् द्वित्वविधेः स्थानिवत्त्वं निरस्तम् । दुदयूषतीति—दिवु क्रीडादौ धातो र्देवितुमिच्छतीत्यर्थे सन् । अत्र ऊठि यत्वे च कृते पश्चाद् द्विर्वचनम् । कृते तु प्रथमं द्विर्वचने दिदयूषतीत्येवमनिष्टरूपं स्यादितिभावः । इन्दामासेति अस् विधानसामर्थ्यादस्तेभूरिति रामधातुके भूरादेशो न स्यात् । मात्रग्रहणादिति—अन्यथा उख धातोः खरामव्यवधाने गोविन्दादेशस्य स्थानिवत्त्वं नोपपद्येत । आटिटदिति—एतत् सिद्धचर्थं णिलोपस्य स्थानिवत्वमुक्तः ।

अमृता०—१२३. उपेन्द्रेति । इण् गतौ एध वृद्धौ इत्येतौ विनान्यधातोः एरामे ओरामे वापरे उपेन्द्र सम्बन्धिनोऽद्वयस्य हरो भवति ।

अमृता०—१२४. नामेति । नामधातौ सति तदीये एरामे ओरामे वा परे उपेन्द्राद्वयस्य हरो वा भवति । ननु प्रोखतीत्यत्र अरामहरे कृते तस्य च महाहरत्वात् सत् सङ्गान्तस्येत्यादिना ररामस्य हरःकथं नस्यात्तत्राह—असिद्धत्वादिति । अन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति न्यायेन अरामहर एवसिद्धः, तर्हि कुतः

क्रीड़ादौ सन् ऊठि षत्वे च कृते द्विर्वचनं तिप् शप् देवितुमिच्छतीत्यर्थः । द्विर्वचननिमित्त-सर्वेश्वर इत्युक्तत्वादत्र सर्वेश्वरादेशो न स्थानिवत् । कृ सृ भृ वृ इत्यादिना इङ् निषेधः । मात्रेति । उवोखेत्यत्र द्विर्वचन एव कर्तव्ये ओरामस्य स्थानिवत्त्वं मात्र ग्रहणादेव भवति अन्यथा खरामस्य व्यवधाने नस्यादिति उवोखेति निकट एव वक्ष्यते । आटिटदिति चेति सेत्स्यति इति शेषः । आटिटदित्यस्य सिद्धेर्मात्रग्रहणं न हेतुः किन्तु अत्र लोपोऽप्यादेशवदिति यदुक्तं तदेव । आटिटदिति ण्यन्तादाटिधातो भूतेश दिप् अङणेर्हरः लोपोऽप्यादेशवदिति द्विर्वचनं एव कर्तव्ये अरामोद्धवेत्यनेन णिलोपः स्थानिवत् ततष्टेर्द्विर्वचनम् ।।१२२।।

बाल०—उपे । एरामे ओरामे च परे उपेन्द्रसम्बन्धिनोऽद्वयस्य हरो भवति, इनेधौ विनेति इन् गतौ एध वृद्धौ इत्येतौ विना एतयोरेरामे परे न भवतीत्यर्थः ।।१२३।।

१२५, नरेदुतोरियुवावेकात्मकेतर सर्वेश्वरे ।

द्विर्वचनेकृते परस्य न स्थानिवत्त्वम्; तत उव् । आम् तु न स्यात्, गुर्वीश्वरादेरिति सहजस्यैव ग्रहणात् । उवोख ऊखतुः । कथमिदेराम् ? परानपेक्षत्वेन नुमः सहजत्वात्; गोविन्दस्तु कंसारिवर्जमपेक्षते । अन्चु गति-पूजनयोः । तवर्गस्य चवर्गः—अञ्चति । कर्मणि गतौ—अच्यते । अनिरामेति नस्य हरः ।

सत्सङ्गान्तत्वं, तद्हरप्रसङ्गो वेतिभावः । अत्रारामहरो वहिरङ्गम् । कृते तु सत्सङ्गान्त हरे अरामहरो न प्रतीयेत इति हि बीजम् । औखदिति सर्वेश्वरादित्वात् अदपवादी वृष्णीन्द्रः।

अमृता०—१२५. नरेति । एकात्मकादितरस्मिन् सर्वेश्वरे परे सति नरभूतस्य इरामस्य उरामस्य च यथाक्रममियुवौ भवतः । उवोखेति साधनाय सूत्रधृतं—'द्विर्वचनेएव-कर्त्तव्ये' इतिदलं विवृणोति—द्विर्वचनेइति । परस्य नारायणस्य तदापि स्थानिवत्त्वे स्वीकृते एकात्मकसर्वेश्वरपरत्वात् नरस्यउव् न प्राप्नुयादिति हेतुः । तेनप्रथमं गोविन्दस्तत ओरामस्यस्यानिवत्त्वेन उरामस्य द्विर्वचनम्; तत एकात्मकेतरसर्वेश्वर परत्वात् तस्य उव् इत्येव प्रणाली ज्ञेया । अथ गोविन्दे कृते गुर्वीश्वरत्वादाम् प्राप्ते सिद्धान्तेन तन्निरस्यति—सहजस्यैवेति । गुर्वीश्वरादेरामधोक्षज इतिलक्षणे सहज गुर्वीश्वरादेरेवग्रहणात्; इहतु-गोविन्देनजातस्य ओरामस्य लाक्षणिकत्वान्न आमित्यर्थः । कथमिति शङ्कामुट्टङ्कय समाधत्ते—परानपेक्षत्वेनेति । इरामेद्धातोर्नुमित्यत्र कस्यापि परनिमित्तस्य विरहान्नुम् विधिरन्य-निरपेक्ष एव; तेनहि तस्य सहजत्वं मन्तव्यम् । ईशस्य नगौविन्द-वृष्णीन्द्रौ कंसारिषु इतिलक्षणे गोविन्दस्य त्वकंसारिप्रत्ययापेक्षा विद्यत एवेति न तस्य सहजत्वमिति गुर्वीश्वरादेरित्यनेन नाम् प्रसङ्ग इत्याशयः ।

बाल०—नाम । नामधातौ स्थिते एरामे ओरामे च परे उपेन्द्राद्वयहरो वा भवति । ननु प्रोखतीत्यत्र अरामहरे कृते तस्य महाहरत्वात् सत्सङ्गान्तस्येत्यादिना सत्सङ्गान्तहरः कस्मान्न भवतीति चेतत्राह,—असिद्धत्वादिति । क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं बहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति न सत्सङ्गान्तहरः । अत्र अन्तरङ्गकार्यं सत्सङ्गान्तहरः बहिरङ्गमरामहरः । इणेधौ विनेति किम् ? उपैति प्रैधते । कुत्रचित् पुस्तके एतत् प्रत्युदाहरणं दृश्यन्ते, तत्तु न ग्रन्थकारलिखितमिति लिखितम् ॥१२४॥

बाल०—नरे एकात्मकादितरस्मिन् सर्वेश्वरे परे नरेदुतोः स्थाने इयुवौ भवतः । उवोखेति प्रथमं गोविन्दः तत ओरामस्य स्थानिवत्त्वात् उरामस्य द्विर्वचनम् एव कर्तव्यम् इति नियमात् द्विर्वचने कृते परस्य ओरामस्य न स्थानिवत्त्वं, ततः सर्वेश्वरस्य एकात्मके-तरत्वादुव् गोविन्दे कृते गुर्वीश्वरत्वादुखधातोराम् कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्राह आम्त्विति अस्माद्धातोराम् तु न स्यात्, गुर्वीश्वरादेरित्यत्र सहजस्यैव ग्रहणात् सहजगुर्वीश्वरादेरेव ग्रहणात् । कथमिति ? सिद्धान्तमाह, परानपेक्षत्वेनेति । गोविन्दस्तु कंसारिवर्जमपेक्षते इति न सहजत्वं परापेक्षत्वात् । अच्यत इति 'अनरामेतामि'त्यादिना नरामहरः ॥१२५॥

१२६, अञ्चेः पूजायां नलोपाभावः ।

अञ्चयते । आनञ्च आनञ्चतुः आनञ्चुः ।

काम गतौ—अच्यात्, पूजायां—अञ्चयात् ।

आछि आयामे । आञ्छति ।

१२७, नरस्य वामनः ।

नरादे रिति कृते ततो नुट्—आनाञ्छ । नेतिवहवः—आञ्छ । षसृज गतौ ।

१२८, सस्य जो जे नतु वैष्णवे ।

सज्जति । वैष्णवग्रहणफलम् अमांक्षीत्यादौ सेत्स्यति ।

वज् गतौ ।

अमृता०—१२६. अञ्चेरिति । पूजार्थे विद्यमानस्य अञ्चेर्नलोपो न भवति । आनञ्चेति—नरादेररामस्येति त्रिविक्रमस्तस्मान्नुट् च । आयामो दैर्घ्यम् । "दैर्घ्यमायाम-आरोह" इत्यमरः । आञ्छतीति इरामेत्त्वान्नुम् ।

अमृता०—१२७. नरस्येति । त्रिविक्रमभूत नरस्य वामनः स्यात् । तेन आरामस्य वामनेऽरामे जाते, यावत्सम्भव न्यायेन पुनर्नरादेररामस्य त्रिविक्रमस्तस्मान्नुट् च । नेति वहवइति—तन्मते "अत आदे"रित्यत्र तसन्त निर्देशात् स्वाभाविक ह्रस्वो गृह्यते । वहूनां मते तु कृतह्रस्वस्थानिकदीर्घाकारात् परस्यापि नुम् भवति । एतन्मतमेवास्मद्ग्रन्थ-कृतोऽभिमतम् ।

अमृता०—१२८. सस्येति । जेपरे सस्य जो भवति, वैष्णवपरस्थे जरामे परे तु स न स्यात् । अमांक्षीदिति—टुमस्जो शुद्धौ धातोर्भूतेश-दिप्, अदागमः, सिः, ईट्, स्कोः सत्सङ्गादचोरिति धातोः सलोपः, मस्जि-नशोरिति नुम्, विष्णुजनान्तानामिति वृष्णीन्द्रः, चवर्गस्य कवर्ग इति जरामस्य गरामः, यादवमात्रे इति गस्य कः, नस्य विष्णु चक्रं, पुन र्हरिवेणुः ङरामः, षत्वं, कषसंयोगे क्ष इति । अत्र जरामस्य वैष्णवपरत्वात् पूर्वस्थसरामस्य न जत्वं किन्तु लोप एव ।

बाल०—अञ्चे । पूजयामर्थे वर्तमानस्य अञ्चेर्नलोपाभावो भवति । आनञ्चेति नरादेरित्यादिना त्रिविक्रमः तस्मान्नुडित्यादिना नुट् । आछि आयाम इति आयामो दैर्घ्यम् । "दैर्घ्यमायाम आरोह" इत्यमरः ॥१२६॥

बाल०—नरस्य । नरस्य वामनो भवति । आनञ्छेति वामने कृते नरादेरिति त्रिविक्रमः अतो नुट् । नेति बहवः इति त्रिविक्रमो नुट् च न भवतीति बहूनां मतं तन्मते आञ्छेति ॥१२७॥

बाल०—सस्य जे परे सस्य स्थाने जो भवति, वैष्णवे तु विषये न भवति । अमाङ्क्षीदिति टुमस्जोशुद्धौ भूतेश दिप् सिः 'अस्ति-सिभ्यामि'त्यादिना ईट्, धातोः

१२६, शसु-दद-वरामादीनां गोविन्दारामस्य च नेत्वादि ।

शसिति द्वितालव्य इत्येके । वजोऽयं दन्तोष्ठ्यादि गण पठितः । तत्प्रसङ्गाद् वरामादिरपि तदादिरेव ।

ववजतुः । व्रजगतौ ।

१३०, वदव्रजयोर्वृष्णीन्द्रः सौ परपदे ।

अव्राजीत् । अज् गतौ क्षेपणे च । अजति ।

१३१, अजेर्वी घनं विनारामधातुके ।

१३२, वले तु वा यपि च ।

घन् यपौ कृत्प्रत्ययौ । वीयते । वीरयमनिट् ।

अमृता०—१२६. शसु इति । शसु हिंसायां, दद दाने एतयोः, वरामादिधातोश्च तथा गोविन्देन जातारामस्यच धातोरेत्वं नरादर्शनश्च न स्यात् । आदेशहीनेत्यादिनाप्राप्ते एत्वादिके निषेधोऽयम् । वरामस्तावत् द्विपठितः, ओष्ठत्वेन वर्गेषु, दन्तोष्ठत्वेन अन्तस्थेषु च । तत्रायं वरामो दन्तोष्ठ्यो नतु वर्गीय इत्यर्थः । तत्प्रसङ्गात् बजप्रसङ्गात् धृत लक्षणे वरामादिरपि दन्तोष्ट्य बरामादिरेव गृह्यते एत्वादि प्रतिषेध विधाविति शेषः ।

अमृता०—१३०. वदेति । परपदे सौ परे सति वदव्यक्तायां वाचि,व्रजगतौ इत्येतयो वृष्णीन्द्रो भवति । विष्णुजनादे र्लघोररामस्येत्यादिना विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थमिदं वचनम् ।

अमृता०—१३१. अजेरिति । घन्प्रत्ययंविना रामधातुके परे अज धातो र्वी रिति आदेशो भवति । घनं विनेति किम्—अज ।

अमृता०—१३२. वले इति । वले—यवर्जित विष्णुजने परे तथा यप् प्रत्यये च परे अज स्थाने विभाषया वीः स्यात् । तेन—वीयते । यपि—प्राज्य, प्रवीय ।

पूर्वमत्, स्कोरित्यानिना स-लोपः । मसृजिनशोर्नुम् वैष्णवे इत्यनेन नुम् "विष्णुजनान्ता"-मित्यादिना वृष्णीन्द्रः,"चवर्गस्य कवर्ग"इत्यादिना जस्य गः, "यादवमात्रे हरिकमलमि"ति गस्य कः 'अविष्णुपदान्तस्ये' त्यादिना नस्य विष्णुचक्रं, "विष्णुचक्रस्य हरिवेणुरि"त्यादिना विष्णुचक्रस्य ङरामः षत्वं, कष संयोगे क्षः । अत्र वैष्णवग्रहणात् न सस्य जः ।।१२८।।

बाल०—शसु । शसु हिंसायां, दद दाने एतयोर्वरामादेश्च गोविन्दारामस्य च एत्वादि न । एत्वं नरादर्शनश्च न भवति कपिलाधोक्षजे सेट थलि च । आदेशहीनत्वादिना प्राप्ते निषेधोऽयमिति । वजोऽयमिति । वरामो द्विविधः दन्त्यौष्ठ्यः ओष्ठ्यश्च । तत्रायं वजस्य वरामः दन्त्यौष्ठः । तत्प्रसङ्गात् वज वरामादिरेव गृह्यत इति शेषः ।।१२६।।

बाल०—वद । परपदे सौ सति वदव्यक्तायां वाचि, व्रज गतौ इत्येतयोवृष्णीन्द्रो भवति । विष्णुजनादेरित्यादिना विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थं वचनमिदम् ।।१३०।।

बाल०—अजे । घनं विना रामधातुके परे अजे स्थाने र्वी भवति ।।१३१।।

अथानिट :—

ऊॠरामान्त रुस्नुक्ष्नु शी यु नु क्षु श्विडी श्रिभिः ।
वृङ् वृञ्भ्याञ्च विनैकाचः स्वरान्ता धातवोऽनिटः ॥
अनिडेकः शक्लृ कान्ते चान्ते पचि वची विचिः ।
सिचिर्मुचिरिची चैकश्छान्ते प्रच्छिरुदाहृतः ॥
भजि भञ्जियजि त्यजि रञ्जिरुजो
भुजि सञ्जि सृजोऽप्यथ मञ्जिरपि ।
युजिभृञ्जि निर्जिविजिरश्च तथा
स्वजिरुद्धवो जगणेऽप्यनिटः ॥

प्रसङ्गादनिट्धातूनां गणं निर्दिशति—ऊॠरामान्तेति । ऊरामान्तेन ॠरामान्तेन च विना एकाचः स्वरान्ता धातवोऽनिट इत्यन्वयः । तथा रुशब्दे, स्नुप्रस्रवणे, क्ष्नुतेजने, शीङ् स्वप्ने, युमिश्रणे, नुस्तुतौ, टुक्षु शब्दे, टुओश्वि गति-वृद्धयोः, डीङ् विहायसा गतौ, श्रिञ् सेवायां, इत्येतै विना तथा वृङ् संभक्तौ, वृङ्वरणे इत्येताभ्याञ्च विना एकाचः स्वरान्ता धातवोऽनिटो भवन्ति । अनुष्ठुप् वृत्तम् ।

अनिडेक इति । कान्ते करामान्ते गणे एकः शक्लृ शक्तौ इत्येषः अनिट् उदाहृत इत्यन्वयः । चान्ते डुपचष् पाके, वच परिभाषणे, विचिर् पृथक भावे, सिचिर् क्षरणे, मुच्लृमोक्षणे, रिचिर् विरेचने इत्येते अनिट उदाहृताः । छान्ते एकः प्रच्छ ज्ञीप्सायामित्येय-मनिडुदाहृतः । अनुष्ठुप् छन्दः । पचि-वची इति मुचि-रिची इति च द्विवचनान्तम् ।

भजीति—जगणे भज सेवायां, भन्जो आमर्दने, यज देव पूजादौ, त्यज हानै, रन्ज रागे, रुजो भङ्गे, भुजपालनाभ्यवहारयोः, रुधादिः, भुजो कौटिल्ये तुदादिश्च, सन्ज सङ्गे सृजविसर्गे, टुमस्जो शुद्धौ युज समाधौ दिवादिः, युजिर् योगे रुधादिश्च, भ्रस्ज पाके, निजिर् शौच-पोषणयोः, विजिर् पृथक्भावे इत्येते अनिटः ; तथा उद्धवो नः यस्य तथाभूतः स्वजिः (स्वन्ज इत्यर्थः) अनिट् । तोटकं नाम च्छन्दः ।

बाल०—बले । बले तु परे अजेः स्थाने वी वा भवति, यपि च वा भवति । नन्वनिट एव के इति चेतत्राह,—अथानिट इति उच्यन्ते इति शेषः ।

उ ॠ इति । ऊरामान्तेन । ॠरामान्तेन रु शब्दे । स्नु प्रश्नवणे, क्ष्णु तेजने, शीङ् स्वप्ने, यु मिश्रणे, णु स्तुतौ, टुक्षु शब्दे, टु ओश्वि गति वृद्धयोः, डी विहायसां गतौ, श्रिञ् सेवायाम् इत्येतैः वृङ् संभक्तौ, वृञ् वरणे इत्येताभ्याञ्च विना स्वरान्ता एकाचो धातवः अनिटः । उभयत्र विना योगे तृतीया । अनिडेक इति कान्ते कान्तगणमध्ये एकः शक्लृ शक्ताविन्येष धातुरनिट् । चान्त इति चान्ते, डुपचस् पाके, वच भाषगे, विचिर् पृथगभावे, सिचिर् क्षरणे, मुच्लृ मोक्षगे, रिचिर् विवेचने इत्येते अनिटः । एक इति च्छान्ते एकः प्रच्छ जिज्ञासायामित्येष धातुरनिडुदाहृतः कथितः । भजीति भज सेवायां, भन्जो आमर्दने,

अदिम् हदिम् स्कन्दि भिदिच्छिदि क्षुदीन्
शदिम् सदिम् स्विदर्चति पदचतो खिदिम्।
तुदिम् नुदिम् विदचतिकम् विनत्तिकम्
प्रतीहि दान्तान् दशपञ्च चानिटः ॥
क्रुधि राधिरुधि क्षुधि बुध्यतयो
व्यधि शुध्यति सिध्यति वन्धियुधः।
सह साधय इत्यनिटो धगणे
हनि मन्यति चेत्यपि नान्तगणे ॥

अदिमिति—अदभक्षणे, हद पुरीषोत्सर्गे, स्कन्दिर् गति-शोषणयोः, भिदिर् विदारणे, छिदिर् द्विधाकरणे, क्षुदिर् संपेषणे, शद्लृशातने, सद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु भ्वादिः तुदादिश्च, ञिस्विदा गात्र प्रक्षरणे, पदगतौ, खिददैन्ये, दिवादिः तुदादिः रुधादिश्च, तुद व्यथने, नुद प्रेरणे, विद सत्तायां, विद विचारणे, इत्येतान् दश पञ्चेति पञ्चदश इत्यर्थः ; दान्तान् अनिटः प्रतीहि जानिहि। वंशस्थश्छन्दः। स्विदचति पदचति विदचति विनत्तीति विकरणेन निर्देशात् ञिस्विदा स्नेहन-मोचनयोः, पदस्थैर्ये, इति भौवादिकयो द्वयोस्तथा विद्लृ लाभे तुदादिः, विद्ज्ञाने अदादिः एतयोश्चानिट्त्वंनिरासितमर्थात् सेट्त्वं ज्ञापितम्।

क्रुधीति। धगणे—क्रुध कोपे, राध साध संसिद्धौ, रुधिर् आवरणे रुधादिः, अनुरुध कामे दिवादिः, क्षुध बुभुक्षायां, बुध अवगमने, व्यध ताडने शुध शौचे, सिधु संराद्धौ, वन्ध वन्धने, युध संप्रहारे इत्येते सहसाधयः (साध संसिद्धौ इत्यनेन सह वर्त्तमाना इति

यज देवपूजादौ, त्यज व्ययहानौ, रन्ज रागे, रुजो भङ्गे, भुज पालनाभ्यवहारयोः, रुधादिः भुजोकौटिल्ये तुदादिः द्वयोरेव ग्रहणम्, सन्ज सङ्गे, सृज विसर्गे. टुमस्जो शुद्धौ, युज समाधौ दिवादिः युजिर् योगे रुधादिः द्वयोरेव ग्रहणम्,भ्रस्ज पाके, निजिर शौच-पोषणयोः, विजिर पृथग्भावे, स्वन्ज परिस्वङ्गे इत्येते धातवो जगणे जान्तगणेऽनिटः।

आदिमिति अद भक्षणे, हद पुरीषोत्सर्गे, स्कन्दिर गतिशोषणयोः, भिदिर विदारणे, छिदिर द्विधाकरणे क्षुदि संपेषणे, शद्लृ शातने, सद्लृ खेदनगत्यवसादनेषु भ्वादि सद्लृ विशरणे तुदादि द्वयोरेव ग्रहणं, ञिस्विदा गात्र प्रक्षणे दिवादिः, पद गतौ, खिद दैन्ये दिवादिः रुधादिश्च, खिद परिघाते तुदादिस्त्रयाणामेव ग्रहणम्। तुदव्यथने, नुद प्रेरणे, विद सत्तायां, विदविचारणे इत्येतान् दश पञ्च च दान्तान् अनिटः प्रतीहि जानीहि। स्विद्यतीति निर्देशात् ञि स्विदा स्नेहन मोचनयोरित्यस्य भ्वादेर्ग्रहणम्। विद्यति विनत्तीति निर्देशात् ज्ञानार्थ—लाभार्थयोर्नानिटत्वं क्रुधि इति क्रुध कोपे, राध साध संसिद्धौ, रुधिरावरणे रुधादिः अनौरुधकामे दिवादिर्द्वयोरेव ग्रहणम्। क्षुध बुभुक्षायाम्, बुध अवगमने दिवादिः, व्यध ताडणे, शुध शौचे, सिधु संराद्धौ, बन्ध बन्धने, युध संप्रहारे, राध साध ससिद्धौ

स्वपि वपि तिपि तपि तृप्यापि शपोऽपि
क्षिपि सृपि लिपि लुम्पि च्छुपि दृपयः ।
पान्तगणेष्वथभान्ते लभिरभियभ
मगणे यमि रमिणमि गमयश्च ॥
शिषि श्लिषि दुष्य विषि त्विषि द्विषीन्
पृषिस् कृषिम् पुष्यति शुष्य-तुष्यतीन् ।
दिशिम् दृशिम् दंशि मृशीरिशिम् रुशिम्
लिशि स्पृशि क्रोश विशोऽनिटो जगुः ॥

तथा) एकादश अनिटः । अत्र वुध्यति सिध्यतीति विकरणेन निर्देशात् वुध वोधने, सिधु गत्यां, सिधू शास्त्रे माङ्गल्ये चेत्येते भ्वादयो नानिटइति ज्ञापितम् । नान्तगणे—हन हिंसा-गत्योः, मन ज्ञाने इति द्वावनिटौ । मन्यति निर्देशात् मनु बोधने तनादेर्निरासः । वृत्तमिह तोटकम् ।

स्वपीति—ञिस्वप् शये, डुवप वीजतन्तुसन्ताने, तिपृ क्षरणे, तप सन्तापे भ्वादिः, तपऐश्वर्ये दिवादिश्च, तृपप्रीणने, आप्लृ व्याप्तौ, शप आक्रोशे, क्षिपप्रेरणे, सृप्लृगतौ, लिपउपदेहे, लुप्लृछेदने, छुप संस्पर्शे, दृपहर्ष-विमोचनयोः, एते पान्तगणे त्रयोदश धातवोऽनिटः । तृप-दृप्योरनिड्गणे पाठः प्राचीन कारिका दृष्ट्या, वस्तुतो रधादि गणपाठादनयो विकल्पितेट्त्वं सिद्धमेव ।

अथ भान्तगणे—डुलभष प्राप्तौ, रम राभस्ये, यभ मैथुने, एते त्रयोऽनिटः । अथ मान्तगणे—यमु उपरमे, रमु क्रीड़ायां, णम प्रभत्वे शब्दे च, गम्लृ गतौ इत्येते चत्वारोऽनिटः ।

इत्येते धातवो ध गणे धान्तगणेऽनिटः । बुध्यतीति निर्देशात् भ्वादेर्न ग्रहणं सिद्धचतीति निर्देशात् सिधुगत्यामित्यस्य भ्वादेर्न ग्रहणं सहसाधयं इति साधिना सह वर्तमाना इति । हनीति हन-हिंसागत्योः, मन ज्ञाने एतौ नान्तगणेऽनिटौ । मन्यतीति निर्देशात् मनु बोधने इत्यस्य तुदादेर्न ग्रहणम् । स्वपीति ञि-स्वपशये, डुवपवीजतन्तु सन्ताने, तप सन्तापे भ्वादिः, तप ऐश्वर्ये दिवादिर्द्वयोरेव ग्रहणं, तृप प्रीणने दिवादिः, आप्लृ व्याप्तौ, शप आक्रोशे, क्षिप प्रेरणे, सृप्लृ गतौ, लिप उपदेहे, लुप्लृ च्छेदने, च्छुप संस्पर्शे, दृप हर्षविमोचनयोर्दिवादिः एते धातवः पान्तगणेष्वनिटः । तृपि दृप्योरनिड् गणे पाठः शास्त्रान्तरानिट्कादर्शनाद् गतानुगतिकतया । यतोऽनयोः रुधादि पाठाद्विकल्पिते टत्वम् अथेति डुलभष प्राप्तौ, रभ राभस्ये, यभ मैथुने एते भान्तेऽनिटः ।

मगण इति—यमु उपरमे, रमु क्रीड़ायां, नम प्रह्वत्वे शब्दे च, गम्लृ गतौ एते चत्वारः मान्तगणेऽनिटः ।

शिषीति—शिष हिंसायां भ्वादिः, शिस्लृ विशेषणे रुधादिर्द्वयोरेव ग्रहणम् । श्लिष आलिङ्गने दिवादिः, दुय-वैकृत्ये, विष लृ व्याप्तौ ह्वादिः । विषु सेचने भ्वादिर्द्वयोरेव

घसिश्च वसतिः सान्ते हान्ते दहति मेहती ।
दिहि दुहि लिही रोहि वहि नंहिरिमेऽनिटः ॥

युइति युमिश्रणे नुसाहचर्यात् । युल मिश्रणा मिश्रणयोरिति वोपदेवः । शक्लृरिति कृष्णपण्डितः । प्रक्रियाटीकायामत्र लृदिदेव गृह्यते । कवि-कल्पद्रुमे तु स्वादि शक्लृर्विकल्पितेट्, दिवादि शक्लृस्तु सेट् । भुज इतिभुजो भुजौ गृह्येते । युजीति युज-युजिरौ । स्वजिरुद्धव न इति

शिषीति । षान्तगणे–शिष हिंसायां भ्वादिः, शिष्लृविशेषणे रुधादिश्च, श्लिष आलिङ्गने, दुष वैकृत्ये, विष्लृ व्याप्तौ ह्वादिः, विषु सेचने भ्वादिश्च, त्विष दीप्तौ, द्विष अप्रीतौ पिष्लृ संचूर्णने, कृषविलेखनाकर्षणयोः, पुष पुष्टौ, शुष शोषणे, तुष तुष्टौ इत्येकादश धातूननिटो जगुः । दुष्य-शुष्यत्यादेः सविकरण निर्देशश्छन्दोऽनुरोधान्नत्वन्य व्यावृत्त्यर्थं । पुष्यते स्तु भ्वादि क्र्यादचो निरासार्थो ज्ञेयः । श्लिष दिवादिरेवानिट् नतु दाहार्थ-भ्वादि-रिति वोपदेवः । कृषिति भौवादिक तौदादिकौ गृह्येते । शिष-विषौ भौवादिकौ तुसेटौ । इति च वोपदेवादयः । दिशिमिति—दिशअतिसर्जने, दृशिर् प्रेक्षणे, दन्श दंशने, मृश आमर्षणे, रुशरिशौ हिंसायां, लिश अल्पीभावे, स्पृश संस्पर्शे, क्रुश आह्वाने, विशप्रवेशने इत्येतान् शान्तगणे दश अनिटो जगुः पण्डिता इति शेषः । लिशिति गत्यर्थोभ्वादिश्च गृह्यते । वंशस्था वृत्तम् । तालव्य-मूर्द्धन्ययोः क्रमविपर्ययस्तु छन्दोऽनुरोधादितिसुपद्मकारः ।

घसिश्चेति —सान्तगणेघस्लृ अदने, वसनिवासे इत्येतौ अनिटौ । वसति निर्देशाद्-भ्वादिरेव गृहीतः, वस आच्छादने अदादेस्तुसेट्त्वं मन्तव्यम् । हान्ते इति—दहभस्मीकरणे, मिह सेचने, दिहउपचये, दुहप्रपूरणे, लिहआस्वादने, रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च, वहप्रापणे,

---

ग्रहणम् । त्विष दीप्तौ, द्विष अप्रीतौ, पिसृलृ संचूर्णने, कृष विलेखनाकर्षणयोः, पुष पुष्टौ, शुष शोषणे, तुष तुष्टौ एते षान्तगणेऽनिटः । दुष्यति दुष्यतेरेकदेशनिर्देशः । पुष्यतीति निर्देशात् भ्वादेः क्र्यादेश्च न ग्रहणम् । शुष्येति शुष्यतेरेकदेशनिर्देशः । विकरणनिर्देशस्तु-च्छन्दोनुरोधात् न पुनरितरव्यावृत्तये ।

दिशिमिति—दिश अतिसर्जने, दृशिर प्रेक्षणे, दन्श दंशने, मृश आमर्षणे, रुश रिश हिंसायां तुदादिः, लिश अल्पीभावे, स्पृश संस्पर्शे, क्रुश आह्वाने, विश प्रवेशने एतान् शान्तगणेऽनिटो जगुः पण्डिता इति शेषः । क्रोशेति क्रोशतेरेकदेशनिर्देशः ।

घसिश्चेति—घस लृ अदने, वस निवासे, एतौ सान्तेऽनिटौ । वसतीति निर्देशात् वस आच्छादन इत्यस्यादादेर्नानिट्त्वम् ।

हान्त इति—दह भस्मीकरणे, मिह सेचने, दिह उपचये, दुह प्रपूरणे, लिह आस्वादने, रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च, वह प्रापणे, नह बन्धने इमे हान्तेऽनिटः। रोहेति—रोहतेरेकदेशनिर्देशः ।

युलिति अदादिरयमिति सूचनार्थं वोपदेवेन लशब्दोपादानं कृतम् । नु साहचर्यादिति नुसाहचर्याददादेर्ग्रहणं न तु युञ बन्धन इत्यस्य क्र्यादेः । शक्लृरितीति कृष्णपण्डितस्य

स्वञ्जिरित्यर्थः । कालापाविन्दतिमपि गृह्णन्ति । लुम्पादयो लुम्पत्यादीनामेकदेश निर्देशाः । लिशीति लिश अल्पीभावे, निशीत्यपपाठः । वोपदेवादद्यसम्मतत्वात् ।

अतएकसर्वेश्वरः सर्वेश्वरान्तश्चेति वीरनिट् ।

१३३. ईशान्तस्य वृष्णीन्द्रः सौ परपदे ।

१३४. ऊर्णोते र्वा ।

वलेतु वेत्यस्य वैयर्थ्यात् विष्णुतः सर्वविरिञ्चिरित्यतश्चेटः पूर्वमेव पक्षे वीभावः । अवैषीत् । आजीत् ।

नरस्य वामनः—विवाय ।

नह् वन्धने इमे अष्टावनिटः । अनुष्टुप् छन्दः । तदेते द्व्यधिकशतं विष्णुजनान्तेष्वनिटो ज्ञेयाः ।

इदानीं तत्रमतभेदान् दर्शयति—युइत्यादिभिः । युइत्यदादेरेव ग्रहणं, नतु युञ् वन्धने क्र्यादेर्नवा यु जुगुप्सायां चुरादेरिति । वोपदेवेनापि युलइत्युक्त्वादादिरेव गृहीतः, अतो नात्र मतानैक्यम् । शक्लृरिति—भाष्यादावपि सानुवन्धो हि शक्लृ गृहीतः । कलापा इति—विद्लृलाभे इत्यपि अनिड्गणे पठन्तीत्यर्थः । भाष्यादेश्च तथा मतम् ।

अमृता०—१३३. इशान्तस्येति । परपदे सौपरे ईशान्तस्य धातो वृ ष्णीन्द्रः स्यात् । तेन चादेशपक्षे अवैषीदिति, अनादेशपक्षे तु आजीदिति ।

अमृता०—१३४. ऊर्णोतेरिति । परपदे सौ परे ऊर्णुञ् आच्छादने इत्यस्य तु वृष्णीन्द्रो वा स्यात् । ननु अजधातोः सेट्त्वात् प्रथममेवइडागमो भवतु, पश्चात्तस्य परसम्वन्धित्वाद् रामधातुकत्वेन हि बीरादेशो भवतीति चेत्तत्राह—वलेति । यदि वीभावात् पूर्वमिट् स्यात्तदा तस्य वल्संज्ञत्वाभावाद् 'वलेतु वा' इति विधानस्य व्यर्थतापद्यते । अतो विष्णुतः सर्वविरिञ्चिरिति न्यायावसरात् इटः पूर्वमेव वीरादेशः कार्यं इतिभावः । नरस्य वामन इति प्रागुक्तं स्मारयति ।

प्रक्रियाटीकायाम् अत्र कारिकायाम् लृदिदेव शकधातु र्गृह्यते कृष्णपण्डितेनेति शेषः ; कृष्णपण्डितः प्रक्रिया टीकाकारः । एतन्मते यः शकधातु लृदित्, सोऽनिड़ेवेति । कविकल्पद्रुमे तु स्वादिर्विकल्पितेट् दिवादिस्तु सेडेति । शक मृष क्षमायां दिवादिः कलापा इति विद्लृलाभ इत्येतमपि गृह्णन्ति अनिट्कारिकायामिति शेषः ।।१३२।।

बाल०—ईशा । परपदे सौ सति ईशान्तस्य धातो र्वृष्णीन्द्रो भवति ।।१३३।।

बाल०—ऊर्णो । परपदे सौ सति ऊर्णुञ आच्छादने इत्यस्य वृ ण्णीन्द्रो न भवति । नन्वजधातोः सेट्त्वात् प्रथममेव इड् भवत्विति चेत्तत्राह,— बले तु वेति यदि वीभावात् पूर्वमिट् स्यात्तदा बले तु वेति ब्यर्थं स्यात् तस्मात् तस्य वैयर्थ्यात् विष्णुतः सर्वविरिञ्चिर्बलवानिति न्यायाच्च इटः पूर्वमेव पक्षे वीभाव इति । नर । सुगमम् ।।१३४।।

१३५. धातो श्चतुः सनस्येयुवौ सर्वेश्वरे ।

१३६. संयुक्तश्नोश्च ।

१३७. असंयोगपूर्वस्यानेकसर्वेश्वरस्येद्वयस्य तु यः ।

१३८. एतिहुवो यंवौ कृष्णधातुक एव ।

गोविन्द-वृष्णीन्द्राभ्यामन्यत्रैते । इद्वयादीनां यादद्यादेशः स्थानिवन्न तु द्वित्वविधाविति । धातो र-वः प्राक् त्रिविक्रमो न स्यात् । विष्णुजने विष्णुजनो वेति द्वित्वं तु स्यात् । विव्यतुः विव्व्यतुः ।

वीगति-व्याप्ति-प्रजन-कान्त्यसन-खादनेष्विति वीधातु रप्यस्ति । तत्रच

अमृता०—१३५. धातोरिति । सर्वेश्वरे परे धातो श्चतु:सनस्य स्थाने इयुवौ स्याताम् । धातोरित्यधिकार सत्त्वेऽपि पुनरिह तद् ग्रहणं स्पष्टतार्थम् । लुलुवतु—रित्यादौ उरामस्य उव् । चतु:सनस्येति संयुक्तेद्वयस्य हीय् मन्तव्यः, अग्रिमसूत्रे असंयोगपूर्वस्येत्यादिना विशिष्यैव यरामविधानात् । उद्वयस्य त्वविशेषेणाभिधानादुवेव भवतीति ज्ञेयम् ।

अमृता०—१३६. संयुक्तेति । सर्वेश्वरे परे संयुक्त श्नुविकरणस्योरामस्य उव् भवति । धातोरित्यनुवृत्ते विकरणस्याप्राप्ते विधानम् । यथा—अश्नुवाते । संयुक्तेति किम्—सुन्वन्ति ।

अमृता०—१३७. असंयोगेति । संयोगः पूर्वेनास्ति यस्य सौऽसंयोगपूर्वस्तस्येनेक सर्वेश्वरस्य इद्वयस्यतु यःस्यात् सर्वेश्वरे परे । विव्यतुरित्यादि । अत्रानेक सर्वेश्वरत्वमिद्वयस्यासम्भवादनेक सर्वेश्वरधातो रसंयोग पूर्वस्ये द्वयस्य यः स्यादित्येवं व्याख्येयम् । तत्र च वीधातोरेक सर्वेश्वरत्वाद् विव्यतुरित्यसिद्धेः-"भविष्यद् द्विरुक्त्या नेकात्वमिति" पद्मनाभ वचनाद् भाविनि भूतवदुपचारेण भाविद्विर्वनमपेक्ष्य ह्यनेकसर्वेश्वरत्वमिह मन्तव्यम् । नच वक्तव्यम्—कृतद्विर्वचनस्यानेक सर्वेश्वरत्वेनापि सिध्येदिति ; तथा सति—द्विर्वचन निमित्त सर्वेश्वर परमात्रे सतीत्याद्युक्त्या पश्चाद् द्विरुक्तिप्रथया सह विरोध आपद्येतेति विवेच्यम् । असंयोगपूर्वस्येति किम्—पिप्रियतुः, चिक्षियतुरित्यादिषु धातोश्चतुः सनस्येति इयेव ।

अमृता०—१३८. एतीति । इण् गतौ, हु वह्नौ दाने इत्येतयोरिरामोरामयोः स्थाने कृष्णधातुकसर्वेश्वर एव परे क्रमेण यवौ भवतः । एवकाराद् रामधातुक सर्वेश्वरं व्यावृत्त्य

बाल०—धातो । सर्वेश्वरे परे धातोश्चतु:सनस्य स्थाने इयुवौ भवतः । धातोरिति स्पष्टार्थं कृतम् ।।१३५।।

बाल०—संयु । सर्वेश्वरे परे संयुक्त-श्नोरुरामस्य स्थाने उव् भवति ।।१३६।।

बाल०—असम् । अनेकसर्वेश्वरस्य धातोरसंयोगपूर्वस्य असंयुक्तपूर्वकस्य ईद्वयस्य तु यो भवति ।।१३७।।

बाल०—एति । इण् गतौ, हु वह्नो दाने इत्येतयोरिरामोरामयोः स्थाने कृष्णधातुक एव यवौ भवतः । गोविन्देति एते इयुव् यवः गोविन्द-वृष्णीन्द्राभ्यामन्यत्र भवन्ति ।

सति धातुप्रतिरूपादेश स्तद्धातुवत् प्रयोगो वक्तव्य इति न्यायेन वीवदेवास्य प्रयोगः।

ततश्च—

१३९. सर्वेश्वरान्तात् सहजानिट इड्वाथलि।

१४०. सहजारामवतश्च तादृशात्।

तत्र त्वियुवावेव स्यातामिति ज्ञापितम्। यथा—ईयतुः जुहुवतुरिति। ननु विवायेत्यत्र कथं न यादेश इति चेत्तत्राह—गोविन्देति। एते इयुव् यवाः गोविन्द वृष्णीन्द्राभ्यामन्यत्र हि भवन्ति। तेन यत्र तौ न प्राप्नुत स्तत्र खलु एषांविषय इति निष्कर्षः।

इद्वयादीनामिति—यादि रादेशः स्थानिवद् भवति, तत्र 'द्विर्वचनेएव कर्त्तव्ये' इत्येवकारेण द्वित्वविधिर्वर्जित इति ज्ञापितम्। अतो यरामस्य स्थानिवत्त्वेन इराम सद् भावाद् विष्णुजनपरत्वाभावः,ततएव धातोः र वः प्रागिति त्रिविक्रमो न प्राप्नोतीत्याशयः। द्वित्वं तु स्यादिति स्थानिवत्त्वाभावे विष्णुजनपरत्वादित्यर्थः।

प्रजनं गर्भग्रहणम्। असनं क्षेपणम्। प्रतिरूपादेशः सदृशादेशः। तद्धातुवदिति यस्य प्रतिरूपादेशस्तद्वदित्यर्थः। वीरयमदादिः। तस्य च कृष्णधातुकरूपाणि—वेति वीतः वियन्ति। वीहि। अवेत् अवीतां अवियनित्यादीनि।

अमृता०—१३९. सर्वेश्वरेति। थलि परे सर्वेश्वरान्तात् स्वाभाविकानिटोधातोरुत्तरे इड् वा भवति। सर्वेश्वरान्तादिति किम्—विभेदिथ। सहजानिट इतिकिम्—सिधू सिसेधिथ। स्वरति-सूतीत्यादिना विकल्पितेट्त्वेऽपि शकादिष्वपाठान्नास्य सहजानिट्त्वमिति।

अमृता०—१४०. सहजेति। सहजारामयुक्तस्य तादृशात्-सहजानिटो धातोरुत्तरे थलि इड्वा भवति। शेकिथ शशक्थ। पूर्वसूत्रे सर्वेश्वरान्त-ग्रहणादत्र अरामवतइति उद्धवारामवतइत्येव वोद्धव्यं नत्वन्ताराम वत इति। अरामान्तानां कथ प्रभृतीनामनेक-सर्वेश्वरत्वेनाम् विषयक त्वादिह तत्प्रसङ्गो न सम्भवेदिति। अरामवत इतिकिम्—राध-रराधिथ। सहजेति किम्—गोविन्दजातारामस्य न; यथा-कृषचकर्षिथ। तादृशादिति किम्—ग्रह-जग्रहिथ। उद्वयग्रहगूहेभ्य इत्यादिना सनि अनिट्त्वेऽपि शकादिष्वपाठान्नास्य सहजानिट्त्वम्।

एतेनैतदुक्तं गोविन्द-वृष्णीन्द्रो यत्र न प्राप्नुतस्तत्रैषां विषय इतिः इद्वयादीनां याद्यादेशः स्थानिवद्भवति अतो विव्यतुरित्यादौ "धातौ र वप्रागिदुतोस्त्रिविक्रमो र वतोविष्णुजने" इत्यनेन त्रिविक्रमो न स्यात् विष्णुजनस्य परत्वाभावात्। द्वित्वविधौ तु स्थानिवन्न भवति। अतो विष्णुजने विष्णुजनो वेत्यादिना पक्षे द्वित्वं तु स्यात्।

वीति। प्रजनो गर्भग्रहणम्, असनं क्षेपणम्। तत्र चेति तत्र च वीधातौ। प्रतिरूपत्वं सादृश्यम्। वीवदेव वीधातुवदेव। अस्य आदेश वीत्यस्य ॥१३८॥

बाल०—सर्वे। थलि परे सर्वेश्वरान्तात् सहजानिटो धातोरुत्तरे इड् वा भवति॥१३९

१४१. सृजि-दृशिभ्याञ्च ।

१४२. अत्त्यर्त्तिवृव्येञ्भ्यो नित्यम् ।

१४३, ऋरामात्तु नित्यं नेट् ।

सहजानिटः शकादि पठिताः । सहजग्रहणं सनादावनिट्त्वेऽपि वभूविथेत्यादौ नित्यमिड्भावार्थम् । विवेथ विवयिथ । अनादेशपक्षे आजिथ । क्षि क्षये । क्षयति क्षयन्ति ।

१४४, वामनस्य त्रिविक्रमः कृत्-कृष्णधातुकेतर यप्रत्यये ।

क्षीयते । अक्षैषीत् । चिक्षाय चिक्षियतुः चिक्षियुः ।

चिक्षयिथ चिक्षेथ । कृति तु ज्ञेयम् । कृष्णधातुके—इयात् ।

अमृता०—१४१. सृजीति । सृज विसर्गे दृशिर् प्रेक्षणे इत्येताभ्याञ्चोत्तरे इड् वा स्यात् थलि । सहजानिट्त्वादप्राप्ते विभाषा वचनम् । ससर्जिथ सस्रष्ठ । दर्दशिथ दद्रष्ठ ।

अमृता०—१४२. अत्त्यर्त्तीति । अद भक्षणे, ऋगतौ प्रापणेच भुवादि ह्वादिश्च, वृञ् आवरणे, व्येञ् सम्वरणे इत्येतेभ्य उत्तरे नित्यमिट् स्यात् थलि । अदः सहजारामवत्त्वात् व्येञश्च सर्वेश्वरान्तत्वाद् विकल्पे प्राप्ते, ऋधातोरग्रिम सूत्रेण तथा वृञश्च कृसृभृवृ इत्यादिना निषेधे प्राप्ते तत्तदपवादोऽयं विधि । आदिथ, आरिथ, ववरिथ, विव्ययिथेति ।

अमृता०—१४३. ऋरामादिति । थलि सहजानिट् ऋरामात्तु नित्यमिड्भावः स्यात् । हृ—जहर्थं । सर्वेश्वरान्तात् सहजानिट इति विकल्पे प्राप्तेऽयं निषेधः । सहजानिट ऋरामादिति किम्—जजागरिथ । सहजग्रहणमिति—सनादौ भूधातोरनिट्त्वेऽपि शकादिष्वनिड्गणेऽपाठात्तस्य नसहजानिट्त्वमिति थलि नित्यमेवेट् । सहजाग्रहणे सनादौ त्वनिट्त्वादत्र विभाषयेट्प्राप्नुयादिति भावः ।

अमृता०—१४४. वामनस्येति । कृतः कृष्णधातुकस्य च यप्रत्ययादन्यस्मिन् यप्रत्यये परे वामनस्य त्रिविक्रमो भवति । क्षीयत इति यक् प्रत्ययस्य रामधातुकत्वादिरामस्य

बाल०—सह । तादृशात् सहजानिटः सहजारामवतश्च उत्तरे थलि इड वा भवति । सहजारामवत् इत्यत्र सहजग्रहणं ससर्जेत्यादौ इट्प्राप्तिशङ्कानिरासार्थम् ।।१४०।।

बाल०—सृजि । सृज विसर्गे, दृशिर् प्रेक्षणे इत्येताभ्याञ्चोरे थलि इड वा भवति ।।१४१।।

बाल०—अत्त्यर्त्ति । अद भक्षणे, ऋ गतौ प्रापणे च भ्वादिः, ऋ गतौ ह्वादिः द्वयोरेव ग्रहणम् । वृञ वरणे, व्येञ संम्वरणे इत्येतेभ्य उत्तरे नित्यमिड भवति ।।१४२।।

बाल०—ऋरा । उक्तादन्यत्र ऋरामात्तु थलि नित्यं इट् न भवति । सहजग्रहणमिति सहजानिटः इत्यत्रेति शेषः । सहजानिट इत्यत्र सहजग्रहणम् उद्वय-ग्रह-गुहेभ्य इत्यनेन सनादौ प्रत्यये परे अनिट्त्व विद्यमानेऽपि वभूविथेत्यादौ प्रयोगे नित्यमिड्भावार्थमिति अन्यथा इटो विकल्पः स्यादिति ।।१४३।।

१४५. हमयान्त क्षण-श्वस-श्वीनामेरामेरामेतश्च नवृष्णीन्द्रः सेटिसौ परपदे ।

अलगीत् । गुपूरक्षणे, ऊरामइत् ।

१४६. गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः ।

गोपाय; सनादयन्ताश्च धातवः ।

सन्क्यन्क्यङश्च काम्यश्च क्यङर्थ-क्विप् च णिस्तथा ।

कण्डादि-यक् तथैवाय ईयङ् यङ् स्युः सनादयः ।

तिप् शप्—गोपायति ।

त्रिविक्रमः । अक्षैषीदिति—ईशान्तस्येति वृष्णीन्द्रः । चिक्षायेति—वृष्णीन्द्रे अयादेशेच कृते स्थानिवत्त्वेन द्विर्वचनं,नरविष्णुजनानामादिः शिष्यते, कवर्ग नरस्य चवर्गः । चिक्षियुरिति—संयोगपूर्वत्वादिरामस्य नयः, किन्तु धातोश्चतुः सनस्येति इय् । क्षेयमिति—सर्वेश्वरान्तधातोरिति यत् प्रत्ययः कृत्, तेनच न त्रिविक्रमः ।

अमृता०—१४५. हमयान्तेति । हश्च मश्च यश्च हमयास्ते अन्ते येषां तेषां, तथा क्षणु हिंसायां, श्वस प्राणने, टुओश्वि गति-वृद्धयोरित्येतेषाञ्च धातूनां तथा एरामेतश्च धातो परपदे सेटि सौ परे वृष्णीन्द्रो नभवति । विष्णुजनादे लघोरित्यादिना विकल्पे, श्वयतेरीशान्तस्येत्यादिनानित्ये च प्रप्ते प्रतिषेधः । अलगीदिति—एरामेत्त्वान्न वृष्णीन्द्रः । अन्येषां यथा—अग्रहीत् अवमीत् अव्ययीत् अक्षणीत् अश्वसीत् अश्वयीदिति ।

अमृता०—१४६. गुपू इति । गुपूरक्षणे, धूप सन्तापे, विच्छगतौ, पणपन व्यवहारे स्तुतौ चेत्येतेभ्य उत्तरे स्वार्थे आयः प्रत्ययः स्यात् । सनादयो हि प्रत्ययाः, स्तदन्तास्तु धातव इति भू-सनन्तादचा धातव इत्यनेनोक्तं स्मारितम् । केतावत् सनादयइत्यपेक्षायां तान् निर्दिशति—सन्क्यन्निति पदचेन । तेनधातुत्वात् गोपाय इत्यस्मात् तिप् शप् । गोपायतीति—अरामहर एअयो रित्यादिना अरामहरः ।

बाल०—वामनस्य । कृत-कृष्णधातुकाभ्यामितरस्मिन् यप्रत्यये परे वामनस्य त्रिविक्रमो भवति । अक्षैषीदिति "ईशान्तस्य वृष्णीन्द्रः सौ परपदे" इत्यनेन वृष्णीन्द्रः । चिक्षायेति "नरविष्णुजनानामादिः शिष्यते" इति 'कवर्गनरस्य चवर्ग' इति । चिक्षियतुरिति धातोश्चतुःसनस्येत्यादिना इय् । कृति तु क्षेयमिति सर्वेश्वरान्तधातोर्यदिति यत् । नात्र वामनस्य त्रिविक्रमः ।।१४४।।

बाल०—हम । हश्च मश्च यश्च ते हमयास्ते अन्ते येषाम् । क्षिणु हिंसायां, श्वस प्राणने, टुओश्वि गति-वृद्धयोः इत्यतेषाम् एरामेताञ्च परपदे सेटि सौ सति वृष्णीन्द्रो न भवति । अलगीदिति 'विष्णुजनादेर्लघोरि'त्यादिना वृष्णीन्द्रः स्यात् ।।१४५।।

बाल०—गुपू । गुपू रक्षणे, धूप सन्तापे, विच्छगतौ, पण पन व्यवहारे स्तुतौ च इत्येतेभ्य उत्तरे आयो भवति । ननु सनाद्यन्ताश्च धातव इत्युक्तं सनादय एव के इति

१४७. अरामहरो रामधातुके ।

अत्र लिखनाद् वामनस्य त्रिविक्रममपि बाधते । गोपाय्यते ।

१४८. आय इयङ् कर्मणिङ् च रामधातुके तु वा ।

भाविनि भूतवदुपचारः । गुप्यते । अगोपायीत् । ऊदित्त्वादिड् वा । अगोपीत्, अगौप्सीत् । अगौप्ताम् । अगोपायि, अगोपि । अगोपायायीत्यपि मन्यन्ते ।

१४९. अनेकसर्वेश्वर-कासिभ्यामामधोक्षजे ।

अमृता०—१४७. अरामेति । रामधातुके परे अरामस्य हरः स्यात् । ननु गोपाय इत्यस्मात् यकि कृते वामनस्य त्रिविक्रमो विधेयो वा अरामहरो कर्त्तव्यो वेति संशये सिद्धान्तयति—अत्रलिखनादिति । विधान समाथ्यादेवात्र अरामहरः कर्त्तव्यः । "विप्रतिषेधे परं कार्यमिति" भाष्य वचनाच्च । अन्यथा त्विह हरविधिरनर्थकः स्यादिति भावः ।

अमृता०—१४८. आय इति । रामधातुके परे एते आयादयो विभाषया भवन्ति । ननु गुपूधूपेत्यादि सूत्रे परनिमित्तनिर्देशाभावात् प्रथममेव आय आगच्छति, ततः प्रत्यया इति स्थिते, रामधातुके आय प्रत्ययस्य विकल्पादेशः अनुपपन्न इति चेत्तत्राह—भाविनीति । भाविनि रामधातुके भूतवदुपचारेण तद्विकल्पादेशो ज्ञेयः । रामधातुक इति विषयसप्तमीग्रहणे तु न तच्छङ्कावकाश—इत्यपि ध्येयम् । ऊदित्त्वादिति—स्वरति सूतीत्यादिना ऊदिद्धातो विभाषया इडित्यर्थः । अगोपीदितीट् पक्षे । अगौप्सीदित्यनिट् पक्षे विष्णुजनान्ताना-मित्यादिना वृष्णीन्द्रः । अगौप्तामिति—तस्मिन्नेव पक्षे वामन-वैष्णवाभ्यामिति सेर्हरः । अगोपायायीति केचनाचार्या मन्यन्ते । तन्मते—अग्लोपित्वं स्थानिवत्त्वमित्यनेन अरामहर विकल्पात् हराभावपक्षे इणि अन्तस्य वृष्णीन्द्रः, आतो युगिणीति तत्सिद्धम् ।

चेत्तत्राह,—सन् क्यन् क्यङश्चेति । आय उक्तः अन्ये तु वक्ष्यन्ते । गोपायतीति । अराम हर इत्यादिना अरामहरः ॥१४६॥

बाल०— अरामः । रामधातुके परे अरामहरो भवति । ननु गोपाय्यत इत्यादौ वामनस्य त्रिविक्रमः कस्मान्न भवतीति चेत्तत्राह,—अत्रेति । अतः एतस्य लक्षणस्य लिखनात् वामनस्य त्रिविक्रममपि बाधते अरामहर इति शेषः । तेन गोपाय्यत इति ॥१४७॥

बाल०— आय । व्यक्तार्थमेतत् भाविनीति भाविनि रामधातुके भूतवदुपचारः इति विषयसप्तमीत्यपि सिद्धान्तान्तरं ज्ञेयम् । ऊदित्त्वादिड्वेति 'स्वरति सूति' इत्यादिनेति शेषः । अगौप्सीदिति 'विष्णुजनान्तानामनिटामि'त्यादिना वृष्णीन्द्रः । अगौप्तामिति 'वामन वैष्णवाभ्यामि' त्यादिना सेर्हरः । अगोपायायीत्यपि मन्यते इति अगोपायीत्यत्रेति अगोपायायीति एवं साध्यम् अग्लोपित्वमित्यनेन अरामहरविकल्पात् तत्स्थिति पक्षे इणिकृते 'अन्तस्य वृष्णीन्द्र' इत्यनेन त्रिविक्रमस्ततः 'आतो युगि'त्येनेन युक् ॥१४८॥

कृञादेरनुप्रयोगः। गोपायाञ्चकार, जुगोप। अरामहरस्य नित्यत्वादन्तरङ्गाच्च गोपाय्यादित्यादौ नातो याईः। धूपसन्तापे। धूपायति। अधूपायीत्। इट् तु नित्यं—अधूपीत्। कास् प्रत्ययादित्यत्र कास्यनेकाच इति वक्तव्यमिति काशिका। प्रत्ययग्रहणमनेकाजुपलक्षणमिति भाषावृत्तिः चुलुम्प लोपे—चुलुम्पाञ्चकार। तप् सन्तापे—तपति।

१५०. निसः षत्वं तपतौ सकृत्सेवने।

निष्टपति सुवर्णम्। सकृदग्निं स्पर्शयतीत्यर्थः।
अताप्सीत् अताप्ताम्।

अमृता०—१४९. अनेकेति। अधोक्षजे परे अनेकसर्वेश्वराद्धातो स्तथा कासृ दीप्तौ शब्दकुत्सायाञ्चे त्यस्माच्चोत्तरे आम् प्रत्ययः स्यात्। ननु कामपाले गोपाय्यादित्यादौ अतो या ईः कथं न प्रवर्त्तत इति चेत्ताचष्टे—अरामहरस्येति। या स्थाने ईरामे कृतेऽपि नकृतेऽपि अरामहरः स्यादेवेति तस्य नित्यत्वम्। प्रकृताश्रितत्वादन्तरङ्गत्वञ्च। अरामहरे सति तस्य तु महाहरत्वादतो याईरित्यस्य प्रसङ्ग एव नस्यादित्यर्थः। कमणि आय पक्षे नित्यमिट्—गोपायिषीष्ट। पक्षान्तरे—गोपिषीष्ट, गप्सीष्टेति। अधूपीदिति—ऊदित्त्वाभावान्नित्यमिट्।

सूत्रे 'अनेकसर्वेश्वरे' इति यदुक्तं तत्तु प्राचीनाचार्यसूत्राक्षरे न दृश्यत इति तद् व्याख्या ग्रन्थ वचनैः स्वमतमुपपादयति—कास् प्रत्ययादिति। "कास् प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि" इति पाणिनीयसूत्रस्य व्याख्यायां—कास्यनेकाच इति बक्तव्ये, चुलुम्पादचर्थमिति काशिका। प्रत्ययशब्देन प्रत्ययान्तानां ग्रहणेऽपि अनेकाच इत्यनुक्ते चुलुम्प दरिद्रा प्रभृतीनां पदानिष्पत्तिः स्यादिति तदाशयः। भाषावृत्तिकारस्तूपलक्षणेन तदुपपादितवान्। अतोऽनेकाज्ग्रहणमावश्यकमिति तस्य च मतम्।

अमृता०—१५०. निस इति। सकृदेकवारं सेवनेऽर्थे तपधातौ परे निसव्ययस्य सरामस्य षत्वं भवति। निष्टपतीति षत्वे कृते षात् परस्येत्यादिना तवर्गस्य टवर्गः।

बाल०— अनेक। अनेकसर्वेश्वरात् कासृ दीप्तौ इत्येतस्माच्चोत्तरे अधोक्षजे परे आम् भवति। ननु कामपाले गोपाय्यादित्यादित्यादौ अरामहरात् पूर्व्वम् "अतो या ई"रिति कथं न प्रवर्त्तते इति चेतत्राह,—अरामहरस्येति नित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्च प्रथमम् अरामहरे कृते पश्चात् तस्य महाहरत्वात् "अतो या ई"रिति न प्रवर्त्तते। इट् तु नित्यमिति उदित्त्वाभावान्नास्य विकल्पितेट्त्वम्। अनेकसर्वेश्वरेति यदुक्तं, तदेव द्रढयति कासीति। कासि प्रत्ययादित्यत्र लक्षणे अनेकाजुपलक्षणमिति अनेकाचो धातून् उपलक्षयतीति अन्यथा चुलुम्पाञ्चकार, दरिद्राञ्चकार, चकासामासेत्यादि न स्यात्॥१४९॥

बाल०— निसः। सकृत्सेवनेऽर्थे तपतौ तपधातौ परे निसः अरामस्य षत्वं भवति। सकृत्सेबनमेकवारसेवनम्॥१५०॥

१५१. नानो स्तप इण् ।

अन्वतप्त । तताप । सहजारामवतश्च तादृशादिति वेट्— तेपिथ ततप्थ । चमु अदने ।

१५२. ष्ठिव्वाचमुक्लमो त्रिविक्रमः शिवे ।

आचामति । स्वादावपि पाणिनीयाः पठन्ति । आचाम्नोति । वैष्णव-परत्वाभावान्न विष्णुचक्रम्— आचम्यते । इणि–आचामि ।

क्लमु ग्लानौ । क्लामति । भौवादिकस्य तु नत्रिविक्रम इति तस्यां भ्रमः । पाणिनीयादौ हि भुवादौ नैवायं पठ्यते किन्तु दिवादिकादेव श्यो विक-ल्प्यते । तथैव क्लमतीति न कुत्रापि दृश्यते च ।

अमृता०—१५१. नानोरिति । अनु इत्यव्ययादुत्तरस्मात् तपधातोर्भूतेशे इण् तु नस्यात् । तेन भावे कर्मणि वा अन्वतप्त इत्येव रूपम् । तेपिथेति–आदेशहीनस्येत्यादिना एत्वं नरादर्शनश्च । ततप्थेति—सेट् थलि हि तदेत्वादे नियमादत्र न ।

अमृता०—१५२. ष्ठिव्विति । शिवे (शिति) प्रत्यये परे ष्ठिवु निरसने, आङः चमु अदने, क्लमु ग्लानौ इत्येषां त्रिविक्रमो भवति । उराम इत् तेनात्र उद्धव-वर्णस्य हि त्रिवि-क्रमः सम्भवतीत्यर्थः । न विष्णु चक्रमिति—यरामस्य वेष्णवत्वाभावादित्याशयः । तत्र च यकः शिवत्वाभवेन न त्रिविक्रमः । आचामीति—उद्धवारामस्य वृष्णीन्द्रः ।

तस्यां भ्रमइति—"अत्र दैवादिकस्य क्लमो ग्रहणमिति" प्रक्रियोक्ते—स्तस्यां भ्रम एव, सर्वेषाममतत्वात् । श्यो विकल्प्यत इति—"वाभ्राश भ्लाश भ्रमुक्रमु क्लमु त्रसि त्रुटि लष" इत्यनेन श्य विकल्पः । तत्रो दाहृतश्च–क्लाम्यति क्लामतीति । अपि च—"ष्ठिवु क्लम्याचमां शितीति सूत्रे क्लमि ग्रहणं शवर्थम्; चमेराङ्पूर्वस्य ग्रहणम । इहमाभूत्—चमति विचमती"ति काशिका व्याख्या । तत्रैव न्यासश्च—क्लमिग्रहणं शवर्थं नतु श्यन्नर्थम्; तत्र तु पूर्वेणैव सिद्धत्वादिति । हेत्वन्तरमपि विन्यस्यति—तथैवेति । पदानां प्रयोगश्च पदसंस्कारं प्रति हेतुरिति मर्मार्थः ।

बाल०— नानो । अनोरुत्तरस्मात्तप उत्तरे इण् न भवति, 'इण् भूतेशते भावकर्म-णोरि'त्यनेन प्राप्ते निषेधः । तेपिथेति 'आदेशहीने'त्यादिना अरामस्य एत्वं नरादर्शनश्च सेट् थलि विधानात् ततप्थेत्यत्र न एत्वं-नरादर्शने ।।१५१।।

बाल०— ष्ठिव्वा । ष्ठिवु निरसने, आङ् पूर्व चमु अदने, क्लमु ग्लानौ एषां शिवे परे त्रिविक्रमो भवति । पाणिनीयाः पठन्तीति चमुमिति शेषः । वैष्णवेति वैष्णवपरत्वाभावात् 'अविष्णुपदान्तस्ये'त्यादिना विष्णुचक्रम् । भौवादिकस्येति । तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रम-मुक्त्वा तत्र हेतुमाह,—पाणिनीयादौ हीति । हि यतः भुवादौ भ्वादिगणेनायं क्लमधातुः पठ्यते । किन्तु दैवादिकादेव क्लमुधातोः श्यो विकल्प्यते विकल्पेन क्रियते; दीर्घस्तु नित्यं

१५३. जनि-वध्योर्मान्तानाञ्चानाचम्यामि-कमि-वमि-यमि-रमि-नमि-गमां न वृष्णीन्द्र इणि कृति च ।

अक्लमि ।

१५४. अम-चम-विश्रमां वेत्येके ।

—क्रमु पादविक्षेपे ।

१५५. क्रम स्त्रिविक्रमः परपदे शिवे ।

क्रामति ।

१५६. स्नु-क्रमिभ्यामिड् नात्मपद एव ।

अक्रमीत् । अक्रमि अक्रंसाताम् । यमु उपरमे ।

अमृता०—१५३. जनीति । जनी प्रादुर्भावे, वध हिंसायांमेतयो स्तथा आङ्पूर्वं चमु, अम रोगे, कमु कान्तौ, टुवमुद्गिरिणे, यमु उपरमे, रमु क्रीड़ायां, णम प्रह्वत्वे शब्दे च गम्लृगतौ इत्येतान् वर्जयित्वान्येषां मान्तानाञ्च इणि कृति च परे वृष्णीन्द्रो न स्यात् । आचम्यादीनान्तु स स्यादेव । उद्धवारामस्येति वृष्णीन्द्रे प्राप्तेऽयं निषेधः । अत्र कृतीति नृसिंह कृतीत्येव मन्तव्यम्, अन्यत्र तत् प्रसङ्गस्याभावात् ।

अमृता०—१५४. अमेति । अमु, चमु, विपूर्वश्रमु (तपसि खेदे च) इत्येतेषामिणि कृति च वृष्णीन्द्रो वा स्यादित्येके वदन्ति । तच्च स्वमतसम्मतम् ।

अमृता०—१५५. क्रम इति । पर पदे शिवे परतः क्रमधातोस्त्रिविक्रमो भवति । परपद इतीति किम्—आक्रमते सूर्यः । भावे—क्रम्यते ।

अमृता०—१५६. स्नु इति । स्नु प्रस्रवणे, क्रमु पादविक्षेपे इत्येताभ्यामुत्तरे आत्मपदे—एवेड् न भवति । अनिड्गणेऽपाठान्नित्यमिटि प्राप्ते नियमार्थोऽयं प्रतिषेधः । प्रस्नोष्यते प्रक्रंस्यते, प्रस्नोषीष्ट प्रकंसीष्ट । अक्रमीति—मान्तत्वाद् जनिवध्यो रित्यादिना वृष्णीन्द्र

क्रियते, तस्मात् पाणिनीयादिमते क्लाम्यति क्लामतीति । अपरमपि हेतुमाह,—तथैवेति ।।१५२।।

बाल०— जनि । जनी प्रादुर्भावे, वध सौत्रा हिंसायां एतयोः, आङ् पूर्व्वचमु अदने, अमु रोगे, कमु कान्तौ, टुवम् उद्गिरणे, यमु उपरमे, रमु क्रीडायां, नम प्रह्वत्वे शब्दे च, गम्लृ गतौ एतेभ्योभिन्नानां मान्तानाञ्च इणि कृति च परे वृष्णीन्द्रो न भवति । अत्र इणीत्यत्र वृष्णीन्द्रप्राप्ते निषेधः सम्भवति, कृति तु नेति चेत् तदैवं वाच्यम् इणः सहचर्य्यात् कृति च नृसिंहकृतीति न तु सामान्यकृतिः ।।१५३।।

बाल०— अम । अमु रोगे, चमु अदने, वि पूर्व्व श्रमु तपसि खेदे च इत्येतेषाम् इणि कृति च वृष्णीन्द्रो वा भवतीत्येके वदन्ति ।।१५४।।

बाल०— क्रम । परपदसन्बन्धिनि शिवे परे क्रमस्त्रिक्रिमो भवति ।।१५५।।

१५७. इषु-गमि-यमां छः शिवे ।

यच्छति ।

१५८. यम-रम-णमारामान्तेभ्यः सुगिटौ सौ परपदे ।

अयंसीत् अयंसिष्टाम् । अयामि ।

१५९. सूचनार्थाद् यमः सिः कपिल आत्मपदे स्वीकारार्थाद् वा ।

१६०. हरि वेण्वन्त-सहजानिटां तनु षणु क्षणु क्षिणु ऋणु तृणु घृणु वनु मनूनामपि हरिवेणु हरो वैष्णवादि कंसारौ ।*

निषेधः । कथं—"हरेर्यदक्रामि पदैककेन खमिति" नैषधे श्रीहर्षः ? सत्यमत्र छन्दोऽनुरोधाद्दीर्घः; वस्तुत इह च्युतसंस्कारनामा दोष एवेत्यालङ्कारिकाः ।

अमृता०—१५७. इष्विति । शिवे प्रत्यये परे इषु इच्छायां, गम्लृगतौ, यमु उपरमे इत्येतेषामन्तवर्ण स्थाने छराम आदिश्यते । यच्छतीति—मरामस्य छरामे कृते द्विःसर्वेश्वर मात्रादिति छस्य द्वित्वम् यादव मात्रे हरिकमलञ्च । शिव इति किम्—संयम्यते ।

अमृता०—१५८. यमेति । परपदे सौ परतः यमु उपरमे, रमु क्रीड़ायां, णम प्रभ एतेभ्य स्तथा आरामान्तेभ्यश्चोत्तरे सुक् च इट् चागमौ भवतः । इटि विष्णुजनान्तानामिति वृष्णीन्द्रस्तु प्रतिसिद्ध एव । परपद इति किम्—आयंस्त उपायंस्त । अयामीति—जनिवध्योरित्यादौ यमेर्वर्जनान्न वृष्णीन्द्र वाधः ।

अमृता०—१५९. सूचनार्थादिति । आत्मपदे सूचनार्थाद् यम उत्तरः सिः कपिलः स्यात्, स्वीकारार्थान्तु स विभाषया कपिलः स्यात् । सूचनं परदोषाविष्करणम् । धातूनामनेकार्थत्वाद् यमे स्तदर्थश्च विद्यते । सूचनार्थादिति किम्—उदायंसाताम्, आकृष्टावित्यर्थः ।

बाल०— स्नुः क्रमि । स्नु प्रस्रवणे, क्रमु पादविक्षेपे इत्येताभ्यामुत्तरे आत्मपद एवं इट् न भवति । परपदे तु भवत्येव । अत्र सातामिति आत्मपदे इड़भावः ॥१५६॥

बाल०—इषु । शिवे परे इषु इच्छायां, गम्लृ गतौ, यमु उपरमे एषामन्तस्य स्थाने छो भवति, यच्छतीति मस्य छे कृते "द्विः सर्वेश्वरमात्राच्छ" इत्यनेन द्वित्वे च कृते 'यादवे' त्यादिना छस्य चत्वम् ॥१५७॥

बाल०—यम । यमु उपरमे, रमु क्रीड़ायां,नम प्रह्वत्वे शब्दे च एतेभ्य आरामान्ताच्चोत्तरे परपदे सौ सति सुगिटौ भवतः । अयंसीदिति 'इटः सिलोप' इत्यादिना सिलोपः । अयमीति यमे र्वर्जनात् नात्र वृष्णीन्द्रनिषेधः ॥१५८॥

बाल०—सूच । आत्मपदे सूचनार्थाद् यम उत्तरः सिः कपिलो भवति । आत्मपदे स्वीकारार्थाद् यम उतरः सिः कपिलो वा भवति ॥१५९॥

* विद्यारत्न मुद्रित ग्रन्थे षगु ऋणु घृणु इति त्रितयं लिपिकार प्रमादेन ग्रथितम् ।

उदायसाताम्, सूचितावित्यर्थः। उपायसाताम्, उपायंसाताम् वा, स्वीकृता वित्यर्थः। सहजेति किम्—कृत् प्रत्यये शान्तः।

नय् हय् गतौ। अनयीत्। दल् विदारणे।

१६१. अरलित्यन्तस्य वृष्णीन्द्रः सौ परपदे।

अदालीत्। ञिफला विशरणे। विशरणं विदीर्णता। ञ्यारामावितौ। तृफलेत्यादि—फेलतुः फेलिथ। फलनिष्पत्तावित्यस्य तु ग्रहणमिति प्रसादकारः। द्वयो रपिग्रहणमिति तु कालापाः।

ष्ठिवु निरसने। निरसनं थूत्कारः। उराम इत्।

अमृता०—१६०. हरीति। हरिवेण्वन्तसहजानिटः—यमरम णम गम हन मन स्तेषाम्, तथा तनु विस्तारे, षणु दाने, क्षणु दाने, क्षणु क्षिणु हिंसायां, ऋणु गतौ, तृणुअदने, घृणु दीप्तौ, वनु याचने, मनु वोधने इत्येतेषाञ्च वैष्णवादि कंसारौ परें हरिवेणु हरो भवति। वैष्णवादीति किम्—तन्यते, तनित्वा। कंसाराविति किम्—गन्ता। उदायसातामिति—कर्मणि प्रयोगः। कर्त्तर्यपि—"समुदाङ्भ्यो यमेरग्रन्थगौरवे" इत्यात्मपदेन भवितव्यम्। उपायसातामिति—"स्वीकार तूपयच्छते" रित्यत्मपदं कर्त्तरि च भवति। शान्त इति—शमु+क्तप्रेत्ययः कृत्। हरिवेण्वन्तोद्धवस्येति त्रिविक्रमः, मस्य विष्णुचक्रं पुनस्तस्य हरिवेणुः। शमु धातोर्न सहजानिट् ता किन्तु "उरामेतो वेट् क्त्वि:", "आईरामानुवन्धाद्विकाल्पतेट" इत्यादिना विष्णु निष्ठायामिड़भावः। अनयीदिति—हमन्यान्तेत्यादिना सौ वृष्णीन्द्र निषेधः।

अमृता०—१६१. अरलिति। अर् अल् अन्ते यस्य तादृशस्य धातोः परपदे सौ परतः वृष्णीन्द्रः स्यात्। विष्णुजनादेरित्यादिना विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थमिदम्। तृफलेत्यादिना एत्वं नरादर्शनञ्च। द्वयो रेवग्रहणमिति काशिका व्याख्यायां न्यासकारश्च। तेन प्रसादकारमतं न ग्राह्यमित्यर्थः।

बाल०—हरि। हरिवेणुरन्ते येषां तादृशां सहजानिटां तनु विस्तारे, क्षणु क्षिणु हिंसायां, तृणु अदने, वनु याचने, मनु बोधने इत्येतेषाञ्च वैष्णवादि-कंसारौ परे हरिवेणुहरो भवति। उदायसातामिति आद्यन्तवदेकमिति वैष्णवादि-कंसारिपरता। वैष्णवादीति किम् तेनिव तनित्वा।

शान्त इति शमु उपशमे क्तः "हरिवेण्वन्तोद्धवस्य त्रिविक्रमः क्वौ कंसारि वैष्णवे च" इत्यनेन उद्धवस्य त्रिविक्रमः, मस्य विष्णुचक्रं, विष्णुचक्रस्य हरिवेणुः, शमधातो र्न सहजानिट्त्वं किन्तु उरामेद्धातोः क्त्वविकल्पितेट्त्वमिति विष्णुनिष्ठायामिड़ भावः। अनयीदिति 'हमयान्ते' त्यादिना वृष्णीन्द्रनिषेधः ।।१६०।।

बाल०—अर। अर् अल इति अन्ते यस्य तादृशस्य धातोः परपदे सौ सति वृष्णीन्द्रो

१६२, नामधातु ष्ट्यै ष्वक्क ष्ठिवांसत्वनत्वनिषेधः ।

ष्ठीवति । धातो र वः प्रागिदुतोरिति ष्ठीव्यते ।

१६३, ष्ठिवेर्नरठरामस्य तरामो वा ।

तिष्ठेव टिष्ठेव । जि जये । जयति जीयते ।

विधातरि—

१६४, जेस्त्वन्त्वो स्त्यन्ती ।

जयति जयन्ति । सर्वत्र ग्रहणात् तातङ् पक्षे जयतात् ।

१६५, जेर्गिः सन्नधोक्षजयोः । चेःकिर्वा ।

जिगाय ।

अमृता०—१६२. नामेति । नाम्नो जातोधातु र्नामधातुरिति वक्ष्यते, तस्य तथा ष्ट्यै शब्दसंघातयोः, ष्वक्कगतौ ष्ठिवु निरसने इत्येतेषाञ्च सत्वं नत्वञ्च नस्यात् । तत्र धात्वादेः षःस इत्यनेन सर्वेषामेषां सत्वे प्राप्ते, तथा धात्वादेर्णो न इत्यनेन नामधातूनांनत्वे प्राप्ते प्रति षिध्यते । यथा नरामयतीति दर्शयिष्यते । ष्ठीवतीति—ष्ठिव्वाचमु क्लमामिति त्रिविक्रमः ।

अमृता०—१६३. ष्ठिवेरिति । ष्ठिवुधातो र्नरे कृते ठरामस्य तरामोवा स्यात् । टिष्ठेवेति—शौरिशिरस्कस्तु सात्वत इत्यनेन ठरामो रक्ष्यते, हरि खड्गस्य हरिकमलमिति ठस्य टत्वम् ।

अमृता०—१६४. जेरिति । जिजये धातोः तुस्थानेति, तथा अन्तुस्थाने अन्ति आदिश्यते । सर्वत्रेति—आदेशे अनादेशे वा तातङादेशस्तु नित्यमेव भवेत् तल्लक्षणे सर्वत्रेति पदोपादानादित्यर्थः ।

अमृता०—१६५. जेर्गिरिति । सनिप्रत्यये अधोक्षजे च परे जिधातो र्गिरादेशो

भवति । 'विष्णुजनादेरि'त्यादिना विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थं वचनमिदम् । तृफलेत्यादीति "तृ फल भज त्रपामि"त्यादिना एत्वं नरादर्शनञ्च ॥१६१॥

बाल०—नाम । नाम्नो जातो धातुर्नामधातु स्तस्य ष्ट्यै शब्द-संघातयोः ष्वक्क गतौ, ष्ठिवु निरसने इत्येतेषाञ्च सत्व-नत्वनिषेधो भवति । सत्वनिषेधः सर्वेषामेव नत्वनिषेधस्तु नामधातोरेवेति लक्षणार्थः । ष्ठीवतीति "ष्ठिव्वाचमुक्लमां त्रिविक्रम शिवे" इत्यनेन त्रिविक्रमः ॥१६२॥

बाल०—ष्ठिवे । व्यक्तार्थमेतत् । तिष्ठेवेति शौरिशिरस्कस्तु सात्वत इति ततष्ठस्य तत्वं टिष्ठेवेति 'हरिखड्गस्य' इत्यादिना ठस्य टत्वम् ॥१६३॥

बाल०—जेस्त्व । जि जये इत्यस्य त्वन्त्वोः स्थाने त्यन्ती भवतः । जयतादिति 'तुह्योस्तातङाशिषि वा सर्व'त्रेत्यनेन तातङ् ॥१६४॥

कृष् विलेखने आकर्षणे च । कर्षति ।

१६६, कृष् स्पृश्मृश् तृप्दृप्सृपः सिर्वा ।

१६७, षढोः कःसे ।

षत्वं, अकार्क्षीत् अकार्ष्टाम् । अर्काषि । ऋद्वयादित्यादिना कपिलत्वम्—अकृक्षातां अकृक्षत; अकृष्टाः । कविधौ समात्रस्य निमित्तत्वेना प्रत्ययरूप निमित्तत्वान्महाहरत्वम्, अकृड्ढ्वम् ।

भवति । तयोः परयोः चिञ् चयने धातोर्विकल्पेन किरादेशः स्यात् । कृष विलेखन इति विलेखनमक्षर विन्यासः ।

अमृता०—१६६. कृषेति । कृष आकर्षणादौ, स्पृश संस्पर्शे, मृशआमर्शने, तृप प्रीणने, दृप हर्षविमोचनयोः, सृप्लृगतौ इत्येतेभ्य उत्तरे विभाषया सिर्भवति । कृषस्पृश मृशाम् "ईशोद्धवादनिटो हरिगोत्रान्तादिति" नित्यप्राप्तस्य सको विकल्पार्थमिदम् । तृप-दृप सृपां परपदे पुषादि दयुतादीति नित्यप्राप्तस्यङो विकल्पार्थं वचनमेतत् । तेनतृपादीनां विभाषित सेः परपदमेव विषय इति लक्षितव्यम् ।

अमृता०—१६७. षढोरिति । सेपरे ष-ढोः स्थानेकः स्यात् । अकार्क्षीदिति—विष्णुजनान्तानामनिटामिति वृष्णीन्द्रः । अकार्ष्टामिति—वामनवैष्णवाभ्यामिति सेर्हरः, षात् परस्येति तरामस्य टरामः । अकृक्षतेति—वहुवचनस्य रूपम् । अरामान्यवर्णादित्यादिना नस्य हरः । अकृष्टा इति सेर्हरः, टवर्गत्वञ्च । ननुअकृड्ढ्वमित्यत्र सस्य हरो धे इति सरामे हरे, तस्यस्थानिक्त्वं मत्वा षढोः कः से इति कथं न प्रवर्त्तत इति चेत्तत्र सिद्धान्तयति—कविधाविति । षढोः कः से इतिकविधान सूत्रे परनिमित्तरूप सरामस्य सामान्येन निर्देशात् प्रत्ययसरामोऽसौ नेति निश्चीयते । अतः सस्य हरो धे इत्यनेन विहित सरामहरस्य महाहरत्वान्नहि तस्य स्थानिवत्त्वमिति नैव कप्राप्तिप्रसङ्गः । अत्रसस्य हरे कृते षस्यडो विष्णुपदान्ते हरिघोषे चेति षरामस्य डरामः; षात्परस्येत्यादिना प्रत्ययधरामस्य च ढरामः ।

बाल०—जेर्गिः । सनि अधोक्षजे च परे जि जये इत्यस्य स्थाने गिर्भवति । तस्मिन्नेव परे चिञ् चयने इत्यस्य स्थाने किर्वा भवति ।।१६५।।

बाल०—कृष । कृष विलेखने, स्पृश संस्पर्शे, मृश आमर्शने, तृप प्रीणने, दृप हर्षविमोचनयोः, सृप्लृ गतौ एतेभ्य उत्तरे सिं र्वा भवति । कृष स्पृश मृशिभ्य 'ईशोद्धवादनिटो हरिगोत्रान्तात् सक् भूतेशे दृशि विने'त्यनेन नित्यं सकि प्राप्ते तृप दृप सृपिभ्यस्तु 'पुषादि द्युतादि लृदितो ङो भूतेश परपदे' इत्यनेन ङे प्राप्ते विकल्पेन सिविधानम् ।।१६६।।

बाल०—षढोः । से परे षढोः स्थाने को भवति । अकार्क्षीदिति 'विष्णुजनान्तानामनिटामि'त्यादिना वृष्णीन्द्रः । अकार्ष्टामिति 'वामने'त्यादिना सि हरः 'षात् परस्ये'त्यादिना तस्य टत्वम्, कपिलत्वमिति अतो न गोविन्दः; अकृक्षतेति । 'अरामान्यवर्णादि'त्यादिना नस्य हरः । अकृष्टा इति "वामन वैष्णवाभ्यामि"त्यादिना सि हरः, "षात्परस्येत्यादिना" थस्य टत्वम् । ननु अकृड्ढ्वमित्यत्र "सस्य हरो धे" इत्यनेन सस्य हरे कृते

१६८. ऋरामोद्भवसहजानिटोऽम् वा वैष्णवादावकपिले।

म इत्, ऋद्वयं रः, वृष्णीन्द्रः । अक्राक्षीत् अक्राष्टाम् । सहजेति किम्—वृहूउदद्यमे तुदादिः । वर्ढेति काशिकाः भाषा वृत्त्योः । *ततोऽम्राक्षीदिति तु प्रक्रिया चिन्त्या । अमागमोऽस्य न दृश्यते इतिह्यनिङ्गगे काशिका ।

अमृता०—१६८. ऋरामेति । वैष्णवादौ कपिलवर्जिते प्रत्ययेपरे सहजानिट ऋरामोद्भवधातोरुत्तरे अमागमो वा स्यात्। गोविन्दापवादएषः।अक्राक्षीदीति-अमो मरामेत्त्वात्अरा· मात् पर स्थितिः,ततश्च सन्धिः,। वृष्णीन्द्र इति-विष्णुजनादे लंघोररामस्येत्यादिनेति शेषः । अक्राष्टामिति—सेर्हरः, तवर्गस्य टवर्गश्च । वर्ढेति–वृहू धातो रनिट्पक्षे कृति तृल् प्रत्ययः । लघूद्भवस्य गोविन्दः, हस्यढः, हरिघोषात्तथोरिति प्रत्यय तरामस्य धरामः, टवर्गत्वञ्च, ढस्य हरो ढे, ऋराम सखिभ्यामिति सोराच् । वृहू धातोरामेत्त्वाद् विकल्पितेट्त्वं, शकादिष्व पाठान्न सहजानिट्त्वमिति नच अमित्याकूतम् । हरिगोत्रान्तादिति किम्—अभैत्सीत् ।

अकपिल इत्येव—अतृप्थाः, । अम्राक्षीदिति—मृजूष् शुद्धा वित्यस्मादम् भवतीति प्रक्रिया कौमुदीमतम्; तत्तु न समीचीनं, तस्य सहजानिट्त्वाभावात्, अतस्तन्मतं चिन्त्यमिति भावः, । तस्यासमीचीनत्वे काशिका लिखनमेव प्रमाणमित्याह—अमागम इति । सृजि-मृजी विद्धचनिट् स्वरानित्यनेनानिट् गणे पठिते ऽपि नहि काशिका सम्मतः यथा–"मृजिरयमूदित् पठ्यते । ततोऽस्य विकल्पेनेटा भवितव्यं मार्ष्टा मार्जिता इति । अमागमो-

"षढौ कः से" इति कथं न प्रवर्त्तते इति चेत्तत्राह,—कविधाविति कविधाने समात्रस्य निमित्तत्वेन अप्रत्ययरूपनिमित्तत्वात् प्रत्ययरूपनिमित्तत्वाभावात् सरामस्येति शेषः हरस्य महाहरत्वम् अतो न कत्वम् । अक्रड्ढ्वमिति षस्य हरे कृते "षस्य डो विष्णुपदान्ते हरिघोषे चे"त्यनेन षस्य डत्वं, 'षात् परस्ये"त्यादिना धस्य ढत्वम् ।।१६७।।

बाल०—ऋरा । वैष्णवादौ कपिलेतरे परे ऋरामोद्भवात् सहजानिट उत्तरे अम् वा भवति । म इदिति अतोऽन्त्यसर्वेश्वरात् परमस्य स्थानम् । अक्राष्टामिति सिहरस्तस्य टत्वम् । वैष्णवादाविति किम् चकर्षिथ । अवाड्ढ्वेति भूतेशमध्यमपुरुष-बहुवचनं-त, धातोः पूर्वमत्, सिस्तस्य हरः, "बिष्णुजनान्तानामानिटामि" त्यनेन वृष्णीन्द्रः, हस्य ढ़ः, तस्य धः, धस्य ढ़:: "विष्णुदास विष्णुपदान्त" इत्यदिना ढस्य ड़: । नास्य सहजानिट्त्वम् । किन्तु उरामेत्त्वात् 'स्वरति सूति सूयति' त्यादिना विकल्पितेट्त्वम् आत्मपदे तु ऋद्वयादत्यादिना कपिलत्वात् अव्रढ़ेति भवति । अव इति नम्राक्षीदिति मृजूष् शुद्धावित्यस्य रूपमिति प्रक्रियामतं सहजानिट् त्वाभावात् तत्तु न भवतीति चिन्त्यत्वमुक्तम् । तस्य तु अम-

* विद्यारत्नादि मुद्रितग्रन्थे अवर्ढेति पाठस्तु लिपिकार प्रमादः, काशिका भाषावृत्त्यो स्ताहश-पाठादर्शनात् । तयोः प्रत्युदाहरणं यथा–अनुदात्तस्येति किम्–वर्ढा वर्ढुं मिति । तेन चात्र मूलानुसारिणी बालबोधिनी टीकापि भ्रान्ता ।

सेरभावपक्षे—

१६६. ईशोद्धवादनिटो हरिगोत्रान्तात् सक् भूतेशे दृशिं विना ।

क्स पा, कइत् ।

कत्व-षत्वादि । कपिलत्वान्नाम् । अकृक्षत्, अकर्षि ।

१७०. सकोऽन्तरहरः सर्वेश्वरे ।

अकृक्षाताम् अकृक्षत । ननुवहुन्वम् इति कालापाः—अकृक्षन्त। अकृक्षथाः।

अकृक्षि । चकर्ष । चकृषे । कृष्यात् कृक्षीष्ट ।

रुष् रिष् हिंसायाम् ।

ऽप्यस्य न दृश्यते । यदस्य पाठस्य प्रयोजनं चिन्त्यम् । केचिदस्य स्थाने विजि पठन्तीति तदुक्तिः ।

अमृता०—१६६. इशेति । दृशिर् प्रेक्षणे इत्येतं विना हरिगोत्रान्तादीशोद्धवादनिट। धातोरुत्तरे भूतेशे सक् आगभो भवति । सेर्वाधकोऽयम् । अकृक्षदिति—षढोः कः से, षत्वं, कष संयोगे क्षः । अनिट इत्येव, अन्यथा न—अगूहींत् । ईशोद्धवेति किम्—अधाक्षीत् । हरिगोत्रान्तादिति किम्—अभैत्सीत् ।

अमृता०—१७०. सक इति । सर्वेश्वरे प्रत्यये परे सकोऽन्त वर्णस्य (अरामस्येत्यर्थः) हरो भवति । अकृक्षतेति—सकोऽन्तहरे कृते अरामान्यवर्णादित्यादिना नस्य हरः । नतुवहुत्व इति —वहुक्चने सकोऽन्तस्य नस्यादिति कालापा वदन्ति । तथाहि तत्सूत्र प्रत्युदाहरणश्च—सनोऽलोपः स्वरेऽवहुत्वे । अवहुत्व इति किम्—अघुक्षन्त इति । तेन अकृक्षन्तेत्यत्र सकोऽन्तहरो न, किन्तु अरामहर एअयोरित्यादिना अरामहरः । अरामहरस्य निमित्तमरामः पूर्ववच्चेति न नस्यहर इत्यर्थः ।

ननु अकृक्षतेत्यत्र सकोऽरामे हरे अरामहरस्य निमित्त मरामः पूर्ववच्चेति पूर्ववत्त्वे कथमान्यवर्णादित्यादिना नराम हरः क्रियत इति चेत् ? श्रूयताम्—अरामहरो रामधातुक

र्जीत् अमार्क्षीदिति भवति । चिन्त्यत्वे काशिकालिखतमपि प्रमाणमित्याह—अमागमोऽपीति अस्येति सृजधातोरित्यर्थः । अनिड् गणे पठितस्याप्यस्य मृजधातोरमाग्मो न दृश्यते इति काशिका वदन्ति ।।१६८।।

बाल०—ईशो । दृशिर् प्रेक्षणे इत्येतं विना हरिगोत्रान्तादानिट् ईशोद्धवादुत्तरे भूतेशे सक् भवति । अनिट इति किंम् ? अगूहीत् अकोषीत् । ईशोद्धावादिति किन् ? दह—अधाक्षीत् दृशेस्तु अद्राक्षीत् ।।१६६।।

बाल०—सको । सर्वेश्वर परे सकोऽन्तस्य हरो भवति । अकृक्षतेति अन्तहरे कृते 'अरामान्यवर्णादि' त्यादिना नस्य हरः । नत्विति वहुत्वे सकोऽन्तहरो न भवतीति कालापा वदन्ति । अकृक्षन्तेति 'नराम हरः' इत्यादिना अरामहरः अरामहरस्य निमित्तमरामः पूर्व-

१७१. इषु सह लुभ रुषरिष इड्वा ते ।

रोषिता रोष्टा । उष् दाहे ।

१७२. उष वेत्तिजागृभ्य आमधोक्षजे वा ।

ओषाम्बभूव उवोष । मिह सेचने । सक्, हस्य ढः, कत्व-षत्वे । अमिक्षत् । बालकल्कौ— गोविन्दः, हस्य ढः, हरि घोषादिति धत्वं, षात्पर स्येति ढत्वम् ।

इति तथा अरामहर एअयोरित्येताभ्यामेव विहितारामलोपस्य स्थानिवत्त्वं पूर्ववत्त्वं वा स्वीक्रियते नत्वन्यलक्षणैरिति । तेनारामहरो रामधातुके इत्यनेन कथधातोरन्तारामहरे तस्य स्थानिवत्त्वेन उद्धवारामस्येति न वृष्णीन्द्रः । तथारामहर एअयोरित्यनेन चिती धातोर्यकोऽरामहरे तस्यपूर्ववत्त्वेन चिन्त्यन्ते इत्यत्र न नस्य हरः । इह तूभयविधारामहरयो रेकतरस्याप्यभावान्न पूर्ववत्वं ततएव नस्य हरः सिद्ध इति विवेच्यम् । चकृषे इति–असंयोगादलिदधोक्षजः कपिल इति न गोविन्दः ? से चकृक्षे; ध्वे–चकृड्ढ्वे । कृक्षीष्टेति–ऋद्वयादित्यादिना कपिलत्वान्नगोविन्दः ।

अमृता०—१७१. इष्विति । इषु इच्छायां, सहमर्षणे, लुभ विमोहने तुदादिः, लुभ गार्द्ध्ये दिवादिश्च,रुष रिष हिंसायां भ्वादि दिवादिश्च एतेभ्य उत्तरे इड् वास्यात् तरामादिरामधातुके परे । नित्य प्राप्ते विभाषावचनम् । सानुबन्ध निर्देशाद् इष गतौ दिवादिकस्य तथा इष आभीक्ष्ण्ये क्र्यादिकस्य च न ग्रहणम् । तेन प्रेषिता प्रेषितव्यमित्यादौ नित्य मिट् । तेइति किम्—एषिष्यति । व्यवधाने च न–ऐषिष्ट ।

अमृता०—१७२. उषेति । उष दाहे, विद ज्ञाने, जागृ निद्राक्षये इत्येतेभ्य उत्तरे अधोक्षजे परे अम् स्याद् विभाषया । वेत्तीति निर्देशाद् विद् सत्तायामित्यादेर्निरासः । ओषाम्बभूवेति–लघूद्धवस्यगोविन्दः, आमः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्त इति भुवोऽनुप्रयोगः । उवोषेतिगोविन्दः, स्थानिवत्त्वे नोरामस्य द्विवचनं, नरेदुतोरियुवाविति उव् । थलि-उवोषिथ । एवं दह–दाहामास ददाह । विद-विदाञ्चकार विवेद इत्यादि । मिह–भूतेश कर्मणि अमेहि । अधोमिमेह मिमेहिथ । काम–मिह्यात् मिक्षीष्ट ।

वच्च तत्रा न नस्य हरः । चकृष इति असंयोगादलिदधोक्षजः कपिल इति कपिलत्वात् कंसारित्वमतो अ गोविन्दः । कृष्यादिति कामपालपरपदं कपिलत्वान्न गोविन्दः । कृक्षीष्टेति 'ऋद्वयादि' त्यादिना कपिलत्वम् ।।१७०।।

बाल०—इष । इषु इच्छायां भ्वादिः, इषु आभिक्ष्ण्ये क्र्यादि द्वयोरेव ग्रहणम् । सह मर्षणे, लुभ विमोहने तुदादिः, लुभ गार्द्ध्ये दिवादि द्वयोरेव ग्रहणम् । रुष रिष हिंसायाम् इत्येतेभ्य उतरे ते परे इड्वा भवति । रुष रोषे इत्यस्यापि ग्रहणमिति ज्ञेयम् ।।१७१।।

बाल०—उष । उष दाहे, विद ज्ञाने, जागृ निद्राक्षये इत्येतेभ्य उत्तरे अधोक्षजे परे आम् वा भवति ।वेत्तीति निर्देशों विदसत्तायामित्यादीनां निरासार्थम्। ओषाम्बभूवेति आमः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्त इति भुवोऽनुप्रयोगः ।।१७२।।

१७३. ढस्य हरो ढे पूर्वस्य त्रिविक्रमश्च ।

मेढा । अत्रतु गोविन्देन त्रिविक्रमः सिद्धएव ।

१७४. ऋरामस्य न ।

कृति तृणहू-क्तः तृढः । कथं कंसजिड् ढौकते? तत्राकरणात् ।

दह् भस्मीकरणे । दादेरिति घत्वं, जवर्ज हरिगदादे रित्यादिना हरिघोषत्वम्—अधाक्षीत् । हरिघोषविधौ समात्रस्य निमित्तत्वात् पूर्ववन्महाहरत्वम् अदाग्धाम् । ध्वंशब्दे तु अधग्ध्वम् ।

रह् त्यागे । अरहीत् । रहि गतौ परत्वाण् णत्वं बाधित्वा विष्णुचक्रं, रंहति । विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वर धर्मत्वात्तद् व्यवधानेऽपि णत्वं—रंहाणि ।

अमृता०—१७३. ढस्येति । ढरामे परे ढस्य हरः स्यात् पूर्वस्य त्रिविक्रमश्च स्यात् । त्रिविक्रमविधान प्रयोजनं लीढ इत्यादौ बोध्यम् । नचेहान्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे इत्यादि न्यायेन ढलोपे कर्त्तव्ये टवर्गत्वमसिद्धमिति वाच्यं, ढलोपस्य निमित्तमेवात्र टवर्गविधिरिति तस्य नासिद्धत्वम् ।

अमृता०—१७४. ऋरामस्येति । ढस्यहरे कृते ऋरामस्य त्रिविक्रमो नस्यात् । तृढ इति-तृणह्+क्तस्य क इत् । अनिरामेतामित्यादिना नरामहरः, हस्यढः, हरिघोषादिति प्रत्यय तरामस्य धत्वं; षात् परस्येति धस्य ढत्वं, ढस्य हरो ढे इति तस्य हरः, किन्तु ऋरामस्यं न त्रिविक्रमः । आशङ्कते—कथमिति । कंसजिड् ढौकत इत्यत्र दतौपरवर्णावित्यनेन तरामस्य ढरामेकृते हरिगदा विधानात् प्रागेव ढस्य हरोढे इति कस्मान्न प्रवर्त्तत इति शङ्का तत्रोत्तरं—तत्राकरणादिति । असिद्ध रूपं न त्याज्यमित्यादि प्रतिज्ञानुरोधेन तत्रैवेदं कर्त्तुमुचितमपि ततो न कृतं तस्मात्तत्राकरणात् ढस्य हरो न भवतीत्यर्थः ।

ननु अदाग्धामित्यत्र वृष्णीन्द्रे सेर्हरे च कृते तस्य स्थानिवत्त्वेन निमित्तत्वं मत्वा जवर्जेत्यादिना हरिघोषो विधीयतामिति चेत्? युक्त्या तन्निरस्यति—हरिघोषेति । तत्राप्रत्ययनिमित्तत्वात् सेर्महाहरत्वं मन्तव्यमित्यर्थः । ध्वंशब्देत्विति—हरिघोष विधानसूत्रे परनिमित्तत्वेन साक्षात् ध्व शब्दग्रहणात्हरिघोषत्व मबाधितमेवेति न महाहरत्वाशङ्केतिभावः अरहीदिति-हम यान्तेत्यादिना वृष्णीन्द्र निषेधः ।

बाल०—ढस्य । ढे परे ढस्य हरः पूर्वस्य त्रिविक्रमश्च भवति । अत्र त्विति मेढेत्यत्र गोविन्देन त्रिविक्रमः सिद्ध एवेति त्रिविक्रमविधानस्य प्रयोजन स्थानान्तरज्ञेयमिति ।।१७३।।

बाल०—ऋरा । ढस्य हरे कृते ऋरामस्य त्रिविक्रमो न भवति । तृढ् इति तृढ़ू हिंसायाम्, 'अनिरामेतामि' त्यादिना नरामहरः, हस्य ढः, हरिघोषादिति धत्वं, षात् परस्येति ढत्वं,ढस्यहरकथमिति कंसजिड़ ढौकत इत्यत्र 'दतौपरवर्णावि'त्यादिना तरामस्य ढरामेकृते हरिगदा विधानात् पूर्वमेव ढस्य हरः कस्मायस्यादिति सिद्धान्तमाह,— तत्राकरणादिति 'असिद्धरूपं, न त्याज्यमि ति प्रतिज्ञासिद्धयर्थमिदं तत्रैव कर्त्तुं योग्यमपि यन्न कृतं तस्मा-

वृहि वृद्धौ । वृंहति । वृंहेःस्वरेऽनिटि वा नलोपइति कालापाः । वर्हति । कृतिच-वृंहकः वर्हकः । येषां प्रकृत्यन्तरमस्ति तेषां मते विष्णुजनादावपि रूपद्वयेसिद्धे दोषः स्यादिति चाहुः । कृवि हिंसायाम् । हरिमित्रान्तोऽयम् ।

कृण्वति । अट्कुप्वाङ्नुम् व्यावायेऽपीति सूत्रे नुमानुस्वारमात्रव्यवधानं णत्वविधौ गृह्यत इति पाणिनीयाश्च । तेनेह नणत्वम्—कृण्वानि । तृणहू हिंसायामित्यस्य कृति तृंहणमित्यादौ तु स्यात् ।

ग्लैहर्षक्षये । ग्लायति ।

ननु रहिं धातो र्नुमागमे सति रषऋद्वयेभ्य इत्यादिना किं णत्वं विधेयमुत अविष्णुपदान्तस्यैत्यादिना विष्णुचक्र मिति विप्रतिषेधे समाधत्ते—परत्वादिति । पूर्व परयोः पर विधिर्वलवानिति न्यायेन परो यो विष्णुचक्रविधिः सएव वलवानित्यर्थः । सर्वेश्वर धर्मत्वादिति— सर्वेश्वर—विष्णुजनयो र्मध्ये पाठाद् विष्णुचक्रस्योभयधर्म एवास्तीति कार्यानुरोधादत्र तस्य सर्वेश्वरत्वमङ्गीकारेण तद्व्यवधानेऽपि णत्वं मन्तव्यम् ।

वृंहेःस्वर इति—कृष्णधातुके शयोऽनिट्स्वरत्वात्तत्रापि कालाप मते विभाषया न लोपः सिध्यति । तेन वृंहति वर्हति चेति रूपद्वयम् । येषामिति—प्रकृत्यन्तरं वृह धातुरस्ति (येषां पृथक् वृहधातोः पाठोऽस्तीत्यर्थः) तेषां मते विष्णुजनादौ प्रत्ययोऽपि रूपद्वये सिद्धे दोषः स्यादिति च कालापा आहुः । पाणिनीया हि वृहि (वृद्धौ) धातु द्वयं पठन्ति । तन्मते यकि तयो र्वृह्यते वृंह्यते इति द्वयं सिध्यतीति तन्मतमेवाक्षिप्यते कालापैः । यतो वृह्यते इति तन्मते अपपदमिति । अवृंहीत् । ववृंह, ववर्ह इतिच कालापमते ।

कृण्वतीति—कृवे वरामस्य हरिमित्रत्वेन वैष्णवत्वाभावाद् न विष्णुचक्रमिति वाधकाभावाद्णत्वमेव । कर्मणि कृण्व्यते । अट्कुप्वाङिति—अट् सर्वेश्वर हयवराणां प्रत्याहारः कुपू कवर्ग-पवर्गौ, आङ् नुमित्येतेषां व्यवधानेऽपि रषादि निमित्तात् परस्य नस्य णत्वं स्यादिति पाणिनीय सूत्रार्थः । तेनेह न णत्वमिति—अनुस्वार व्यवधानाभावादितरव्यवधानाच्चेत्यर्थः । अकृण्वीत्, चकृण्व, चकृण्विथ । तृंहणामिति—नुमानुस्वार मात्र ग्रहणादत्र विष्णु चक्रसत्तातो णत्वमित्याशयः ।

तत्राकरणान्न ढस्य हरः । ननु अदाग्धामित्यत्र सेर्हरे कृतेऽपि 'जवर्जे' त्यादिना हरिघोषत्वं कथं नस्यादिति चेत्तत्राह,—हरिघोषाविधाविति । ध्वं शब्दे तु परे महाहरत्वेऽपि हरिघोषत्वं भवत्येव एवम् अधंगध्वमिति । अरहीदिति 'हमयान्ते' त्यादिना वृष्णीन्द्रनिषेधः, परत्वादिति 'पूर्वपरयोः परविधिर्बलवानि'ति अविष्णुपदान्तस्त नस्ये'त्यादिना विष्णुचक्रमेव । सवश्वरधर्मत्वादिति सर्वेश्वरस्य धर्मत्वादित्यर्थः । वृंहेरिति इङतिरिक्ते स्वरे परे वृंहे र्नलोपो वा भवतीति कालापा वदन्तीति शेषः । वृंहक इति णकप्रत्ययः कृत् । येषामिति—येषां प्रकृत्यन्तरं वृहधातुरस्ति तेषां मते विष्णुजने इति च रूपद्वये सिद्धे सती दोषः स्या-

१७५. चतुर्व्यूहान्तानामारामान्तपाठोऽशिवे ।

यक्—ग्लायते । पाठ ग्रहणात् सुगिटौ सौ—अग्लासीत् अग्लासिष्टाम् ।

१७६. आतो युगिणि नृसिंह कृति च ।

अग्लायि ।

१७७, आरामाण्णल औः ।

जग्लौ ।

१७८. आरामहरः कंसारि सर्वेश्वर रामधातुके इटि उसि च ।

अमृता०—१७५. चतुर्व्यूहेति । अशिवे प्रत्यये विषये चतुर्व्यूहान्तानां धातूनाम् आरामान्तपाठो भवति । अशिव इति प्रसह्यप्रतिषेधोऽयम् । तेनैतदात्वमनैमित्तिकं प्रागेव प्रत्ययोतपत्ते र्भवतीति काशिका । अतएव कृति—कर्मण्यनुपेन्द्रादारामात् क इत्यनेन त्रैङ्-धातो र्भक्त्र इति सेत्स्यति । पाठ शब्दोपादानात् सहजारामवदस्य कार्यमित्यर्थः । तेन **यम रम णमारामान्तेभ्य** इति सुगिटौ ।

अमृता०—१७६. आत इति । इणि नृसिंह कृति च परे आरामान्ताद्धातोरुत्तरे यक्इत्यागमो भवति । अग्लायीति इण स्तोहरः । नृसिंह कृति यथा—दायकः गायमि त्यादि । इणि कृती त्येव किम्—णलि जग्लौ । तद्धिते नृसिंह इः—सु मित्राया अपत्यं सौमित्रि रित्यादौ नयुक्, धातोरित्यधिकारेण तत्राप्रसङ्गात् ।

अमृता०—१७७. आरामादिति । आरामादुत्तरस्य णलस्थाने औरादिश्यते । जग्ला-विति—नरिविष्णुजनानामादिः शिष्यते, नरस्य वामनः, कवर्ग नरस्य चवर्गः ।

दिति च आहुः कालापा इति शेषः । विष्णुजनादावित्यादि शब्दश्चिन्त्यः अथवा विष्णुजन आदिर्यस्य तस्मिन् प्रत्यये इत्यर्थः । कृण्वतीति वैष्णवपरत्वाभावात् न विष्णुचक्रमतो णत्वमेव । अड़िति अट् कुप्विति अच ह य व व कवर्ग पवर्गाणां संज्ञा । अनुस्वारस्यैव व्य-वधानमित्यर्थः । नुमानुस्वारमात्रं णत्वविधौ गृह्यत इत्येव पाठः सभ्यः । तृंहणमित्याद्यौ नुमोऽसद्भावेऽपि अनुस्वारस्य विद्यमानत्वात् णत्वं भवत्येव ॥१७४॥

बाल०—चतु । अशिवे विषये चतुर्व्यूहान्तानाम् आरामान्तरूपेण पाठो भवति । चतुर्व्यूहस्य स्थाने आरामो भवतीत्यर्थः । अशिवे विषये इति व्याख्यानात् प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेवारामान्तपाठो भवतीति बोद्धव्यम् अतएव कृत्प्रकरणे कर्मण्यनुपेन्द्रादारामात् क इति सूत्रस्य त्रैङ् भक्त्र इत्युदाहरणं वक्ष्यते । पाठग्रहणादिति पाठशब्दग्रहणात् सहजारामान्त-वद्व्यवहारः अतो 'यम-रम-मनारामान्तेभ्य' इत्यादिना सुगिटौ ॥१७५॥

बाल०—आतो । इणि नृसिंहकृति च परे आत उत्तरे युग् भवति । अग्लायीति 'इणू भूतेश ते भावकर्मणोरि' तीण्, इणस्तहरः ॥१७६॥

बाल०—आरामा । आरामादुत्तरस्य णलः स्थाने औ भवति । जग्लाविति नर-विष्णुजानान्तानामादिः शिष्यतेः नरस्य वामनः, कवर्गनरस्य चवर्गः ॥१७७॥

आरामहरस्य स्थानिवत्त्वाद् द्विवचनम्। जग्लतुः। उत्तमणलित्यत्र नृसिंह कार्यकर इति किम्—जग्लौ। पक्षे औ नाभविष्यत्।

१७९. सत्संगादेरात एरामः कपिल-कामपाले वा।

ग्लेयात् ग्लायात्। ग्लासीष्ट ग्लायिषीष्ट।

ग्लैगात्रविनामे। गैशब्दे। गायति।

अमृता०—१७८. आरामेति। कंसारिश्चासौ सर्वेश्वरश्च कंसारिसर्वेश्वरः, सचासौ रामधातुकश्चेति कंसारिसर्वेश्वर रामधातुकः, तस्मिन् परे तथा इटि उसि च परे धातोरन्ताराभस्य हरो भवति। कंसारोति किम्—जग्लौ। सर्वेश्वरेति किम्—ग्लायते। रामधातुकइति किम्—यान्ति। प्रत्ययसन्वन्धित्वादिटो रामधातुकत्वं, तस्य पुनरलित्त्वात् कपिलत्वम्। ततो जग्लिव जग्लिमेत्यादिष्वारामहरे सिद्धेऽपि सूत्रे इट् ग्रहणाफलं थलि—जग्लिथेत्यत्र ज्ञेयम्। अधोक्षजोसि कंसारीन्यादिनैवेष्टसिद्धे पुन रुस् ग्रहणम्—आरामादन उस् भूतेश्वरस्य तु वेत्येदर्थमावश्यकमित्यग्रे दर्शयिष्यते।

उत्तमणालित्यादिलक्षणे कार्यकर इति पदोपादान साफल्यं दर्शयति—पक्षेऔर्नाभविष्यदिति। उत्तमणल् नृसिंहो वेत्येव लक्षणे कृते नृसिंहाभाव पक्षे औ र्न स्यात्, ततो जग्ला इत्यसिद्ध रूपं स्यादित्यर्थः। अत्र—वस्तुतस्तु नैव तथा वक्तु शक्यते। नतु णल उपदेशावस्थायां सिद्ध णित्त्वं तद्वचन शतेनापि शक्य प्रतिषेद्धुमिति न्यासकारः। तेनात्र नृसिंह कार्यकरत्वे तदभावे वा जग्लौ इत्येकमेव पदं सिद्धमिति ध्येम्। यलि—जग्लाथ जग्लिथ। जग्ले।

अमृता—१७९. सदिति। सत्संग आदि र्यस्य ससत्सङ्गादिस्ताद्दशस्य धातोरन्ताराभस्य विकल्पेन एरामः स्यात् कपिलकामपाले परे। कामपाल परपदं कपिल इति पर पदमेवास्य विषय इत्यर्थः। ग्लासीष्टेति आत्मपदस्य कपिलत्वाभावान्न एरामः। ग्लायिषीष्टेति-सहज सर्वेश्वरान्त हन ग्रह द्दशिभ्य इति इण्वदिटि आतो युक। सत् सङ्गादेरिति किम्—यायात्। गात्रविनाम इति गात्रकान्ति क्षय इत्यर्थः।

बाल०—आरामः। कंसारिश्चासौ सर्वेश्वरश्चेति कंसारि-सर्वेश्वरः, स चासौ रामधातुकश्चेति तस्मिन् इट उसि च परे आरामहरो भवति। जग्लतुरिति असंयोगादलिदधोक्षजः कपिलः इति कपिलत्वात् कंसारित्वम्। उत्तमेति—उत्तमणल् नृसिंहकार्यकरो वेत्यत्र लक्षणा कार्येति नृसिंहो वेत्येवास्त्विति शेषः। पक्ष इति नृसिंहो वा इति कृते पक्षे णलत्वाभावात् आरामाण्णल औ इति न स्यात्। ततोऽसिद्धरूपं स्यात् तस्मात् कार्यकरपदोपादानात् वृष्णीन्द्रस्यैव पाक्षिकता ॥१७८॥

बाल०सत्स। सत्सङ्ग आदिर्यस्य ताद्दशस्य धातोरारामस्य स्थाने कपिलकामपाले परे एरामो वा स्यात्। ग्लेयादिति कामपालपरपदं कपिल इति कपिलत्वम्। सत्सङ्गादेरिति किम्—यायात्। सत्सङ्गादेरिति नातो विशेषणं तेन निय्ययादिति। ग्लायिषीष्टेति 'सहसवश्वरान्त-हनग्रह-द्दशिभ्य इण्वदिड् वा स्यसि-कामपाल-बालकल्किषु भावकर्मणोरि'

१८०. दामोदरमा-स्था-गा-पिबति-जहाति-स्यतीनामी विष्णुजन-रामधातुक-कंसारौ ।

मेति मा-माङौ, गै-गाङौ गृह्येते ।

१८१. दामोदरादीनामेरामः कपिल-कामपाले ।

गेयात् । दैप शाधने । परामइत् । दायति । कर्म्मणि दायते । दामोदराभावान्नेत्वम्, नसेर्महाहरश्च । अदासीत् । अदायि । एत्वञ्च न-दायात् । धेट् पाने । टइत् कृत इवर्थः । धयति धीयते ।

१८२. धेट् श्विभ्यामङ् वा भूतेशेकर्त्तरि ।

अमृता—१८०. दामोदरेति । विष्णुजनश्चासौ रामधातुकश्चेति विष्णुजनरामधातुकः, सचासौ कंसारिश्चेति तथा तस्मिन् परे दामोदरसञ्ज्ञकानां तथा मामाने अदादिः, माङ् माने दिवादि ह्लादिश्च, मेङ प्रणिदाने ष्ठागति निवृतौ, गैशब्दे, गाङ् गतौ, पा पाने, ओहाक् त्यागे, षोऽन्तकर्मणि इत्येतेषाञ्चान्तवर्ण ईरामो भवति । पिबति निर्देषात् पारक्षणे इति निरस्तः । जहाति निर्देशात् ओहाङ् गतौ ह्लादि निरस्तः । अगासीत्, अगायि । जगौ, जगिथ जगाथ विष्णुजनेति किम् ददतः । रामधातुक इति किम् माति । कंसाराविति किम्—दाता ।

अमृता—१८१. दामोदरादीनामिति । कपिल कामपालेऽर्थात् परपदे पूर्वं सूक्तानां दामोदरादीनां धातूनामन्तवर्ण एरामो भवति कपिलेति किम्—गासीष्ट । बाल-गाता गायितेत्यादि । नेत्वमितिदामोदर-मा-स्थेत्यादिना ईरामो न । इण स्था पिबतीत्यादिना सेर्महाहरश्च नेत्यर्थः । अदासीदिति- सुगिटौ सौ ।

ति इण्वदिट् । आतोयुर्गिणि नृसिंह कृति चेति युक् । म्लै गात्रविनाम इति । विनामः कान्तिक्षल. ॥१७९॥

बाल०— दामो । विष्णुजनश्चासौ रामधातुकश्चेति विष्णुजनरामधातुकः, स चासौ कंसारिश्च तस्मिन् दामोदरस्य मा माने अदादिः, माङ् माने ह्लादिर्दिवादिश्च, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, गै शब्दे भ्वादिः, पा पाने, ओहाक् त्यागे, स्यो अन्तकर्म्मणि इत्येतेषाञ्च अन्त ईरामो । भवति । पिबतीति निर्द्देशः पा रक्षण इत्यस्य निरासार्थः। जहातीति निर्द्देशः ओहाङ् गतावित्यस्य निरासार्थः । स्यतीति निर्द्देशस्तु दैवादिकत्व सूचनार्थो न त्वन्यनिरासार्थः । यङ् लुकि ईराम विधानाभावार्थश्च ॥१८०॥

बाल०—दामो । कपिलकामपाले परे दामोदरादीनामन्त एरामो भवति । कपिलेति किम्? गासीष्ट नेत्वमिति 'दामोदरमास्थे' त्यादिनासेर्महाहरः । एत्वं च नेति दामोदरादीनामित्यादिना न एरामः । ट इत् कृत इवर्थः इति टरामस्य इत्वं स्तनन्धयीत्यादौ कृत प्रत्ययान्तात् ईप् प्रत्ययार्थमित्यर्थः । धीयत इति 'दामोदरमास्थे' त्यादिना ईरामः ॥१८१॥

ङइत् अराम शेषः । चङ्पा । आरामान्तपाठः । आरामहरः, स्थानिवत्वाद् द्विवचनम् । अदधत् अदधताम् अदधन् ।

१८३. घ्रा-धेट्-शा-छा-साभ्यः सेर्महाहरो वा परपदे ।

अधात् अधाताम् ।

१८४. आरामादान उस् भूतेश्वरस्य तु वा ।

अधुः । अत्रारामहरेऽपि न नैमित्तिकापायः। यं दृष्ट्वा यस्योत्पत्तिः सतस्य सन्निपातः; सन्निपातलक्षणविधिरनिमित्तं तद्विघातायेति न्यायेन । तथा कृष्णायेत्यत्र त्रिविक्रमश्च यकार विघाताय न स्यात्। पक्षे अधासीत् । कर्मणि अधायि, अधायिषाताम् ।

अमृता—१८२. धेटिति । भूतेशे धेट् पाने, टुओश्वि गति-वृद्धयोरित्येताभ्यामुत्तरे कर्त्तरि वाच्ये अङ् वा स्यात् । कर्त्तरीति किम्—अधि सानू गावौ वत्साभ्याम् । अदधदिति—धातो द्विवचनमित्यादिना अङि द्विवचनं, ततो नरस्य हरिगदा ।

अमृता—१८३. घ्रा.धेटिति । घ्रागन्धोंपादाने, धेट् पाने, शो तनूकरणे, छोछेदने, षोऽन्त कर्मणि इत्येभ्यः परस्य सेर्महाहरो वा स्यात् परपदे । सेनित्ये प्राप्ते विभाषार्थमिदं वचनम् । परपदे इति किम्—अघ्रासातां सुमनसौ कृष्णेन ।

अमृता०—१८४. आरामादिति । आरामादुत्तरस्य अन् प्रत्ययस्य उस् आदिश्यते, भूतेश्वरस्य त्वन् उस् वादिश्यते । अत्राकृतसिलुक आरामान्तादेव अन् उस् विधीयेते । अन्यश्च आरामान्तेभ्यस्तु सुगिटौ तेन अग्लासिषु इत्यादिर्नास्य विषयः । आरामान्तादेव सिलुक अन्उस् क्रियते नान्यस्मात्, तेन अभूवन् ।

ननु अधुरित्यत्र निमित्तारामे हरे नैमित्तिकस्य उसः कथं नापाय इतिचेत् तत्र परिभाषामाह-सन्निपातेति । सन्निपातलक्षणान्वितो विधिस्तद् विघाताय तज्जन्य-विघाताय निमित्तं न भवतीत्येषा मर्यादा । तल्लक्षणं—यंदृष्ट्वेत्यादि । अत्र उसं दृष्ट्वा आरामहरस्योत्पत्तिरित्यारामाहर उस् सन्निपातः, तेनारामहर उस्नाशाय न प्रवर्त्तत इत्यर्थः । अन्यच्च दृष्टान्तयति—तथेति । तत्र यरामं दृष्ट्वा त्रिविक्रमस्योत्पत्तिरिति त्रिविक्रमो यरामस्य सन्निपातत्वात् तद् विघातार्थं न प्रवर्त्तत इत्यर्थः । पक्षइति सिहराभाव पक्षे सुगिटौ । अधायिषातामिति—सहजसर्वेश्वरान्तेत्यादिना इण्वदिटि आतो युक् ।

बाल०—धेट् । भूतेशे परे धेट् पाने, टुओश्वि गतिवृद्धयोः इत्येताभ्यामुत्तरे कर्त्तरि वाच्ये अङ् वा भवति । आरामहर इति "आरामहरः कंसारिसर्वेश्वर रामधातुके इटि उसि चे" त्यनेनेति शेषः । अदधदिति "हरिखड्गस्य हरिकमलं, हरिघोषस्य हरिगदा नरये" त्यनेन धस्य दत्वम् । अकर्त्तरि तु अधिषातां गावौ वत्सान् ।।१८२।।

बाल०—घ्राधेट । घ्रा गन्धोपादाने, धेट् पाने, शो तनूकरणे, छो छेदने, षो अन्तः कर्म्मणि इत्येतेभ्य उत्तरस्य सेः परपदे महाहरो वा भवति ।।१८३।।

१८५. स्था-दामोदरयोरिरामो वैष्णवादि सावात्मपदे सिश्च कपिलः ।

अधिषाताम् । पा पाने ।

१८६, पः पिबः, घ्रोजिघ्रः, ध्मो धमः, स्थ स्तिष्ठः, म्नो मनः, दाणो यच्छः, दृशेः पश्यः, अर्त्तेर्ऋच्छः, सर्त्तेर्जवार्थस्य धावः, शदेः शीयः, सदेः सीदः शिवे ।

अमृता०—१८५. स्थेति । वैष्णवादि श्चासौ सिश्चेति वैष्णवादि सिः, तस्मिन् परे आत्मपदे स्था धातो र्दामोदर संज्ञकस्य चान्तवर्ण इरामः स्यात्, सिश्च कपिलः स्यात् । सेः कपिलविधानं गोविन्दवारणाय । यद्यपि इरामविधानसामर्थ्यादेव गोविन्दो बाध्यते तथापीह सेः कपिलत्वं यदुक्तं तेन हि गोविन्द प्राप्त्याशङ्काया वीजमपि निरस्तंम् । स्था-दामोदरयोः कर्त्तरिखल्वात्मपदे—अस्थित अधितेत्यदौ वामनवैष्णवाभ्यामित्यादिना वामनपूर्वकस्य सेर्हरार्थमेतद् विधानं ज्ञेयम् । दामोदरेति किम्—अदास्त । वैष्णवादि सावित किम् अधायिषाताम् । आत्मपदे इत्येव । अन्यथा—अस्थादिति ।

अमृता०—१८६. पः पिव इति । शिवे प्रत्यये परे पा पाने, घ्रागन्धोपादाने, ध्मा शब्दाग्नि संयोगयोः, ष्ठा गति निवृत्तौ, म्ना अभ्यासे, दान दाने, दृशिर् प्रेक्षणे ऋ-सृ गतौ, शद्लृ शातने, सद्लृ विशरण गत्यवसादनेषु इत्येतेषामेकादशानां यथाक्रमं पिवादयादेशा भवन्ति । सर्वत्र अरामान्तादेशः कार्य विशेषसाधनार्थः ।

बाल०—आरा । आरामादुत्तरस्य अनः स्थाने उस् वा भवति, भूतेश्वरस्य तु अनः स्थाने उस् वा भवति । अधुरिति 'अरामहरः कंसारि सर्वेश्वरे' त्यादिना आरामहरः । अत्रेति अत्र आरामो निमित्तम् उस् नैमित्तिकः । यं दृष्ट्वेति अत्र उस् दृष्ट्वा आरामहरस्य उत्पत्तिरिति आरामहर उसः सन्निपातः । सन्निपातस्वरूपो विधिरामहरो न निमित्तमुस् विघातायेति । तथेति तत्र यरामं दृष्ट्वा त्रिविक्रमो यरामस्य सन्निपातः । अधायिषातामिति सहजसर्वेश्वरान्तेत्यादिना इण्वदिट्, आतो युगित्यादिना युक् । पक्ष इति इण्वदिड्भाव पक्ष इत्यर्थः ।।१८४।।

बाल०—स्था—दामो । वैष्णवादिश्चासौ सिश्च तस्मिन् परे आत्मपदे स्था—दामोदरयोरन्त इरामो भवति सिश्च कपिलवद्भवति । अधिषातामिति कपिलत्त्वान्न गोविन्दः आद्यन्तवदेकमिति वैष्णवादि-सिपरता वैष्णवादीत्युपादानात् अधायिषातामित्यादौ नेरामः। किदागमः पूर्व्वसम्बन्धींति युकोधात्ववयवत्वात्तत्प्राप्तिः स्यात् । ननु कपिलवत्त्वस्य गोविन्दनिषेध एव प्रयोजनं, गोविन्दस्तु इरामविधानसामर्थ्यादेव न भविष्यति अन्यथा एराममेव विदध्यात् तदेतत्कृतं स्पष्टतार्थं ज्ञापकलभ्यात् शब्दोऽर्थः स्पष्टो भवति ।।१८५।।

बाल०—पः पिब । पा पाने, घ्रा गन्धोपादाने, ध्मा शब्दाग्नि-संयोगयोः, ष्ठा गति-निवृत्तौ, म्ना अभ्यासे, दान दाने, दृशिर् प्रेक्षणे इत्येतेषामर्तेः सृ गतौ, शद्लृ शातने, सद्लृ

१८७, अन्तहरे न गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ ।

पिबति, पीयते । भूतेश्वरे— इणस्थेति अपात् ।

घ्रा गन्धोपादाने । जिघ्रति, घ्रायते । ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः । धमति । ष्ठागतिनिवृत्तौ ।

नरामजावनुस्वार-पञ्चमौ झलि धातुषु ।
सरामजः शरामश्चे रषाभ्यां टुस्तवर्गजः ॥

यथा शंस अञ्च व्रश्च् ऊर्णू ञ् ष्ठा इति ठमध्यस्य धातोरादौ सत्वे कृते निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यापः, पनिमित्तस्य ठस्य थत्वे—स्थस्तिष्ठः, तिष्ठति स्थीयते ।

१८८, उदः स्था स्तम्भोः सस्य हरः ।

अमृता०—१८७. अन्तेति । अन्तस्यसर्वेश्वरस्य हरेसति गोविन्द वृष्णीन्द्रौ न भवतः पिवतीति—अरामहर एअयोरित्यरामहरे लघूद्धवस्य गोविन्दः प्रसक्तः, सत्वनेन निषिद्धः । अधो—पपौ पपिथ पपाथ । काम—पेयात् पासीष्ट पायिषीष्टेत्यादि । घ्रा—अघ्रासीत्, जघ्रौ, घ्रायात् घ्रेयात् । एवञ्च ध्मा । नरामजाविति—धातुषु झलि वैष्णवे परे अनुस्वारः पञ्चमवर्णश्च नरामजत्वेन ज्ञेयः, चे (चरामे) परे शरामः सरामजो ज्ञेयः, यथा रषाभ्यामुत्तरः टवर्गः तवर्गः तवर्गजो ज्ञेय इत्यन्वयः । क्रमेणोदाहरति—यथेति । शंस अञ्च इत्यत्रानुस्वार—जरामौ वैष्णवपरत्वान्नराम जातौ । चरामपरत्वात् व्रश्च् इत्यस्य शरामः सरामजातः । तथा ऊर्णूञ् ष्ठा इत्यनयोः रषाभ्यामुत्तरौ णरामठरामौ नराम–थराम जातौ इति फलितार्थः ।

अमृता०—१८८. उद इति । उदुपेन्द्रात् परयोः ष्ठा गति निवृत्तौ स्तन्भु सौत्रधातुः इत्येतयोः सरामस्य हरः स्यात् । द्वित्व इति—विष्णुजने विष्णुजनो वेत्यादिना । आत्मपदं

विसरण गत्यवसादनेषु इत्येतेषाञ्च स्थाने शिवे परे यथाक्रमं पिबादय आदेशा भवन्ति । अर्त्तेरिति ऋ गतौ प्रापणे च भ्वादिः, ऋ गतौ ह्वादिर्द्वयोरेव ग्रहणम् । ऋगताविस्यस्य ग्रहणं शतृप्रत्यये इयृच्छदिति सिद्धयर्थमिपि ज्ञेयम् । जवार्थस्येति वेगार्थस्येत्यर्थः। अवेगे तु अनुसरति । ऋच्छधातोः ऋच्छतीति धावु धातो र्धावतीति सिद्धयत्येव, किन्तु ऋधातोर-र्च्छीति वेगेऽपि सर्त्तेः सरतीति स्यात् तन्निरासार्थं वचनम् ॥१८६॥

बाल०—अन्त । अन्तस्य हरे सति गोविन्दवृष्णीन्द्रौ न भवतः । पिबतीति "अरामहर ए-अयोरविष्णुपदान्ते" इति अरामहरः । 'लघूद्धवस्य गोविन्द' इत्यनेन गोविन्दः स्यात् । नरामजाविति धातुष्विति सर्व्वत्र योज्यं झलि वैष्णवे परे अनुस्वार-पञ्चमौ ज्ञेयौ । च परे शरामः सरामजो ज्ञेयः । रषाभ्यां परष्टवर्गस्तवर्गजो ज्ञेयः । क्रमेणोदाहरणमाह यथेति ॥१८७॥

उत्थीयते, द्वित्वे उत्त्थीयते। इणस्थेति सेर्महाहरः, अस्थात्। अस्यात्मनेपदञ्च वक्ष्यते। ततः स्था-दामोदरयोरिति—अस्थित, अस्थिषाताम्। आरामाण्णलऔः—तस्थौ। दामोदरादित्वान्नित्यमेत्वं—स्थेयात्। स्थाता उत्थाता। म्ना अभ्यासे। मनति। दान दाने नइत्, यच्छति, दीयते। दृशिप्रभृतयोऽग्रे दर्शयितव्याः।

स्मृ चिन्तायाम् स्मरति।

१८८, अर्त्ति-सत्संगाद्यृददन्तयो र्गोविन्दो यक्-कामपाल-यथोर्यङि च।

स्मर्यते। अस्मार्षीत् अस्मार्ष्टाम् अस्मारि।

वक्ष्यत इति—स्थानोनिर्णीतौ प्रकाशने इत्यनेन। अस्थितेति—स्था दामोदरयोरिराम इतीरामे कृते तेनैव सेःकपिलत्वादिरामस्य गोविन्दाभावः, ततो वामन वैष्णवाभ्यामिति सेर्हरः। तस्थाविति—णल औः, स्थानित्त्वात् द्विर्वचनं, शौरिशिरस्करस्तु सात्व इति थारामस्य द्विवचने हरिखड्गस्य हरिकमलं, नरस्य वामनश्च। दीयत इति दामोदरत्वादीरामः।

अमृता०—१८८. अर्तीति। सत्सङ्ग आदि र्यस्य स सत्सङ्गादिः, ऋत् ऋरामोऽन्ते यस्य सऋदन्तः, सत्सङ्गादिश्चासौ ऋदन्तश्चेति सत्सङ्गादृथदन्त स्तस्य अत्तेश्च गोविन्दो भवति यकि परे कापालस्य यरामे परे यङि च परे। ईशस्य नगौविन्द-वृष्णीन्द्राविति कंसारिषु निषद्धो यो गोविन्द स्तस्य पुनः प्राप्त्यर्थमिदं वचनम्। यङि—सस्मर्यते। सत्-सङ्गादीति किम्—सृ—स्रियते। ऋदन्तेति किम्—स्मिङ्—स्मीयते। अस्मार्षीदित्यादौ ईशान्तत्वाद् वृष्णीन्द्रः।

बाल०—उदः। ष्ठा गतिनिवृत्तौ, स्तन्भू सौत्रधातुः, उद उत्तरयोरेतयोः सस्य हरो भवति। द्वित्व इति "विष्णुजने विष्णुजनो वा ह–रौ विने" त्यनेन द्वित्वम्। अस्येति स्थाधातोः स्थो निर्णीतावित्यनेनात्मपदं वक्ष्यते। अस्थितेति "स्थादामोदरयोरिरा" इत्यादिना इरामे कृते 'वामन—वैष्णवाभ्यां सि—हरो वैष्णवे नत्विट्' इत्यनेन सेर्हरः। तस्थाविति शौरिशिरस्कस्तु सात्वतः, नरस्य वामनः, हरिखड्गस्य हरिकमलम्, आरामाण्णल औ। नित्यमेत्वमिति दामोदरादीनामेरामः, कपिल कामपाल इत्यनेनेनि शेषः॥१८८॥

बाल०—अर्त्ति। सत्सङ्ग आदिर्यस्य स सत्सङ्गादिः, ऋत् अन्ते यस्य स ऋदन्तः, सत्सङ्गादिश्चासौ ऋदन्तश्चेति सत्सङ्गाद्यृदन्तः, अर्त्तेः सत्सङ्गादृदन्तस्य च यकि कामपालये यङि च परे गोविन्दो भवति। सत्सङ्गादिति किम्,—स्रयते। अस्मार्षीदिति 'ईशान्तस्य वृष्णीन्द्रः सौ परपदे' इत्यनेने वृष्णीन्द्रः॥१८९॥

१८०, ऋराम वृ-सत्संगाद्यृदन्तेभ्य इड् वा सि-कामपालयो-रात्मपदे ।

अस्मरिषाताम्, अस्मृषाताम्, अस्मारिषाताम् । सस्मार ।

१८१, सत्संगाद्यृदन्तस्य ऋच्छे ऋ रामान्तानाञ्च गोविन्दोऽधोक्षजमात्रे नतुवृष्णीन्द्रे ।

सस्मरतुः सस्मरुः । थलि—ऋरामात्तु नित्यं नेट्—सस्मर्थ । कृसृभृ इत्यादि नियतान्नित्यमिट्–सस्मरिव सस्मरिम । सस्मरे । स्मर्यात् । यग्रहणान्नेह गोविन्दः—स्मृषीष्ट । स्मर्त्ता ।

१८२, ऋराम-हरिभ्यामिट् स्ये स्वरतेश्च ।

अमृता०—१८०. ऋरामेति । आत्मपदे सि-कामपालयोः परयोः ऋरामान्तात्, वृञ् वरणे, वृङ् संभक्तौ इत्येताभ्यां, सत्सङ्गाघृदन्ताच्च धातोरुत्तरे इड्वा स्यात् । सत् सङ्गादीति किम्—अकृत, कृषीष्ट । अस्मृषातामिति—अनिट् पक्षे ऋद्वयाद् विष्णुजनान्ते-शोद्धवाच्चेत्यादिना कपिलत्वान्नगोविन्दः । अस्मारिषातामिति इण्वदिट् पक्षे । सस्मारेति नरऋरामस्यारामः ।

अमृता०—१८१. सत्सङ्गादीति । सत्सङ्गादिश्चासौ ऋदन्त ऋरामान्तश्चेति सत्सङ्गाद्दथदन्त स्तस्य, ऋच्छधातो स्तथा ऋरामान्तानाञ्च धातूनामधोक्षज प्रत्यये मात्रे गोविन्दो भवति, वृष्णीन्द्रे विषये तु स नस्यात् । मात्रग्रहणं कपिलेष्वपि प्रद्यर्थम् । नतु वृष्णीन्द्रे इति किम्—सस्मार । यग्रहणादिति—अकृते यग्रहणे अर्थात् "यक्-कामपालयो" रित्येव पमनिमित्तो कृते दअर्त्तीत्यादि लक्षणे) ऋद्वयाद् विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्चेति कपिल-विधातल सामान्य सूत्रेति सत्यपि सत्सङ्गाद्दथदन्तस्येति विशेषवलात् स्मृषीष्टेत्यादौ गोविन्दएव प्रसज्येत, ततएव यग्रहणेनात्मपदे स निरासित इत्यर्थः ।

अमृता०—१८२. ऋरामेति । ऋरामान्तात् हनहिंसा-गत्यो रित्यस्माच्चोत्तरे इड्

बाल०—ऋराम । अस्मृषातामिति "ऋद्वयाद्विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्च वैष्णवादि-सि—कामपालौ कपिलावात्मपदे, गमेस्तु" त्यनेन कपिलत्वान्न गोविन्दः । इण्वदिट् पक्षे अस्मा-रिषातामिति । सस्मारेति । 'नर ऋरामस्यारामः' इत्येनेन ऋरामस्यारामः ॥१८०॥

बाल०—सत्स । वृष्णीन्द्र इति विषयसप्तमी । न तु वृष्णीन्द्र इति सस्मारेत्यादौ न गोविन्दः सर्व्वेश्वरान्तादित्यादन्विति लक्षणविशेषणम् । स्मर्य्यादिति अर्त्तीत्यादिना गोविन्दः। यग्रेहणादिति अर्त्तीत्यादि लणणे यक्कामपालयोरिति कृते सत्सङ्गाद्दन्तेति विशेष-विधानात् 'ऋद्वयाद्विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्चे' त्यादि लक्षणे सत्तपि स्मृषीष्टेत्यादौ गोविन्दः स्यादिति य-ग्रहणम् कृतम् ॥१८१॥

बाल०—ऋरामेति । ऋरामान्तात् हन हिंसा-गत्योः इत्येतस्माच्चोत्तरे स्ये परे इड्

स्मरिष्यति । स्वृ शब्दोपतापयोः । स्वरति सूति इति वेट्,— अस्वारीत् अस्वार्षीत् । स्वरिष्यतीति तु नित्यम् ।

सृगतौ । सर्त्तौ धावः—धावति । अजवार्थे— सरति ।

१९३, ऋरामस्य रिः श-यक्-कामपालयेषु न च त्रिविक्रमः ।

म्रियते ।

१९४, सर्त्ति शास्त्यर्त्तिभ्यो ङो भूतेशे कर्त्तरि ।

१९५, ऋद्वयान्त-दृश्यो गोविन्दो ङे ।

भवति स्यप्रत्यये परे, तथा स्वृधातोश्चोत्तरे इड् भवति । ऋारमान्तानां हनश्चानिट्त्वाद-प्राप्ते विधानम् । स्वृधातोस्तु स्वरति सूतीत्यादिना कृतविकल्पितेटः स्ये बाधक पूर्वक नित्यतार्थम् ।

अमृता०—१९३. ऋरामस्येति । शप्रत्यये, यक् प्रत्यये, कामपालस्य य प्रत्यये च परे ऋरामस्य रि रादिश्यते । तत्रच वामनस्य चिविक्रमः कृत्कृष्णधातूकेतर-यप्रत्यय इत्यनेन प्राप्तं त्रिविक्रमं प्रनिषेधतिनचत्रिविक्रम इति । कामपालये—म्रियात् । तुदादौ शे म्रियते । कामपालय इति किम्—सृषीष्ट ।

अमृता०—१९४. सर्तीति । सृगतौ, शासु अनुशिष्टौ, ऋगतौ प्रापणे च, ऋगतौ इत्येतेभ्य उत्तरे कर्त्तरिवाच्ये भूतेशे परे ङ इत्यागमः स्यात् । सेरपवादक एवः । इहशास्ति साहचर्यात् ऋसृ धातुद्वयं लुग् विकरणकमेव ग्राह्यं,नतु भौवादिकम् । तत्र तु "ऋ-आर्षीत्, सृ—असार्षीत्" इत्येव भवतीति कालापाः सौपद्माश्च । किन्तु सर्त्तिशस्त्यर्त्तिभ्यश्चेति पाणि-नीयसूत्रे अविशेषेण तयो र्ग्रहणात् काशिका भाषावृत्तिकारादिभिरविशेषेण गृहीतौ तौ । अत स्तन्मते भौवादिकयो र्जुहोत्यादिकयोश्च ङो भवति । अपि च "ऋदृशोऽङीति" सूत्रस्य काशिकावृत्ति व्याख्यां—"आरत ऋगतौ प्रापणे चेति" भौवादिकश्च ऋधातु निर्दिष्टो न्यासकारेण । सुपद्म टीकायाञ्च—"इहाविशेषित ऋ-स्रो ग्रहणमिति वासवता" इत्युट्टङ्कच प्राचामत्र सम्मति दर्शिता ।

अमृता०—१९५. ऋद्वयान्तेति । ङेपरे ऋद्वयान्तधातूनां दृशेश्च गोविन्दो भवति । ईशस्य नगोविन्द-वृष्णीन्द्राविति यो निषेध मास स्तन्नरस्य पुनरिह गोविन्दो विधीयते ।

भवमि । स्वर । स्वृ शब्दोपतापयोः इत्येतस्माच्चोत्तरे स्ये परे इड् भवति । ऋरामान्तत्वात् पूर्व्वेणैव सिद्धे लक्षणंमिदं स्वरति सूतीत्यादिना विहितस्य विकल्पितेटो वाधनार्थम् ।।१९२।।

बाल०—ऋराम । शे यकि कामपाल-ये च परे ऋरामस्य स्थाने रिर्भवति, त्रिविक्र-मश्च न भवति । म्रियते 'वामनस्य त्रिविक्रः कृत्—कृष्णधानुकेतर य प्रत्यय' इत्यनेन त्रिविक्रमः स्यात्, शे परे त्रिविक्रमविधेरसम्भवात् तन्निषेधो यक्-कामपालयोरेव ज्ञेयः ।।१९३।।

बाल०—सृ गतौ, शासु अनुशिष्टौ, ऋ गतौ प्रापणे च, ऋ गतौ इत्येतेभ्यः उत्तरे कर्त्तरि वाच्ये भूतेशे परे ङो भवति ।।१९४।।

असरत्, स्त्रियात्, सर्त्ता, सरिष्यति ।

ऋगतौ प्रापणे च । ऋच्छति ।

१९६. उपेन्द्रारस्त्रिविक्रमः ।

१९७. नामधातौ तु वा तदलश्च, नतुत्रिविक्रम-भवस्य ।

नित्यं धातूप सर्गयोरिति पुनर्नित्यग्रहणान्निषेधःस्तदनुगत वामनश्च न स्यात् । प्राच्छर्ति पराच्छर्ति । अर्त्ति सत्सङ्गाद्दृथदन्तयो र्गोविन्द इति अर्ययते । आर्च्छत् आरत् । समस्त्वात्मपदं वक्ष्यते—समारत । तदुत् काशिकादावपि मतम् । अन्तस्येति वृष्णीन्द्रः; आदेशः स्थानिवत्; तत ऋरामस्य द्विर्वचनम्; नरऋरामस्यारामः, नरादेररामस्य त्रिविक्रमः—आर । ऋद्वयं रः, स्थानिवत्त्वं, द्विर्वचनम्, त्रिविक्रमः—आरतुः, आरुः । अत्त्यर्त्ति वृव्येञ्भ्यो नित्यमिट् थलि—आरिथ ।

श्रु श्रवणे ।

तथातेनैव प्रासोयो लघूद्धवगोविन्दस्य निषेधः, दृशधातो स्तन्निरस्य गोविन्द इह विहितः ।

अमृता०—१९६. उपेन्द्रार इति । उपेन्द्रसम्बन्धीयो योऽर् तस्य त्रिविक्रमो भवति, आर् भवतीत्यर्थः । उपेन्द्राद्द्वयात् ऋरामादिधातौ परे सति—"ऋद्वयेअर्" इत्यनेन यः अर् प्राप्नोति तस्य स्थाने आर् क्रियते इत्येव फलितार्थः ।

अमृता०—१९७. नामेति । नामधातौ तूपेन्द्रार उपेन्द्रालश्च त्रिविक्रमो वाभवति । किन्तु त्रिविक्रमाभ्यां(ॠॡरामाभ्यां)जातयो स्तयोः(अरलयोः)त्रिविक्रमो नभवति । प्रार्षभीयति प्रर्षभीयतीत्यादयुदाहरणानि नावधातौ दर्शयिष्यन्ते । ननु प्राच्छर्तीत्यत्र "ऋद्वयाद्वययो ऋति" इत्यनेन सन्धि निषेध स्तथा पराच्छर्तीत्यत्र तेनैव सूत्रेण सन्धिनिषेध स्तदनुगतवामनश्च कथंन स्यात्तत्राचष्टे—नित्यमिति । धातूपसर्गयोः सन्धिस्तु नित्यमेव भवति, परिभाषावलादिति न विकल्पे इत्यर्थः । आरदिति—सर्त्तीत्यादिना ङ, ऋद्वयान्त-दृश्योरिति गोविन्दः । आत्मपदं वक्ष्यते इति—समः पृच्छति गमृच्छि स्मृश्रुभ्यो वेत्तित इत्यनेन । सूत्रे भूतेश कर्त्तरीति ग्रहणात् परपदे चात्मपदे च ङो भवतीति प्रदर्शयति—समारतेति ।

बाल०—ऋद्व । ङे परे ऋद्वयान्तस्य दृशेश्च गोविन्दो भवति ॥१९५॥

बाल०—उपे । उपेन्द्रसम्बन्धिनोऽरस्त्रिविक्रमो भवति ॥१९६॥

बाल०—नाम । नामधातौ तु उपेन्द्रार उपेन्द्रालश्च त्रिविक्रमो वा भवति । त्रिविक्रमभवस्य उपेन्द्रार उपेन्द्रालस्तु त्रिविक्रमो न भवति । ननु प्राच्छर्तीत्यत्र ऋद्वयाद्वययोऋतीत्यनेन पक्षे सन्धिनिषेधः । पराच्छर्तीत्यत्रापि पक्षे सन्धिनिषेधस्तदनुगतो वामनश्च भवतु इति चेत्तत्राह,—नित्यमिति । नित्यं धातूपसर्गयोरित्यत्र पुनर्नित्यग्रहणाद्धेतोः पाक्षिकः

१९८. श्रुवः शपः श्नु स्तस्य शृश्च ।

श्रुवइति बाहुल्यादुवादेशः । शइत् ।

१९९. उश्वनोर्गोविन्दः ।

शृणोति शृणुतः शृण्वन्ति । शृणोषि शृणुथः शृणुथ शृणोमि ।

२००. असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोरामस्य हरो वा निर्गुणे वमोः ।

२०१. करोतेस्तु नित्यं येच ।

शृण्वः शृणुवः शृण्मः शृणुमः । श्रूयते, शृणुयात्, शृणुयात्, शृणोतु,

---

अमृता०—१९८ श्रुव इति । श्रु श्रुवणे इत्यस्मात् शपः स्णाने श्नु र्भवति श्रुवः स्थाने च शृः स्यात् ।"श्रुश्रवणेभ्वादौ पठ्यते,ततः शपि प्राप्ते श्रुर्विधीयते"इति न्यासकारः। ननु नामप्रकरणे–धातोरीदूतो रियुवावित्यनेन त्रिविक्रमयोरेव इयुवौ विहितौ नतु वामनतोः इहतु ह्रस्वान्त श्रुशब्दस्य कथमुव् ? तत्राह–बाहुल्यादिति । सूत्रन्तु न शासनाधीनं, सूत्रे वेदवद् व्यवहार इति न्यायात् । वहुलशब्दस्यान्यथाभावरूपोऽर्थ स्तत्रैव निरूपित आस्ते ।

अमृता०—१९९. उश्नोरिति । तनादेः शपोऽपवाद उः, रुवादेः शपः श्नु रित्येतयो र्विकरणयोर्गोविन्दोभवति । शृणुतेत्यत्र "अपृथुः कृष्णधातुको निर्गुण" इतिन गोविन्दः ।

अमृता०—२००. रसंयोगेति । न संयोगः पूर्वेयस्य सोऽसंयोगपूर्वः; तथाभूतस्य प्रत्ययोरामस्य हरो वा स्याद् निर्गुणे वरामे मरामे च परे । शवादि विकरण संज्ञकानां प्रत्ययत्वेनाभिधानाच्च बहुलम् ।

अमृता०—२०१. करोतेस्त्विति । निर्गुण वमोः परयो स्तथा यरामे च परे डुकृञ् करणे इत्यस्मादुत्तरस्य प्रत्ययसम्बन्धिन उराभस्य नित्यं छरो भवति । असंयोगपूर्वस्येति किम्—प्राप्नुवः प्राप्नुमः ।

सन्धिनिषेधस्तदनुगतवामनश्च न स्यादित्यर्थः । प्राच्र्छतीति "ऋद्वये अर्" त्यनेन अर् । नामधातौ त्वित्यादेरुदाहरणं वक्ष्यते । आरदिति सर्त्तीत्यादिना ङः । ऋद्वयान्तेत्यादिना गोविन्दः । तदेतदिति यथा भूतेशमात्रे नित्य ङ विधानमात्मपदविधानञ्चास्माभिः कृतम् । तथा काशिकादावपि । क्रमदीश्वरादतस्तु सर्त्तेरर्त्तेश्च आत्मपदे विकल्पयन्ति ।।१९७।।

बाल०—श्रुवः । श्रु श्रवणे-इत्यस्य शपः स्थाने श्नुर्भवति, श्रुवः स्याने शृश्च भवति । नामप्रकरणे उरामस्यैवोवादेशो विहितः,अतएवोक्तं बाहुल्यादुवादेश इति ।।१९८।।

बाल०—उश्न्वोः । उश्न्वोर्गोविन्दो भवति उर्वक्ष्यते । शृणुत इति "अपृथुः कृष्ण-धातुको निर्गुण" इति निर्गुणत्वम् ।।१९९।।

बाल०—असम् । निर्गुणवमोः परयोः असंयोगपूर्व्वस्य प्रत्ययोरामस्य हरो वा भवति ।।२००।।

बाल०—करो । निर्गुणवमोर्ये च परे करोतेः प्रत्ययोरामस्य नित्यं हरो भवति । असंयोगपूर्व्वस्येति किम्—प्राप्नुवः प्राप्नुमः । निर्गुणेत्युपादानात् शृणोमीत्यादौ न भवति ।।२०१।।

२०२. उरामात् प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् हेर्हरः ।

शृणु शृणानि शृणवाव शृणवाम । शृणोत्, अश्रोषीत्; शुश्राव शुश्रुवतुः। क्रयादिनियमे मात्रग्रहणात् थल्यपि नेट्–शुश्रोथ । श्रूयात् श्रोता श्रोष्यति अश्रोष्यत् ।

षु प्रसवे ।

२०३. सुस्तु धूञ्भ्य इट्सौ परपदे ।

असावीत् ।

२०४, णि-श्रि-द्रु-स्रु-कमिभ्योऽङ् भूतेशे कर्त्तरि ।

धातोश्चतुः सनस्येयुवौ–असुस्रुवत् । गम्लृगतौ इषुगमीतिच्छः–गच्छति, गम्यते ।

२०५, पुषादि-द्युतादि-लृदितो ङोभूतेशे परपदे ।

अमृता०—२०२. उरामादिति । असंयोगपूर्वात् प्रत्ययस्योरामादुत्तरस्य हेर्हरो भवति । असंयोगपूर्वादिति किम्—प्राप्नुहि । प्रत्ययादुरामादिति किम्–स्तुहि । क्रयादिनियम इति—कृसृभृवृ स्तु द्रु श्रु सृ भ्य एवाधोक्षजमात्रे नेडिति नियमे मात्र ग्रहणेन थलि च नेड़ित्यर्थः ।

अमृता०—२०३. सु स्तु इति । षुप्रसवे, ष्टुञ् स्तुतौ, धूञ् कम्पने इप्येतेभ्य उत्तरे परपदे सौपरे इड्भवति । आद्ययोरेक सर्वेश्वरान्तत्वादप्राप्ते विधानम्, धूञः ऊरामेत्त्वाद् विकल्पितेट्त्वे प्राप्ते नित्यतार्थम् ।

अमृता०—२०४. णि श्रीति । ण्यन्तात्, श्रिञ् सेवायां, द्रस्रु गतौ, कमु कान्तौ इत्येतेभ्य उत्तरे कर्त्तरि वाच्ये भूतेशे अङागमो भवति । सेरपवाद एषः । असुस्रुवदिति—धातोः पूर्वमत्, धातोर्द्विवचनमधोक्षज सन्नङ् यङ्ष्विति द्विवचनम्, नरविष्णु जनानामादि शिष्यते, धातोश्चतुः सनस्येत्युव् । कर्त्तरीति किम्—अस्रोवि ।

अमृता०—२०५. पुषादीति । भूतेशे परपदे पुषादिभ्यो द्युतादिभ्य लृदितश्चोत्तरे ङस्यात् । अवमपि रेरपवातः। पुषादि रयंदिवाद्यन्तर्गण एव गृह्यते । मतु भ्वाद्यन्तर्गणः

बाल०—उरा । असंयोगपूर्व्वात् प्रत्ययादुरामात् परस्य हे र्हरो भवति । असंयोगपूर्वस्येति किम्—प्रानुहि । क्रादिनियम इति कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-श्रु-स्रिभ्य एवाधोक्षजमात्रे नेड़िति नियमे ।।२०२।।

बाल०—सु स्तु । ष्टुञ स्तुतौ, षु प्रसवे, धूञ् कम्पने इत्येतेभ्य उत्तरे सौ परे परपदे इड् भवति ।।२०३।।

बाल०—णि श्रि । ण्यन्तात् श्रिञ् सेवायाम्, द्रु गतौ, स्रु गतौ, कमु कान्तौ इयेतेभ्यश्चोत्तरे कर्त्तरि वाच्ये भूतेशे परे अङ् भवति ।।२०४।।

पुषादिरयं विदाद्यन्तर्गणः। अगमत् अगामि। गमेस्तु वेति सेःकपिल-त्वम्; हरिवेण्वन्तेत्यादि-अगसाताम्। कपिलत्वाभावे-अगंसाताम्। एवमगसत अगंसत अगथा-अगंस्थाः जगाम।

२०६, गम हन जन खन घसामुद्धवादर्शनं कंसारि सर्वेश्वरे ङं विना।

जग्मतुः जग्मुः जगमिथ जगन्थ।

२०७. गमेरिट् सरामादि रामधातुके नात्मपदे।

गमिष्यति गंस्यते। स्कन्दिर् गति शोषणयोः। इरनुबन्धान् ङो वा, अनिरामेतिमिति नस्यहरः—अस्कदत्। पक्षे अस्कान्त्सीत्। प्रक्रियातु चिन्त्या।

तॄ प्लवन तरणयोः। तरति।

क्र्याद्यन्तर्गणोवा। द्युतादि भ्वाद्यन्तर्गणएव दर्शयिष्यते। परपदे किम्—अद्योतिष्ठ। अगषातामिति—ऋद्वयाद्विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्चेति गमेरुत्तरे सेः कपिलत्वे हरि वेण्वन्ते-त्यादिना मरामहरः। अगथा इति वामन वैष्णवाभ्यामिति सेर्हरः।

अमृता०—२०६. गमेति। ङंविना कंसारि सर्वेश्वरे परे गम्लृ गतौ, हन हिंसा-गत्योः, जनी प्रादुर्भावे दिवादिः, जन जनने जुहोत्यादिः खनुअवदारणे, इत्येषां तथा घस्लृ अदने, अदो घस्लृ इत्यादेशस्य च उद्धारामस्यादर्शनं भवति। कंसारीति किम्—गमनम्।

अमृता०—२०७. गमेरिति। सरामादिरामधातुके परेगम उत्तरे इट् स्यात्; आत्म-पदे तु स न भवति। सहजानिट्त्वादप्राप्ते विधानमिदम्। सरामादीति किम्—गन्ता। अस्कान्त्सीदिति—विष्णुजनान्तानामनिटामिति वृष्णीन्द्रः, यादव मात्रे हरिकमलम्। प्रक्रिया तु चिन्त्येति—तत्र अस्कांत्सीत् अस्कांत्तामित्यादिषु दर्शितरूपेषु नरामस्य यद्-विष्णुचक्रं कृतं तन्न युक्तम्, अविष्णुपदान्ते हरिवेणु विधे नित्यत्वादित्याशयः।

बाल०—पुषादि। भूतेश्परपदे परे पुषादेर्द्युतादेश्चोत्तरे ङो भवति। द्युतादि भ्वाद्यन्तर्गणः। अगथा इति "वामन-वैष्वाभ्यामि" त्यादिना से र्हरः ॥२०५॥

बाल०—गम। ङं विना कंसारि सर्वेश्वर परे गम्लृ गतौ, हन हिंसागत्योः, जन जनने, खनु अवदारणे इत्येतेषां घसश्च उद्धवारामादर्शनं भवति। घसिति घस्लृ अदने इत्यस्य "अदो घस्लृ भूतेश-सनोरधोक्षजे तु वे" त्यनेन विहितस्य ग्रहणमिति केचित् घसादेशस्य च घसलृधातोरसार्वत्रिकप्रयोगत्वात्। आदेशस्यैव ग्रहणमित्यपि केचित्। ङं विनेति किम्—अगमत् जगमिथ जगन्थेति लहजारामवतश्च तादृशादिति वेट् ॥२०६॥

बाल०—गमेः। सरामाशि रामधातुके परे गमेरुत्तरे इड् भवति, आत्मपदे च न भवति। अस्कान्त्सीत् इति विष्णुजनान्तानामनिटां बृष्णीन्द्रः सौ परपदे इत्यनेन वृष्णीन्द्रः

२०८. ऋरामस्येर् कंसारौ ।

धातो रवइति त्रिविक्रमः—तीर्यते । अतारीत् अतारि ।

२०९. ऋराम वृभ्य इट स्त्रिविक्रमो वा नतु परपद सौ कामपाला धोक्षजयोश्च ।

२१०. इण्वदिटो न त्रिविक्रमः ।

अतरिषाताम् अतरीषाताम्, अतारिषाताम् । ऋराम वृ सत्सङ्गाद्यद-न्तेभ्य इति पक्षे नेट्—अतीर्षाताम् अतीढ्र्वम् । ततार । सत्सङ्गावच-दन्तस्येति गोविन्दः, एत्व नरादर्शनेतेरतुः । तीर्यात्;तरिषीष्ट,तारिषीष्ट। तरिषीढ्वम् तरिषीध्वम् तारिषीढ्वम् तारिषीध्वम् तीर्षीढ्वम् ।

अमृता०—२०८. ऋरामस्येति । कंसारौ प्रत्यये परे ऋरामस्य स्थाने इर् इत्यादि-श्यते । ऋरामस्येति किम्—कृ—क्रियते ।

अमृता०—२०९. ऋरामेति । ऋरामान्तात्, वृञ् वरणे, वृङ् संभक्तौ इत्येताभ्यां च परस्य इटस्त्रिविक्रमो वा भवति । परपदे सौ परे, काम कामपालाधोक्षजयोरुभयपदे च हरे इट् स्त्रिविक्रमो न स्यात् सर्वत्र नेट् य-सर्वेश्वरयोरिति तदितर प्रत्ययेषु हीढः प्रवृत्तिर्ज्ञेया ।

अमृता०—२१०. इण्वदिति । सुगमम् । अतीढ्र्वमिति—अनिट् पक्षे ऋद्वयाद्विष्णु-जनान्तेशोद्धवाच्चेति सेःकपिलत्वात् ऋरामस्येर्, सस्य हरः, ईश्वरेति धस्य ढः, इरामस्य त्रिविक्रमश्च । एत्वनरादर्शने इति तृफलभ जत्रपामित्यादिनेति शेषः । एवं तेरिथ तेरिषे इत्यत्रापि इटो न दीर्घता, अधोक्षजसामान्ये निषेधात् । तीर्षीष्टेति—ऋरामवृसत्संगाद्य दा न्तेभ्य इति वेट्त्वेनानिट् पक्षे रूपम् । ऋद्वयादित्यादिना कपिलः, ततः ऋरामस्येर् त्रिविक्रमश्च ।

ढःनेति काश्चिदिति—कश्चित् यलाय इत्यर्थः । इश्वरेत्वादि लक्षशे हरिमित्रहका-राभ्यां ढत्वं न मन्यते। तथाहि तत् सूत्रमूनाम्यन्ताद्धातो राशीरदचतनी परोक्षासु धो ढः ।। इति ४२६ । नामी ईश्वर संज्ञकः । सूत्रे नामी मात्रग्रहणात् हरिमित्रहरोमेभ्यो धस्य ढत्वं न प्राप्नोतीति सुतरां प्रतीयते । कुत्र चित्तु हस्तलिखित पुस्तके—तरिषिढवमित्यारभ्यो नेति कश्चिदित्यादिना निषेधः ।

यादवमात्रे हरिकमलम् । प्रक्रिया तु चिन्त्येति तस्मात् प्रक्रियायां नैवं मतमिति वोद्धव्यम् ।।२०७।।

बाल०—ऋराम । कंसारौ परे ऋरामस्य स्थाने इर् भवति ।।२०८।।

बाल०—ऋराम । ऋराम-वृभ्य परस्य इटस्त्तिविक्रमो वा भवति, परपदे सौ कामपाले अधोक्षजे च परे न भवति । वृ इति वृ ङ संभक्तौ, वृञ वरणे द्वयोरेव ग्रहणम् अतो वहुवचनमुपन्यस्तं द्विवचनोपन्यासेऽपि जसङ्गतिर्न स्यात् ।।२०९।।

ईश्वरेति ढः नेति कश्चित् । तरिता तरीता तारिता ।
दृ भये । गोविन्दारामत्वान्नैत्वादि–ददरतुः ददरिथ ।
षन्ज सङ्गे ।

२११. दन्श रन्ज षन्ज स्वन्जां नस्य हरःशपि ।

सजति सज्यते । अभाङ्क्षीत् अभाङ्क्ताम् ससञ्जतुः । दृशिर् प्रेक्षणे । इरामस्य केवल ग्रहणान्नात्र नुमः अत्र तु धातोरन्त इरिति पृथगेव हींद् विधानम् । पश्यति दृश्यते । इरनुबन्धात् ङो वा, ऋद्वयान्तदृश्यो र्गोविन्दो ङे–अदर्शत् । सिपक्षे–

२१२. सृसि दृशोरमकपिल वैष्णवे ।

मइस्, ऋद्वयं रः, वृष्णीन्द्रः, छशोरित्यादिना षत्वं, षढोः, कः से– अद्राक्षीत् अद्राष्टाम् । भावे अदर्शि । ऋद्वयाद् विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्चेति सेः कपिलत्वात्–अदृक्षाताम्, आदर्शयिषायाम् । ददर्श; सृजि

अमृता०—२११. दन्शेति । दन्श दंशने, रन्ज रागे, षन्ज संगे, स्वन्ज परिष्वंगे, इत्येतेषां शपि परे नस्य हरो भवति । नरामहराप्राप्ते विधानमिदम् । सज्यत इति-अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामिति नरामहरः । इरामस्येतिइरामेद्धोतो र्नुमित्यत्र केवलेरामस्य-ग्रहणाद्धेतो रत्र दृशधातौ न हि नुमः प्रवृत्तिरित्यर्थ । यतो ररामसाहित्येन इरामस्य केवलत्वाभावाद् द्व्यक्षरधातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वर इदित्यनेनाप्राप्ते "धातोरन्त इरित्" इत्यनेन पृथक् तद्विधानं कृतम् ।

अमृता०—२१२ सृजीति ।अकपिलश्चासौ वैष्णवश्चेति·अकपिल वैष्णवः,तस्मिन् परे सृज विसर्गे, दृशिर् प्रेक्षणे इत्येतयो रमागमो भवति । ऋरामो द्धवसहजानिटोऽमुवेति विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थमिदम् । गोविन्द स्थाने अम आविर्भावादयं गोविन्दापवादक एव ।

बाल०—इण्वा । इण्वदिटस्तिविक्रमो न भवति । एत्व-नरादर्शन इति तृ फल-भज–त्रपामित्यादिनेति शेषः । नैत्वादीति शशुदद वरामादीना निषेध ॥२१०॥

बाल०—दन्श । दनश दंशने, रञ्ज रागे, षञ्ज सङ्गे, ष्वन्ज परिस्वङ्गे इत्येतेषां शपि परे नस्य हरो मवति । सज्यत इति "अनिरामेतामि" त्यादिना नस्य हरः । इरामस्येति इरामेद्धातोर्नुमित्यत्र इरामस्य केबलग्रहणात् केवलस्येरास्य ग्रहणात् । पृथगेव हीद्विधानमिति तेन दृशप्रभृतीनाम् इरनुबन्धत्वेन । टु नदि प्रभृतीनान्तु टुभागेऽपि पृथगिति न निश्चिन्मः अथोवा स्कन्दिरित्यत्र नरामस्य विद्यमानत्वेन मुमः प्रयोजानाभावान्नोक्तमत्र तु पूर्वं तरामाभावेन नुमः संभावनयात्रैव सर्वं विवृतमिति । ऋद्वयान्त दृश्योर्ङे इति बहुषु षुस्तकेषु दृश्यते तत्तु लिपिकरप्रमादकृतम् । "ऋद्वयान्त दृश्योर्गोविन्दो " ङे इति बोद्धव्यम् ॥२११॥

बाल०—सृजि । अकपिलश्चासौ वैष्णवश्च तस्मिन् परे सृज विसर्गे, दृशिर प्रेक्षगे

दृशिभ्याञ्चेति थलि वेट्—ददर्शिथ दद्रष्ठ। दृश्यात् दृक्षष्टी दार्शिषीष्ट। द्रष्टा द्रक्ष्यति अद्रक्षत्। दन्श दंशने दशति।

कित् निवासे रोगापनयने च।

२१३. गुप् तिज् किद्भ्यः सन्।

गुपोवधश्च निन्दायां क्षमायां सन् भवेत्तिजः।
सन्देहे रुक् प्रतीकारे कितो मानो विचारणे॥

२१४. नेट् स्वार्थे सनि।

२१५. ईशसमीमाद् विष्णुजनाद निट् सन् कपिलः।

२१६. ईशाच्च।

धातो र्द्विर्वचनम्। सनाद्यन्ताश्च धातवः। पूर्वधातु वत् सनः परपदादि,—विकित् सति धर्म्मम्, चिकित्सति रोगिणम्। ऋत घृणायां सौत्र धातुः।

अमृता०—२१३. गुप्ति। गुप् गोपनकुत्सनयोः, तिज निशाने क्षमायाञ्च, कित् निवासे रोगापनयने चेत्येतेभ्य उत्तरेऽर्थविशेषे सन् भवति। तञ्च विशेषार्थं विवृणोति—गुपोवधश्चेति पद्येन। रुक्प्रतीकारे रोगापनयन इत्यर्थः। गुहो जुगुप्सये, तिजः तितिक्षते वक्ष्येते। तेन गोपनार्थे गुपः, निशानार्थे तिजः, निवासार्थे कितः सन्न् भवतीत्यातातम्। तत्र तत्र तु गोप तेजते, संकेतयतीति ज्ञेयम्। वधो मानश्च सन्विधान सूत्रं वक्ष्यते।

अमृता०—२१४. नेड़िति। धातोः स्वार्थे विहिते सनि इट् न भवति। इच्छार्थे सन् प्रायः स्यात्, तत्र तु भवत्येव इट्; इह धातोर्निजार्थएव सनो विधाना न्नेट् इत्यर्थः। इच्छार्थे—जिगमिषतीत्यादि दर्शयिष्यते।

अमृता०—२१५. ईशेति। इशसमीपस्थाद् विष्णुजनादुत्तरे अनिट् सन् कपिलो भवति। अत्रानिट् सन्निति स्वार्थे अस्वार्थे वेति न नियमः। अतः कपिलत्वल्लघूद्धवस्येति कित इरामस्य नगोविन्द इत्यर्थः। अनिट् सन्निति किम्—दिदेविषति।

अमृता०—२१६. इशाच्चेति। सुगमम्। अनिट् सन्नित्येव—वुभूषति। अन्यथा भवत्येव गोविन्दः—चि करिषतीत्यादौ। पूर्वं धातु वदिति—पूर्वधातोः परपदित्वे सनश्च

इत्येतयोरम् भवति। कपिलत्वादिति 'ऋद्वयाद्विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्चे' त्यादिना कपिलत्वम्। कितेति रोगापनयन इत्यनन्तरं संशय इत्यपि ज्ञेयं, चिकित्सतीत्यादौ स्वार्थं सनि इड् निषेधस्य वक्ष्यमाणत्वात्॥२१२॥

बाल०—गुप्तिज। गुप गोपन-कुत्सनयोः, तिज निशाने क्षमायाञ्च, कित् निवासे रोगापनयने च इत्येतेभ्यः उत्तरे सन् भवति। गुपोवधश्चेति रुक् प्रतीकारे। रोगप्रतीकारे। बधो मानश्च। सन्विधानलक्षण वक्ष्यते॥२१३॥

बाल०—नेट्। स्वार्थे विहिते सनि परे इड् न भवति॥२१४॥

२१७. सर्वे सौत्राः परपदिनः ।

२१८. ऋतेरीयङ् ।

ङित्वादात्मपदम्–ऋतीयते । कर्मणि–ऋतीय्यते । आय ईयङ्–ऋतीयामास आनर्त्त । ऋरामैकदेशौ ररामोऽपि नुड्विधिप्रति विष्णुजनो मन्तव्यः–आनृततुः । संज्ञा तावत् द्विविधा–पूर्वा अवराच । अवरा तु द्विविधा–पूर्वस्याविशेषरूपा उपमर्दकरूपा च । तत्राश्रुता विशेषरूपा। यथा सर्वेश्वरादे र्दशावतारादिः। श्रुतातूपमर्दिका। यथाभूवादयादौ श्रुता सनादयन्तादे र्नामत्वादयुपमर्दिका धातुत्वादि रितिज्ञेयम् । तद्वदिहापीति ।

परपदित्वम्, तथा तस्यात्मपदित्वे सनश्चात्मपदित्वम् । एवं तस्योभयपदित्वे सनश्चोभयपदित्वं मन्तव्यम् । अत्र सर्वत्र सन इति सनन्तधातोः परपदादिकं ज्ञेयम् । सनाद्यन्ताश्च धातव इति—सनादिप्रत्यया अन्ते येषां धातूनां ते सनाद्यन्ताः, प्रकृति प्रत्ययसमुदाया एव धातुसंज्ञकाः स्युरित्यर्थः । सनादीति आदि पदेन क्यन् काम्यादे रीयङादेश्च ग्रहणामिति नामधातौ वक्ष्यते ।

विचिकित्सति धर्म्ममिति—धर्म्मोऽस्ति न वेति सन्देहविषयं करोतीत्यर्थः । अत्र कितधातोरेव सन्देहार्थो विद्यते, उपेन्द्रस्तु तदर्थमेव द्योतयतीति ज्ञेयम् । सौत्रधातुरिति—सूत्रे भवः सौत्रः, सूत्रे एव दृश्यते नतु धातुगणे इत्यर्थः ।

अमृता०—२१७. सर्व इति । सूत्रे मात्रलब्धाः सर्व सौत्र धातवः पर पदिन एवस्यु रिति नियमः' न कदापि आत्म पदिनो दृश्यन्त इत्यर्थः ।

अमृता०—२१८. ऋतेरिति । ऋतधातोरुत्तरे ईयङ प्रत्ययो भवति । ङित्वादात्मपदमिति—ननु यदि ऋतेरात्मपदे एव प्रयोग स्तर्हि सौत्रत्वात् परपदित्व विधाने का सार्थकता? उच्यते—कृष्णधातुकेऽनर्नकत्वेऽपि रामधातुके हि विदयते सार्थकता । यथा—आय ईयङित्यादिआ राम धातुके ईयङो विकलपत्वात् पक्षे पर पदेऽपि भवन्ति प्रयोगाः–आनर्त्तेत्यादतः ।

बाल०—ईश । ईशसमीपवर्त्तिनो विष्णुजनादुत्तरोऽनिट् सन् कपिलो भवति ॥२१५॥

बाल०—ईशा । ईशाच्च परोऽनिट् सन् कपिलो भवति ॥ पूर्वं । सनान्तादुत्तरे पूर्वधातुवत् परपदादि भवति । सन्विधानात् पूर्वं यस्य परपदित्वं, सन्विधानेऽपि तस्य परपदित्मेव यस्यात्मपदित्वं तस्यात्मपदित्वमेवेत्यर्थः । विचिकित्सति धर्ममिति अस्ति नवेति सन्देहविषयं करोतीत्यर्थः । विपूर्वस्य चिकित्सधातोः सन्देहार्थत्वेनाकर्मकत्वाद्धर्म इति सप्तम्यन्तपाठस्तु सभ्यः रोगिणमित्यत्र रोगमिति वा पाठः । चिकित्सतीत्युक्ते रोगं प्रतिकरोतीत्यर्थो लभ्यत एव, तथापि देवं जयतीत्यादिवत् रोगं चिकित्सतीत्यादि प्रयुज्यते । सर्व इति । सर्वे सौत्रा धातवः परपदिनो भवन्ति आत्मपदविधानलक्षणाभावा-

एजृ कम्पने । एजति, प्रेजति । एजाञ्चकर ।

इति परपद प्रक्रिया ॥

आनर्त्तेति—गोविन्दे कृते ऋरामस्य द्विवचने नरऋरामस्ताराम:,ततोनरादेगरामस्य त्रिविक्रम स्तमान्नुङ् । अत्र रेफ तरामयो: सद्भावेन धातो द्विविष्णुजनत्वमिति नुट् ।

ननु आनृततुरित्त्र द्विविष्णु जनधातु परत्वाभावत् कथं नुड् विधीयते? तत्र सिद्धान्तयति—ऋरामैस देश इति । कथं ननु च ऋरामस्य सर्वेश्वरसंज्ञा हि निर्णीता प्राक्, इह तु न: कथमस्य विष्णुजनत्वमतिदिम्यत इति चेत्?तत्र संज्ञा भेद प्रकार दर्शनेन तदेवोपपादयति—संज्ञेति । उपमर्दकरूपा वाधकरूपा । अश्रुतेति—पूर्वं मन्यत्र वा न श्रुतेत्यर्थः ।

तद् वदिहापीति—यथा भूसनन्तादया धावत इति प्रथमम् श्रुता सनन्तादे धातुसंज्ञा, सा तु अवरा नामत्ववाधिका:; तणा प्रथमम् श्रुता ऋरामस्य सर्वेश्वरसंज्ञा, सात्र केवल सर्वेश्वरत्वोपमर्दिका विष्णु जन संज्ञेत्यर्थः ।

प्रेजतीति—उपेन्द्राद्वयहर एओरामयो रिस्यरामहर: । एजाञ्चकारेति—ऋच्छवर्जितगुर्वीश्वरादेरिति—आम्, कृञोऽनुप्रयोगश्च ।

इति श्रीहरिनामामृते व्याकरणे—अमृतास्वादिनी टीकायां भ्वादौ
पर पद प्रकिया व्याख्याता ।

दिति भाव: ।।२१६-२१७।।

बाल०—ऋते । ऋतेरुत्तरे ईयङ् भवति । आय ईयङिति आय इयङ् कर्मेणिङ् च रामधातुके वेति लक्षणम् । आनर्त्तेति गोविन्द: ऋरामस्य द्विवचनं, नर ऋरामस्ताराम:, नरादेररामस्य त्रिविक्रम:, तस्मान्नुङ् द्विविष्णुजने धातौ । ननु आनृततुरित्यत्र द्विविष्णुजनधातुपरत्वाभात कथं नुट् तत्राह,–ऋरामैकदेश इति । संज्ञेति पूवां पूर्वोक्ता अवरा, पूर्वस्य सज्ञा विशेषस्य इत्यर्थो न मनोरमोऽत: पूर्वस्येत्यत्र पूर्वस्या इति पाठः सभ्य:, संज्ञाया एव वाच्यत्वात् उपमर्द्दकरूपा वाधकरूपा । अश्रुतेति अन्यत्रेति शेष: । यथेति सर्वेश्वरादेरित्यादि शब्देन विष्णुजनादेर्ग्रहणम् । दशावतारादिरित्यादि शब्देन बलोदेर्ग्रहणम् । श्रुतेति अन्यत्रेति शेष: । उपमर्द्दिकामाह—यथा भूवाद्येति भूसनन्ताद्याश्चधातव इत्यत्र भूवाद्या: दशगण प्रपठिता धातव इत्यनेन भूवाद्यनामादौ प्रथमत: संज्ञोल्लेखे सनान्ताद्याश्चेत्यनेन सनाद्यन्तादे र्या श्रुता नामत्यादी सा तूपमर्द्दिका वाधकाऽवरा संज्ञा धात्वादेरिति । नामत्वादीत्यत्र इरामादतयथांदीप् इत्यनेन ईप् सिद्धासन द्यान्तादेरित्यत्रापि शब्देनान्तर्गणादेर्ग्रहणम् यथा—दिवादेरन्तर्गण: पुषादि: एवं यथा—सम्भवादिशब्दार्थमनुसन्धेयम् । धात्वादेरिति षष्ठ्यन्त: पाठ: सभ्य: । यद्वा केचित् शब्दा विशेषणत्वेऽपि स्वलिंग न त्यजतीति देरिति षष्ठ्यन्त: पाठ: सभ्य: । यद्वा केचित् शब्दा विशेषणत्वेऽपि स्वलिङ्गं न त्यजतीति स्वीकारेण धात्वादिरिति संज्ञाया विशेषणं वा । तद्वदिति अत्र करामादौ श्रुता ऋरामस्य सर्वेश्वरत्वोपमर्द्दिका विष्णुजनसंज्ञा अथवा इहेत्यत्र इह परपदोऽपि पूर्वभूवादिधातूनाम् विशेषरूपा सूत्रधातुसंज्ञा इत्यपीत्यर्थ: प्रेजतीति"उपेन्द्राद्वय हर ए-ओरामयो रिनेधौ विने" त्यनेन अरामहर: ।।२१८।।

॥ इति परपदप्रक्रिया ॥

अथ आत्मपद-प्रक्रिया ।

एध वृद्धौ । एधते प्रैधते । तिज निशाने क्षमायाञ्च । निशानम् तीक्ष्णीकरणम् । तत्र तेजतेः क्षमायाम् —तितिक्षते । जभ गात्र विनामो जृम्भणम् ।

२१९, रधिजभोर्नुम् सर्वेश्वरे ।

जम्भते । पण पन व्यवहारे स्तुतौ च । गुपूधूपेति आयः । अन्यधातुत्वात् परपदम् । पणायति, एवं पनायतीत्यादि ।

२२०. मूर्द्धन्यन्तादायो न व्यवहारे ।

पणते । कमु कान्तौ । कान्तिरिच्छा ।

१२१. कमेर्णिङ् ।

अत्र ङित्त्वेऽपि वृष्णीन्द्रः, ईशस्यैव निषेधेन । कामयते ।

अथ भ्वादौ आत्मपद प्रक्रिया दर्श्यते । प्रैधते इति—उपेन्द्राद्वय हर इत्यादौ इणेधौ विनेति इणेधोर्वर्जनान्न अरामहरः ।

अमृता०—२१९. रधीति रधहिंसा-संराध्योः, जभ गात्र विनामे, एतयो रुत्तरे नुमागमो भवति सर्वेश्वरे परे । सर्वेश्वर इति किम्—जभ्यते । भूतेश-त—अजम्भिष्ट । अधो—जजम्भे ।

अमृता०—२२०. मूर्द्धन्यन्तादिति । व्यवहारे अर्थे वर्त्तमानात् मूर्द्धन्यन्तात् पण धातोरुत्तरे आय् प्रत्ययो न स्यात् । पणते व्यवहरतीत्यर्थः । आय् ईयङ् कमे णिङ् रामधातुकेतुवेति विभाषया आय् । पणाय्यते पण्यते । अपणायीत् अपणिष्ट । वेत्यर्थः । पणायति स्तौतीत्येवार्थः ।

अमृता०—२२१. कमेरिति । कमु कान्तौ धातोरुत्तरे णिङ् प्रत्ययो भवति । ङित्त्वमात्मपदार्थम् । अत्र ङित्त्वेऽपति—ङित्त्वात् णिङः कंसारित्वे सत्यपिधातो वृष्णीन्द्रः स्यादव;

बाल०—एध वृद्धाविति । सविष्णुचक्रपाठो बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते,स तु विष्णुचक्रस्य प्रसङ्गेनोल्लेखाद् ग्रन्थकृतामनभीष्ट इति ज्ञेयम् प्रैधत इति इणेधौ विनेति न अराम हरः । तत्रेति निशानेऽर्थे ।

बाल०—रधि । रध हिंसाञ्चेत्यस्य जभधातोश्च सर्वेश्वरे विषये नुम् भवति । सर्वेश्वरे विषये इति व्याख्यानात् निष्ठा सेट्क गुरुमद्विष्णुजनान्तात् प्रत्ययान्ताच्च भावे लक्ष्म्याम् ड़ाप इत्यनेन ड़ापा जम्भेति सेत्स्यति । अन्यधातुत्वात् परपदमिति आत्मपदविधानलक्षणाभावादिति भावः । पनायतीति स्तौतीत्यर्थः ।।२१९।।

बाल०—मूर्द्ध । व्यवपारेऽर्थे वर्त्तमानात् मूर्द्धन्यान्तात् पणधातोरुत्तरे आयो न भवति । पणत इति व्यवहारोऽत्रार्थः ।।२२०।।

२२२. णेर्हरोऽनिडादौ रामधातुके ।

२२३. इड्वदिटि च ।

काम्यते कम्यते । ण्यन्तत्वादङ् ।

२२४. अशास्वृदित उद्धवस्य वामनः ।

२२५. लघु युक्त-धात्वक्षरपरस्य नरस्य सन्निमित्तकार्यम् ।

यतः-ईशस्य न गोविन्दवृष्णीन्द्रावित्यनेन ईशस्य हि वृष्णीन्द्र-निषेधः कृतो नतु दशावतारस्य । ननु यदि कंसारौ ईशस्यैव गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ निषिध्येते कथं तर्हि कामयते इत्यत्र ङित्त्वेऽपीशस्य गोविन्दः कृत इति चेत्? तदुच्यते-यदा कमे रुत्तरे णिङ् तिष्ठति तदा णिङः प्रत्ययत्वात् तंनिमित्ती कृत्य गोविन्दादिकं क्रियते । इह कमु धातो रुद्धवारामस्य वृष्णीन्द्रः यदा तु णिङ् प्रत्ययान्तः "कामि" रित्येव धातु संज्ञां लभते तदा कंसारिप्रत्ययस्य परत्वाभावान्न गोविन्द वाध इति विवेच्यम् ।

अमृता०—२२२. णेर्हर इति । नविद्यते इट् आदौ यस्य सोऽनिडादिः । तादृशि रामधातुके परे णेर्हरो भवति । य, इय्, गोविन्द-वृष्णीन्द्रत्रिविक्रमाणामपवादोऽयम् ।

अमृता०—२२३—इण्वदिटीति । इणू वदिटि च परे णि प्रत्ययस्य हरः स्यात् । चेण्वदिटीत्यत्र चुरादि णेरेव हरो मन्तव्यो नतु प्रेरणादिणेर्नवा स्वार्थणेः । चुरादिण्यन्तस्यैव सहजसर्वेश्वरान्तत्ववक्ष्यमाणत्वात् । अन्यण्यन्तस्यतु सहज सर्वेश्वरान्तत्वा स्वीकारादिण्वदिट् प्रसङ्गोऽपि नैव सम्भवतीति ध्येयम् । अनिडादाविति किम्—कामयिता । ण्यन्तत्वादङीति-णिश्रि द्रु स्रु कमिभ्य इत्यनेनेति शेषः ।

अमृता०—२२४. अशास्विति । शासुश्च ऋदिच्च शास्वृदित्, तद्वर्जितस्य धातोरुद्धवस्य वामनो भवति, अङ् परे णौ । अशास्विति किम्—अशशासत् अययाचत ।

अमृता०—२२५. लध्विति । लघुयुक्तं वामनान्वितं धात्वक्षरं हरं यस्मात्, तथाभूतस्य नरस्य सन्निमितकार्यं भवति अङ् परे णौ इति शेषः ।

बाल०—कमेरुत्तरे णिङ भवति । अत्र ङित्त्वेऽपीति ङित्त्वात् कंसारित्वम् भवति । कंसारिषु ईशस्यैव वृष्णीन्द्रनिषेध उक्तः अत्र त्वीशस्याभावात् वृष्णीन्द्रो भवत्येव । ईशस्येति किम्-कामयते इति पूर्वमेवोक्तं तथाप्यत्र किमर्थमिदमुक्तमिति न निश्चिन्मः॥२२१॥

बाल०—णे र्हरो । अनिडादौ इडादि-रामधातुके भिन्ने रामधातुके परे णेर्हरो भवति ॥२२२॥

बाल०—इण्व । इण्वदिटि च परे णेर्हरो भवति । कम्यत इति णिङभाव पक्षे । इडादि रामधातुके तु कामयिता चोरयिता अनिडादावित्यत्र अनिटीति वा पाठः ॥२२३॥

बाल०—अशा । शास्वृदिद्भ्यामन्यस्य धातोरुद्धवस्य वामनो भवति ॥२२४॥

बाल०—लघु । लघुयुक्तधात्वक्षरं परं यस्मात् तादृशस्य नरस्य सन्निमित्तकार्यं भवति ॥२२५॥

२२६. नरारामस्येरामः सनि ।

२२७. तत् परस्य नरलघो स्त्रिविक्रमः ।

२२८. अङ् परे णौ, नतु दशावतारादर्शने ।

णेर्हरः, अचीकमत । णिङभावपक्षे—अचकमत ।

२२९. णे र्न हर आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इष्णु इत्येषु ।

इत्नौ तु छन्दस्येव । कामयाञ्चक्रे । अय गतौ । अयते ।

२३०. प्रपरा परीणो ररामस्य लत्वमयतौ ।

अमृता०—२२६. नरेति । सन् प्रत्यये परे नरारामस्य स्थाने इरामः स्यात् । तेन—अचिकमत इति स्थितम् ।

अमृता०—२२७. तत्परस्येति । लघुयुक्तधात्वक्षरपरस्य लघुभूत नरस्य त्रिविक्रमो भवति । तेन अचीकमत इति सिद्धम् ।

अमृता०—२२८. अङ्पर इति । अङ् परो यस्मात् तादृशि णौ परे सति उपरि-विहितं वामनादि कार्यत्रयं भवति । किन्तु यदि तत्र दशावतारवर्णस्यादर्शनं स्यात्तर्हि तानि कार्याणि न भवन्तीत्यर्थः । अचीकमतेति—उद्धबस्यवामने कृते पश्चाद्द्विवचनम् । पक्षे अचकमतेति–ण्यन्तत्वाभावेऽपि णि श्रीत्यादौ पृथक्त्वेन कमेर्ग्रहणात् अङ् भवत्येव, न तु सन्निमित्त कार्यम्, अङ् परस्य णे–रभावात् । नतु दशावतादर्शने, यथा–अचकथत् । लवुयुक्तेति किम्–अजजागरत्, अलुलोकत् ।

अमृता०—२२९. णेर्नहर इति । आमादिषु प्रत्ययेषु परेषु णेर्हरो न भवति । पूर्वेण प्राप्ते हरे निषेधोऽयम् ।

इत्नौ त्विति—इत्नु प्रत्यथे परे तु छन्दसि एव णे र्हरौ न भवति, भाषायान्तु भवत्येव । अन्तादिषूदाहरणानि यथा—मण्डयन्तः, दयालुः, स्पृहयाय्वः, स्तनयित्नुः कारयिष्णुः । एते सर्वे कृदन्ताः । णिङभावपक्षे चकमे कमिता इत्यादि । ननु—"उदयति विततोर्द्ध्वरश्मिरज्जाविति" माघे कथमात्मपदिनः अयतेः शतृ प्रत्ययः? मैवम् श्रूयताम्—अटपटकिटेत्यादौगत्यर्थे भ्वादिः इधातुः परपदो चास्ति, तस्यैवेदं रूपं ज्ञेयम् ।

अमृता०—२३०. प्रपरेति । अय धातौ परे प्र-परा-परि इत्यव्ययत्रयस्य ररामस्य स्थाने लराम आदिश्यते । ननु रघुलघु इत्यादिवदत्रापि र-लयोरेकत्व श्रवणात् सिद्धमेव

बाल०—नरा । सनि परे नरारामस्य स्थाने इरामो भवति ॥२२६॥

बाल०—तत्पर । तत्परस्य लघुयुक्त-धात्वक्षरपरस्य नरलघोस्त्रिविक्रमो भवति ॥

बाल०—अङ् । अङ्परो यस्मात् तादृशे णौ परे वामनादिकं भवति । दशावतारा-दर्शने तु वामनादिकं न भवति । प्रत्युदाहरणानि वक्ष्यन्ते । अचकमतेति ण्यन्तत्वभावेऽपि 'णिश्रिद्रुस्रुकमिभ्य' इत्यदिना अङ् भवत्येव ॥२२८॥

बाल०—णेर्न । आमादिषु परेषु णेर्हरो न भवति ॥२२९॥

प्लायते पलायते पल्ययते ।

२३१. अयासदयेभ्य आमधोक्षजे ।

अयाञ्चक्रे । ओ प्यायी वृद्धौ । ओ ई रामदितौ । प्यायते ।

२३२. दीप् जनी बुध्यति पूरी तायि प्यायिभ्य इण् वाभूतेशते कर्त्तरि ।

२३३. पदस्तु नित्यम् ।

इणस्त हरः; अप्यायि अप्यायिष्ट ।

२३४. प्यायः पी र्यङधोक्षजयोः ।

लत्वं, ततः किमनेन विधानेतेति चेत्तदुच्यते,—रघु लघु इत्यादौ शब्द द्वयोरेव प्रयोग-प्रसिद्धे विकल्पत्वमिष्टम् । इहतु प्रायत इत्यादि रूपस्याप्रसिद्धे लत्वस्य नित्यविधानं रत्वस्योपमर्दकरूपमिति सन्ध्येयम् ।

अमृता०—२३१. अयासेति । अधोक्षजे परे अयगतौ, आस उपवेशने, दयदानगति-रक्षणेषु इत्येतेभ्य उत्तरे आम् प्रत्ययो भवति । अप्राप्ते विधानमिदम् । अस्-भुवोरनुप्रयोगे-अयामास, अयाम्वभूव इत्यपि वोध्यम् ।

अमृता०—२३२. दीप जनीति । कर्त्तरि वाच्ये भूतेशस्य ते प्रत्यये परे दीप दीप्तौ जनी प्रादुर्भावे बुध अवगमने पूरी आप्यायने तायृ विस्तारपालनयोः ओप्यायी वृद्धौ इत्येतेभ्य उत्तरे इण् वा स्यात् । कर्त्तरि अप्राप्ते विभाषेयम् । बुध्यतीति निर्देशात् भ्वादेस्तु बुधधातो निरासः । ते इति किम्—अप्यायिषाताम् ।

अमृता०—२३३. पदस्त्विति । कर्त्तरि भूतेश-ते परे पद गतावित्यस्मदुत्तरे नित्य मेव इण् स्यात् । सेरपवादोऽयम् । त इति किम्—उदपत्साताम् ।

अमृता—२३४. प्याय इति । यङि अधोक्षजे च परे ओ प्यायीधातोः पी रित्यादिश्यते । अत्रादेशस्य एक वर्णत्वाभावान्नह्यन्ते प्रवृत्तिः, किन्तु समुदायस्थाने । पीप्ये

बाल०—इत्नौ । इत्नौ परे तु च्छन्दस्येव णेर्हरो न भवति भाषायान्तु णेर्हरो भवत्येव । अन्तादिषु पञ्चसु उदाहरणानि कृत्प्रकरणे वक्ष्यन्ते ॥२३०॥

बाल०—प्र-परा । अयधातौ परे प्र-परा परीणां ररामस्य स्थाने लरामो भवति । प्रपरापरीणामिति सान्निध्यात् अयतेरेव प्रपरापरयो गृह्यन्ते, तेन प्रगता आयका यस्मात् स प्रायको देश इत्यादौ न भवति ॥२३१॥

बाल०—अया । अधोक्षजे परे अय गतौ, आस उपवेशने, दय दान-गति-रक्षण-हिंसा-दानेषु इत्येतेभ्य उत्तरे आम् भवति ॥२३२॥

बाल०—दीप । दीपी दीप्तौ, जनी प्रादुर्भावे, बुध अवगमने, पूरी आप्यायने, अयृ

असंयोगपूर्वस्येत्यादिना यः, पिप्ये पिप्याते पिप्यिरे। कासृ दीप्तौ। कासते कासाञ्चक्रे पूरी सौधैरिति भाषावृत्तिः। कासृ कास रोगशब्दे। अस्मादेवामिति काशिका। अतो मतभेदादुभयोरपि विकल्प इति केचित्। गाङ् गतौ। गाते गाते गाते गासे इत्यादि। गीयते। कालापास्तु दामोदरेत्यादौ गायतीति निर्दिश्य गायते इत्येव मन्यन्ते। देङ् पालने। दयते, दीयते। स्था-दामोदरयोरिति—अदिति, अदिषाताम्।

२३५. देङः सनरस्य दिगिरधोक्षजे।

दिग्ये। गुप गोपन-कुत्सनयोः। गोपते। कुत्सायाम्—जुगुप्सते। मान विचारणे पूजायाञ्च।

इति—आदेशादनन्तरं यरामः, ततः स्थानिवत्त्वात् पी शब्दस्य द्विवचनमं, नरस्य वामनः। कासृ दीप्ताविति—दीप्त्यर्थे तालव्यन्तस्य प्रसिद्ध—त्वेऽपि दन्त्यान्तस्यापि प्रयोगोऽस्तीति प्रमाणयति भाषावृत्तिधृतभट्टि प्रयोगेण—कासाञ्चक्रे इत्यादिना। तत्र च भट्टि-टीकाकृता मल्लिनाथेन—"कासाञ्चक्रे चकाशे" इति यद् व्याख्यातं तदपि सङ्गतम्। "कासते कफजे शब्दे दीप्तौ चायं प्रयोगतः" इत्याख्यातचन्द्रिकाभिधानात्। काशिका तु शब्द कुत्सायामित्यर्थकादेव कासृ धातोराम् मन्यते नतु दीप्त्यर्थकस्य तत्र शब्दकुत्सा कासरोगशब्द इत्यर्थः। एवं भाषाबृत्तिकाशिकयो रर्थविषये मतभेदं दृष्ट्वा केचिदुभयोरिप चार्थकस्य विभाषया आम् मन्यन्ते। वस्तुतस्तु "अनेकसर्वेश्वर कासिभ्यामिति सूत्रे अविशेषेण कासृग्रहणादुभाभ्यामेव नित्यमाम् भवति। कुत्रचित्तदरहितः प्रयोगो दृष्ट श्चे त्तदा केषाञ्चिद्विकल्प-मतेन तत्समाधेयम्।

गाते इति द्विवचने वहुवचने च; प्रागेव शपोऽरामेण सह प्रकृतेः सन्धिस्ततः कार्यान्तरं, प्रकृत्याश्रितकार्यस्यान्तरङ्गत्वात्, यावत्सम्भवस्तावद् विधिरिति न्यायाच्च। अन्यथा द्विवचने "अत आइस्तथयो" रित्यस्य प्रसक्तिः, तथा वहुवचने अन्ते-प्रत्ययस्य न-रामहराभाव-प्रसक्तिश्च स्यादिति सन्ध्येयम्। कालापास्तु इति—ईराम विधानसूत्रे गायतीति स्तिपा निर्देशात् गैशब्दे इत्यस्यैव भावकर्मणोरीरामं मन्यन्ते कालापा; नतु गाङ् इत्यस्य, तत्र गातीति निर्देशाभावादित्यर्थः।

अदितेति—वामन वैष्णवाभ्यामिति सेर्हरः।

अमृता०—२३५. देङ इति। अधोक्षजे परे नरसहितस्य देङो दिगिरित्यादेशो भवति। सनरस्येति किम्—दिदिग्ये इति माभूत्।

विस्तार-पालनयोः, ओप्यायी वृद्धौ इत्येतेभ्य उत्तरे कर्त्तरि वाच्ये भूतेश-ते परे इण् वा भवति। बुध्यतीति निर्द्देशात् भ्वादेर्न ग्रहणम् ॥२३३॥

बाल०—पद। कर्त्तरि वाच्ये भूतेश ते परे पदगतावित्येतस्मादुत्तरे इण् नित्यं भवति ॥२३४॥

२३६. मान वध दान शान्भ्यः सन्नीरामश्च नरस्य ।

मीमांसते । पूजायां—मानते । वध वन्धने निन्दायाञ्च । वधते । निन्दायां —वीभत्सते, वीभत्साञ्चक्रे । वर्ग्यादित्वाच्छसु ददेति न–वेधे । रभ राभस्ये कौतुके इत्यर्थः । आङ्पूर्वस्त्वारम्भे ।

२३७, रभि-लभोर्नुम् शवधोक्षज सर्वेश्वरे ।

अमृता—२३६. मानेति । मान विचारणे पूजायाञ्च, वध वन्धने निन्दायां च, दान अवखण्डने, शान तेजने इत्येतेभ्य उत्तरे अर्थ विशेषे हि सन् भवति, नरस्यान्तवर्ण ईरामश्च स्यात् । वीभत्सत इति–जवर्जं हरिगदादेरित्यादिना वरामस्य भरामः । वर्ग्यादित्वादिति वर्गीयबरामादित्वादेत्व-निषेधो न भवेदित्यर्थः दान-शानोस्तु अर्थान्तराभावात् स्वार्थे हिसन्निष्यते । दीदांसते शीशांसते इति ।

अमृता—२३७. रभीति । शवधोक्षजवर्जिते सर्वेश्वरादौ प्रत्यये परे रभ राभस्ये

बाल०—प्यायः । यङि अधोक्षजे च परे प्यायः स्थाने पी भवति । पी इत्यस्य एक-वर्णत्वाभावात् नान्ते प्रवर्त्तते । पिप्ये इति आदेशानन्तरं द्विर्वचनम् । कासाञ्चक्र इति सौधैगृहविशेषैः । सौधोऽस्त्री राजसदनमित्यमरात् । ननु 'वार्णो विकारः सन्धिः स्याद्विषयापेक्षकः क्वचिदि'त्यनेन सन्धेर्विषयापेक्षकत्वात् शपा सह सन्धिमकृत्वा गाते गाते इत्यत्र द्विवचन-बहुवचनविषये प्रथमतः 'अत आ ई स्त-थयो'रित्यनेनारामस्य ईत्वं कथं न स्यात्, शपोऽराम विद्यमाने अन्त इत्यस्य नरामहरो वा कथं स्यादिति चेत् केनाप्युक्तम् ? तत्रैवं समाधेयम्—विषयापेक्षकः क्वचिदित्यस्य परिभाषिकत्वेन । तत्र क्वचिद्ग्रहणेन च मातृवत् परिभाषेति नेष्टं हि विरुद्धयते इत्युक्ताद्धेतो 'रन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोरन्तरङ्ग विधिर्बलवानि'ति न्यायबलवत्वाच्च सन्धेरनिवार्यत्वम्, अतः सन्धौ सति शपोऽरामान्त-र्भावात् तत्सर्वं नासमञ्जसम् एतत् प्राचीनानामपि मतं, तथोक्तं तैः 'सन्निहितालाभे सन्निहितकार्यमेवेति न कश्चिद्विरोध' इति । गीयत इति 'दामोदरे'त्यादिना ईरामः । कालापास्त्विवति दामोदररेत्यादारिति दामोदरेत्यादिलक्षणानुरूपलक्षणे इत्यर्थः । गायतीति निर्दिश्येति तस्मात् । कालापानां मते 'गै शब्दे' इत्यस्यैव ग्रहणम् । अदितेति 'स्था-दामोदरयो'रित्यादिना इरामे कृते 'वामन-वैष्णवाभ्यामि'त्यादिना सेर्हरः ॥२३५॥

बाल०—देङ । अधोक्षजे परे नरसहितस्य देङः स्थाने दिगिर्भवति ॥

बाल०—मान । मान विचारणे पूजायाञ्च, बध बन्धने निन्दायाञ्च, दान अवखण्डने शान तेजने इत्येतेभ्य उत्तरे सन् भवति, नरस्यान्त ईरामश्च भवति । दान शानोर्गुपादि-बदर्थान्तरं नास्तीति सन् विधानेऽर्थ व्यवस्था नोक्ता, किन्तु सार्थे भवतीति ज्ञेयम् । बीभत्सते इति 'जवर्ज हरिगदादे'रित्यादिना बस्य भत्वम् । बीभत्साञ्चक्रे इति 'अनेक-सर्वेश्वरकाशिभ्यामि'त्यादिना आम् । बर्ग्यादित्वादिति बर्ग्यबरामादित्वात् 'शसु ददु बरामादीनामि'त्यादिना आम् । वर्ग्यादित्वादिति बर्ग्यबरामादित्वात् 'शसु ददु बरामादीनामि'त्यादिना न एत्वादिनिषेधः ॥२३६॥

आरभते, आरभ्यते । आरब्ध । आरम्भि ।

डु लभष् प्राप्तौ । डुषावितौ । लभते, लभ्यते । अलब्ध ।

२३८, लभेर्नुम् णम्विणो र्वा, सोपेन्द्रस्य तु नित्यम् ।

अलम्भि अलाभि प्रालम्भि ।

द्युत दीप्तौ । द्योतते ।

२३९, द्युतादिभ्यः परपदं वा भूतेशे ।

पुषादि द्युतादीति ङः, अद्युतत् अद्योतिष्ट ।

२४०, सपरसर्वेश्वर-यवराणामिउऋरामादेशः सङ्कर्षण संज्ञः ।

सम्प्रसरणमित्यन्ये ।

डुलभष् प्राप्तौ इत्यनयो रुत्तरे नुमागमो भवति। अधोक्षजे तु आरेभे। आरब्धेत्यत्र सर्वेश्वर परत्वाभावान्न नुम्। इह तावदिण् प्रत्यये एव सूत्रप्रवृत्तत्वेऽपि कृत् प्रकरणे च सूत्रचरितार्थता द्रष्टव्या।

अमृता०—२३८. लभेरिति। णमौ इणि च परे लभेर्नुम् वा स्यात्। उपेन्द्र पूर्वस्य तु लभे र्नुम् नित्यं भवति। णमुः कृत् प्रत्ययः। तत्र लम्भं लम्भं, लाभं लाभं वेति रूपद्वयं वोध्यम्।

अमृता०—२३९. द्युतादिभ्य इति। भूतेशे परे द्युतादिभ्यः परपदं वा स्यात्। पुषादीत्यादि सूत्रे परपद निर्देशादात्मपदे अद्योतिष्ट इत्यत्र ङो न भूतेश इति किम्—अन्यत्र न—द्योतिष्यते। द्युतादयो घटान्ता द्वाविंशतिः।

अमृता०—२४०. सपरेति। परसर्वेश्वरसहितानां यराम-वराम-ररामाणां यथाक्रमं इरामोरामऋरामादेशः सङ्कर्षण संज्ञको भवति।

बाल०—रभि। शवधोक्षजयोर्वर्जितं वर्जनं यत्र तादृशे सर्वेश्वरे परे रभिलभोर्नुम् भवति, शवधोक्षजाभ्यां वर्जिते सर्वेश्वरे परे इति व्याख्याने तु अर्थसौष्ठवं न भवति। शवधोक्षजवर्जं सर्वेश्वर इति वा पाठः। आरब्धेति 'वामने'त्यादिना सेर्हरः। डु लभष् प्राप्तावित्यनन्तरं डुषाविताविति बहुषु पुस्तकेषु न दृश्यते, किन्तु तत् लिपिकरप्रमादात् पतितमिति लक्ष्यते ॥२३७॥

बाल०—लभे णमौ इणि च परे लभेर्नुम् वा भवति, सोपेन्द्रस्य लभेस्त नित्यं नुम् भवति। नुम् कृत्, तत्रोदाहरणं कृत्प्रकरणे वक्ष्यते २३८॥

बाल०—द्युता। भूतेशे विषये द्युतादिभ्य उत्तरे परपदं वा भवति ॥२३९॥

बाल०—सपर। परसर्वेश्वरसहितानां यराम-वराम-ररामाणाम् इरामोराम-ऋरामादेशः सङ्कर्षणसंज्ञो भवति ॥२४०॥

२४१, द्युति-ष्वाप्यो र्नरस्य सङ्कर्षणः ।

दिद्युते । वृतु वर्त्तने । वर्त्तते । द्युतादित्वादवृतत् अर्वात्तिष्ट ।

२४२, वृतादिभ्यः परपदं वा स्य-सनोः ।

२४३, कृपे र्वालकल्कौ च ।

२४४. वृतु वृधु शृधु स्यन्दूभ्यो नेट् सरामे आत्मपदाभावे ।

वर्त्स्यति वर्त्तिष्यते । कृपू सामर्थ्ये ।

२४५, कृपे र्ऋ र्लृ ।

अमृता०—२४१. द्युतीति । द्युतेः ण्यन्त-स्वपधातोश्च नरस्य सङ्कर्षणो भवति । नरविष्णुजनानामादिशिष्यते इत्यस्यापवादः । स्वापेः—सुष्वापयिषतीति वक्ष्यते ।

अमृता०—२४२. वृतादिभ्य इति । वृधु स्यन्दूभ्यः परपदं वा स्यात् स्यप्रत्यये सन् प्रत्यये च परे । स्ये इति कल्केरजितस्य च एकदेशनिर्देशः ।

अमृता—२४३. कृपेरिति । वालकल्कौ परे चकारात् स्य-सनोश्च परयोः कृपेरुत्तरे परपदं वा भवति ।

अमृता०—२४४. वृत्विति । वृतु वर्त्तने, वृदु वृद्धौ, शृधु शब्दकुत्सायां, स्यन्दू स्रवणे इत्येतेभ्य उत्तरे आत्मपदाभावेऽर्थात् परपदे इट् न भवति । वृतादि त्रयाणामिटि प्राप्ते निषधः, स्यन्दे रूदित्त्वेन विकल्पेन प्राप्ते निषेध एषः । एवं वृधु—वर्त्स्यति वर्द्धिष्यते, अवर्तस्यत् अवर्द्धिष्यत ।

अमृता०—२४५. कृपेरिति । कृपू सामर्थ्य इत्यस्य ऋरामस्यस्थाने लृराम आदिश्यते

बाल०—द्युति । द्यतेर्ण्यन्त-स्वपधातोश्च नरस्य सङ्कर्षणो भवति । दिद्युत इति सङ्कर्षणाविधानस्य परत्वात् नात्र 'नरविष्णुजनानामादिः शिष्यते' इति प्रवर्त्तते, यत उक्तं 'पूर्व-परयोः परविधिर्बलवानि'ति । अस्य चान्तरपाठादित्यादिकं यद् वक्ष्यते, तदत्रैव वक्तुं योग्यमिति ज्ञेयम् ।।२४१।।

बाल०—वृता । स्य-सनोः सतोर्वृतादिभ्य उत्तरे परपदं वा भवति । वृतु वर्त्तने वृधु वृद्धौ, श्रृधु अपानशब्दे, स्यन्दू श्रवणे एते चत्वारो वृतादयः ।।२४२।।

बाल०—कृपेः । स्य-सनोः सतोर्बालकल्कौ च विषये कृपेरुत्तरे परपदं वा भवति ।।२४३।।

बाल०—वृतु । आत्मपदाभावे सति सरामे परे वृतादिभ्य उत्तरे इड् न भवति ।।२४४।।

बाल०—कृपेः । कृपेर्ऋरामे लृरामो भवति । अकलृपदिति द्युतादित्वात् । अकलृप्त अकल्पिष्टेति उरामेत्वाद्विकल्पितेट्त्वम् ।।२४५।।

कल्पते । अक्लृपत् अक्लृप्त अकल्पिष्ट । स्थानिवत्त्वात् नरऋरामस्यारामः—चक्लृपे ।

२४६. कृपे र्नेट् सरामादि-बालकल्कयो रात्मपदाभावे ।

कल्प्ता । आत्मपदे—कल्प्ता कल्पिता ।

व्यथ दुःखे भये चलने च । अव्यथिष्ट अव्याथि ।

२४७. व्यथो नरस्य सङ्कर्षणोऽधोक्षजे, पुन र्नसङ्कर्षणः ।

अस्य चानन्तर पाठान्नात्र नरविष्णुजनानामादिः शिष्यते । विव्यथे ।

ऊह वितर्के । ऊहते ऊह्यते ।

२४८. उपेन्द्रादूहते र्वामनः कपिल ये ।

समुह्यते । केवलोहतेरेव; नेह—आ ऊह्यते ओह्यते,—समोह्यते ।

अक्लृपदिति—द्युतादित्वाद् भूतेशे परपदं ङश्च । अक्लृप्त अकल्पिष्टेति—ऊरामेत्त्वाद्विकल्पितेट्त्वम् ।

अमृता०—२४६. कृपेरिति । आत्मपदाभावेऽर्थात् परपदे सरामादौ प्रत्यये बालकल्कौ च परे कृपेरुत्तरे इट् न भवति । ऊदित्त्वाद् विभाषयेटि प्राप्ते निषेधः । अव्यथिष्टेति—द्युतादित्वाभान्नेह परपदम्; किन्तु स्वतः सिद्धमात्मपदम् ।

अमृता०—२४७. व्यथ इति । अधोक्षजे परे व्यथ धातो र्नरस्य सङ्कर्षणः स्यात्, सङ्कर्षणे कृते तुपुनः सङ्कर्षणो न भवति । अरामसहित यरामस्य सङ्कर्षणे इरामे जाते वि इति स्थितं, ततः पुन स्तस्य संकर्षणे (उरामरूपे) प्राप्ते प्रेतिषेधोऽयम् । अस्य सङ्कर्षणविधानस्यानन्तर पाठात् परोक्तत्वात् पूर्व-परयोः परविधि र्बलवानिति न्यायादित्यर्थः ।

अमृता०—२४८. उपेन्द्रादिति । कपिल-ये परे उपेन्द्रादुत्तरस्य ऊहधातो र्वामनो भवेन्नतु चान्यसंयुक्तस्येत्यर्थः । ननु समौह्यतेति भूतेश्वर प्रयोगे सर्वेश्वरादे र्वृष्णीन्द्रोऽत् प्रसङ्ग इत्यनेन यो वृष्णीन्द्रो विधीयते ततः पूर्वं वामनः कथं न क्रियत इति शङ्कायां समाधत्ते—नित्यत्वादिति । वामने कृतेऽपि न कृतेऽपि प्रसङ्गमात्र निमित्तत्वेन वृष्णीन्द्रो

बाल०—कृपे । आत्मपदाभावे सति सरामादौ प्रत्यये बालकल्कौ च परे कृपेरुत्तरे इड् न भवति । कल्प्ता कल्पितेति विकल्पितेट्त्वात् ॥२४६॥

बाल०—व्यथो । अधोक्षजे परे व्यथो नरस्य सङ्कर्षणो भवति ।

पुनः । सङ्कर्षणे कृते पुनः सङ्कर्षणो न भवति । अस्य चेति अस्य सङ्कर्षणविधानस्य अनन्तरपाठात् परोक्तत्वात् ॥२४७॥

नित्यत्वाद् वामनं बाधित्वा वृष्णीन्द्रः। सकृदपि विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद् बाधितमिति न्यायेन पुन र्न वामनः। समौह्यत।

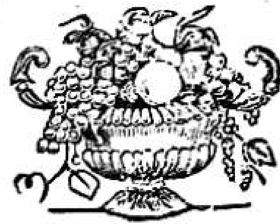
॥ इत्यात्मपद प्रक्रिया ॥

वृष्णीन्द्रे पश्चाद्भवत् वामनः? तन्निरस्यति–सकृदपीति। विप्रतिषेधो नाम तुल्यबल त्वादुभयप्राप्तिविरोधः।

॥ इति व्याख्यातात्मपद प्रक्रिया ॥

बाल०—उपे। कपिल-ये परे उपेन्द्रादुत्तरस्य ऊह धातोर्वामनो भवति। ननु समौह्यतेत्यत्र वृष्णीन्द्रात् पूर्वं वामनः कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—नित्यत्वादिति। वामने कृतेऽपि न कृतेऽपि वृष्णीन्द्रो भवतीति वृष्णीन्द्रस्य नित्यत्वं, ननु वृष्णीन्द्रे कृतेऽपि वामनः कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—सकृदपीति। विप्रतिषेधे उभयप्राप्तिविरोधे ॥२४८॥

॥*॥ इति आत्मपदप्रक्रिया ॥*॥



पत्लृगतौ । पतति ।

२४६. पतः पुम् ङे ।

उमावितौ । अपप्तत् । सह मर्षणे । सहते । इषुसहेतिवेट् ।

२५०. सहि-वहो ररामस्य ओरामो ढलोपे ।

सोढा सहिता । षद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु । सदेः सीदः,— सीदति निषीदति । शद्लृ शातने । शातनं छेदनम् ।

२५१. शदे रात्मपदं शिवे ।

शदेः शीयः,—शीयते । फण गतौ । फणति । फेणतुः फफणतुः । राजृ दीप्तौ । राजति राजते । रेजतुः रराजतुः ।

अमृता०—२४६. पतइति । ङेपरे पत्लृ गतावित्यस्मादुत्तरे पुमागमोभवति । अपप्तदिति–लृदित्त्वाद् ङः, अन्त्यसर्वेश्वरात् परं मितः स्थानमिति परामात् परं पुम् ।

अमृता०—२५०. सहीति । ढलोपे सति सह मर्षणे, वह प्रापणे इत्यनयोः अरामस्य स्थाने ओ राम आदिश्यते । ढस्य हरो ढे, पूर्वस्य त्रिविक्रमश्चेति त्रिविक्रमे प्राप्ते विशेष विधानम् । सोढेतिहस्य ढः, ढस्य हरः, त्रिविक्रमं वाधित्वा ओरामः । सहितेतिइषुसहलुभे-त्यादिना वेट्त्वेनह्यत्रेट् पक्षे रूपम् । अरामस्येति किम्—ऊढः । निषीदतीति-उपेन्द्रादपि षोपदेशस्य षत्वं क्वचिदिति षत्वम् ।

अमृता०—२५१. शदेरिति । शिवे प्रत्यये शद्लृ धातोरात्मपदं भवति । शिवइति कि—अशदत् शशाद शत्स्यति । फेणतुरिति जृभ्रम त्रसफणादीनामित्यादिना

अथ मिश्रप्रक्रियेति । अतःपरं परपद्यात्मपद्युभयपदीनां प्रक्रियेत्यर्थः । पत्लृ गतावििति, एष परपदी ।

बाल०—पत । ङे परे पत उत्तरे पुम् भवति । अपप्तदिति लृदित्त्वान् ङः । सह मर्षण इति, एष आत्मपदी ।।२४६।।

बाल०—सहि । ढलोपे सति सह मर्षणे, वह प्रापणे इत्यैतयोरररामस्य स्थाने ओरामो भवति । ढलोप इत्यत्र ढहर इति वा पाठः । सोढेति 'हस्य ढः' 'हरिघोषात्तथोर्धो धावर्जमि'त्यनेन तस्य धः, 'षात् परस्ये'त्यादिना धस्य ढः 'ढस्य हरो ढ' इति ढस्य हरः परत्वात्त्रिविक्रमं बाधित्वा ओरामः । षद्लृ विशरणे इति विशरणं खेदनम् एष परपदी । निषीदतीति उपेन्द्रादपि षोपदेशस्य षत्वं क्वचिदित्यनेन षत्वम्, शद्लृ शातनम इत्येष परपदी ।।२५०।।

टु भ्र जृ दीप्तौ । भ्राजते । भ्रेजे वभ्राजे ।

खनु अवदारणे । खनति खनते ।

२५२. जन-खन-सनामारामो वा कंसारि-ये ।

२५३. वैष्णवाद्योः कंसारिसनोर्नित्यम् ।

खायते खन्यते । चखान चख्नतुः । खायात् खन्यात् ।

गुहू सम्वरणे । ऊराम इत् ।

२५४. गोहओऊः सर्वेश्वरे ।

गूहति गूहते । अगूहीत अघुक्षत् अगूहिष्ट ।

विभाषया एत्वं नरादर्शनञ्च । फणादयः सप्त यथा—फणतिःराजति श्चैव भ्राजति भ्रासतिस्तथा । भ्लासतिः स्यमति श्चैव स्वनतिश्च फणादयः ।। इति ।

अमृता०—२५२. जनेति । कंसारि ये परे अनादि त्रयाणांमन्त्यवर्ण आरामः स्यात् । जनीति सामान्यतो ग्रहणाद् ह्लादे दिवादेश्च द्वयोरेव ग्रहणं ज्ञेयम् । षणु दाने ।

अमृता०—२५३. वैष्णबाद्योरिति । वैष्णवआदिर्यस्य स वैष्णवादिः । तादृशो यः कंसारि प्रत्ययः, तथाभूतएव यश्च सन् प्रत्यय स्तयोः परयो र्जनादीनामारामो नित्यं भवति। पूर्व सूत्रोक्त विकल्पानुवृत्तो निरासार्थं नित्यपदम् जातः खातः सातः । असात सिषासति । जन-खनो र्नित्यमिट्त्वात् सनि वैष्णवपरत्वासम्भवेन वैष्णवादि कंसारि प्रत्ययएव तयोरारामो ज्ञेयः वैष्णवाद्योरिति किम्—चख्नतुः, जिजनिषति, चिखनिषति ।

अमृता०—२५४. गोह इति । सर्वेश्वर प्रत्यये परे गोह ओरामस्य स्थाने ऊरामः स्यात् । गोह इति जात गोविन्दस्य निर्देशेन गुणहेतौ सर्वेश्वरादौ प्रत्यये पर एव गुहधातोर्लघूद्धवस्ल गोविन्दापवाद ऊरामो विधीयते । तेनजुगुहतुरित्यादौ न । सर्वेश्वर इति किम्—अघुक्षत् । अगूहीदिति—ऊदित्त्वेन वेट्, तत इट् पक्षे रूपम् । अघुक्षदिति—अनिट् पक्षे, ईशोद्धवादिति सक्, जवर्जहरि गदादेरिति घत्वम् ।

बाल०—शदे । शिवे विषये शदेरुत्तरे आत्मपदं भवति । परपदित्वादप्राप्ते विधानं शिव इति किं ? शत्स्यति । फण गताविति एष परपदी । फेणुतुरिति जॄ-भ्रम-त्रस-फणादीनां हिंसार्य राधश्च वेत्यनेन एत्वं नरादर्शनञ्च राजृ दीप्ताविति, एष उभयपदी । राजत इति उभयपदिभ्यः कर्त्तृगामि क्रियाफले आत्मपदं वक्ष्यते । टु भ्राज दीप्ताविति एष आत्मपदी ।।२५१।।

बाल०—जन । जन जनने ह्लादिः, जनी प्रादुर्भावे दिवादिर्द्वयोरेव ग्रहणं, खनु अवदारणे, षनु दाने इत्येतेषामन्तः कंसारि-ये परे आरामो वा भवति ।।२५२।।

बाल०—वैष्ण । वैष्णवाद्योः कंसारि-सनोः परयोर्जन-खन-सनामन्त आरामो नित्यं भवति । उदाहरणानि वक्ष्यन्ते । चख्नतुरिति 'गम-हन-जन-खने'त्यादिना उद्धवादर्शनम् ।।२५३।।

२५५. दुह लिह दिह गुहेभ्यः सको हरो वा दन्त्याद्यात्मपदे ।

अगूढ अघुक्षत । सकोऽन्तहरः सर्वेश्वरे । अघुक्षाताम् अघुक्षत । अगूढाः अघुक्षथाः अघुक्षाथाम् अघूढ्वम् अघुक्षध्वम्; अघुक्षि । प्रत्ययवरामस्य दन्त्यौष्ठत्वात्—अगुह्वहि अघुक्षावहि । जुगूह जुगुहतुः । गोढा । हृञ् हरणे । हरति हरते । अहार्षीत् । ऋद्वयाद्विष्णुजनान्तेत्यादिना कपिलत्वम्—अहृत अहृषाताम् ।

२५६. हस्य जो नरस्य ।

जहार । ऋरामात्तु नित्यं नेट्—जहर्थ ।

भज सेवायाम् । भजति भजते । बभाज भेजतुः भेजुः भेजिथ बभक्थ । श्रिञ् सेवायाम् । णिश्रीत्यङ्—अशिश्रियत् । रञ्ज रागे । रजति रज्यते । यज देवपूजा सङ्गतिकरण दानेषु । यजति यजते ।

२५७. वचि स्वपि यजादीनां संकर्षणः कपिले ।

अमृता०—२५५. दुहेति । दुह प्रपूरणे, लिह आस्वादने, मिह उपचये, गूह सम्वरणे इत्येतेभ्य उत्तरस्य सको हरो वा स्यादात्मपदे दन्त्यादिवर्णे परे । अगूढेति–जको हरे सति हस्य ढः, तस्पधः, धस्य ढः, ढस्य हरः, त्रिविक्रमश्च । अत्र हरत्वात् सकः स्थानिवत्त्वेन कंसारित्वमिति त्रिविक्रमात् प्रागपि न गोविन्द प्राप्तिः । अघुक्षतेति–अरामान्यवर्णादित्यादिना प्रत्यय नरामहरः । अघूढ्वमिति–सको हरपक्षे, ढस्य हरे पूर्वस्य त्रिविक्रमः । अहृतेति—वामनात् परस्य से हरः ।

अमृता०—२५६. हस्येति । नरभूतस्य हरामस्य स्थाने जराम आदिश्यते । अशिश्रियदिति—अङि द्विवचनं, धातोश्चतुः सनस्येति इय् ।

अमृता०—२५७. वचीति । वच परिभाषणे इत्यस्य, व्रुवोर्वचिरित्यादेशस्य च, ञिष्वप् शये इत्यस्य तथा यजादीनाञ्च सङ्कर्षणो भवति कपिल प्रत्यये परे । ननु भूतेश्वरे

बाल०—गोह । सर्वेश्वरे परे गोह ओरामस्य स्थाने ऊरामो भवति । अगूहीदिति इट् पक्षे सर्वेश्वर इति किम् ? गोढा इङभावपक्षे सक् अघुक्षदिति आत्मपदे तु इट् पक्षे अगूहिष्टेति ।।२५४।।

बाल०—दुह । दुह प्रपूरणे, लिह आस्वादने, दिह उपचये, गुहू संवरणे इत्येतेभ्यः परस्य सको दन्त्याद्यात्मपदे परे हरो वा भवति । अगूढेति सको हरे कृते हस्य ढः, तस्य धः, धस्य ढः, ढस्य हरः त्रिविक्रमः । अघुक्षतेति 'अरामान्यवर्णादित्यादिना नस्य हरः ।।२५५।।

बाल०—हस्य । नरस्य हस्य स्थाने जो भवति । रजतीति 'दनृश रनृजे'त्यादिना नस्य हरः ।।२५६।।

यजो वयो वहश्चैव वेञ् व्येञौ ह्वयति स्तथा ।
वद्वसौ श्वयतिश्चैव नवैतेस्यु र्यजादयः ॥

इज्यते । नित्यत्वात् सङ्कर्षणे सति–ऐज्यत । छशोराजिति षत्वं—अयाक्षीत् अयाष्टाम् ।

२५८. वच्यादीनां ग्रहादीनाञ्च नरस्य संकर्षणोऽधोक्षजे ।

ग्रहादयो वक्ष्यन्ते । इयाज ईजतुः ईजुः, इयजिथ इयष्ठ । इज्यात् । डुवप् वीजतन्तुसन्ताने । डुरित् । वपति वपते । उप्यते । वह् प्रापणे । वहति वहते । उह्यते । अवाक्षीत् । विशेषत्वादोरामो वृष्णीन्द्रं वाधते—अवोढाम् अवोढ । उवाह ऊहतुः । वेञ् तन्तुसन्ताने । वयति वयते । ऊयते ।

यजतेः प्रथमं धातोः पूर्वमत् कार्यमुत सङ्कर्षण इत्याशङ्कायामाह—नित्यत्वादिति । अदागमे वृतेवा नकृते वा सङ्कर्षणोभवत्येव, अत एतस्य नित्यता । तस्माददागमात् प्रागेव सङ्कर्षणः प्रवृत्तः, ततोऽत् प्रसङ्ग मात्रे वृष्णीन्द्रे ऐज्यत ।

अमृता०—२५८. वच्यादीनामिति । अधोक्षजे परे वचि स्वपि यजादीनां ग्रहादीञ्च धातूनां नरस्य सङ्कर्षणो भवति । अकपिल प्रत्यये हि नरस्य संकर्षणविधिरयम् । कपिले तु नारायणस्य सङ्कर्षणे सति स्थानिवत्त्वेन सङ्कर्षणस्यैव द्विवचनम् सिध्येत्; यथा ईयतुरित्यादौ । इयष्ठेति—सहजारामवतश्च तादृशादिति विकल्पितेट्त्वादनिट् पक्षे षात्परस्येत्यादिना थस्य ढत्वम् । विशेषत्वादिति–विष्णुजनान्तानामिति वृष्णीन्द्रविधानस्य दशावतार सामान्य विषयत्वात् सामान्यत्वम्; सहि-वहो रित्योरामविधानस्य अराममात्र विषय त्वेन विशेषत्वं ज्ञेयम् । अत उत्सर्गापवादयोरपवादस्य वलवत्त्वादोरामएव स्यान्नतु वृष्णीन्द्रः । ऊयत इति सङ्कर्षणे कृते वामनस्येति त्रिविक्रमः ।

बाल०—वचि । वच परिभाषण इत्यस्य व्रू ञादेश वचेश्च ञिष्वप शय इत्यस्य च यजादीनाञ्च कपिले परे सङ्कर्षणो भवति । यजादीनाह—यज इति । यज धातोरर्थं उक्त एव अष्टानामर्था निकट एव वक्ष्यन्ते । वद्-वसावित्यत्र वस्वदाविति ज्ञेयं, वस धातोरनन्तरं वदधातोर्वक्ष्यमाणत्वात् अन्यत्र क्रमभङ्गाभावाच्च । नित्यत्वादिति । अदागमे कृतेऽकृते अपि सङ्कर्षणो भवतीति सङ्कर्षणस्य नित्यत्वं, तस्मात् अदागमात् पूर्वमेव सङ्कर्षणे कृते अत्प्रसङ्गमात्रे वृष्णीन्द्रः ऐज्यतेति । अयाजीदिति 'षढो कःस' इति षस्य कत्वम् । अयाष्टमिति 'वामने'त्यादिना सेर्हरः ॥२५७॥

बाल०—वच्या । क्षधोक्षजे परे वचि-स्वपि-यजादीनां ग्रहादीनाञ्च नरस्य सङ्कर्षणो भवति । ईजतुरिति नरस्य सङ्कर्षणे कृते 'असंयोगादलिदधोक्षजः कपिल' इति कपिलत्वात् बचिस्वत्यादिना सङ्कर्षणः । इयष्ठेति 'षात् परस्य' इत्यादिना थस्य ठत्वम् । ननु अवोढामित्यत्र ओरामविधानात् पूर्वं 'विष्णुजनान्तानानामनिटामि'त्यादिना वृष्णीन्द्रः कस्मान्न

२५९. वेञो न सङ्कर्षणोऽधोक्षजे ।

ववौ ववतुः ।

२६०. वेञो वयि वाधोक्षजे ।

ग्रहादित्वान्नरस्य सङ्कर्षणः—उवाय ।

२६१. ग्रहि ज्या वयि व्यधि वशि व्यचि व्रश्चि प्रच्छि भ्रस्जीनां सङ्कर्षणः कंसारौ ।

वयि ग्रहणं वेञोनेति निषेधात्ययतार्थम् ।

२६२, वयो यस्य वोवा कपिले ।

ऊयतुः ऊवतुः उवयिथ । व्येञ् सम्वरणे ।

अमृता०—२५९. वेञ इति । अधोक्षजे परे वेञः सङ्कर्षणो न स्यात् । वचि स्वपि यजादीना मित्यनेन प्राप्ते सङ्कर्षणेऽत्र निषेधः । ववाविति—चतुर्व्यूहान्तानामित्यारामान्त-पाठात् णल औः । ववतुरिति—अरामहरः कंसारि सर्वेश्वरे त्यादिना अरामहरः; नेह नरस्य नारायणस्य वासङ्कर्षणः ।

अमृता०—२६०. वेञो वयीति । अधोक्षजे वेञः स्थाने वयि इत्येवमादेशो वा स्यात् । इरामइत् ।

अमृता०—२६१. ग्रहि ज्येति । ग्रह उपादाने, ज्या वयो हानौ, वयि, व्यध ताडने, वश कान्तौ, व्यच व्याजीकरणे, ओ व्रश्चू छेदने, प्रच्छज्ञीप् सायां, भ्रस्ज पाके इत्येतेषां सङ्कर्षणो भवति कंसारि प्रत्यये परे । वयि ग्रहणमिति—एकदेशविकृतमनन्यवदिति न्यायेन वेञो य आदेशो वयि स्तस्यापि निषेधे प्रसक्ते तस्य अत्ययार्थं ग्रहादिषु वयग्रहणामित्यर्थः ।

अमृता०—२६२. वय इति । कपिल प्रत्यये परे आदिष्टस्य वयो यरामस्य स्थाने वरामो वा भवति । उवयिथेति वयादेश पक्षे थलि नित्यमिट् ।

स्यादितिचेत्तत्राह—विशेषत्वादिति । अवोढामिति 'सहिवहोररामस्य ओरामो ढलोप' इत्यनेन ओरामः । उयत इति सङ्कर्षणे कृते 'बामनस्य त्रिविक्रम इत्यादिना त्रिविक्रमः ॥२५८

बाल०—वेञो । अधोक्षजे परे वेञः सङ्कर्षणो न भवति । ववाविति आरामान्त-पाठः 'आरामाण्णल औ', नात्र नपस्य सङ्कर्षणः । ववतुरिति आरामहरः कंसारी'त्यादिना आरामहरः । नात्र नरस्य धातोश्च सङ्कर्षणः ॥२५९॥

बाल०—वेञो । अधोक्षजे परे वेञः स्थाने वयिर्वा भवति । इराम इत् । ग्रहादि-त्वादिति वयेरेति शेषः ॥२६०॥

बाल०—ग्रहि । ग्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ इत्येतयोर्वयेश्च, व्यध ताडने, वश कान्तौ, व्यच व्याजी करणे, ओ व्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्, भ्रस्ज पाके इत्येतेषाञ्च कंसारौ परे सङ्कर्षणो भवति ।

वयीति । व्यथि ग्रहणं वेञो न सङ्कर्षणोऽधोक्षज इत्यनेन विहितस्य निषेधस्य अत्ययार्थम् । अत्ययः खण्डनम् ॥२६१॥

२६३, व्येञो नात्वमधोक्षजे ।

वृष्णीन्द्रः—विव्याय । विव्यतुः । नारायणस्य सङ्कर्षण–नित्यत्व-निषेधाद् विव्ययतु रिति कालापाः ।*

थलि अत्त्यर्त्ति वृ-व्येञ्भ्यो नित्यमिट्—विव्ययिथ । वीयात् । ह्वेञ् स्पर्द्धायाम् । ह्वयति ह्वयते । हूयते ।

२६४, लिपि-सिचि-ह्वो ङो भूतेशे कर्त्तरि ।

अमृता०—२६३. व्येञ इति । अधोक्षजेपरे व्येञ आरामान्तपाठो न स्यात् । चतुर्व्यूहान्तानामित्यादिना प्राप्तस्यात्वस्य प्रतिषेधोऽयम् । वृष्णीन्द्र इति—अन्तस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंह इत्यनेन एरामस्य ऐरामरूपः वृष्णीन्द्र इत्यर्थः । विव्यायेति—नरविष्णुजनानामादिः शिष्यत इत्येतं वाधित्वा नरस्य सङ्कर्षण इराम एव भवति परत्वात् । विव्यतुरित्यादौ नरस्य सङ्कर्षणे कृते धातोः सङ्कर्षणः, ततः असंयोग पूर्वस्येत्यादिना यरामः । इह पुनस्तु नरस्य नारायणस्य न सङ्कर्षणः । व्यथो नरस्येत्यादौ पुन र्न सङ्कर्षण इति निषेधोऽन्येषामप्युपलक्षणं ज्ञेयम् । नारायण स्येति—नित्यत्वनिषेध इह नित्यत्व-व्यभिचारः । यथा हि—"न व्ययते परोक्षा ग्रहणं ज्ञापयति—कलापसूत्रस्य पञ्जी टीका—परोक्षा ग्रहणं ज्ञापयति-सम्प्रसारण विधि—रनित्य इति । तेनागुणोऽप्याकार प्रतिषेधे च संविव्यततुः संविव्ययु रिति सिद्धम् । तथा च भट्टौ—"त्वक्त्रैः संविव्ययु देहान् (संविव्यु रङ्गानि) वाहनानधिशिश्यिरे" इति । वीयादिति सङ्कर्षणे कृते त्रिविक्रमः ।

अमृता०—२६४. लिपीति । लिपि उपदेहे, षिच क्षरणे, ह्वेञ् स्पर्द्धायामित्येतेभ्य उत्तरे ङइत्यागम' स्यात् भूतेशे कर्त्तरि । कर्त्तरीत्युभयपदे प्राप्त्यर्थम् ।

बाल०—वयो । कपिले परे वयो यस्य स्थाने वो वा भवति । उवयिथेति वय्यादेश पक्षे थलि नित्यमिट् । आदेशाभाव पक्षे तु वेट् ।।२६२।।

बाल०—व्येञो । अधोक्षजे परे व्येञ आरामान्तपाठो न भवति । वृष्णीन्द्र इति 'अन्तस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंह' इत्यनेन एरामस्य ऐरामः । विव्यायेति नरस्य सङ्कर्षणः । विव्यतुरिति नरस्य सङ्कर्षणे कृते धातोः सङ्कर्षणः 'असंयोग पूर्वस्ये'त्यादिना यः । ननु विव्याय विव्यतुरित्यत्र नर-नारायणत्ररामयोः पुनः संकर्षणं कस्मान्न स्यादिति चेत्तदैवं वाच्यं व्यथो नरस्य संकर्षणमित्यत्र पुनर्न संकर्षणमिति यन्निषेधनं तत्तूपलक्षणमेवान्येषां ज्ञापकत्वादुपलक्षणविधेः प्रकृतसिद्धोपयोगित्वात्तदप्यस्मिन् प्रयोक्तव्यमिति । किंवा प्रकृताश्रितत्वं प्रकृतावपीत्यनेन पूर्वस्यान्तरङ्गत्वं तेन नर-नारायणवरामयोः पुनः संकर्षणविधौ सति 'क्वचिदन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं बहिरङ्गमसिद्धं स्यादि'त्यनेन यरामस्यासिद्धत्वात् सपरसर्वेश्वरं-ररामस्यभावस्तस्मात् पुनः संकर्षणसम्भावनैव न स्यादिति न क्वचिद्विरुद्धं स्यादिति ज्ञेयम् । वीयादिति संकर्षणे कृते त्रिविक्रमः ।।२६३।।

* सङ्कर्षण-नित्यत्व-निषेधादित्यत्र क्वचित् नित्यत्वं' पदं लिपिकार प्रमादात् पतितं मन्ये, आकर कलापे तादृशपाठाभावात् ।

२६५, आत्मपदे तु वा ।

आरामहरः–अह्वत् अह्वत अह्वास्त ।

२६६, ह्वो नरनारायणयोः सङ्कर्षणो नामधातुं विना ।

जुहाव । वस निवासे । वसति ।

२६७, वसि-घस्योः षः ।

उष्यते ।

२६८, सस्य तः सरामादि रामधातुके ।

अवात्सीत् अवात्ताम् अवात्सुः । उवास ऊषतुः उवस्थ उवसिथ । वद व्यक्तायां वाचि । अवादीत् । टुओश्वि गति वृद्धयोः । टुओ इतौ । श्वयति श्वयते शूयते ।

अमृता०—२६५. आत्मपदं इति । भूतेशे आत्मपदे तु लिप्यादिभ्यो विभाषया ङः स्यात् । कर्त्तरीत्यनुवृत्तो न हि कर्मणि ङो भवेदित्ति बोध्यम् ।

अमृता०—२६६. ह्व इति । नामधातुं विना ह्वेञ् धातो र्नर नारायणयोः सङ्कर्षणः स्यात् । अत्र नर-नरायण शव्दयोः सामर्थ्यात् परनिमित्तमधोक्षजादिकमाक्षिप्यते । तेन च कपिला कपिल विचारोऽपि निरस्तः; अधोक्षजमात्रे इत्यर्थः । नरेति किम्—जहव इत्येवमनिष्टरूपं मा भूत् । थलि जुहविथ जुहोथ ।

अमृता०—२६७. वसीति । पूर्वोक्तदीश्वरादिनिमित्तात् परयो र्वसिघस्यो र्दन्त्यस्य मूर्द्धन्यादेशः स्यात् । पर निमित्तन्तु नापेक्षते षत्वविधिः । अनयोर्धातु त्वेन प्रत्यय-विरिञ्चित्वाभावादप्राप्ते षत्वे विधान मेतज्ज्ञेयम् । घसीति घस्लृ अदने, अदेः घसादेशसः, द्वयो रेव ग्रहणम् । घसः षत्वं यथा जक्षतुः । ईश्वरादि निमित्तादेव, अन्यथा वसति जघास ।

अमृता०—२६८. सस्येति । सरामादि रामधातु के परे सरामस्य तरामादेशः स्यात् । सरामादीति किम्—उवस्थ । रामधातुक इति किम्—वस आच्छादनेः वस्ते । अवादीदिति—वद व्रजयोरिति वृष्णीन्द्रः । थलि-उवदिथ ।

बाल०—लिपि । लिप उपदेहे, षिच क्षरणे, ह्वेञ् स्पर्द्धयाम् इत्येतेभ्य उत्तरे कर्त्तरि वाच्ये भूतेशे परे ङो भवति ॥२६४॥

बाल०—आत्मा । आत्मपदे तु ङो वा भवति ॥२६५॥

बाल०—ह्वो नरः । नामधातुं विना ह्वो नर-नारायणयोः संकर्षणो भवति । जुहावेति 'हस्य जो नरस्ये'ति हस्य जत्वम् । प्रत्युदाहरणं वक्ष्यते ॥२६६॥

बाल०—वसि । वसि घस्योरन्तः षो भवति । घसीति घस्लृ अदन इत्यस्य घसादेशस्य च ग्रहणम् ॥२६७॥

बाल०—सस्य । सरामादि-रामधातुके परे सस्य स्थाने तो भवति । सराम-

२६९, जॄ-स्तन्भु म्रुचु म्लुचु ग्रुचु ग्लुचु ग्लुञ्चु श्विभ्यो ङो वा भूतेशपरपदे ।

ग्लुचेनैव सिद्धौ ग्लुञ्चेः पृथगुपादानान्नलोपाभावः । तेन अग्लुञ्चत् ।

२७०, श्वयते रिरामहरो ङे ।

अश्वत् । पक्षे सिः । यमहान्तेति न वृष्णीन्द्रः—अश्वयीत् । पक्षे अङ्—अशिश्वियत् ।

२७१, श्वेः संकर्षणो वा यङधोक्षजयोः ।

२७२, सन्नङ् परे णौ च ।

अमृता०—२६९. जॄ स्तन्भ्विति । जॄष् वयोहानौ, स्तनभु सौत्रः, म्रुचु प्रभृतयो गत्यर्था स्तथा टुओश्वि गति वृद्धयो रित्येतेभ्य उत्तरे ङो वास्ताद् भूतेशे परपदे । ग्लुचुनैव सिद्धाविति—ग्लुचुधातो र्यथा अग्लुचत् अग्लोचीदिति पद द्वयं सिध्यति तथैव ग्लुञ्चु धातोश्च अनिरामेतामित्यादिनानुनासिकलोपेन सिध्येत्, यथापि सूत्रे यद् ग्लुञ्चुधातोः पृथग् ग्रहणं कृतं तेनेदं ज्ञापयति-तस्य नलोपो न भवतीति भावः ।

अमृता०—२७०. श्वयतेरिति । ङे परे श्वयते रिरामहरो भवति । पक्षे अङिति—धेट् श्विभ्यामङ् वा भूतेश कर्त्तरीत्यनेन विभाषाविधानात् ।

अमृता०—२८१. श्वेरिति । यङि अधोक्षजे च परे श्वेः सङ्कर्षणो वा स्यात् । यङि अप्राप्ते, अधोक्षजे तु यजादित्वान्नित्यं प्राप्ते विकल्पो विहितः ।

अमृता०—२७२. सन्नङीति । सन् च अङ् च सन्नङी, तौ परौ यस्मात् तादृशे णौ च परे (सन्परे णौ, अङ्परे णौ चेत्यर्थः) श्वेः सङ्कर्षणो वा भवति । ननु शुशावेत्यत्र सङ्कर्षणविधे र्नित्यत्वात् प्रथममेव वृष्णीन्द्रो वाधितस्तेन, ततः सङ्कर्षणे कृते पश्चात् सकृदपि विप्रतिषेधेनेत्यादि न्यायेन पुनस्तद् वृष्णीन्द्रस्य प्रवृत्तिर्नार्हतीति शङ्कायां समाधत्ते—मातृवत् परिभाषेति । परिभाषा त्वभीष्टं न वाधते, अतोभवत्येवात्र वृष्णीन्द्र इति भावः । ननु च शिश्वायेत्यादौ विशेष सूत्रेण श्वि धातोः सङ्कर्षणो विभाषितः, किन्तु वच्यादीनां ग्रहादीनाञ्च नरस्य सङ्कर्षण इत्यनेन नरस्य सङ्कर्षणो युज्यत एवेति चेन्न ।

रामधातुक इति वा पाठः । अवादीदिति 'वदव्रजयोः वृष्णीन्द्रः सौ परपदे' इत्यनेन वृष्णीन्द्रः ।।२६८।।

बाल०—जॄ स्तन्भु । जॄष् वयोहानौ, स्तन्भु सौत्रधातुः, म्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु गतौ, टु ओश्वि गतिवृद्धयोः इत्येतेभ्यः उत्तरे भूतेशपरपदे ङो वा भवति । ग्लुचुनैव सिद्धाविति अत्र ग्लुचुस्तेयकरण इत्यस्य ग्रहणे कृते ग्लुञ्चेः पृथगुपादानं सार्थकं भवति, किन्त्वत्र ग्लुचु गत्यर्थ एव गृह्यते, न तु स्तेयकरणार्थः तथापि पृथगुपादानान्नलोपाभावः ।।२६९।।

बाल०—श्वय । ङे परे श्वयतेरिरामो हरो भवति । पक्षे अङिति 'धेट् श्विभ्यामङ् वा भूतेशे कर्त्तरी'त्यनेनेति शेषः ।।२७०।।

बाल०—श्वे यङि अधोक्षजे च परे श्वेः संकर्षणो वा भवति ।।२७१।।

अत्र सकृद्गतन्यायो न वाधकः। मातृवत् परिभाषेति नेष्टं हि विरुध्यते। ततो यावत् सम्भव स्तावद्विधि रिति न्यायेन वृष्णीन्द्रः। ततो द्विर्वचनं—शुशाव-शुशुवतुः शुशविथ। शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वयिथ।

॥ इति मिश्र-प्रक्रिया ॥

॥*॥ भुवादिगणः समाप्तः ॥*॥

सूत्रे खलु ज्ञापितञ्चैतत्—यदा धातोः सङ्कर्षणो भवति तदैव नरस्य स इष्टः यतो वचि स्वपि यजादीनामित्यादिना तथा ग्रहि ज्येत्यादिना च येषां धातूनां सङ्कर्षणो विहितः, तेषामेव नरस्य स विहितो वच्यादीनां ग्रहादीनाञ्चेत्यादौ सूत्रे। तस्मादसति संकर्षणे धातोः (नारायणस्य) नैव भवति स नरस्येति विवेकान्निरवकाश स्तत् प्रसङ्गस्य।

इति श्रीहरिनामामृते आख्यात प्रकरणे—
अमृतास्वादिनी टीकायां व्याख्यातो
भुवामिगणः।

बाल०—सन्नङ। सन् च अङ् च सन्नङौ तौ परौ यस्मात् तादृशे णौ च परे श्वेः संकर्षणो वा भवति। सन्पर-णौ अङ्पर-णौ चेत्यर्थः, ननु शुशावेत्यत्र संकर्षणस्य नित्यत्वात् प्रथमतो बाधितो बृष्णीन्द्रः। संकर्षणे कृते सकृद्गतन्यायात् पश्चादपि न भवत्विति चेत्तत्राह—अत्रेति सकृद्गतमेवेति न्यायः हि यतः इष्टं विरुद्ध्यते, अतो मातृसदृशपरिभाषेति नेष्टम्, अत्र यावदित्यादि न्यायाङ्गीकारः प्रयोजनाधिक्यशून्य इति ज्ञेयम् ॥२७२॥

॥ इति मिश्रप्रक्रिया ॥

* भुवादिगणः समाप्तः *

अथ अदादिः।

अद भक्षणे।

२७३. अदादेः शपो महाहरः।

अत्ति अत्तः अदन्ति। अद्यते। अद्यात्। अत्तु।

२७४. हु-वैष्णवाभ्यां हे-र्धिः।

अद्धि।

२७५. अदेरट् भूतेश्वर दि-स्योः।

२७६. रुदादे रीट् च।

आदत् आदः।

अमृता०—२७३. अदादेरिति। अदादिगणपठितात् धातोः शपो महाहरो भवति। अत्तीति यादवमात्रे हरि कमलम्।

अमृता०—२७४. हु-वैष्णवाभ्यामिति। हु वह्नौ दाने इत्यस्मात् तथा वैष्णवा च्चोत्तरे हि प्रत्ययस्य स्थाने धिरित्यादेशः। वैष्णवादिति किम्—प्रीणीहि रुदिहि। अद्धीत्यत्र हि स्थाने ध्यादेशे सत्यपि आशिषि तातङादेशस्य तु न वाधः, तुह्यो स्तातङति सूत्रे सर्वत्र पदस्य ग्रहणसामर्थ्यात्।

अमृता०—२७५. अदेरिति। भूतेश्वर दिप्सिपोः परयोः अद धातोरुत्तरे अडागमो-भवति। टइत्। दिस्योरिति दिप् सिपो रेकदेशेन निर्देशः कृत;।

अमृता०—२७६. रुदादेरिति। भूतेश्वर दिस्योः परयोः रुदादेर्धातोरुत्तरेरीट् स्यात्, चकारादट् च। रुदादिर्गणो दर्श्यते। रुदादिभ्य इट् कृष्णधातुके इत्यस्यापवादक एषः। इह टित्करणेन अट ईटश्च प्रत्ययसम्वन्धानेऽपि पृथुत्वं स्वीकृतमिति न गोविन्द वाधः—अरोददित्यादिषु।

॥ अथ अदादिः॥

बाल०—अदादेः। अदादिगणपठितस्य धातोः शपो महाहरो भवति। अत्तीति 'यादवमात्रे हरिकमलमि'ति दस्य तत्वम्॥२७३॥

बाल०—हु-वै। हु वह्नौ दाने इत्येतस्मात् वैष्णवाच्चोत्तरस्य हें: स्थाने धिर्भवति॥

बाल०—अदेः। भूतेश्वरदिस्योः परयोः अदेरुत्तरे अड् भवति। ट इत्। दिस्योरिति दिप्सिपोरेकदेशनिर्द्देशः॥२७५॥

बाल०—रुदा। भूतेश्वरदिस्योः परयोः रुदादेरुत्तरे अट् ईट् च भवति। रुदादि-र्वक्ष्यते। ननु अदेरडित्यादौ अ-ई न कृत्वा अडीडिति किमर्थं कृतमिति केत् केनाप्युच्यते? तत्रोच्यते,—अदितोः केवलागमत्वेन षष्ठीनिर्द्देशात् केवलप्रकृतिसम्बन्धित्वभावेन वा

२७७. अदो घस्लृ भूतेश-सनो रधोक्षजे तु वा ।

लृराम इत् । पुषादीति ङः—अघसत् । अघासि अघत्साताम् । जघास जक्षतुः जघसिथ । विकल्पनमिदं ज्ञापकम् । ततः सहजानिट् घस्लृ प्रयोगो नसार्वत्रिक इति जघस्थेति न भवेदेव । पक्षे आद आदतुः । अत्त्यर्त्ति-वृ-व्येञ्भ्यो नित्यमिट् थलि, आदिथ । प्सा भक्षणे । प्साति । आरामादन उस् भूतेश्वरस्य तु वा—अप्सुः अप्सान् । आरामाण्णल औः पप्सौ । प्सायात् प्सेयात् । वश कान्तौ । कान्तिरिच्छा । वष्टि उष्टः उशन्ति वक्षि । उश्यते । वष्टु । षस्य ड उड्ढि ।

अमृता—२७७. अद इति । भूतेशे सनि च परे अद धातो र्घस्लृ आदेशः स्यात्, अधो क्षजे परे तु स विभाषया भवति । अघत्सामितिसस्य तः सरामातादिरामधातुक इति सस्य तः । जक्षतुरिति–गमहनेत्यादिना उद्धवादर्शनं, स्थानिवत्त्वेन घस्य द्विवचने हरिगदा चवर्गश्च, नारायणस्य यादवमात्रे इति हरिकमलं, वसि धस्योरिति षत्वम् ।

ननु सहजानिट् गणे घस्लृ धातुः रठित एव, तस्यापि जघसेत्यादिकं रूपं सिध्यत्येवेति किमनेन विधानेन ? तत्राचष्टे—विकल्पनमिति । अयं भावः—सहजानिट् घस्लधातोः प्रयोगः सर्वत्र न भवति, ततः सहरामवतश्च तादृशादिति थलि विकल्पितेऽपि तस्य सुतरां न भवतीत्येव ज्ञापयति, अत्राधोक्षजे विकल्पादेशः । अन्यथा यदि घस्लृधातोः सर्वत्र प्रयोगः स्यात् ततश्च थलि रूपद्वयं सिद्धं स्यात् तर्ह्यधोक्षजे विभाषया घस्लृ आदेशस्य न किमपि प्रयोजनमासीत् । तस्मादेतदादिष्टस्य सहजानिट्त्वाभावान्नित्यमेवेट् थलि नतु विकल्पेनेत्यर्थः । प्सायादित्यादौ सत्सङ्गादेरात एराम इत्यादिना एत्वविकल्पः उष्ट इति—अपृथु कृष्णधातुकत्वात् तस् प्रत्ययस्य निर्गुणत्वात् कंसारित्वम्, ततश्च वशो यजादिषु पाठात् सङ्कर्षणः ।

कपिलादिशङ्कया तद्व्यवधाने दिप्सिपोः परयोः रुदादेर्लघूद्धवस्य गोविन्दो न भवतु, अतो अनिश्चिते सति अडीडिति कृतं, टिदागमस्य प्रसिद्ध-परसम्बन्धित्वेन पृथुत्वात् तद्व्यवधानेऽपि न रुदादेर्गोविन्दस्य बाध इति ॥२७६॥

बाल०—अदो । भूतेशे सनि च परे अदः स्थाने घस्लृर्भवति, अधोक्षजे परे तु वा भवति । अघत्सातामिति 'सस्य तः सरामादि-रामधातुके' इति सस्य तः । जक्षतुरिति 'गम-हने'त्यादिना उद्धवादर्शनं तस्य स्थानिवत्त्वेन घरामस्य द्विर्वचने कृते हरिघोषस्य हरिगदा, कवर्गनरस्य चवर्गः, यादवमात्रे हरिकमलमिति, घस्य कत्वम्, वसिघस्योः ष इति षत्वं विकल्पनमिति । जघासेत्यादिकं घस्लृधातुनापि सिद्ध्यतीति अधोक्षजे विकल्पविधानमप्रयोजनकमेवेत्युद्भूतत्वात् ज्ञापकत्वम्, अतो ज्ञापकात् जघस्थेति न भवेदेवेति अदधातो स्थलि नित्येट्त्वात् जघसिथ आदिथेति रूपद्वयं भवति । जघस्थेति घस्लृधातुं

२७८. विष्णुजनाद्दिस्योर्हरः ।

अवट् औष्टाम् । वष्टि श्छान्दस इति भाष्यम् ।

हन हिंसा-गत्योः । हन्ति । हरिवेण्वन्तेत्यादि—हतः ।

गमहनेत्युद्धवादर्शनं, हनो हस्य घो णिन्नयोः—घ्नन्ति; हंसि हथः हथ ।

हन्मि हन्वः हन्मः ।

२७९, उपेन्द्राद्धन्ते ररामपूर्वस्य नस्य णः ।

२८०. अन्तरस्त्वदेशे ।

प्रहण्यते अन्तर्हण्यते । नेह—अन्त र्हननो देशः ।

उपेन्द्रादिति किम्—वृत्रहननं छत्रहननम् । प्रक्रिया तु चिन्त्या ।

अमृता०—२७८. विष्णुजनादिति । विष्णुजनादुत्तरयोर्दिस्यो र्हरोभवति अवडिति-छशोरिति षत्वं, षस्य डत्वं हरिकमलश्च । अत्र सत्सङ्गान्तस्य हरो विष्णुपदान्त इत्यनेन दिपो हरे सिद्धेऽपि सिपस्तु हरो न सिध्येत्, रात् सस्यैवेति नियमात्; यथा अजागरित्यादि । अत स्तदर्थमेवात्र हरविधानं कृतं दिपोऽप्यानुसङ्गिकतया तद्विधामं ज्ञेयम् । औष्टामिति—नित्यत्वात् सङ्कर्षणे कृते वृष्णीन्द्रः ।

अमृता०—२७९. उपेन्द्रादिति । उपेन्द्रादुत्तरस्य हनधातो र्नस्य णत्वं स्यात्। कथम्भूतस्य नस्य ? आरामः पूर्वयस्तात्ताद्दशस्येत्यर्थः समानविष्णुपदत्वाभावादप्राप्ते विधानमेतत् ।

अमृता०—२८०. अन्तर इति । अन्तर् शब्दादुत्तरस्य हन्तेररामपूर्वस्य नस्य णः स्याद्देशे वाच्ये । अन्त शब्दो णत्वविधाविति तस्योपेन्द्रत्वमग्रे व्यक्तीकरिष्यते ।

विना न भवति, तस्य त्वसार्वत्रिकप्रयोगत्वेन तन्नु न भवत्येव । अत्त्यर्त्तीति लक्षणैकदेशोल्लेखः । प्सेयादित्ति 'सत्सङ्गादेवात एरामः कपिल-कामपाले वे'त्यनेन आतः एत्वम् । उष्ट इति 'अपृथुः कृष्णधातुको निर्गुण' इति निर्गुणत्वात् कंसारित्वं, ततः संकर्षणः । षस्य ड इति 'षस्य डो विष्णु पदान्ते हरिघोषे चे'ति लक्षणैकदेशोल्लेखः ।।२७७।।

बाल०—विष्णु । विष्णुजनादुत्तरयोर्दिस्योर्हरो भवति । अवड्रिति हरे कृते शरामस्य षत्वं, षस्य डत्वं, डस्य टत्वम् । अवडित्यादौ 'सत्सङ्गान्तस्य हरो विष्णुपदान्ते' इत्यनेनापि हरः सिद्धयति, किन्तु अजागरित्यादौ 'रात् सस्यैव सत्सङ्गान्तहर'विधिरिति नियमात् हेर्हरो न स्यादिति तदर्थं क्रियमाणमेतदर्थमपि भवतीति न कश्चिद्विरोधः । नियमेऽपि सेर्हरः सिद्धयत्येव तथापि सेर्हरविधानं किमर्थं कृतमिति न निश्चिन्मः । किन्तु किञ्चिदुच्यते—'रात् सस्यैवे'ति नियमादन्यस्मात् सेर्हरो न भवत्विति केषाञ्चिन्मन्दमतीनां शङ्कानिरासार्थं तस्यापि ग्रहणमिति । औष्टामिति नित्यत्वात् संकर्षणे कृते वृष्णीन्द्रः ।।२७८

बाल०—उपेन्द्रादुत्तरस्य हन्धातोः अरामः पूर्वो यस्मात् ताद्दशस्य नस्य स्थाने णो भवति ।।२७९।।

२८१. उपेन्द्राद्धनो णत्वं वमो र्वा ।

प्रहण्मि प्रहन्मि प्रहण्वः प्रहन्वः । हन्तु हतात् ।

२८२, हन् हेर्जहि ।

जहि । तातङ् पक्षे तु हतात् । हनानि हनाव हनाम ।

अहन् अहतां अघ्नन् ।

२८३, हनो वधो भूतेश-कामपालयोः ।

२८४, भूतेशात्मपदे तु वा ।

सर्वेश्वरान्तत्वेऽप्येकाच्त्वाभावादिट् । अरामहरः, अन्तहरे नगोविन्द वृष्णीन्द्रौ—अवधीत् । अवधि अधानि । इण् वदिडभाव पक्षे—

अमृता०—१८१. उपेन्द्रादिति सुगमम् ।

अमृता०—२८२. हन् हे रिति । हन् धातो र्हि प्रत्ययेन समं जहि इत्येवं निपात्यते । जहीति व्रह्मत्वनिर्देशः सुवोधाय । ननु हनधातोरयं विधि र्विशेषः, ततश्च विधानसामर्थ्यादेव तातङ् वाध्यत इति शङ्कायामाह—तातङ्पक्षे त्विति । सूत्रे तस्मिन् सर्वत्रपद ग्रहणात् तादृश-शङ्काया नावकाश इत्यर्थः ।

अमृता०—२८३. हन इति । भूतेशे कामपाले च परे हन धातोः स्थाने वध इत्यादेशोभवति । अरामान्तोऽयमादेशः ।

अमृता०—२८४. भूतेशेति । भूतेशात्मपदे तु हनो वधादेशो व स्यात् । सर्वेश्वरात्वेऽपीति—तत्रानिट् कारिकायां खलु धावत इत्यस्य विशेषणतया एकाचः स्वरान्ता इति द्वयोरेवोपन्यासात, एकस्याभावे तु नानिट् ततइहापि स्वरान्तत्वेऽपि एक स्वरत्वाभात् नानिट्, अर्थादिडेव । अरामहरो रामधातुक इति शेषः ।

बाल०—अन्तः । अन्तर उत्तरस्य हन्तेररामपूर्वस्य नस्य णो भवति । देशे वाच्ये तु न भवति । अन्तर्हनन इति अन्तर्हननं यत्रेति विग्रहः । वृत्रहननमिति वृत्रस्य हननमिति विग्रहः । वृत्रोऽसुरविशेषः । प्रक्रिया तु चिन्त्येति तस्मात् प्रक्रियायां नैवं मतमिति बोद्धव्यम् । अरामपूर्वस्येति किम् प्रघ्नति अन्तर्घ्नति ॥२८०॥

बाल०—उपे । वमोः परयोः उपेन्द्रादुत्तरस्य हनो नस्य णत्वं वा भवति ॥२८१॥

बाल०—हन्तेः । स्थाने जहि भवति ॥२८२॥

बाल०—हनो । भूतेशे कामपाले च परे हनः स्थाने वधो भवति ॥२८३॥

बाल०—भूते । भूतेशात्मपदे तु वा भवति । सर्वेश्वरान्तत्वेऽपीति एकच्सर्वेश्वरान्तस्यानिट्त्वमुक्तम् । अस्य तु एकाचत्वस्याभावादिड् भवत्येव । अरामहर इति 'अरामहरो रामधातुके' इत्यनेनेति शेषः । अवधीदिति 'विष्णुजनादेर्लघोररामस्य वृष्णीन्द्रः इडादौ सौ वा परपद' इत्यनेन वृष्णीन्द्रः स्यात् । अवधीति 'उद्धवारामस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंह' इत्यनेन

२८५, हनः सिः कपिलः ।

अहसाताम् । इण्वदिटि—अघानिषाताम् ।
अत्र हनिणिङादेशा न भवन्तीति काशिकादिमतम् ।

अमृता०—२८५. हन इति हन धातोः परः सिः कपिलो भवति । तेन अहसाता-मित्तत्र कपिलत्वत् हरिवेण्वन्तेत्यादिना नरामहरः । परपदे तु हन्तेर्वधादेशस्य नित्यत्वात् कपिलत्वस्य नोपकारित्वमिति खल्वात्मपद विषयक एष विधिः । अपि च इण्वदिट् पक्षाभावे एवास्य प्रवृत्तिः, तत्र हि कपिलत्वस्यनिष्टत्वादिति ध्येयम् । वधादेश पक्षे तु—अवधिषातामित्यादीनि । किञ्च—"आङो यम-हनो" रित्यात्मपदे कर्त्तरि हि-आहत आहषातामित्यादीनि रूपाणि भवन्त्येवेति सन्ध्येयम् ।

ये केचिदिण्वदिडाधिकृत प्रत्ययमात्रे (स्यसिकामपालवालकल्किषु) वधादेशं संभावयन्ति तेषां मतस्याकिञ्चित्करत्वमभिव्यञ्जयति काशिकादिमतेन—इत्येषामादेशा यथाक्रमं वध गा गाङ् रूपा नभवन्तति काशिका भाषा वृत्तिश्च । तन्मते इण्वदिटोऽङ्गाधिकारविहितत्वात् । यथा हि—"स्यसिच् सीयुट् तासिषु भावकर्मणो" रिति सूत्रस्यव्याख्यायाम्—अङ्गाधिकार विहितं कार्यमिहातिदिश्यते । तेन हनिणिङामादेशा न भवन्ति । हनिष्यते । घानिष्यते, एष्यते स्मायिष्यते, अध्येष्यते नध्यायिष्यते । हनो वध लिङि लुङ् च, इणो गा लुङ्, विभाषा लुङ् लृङि रित्येते विधयो न भवन्ति ।" इति काशिका ।

तस्याश्च पञ्जिकानुसारी भावः—इण्वदिति सप्तम्यर्थे वतिः । तेन इणीव यद् दृष्टं कार्यं प्रकृतेः सम्भवति तदिहातिदिश्यते । तथा सति इणि यथा वृष्णीन्द्र-युक-घत्व-त्रिविक्रमा दृष्टा स्तथा इणधिकृत प्रत्ययविशेषे—हनो वधः इणो गा इङि गाङ् चादेशो दृश्यते । कथं तर्हि इण्वदिटाधि कृत प्रत्यय सामान्ये अर्थात् स्यादिषु पञ्चष्वपि प्रत्ययेषु नते आदेशाः ? तत्रोक्तम्—अङ्गाधिकारविहितमिति । अङ्गाधिकारात् प्रागेव वधाद्यादेश विधानान्न तेऽङ्गाधिकारप्रविष्टाः, नत स्तेआदेशा अत्रोक्तकार्यविशेषष्य निमित्त भूत प्रत्ययेषु न सम्भाव्या इत्येवाशयः । शंकाभासोऽयम्, स च विधानेतप प्रत्ययपरः । तेन हस्तेः अवधिषाताम् इणिङिश्च अगायिशातामित्यादिषु इण्वदिटि भवन्त्येवादेशा विधानोपयोगादित्यर्थः ।

वृष्णीन्द्रः स्यात् । अघानि इति 'हनो हस्य घो णिन्नयोरि' हस्य घत्वम्, 'उद्धवारामस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंहे' इत्यनेव वृष्णीन्द्रः ।।२८४।।

बाल०—हनः । हन धातोः सिः कपिलो भवति । अहसातामिति कपिलत्वात् 'हरिवेण्वन्ते' त्यादिना नरामहरः । सिहित्यत्र वैष्णवादिसिरिति पाठः सभ्यः । अघानिषातामित्तादौ कपिलत्वाभावस्येष्टत्वात् । अत्रेति अत्र वधादेशाभाववदिण्वदिट् पक्षे हनधातोर्णिङादेशा न भवन्तीति काशिकादीनां मतं णिङि सति ये आदेशा भवन्ति, ते णिङादेशा उच्यन्ते ते त्वत्र चवृष्णीन्द्रतरामाः अतस्तन्मते अहनिषातामिति भवति । अस्माकं मते तु तरामस्यैवाभावः ।।२८५।।

२८६. नराद्धन्ते हंस्य घः ।

जघान जघ्नतु, जघ्नुः जघनिथ जगन्थ । वध्यात् हनिष्यति । यु मिश्रणामिश्रणयोः ।

२८७, उरामस्य वृष्णीन्द्रः शव्लुकि पृथुविष्णुजने ।

२८८, ऊर्णोते र्वा ।

२८९, नतु नारायणस्य ।

यौति युतः युवन्ति । यूयते, युयात्, अयावीत् ।

लाक्षणिकत्वान्नारामान्तपाठत्वम् । इण् गतौ । ण इत् ।

एति इतः, एति हुवोरिति यः–यन्ति । ईयते, इयात् ।

अमृता०—२८६. नरादिति । नराडुत्तरस्य हनधातो हंस्य घादेशः स्यात् । पूर्वोक्तेन हनो हस्य घो णिन्नयो रिप्यनेन जघान जघ्नु रित्यादीनां सिद्धतत्वेऽपि सूत्रस्यास्य चरितार्थता जघनथि जङ्घन्यते इत्यादावेव ज्ञेया ।

अमृता०—२८७. उरामस्येति । शपो लुक् यत्र तादृशि पृथु विष्णुजने परे धातो रुरामस्य वृष्णीन्द्रो भवति । उरामस्येति किम्–एति । शव्लुकीति किम्–सुनोति । विष्णुजन इतिकिम्—यवानि । पृथुविष्णुजने एव, अन्यथा–युतः । यद्यपि युत इत्यादौ निर्गुणतया कंसारित्वाद् गोविन्द वृष्णीन्द्रनिषेधः सम्भवेत तथापीह शव्लुकीति विशिष्ट विष्णुजन निमित्तत्वादपवादविधि तया शंकास्यादिति तद्वकाशो निरासितः पृथुपदनिवेशेन ।

अमृता०—२८८. ऊर्णोतेरिति । शव् लुकि पृथुविष्णुजने ऊर्णुञ् आच्छादने इत्यस्य ऊरामस्य वृष्णीन्द्रो व भवति । ऊर्णौति ऊर्णोति पृथुविष्णुजन एव, तेन नेह–प्रोर्णवानि ।

अमृता—२८९. नत्विति । नारायण संज्ञकधातोरवयस्य तूरामस्य वृष्णीन्द्रो न भवति शव्लुकि पृथुविष्णुजने । जुहोति । अयावीदिति–ईशान्तस्येति वृष्णीन्द्रः । ननु वृष्णीन्द्रे कृते चतुर्व्यूहान्तानामित्यादिना अरामान्तपाठः कथं न स्यात्तत्राह–लाक्षणिकत्वादिति ।

बाल०—नरादुत्तरस्य हनधातो हंस्य स्थाने घो भवति । जघान जघ्नतुरित्यादो 'हनो हस्य घो णिन्नयोरि'त्यनेनापि हस्य घत्वं सिद्धयति, किन्तु जघनिथेत्यादौ न भवतीति लक्षणस्याखण्डनीयत्वं सिद्धम् । हनिस्यतीति 'ऋरामहनिभ्यामिट् स्यसि' इति इट् ।।२८६।।

बाल०—उरा । शपौ लुकि सति विष्णुजने परे उरामस्य वृष्णीन्द्रो भवति ।।२८७।।

बाल०—ऊर्णो । ऊर्णुञ् आच्छादने इत्यस्योरामस्य शव्लुकि सति विष्णुजने परे वृष्णीन्द्रो वा भवति ।।२८८।।

२९०. इणो गा भूतेशे ।

इणस्थेति सेर्महाहरः—अगात् । वृष्णीन्द्रः, द्विर्वचनम् इयादेशः—इयाय । एतीत्यादावेवकारान्न यादेशः । ततो द्विर्वचने इयादेशे च वृते—ईयतुः ईयुः । इययिथ इयेथ । ईयात् ।

२९१. उपेन्द्रादिणो न त्रिविक्रमो कामपाले ।

अमृता०—२९०. इण इति । भूतेशे परे इण् धातो र्गादेशोभवति । ततः कर्मणि-अगायि । आदेशस्य सहजसर्वेश्वरान्तत्वादिण्वदिटि—अगायिषातामित्यादि । द्विवचनमिति स्थानिवत्त्वादिरामस्येति शेषः । इयादेशइति—नरेदुतोरियुवावित्यादिना नरस्य एवकारान्न यादेशइति—तत्रलक्षणेकृष्णधातुक एवेति निर्देशाद् रामधातुकास्तु व्यावृत्ता इति तत्र यादेशो न प्राप्नोतीत्यर्थः । इयादेशे च कृत इति–धातोश्चतुः सनस्येयुवावित्यनेन नारायणस्य इय्, ततो नरेरामेण सह सन्धिः । इययिथेति–गोविन्दः, एअय्, स्थानि वत्त्वादिरामस्य द्विवचने इयादेश- । इयेथेति सहजसर्वेश्वरान्त सहजानिट इति थलि वेट् ।

अमृता०—२९१. उपेन्द्रादिति । कामपाले परे उपेन्द्रादुत्तरस्य इण् धातो स्त्रिविक्रमो

बाल०—न तु । नारायणस्य तु वृष्णीन्द्रो न भवति । युत इति 'ईशस्य न गोविन्द वृष्णीन्द्रो कंसारिष्व'त्यनेन वृष्णीन्द्र निषेधः । युयादिति विधौ । शब्लुकीति किं ष्टुञ् स्तुतौ बालकल्किपरपदं ता स्तोता विष्णुजन इति किम् ? आनिप् स्तवानि अयावीदिति ईशान्तस्य वृष्णीन्द्रः सौ परपद' इत्यनेन वृष्णीन्द्रः । नन्वत्र वृष्णीन्द्रे कृते आरामान्तपाठः कथं न स्यादिति । चेत्तत्राह–लाक्षणिकत्वादिति । आरामान्तपाठत्वमिति कृतपीताम्बरसमासादारामन्तपाठशब्दात् त्वप्रत्ययः ननुचतुर्व्यूहान्तानामित्यादि लक्षणे अशिव इति विषयसप्तमीति पूर्वमेवोक्तम्, अतः प्रत्ययोत्पत्तेः पूर्वमेवारामात्पाठो भवतीति प्रत्ययोत्पत्तेः पूर्वमेव यत्र चतुर्व्यूहान्तत्वं, तत्रैव तस्य विषय इति लब्धमेव एवंसति अयावीत्यत्र प्राप्तिसंभावनापि नास्ति, तथापि किमर्थं नाङ्गीकार, कृतः इति न निश्चिन्मः । विषय सप्तमी व्याख्याया वृष्णीन्द्रे कृतेऽप्यरामान्तपाठः सम्भवत्येव तन्निरासार्थं लाक्षणिकत्वान्नेति स्वीकृतमिति । इत्यादिति विधौ ।।२८९।।

बाल०—इनो । भूतेशे परे इणः स्थाने गा भवति । द्विर्वचनमिति स्थानित्वादिरामस्येति शेषः । इयादेश इति नरेदुतोरियुवावेकात्मकेतरसर्वेश्वरः इत्यनेनेति शेषः । एतीत्यादाविति एति ह्वोर्यवौ कृष्णधातुक एवे'ति लक्षण इत्यर्थः । ईयतुरित्यत्र एतीत्यादौ कृष्णधातुके एवेत्यनेनैवकारेण कृष्ण धातुकादन्यत्र 'इद्वयमेव य' इत्यनेन प्राप्त-यरामोऽपि बाध्यते इति । ईयतुरिति एकामकसर्वेश्वरपरत्वान् नरेदुत इय । इययिथेति इय गोविन्दः स्थानिवत्वादिरामस्य द्विर्वचम्, इयादेशः 'ए अय्', इडभाव पक्षे इयेथेति ईयादिति कामपाले ।।२९०।।

अन्वियात्। सन्धिर्भवत्येव अभीयात्।

इक् स्मरणे।

२९२. इण्वदिक्।

ततो यरामादि।

२९३. इकिङौ नित्यमधिपूर्वौ।

अध्येति अधियन्ति। अध्यगात्। मा माने।

माति मीयते। मेयात् ख्या प्रकथने।

२९४. अस्यति वक्ति ख्यातिभ्यो ङो भूतेशेकर्त्तरि।

आरामहरः अख्यत्। या प्रापणे। याति। वा-गति गन्धनयोः। गति र्वातस्यैव। गन्धनं हिंसा सूचनं वा। द्रा कुत्सायाम्। निद्राति। विद ज्ञाने। वेत्ति वित्तः विदन्ति। इत्यादि।

न भवति। कामपाल इति परपदे एवेत्यर्थादवगम्यते, तत्रैव यरामयरामसद्भावे त्रिविक्रमस्य सम्भवात्। एवं उदियादिति च। सन्धिना-आ ईयात् समेयादित्यपि वोध्यम्।

अमृता०—२९२. इण्वदिति। इक् स्मरणे इत्यस्य कार्यम् इण् धातुवत् स्यात्। ततो यरामादीति–आदिना गादेशः, उपेन्द्राद् वामनश्च।

अमृता—२९३. इकिङाविति। इक् स्मरणे इण् गतौ इत्येतौ नित्यमधि पूर्वौ प्रयुज्येते। केचित्तु रामधातुकाधिकारोक्तस्यैवातिदेशोऽत्रेतिमन्यन्ते। ततो गादेशमात्रं भववि नतु यादेशः। तथा हि भट्टिः—सतीतयोः राघवयो रधीयन्निति दीक्षितः। आतिदेशिक कार्यस्यानित्यत्वान्न हि सर्वत्र प्रवृत्तिरिति विवेकः।

अमृता०—२९४. अस्यतीति। कर्त्तरि वाच्ये भूतेशे परे अस्यति वक्ति ख्यातिभ्य उत्तरे ङइत्यागमः स्यात्। सेरपवादोऽयम्। अस्यतीति सविकरण निर्देशात् असु क्षेपणे दिवादे रेव ग्रहणं नतु अस्भुवि अदादेः। वक्तीति वच परिभाषणे इत्यस्य,व्र ुवो वच्यादेशस्य च, तथा ख्यातीति ख्या प्रकथने, चक्षिङः ख्याञि इत्यनयो श्च ग्रहणं ज्ञेयम्। अस्यतेः पुषादौ पाठादेव ङे सिद्धे पुनरिहविधानमात्मपदार्थम्। पर्यास्थत, अस्थादेशो वक्ष्यते। कर्त्तरीति किम्—पर्यासिषातां गावौ वत्सेन। आख्यायिषतां बृत्तौ चरेण।

बाल०—उपे। कामपाले परे उपेन्द्रादुत्तरस्येण्धातो स्त्रिविक्रमो न भवति ॥२९१॥

बाल०—इण्व। इक् धातुः इण्धातुवद्भवति।यरामादिरित्यादिशब्देन गादेर्ग्रहणम्। त्रिविक्रमो न भवतीत्युक्तम्, अतः सन्धिप्रकरणोक्तत्रिविक्रमोऽपि न भवत्विति मन्दधियां शङ्का स्यात्तन्निरासार्थमाह—सन्धिर्भवत्येवेति। सन्धिरिति त्रिविक्रमनामा सन्धिरिति॥

बाल०—इकिङौ। इक स्मरणे इङ् अध्ययने इत्येतौ नित्यमधि पूर्वौभवतः। इकिङा विति 'अनित्यं सूत्रनिर्द्दे शे इत्यसन्धिः ॥२९३॥

२९५. वेत्ति प्रभृतीनां वेदादयो नव निपाता वा ।

वेद विदतुः विदुः । वेत्थ विदथुः विद । वेद विद्व विद्म । अनयोस्तु विष्णुसर्गाभावेन निपातः ।

२९६. वेत्तु प्रभृतीनां विदाङ्करोतु प्रभृतीनि वा ।

विदाङ्करोतु विदांकुरुतात् वा विदांकुरुतां विदांकुर्वन्तु ।
विदांकुरु विदांकुरुतात् वा विदांकुरुतं विदांकुरुत ।
विदाङ्करवाणि विदाङ्करवाव विदाङ्करवामेति ।
अवेत् अवित्ताम् अविदुः ।

२९७. दधो रुः सिपि वा ।

२९८. विदेराम्नि न गोविन्दः ।

विदाञ्चकार विवेद । अस् भुवि, सत्तायामित्यर्थः । अस्ति ।

अमृता०—२९५. वेत्तीति । वेत्ति प्रभृतीनां स्थाने वेदादयो नव विभाषया निपात्यन्ते।इहतु ग्रन्थकृता प्राचीनैरिव वेत्तीत्यादीनां थलाद्यन्तानि नातिदिश्यन्ते,निपातस्य स्वातन्त्र्यात् । पूर्वपरयोः सहैवादेशो निपात इतिप्रागुक्तम् । ततो वस् मस् इत्येताभ्यां सह प्रकृते निपाते सति सविष्णुसर्गे पदे भवितुंयुज्येते इत्यत आह—अनयोरिति ।

अमृता०—२९६. वेत्त्विति । विदाङ्करोतु प्रभृतीन्येकादश वा निपात्यन्ते इति शेषः अवेदिति—विष्णुजनाद् दिस्यो र्हरः । अविदुरिति—सिनारायणे त्यादिना अन उस् ।

अमृता०—२९७. दधोरिति । सिपि परे दराम-धरामयोः स्थाने रु र्वा स्यात् । उराम उच्चारणार्थः । पक्षे दधयोश्च स्थितिः ।

अमृता०—२९८. विदेरिति । आम् प्रत्यये परे विदधातो र्गोविन्दो न भवति । लघूद्धवस्येत्यनेन प्राप्ते निषेधः । उष वेत्ति जागृभ्य इत्यनेन आम् विहितम् । तेषु विदेरेव गोविन्दवारणादन्ययोस्तु गोविन्दो भवत्येव । ओषाञ्चकार, जागराम्बभूव । विवेदेति तत्र विकल्पेनामो विधानात्तदभावपक्षे रूपम् ।

बाल०—अस्यति । कर्त्तरि वाच्ये भूतेशे परे अस्यति वक्ति ख्यातिभ्य उत्तरे ङो भवति । अस्यतीति निर्द्देशात् असु क्षेपणे इत्यस्यैव ग्रहणं नत्वस्ब भुरीत्यस्य । वक्तीति बचपरिभाषणे इत्यस्य ब्रुवो वच्यादेशस्य च ग्रहणम् ।।२९४।।

बाल०—वेत्ति । व्यक्तार्थमेतत् । अनयोस्त्वति विशेषोक्त पदयोरित्यर्थः ।।२९५।।

बाल०—वेत्तु । इदमपि व्यक्तार्थम् । प्रभृतिशब्दः आद्यर्थः । अवेदिति 'विष्णुजनाद्दिस्योर्हर' इति दे र्हरः । अविदुरिति 'सि नारायणवेत्तिभ्यः अन् उस्' इत्यनेन उस् ।।२९६।।

बाल०—दधोः । सिपि परे दधोः स्थाने रुर्वा भवति । उराम इत् ।।२९७।।

बाल०—विदेः । आमि परे विदे गोविन्दो न भवति विवेदेति आमाऽभावपक्षे ।।२९८।।

२९९. श्नमस्त्योररामहरो निर्गुणे ।

स्तः सन्ति ।

३००. अस्तेः सलोपः से ।

असि स्थः स्थ । अस्मि स्वः स्मः ।

३०१. उपेन्द्रप्रादुर्भ्यामस्तेः सः षो य-सर्वेश्वरयोः ।

निषन्ति प्रादुःसन्ति । प्रादुरिति शब्दोऽयम् पृथगव्ययं, नतु प्रादीनाम् समुदायः, पृथगुपादानात् । तेनोपेन्द्रकार्यमन्यत्रापि नास्य गम्यम् । क्रिया व्यतीहारे धातोरात्मपदं वक्ष्यते । व्यतिस्ते व्यतिषाते व्यतिषते । प्रत्यय सरामस्य विष्णुपदादित्वान्नषत्वं—व्यतिसे । पाणिनीयाश्च—

अमृता—२९९. श्नमस्त्योरिति । निर्गुणे प्रत्यये परे श्नम् विकरणस्य अस्धातो श्च अरामहरः स्यात् । रुधादेः श्नमिति । रुन्धः । अत्र निर्गुण विष्णुजन एवेति वोद्धव्यं, तेन सन्तीत्यत्र नारामहरः ।

अमृता०—३००. अस्तेरिति । सरामे परे अस् धातोः सरामस्य लोपो भवति । ततो व्यतिसे इत्यपि सिध्यति ।

अमृता०—३०१. उपेन्द्रेति । यरामे सर्वेश्वरे च परे उपेन्द्रादुत्तरे प्रादुरित्यव्यया-च्चोत्तरे अस्तेः सरामस्य षत्वं भवति । अत्रास्तेः प्रत्ययविरिञ्चित्वाभावाद प्राप्ते षत्वे विधानम् । किञ्च कृतारामहरस्य हि अस्तेः सस्य षत्वं विधीयते, अन्यथा अरामव्यवधानेन प्राङ्निमित्ताभावादनुपपत्तिरापद्येत । एवञ्च यपरे निष्यात् प्रादुः स्यात् । उपेन्द्रादिति किम् दधि स्यात् । य-सर्वेश्वरयोरिति किम्-निस्तः प्रादुस्तः । प्रादीनां समुदाय इति—प्रआङ्

बाल०—श्नम् । निर्गुणे परे श्नमोऽस्तेश्च अरामहरो भवति । श्नम् वक्ष्यते ॥२९९॥

बाल०—अस्तेः । से परे अस्ते. सरामस्य लोपो भवति । सलोप इत्यत्र सहर इति वा पाठः ॥३००॥

बाल०—उपे । येसर्वेश्वरे च परे उपेन्द्र-प्रादुर्भ्यामुत्तरस्य अस्तेः सरामः षरामो भवति । स इत्यत्र सस्येति पाट उचितः । कार्यस्थाने तु षष्ठिकेत्युक्तत्वात् । ननु अस्तेः ष इत्युक्तेऽपि 'एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तते' इति अस्तेः सस्य स्थाने षो भवति लभ्यत एव, कथं तर्हि स इति क्रियते ? उच्यते, अस्तेररामहरे नकृते षत्वस्य प्राप्तियोग्यतैव नास्ति कृते तु आद्यभावात् केवलसरामेऽन्तत्वानुपपत्तेरेकवर्ण इत्यादि न्यायोत्र नाङ्गीकृतः । प्रादुरितीति इतीत्यत्र छेदः अन्यथा अयमिति व्यर्थं स्यात् । प्रादुरितीत्युल्लेखकरणम् । प्रादीनां प्राङ्दुरां समुदायो मिलनम् । कुत एतदुच्यते इति चेत्तत्राह—पृथगुपादानादिति । तेनेति तेन पृथगव्ययत्वेन सेतुना अस्य पृथगव्ययस्य प्रादुरित्यस्य अन्यत्रापि उपेन्द्रकार्यं न गम्यम् ज्ञेयम् । क्रियेति । क्रियाभ्यतीहारेऽर्थे । व्यतीहारः परिवर्त्तः । प्रत्ययेति । व्यतिस इत्यत्र अराम-सरामयो र्हरे कृते प्रत्यय मात्रस्य से इत्यस्यैव विष्णुपदत्वम्, अतः सरामस्य

"नसात्-पदाद्यो"रिति सूत्रयन्ति, उदाहरन्ति च—अग्निसाद्भवति, दधि सिञ्चति, व्यतिसे इति। व्यतिषाथे व्यतिध्वे।

३०२. अस्तेः सस्य ह-एरामे।

व्यतिहे व्यतिस्वहे व्यतिस्महे। अत्रानुकरणादनुप्रयोगेतु नइन्दामासे। स्तिपा धातुस्वरूप निर्देशान्न स्यादिति कालापाः।

दुरिति त्रयाणामुपेन्द्राणां मेलनेन च प्रादुरिति भवति, तत्तु नेह गृह्यते, पृथक्तयास्य सूत्रे निर्देशात्। अतः पृथक् चेदमव्ययं मन्तव्यम्। ततश्चान्यत्राप्यस्योपेन्द्रकार्यं न शङ्कनीयमित्यर्थः।

क्रिया व्यतीहार इति—क्रियाया व्यतीहारः परस्पर परिवर्त्तनं तस्मिन्नर्थे आत्मपदं भवतीति वक्ष्यते–क्रियाव्यतीहारे धातो रात्मनेपदमिष्यते इत्यनेन। प्रत्ययसरामस्येति–व्यतिसे इत्यत्र अस् धातोरराम-सरामयो र्लोपेन प्रत्ययमात्रस्यैवावशेषात्। तत्रच पुनः–सर्वत्रावशिष्ट एव लुप्तस्य शक्त्यारोपः इति प्रसिद्धया विष्णुपदादित्वारोपान्न षत्वम्, "नतु विष्णु पदाद्यन्त सातीनामिति निषेधात्। सिद्धान्तश्चायं पाणिनीयमत सम्मत इति दर्शयति-पाणिनीयाश्चे ति। सूत्रयन्ति सूत्रंकुर्वन्तीत्यर्थः। व्यतिध्व इति सस्य हरोध्वे इति सलोपः।

अमृता०—३०२. अस्तेरिति। एरामे परे अस् धातोः सरामस्य हरामादेशः स्यात्। विधौ—व्यतिषीत। विधातरि ऐप्—व्यत्यसै। लङि–व्यत्यास्त। लुङादिषु तु भ्वादेशः। ननु इन्दामासे इत्यत्र अस्धातोः सस्य हः कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—अत्रेति। इन्दामासे इत्यत्र अस् धातोरनुप्रयोगो नतु मूलप्रयोगः। अनुप्रयोगः खल्वनुकरणमात्रम्; अतोऽनुकरणाद्धेतो र्नैव हराम इत्यर्थः। स्तिपेति—इक्स्तिपौ धातुनिर्देश इत्यनुशासनात् सूत्रे स्तिपा यद्धातो र्यत् कार्यमुच्यते तत्तु स्तिप्-निर्दिष्टस्य तस्यैव भवति नतु धात्वन्तरस्य अस्धातो ति सस्य हः स्यान्नत्वनुप्रयुक्तस्येति कालापसिद्धान्तः।

विष्णुपदादित्वम्, अतो न तु विष्णुपदाद्यन्तसातीनामिति न षत्वम्। व्यतिस इत्यत्र षत्वाभावमुक्त्वा पाणिनीयमतदर्शनेन द्रढयति पाणिनीयाश्चेति। सूत्रयन्ति सूत्रं कुर्वन्ति। व्यतिध्वे इति 'सस्य हरो ध' इति सस्य हरः ॥३०१॥

बाल०—अस्तेः। एरामे परे अस्ते सस्य स्थाने हो भवति ननु इन्दामासे हो इत्यत्र सस्य हः कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—अत्रेति। असिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थम् इदं तत्रैव कर्त्तुं योग्यमपि यन्न कृतं, तस्मात्तत्राकरणादनुप्रयोगे यस्य हो न भवति। एराम इति सन्निध्यादस्तेरेव एरामो गृह्यते, अत इन्दामासे इत्यत्र न सस्य हः, अत एरामः नास्ते किन्त्विन्दधातोरित्यपि सिद्धान्तान्तरम् ज्ञेयम्। श्तिपेति कृत्प्रकरणोक्तेन श्तिप् प्रत्ययेन धातुस्वरूपस्य निर्द्देशात् न भवतीति कालापा वदन्तीति शेषः धातुस्वरूपनिर्द्देशादिति धातुनिर्द्देशादित्यर्थः। श्तिपा धातुनिर्द्देशात् केवल स्यासधातोः सस्य हो भवति नत्वनुप्रयोगयुक्तस्येति तेषां भावः ॥३०२॥

३०३. अस्तेर्भू र्ब्रुवोवची रामधातुके ।

भूयते । स्यात् स्याताम् । षत्वे निष्यात् । अस्तु स्ताद् वा ।

३०४. अस् हेरधि ।

एधि, पक्षे स्तात् । असानि । अस्ति-सिभ्यामीट्—आसीत् ।

३०५. अस्ते र्नारामहरो भूतेश्वरे ।

आस्ताम् आसन् । अभूत । भुवं प्रति महाहरोऽयं सन्निपातस्य विघाताय न भवति । बभूवेत्यादि ।

मृजूष् शुद्धौ । ऊषावितौ ।

३०६. मृजेर्वृष्णीन्द्रः ।

मार्ष्टि । ईशस्य नगोविन्द वृष्णीन्द्रौ—मृष्टः । कंसारि सर्वेश्वरादौ वेति तु भाष्यमतम्—मृजन्ति मार्जन्ति । मार्क्षि मृज्यते । मृड्ढि । अमार्ट् । अमार्जीत् अमार्क्षीत् । ममार्जतुः ममृजतुः । आदिग्रहणान्नैक सर्वेश्वरे—ममृजुः ।

अमृता०—३०३. अस्तेरिति । रामधातुके परे अस्तेः भूरित्यादेश स्तथा ब्रूञ् व्यक्तायां वाचीत्यस्य वच्यादेशोभवति । वचीति रोरे लोप्य इति त्रिविक्रमः ।

अमृता०—३०४. अस् हेरिति । जस्धातो र्हि प्रत्ययेन सह एधि इत्येवं निपातः स्यात्।

अमृता०—३०५. अस्ते र्नाराम इति । भूतेश्वरे परे अस्ते ररामहरो न स्यात् । श्नमस्त्योरित्यादिना प्राप्तेऽरामहरे तत् प्रतिषिद्धमनेन । अभूदिति—भ्वादेशे कृते इणस्था पिवतीति सेर्महाहरः । नन्वत्र सेर्महाहरे कृते रामधातुपरत्वाभावात् पुन रस् भावः कथं न स्यात्तत्राह—भुवंप्रतति । भुवं दृष्ट्वा सेर्महा हरोत् पत्तो भूः सन्निपातः; अतो महाहरोऽयं तस्य सन्निपातस्य (भुव इत्यर्थः) विनाशाय न प्रवर्त्तत इति भावः ।

अमृता०—३०६. मृजेरिति । मृजेर्वृष्णीन्द्रः स्यादकंसारि प्रत्यये इति शेषः । लघूद्धवस्य गोविन्द बाधकं विधानमिदम् । मार्ष्टीति—छशो राजेत्यादिना जस्य षत्वं, ततः षात् परस्येति प्रत्यय तरामस्य ठरामः । इहधातोरित्यधिकाराद् धातोरुच्यमानं कार्यं धातु

बाल०—अस्तेः । रामधातुके परे अस्तेः स्थाने भूर्भवति । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि इत्यस्य स्थाने वचिर्भवति ॥३०३॥

बाल०—अस्हेः । अस्हेः स्थाने एधि भवति । अस्हेरिति प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय-निर्देशः । आसीदिति 'अस्ति-सिभ्यामिड् दिप्सिपोरि'ति ईट् ॥३०४॥

बाल०—अस्तेः । भूतेश्वरे परे अस्तेरराम हरो न भवति । अभूदिति भूभावे कृते 'इन स्थापिबति' इत्यादिना सेर्महाहरः । ननु अभूदित्यत्र सेर्महाहरे कृते पुनः असरूपं कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—भुवं प्रतीति । तस्येति भुव इत्यर्थः ॥३०५॥

वच परिभाषणे । चवर्गस्य कवर्गः––वक्ति वक्तः, वचन्तीति न स्यात् । नहि वचिरन्तिपरः प्रयुज्यतइति भाष्यम् । एवं वचन्तु अवचन्नित्यपि नस्यादिति ज्ञेयम् ।

उच्यते । अस्यति वक्तीति ङः ।

३०७, वच उम् ङे ।

अवोचत् अवोचताम् अवोचन्नित्यपि । उवाच ऊचतुः ऊचुः । रुदिर् अश्रुविमोचने ।

३०८, रुदादिभ्य इट् कृष्णधातुके ।

प्रत्यय एव वेदितव्यं नतु नामप्रत्यये । तेन कंस मृड्भ्यामित्यादौ न वृद्धिरिति काशिका । कंसारि सर्वेश्वरादावितिि—कंसारि श्चासौ सर्वेश्वरश्चे ति तथा, स आदि यंस्य तादृशि प्रत्यये परे मृजेर्वृ ष्णीन्द्रो वा स्यादितिभाष्यमतम् । तदेव ग्रन्थकृतोऽभिमतमिति वोध्यम् ।

मृड्ढीति—छशोरिति षत्वं, हु-वैष्णवाभ्यामिति हेर्धिः, षस्य डो विष्णुपदान्ते हरिघोषे चे षस्य डः, धस्य टवर्गत्वे ढः । अमार्जीदित्यादि ऊदित्त्वेन विकल्पितेट् त्वात् । आदि ग्रहणादिति––भाष्य लक्षणे कंसारि सर्वेश्वरे इत्येवं कृतेऽपि सिद्धे यत् कंसारि सर्वेश्वरादावित्युक्तं तेनेदं ज्ञापितंकंसारित्वेऽपि एकाधिकसर्वेश्वरे हि वृष्णीन्द्रो वा भवति, नत्वेकसर्वेश्वरे इति । वचन्तोति न स्यादिति–प्रयोगाभावादित्यर्थः । तच्च भाष्यवचनेन द्रढयति-नहीत्यादि । उच्यत इति वचि स्वपीत्यादिना सङ्कर्षणः ।

अमृता०—३०७. वच इति । ङे परे वचधातोरुत्तरे उमागमो भवति । पाणिनीयाः खल्वन्ति प्रत्ययादेव प्रथम पुरुष वहुवचन प्रत्ययान् अन्तु अन् प्रभृतीन् साधयन्ति । अतस्तेषामपि अन्तितया व्यपदशः ततश्च भाष्यवचने "अन्तिपर" इत्यनेन सर्वत्र प्रथमपुरुष वहुत्वेऽस्य प्रयोगनिषेधशङ्कां मनसि कृत्वा तामपाकरोति—अवोचन्नित्यपीति, स्यादेवेत्यर्थः, प्रयोगलाभादिति हेतुः ।

अमृता०—३०८. रुदादिभ्य इति । कृष्णधातुके परे रुदादिभ्य उत्तरे इट् स्यात् ।

बाल०—मृजेः । मृजे वृ ष्णीन्द्री भवति । मार्ष्टीति'छशोराजे'त्यादिना जस्य षत्वम् । कंसारीति । कंसारिश्चासौ सर्वेश्वरः स आदिर्यस्य तादृशे प्रत्यये परे मृजे वृ ष्णीन्द्रो वा भवतीति तु भाष्यमतम् । अत्र भाष्यमते ग्रन्थकारस्य सम्मतिरस्तीति ज्ञेयम् । अमार्क्षीदिति इडभावपक्षे । ननु 'कंसारि सर्वेश्वरे' इति कृतेऽपि मृजन्ति मार्जन्तीत्यादि सिद्धत्येव तर्हि कथमादिशब्दः । क्रियत इति चेत्तत्राह—आदिग्रहणादिति । अत्रादि शब्दस्य ज्ञापकं ज्ञेयम्। न स्यादिति प्रयोगदर्शनाभावादिति शेषः । वचन्तीति तु स्यादिति यदुक्तं तद्भाष्यमतदर्शनेन द्रढयति नहींति । वचिः वचधातुः ॥३०६॥

बाल०—वचः । ङे परे वच उत्तरे उम् भवति । म इत् । अवचन्नित्यपि न स्यादित्युक्तम्, अतः अवोचन्निति भवति न वेति सन्देहः । स्यात्तन्निरासार्थमाह,-अवोचन्नित्यपीति। स्यादेवेति शेषः ॥३०७॥

रोदिति रुदितः। नेट् य-सर्वेश्वरयोः— रुदन्ति। भावे रुद्यते। रुद् स्वप् श्वस् अन् जक्ष्। दिस्योस्तु रुदादेरीट् च—अरोदीत् अरोदत् अरुदिताम्। इरनुबन्धान् ङो वा—अरुदत् अरोदीत्।

ञि स्वप् शये। स्वपिति, सूप्यते। कृष्णधातुक ग्रहणात्तत्रानिटोऽपि स्यान्नत्वन्यत्र—स्वप्ता।

अन श्वस् प्राणने। श्वसिति। हमयान्तेति अश्वसीत्। अनिति।

३०९, उपेन्द्रादनो णत्वमन्तस्य च नारायणस्यच।

प्राणिति। हेप्राण्। केशववृत्तौ हेप्रान् इति वा।

जक्ष-भक्ष हसनयोः।

इटो रामधातुक विषयत्वात् कृष्ण धातुके अप्राप्ते विशेष विधिः। रुदतिइति—टिदागमः परसम्बन्धीति शासनेनेटो निर्गुणत्वान्न गोविन्दः। ननु दिप्-सिपोः रुदादेरीट् चेति विहितम्। इहतु कृष्ण धातुके रुदादिभ्य इट् विहितः; ततः विप्रतिषेधे परं कार्य मिति न्यायेनात्र इटैव भवितव्यमिति चेत्तत्राह—दिस्योस्त्विति। तुकार इह इटो व्यावर्त्तकः। अत्र कृष्णधातुकेऽपि दिप् सिप्मात्राश्रितत्वेन (स्वल्पाश्रितत्वेन) त्वीड्विधेर्बलवत्त्वात् विप्रतिषेधस्य नाशङ्का। ततएव पूर्वोक्तः अडीड् विधिरेव प्रवर्त्तनीय इति मर्म। ईट चेति चकरादट आकर्षणम्। सूप्यत इति वचि स्वपीत्यादिना सङ्कर्षणः। कृष्णधातुक ग्रहणादिति—लक्षणे कृष्णधातुकस्य निमित्तरूपेण निर्देशात् तत्र कृष्णधातुके अनिट् धातोरपीट् स्यान्नतु रामधातुके तत्राविधानादप्राप्तेरित्यर्थः। हमयान्तेति वृष्णीन्द्रनिषेध इति शेषः।

अमृता०—३०९. उपेन्द्रादिति। उपेन्द्रादुत्तरस्यानधातो र्नस्य णत्वं भवति,। अन्तस्य विष्णुपदान्तस्यानो णत्वं तथाचानो द्विवचने सति नारायणस्य णत्वं भवति। सर्वत्रैव पूर्वोक्त निमित्तादुपेन्द्रादिति योज्यम्। अन्तस्येति निषिद्धस्य प्राप्त्यर्थं, तथा उपेन्द्राद् विधानम्। नरस्य तु तत् सिद्धमेव—प्राणिणत् प्राणिणिषतीत्यादिषु।

बाल०—रुदा। रामधातुके परे रुदादिभ्य उत्तरे इड् भवति। रुदित इति टिदागमः परसम्बन्धीति इटो निर्गुणत्वात् न गोविन्दः।

नेट्। रुदिति रुदधातोरर्थ उक्तः। स्वपादीनामर्था निकट एव वक्ष्यन्ते।

दिस्योः। अरोददि अट् पक्षे। सुप्यत इति 'वचिस्वपीत्यादिना तङ्कर्षणः कृष्णेति कृष्णधातुकग्रहणात् तत्र कृष्णधातुके अनिटोऽपि सहजानिटोऽपि स्वपधातुरुत्तरे इट् स्यात्, न तु कृष्णधातुकान्यत्र इड् विधानलक्षणाभावादिति शेषः। अतः स्वप्तेति। रुत् श्वस् अन् जक्षां सेट्त्वात् कृष्णधातुक इति केबलं स्वपधातुं प्रत्येव सार्थकमिति भावः। 'हमयान्ते' तीति वृष्णीन्द्रनिषेध इति शेषः ॥३०८॥

३१०, जक्षादिरपि नारायणः।

जक्ष जागृ दरिद्रा चकासृ शासु जक्षादिः।

३११. नारायणादन्तो नस्य हरः।

अन्त इत्यन्त्यादीनामेकदेशनिर्देशः षष्ठ्यन्तः। जक्षति। अजक्षुः। जागृ निद्राक्षये। जागर्त्ति जागृतः जाग्रति।

३१२. जागर्त्ते र्गोविन्दः सर्वत्र नतु इण्णल् निर्गुणेषु।

३१३. उत्तम णलिवा।

जागर्यते। अजागः अजागृताम्।

अमृता०—३१०. जक्षादिरिति। स्फुटम्। एतत् प्रयोजनं अन्त्यादीनां न लोपादि वक्ष्यते।

अमृता०—३११. नारायणादिति। नारायणादुत्तरस्य अन्तो नस्य हरः स्यात्॥ सूत्रधृतं अन्तपदं विवृणोति—अन्त इति अन्तु इत्यनयोरेव नराम हरो मन्तव्यः, अन् प्रत्यये तु सिनारायण वेत्तिभ्य इत्युसादेशो न लोपस्यापवादको ज्ञेयः।

अमृता०—३१२. जागर्त्तेरिति। इण् णल् निर्गुण प्रत्ययेभ्योऽन्यत्र सर्वत्र जागर्त्ते र्गोविन्दो भवति। ईशस्य न गोविन्द—वृष्णीन्द्राविति प्रतिषेध विषये तथा नृसिंह विषयक वृष्णीन्द्र विषये चेदं विधानं तत्तदुपमर्दकम्। प्रतिषेधविषये यथा—जागर्यात्। कृति च जागरित इति। वृष्णीन्द्र विषये यथा—जागरयति। कृति च जागरकः। न त्विणित्यादि. किम्—अजागारि जजागार जागृथ।

अमृता०—३१३. उत्तमेति। उत्तम पुरुषस्य णलि तु जागर्त्ते र्गोविन्दो विभाषया भवति। णल् मात्रे नित्यं वृष्णीन्द्र प्राप्ते उत्तम णलि विकल्पार्थं वचनम्।

बाल०—उपे। उपेन्द्रादुत्तरस्य अनधातोर्णत्वं भवति। नस्येति शेषः। उपेन्द्रादुत्तरस्य अनधातोरन्तस्थितस्य च नस्य णत्वं भवति। विष्णुपदान्तत्वादप्राप्ते विधानम्। उपेन्द्रादुत्तरस्य अनधातोर्नारायस्य च नस्य णत्वं भवति। हे प्राण् इति क्विवन्ता सुँ 'राधाविष्णुजने'त्यनेन सोर्हरः। केशवेति। केशवः पण्डितविशेषः। पर्युपेन्द्रनिषेध इति केचित्। तन्मते पर्यनिति इति दन्त्यमध्यमिति ज्ञेयम्॥३०९॥

बाल०—जक्षा। जक्षादिरपि नारायण संज्ञो भवति। जक्षादीत्यत्र जक्षादिरिति पाठ उचितः जक्षादिरपीत्युक्तत्वात्॥३१०॥

बाल०—नारा। नारायणादुत्तरस्य अन्तो नस्य हरो भवति। अन्त्यादीनामिति आदिशब्दस्यान्तग्रहणमेव फलम्। ददत इत्यादौ तु 'अरामान्यवर्णादि'त्यादिनैव नस्य हरो भवति, तथापि अन्त्यादीनामिति यद्बहुवचननिर्देशः कृतस्तन्न बहुप्रयोजनकमिति ज्ञेयम्। अजक्षुरित 'सि नारायणे'त्यादिना अन उस्॥३११॥

बाल०—जाग। व्यक्तार्थमेतत्॥३१२॥

३१४. ईशान्तस्य गोविन्दोऽनउसि ।

अजागरुः अजागः । गोविन्देकृते नत्वरलित्यन्तस्य वृष्णीन्द्रो नच विष्णुजनादेर्लघोरिति तद्विकल्पः, सर्वत्र ग्रहणेन सर्वापवादत्वात् । अजागरीत् अजागारि । जजागरतुः । एकसर्वेश्वरादेव सर्वमप्यनिटं मन्यन्ते जजागरिथ । जजागार जजागर । आमि—जागरामास जागरामासतुः ।

दरिद्रा दुर्गतौ । दरिद्राति ।

३१५. दरिद्रातेरिरामो निर्गुण विष्णुजने ।

दरिद्रितः ।

अमृता०—३१४. ईशान्तस्येति । अनः स्थाने उसादेशे सति ईशान्तस्य गोविन्दः स्यात् । पूर्व सूत्रेण निर्गुण प्रत्यये निषेधे प्राप्तेऽनेन गोविन्दो विधीयते । अजागरीदित्यत्र गोविन्दे कृते मन्दधियां वृष्णीन्दशङ्का स्यात्; अत स्तत्, समाधानमाहगोविन्द इति । सर्वापवादत्वादिति–"सर्वत्र" पदोपादान वलादित्यर्थः, अन्यथा वृष्णीन्द्रे कृते तु गोविन्द विधानमनर्थकं स्यात् । अकृतेऽपि गोविन्दे ईशान्तस्येति वृष्णीन्द्र सिद्धेः । जागरामासेति–उषवेत्ति जागृभ्य इति विकल्पेन आम् । असोऽनुप्रयोगश्च ।

अमृता—३१५. दरिद्रातेरिति । निर्गुण विष्णुजने परे दरिद्रा धातो रन्तवर्णस्य इराम आदिश्यते । अत्र कृष्णधातुक स्यैव निर्गुण विष्णुजनो निनित्ततयाग्र ाह्यः,अग्रिम सूत्रे आरामहर प्रसङ्गे तत् सूच्यमानत्वात् । निर्गुणेत्यादि किम्–दरिद्रति । विष्णु निष्ठायां-दरिद्रित इति तु रामधातुकविषयकेटा सिद्धं नत्वनेन ।

बाल०—उत्त । इदमपि व्यक्तार्थम् । अप्राप्ते विभाषेयम् । अजागरिति 'विष्णुजनाद्दिस्योर्हर' इति सेर्हरः ।।३१३।।

बाल०—ईशा । अनः स्थाने उसि सति ईशान्तस्य गोविन्दो भवति । अजागरुरिति निर्गुणत्वात् पूर्वेणाप्राप्ते अनेन विधानं कृतम् । अजागरीदित्यत्र वृष्णीन्द्रप्राप्तिमाशक्य समादधति गोविन्द इति अरलित्यन्तस्येनन्तरम् इति शब्दप्रयोग उचितः, अन्यघा अन्वयशुद्धिर्न स्यात् । वृष्णीन्द्र इति पर्यन्तं लक्षणोल्लेख इत्युक्तेः । तद्विकल्प इत्यत्र तच्छब्देन वृष्णीन्द्रस्याकर्षणं दुर्घटं सर्वत्र ग्रहणेन सर्वापवादत्वादिति । अत्रायं भावः । गोविन्दस्य सर्वापवादत्वादेव 'ईशान्तस्य वृष्णीन्द्रः सौ परपदे' इत्यनेन विहितस्य वृष्णीन्द्रापवादत्वमायातम्, अतः वृष्णीन्द्रं बाधित्वा गोविन्द एव भवति । गोविन्दे कृते तु 'अरलित्यन्तस्ये' त्यादिना 'विष्णुजनादेर्लघो'रित्यदिना च वृष्णीन्द्रो न मवति । वृष्णीन्द्रापवादत्वस्य व्यर्थत्वात् । एकेति एकस्मात् सर्वेश्वरादेव सर्वमनिटं मन्यन्ते । अपीति निश्चये । अतो जागृधातोर्द्विसर्वेश्वरत्वान्नानिट्त्वम् । अतस्थलि न विकल्पितेट्त्वम् । जागरामासेति उषवेति जागृभ्य आमधोक्षजे वेत्यनेन आम् ।।३१४।।

बाल०—दरि । निर्गुणविष्णुजने परे दरिद्रातेरन्त इरामो भवति । निर्गुणेति किम् ? दरिद्राति । विष्णुजन इति किम् ? दरिद्रति । क्त प्रत्यये दरिद्रितः ।।३१५।।

३१६. श्ना-नारायणयो रारामहरो निर्गुण कृष्णधातुके।

दरिद्रति। इड्विधानादन्यत्रेदम्।

३१७. दरिद्राते रारामहरो वैष्णवादि सन् णकटन वर्जित रामधातुके।

३१८. भूतेशे तु वा।

भावे—दरिद्रयते। आरामहर पक्षे सिः—अदद्रिसीत्। पक्षान्तरे सुगिटौ—अदरिद्रासीत्। अदरिद्रि अदरिद्रायि। अनेक सर्वेश्वरेति—दरिद्राञ्चकार। ददरिद्राविति कश्चित्।

चकासृ दीप्तौ। चकास्ति। हौ चकाधि, चकाद्धीतिकेचित्।

अमृता०—३१६.—श्नेति। निर्गुण कृष्णधातुके के परे श्नाविकरणस्य नारायण संज्ञकस्य च आरामहरो भवति। क्र्यादेः शपः श्ना वक्ष्यते। दरिद्रित इत्यादावतिव्याप्तिमाशङ्क्य तां निरस्यति—इड्विधानादन्यत्रेति। अतश्च कृष्णधातुक निर्गुण सर्वेश्वर एवारामहरः स्यादिति फलितम्। ततएव कृति शतृप्रत्ययेऽपि ददत् प्रभृति सिध्यति।

अमृता०—३१७. दरिद्रातेरिति। वैष्णवादि सन् णक् टनवर्जिते रामधातुके परे दरिद्रा धातोरामहरो भवति। कृति पचाद्यत्—दरिद्रः। वैष्णवादि सनादिषु तु न; यथा—दिदरिद्रासति, दिदरिद्रिषति इतिकेचित्, णक—दरिदायकः, टन—दरिद्राणः।

अमृता०—३१८. भूतेशइति। भूतेशे परेतु दरिद्राते रारामहरो वा स्यात्। ददरिद्राविति केचिदिति—आरामाण्णलृ औ इत्यत्र ओ इत्येव कृतेऽपि सिद्धे पुनरौविधानं दरिद्रातेरालोपे कृते औ प्राप्त्यर्थम्। अतश्च ज्ञापकादस्मादाम् न स्यादिति तेषामाशयः। चकाधीति भाष्य मतम्। चकाद्धीति तु काशिकादीनाम्।

बाल०—श्ना। निर्गुणकृष्णधातुके परे श्नानारायणयोरारामहरो भवति। श्ना वक्ष्यते। ननु निर्गुणकृष्णधातुके इत्युक्तम् अतः दरिद्रित इत्यादावपि आरामहरो भवत्विति चेत्तत्राह,—इ विधानादिति निर्गुणेति किम्? दरिद्राति। कृष्णधातुक इति किम्? डुदाञ् दाने यङ् देदीयते दामोदरेत्यादिना ई ततोद्विर्वचनं यङि नरस्य गोविन्दो वक्ष्यते॥

बाल०—दरि। वैष्णवादि सनं युकं टनञ्च वर्जयित्वा रामधातुके परे दरिद्रातेरारामहरो भवति टनः कृत्॥३१७॥

बाल०—भूते। भूतेशे परे तु दरिद्रातेरारामहरो वा भवति। पक्षान्तर इति आरामहराभावपक्षे इत्यर्थः। अदरिद्रायीति आरामहराभावपक्षे। चकाषीति 'सस्य हरो धे' इति सस्य हरः॥३१८॥

बाल०—सस्य। दिव् लोपे सति सस्य स्थाने तो भवति। त इत्य राम उच्चारणार्थः॥३१९॥

३१९. सस्य तो दिव्लोपे ।

३२०. सिव् लोपे तु रश्च ।

अचकात् । अचकाः अचकात् । सर्वेश्वरव्यवधाने विष्णुजनादे र्लघोरिति नमन्यन्ते—अचकासीत् । चकासामास । शासु अनुशिष्टौ । अनुशिष्टि रुपदेशो दण्डनञ्च । शास्ति ।

३२१. शासः शिष् कंसारि विष्णुजन-ङयोः ।

शिष्टः शासति । शिष्यते । शिष्यात् ।

आङः शासु इच्छायामित्यात्मपदिनो न शिषो ग्रहणं, धात्वन्तरतया पृथक् पाठात् । तेन आशास्ते ।

३२२. शास्-हेः शाधि ।

शाधि पक्षे शिष्टात् । अशात् अशाः अशात् । भूतेशे अशिषत् । चक्षिङ्

अमृता०—३१९. सस्येति । दिपोलोपे सति सरामस्य तरामः स्यात् । तइत्यराम उच्चारणार्थः । विष्णुजनाद् दिस्यो र्हर इत्यनन्तरमस्य प्रवृत्तिः ।

अमृता०—३२०. सिव् लोप इति । सिपो लोपे तु सति सस्य स्थाने तरामः स्तत् ररामश्च । ननु अचकासीदित्यत्र विष्णुजनादे र्लघोररामस्येति पक्षे चरामस्य वृष्णीन्द्रः कथं न स्यादित्याशङ्क्य समाधत्तेसर्वेश्वरेति न मन्यन्त इति काशिकाभाषावृत्त्यादयः । अतश्च विष्णुजनादेर्लधारिति विधे विषय एकसर्वेश्वरधातुरेवेति सिद्धम् ।

अमृता०—३२१, शास उति । कंसारि विष्णुजने ङे च परे शासधातोः शिष् इत्यादेशः स्यात् । विधानाभावादप्राप्ते मूर्द्धन्यन्तादेशः । कंसारीति किम्—शास्ति । विष्णुजनेति किम्—शासति शशतुः ।

अमृता०—३२२. शास्हेरिति । शास्धातो र्हिप्रत्ययेन सह शाधि इति निपात्यते ।

बाल०—सिव् । सिप् लोपे तु सति सस्य स्थाने तो भवति रिश्च । अचकासीदित्यत्र 'विष्णुजनादेर्लघो'रित्यादिना वृष्णीन्द्रः कथं न भवतीत्याशङ्क्य समादधाति सर्वेश्वरेति, तस्मात् 'विष्णुजनादेर्लघोरि'त्यादेरेकसर्वेश्वरधातावेव विषय इति भावः । उपदेशो दण्डनञ्चेति । उपदेशे यथा—आचार्यः शिष्यं शास्ति । दण्डेन यथा—कंसो यदून् शास्ति ।।३२०।।

बाल०—शास । कंसारिविष्णुजये ङे च परे शासः स्थाने शिष् भवति । कंसारीत्युपादानात् शास्तीत्यादौ न भवति । विष्णुजनेत्युपादानात् शासतीत्यादौ न भवति । पृथक् पाठादित्यत्र पृथक् पदं न बहुप्रयोजनकमिति ज्ञेयं धात्वन्तरतयेत्यनेनैवार्थविगमात् अथवा स्थानान्तरापेक्षया पृथगित्युक्तम् ।।३२१।।

व्यक्तायाम् वाचि। इङावितौ। इराम उच्चारणार्थः। नित्यमाङ्-पूर्वोयम्। स्कोः सत्सङ्गाद्यो हरः—आचष्टे आचक्षाते आचक्षते।

३२३. चक्षिङः ख्याञ् रामधातुके।

३२४. अधोक्षजे तु वा।

आख्यायते। भाविनि भूतवदुपचार इति ङप्रत्ययात् पूर्वमेव ख्यादेशः। ञित्वादुभयपदम्। अस्यति वक्तीत्यादावादेशो वचिः ख्याञोपलक्ष्यते। आख्यत्। आख्यत।

३२५. वर्जने तु नादेशः।

अशिषदिति सर्तिशास्त्यर्त्तिभ्य इति ङः। नित्यमाङ् पूर्वोध्यमिति-व्यक्तायां वाचीत्यर्थे हि चक्षिङ् धातु र्नित्यमाङ् पूर्वः प्रयुज्यते नत्वन्यार्थे। तेन व्यचक्षत अपश्यन्नित्यर्थः। समचक्षिष्ट अवर्जयदित्यर्थः।

अमृता०—३२३. चक्षिङ इति। सुगमम्।

अमृता०—३२४. अधोक्षजे परे तु चक्षिङः ख्याञादेशो वा स्यात्। ननु अच्युतादयः पञ्च शिवश्च कृष्णधातुका इत्यनुशासनात् भूतेशस्य कृष्णधातुकत्वात्तत्र ख्याञादेशो न सम्भवेदिति मनस्याशङ्क्याह—भाविनीत्यादि। वचिः ख्याञोपलक्ष्यत इति—अस्यति वक्ति ख्यातिभ्यो ङ इति सूत्रधृत ख्यातिशब्देन ख्या प्रकथने इति मूलधातु स्तथा चक्षिङ आदेश ख्याञ च गृह्यते। तदेतदुपलक्षणं वक्तेऽपि तत्रैव शब्देन मूल वच परि भाषणे धातु र्यथा गृह्यते तथा ब्रू ञ आदेशो यो वचिः सोऽपि ग्राह्य इत्यर्थः।

अमृता०—३२५. वर्जन इति। वर्जने अर्थे वर्त्तमानस्य चक्षिङः ख्याञादेशो न

बाल०—शास् हेः। शास् हे शाधि भवति। शास्हेरिति प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय-निर्देशः। अशादिति 'सस्य तो दिव्लोपे' इति सस्य तः। अशिषदिति 'सर्त्ति-शास्त्यर्त्तिभ्यो ङो भूतेशे कर्तरी'त्यनेन ङः।

नित्यम्। अयं चक्षिङ् धातुर्नित्यमाङ्पूर्वो भवति। नित्यमाङ्पूर्वोऽयमिति प्राचुर्यापेक्षया उक्तं, न त्विकिङाविवेति ज्ञेयम्। समचक्षिष्टेति स्वयमेव हि उदाहरिष्यते ।।३२२।।

बाल०—चक्षिङः। रामधातुके परे चक्षिङः स्थाने ख्याञ् भवति। रामधातुके विषये इत्युक्ते तु भाविनीत्यादिकं व्यर्थं भवति ।।३२३।।

बाल०—अधो। व्यक्तार्थमेतत्। भाविनीति भाविनि रामधातुके भूतवदुपचारः भूतवत्त्वोपचारः। ननु सप्तमीविषये परे इत्युक्तम्, अतो रामधातुके विषये इत्युक्त एवाय-मर्थो लभ्यते; कथमुपचारः क्रियत इति चेत्तत्रोच्यते! भाविनीत्यादिकं पाठकानाम् अपरव्युत्पत्तिविशेषार्थमुक्तं बहुप्रकारेणार्थावगमे हि पाठकानां बहुविषया व्युत्पत्तिर्जायत इति। उपलक्ष्यते इति। गृह्यते इति फलितार्थः ।।३२४।।

समचक्षिष्ट । आचख्यौ । आचख्ये, आचचक्षे ।

ईड स्तुतौ । ईट्टे ।

३२६. ईडीशिभ्यामिट् सध्वयो र्नतु भूतेश्वरे ।

ईडिषे इडिध्वे । ऐड्ढ्वम् । ऐडिष्ट ।

ईश ऐश्वर्ये । ईष्टे ईशिषे ईशिध्वे । आस उपवेशने ।

आस्ते । आसाञ्चक्रे । वस आच्छादने । वस्ते ।

षूङ् प्राणि गर्भविमोचने । सूते ।

३२७. सुवः कृष्णधातुके न गोविन्दः ।

सुवै सुवावहै सुवामहै । सूते लुग्विकरणस्येदं ग्रहणमिति काशिका-लिखन दृष्ट्या स्तिपि च कृति सूतिः । सूत्रे स्तिपा निर्देशाभावात् यङ्

स्यात् । समचक्षिष्ट वर्जयामासेत्यर्थः । तथैव हिंसार्थेऽपि नादेश इति ज्ञेयम् । अचचक्ष इति आदेशाभाव पक्षे आत्मपदमेव ।

अमृता॰—३२६. ईडिति । से ध्वे च प्रत्यये परे ईड स्तुतौ ईश ऐश्वर्ये इत्येताभ्या-मुत्तरे इडागमो भवति, भूतेश्वर ध्वे परे तु स न स्यात् । ऐड्ढ्वमिति भूतेश्वरध्वं-प्रत्यया-न्तत्वान्नेट् । षात्परस्येत्यादिना तवर्गस्य टवर्गत्वम् । इह कृष्णधातुके स्वतएव तस्य सिद्धत्वात । आस—आध्वं आस्त आसिष्ट । आसाञ्चक्र इति—अयासदयेभ्य इत्याम् । वस-वस्से वध्वे । अस्य तु न सङ्कर्षणः, वद्साविति वदः साहचर्येण तस्य विधानात् । तेन वस्यते ।

अमृता॰—३२७. सुव इति । कृष्णधातुके षूङ् धातो र्गोविन्दो न भवति । पृथु कृष्णधातुके प्राप्ते गोविन्दे प्रतिषेधोऽयम् । कृष्णधातुक इति किम्-सोता सोष्यते । सुवइति खल्वदादेरेव गोविन्द निषेधः क्रियते नतु दिवादे र्वा, तत्र तु सत्यपि कृष्णधातुके विकरणेन व्यवधानात् । तदेवात्र काशिका लिखनेन द्रढयति—सूतेरित्यदि ग्रन्थेन । किञ्च

बाल॰—वर्ज । वर्जनेऽर्थे ख्याञादेशो न भवति । समचक्षिष्टेयि वर्जनमात्रार्थः । आचचक्षे इति आदेशाभावपक्षे ॥३२५॥

बाल॰—ईडीशः । सध्वोः परयोः ईडीशिभ्यामुत्तरे इड् भवति, भूतेश्वरे तु परे इड् न भगति । ऐडढ् मिति भूतेश्वर ध्वम् 'षात् परस्ये'त्यादिना धस्य ढत्वम् । आसाञ्चक्रे इति 'अयासदनेभ्य आमधोक्षजे' इत्यनेनाम् ॥३२६॥

बाल॰—सुवः । व्यक्तार्थमेतत् । सुवै इति गोविन्दाभावे उव् । कृष्णधातुकेऽपि गोविन्दो भवतीति दर्शयितुं काशिकालिखनं प्रमाणयन्नाह सूतेरिति । काशिकालिखने लुग्विकरणस्येयि अदादेरित्यर्थः । शिवस्य कृष्णधातुकत्वम् श्तिपा निर्द्देशमविधाय तत्फलमाह सूत्र इति श्तिपा धातुनिर्द्देशे कृते तु केवलस्य सूधातोर्ग्रहणं स्यादतः सोषूति

लुकि च सोषूति सोषुवीति सेत्स्यति । पाणिनीया हि–भू सुवोस्तिङीति गुणं निषिध्य वोभवीति वोभोतीत्यत्रैव वोभूत्वित्यादिद्वयस्य छन्दः सूत्रे निपात ज्ञापकवलाद् गुणं साधयन्ति ।

असविष्ट असोष्ट । शीङ् स्वप्ने ।

३२८. शीङः शेकृष्णधातुके ।

शेते शयाते । अरामान्येत्यादौ शीङो रुट् च--शेरते ।

कृत् प्रकरणे श्तिप् प्रत्ययेन यत् सूति पदं गोविन्दाभावेन निष्पाद्यते तत्रापि काशिका लिखनं प्रमाणं, सूतेरिति निर्देशात् । कृति सूतिरित्यत्र सिध्यतीति शेषः । सूत्रे–गोविन्द निषेध सूत्रे, श्तिपा निर्देशाभावात् सुव इति निर्देशादित्यर्थः । "सूत्रेश्तिपानुवन्धेन" इत्यादिना श्तिपा निर्देशेन पूर्व विहितं कार्यम् यङ् लुकि न भवतीति वक्ष्यते । अत इह श्तिपा निर्देशाभावादयं प्रति षेध स्तत्रच प्रवत्तते । तेन च सोषुवीति इति यङ्लुगन्त पदद्वये न गोविन्द इति ग्रन्थार्थः । सोषुवीतीति चक्रपाणेस्तु वेत्यनेन ईड् वक्ष्यते; धातोश्चतुः सनस्येयुवाविति उव् ।

षूङ्धातो र्यङ् लुकि गुणाभावः पाणिनीया हीति । "भू-सुवोस्तिङि" इत्यनेनोभयो र्भू-षूधात्वोर्गुणो निषिद्धः पाणिनीयैः तत्र भूधातोरेव छन्दःसूत्रे "दाधर्त्ति" त्यादौ वोभूत्विति गुणाभावेन निपात्यते । ततो गुणप्रतिषेधे पूर्वेण सिद्धेऽपि तदेव निपातनं ज्ञापयति–लौकिकेऽपि भुवो यङ् लुकि गोविन्दः स्यादेवेति । तत्र भूधातोरेव निपातविधानेन गुण ज्ञापकत्वात् सूते स्तु—भू-सुवोरिति सामान्योक्तेन हि गुणनिषेधः सिद्ध एव । तच्च मूले वोभोतीत्यदौ "इत्यत्रैव" इत्यनेन व्याञ्जितम् । एवकारेण सूङ् धातोस्तु गुणो व्यावृत्त इति च वोधितम् । वोभूत्वित्यादिद्वयस्येति—ईट् पक्षे वोभुवीत्विति च ज्ञेयम् ।

अमृता०—३२८. शीङ इति । कृष्णधातुके परे शीधातो शे भावो भवति । ईशस्य

सोषुवीतीत्यादौ गोविन्दनिषेधो न स्यात् । सोषुवीत्यत्र 'चक्रपाणेस्तु वा, इत्यनेन ईड् भवतीति वक्ष्यते । सोषूवीतीत्यत्र गोविन्दनिषेधनुक्त्वा स्वमतस्य कल्पितत्वं वारयति पाणिनीया इति । हि यतः गुणं निषिध्येति यङ्लुकोति ज्ञेयम् । बोभूतीत्यादि द्वयस्य बाभूति बोभुवीतीति पदद्वयस्य निपातज्ञापकस्य बलात् गुणं साधयन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः । इत्यत्रैव इति एवकारेण सूधातोरूपद्वये तु गुणाभाव इति बोधितम् । हि यतो पाणिनीया भूसुवोस्तिङीत्यनेन यङ्-लुकि विषये भूसुवो र्गुणं निषिध्य छन्दःसूत्रे निपातज्ञापकस्य सामर्थ्याद् वोभूति वोभुवीति द्वयस्य स्थाने वोभीति बोभवीतीत्यत्रैव गुणं साधयन्तीति निर्गलितार्थः । भूधातोरूपद्वये गुणाभावे सति निपातस्य वैयर्थ्यं स्यात्, अतो निपातस्य ज्ञापकत्वं सिद्धम् । किन्तु भूसुवोस्तिङीति पाणिनीयलक्षणे भूग्रहणफलमस्माभिर्नावकलितमिति ज्ञेयम् । तथापि किञ्चिदुच्यतेऽवधार्यताम् । पाणिनीयमते भाषायां पदद्वये गुणाभावश्छन्दसि तु पदद्वये गुणाभाव इति वा प्रयोजनमिति । असविष्ट असोष्टेति 'स्वरति-सूती' त्यादिना वेट् ॥३२७॥

३२९. शेतेः शय् कंसारि ये ।

शय्यते । इङ् अध्ययने । नित्यमधिपूर्वोयम् । अधीते अधीयाते अधीयते । कर्मणि च अधीयते । भूतेश्वरे अध्यैत । योगविभागेन यथेष्ट सिद्धीति सर्वत्र कल्पनात्—इय् , ततो वृष्णीन्द्रः—अध्यैयाताम् ।

३३०. इङो गाङधोक्षजे, भूतेशाजितयो स्तु गी र्वा ।

येन नाव्यवधानं सम्भवतीति न्यायेन सिप्रभृति व्यवधानेऽपि गीः स्यात् । अध्यगीष्ट अध्येष्ट । अध्यगायि अध्यायि । अधिजगे । अध्यगीष्यत अध्यैष्यत । गोविन्दत्वं चेदेरामः क्रियेत ।

द्विष अप्रीतौ । द्वेष्टि द्विष्टः । अद्वेट् अद्विषन्, उस् वेति केचित् अद्विषुः । अद्विक्षत् अद्विक्षन् ।

न गोविन्द-वृष्णीन्द्रावित्यस्य प्रकारान्तरापवादोऽयम् । भूतेशे-अशयिष्ट । कृष्णधातुक इति किम्—शिश्ये । कृष्णधातुक सामान्य निर्देशेन निर्गुण प्रत्ययेऽपि शे भाव इष्यते, यथा शयाते शेरत इत्यादि ।

अमृता०—३२९. शेतेरिति । कंसारि ये परे शीङ् धातोः स्थाने शय् इत्यादेशः स्यात् । य इति किम्—शिश्ये । कंसारीति किम्—कृति यत्–शेयम् । योगविभागेति—नित्यं धातूपसर्गयो रिति परिभाषाया अधीङः सन्धेर्नित्यत्वेऽपि सम्यगिष्टसिद्धिमनतिक्रम्य हि परिभाषायाः प्रवृत्ते स्तद् योगं विभज्य धातोश्चतुः सनस्येति इय् ततो वृष्णीन्द्रः कार्य इति भावः । अन्यथादौ सन्धौ कृते तु धात्वङ्ग कार्यम् न हि सम्भवेत् । किञ्च'वृत्तमध्ययन' इति कृत् सूत्रे अध्ययन पद दर्शनाद् धात्वङ्गकार्यमादावेव भवतीति ज्ञापितम् ।

अमृता०—३३०. इङ् इति । अधोक्षजे परे इङ् धातो र्गाप्रादेशो भवति, भूतेशे अजिते परे तु गीरादेशो विकल्पेन स्यात् । ननु भूतेशे अजिते च धातोरन्तस्येत्यादिनादेशान्तस्य गोविन्दः कथं न स्यात्तत्र सिद्धान्तयति–गोविन्दत्वमिति । यद्यत्र गोविन्द इष्येत

बाल०—शीङः । कृष्णधातुके परे शीङः स्थाने शे भवति । कृष्णधातुक इति किम् ? शिष्ये ।।३२८।।

बाल०—शेतेः । कंसारि-ये परे शेतेः स्थाने शय् भवति । नित्यमधिपूर्वोयमिति । इकिङौ नित्यमधिपूर्वावित्युक्तत्वादिति शेषः । कर्मणि चेति चरामोपादानं न सभ्यं, पूर्वोक्तेन सधीयत इत्यनेन सह समानविष्णुभक्तित्वा भावात् । इयनन्तरं वृष्णीन्द्रमुक्त्वा तत्राशङ्क्य समादधाति योगेति । योगविभागेन यथेष्टमनतिक्रम्य कार्यं भवतीति सर्वत्र कल्पनात् । यथेष्टसिद्धीति अनतिक्रम इत्यनेनाव्ययीभावम् । अत्र वृष्णीन्द्र इति योगं विभज्य ईयनन्तरं वृष्णीन्द्रः क्रियत इति ।।३२९।।

बाल०—इङो । व्यक्तार्थमेतत् । भूते इदमपि व्यक्तार्थम् ।

दुह प्रपूरणे। दोग्धि धोक्षि। दुग्धे धुग्ध्वे। अधोक्, अधुक्षत् अधुक्षत। पक्षे दुह लिह दिहेति सको हरः—अदुग्ध अधुक्षाताम्। दिह उपचये। देग्धि दिग्धे। लिह आस्वादने। लेढि लीढे। ऊर्णुञ् आच्छादने। उरामस्य वृष्णीन्द्र इत्यादौ ऊर्णोते र्वा, ऊर्णोति ऊर्णौति।

३३१. ऊर्णोतेर्गोविन्दो दिस्योः।

और्णोत् और्णोः। ईशान्तस्येत्यादौ ऊर्णोते र्वा,—और्णावीत्।

३३२. ऊर्णोतेरिट् निर्गुणो वा।

और्णुवीत् और्णवीत् और्णुविष्ट और्णविष्ट।

३३३. ऊर्णोतेर्नाम्।

तर्हि सूत्रे गीत्यादेशमकृत्वा गे इत्येवं गोविन्दसिद्ध आदेशः क्रियेत। किन्तु तदकरणेन... विधानसामर्थ्यादेव गोविन्दो न भवतीति भावः। केचिदिति पाणिनीया उस् वेति मन्यन्ते। अद्विक्षदिति—ईशोद्धवादनिट इति सक्। दोग्धीति दादेस्तु धातो र्घः। धोक्षीति—सिपो रूपम्, जवर्जेत्यादिना धत्वम्।

अमृता०—३३१. ऊर्णोतेरिति। दि-स्योः परयोः ऊर्णोते गोविन्दः स्यत्। ऊर्णोते वेत्यनेन विभाषया वृष्णीन्द्रे प्राप्ते नित्यं गोविन्दार्थमिदम्।

अमृता—३३२. ऊर्णोतेरिति। ऊर्णोतेरुत्तरे इडन्वितः प्रत्ययो विभाषया निर्गुणो भवति। ततो न गोविन्द इत्यर्थः। एवञ्च भूतेश परपदे वृष्णीन्द्रेण गोविन्देन गोविन्दाभावेन च रूपत्रयं सिद्धम्, तत्र निर्गुणाभावपक्षयोर्हि गोविन्द वृष्णीन्द्राभावाद् रूप द्वयमेव दर्शितं मूले।

अमृता०—३३३. ऊर्णोते र्नामिति। गुर्वीश्वरत्वेनानेक सर्वेश्वरत्वेनचामिप्राप्ते निषेधोऽयम्।

येनेति। 'येन नाव्यवधानं सम्भवति, तेन व्यवधानेऽपि स्यादि'ति न्यायः। अध्यायि अध्यगायीति कर्मणि। अधिजग इति 'आरामहर' इत्यादिना आरामहरः। अध्यगीष्ट अध्यगीष्यतेत्यत्र गोविन्दः कथं न भवतीत्याशङ्क्य समादधाति गोविन्दत्वमिति। गोविन्दत्वं गोविन्दः स्वरूपमात्रे त्वप्रत्ययः। चेद् यदि स्यादिति शेषः, तदेत्यूह्यम्।

केचिदिति। क्रमदीश्वरादय इति ज्ञेयम्। अद्विक्षदिति 'ईशोद्धवादनिटो हरिगोत्रान्तात् सक् भूतेशे दृशि विने'त्यनेन सक्। धोक्षीति 'जवर्जे' त्यादिना दस्य धत्वम्, एवं धुग्ध्वमित्यत्रापि। अधोगिति भूतेश्वरे। अधुक्षतेति सक् तद्भावपक्षे ॥३३०॥

बाल०—ऊर्णो। दिस्योः परयोः ऊर्णोतेर्गोविन्दो भवति। ऊर्णोतेवेत्यनेन वृष्णीन्द्रे प्राप्ते विधानम् ॥३३१॥

बाल०—ऊर्णो। व्याक्तार्थमेतत्। और्णुवीदिति गोविन्दाभावे उव्। और्णुविष्ट और्णविष्टेति परपदाभावाद् वृष्णीन्द्राभावः ॥३३२॥

सर्वेश्वरादित्वे तु सत्सङ्गादि नवदरवर्जस्यान्यभागस्येति णोर्द्विर्वचने प्राप्ते कार्यार्थमक्षरं विश्लेषयेदिति न्यायनररामविश्लेषणं ततोद्विर्वचनं, रषाभ्याम् टोस्तवर्गजत्वान्नैमित्तिकापायः । ऊर्णुनाव ऊर्णुनुवतुः ऊर्णुनुविथ ऊर्णुनविथ । ऊर्णुविता ऊर्णविता । ष्टुञ् स्तुतौ । स्तौति स्तुतः । स्तुते । स्तूयते । सुस्तुधुञ्भ्य इतीट्——अस्तावीत् । क्रादि नियमात् तुष्टोथ । रुशब्दे । रौति । एवं नु स्तुतौ । नौति ।

ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि ।

३३४. ब्रुव ईट् कृष्णधातुक पृथुविष्णुजने ।

३३५. चक्रपाणे स्तु वा ।

तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुक इत्यत्रापृथावपीट् छन्दस्येवेति भाषावृत्त्यादौ–स्तवीति स्तुवीतः । पृथावेवेति तस्यां भ्रमः । ब्रवीति ब्रूतः ब्रुवन्ति ।

रषाभ्यामिति–राषाभ्यामुत्तरस्य टवर्गस्य तवर्गजत्वात् नैमित्तिकस्य णत्वस्यापायः; तेन पुन स्तवर्गो जात इत्यर्थः । थलि ऊर्णोतेरिट् निर्गुणो वेति विकल्पेन गोविन्दः ।

अमृता०—३३४. ब्रुव इति । कृष्णधातुकस्य पृथु विष्णुजने परे ब्रूञ् धातोरुत्तरे ईट् स्यात् । अप्राप्ते विधिरयम् । विष्णुजन इतिकिम्—ब्रवाणि । पृथ्विति मिम्—ब्रूतः ।

अमृता०—३३५. चक्रपाणेरिति । कृष्णधातुके पृथुविष्णुजने परे चक्रपाणेरुत्तरे ईट् वा स्यात् । यङो महाहरे चक्रपाणिसंज्ञा वक्ष्यते । भाषावृत्त्यादाविति—आदि पदेन काशिका ग्रहणीया । यथा—तत्र सर्वेषामेव छन्दसि विषये विधिरयमिति तदुक्तिः। तस्मात् पृथु विष्णुजनएवेह निमित्तं युक्तमिति भावः ।

तस्यां भ्रम इति—तुरु स्तुशम्य एभ्यः पितो हलः सार्व धातुकस्य वा ईडागमः

बाल०—ऊर्णो । ऊर्णोतेरुत्तरे आम् न भवति । गुर्वीश्वरादित्वात् अनेकसर्वेश्वराच्च-प्राप्ते प्रतिषेधः । प्राप्त इति सम्भावनायां क्तप्रत्ययः । र-षा-भ्यामिति र-षाभ्यां परस्य टोष्टवर्गस्य नैमित्तिकापाय इति पुनस्तवर्गत्वं जातमित्यर्थः । ऊर्णुनुविथेति । 'ऊर्णोतेरिट् निर्गुणो वे'त्यनेन निर्गुणत्वम् ॥३३३॥

बाल०—ब्रुव । पृथुश्चासौ विष्णुजनश्चेति पृथु विष्णुजनः, कृष्णधातुकश्चासौ पृथु-विष्णुजनश्च तस्मिन् परे ब्रुव उत्तरे ईड् भवति ॥३३४॥

बाल०—चक्र । कृष्णधातुके पृथुविष्णुजने परे चक्रपाणेरुत्तरे ईड् वा भवति । चक्रपाणिसंज्ञा वक्ष्यते । इत्यत्रेति लक्षणविशेषणम् । छन्दस्येवेति भाषायाम् अपृथौ ईट् न भवतीत्यर्थः । भाषावृत्त्यदाविति उक्तमिति शेषः । स्तवीतीति विष्णुजनपरत्वाभावात् उरामस्येत्यादिना न वृष्णीन्द्रः । स्तवीति इति टिदागमः परसम्बन्धीति इटोऽपि निर्गुण-त्वाद् गोविन्दभावे उव् । पृथाविपि भाषायां छन्दसि च पृथावेवेति प्रक्रियामतम् । अतो

३३६. ब्रवीत्यादिपञ्चानामाहादयो वा ।

आह आहतुः आहुः । आत्थ आहथुः ।

ब्रुवोर्वचिः—उच्यते । अवोचत् । उवाच ।

॥ इत्यदादिः समाप्तः ॥

स्यात् । स्तवीति स्तौति,, इत्यादि प्रक्रिया वचने पित् ग्रहणात् तत्र पृथावेवोदाहृतत्वाच्च अपृथौ स्तुवीत इत्यसिद्धत्वाद् भ्रम इत्यर्थः । उक्तसूत्रस्य काशिका व्याख्यायां—सार्वधातुक इति वर्त्तमाने पुनः सार्वधातुकग्रहणमपिदर्थमिति वचनंदृष्ट्वा ब्रूञ् धातोरप्यपृथौ चेडागमस्याशङ्कामन्दधियामापद्यते-तन्निरासायोह्यं छन्दस्येवेति ।

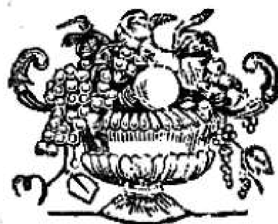
अमृता०—३३६, ब्रवीत्यादीति । ब्रवीति प्रभृतीनां पञ्चानां क्रमेण आह प्रभृतीनि पञ्च रूपाणि निपात्यन्ते विभाषया । उच्यत इति वचि स्वपीत्यादिना सङ्कर्षणः । अवोचदित्यादौ ङः पुमागमश्च । आदेशस्योभयपदित्वादवोचत उचे इत्याद्यपि ज्ञेयम् ।

इति श्रीहरिनामृते आख्यात प्रकरणे
व्याख्यातोऽदादिगणः ।

भ्रम इत्युक्तम् । ब्रूत इति पृथुत्वाभावान्न ईट् । कृष्णधातुकेति किम्—क्त्वा यप् प्रोच्य । विष्णुजन इति किम्—ब्रवाणि ॥३३५॥

बाल०—ब्रवी । ब्रवीत्यादिपञ्चानां स्थाने क्रमेण आहादयः पञ्च निपाता वा भवन्ति । उच्यत इति 'वचि स्वपी'त्यादिना सङ्कर्षणः । अवोचदिति 'अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्य' इत्यादिना ङः, 'वच उम् ङ' इति उम् ॥३३६॥

॥ इत्यदादिप्रकरणम् ॥



अथ ह्वादिः।

हु वह्नौ दाने।

३३७. जुहोत्यादेः पूर्ववद् द्विर्वचनम् शव्लुकि।

नतु नारायणस्येति न वृष्णीन्द्रः। जुहोति जुहुतः जुह्वति। जुहुधि। अजुहवुः।

३३८. भीह्रीभृ हुभ्य आमधोक्षजे द्विर्वचनञ्च।

जुहवामास जुहाव। ञिभी भये। ञिराम इत् बिभेति।

३३९. भियो वामनो वा कृष्णधातुके।

विभितः विभीतः विभ्यति। अभैषीत् अभैषीः। कथं मा भैः शशाङ्क!

अमृता०—३३७. जुहोत्यादेरिति। शव् लुकि सति जुहोत्यादे धातोः पूर्ववद् द्विवर्चनं भवति। कृष्णधातुके द्विर्वचनाप्राप्ते विधानम्। पूर्व वदित्यनेन पूर्वोक्त द्विर्वचनसम्पर्कीयानि कार्याण्यत्र यथायोग्यं प्रयोज्यानीति वोधितम्। शवलुकीत्यनेन चायं ह्वादि रदादचन्तर्गण एवेति सूच्यते। जुहोत्यादेरिति श्तिपा निर्देशः सुख वोधार्थः, अन्यथा ह्वादेरित्युक्ते तु ह्वेञो द्विर्वचनम् शङ्कापदं स्यात् जह्वतीति—एतिहुवोरिति वः, नारायणादन्तहरइति प्रत्ययरराम हरः। जुहुधीति—हुवैष्णवाभ्यामिति हे र्धिः। अजुहवुरति—सिनारायणवेत्तिभ्यः अन उसि सति गोविन्दः। भूतेशे—अहौषीत्।

अमृता०—३३८. भीह्रीति। ञि भी भये, ह्री लज्यां डुभृञ् धारणपोषणयोः, हु वह्नौ दाने इत्येतेभ्य उत्तरे अधोक्षजे आम् वा भवति। तत्राम् पक्षेऽपि द्विर्वचनञ्च भवति।

अमृता०—३३९. भिय इति। कृष्णधातुके परे भीधातोरन्तो वामनो वा स्यात्। केचिदत्र निर्गुणविष्णुजने इत्यधिकं योजयन्ति, तदनावश्यकम्। वामनविधानस्य विभित

बाल०—जुहो। शव् लुकि सति जुहोत्यादेः पूर्ववत् द्विर्वचनं भवति। पूर्ववदिति पूर्वोक्तव्यवस्थायैवेत्यर्थः। जुह्वतीति नारायणादन्तो नस्य हर इति नस्य हरः। जुहधीति 'हु-वैष्णवाभ्यां हेर्धिरि'ति हेर्धिः। अजुहवुरति 'सिनारायणे' त्यादिना अन् उस् ईशान्तस्य गोविन्दो न उसी'त्यनेन गोविन्दः ॥३३७॥

बाल०—भीह्री। ञि भी भये, ह्री लज्जायां, डुभृञ् धारणपोषणयोः हु वह्नौ दाने इत्येतेभ्य उत्तरे अधोक्षजे परे आम् वा भवति। आम् पक्षे द्विवचनञ्च भवति ॥३३८॥

बाल०—भियो। कृष्णधातुके परे भियो वामनो वा भवति। कृष्णधातुके इत्यत्र कृष्णधातुकनिर्गुणविष्णुजन इति पाठः सभ्यः। अन्यथा बिभेति बिभ्यतीत्यादौ पक्षे वामनविधानसामर्थ्याद् गोविन्दाद्यभावो भवत्विति शङ्का स्यात् अथवा बिभेतीत्यतः परस्मिन् सूत्रस्य करणात्तत्र तत्रेदं वामनविधानं न प्राप्नोतीति यदि तत्रापि वामनः

मम सीधुनि नास्ति राहुरिति ? आगमशासनमनित्यमिति न्यायादीटोऽसद्भावात् ।

ह्री लज्जायाम् । जिह्रेति जिह्रीतः जिह्रियति ।

पॄ पालन पूरणयोः ।

३४०. अर्त्ति-पिपर्त्त्योर्नरस्येरामः कृष्णधातुके ।

पिपर्त्ति ।

३४१. ओष्ठ्योद्भवस्य ऋत उर् कंसारौ ।

पिपूर्त्तः पिपुरति । पूर्यते । सत्सङ्ज्ञाद्यृदन्तस्येत्यादिना गोविन्द एव मात्रग्रहणात् । पपरतुः । वामनोऽस्ति । पिपृतः पप्रतुः ।

ओ हाक् त्यागे । ओकावितौ । जहाति ।

इत्यादावेव प्रवृत्तिः, सर्वेश्वरादौ तु सन्धेरनिवार्यत्वेन वामनस्य निरर्थकत्वात् । मा भैरिति भो शशाङ्क ! त्वं मा भैः भयं मा कुरु, कुतः—मम सीधुन मधुनि (अमृते) राहुः नास्तीति भयाभावे हेतुः । सिद्धान्तयति—आगमेति । आगमसम्बन्धि यत् तस्य अनित्यत्वात्, केचिदागमाः शासनं नापेक्षन्त इति भावः । अधो–विभयामास बिभाय । जिह्रियतीति—धातोश्वतुः सनस्येति इय् संयोगपूर्वत्वान्न यादेशः ।

अमृता०—३४०. अर्तीति । ऋगतावित्यस्य पॄपालन पूरणयो रित्यस्य च नरस्यान्त इरामः स्यात् कृष्णधातुके परे । नान्यत्र—पपार ।

अमृता०—३४१. ओष्ठ्येति । कंसारौ प्रत्यये परे, ओष्ठ्यो वर्ण उद्भवो यस्य तादृशस्य धातोः ऋरामस्य उरामादेशः स्यात् । ओष्ठ्योद्भवस्येति किम्—ॠ क्र्यादिः: विष्णुनिष्ठायां समीर्णः । पिपूर्यात्, अपिपः अपिपरुः । अपारीत् । पूर्यात् । वामनोऽप्यस्तीति वामनान्तश्च पृधातुरस्तीत्यर्थः : तस्य तु दीर्घान्तत्वाभावादुस् न स्यान्न वा गोविन्दः । केचित्तु ह्रस्व पृधातुं जुहोत्यादौ न पठन्ति किन्तु लिट्येव शॄदॄपॄइत्येषां ह्रस्वत्वं विभाषया दिशन्ति । तन्मते कृष्णधातुके पिपृत इत्यसिद्धमिति ज्ञेयम् ।

स्यात्तदा 'असिद्धरूपं न त्याज्यमि'ति प्रतिज्ञा सिद्ध्यर्थम् इदं सूत्रं तत्रैव कर्त्तुं योग्यमपि यन्नं कृतं तस्मात्तत्राकरणान्नेत्यपि ज्ञेयं, तस्माद् यत्रान्यकार्याभावस्तत्रैवास्य सूत्रस्य विषय इत्यर्थः । अतः सर्वं समञ्जसमिति । मा भैरिति । हे शशाङ्क चन्द्र ! त्वं मा भैः भयं मा कुरु । यतस्त्वद्ग्रासको राहुर्मम सीधुनि अमृते नास्ति । सिद्धान्तमाह—आगमेति । आगमस्य शासनमिति विग्रहः । शासनमधिकारः । जिह्रियतीति संयोगपूर्वत्वात् न यादेशः ।।३३९।।

बाल०—अर्ति । ऋगतावित्यस्य पधातोश्च कृष्णधातुके परे नरस्यान्त इरामो भवति ऋधातो र्नरस्याद्यभावात् ऋरामस्यैवेराम इति ज्ञेयम् ।।३४०।।

बाल०—ओष्ठ्यो । कंसारौ परे ओष्ठ्य उद्भवो यस्य तादृशस्य धातोः ऋतः स्थाने

३४२. दामोदरं विना श्ना-नारायणारामयोरीः कृष्णधातुक निर्गुण विष्णुजने जहातेरिश्च ।

जहीतः जहितः जहति । हीयते ।

३४३. जहाते रारामहरः कृष्णधातुक-ये ।

जह्यात् जहिहि जहीहि जहाहीत्यपि मतम् । ऋ गतौ । अर्त्ति-पिपर्त्त्योरितीत्वं, नरेदुतोरियुवाविति इयर्त्ति इयृतः इयृति । अर्यते । इय् वृष्णीन्द्रः, गोविन्दः, विष्णुजनाद्दिस्यो र्हरः, रात् सस्यैव नियमात् नतु

अमृता०—३४२. दामोदरमिति । कृष्णधातुकनिर्गुण विष्णुजने परे श्ना विकरणस्यतया दामोदरं विना नारायणस्य चारामस्य स्थाने ईरामः स्यात्; जहाते रारामस्य इरामः स्यात्, चकारादीरामश्च । विष्णुजन इति किम्—जहति । निर्गुणेति किम्—जहाति । कृष्णधातुकेति किम्—हास्यति । दामोदरं विनेति किम्—दत्तः धत्तः । जहतीति—श्ना-नारायणयोरित्यारामहरः ।

अमृता०—३४३. जहातेरिति । कृष्णधातुकस्य यरामे परे जहातेरारामहरः स्यात् । पूर्वसूत्रेण इरामे ईरामे च प्राप्ते तदुपमर्दक एषः । कृष्णधातुक-ये इति किम्—हेयात् । जहाहीत्यपि मतमिति—प्राचीनानामिति शेषः । अतएव–जहिहि जहीहि जहाहि रामभार्यामितिभट्टि प्रयोगः । अध्रो-जहौ । अर्यत इति–अर्त्ति-सत्सङ्गाद्यदन्तयोरिति गोविन्दः । विधौ इयृयात् । ऐय इति भूतेश्वर दिपि रूपम् । गोविन्दजातररामात् परस्य दिपस्तरामस्य हरो न भवति, रात् सस्यैवेति सत्सङ्गान्तहरे नियमात्; ततो विष्णुजनाद्दिस्योरिति दिपो हरः । एवं सिपि च । ऐयरुरिति—अर्त्तिपिपर्त्त्योरिति नरस्येरामः, नरेदुतोरितीय्, वृष्णीन्द्रः, सि-नारायणेति अन उसि ईशान्तस्येति गोविन्दः । आरदिति—सर्त्ति

उर् भवति । ओष्ट्योद्भवस्येति किम् ? ऋ गतौ क्तादिः क्तप्रत्ययः समीर्णः । सदिति—गोविन्द एव न तूर हेतुमाह—मात्रेति । गोविन्दविधानसूत्र अतोऽधोक्षजमात्र इत्युपादानात् वामन इति । वामनोऽपि पृधातुरस्ति ।।३४१।।

बाल०—दामो । कृष्णधातुकनिर्गुण-विष्णुजने परे श्ना इत्यस्य दामोदरं विना नारायणारामस्य च स्थाने ई भवति । जहातेर्नारायणारामस्य स्थाने ई इश्च भवति । श्ना इत्यस्य स्थाने ई भवतीत्युक्ते 'एकवर्ण, इत्यादिन्यायात् । जहतीति श्नानारायणयोरित्यादिना आरामहरः ।।३४२।।

बाल०—जहा । कृष्णधातुक-ये परे जहातेरारामहरो भवति । ईरामेरामयोः प्राप्तयोरारामहरिवधानम् । जहाहीत्यपि मतमिति पूर्वाचार्यैरिति शेषः । अर्यत इति 'अर्तिसत्सङ्गाघृदन्तयो' रित्यादिना गोविन्दः । रादिति 'रात् सस्यैवे'ति नियमात् अत्र सत्सङ्गान्तहरो न स्यात्, अतो 'विष्णुजनाद्दिस्योर्हर' इति कृतम् । ऐयुरुरिति 'ईशान्तस्ये'

सत् सङ्क्रान्तहरः— ऐयः ऐयृतां ऐयरुः । आर इत्यादि भौवादिकवत् । निजिर् शौचे ।

३४४. निजि विजि विपां नरस्य गोविन्दः कृष्णधातुकमात्रे ।

नेनेक्ति ।

३४५. न नारायणोद्धवस्य गोविन्दः कृष्णधातुक सर्वेश्वरे ।

नेनिजानि । विष्लृ व्याप्तौ । वेवेष्टि । सहजषान्तत्वान्न णत्वं प्रनिवेवेष्टि । जन जनने छान्दसः । अत्रापि सध्वोरिट् । कालापास्तु व्यतिजज्ञिष इत्यादिकं भाषायामपीच्छन्ति । डुदाञ् दाने । डुञावितौ । ददाति । श्ना-नारायणयोरारामहरः—दत्तः ददति । दत्ते । दीयते ।

शस्त्यर्त्तिभ्य इतिङः, ऋद्वयान्तदृश्यो रिति गोविन्दः । अधो-आरआरिथ इत्यादि । काम-अर्यात् । कल्कौ—अरिष्यति ।

अमृता०—३४४. निजीति । निजिर् शौचे, विजिर् पृथक् करणे, विष्लृ व्याप्तौ इति त्रयाणां नरस्य गोविन्दो भवति कृष्णधातुकमात्रे । मात्रग्रहणं निर्गुणेऽपि यथा स्यात्तदर्थम् । कृष्णधातुक इति किम्—निनेज ।

अमृता०—३४५. नेति । कृष्णधातुकसर्वेश्वरे परे नारायणसंज्ञकस्योद्धवस्य गोविन्दो नस्यात् । लघूद्धवस्येत्यनेन प्राप्ते निषेधोऽयम् । पृथावेवसम्भावितगोविन्दस्य निषेध प्रवृत्तेः पृथुसर्वेश्वरनिमित्तत्वमर्थादेव लभ्यते अतस्तन्न निवेशितं सूत्रे । हौ-नेनिग्धि । भूतेश्वरे—अनेनेक् । भूतेशे—अनिजत् अनैक्षीत् । सर्वेश्वर इति किम्—नेनेक्ति । कृष्ण-धातुक इति किम्—निनेज । अत्रापि सध्वोरिडिति—यथा सध्वोः परयोः 'ईडीशिभ्यामिट् विहित स्तथा जनधातोश्च सध्वोरिट् भवति । किन्तु छान्दसत्वाल्लक्षणे तन्न प्रोक्तम् । कालापास्तु भाषायां लौकिक्यामपि जनधातोः प्रयोगमिच्छन्ति । तथा हि तत् सूत्रम्—ईड्-जनोः सध्वे चेति । तत्रोदाहरणानि च— ईडिध्वे व्यतिजज्ञिषे इत्यादीनि ।

त्यादिना गोविन्दः । आरदिति 'सर्तिशास्त्यर्त्तिभ्यो ङो भूतेश कर्त्तरी' त्यनेन ङः, 'ऋद्वया-न्तदृश्योर्गोविन्दो ङ' इत्यनेन गोविन्दः ॥३४३॥

बाल०—निजि । निजिर् शौचे, विजिर् पृथग्भावे, विष्लृ वाप्तौ इत्येतेषां कृष्णधातुकमात्रे परे नरस्य गोविन्दो भवतिकृष्णधातुकमात्र इति किम्—निनेज ॥३४४॥

बाल०—न नारा । नारयणश्चासौ उद्धवश्चेति नारायणोद्धवस्तस्य कृष्णधातुक-सर्वेश्वरे परे गोविन्दो नभवति । नारायणोद्धवस्येत्यत्र नारायणस्येति कृते जुहवानीत्यादा-वपि गोविन्दनिषेधः स्यात् । न णत्वमिति । णत्वविधानसूत्रे सहजषान्तस्य वर्जितत्वात् । जन जनने । छान्दस इति अस्य छान्दसत्वं वहूनामसम्मतमिति ज्ञेयम् । तथाहि । ईड जनोः सध्वोश्चेति कान्तन्त्रसूत्रम् । जनीशीडः सध्व इति चन्द्रसूत्रम् । आतमने सध्वोर्जनीडीशम्य इति क्रमदीश्वर सूत्रम् । कालापानामप्यसम्मतमिति तु स्वयमेव वक्ष्यते । अत्रापीति । यथा

३४६. दामोदरस्यैत्व-नरादर्शने हौ ।

देहि । अददात् । अदात् । आरामादन उस् —अदुः । अदित अदायि अदायिषाताम् ।

डु धाञ् धारण-पोषणयोः । दधाति ।

३४७. शपेरादिहरो धाञ् नद्धयो र्वा ।

३४८. अवस्य तंसे ।

३४९. तरतौ चेत्येके ।

अपिदधाति पिदधाति । अवतंसः वतंसः । अवतरति वतरति ।

३५०. धाञो नरस्य धो निगुणे वैष्णवे ।

हरिगदापवादः । धत्तः धत्थ धत्से धध्वे ।

अमृता०—३४६. दामोदरस्येति । हि प्रत्यये परे दामोदरसंज्ञकस्यान्तस्य स्थाने एत्वं नरादर्शनञ्च भवति । अदादिति—इणस्थापिबतीत्यादिना सेर्महाहरः । अदितेति—स्था-दामोदरयो रिति इरामः, वामन वैष्णवाभ्यामिति सेर्हरः ।

अमृता०—३४७. अपेरिति । धाञि नद्धे च परे अपि निपातस्यादिवर्णस्य हरो वा स्यात् । नय इति नह बन्धने धातोः कृतिक्त प्रत्ययेन सिद्धम् ।

अमृता०—३४८. अवस्येति । तंसे श्ब्दे परे परे अवनिपातस्यादि हरो वा स्वात् ।

अमृता०—३४९. तरताविति । तरतौ च परे अवस्यादिहरो वा स्यादित्येके मन्यते। अप्यवौ खल्वव्ययसंज्ञकौ । वष्टि भागरिस्तु सर्वत्र हि अवाप्योरादिहरमिच्छति । यथोक्तम् वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः । आपश्चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा । ।।इति।। तदेतदनुमोदितञ्च कविभिः । "पूर्वापरौ तोयनिधो वगाह्येति" कुमार सम्भवे कालिदासः । तया—"एतद् वलग्न गगनाञ्चल चुम्बि चारु" इत्यलङ्कार कौस्तुभे कविकर्णपूरः।

अमृता०—३५०. धाञ् इति । निगुणे वैष्णवेपरे धाञ्धातो नरस्य हरिगदापवादौ धरामः स्यात् । अन्यथा हरिघोषस्य हरिगदा नरस्य इति प्राप्तिरासीत् ।

ईढीशभ्यां सध्वोरिड्विसितस्तथा अत्रापि जन धातोरपि सध्वोरिट् भवतीति येषः । अत्रा-पीत्यत्र अस्मादपीति वा पाठः ।।३४५।।

बाल०—दामो । हौ परे दामोदरस्य अन्तस्य स्थाने एत्वं नरादर्शनञ्च भवति । अदादिति इण-स्था-पिबतीत्यादिना सेर्महाहरः । अदितेति 'स्थादामोदर योरिराम' इत्या-दिना आरामस्यैरामः, 'वामनस्ये' त्यादिना सेर्हरः ।।३४६।।

बाल०—अपे । धाञि नद्धे च परे अपेरादिहरो वा भवति ।।३४७।।

बाल०—अवस्य । तंसे परे अवस्यादिहरो वा भवति ।।३४८।।

बाल०—तर । तरतौ च परे अवस्यादिहरो वा भवति इत्येके वदन्तीति शेषः ।३।४९

३५१. श्रदित्यव्ययमुपेन्द्रवद् धाञि ।

श्रद्दधाति निश्चिनोत्यभिलषति वेत्यर्थः ।

डु भृञ् धारण-पोषणयोः ।

३५२. हाङ् माङो नरस्येरामः कृष्णधातुके ।

३५३. भृञ आमि च ।

विभर्त्ति विभराञ्चकार वभार । ओ हाङ्गतौ । जिहीते जिहाते । एवं माङ् माने । मिमीते मिमाते ।

इत्यदादौ जुहोत्यादिः ।

।। अदादिश्च समाप्तः ।।

अमृता—३५१. श्रीदिति । धाञ्धातो परे श्रदित्यव्ययमुपेन्द्रवद् भवति । यद्यपि श्रद्दधातीत्यत्रोपेन्द्रत्वोपयोगाभावस्तथापि कृति--सोपेन्द्रारामाच्चेति ङापविधिना श्रद्धा पदसाधने तस्य,भवत्येव चरितार्थता ।

अमृता०—३५२. हाङिति । ओहाङ् गतौ । माङ्माने इत्येतयोर्नरस्यान्तस्य स्थाने इरामो भवति कृष्णधातुके परे । सानुबन्ध निर्देशन जहाते निरासः कृतः । कृष्णधातुक-इति किम्—ममे जहे ।

अमृता०—३५३. भृञ् इति कृष्णधातुके आम् प्रत्यये च परे भृञो नरस्यान्त इरामः स्यात् । कृष्णधातुके किम्—वभार । विभराञ्चकारेति—भी ह्री भृहुभ्य इत्याम् द्विर्वचनञ्च । आमो विकल्प विधानात् वभारेति च । जिहीत इति—दामोदरं बिना श्ना-नारायणयोरितीत्वम् । जिहाते इति द्वित्वे-बहुत्वे च रूपम् बहुत्वे अरामान्यवर्णादिति नरामहरः । भावे—मीयते हायते । भूतेशे अमास्त अहास्त । अधो-ममे जहे ।

इति श्रीहरिनामामृते आख्यात प्रकरणे
व्याख्यतोऽदादो जुहोत्यादिः ।

बाल०—धाञो । निर्गुणवैष्णवे परे धाञो नरस्य स्थाने धो भवति । ननु धरामस्य स्थाने धरामविधानं किमर्थं कृतमिति चेत्तत्राह—हरिगदापवाद इति । अन्यथा हरिगदा स्यात् ।।३५०।।

बाल०—श्रत् । अव्ययं श्रदिति धाञि उपेन्द्रवद्भवति ।।३५१।।

बाल०—हाङ । ओहाङ् गतौ, माङ् माने इत्येतयोः कृष्णधातुके परे नरस्यान्त इरामो भवति ।।३५२।।

बाल०—भृञ । कृष्णधातुके आमि च परे भृञो नरस्यान्त इरामो भवति । बिभराञ्चकारेति भी-ह्री-भृ-हुभ्य आमधोक्षजे वा द्विर्वचनञ्चेत्यनेनाम् द्विर्वचनञ्च । जिहीत इति 'दामोदरं विने'त्यादिना आरामस्य इरामः ।।३५३।।

।। इति ह्वादिः ।।

अथ दिवादिः ।

दिवु क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु ।

३५४. दिवादेः शपः श्यः ।

शइत् । शित् करणान्न स्थानिवत्त्वं, तेन न पृथुः । धातोरवः प्रागिदुतोः —दीव्यति । एवं षिवु तन्तुसन्ताने । नृती गात्रविक्षेपे । नृत्यति । नर्त्तिष्यति नर्त्स्यति । त्रसी उद्वेगे । त्रस्यति ।

३५५. नृती कृत्यादेरिड् वा से सिं विना ।

जॄष् वयोहानौ । जीर्यति । अजरत् अजारीत् । सतसङ्गाद्यॄदन्तस्येति जॄभ्रमेति—जजरतुः जेरतुः ।

शो तनूकरणे ।

अमृता०—३५४. दिवादेरिति । दिवादिगणपठिताद् धातोः शपः स्थाने श्यः स्यात् । शपोऽपवाद एषः । शितूकरणादिति—यदि शपः स्थानिवत्त्वमभिप्रेतं स्यात् तर्हिशिदत्र नक्रियेत, तस्यानर्थक्यात् । अतः स्थानिवत्त्वाभावेन पृथुत्वाभावात् श्यो निर्गुणत्वमिति न हि गोविन्द प्राप्तिः । ततश्च धातो रवः प्रागिदुतो स्त्रिविक्रमावकाश इति भावः ।

अमृता०—३५५. नृतीति । सिप्रत्ययं विना सरामे परे नृती कृत्यादेरुत्तरे इड् वा स्यात् । शकादिष्वपाठान्नित्यमिटि प्राप्ते विभाषा वचनम् । कृतीति कृतीछेदने तुदादिः, कृती वेष्टने रुधादिः, द्वयोरेवग्रहणम्, अविशेषेणोपादानात् । आदिपदेन—चृती हिंसा ग्रन्थनयोस्तुदादिः, उछृदिर् दीप्तिदेवनयोः, तृदिर् हिंसानादरयोः रुधादी इतित्रयाणां ग्रहणं ज्ञेयम् । एवंनर्त्तिषीष्ट नर्त्सीष्ट । सइति किम्—नर्त्तिता । सिं विनेति किम्—अनर्त्तीत् । त्रसी—तत्रास त्रेसतुः तत्रसतुः, जॄभ्रमेति वा एत्व-नरादर्शने । जीर्यतीति—प्रत्ययस्य पृथुत्वेऽपि विकरणेन व्यवधानान्न हि पृथु कृष्णधातुकपरत्वम् । अतएव निर्गुणतया कंसारिता; तत इर् त्रिविक्रमश्च । अजरदिति—जॄ स्तन्भु इत्यादिना विभाषित ङः, ऋद्वयान्त दृश्योरिति गोविन्दः ।

अथ दिवादिः

दिवु क्रीडेति । कान्तिरत्रेच्छा अन्यथा द्युतिशब्दोपादानमनर्थकं स्यात् ।

बाल०—दिवादेः । दिवादिगणपठितस्य धातोः शपः स्थाने श्यो भवति । शिदिति । यदि स्थानिवत्त्वमिष्टं स्यात्तदा शित्त्वमनर्थकं स्यात्, अतः स्थानित्त्वाभावात् पृथुत्वाभावः; अतो गोविन्दाभावे 'धातोरवप्रागिदुतोरि'त्यादिना त्रिविक्रमः; दीव्यति ॥३५४॥

३५६. ओरामस्य हरः श्ये ।

श्यति । शायात् । एवं छो छेदने । छ्यति । षोऽन्तकर्मणि । स्यति, सीयते । सेयात् । दो अवखण्डने । द्यति, दीयते, देयात् । राध साध संसिद्धौ । राध्यति, अरात्सीत् । जृभ्रमेत्यादौ हिंसार्थं राधश्च वा—अपरेधतुः अपरराधतुः ।

व्यध ताडने । ग्रहिज्येति सङ्कर्षणः—विध्यति ।

पुष पुष्टौ । पुष्यति । पुषादीति ङः—अपुषत् ।

श्लिष आलिङ्गने । श्लिष्यति ।

३५७. श्लिष आलिगनार्थात् सक् भूतेशे ।

अश्लिक्षत् प्रियां कृष्णः । अर्थान्तरे तु—समाश्लिषत् तुलसीं चन्दनञ्च,

---

अमृता०—३५६. ओरामस्येति । श्यविकरणे ओरामस्य हरो भवति । विधौ श्येयत् शायादिति—रामधातुके चतुर्व्यूहान्तत्वादारामान्तपाठः । सौ सुगिटौ—अशातीति, पक्षे ध्राधेडिति सेर्महाहरः—अशात् । शशौ शशतुः । शास्यति । सीयत इति—दामोदर मास्येति ईः । सेयादिति—दामोदरादीनामित्येरामः । व्यध अधो–विव्याध विविधतुः विव्यथिथ विव्यद्ध ।

अमृता०—३५७. श्लिष इति । परे आलिङ्गनार्थाय श्लिष उत्तरे सक् स्यात् । श्लिष धातोरालिङ्गनार्थस्य प्रसिद्धत्वेऽपि धातूनामनेकार्थत्व सम्भवान्नियमार्थमालिङ्गनार्थस्यग्रहणम् । तेषामनेकार्थत्वे किमनुशासनमित्याशङ्का चेत्तत्राह—कूर्देत्यादि मुनिवचनम् । एव शब्दोऽवधारणे, ततः कूर्दधातोः कीडामात्रार्थो विद्यते नान्यर्थ इति समुपलभ्यते । तत्र

बाल०—नृति । सिं विना से परे नृती-कृत्यावेरुत्तरे इड् वा भवति । अशकादित्वात् नित्यमिट् प्राप्ते विभाषा । कृतीति कृती छेदने तुदादिः, कृती वेष्टने रुधादिर्द्वयोरेव ग्रहणम् । सिं विनेति किम्—अनर्त्तीत् । जीर्यतीति 'अपृथुः कृष्णधातुको निर्गुणः' इति निर्गुणत्वात् कंसारित्वम्, अतः 'ऋरामस्येर् कंसारा'वित्यनेन इर् । अजरदिति जृ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु' ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यो ङो वा भूतेशपरपदे' इत्यनेन ङः । 'ऋद्वयान्तदृश्यो र्गोविन्द'इत्यनेन गोविन्दः । 'सत्सङ्गाद्यृदन्तेतीति गोविन्दविधानलक्षणोल्लेखः, किन्तु 'सत्सङ्गाद्यृदन्तस्ये'ति पाठ उचितः । एतद्विधस्थाने पदान्त एव इति शब्दस्य प्रयोगार्हत्वात् 'जृ भ्रमे'ति एत्वनरादर्शनविधानलक्षणोल्लेखः । लक्षणे जृ भ्रम्विति पाठो बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते, किन्तु लिपिकारप्रमादकृत इति ज्ञेयं, जृ भ्रमेत्युल्लेखात् ॥३५५॥

बाल०—ओराम । स्पष्टार्थमेतत् । सीयत इति 'दामोदरे'त्यादिना ई । सेयादिति 'दामोदरादीनामि'त्यदीना एरामः । अरात्सीदिति शकादित्वादिडभावः ॥३५६॥

मिथो मिलिते इत्यर्थः । कूर्द क्रीडायामेवेत्येवकारेण धातूनामनेकार्थ-त्वात् ।

रध हिंसायाम् । रध्यति । नुम्, यस्य विष्णु स्तस्य सोऽङ्गमिति न्यायेन धात्वङ्गत्वान्नस्य हरः—अरधत् । यथा भाषावृत्तौ 'आङो यी'ति लभे र्नुमं विधाय आलम्भः पशुरिति साध्यते । आलभ्यत इत्यत्रानिदित्वान्न-लोपः क्रियते । तस्मात् प्रक्रिया चिन्त्या ।

एव कारो हि धातूनामनेकार्थत्वे ज्ञापकः, अन्यथा एवशब्दप्रयोगो निरर्थकः स्यात् । सत्येव तस्यानेकार्थे तद्व्यावर्तन सम्भवात् । असत्वे तस्मिन् शिरोनास्ति शिरः पीडेतवदनपपत्ते रित्यर्थः । नुमिति—रधिजभो र्नुम् सर्वेश्वर इत्ययेन । नुमोधात्वङ्गतां प्रतिपादयति—यस्य विष्णु रित्यादि न्यायेन । यस्य नाम्नो धातो वा विष्णु रङ्गमूयवव इति न्यायार्थः । तेनात्र रधधातो र्नुमस्यदङ्गत्वाल्लोपः क्रियते अनिरामेतामिति लक्षणेन । स्वमतमिदं भाषा वृत्ति प्रयोगेण पुष्णाति—यथेति । "आङोयि" इति पाणिनेः सूत्रम्, तत्रच लभेरि-त्यनुवर्त्तते । आङ् पूर्वस्य लभेर्नुम् स्याद् यकारादि प्रत्यये इति भाषावृत्तौ व्याख्याय आलम्भ्य इति तूदाहरणं दर्शितम् । उक्तसूत्रेण नुमं विधाय पश्चादनिरामेतादिनोद्धव नरामहरो विहितः । इह लभधातो रुद्धवत्व स्वीकरेण हि नुमस्तदङ्गता प्रागेव स्वीकृतेति सुवोधम् । अत स्तदुपलक्षणेनारधदित्यत्र नलोपः सङ्गच्छत एवेति ग्रन्थार्थः ।

तस्मात् प्रक्रिया चिन्त्येति—तस्यान्तु रधेर्नुमं विधाय ङप्रत्यये नलोपः खलु न कृतः यथा—"रधिजभोरचीति नुम्, अरन्धदिति" । अस्याः प्रमाद प्रमाणाय च भाषाबृत्ति मतावतरणा ज्ञेया ।

बाल०—श्लिष । भूतेशे परे आलिङ्गनार्थात् श्लिष उत्तरे सक् भवति । आलिङ्गनं प्राणिनाँ क्रियाविशेषः । अश्लिक्षदिति आलिङ्गितवानित्यर्थः । श्लिषधातोरालिङ्गनार्थत्वेऽपि आलिङ्गनार्थादित्युपादाय तत्प्रयोजनं दर्शयन् स्वयमेव प्रत्युदाहरति अर्थान्तरे त्विति समाश्लिषदिति पुषादित्वात् ङः । ननु आलिङ्गनार्थस्य श्लिषधातोः कथं संयोगमात्रार्थता इति चेत्तत्राह—कूर्द्देति । एवकारेणेति यदि धातूनामनेकार्थता न स्यात्, तदा एवकारो निरर्थकः स्यात् । रध हिंसायाञ्चेति रधधातुः संराद्धौ हिंसायाञ्च वर्त्तते इत्यर्थः । नुमिति छेदः 'रधि जभोर्नुम् तर्वेश्वर' इत्यनेनेति शेषः । यस्येति । यो विष्णुर्यस्य स विष्णुस्तस्य अङ्गमिति नुमो धात्वङ्गत्वात् 'अनिरामेतामि'त्यादिना नरामहरः । अवध इत्यत्र नस्य हरमुक्त्वा भाषावृतिमतदर्शनेन स्वमतं द्रढयति यथेति । आङोऽयीति आङोऽपीत्यनेन लक्षणेत्यर्थः । आलभ्य इति आङ्पूर्वो लभिर्मारणार्थः । 'आङोऽपि लभे र्नुम् हिंसायामि' त्येव तत्सूत्रम्, अत्र भाषाबृत्तिमतोत्थापनस्य आलभ्य इत्यत्रैव प्रयोजनम् । नत्वालम्भ्य इत्यत्रेति ज्ञेयम् । आलम्भ्यः पशुरित्यस्योत्थापनन्तु नुम्विधानलक्षणस्य उदाहरणदर्शनार्थ-मेव । तस्मादिति । अत्रधदित्यादौ न लोपो भवतीति प्रक्रियामतम् ॥३५७॥

३५८. रधादे रिड् वा ।

३५९. रधे र्नुम् निषेधोऽधोक्षज वर्जितेटि ।

अरत्सातास् अरधिषाताम् । अधोक्षजे तु ररन्धिथ ररन्धिव; नियमबलान्नित्यमिट् । तृप प्रीणने । तृप्यति । कृष स्पृशेति—अतृपत् अतर्पीत् । सहजानिट्सु पाठादम् वा—अतार्प्सीत् अत्राप्सीत् । एवं दृप हर्षविमोचनयोः । मुह वैचित्त्ये । मुह्यति, अमुहत् मोग्धा मोढा मोहिता ।

३६०. नशेर्नेशिर्ङे वा ।

अनेशत् अनशत् । नाशषीष्ट ।

अमृता०—३५८. रधादेरिति । रधादेरुत्तरे इड् वा स्यात् । नित्यमिटि प्राप्ते विभाषार्थमिदम् । रधादावष्टौ पठचन्ते । यथा—रधिनशि स्तृपिश्चैव दृपिर्द्रुहिर्मुहिः स्निहिः । स्नुहिश्चेति भवन्त्येते दैवादिका रधादयः । इति ।

अमृता०—३५९. रधेरिति । अधोक्षज वर्जिते इडादौ प्रत्यये रधेनुम् न भवति । इटः प्रत्ययसम्बन्धित्वाद् रजिभो नुंम् सर्वेश्वरे इति सर्वत्र प्राप्ते निषेधः । इटीति किम्—कृति रन्धनम् । ररन्धिवेतिनुमि कृते संयोगान्तेना"संयोगादलिदधोक्षज" इति कपिलत्वाभावान्नहि नलोपः । रधादेरिड् वेति विभाषयेट् न भवति क्रादिनियमबलात्, तत्रमात्र शब्दग्रहण सामर्थ्या दित्यर्थः । कृषस्पृशेत्यादिना विकल्पेन सिरिति शेषः । अमृतदिति पुषादित्वाद् ङः । अतर्पीदिति रधादित्वादिट् पक्षे । अनिट् पक्षे ऋरामोद्धव सहजानिट् इति अम्वा । तेन अतार्प्सीदिति द्वयम् । विष्णुजनान्तानामिनिटामिति वृष्णीन्द्रः । तत्र च कर्मणि—अतर्पि अतर्प्सातां अतर्पिषातामित्यादि । मोग्धेति—हस्य ढ इत्यादौ द्रुह मुहादीनां विभाषा निर्देशाद् वा चत्वम् । मोहनेतिरधादित्वादिट् पक्षे ।

अमृता०—३६०. नशेरिति । ङे परे नश् धातोः स्थाने नेशिरिति यादिश्यते । इराम इत् । पुषादित्वाद् ङः । वोपदेवोऽपि—'नश् नेश् वाङे' इति सूत्रयति । पाणिन्यादयो न मन्यन्त आदेशम् ।

बाल०—रधा । रधादेरुत्तरे इड वा भवति ॥३५८॥

बाल०—रध । अधोक्षजं वर्जयित्वा अन्यस्येटि परे रधेर्नुम् न भवति, अधोक्षजेटि तु परे नुम् भवत्येव । नियमेति । क्रादिभ्य एव अधोक्षजमात्रे नेडिति नियमः कृतस्तद्बलात् । कृषस्पृशेतीति पाक्षिकसिविधानलक्षणोल्लेखः । अम् वेति 'ऋरामोद्धवसहजानिटोऽम् वा वैष्णवादावकपिले' इत्यनेनेति शेषः । अताप्सीत् अत्राप्सीदिति 'विष्णुजनान्तानामि' त्यादिना वृष्णीन्द्रः । मुह वैचित्ये वैचित्यं व्याकुलता । मोग्धेति 'हस्य ढ' इत्यादौ 'द्रुह मुह-नश-ष्णुह ष्णिहां वा विष्णुषदान्ते वैष्णवे चैं'त्यनेन हस्य घः । माढेति घरामाभावपक्षे मोहितेति इट् पक्षे ॥३५९॥

३६१. मस्जि नशो नुम् वैष्णवे ।

नङ्क्षीष्ट, नंष्टा ।

३६२. नशे र्न णत्वं षत्वे ।

प्रनंष्टा ! इति रधादिः ।

क्रमु पाद विक्षेपे । क्रमस्त्रिविक्रमइत्यादि क्राम्यति । शपीति तस्यां भ्रमः । शमु उपशमे ।

३६३. शमादीनां त्रिविक्रमः श्ये ।

शाम्यति । जनिवध्योर्मान्तानाम् —अशमि । क्लमु ग्लानौ । क्लाम्यति । असु क्षेपणे । अस्यति ।

अमृता०—३६१. मस्जीति । टुमस्ज शुद्धौ, नश अदर्शने इत्येतयो नुम् स्यात् वैष्णवे परे । वैष्णवे किम्—नश्यात् नशिता । नङ्क्षीष्टेति—रधादे र्विभाषितेट् त्वादनिट् पक्षे रूपम् । हस्य ढ इत्यादिना घरामादेशे यादवमात्रे हरिकमलम्, प्रत्ययसस्य षत्वं, नुमो विष्णुचक्रं, हरिवेणुश्च । अनादेशपक्षेऽपि तदेव रूपम्— छशोरिति षत्वे षढोः कः से, ततः पूर्ववत् सर्वम् । नंष्टेति—अनादेशे; घादेशपक्षे तु हरिघोषादिति तस्य धः, विष्णुदासो विष्णुपदान्त इति घस्य गः—नङ्ग्धा ।

अमृता०—३६२. नशेरिति । षत्वे सति नशेः पूर्वोक्तनिमित्ताद् णत्वं न स्यात् । उपेन्द्राण्णोपदेशस्य णत्वमिति प्राप्ते प्रतिषेधः । षत्व इति किम्—प्रणश्यति । इति रधादिः ।

अमृता०—३६३. शमादीनामिति । श्यविकरणेपरे शमादीनामष्टानां त्रिविक्रमः स्यात् । शमिस्तमिर्दमिश्चैव श्रमि भ्रमिः क्षमि स्तथा । क्लमिर्मिदिरिति ज्ञेयाः शमादावष्ट धातव इति । श्यइति किम्—शमिता । भूतेशे-अशमत् । थलि-शेमिथ ।

बाल०—नशे । ङे परे नशेः स्थाने नेशिर्वा भवति । इराम इत् ॥३६०॥

बाल०—मस्जि । टुमस्ज शुद्धावित्यस्य नश धातोश्च वैष्णवे परे नुम् भवति । वैष्णव इति किम् ? ण्यतप्रत्ययः कृत् नाश्यम् । नश्यादित्यादौ तु नुमि सत्यपि कामपालपरपदस्य कपिलत्वात् 'अनिरामेतोमि'त्यादिना नस्य हरः स्यादिति तत्र प्रत्युदाहृतम् ॥३६१॥

बाल०—नशेः । षत्वे सति नशेर्णत्वं न भवति । षत्व इति तालव्यस्य मूर्द्धन्यत्वे सतीत्यर्थः । षत्वे इति किम्—प्रणश्यति । शपीतीति । शिव इत्युपादानात् क्राम्यतीत्यत्रापि त्रिविक्रमो भवति । प्रक्रियायां शपीत्युक्तम् अतस्तन्मये क्राम्यतीति न भवति ॥३६२॥

बाल०—शमा । श्ये परे शमादीनां त्रिविक्रमो भवति । "शमु उपशमे, दमु उपशमे

३६४. अस्यते रस्थो ङे ।

आस्थत् निरास्थत इत्यात्मपदं वक्ष्यते । यसु प्रयत्ने ।

३६५. यसः श्यो वा, संवर्जोपेन्द्रात्तु नित्यम् ।

यस्यति यशति । संयश्यति संयशति । प्रयस्यति ।

लुभ गार्ध्ये । गार्ध्यमाकाङ्क्षा । लुभ्यति । इषु सहलुभेति इड् वा—लुब्धा लोभिता । ञि मिदा स्नहने ।

३६६. मिदेर्गोविन्दः शिवे ।

अमृता०—३६४. अस्यतेरिति । ङे परे असु धातो स्थाने अस्थ आदिश्यते । शितपा निर्देशेन अस् भुवीत्यस्य निरासो बोध्यः । आस्थदिति—अस्यति वक्ति ख्यातिभ्य इतिङः । उक्तसूत्रे कर्त्तरीति ग्रहणादात्मपदे च ङः स्यादिति दर्शयति—निरास्थतेति । प्रादेरूहास्यतिभ्यां वेत्यनेनात्मपदं वक्ष्यते । पुषादित्वादस्यतेः परपदे एव ङःसिद्धः, तत आत्मपदार्थमेव तत्रास्यतेः कर्त्तरि तद्विधानं ज्ञेयम् ।

अमृता०—३६५. यस इति । अनुपेन्द्राद् यसुधातोः श्यो वा स्यात् । संवर्जितादुपेन्द्रात्तु यसः श्यो नित्यं भवति । तेन समः परस्माच्च तस्माद् विकल्पो ज्ञेयः । शपः स्थाने हि श्यो विहितः, अत स्तदभावे शप् एव भवेदिति दर्शितं मूले । भूतेशे–अलुभत् । तरामादन्यत्र तु नित्यमिट्—लोभिष्यति । अयं भ्वादिरपीति—केचित्–लोभति ।

अमृता०—३६६. मिदेरिति । शिवे प्रत्यये परे मिदेर्गोविन्दो भवति । श्यविकरणस्य निर्गुणत्वादप्राप्ते गोविन्दे विधानम् । शिवइति किम् मिद्यते । अयञ्च भौवादिके द्युतादिषु पठ्यते । तत्रोभयपदित्वेन अमिदत् अमेदिष्टेति, इह पुषादिषु पाठ

तमु ग्लानौ, श्रमु तपसि खेदे च, भ्रमु अनवस्थाने क्षमु सहने, क्लमु ग्लानौ, मदी हर्षे एते अष्ट शमादयः ।" जनि-वध्योमन्तानामितीति वृष्णान्द्रनिषेधविधानलक्षणोल्लेखः । क्लाम्यतीत्यत्र ष्ठिवाचमुक्रमां त्रिविक्रमः शिव' इत्यनेनापि त्रिविक्रमः सिध्यति, तथापि क्लमधातोः शमादिषु पाठः 'शमादेर्णिनि'रित्यनेन णिनिविधानार्थमिति ज्ञेयम् । णिनिः कृत् ॥३६३॥

बाल०—अस्यतेः । ङे परे अस्यतेः स्थाने अस्थो भवति । आस्थदिति 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्यो ङो भूतेशे कर्त्तरी'त्यनेन ङः ॥३६४॥

बाल—यसः । यस उत्तरे श्यो वा भवति । संवर्जोपेन्द्रादुत्तराद् यस उत्तरे तु श्यो नित्यं भवति । उपेन्द्राभावे समुपेन्द्रे च वा भवति । अन्योपेन्द्रे तु नित्यं भवतीत्यर्थः ॥३६५॥

बाल०—मिदे । शिवे परे मिदेर्गोविन्दो भवति । शिव इति किम्—मिद्यते । श्य

मेद्यति । इतिपुषादिः ।

षूङ् प्राण प्रसवे । सूयते असविष्ट असोष्ट । दीङ् क्षये ।

३६७. मीनाति मिनोति दीङामारामान्तपाठश्चतुर्व्यूह विधिस्थाने यपि च ।

३६८. लीयति लीनात्योर्वा ।

दामोदरत्वाभावान्नेरामः—अदास्त ।

३६९. दीङो युट् कपिलसर्वेश्वरे ।

नरस्य वामनः—दिदीये । इङ् व्यवधान इत्यन्यागमव्यवधाने तु न ढत्वम्

स्तु अमेदीदित्यनिष्टरूपं माभूदित्येवमर्थः । असविष्टेत्यादि स्वरति सूतीत्यादिना वेट् ।

अमृता०—३६७. मीनातीति । मीञ् हिंसायां, डुमिञ् प्रक्षेपणे, दीङ् क्षये इत्येतेषामारामान्त पाठः स्याच्चतुर्व्यूह विधिस्थाने यपि च विषये । चतुर्व्यूहविधिश्च गोविन्दवृष्णीन्द्र रूपः, यत्र तौ प्राप्नुत स्तत्रैव तौ बाधित्वारामान्तपाठो भवेदितिफलितार्थः । चतुर्व्यूहेत्यादि किम्—दीयते दिदीये । यप् कृत, तत्र—उपदाय । प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेवारामः स्यदिति पाठशब्दग्रहणम् ।

अमृता—३६८. लीयतीति लीङ् श्लेषणे दिवादिः लीश्लेषणे क्र्यादिरित्येतयोरारामान्तपाठो वा स्याच्चतुर्व्यूहविधिस्थाने यपि च विषये । विलाता विलेता । विलाय विलीय ।

अमृता०—३६९. दीङ इति । कपिल सर्वेश्वरे परे दीङ उत्तरे युडागमो भवति । असंयोगपूर्वस्यानेकसर्वेश्वरस्येत्यादिना प्राप्तयरामादेशस्य प्रकारान्तर प्रतिषेधोऽयम् । युडागमस्यप्रत्ययसम्बन्धित्वेन धात्वङ्गस्य नयादेशावकाश इत्यर्थः । सर्वेश्वर इति किम्—

इत्यक्त्वा शिव इति कृतं हरिनामाक्षरलाभार्थम् । असविष्ट असोष्टेति 'स्वरति सूति सूयती'त्यादिना वेट् ॥३६६॥

बाल०—मीनाति । मीञ् हिंसाया, डुमिञ् प्रक्षेपणे इत्येतयोर्दीङ्धातोश्च चतुर्व्यूहविधिस्थाने आरामान्तपाठो भवति । यपि च परे आरामान्तपाठो भवति । चतुर्व्यूहस्थाने इति गोविन्द वृष्णीन्द्रविधाने यस्मिन् परे गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ भवतः, तस्मिन् विषये इति फलितार्थः । आरामान्तपाठ इति अन्तस्य स्थाने आरामो भवतीत्यर्थः ॥३६७॥

बाल०—लीय । लीङ् श्लेषणे, ली श्लेषणे इत्येतयोश्चतुर्व्यूहविधिस्थाने यपि च परे आरामान्तपाठो वा भवति । दामोदरत्वाभावादिति दीङ्धातोर्दामोदरत्वाभावात् 'स्था-दामोदरयोरिराम' इत्यादिना नेरामः । अदास्तेति अत्र गोविन्दविधिस्थाने आरामान्तपाठः ॥३६८॥

--दिदीयिध्वे। स्यादित्येके--दिदीयिढ्वे। सहजहरिमित्रग्रहणमिति प्रसादकारः।

जनी प्रादुर्भावे।

३७०. ज्ञा-जनोर्जा शिवे।

जायते। भावे जायते जन्यते। अजनि अजनिष्ट। जज्ञे। पद गतौ। पद्यते। कर्त्तरि—अपादि।

उपदेदीयते। कपिलेति किम्—उपदानम्। इड्व्यवधान इति—ईश्वर हरिमित्र हकारेभ्य इति ढत्वविधान सूत्रे इट एव व्यवधानमुक्तं नान्यस्य, ततो युटा व्यवधाने तु न ढत्व-मित्यर्थः। प्रसादकारेण तु हरिमित्र शब्देन सहज हरिमित्रं गृहीत्वा ढत्वं नेष्यते। सहजत्वञ्च धातोरेवाङ्गस्य न त्वागमस्य। अधो--लिल्ये। लाता लेतेति—लीयति लीनात्योरिति विकल्पारामान्तपाठात् रूपद्वयम्।

अमृता०—३७०. ज्ञा जनोरिति। शि-प्रत्यये परे ज्ञा अवबोधने, जनी प्रादुर्भावे इत्यनयोः स्थाने जादेशः स्यात्। जनधातु दिवादिरेव गृह्यते नतु जुहोत्यादिकः, तत्रशित् परत्वविरहादनुपपत्तेः। भावे जन खन सनामिति विभाषयाराम विधानात् जन्यत इति न। अजनीति—दीप् जनीत्यादिना कर्त्तरि विकल्पितेण्, तेन अजनिष्टेत्यपि। इणि जनि वध्यो रिति वृष्णीन्द्रनिषेधः। जज्ञ इति--गमहन जनेत्यादिनोद्धवादर्शनं, तवर्गस्य चवर्गः। अपादीति पदस्तु नित्यमिति कत्तरि इण्। अवोधीति—दीप् जनि वुध्यतीत्यादिना कर्त्तरि विभाषया इण्। अवुद्धेति—ऋद्वयाद् विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्चेति कपिलत्वान्न गोविन्दः। अभुत्सातामिति--जवर्जहरिगदादेरिति हरिघोषत्वम्। सहजानिट्त्वात् भुत्सीष्ट

बाल०—दीङो। कपिलसर्वेश्वरे परे दीङ उत्तरे युट् भवति। उटावितौ। दिदीये इति चतुर्व्यूहविधिस्थाने इत्युपादानात् नात्रारामान्तपाठः। ईडिति 'ईश्वर-हरिमित्र-हकारेभ्यः सीध्वं-भूतेशाधोक्षजानां धस्य ढः, इड्व्यबधाने तु वे'ति ढविधानसूत्रम्। सहजेति प्रसादकारमेतिऽपि दिदीयिध्व इति ॥३६९॥

बाल०—ज्ञा। शिवे परे ज्ञा अवबोधने इत्यस्य जनधातोश्च स्थाने जा भवति। भावे जायते इति 'जन-खन-सनामारामो वा कंसारि-य' इत्यनेन नरामस्य आरामः, अजनीति। 'दीप-जनि-बुद्धचति-पूरीतायि-प्यायिभ्य इण् वा भूतेश-ते कर्त्तरी'त्यनेन इण्। 'जनि-वध्योरि'त्यादिना वृष्णीन्द्रनिषेधः। अजनिष्टेति इणभावपक्षे। जज्ञ इति 'गम-हन-जने'त्यादिना उयवादर्शनं, तवर्गस्य चवर्गः। अदीति अपादीति पदस्तु नित्यमित्यनेन इण्। अबोधीति 'दीप-जनि-बुध्यती'त्यादिना इण्; अबुद्ध। अभुत्सातामिति

--दिदीयिध्वे। स्यादित्येके--दिदीयिढ्वे। सहजहरिमित्रग्रहणमिति प्रसादकारः।

जनी प्रादुर्भावे।

३७०. ज्ञा-जनोर्जा शिवे।

जायते। भावे जायते जन्यते। अजनि अजनिष्ट। जज्ञे। पद गतौ। पद्यते। कर्त्तरि—अपादि।

उपदेदीयते। कपिलेति किम्–उपदानम्। इड्व्यवधान इति–ईश्वर हरिमित्र हकारेभ्य इति ढत्वविधान सूत्रे इट एव व्यवधानमुक्तं नान्यस्य, ततो युटा व्यवधाने तु न ढत्व-मित्यर्थः। प्रसादकारेण तु हरिमित्र शब्देन सहज हरिमित्रं गृहीत्वा ढत्वं नेष्यते। सहजत्वञ्च धातोरेवाङ्गस्य न त्वागमस्य। अधो—लिल्ये। लाता लेतेति–लीयति लीनात्योरिति विकल्पारामान्तपाठात् रूपद्वयम्।

अमृता०—३७०. ज्ञा जनोरिति। शि-प्रत्यये परे ज्ञा अवबोधने, जनी प्रादुर्भावे इत्यनयोः स्थाने जादेशः स्यात्। जनधातु र्दिवादिरेव गृह्यते नतु जुहोत्यादिकः, तत्रशित् परत्वविरहादनुपपत्तेः। भावे जन खन सनामिति विभाषयाराम विधानात् जन्यत इति च। अजनीति—दीप् जनीत्यादिना कर्त्तरि विकल्पितेण्, तेन अजनिष्टेत्यपि। इणि जनि वध्यो रिति बृष्णीन्द्रनिषेधः। जज्ञ इति--गमहन जनेत्यादिनोद्धवादर्शनं, तवर्गस्य चवर्गः। अपादीति पदस्तु नित्यमिति कर्त्तरि इण्। अवोधीति–दीप् जनि बुध्यतीत्यादिना कर्त्तरि विभाषया इण्। अबुद्धेति---ऋद्वयाद् विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्चेति कपिलत्वान्न गोविन्दः। अभुत्सातामिति--जवर्जहरिगदादेरिति हरिघोषत्वम्। सहजानिट्त्वात् भुत्सीष्ट

बाल०—दीङो। कपिलसर्वेश्वरे परे दीङ उत्तरे युट् भवति। उटावितौ। दिदीये इति चतुर्व्यूहविधिस्थाने इत्युपादानात् नात्रारामान्तपाठः। ईडिति 'ईश्वर-हरिमित्र-हकारेभ्यः सीध्वं-भूतेशाधोक्षजानां धस्य ढः, इड्व्यबधाने तु वे'ति ढविधानसूत्रम्। सहजेति प्रसादकारमेतिऽपि दिदीयिध्व इति ॥३६९॥

बाल०—ज्ञा। शिवे परे ज्ञा अवबोधने इत्यस्य जनधातोश्च स्थाने जा भवति। भावे जायते इति 'जन-खन-सनामारामो वा कंसारि-य' इत्यनेन नरामस्य आरामः, अजनीति। 'दीप-जनि-बुद्धयति-पूरीतायि-प्यायिभ्य इण् वा भूतेश-ते कर्त्तरी' त्यनेन इण्। 'जनि-वध्योरि'त्यादिना वृष्णीन्द्रनिषेधः। अजनिष्टेति इणभावपक्षे। जज्ञ इति 'गम-हन-जने'त्यादिना उयवादर्शनं, तवर्गस्य चवर्गः। अदीति अपादीति पदस्तु नित्यमित्यनेन इण्। अबोधीति 'दीप-जनि-बुध्यती'त्यादिना इण्; अबुद्ध। अभुत्सातामिति

बुध अवगमने । बुध्यते । अबोधिः अबुद्ध, अभुत्सालाम् । णह बन्धने । नह्यति नह्यते । नद्धा ।

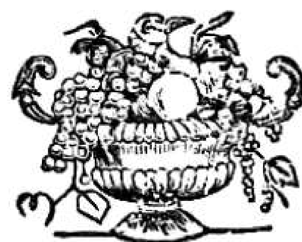
इति श्रीहरिनामामृतेऽमृतास्वादिन्यां
व्याख्यातो दिवादिः ।

वोद्धा । नह—भूतेशे–अनात्सीत् । अधो–ननाह नेहिथ नेहे । नद्धेति हस्यढः नहोध इति धत्वम् ।

इति श्रीहरिनामामृतेऽमृतास्वादिन्यां
व्याख्यातो दिवादिः ।

'ऋद्वयाद्विष्णुजनान्तेशोद्धवाचे' त्यादिना कपिलत्वान्न गोविन्दः । णह बन्धन इति एष उभयपदी । नद्धा इति हस्य ढ इत्यादौ नहो ध इति हस्य धः ।।३७०।।

।। इति दिवादिः ।।



अथ स्वादिः।

षुञ् अभिषवे। अभिषवः सन्धानं मङ्गलस्नानं वा। पीडनमित्यन्ये।

३७१. स्वादेः शपः श्नुः।

उश्नो गोविन्दः— सुनोति। षत्वम्—अभिषुणोति। नगोविन्दवृष्णीन्द्रौ सुनुतः सुन्वन्ति। सुनोषीत्यादि। सुनुते सुन्वाते इत्यादि। सूयते। सु स्तुधूञ्भ्य इट् सौ—असावीत् असोष्ट।

एवं धूञ् कम्पने। डुमिञ् प्रक्षेपणे। मीनातीत्यात्वं—अमासीत्। चिञ् चयने। चिनोति। अधोक्षजे—चेः कि र्वा, चिकाय चिचाय। स्तृञ् आच्छादने। ऋराम वृइति वेट्—अस्तरिष्ट अस्तृत। स्तरिषीष्ट। वृञ्- आवरणे। अवारीत्। ऋराम वृभ्य इतीटो दीर्घः। अवरीष्ट अवरिष्ट अवृत। अत्यर्त्ति वृ-ववरिथ ववृव। हिगतौ वृद्धौ च। हिनोति; णत्वम् ——प्रहिणोति।

अमृता०—३७१. स्वादेरिति। स्वादिगण पठिताद् धातोरुत्तरे शपः स्थाने श्नु विकरणः स्यात्। शइत्। अत्रापि शित् करणान्न स्थानिवत्ता। अतः सुनीतीत्यादौ पृथुत्व विरहात् प्रकृते र्न गोविन्दः। अभिषुणोतीत्यत्र—उपेन्द्रात् सुवतेः षत्वमिति विशेषो वक्ष्यते; ततो णत्वञ्च। सुन्वन्तीति—संयुक्तश्नोश्चेति नियमादत्र नोव्, किन्तु सन्धिमात्रम्। असोष्टेति—सुस्तुधूञ्भ्य इति परपदे हीटो विधानान्नेहात्मपदे। एवं धूञिति—धूनोति, अधावीत्, अधविष्ट अधोष्ट। धुञ् धातुर्वामनोऽप्यस्ति। तस्य धुनोति, अधौसीत् अधोष्ट। मिनोतेः—अधो—ममौ ममिथ ममाथ मिम्ये। काम—मीयात्। चिनोते र्भूतेशे अचैषीत् अचेष्ट। अस्तृतेति—ऋद्वयाद विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्चेति कपिलतया नगोविन्दः, वामन वैष्णवाभ्यामिति सेर्हरः। काम—इडभावपक्षे स्तृषीष्ट। अवृतेति पूर्ववत् वेट्-गोविन्दा-भाव-सिलोपाः। वालकल्कौ नित्यमिट्, दीर्घस्तु वा—वरीता वरिता। णत्वमिति— उपेन्द्राण्णौषदेशस्येत्यादौ हिनु मीनानिपाञ्चेत्यनेन।

अथ स्वादिः

बाल०—स्वादेः। स्वादिगणपठितस्य धातोः शपः स्थाने श्नुर्भवति। श इत्। सुनोतीति शित्करणान्न स्थानिवत्त्वमतः पृथुत्वाभावः, अतः प्रकृतेर्न गोविन्दः। अभिषुणोतीति षत्वे कृते णत्वञ्च। स्तरिषीष्टेति इडभावपक्षे स्तृषीष्टेति।

णत्वमिति। उपेन्द्रादित्यादौ हि नु मीनानिपाञ्चे'त्यनेनेति शेषः ॥३७१॥

३७२. नरतो र्हेघि र्नत्वङि ।

जिघाय । कृवि जिघांसायाम् ।

३७३. कृवि-धिव्योः कृ धी श्नौ ।

अन्तस्थान्तर्गणे पठितावेतौ । कृणोति । इदित्त्वान्नुम् कृण्वते । अकृण्वीत् । चकृण्व । कृण्विता । धिवि प्रीणने । धिनोति । दन्मु दम्भे । दम्भः पर वञ्चना । दभ्नोति दम्नुतः दभ्नुवन्ति । ददम्भ; श्रन्थि ग्रन्थीत्यादिना कपिलो वा, देभतुः ददम्भतुः, देभिथ ददम्भिथ । आदेशहीनेत्यादिनैवेत्वादौ प्राप्तेऽपि तत्र श्रन्थीति दम्भेः पृथगुपादानं नियमार्थम्, न-लोपिनां मध्ये तेषामेवेति । तेनधोक्षजाभे कृति ममथ्वान् इति सेत्स्यति । अशूङ् व्याप्तौ । अश्नुते अश्नुवाते अश्नुवते ।

अमृता०—३७२. नरत इति । नरादुत्तरस्य हि धातो घिरात्यादेशो भवति, अङि परे तु सन स्यात् । तत्रतु—अजीहयदिति । थलि—जिघयिथ जिघेथ ।

अमृता०—३७३. कृवीति । श्नुविकरणे परे कृवि-धिव्यो र्धात्वो र्यथाक्रमं कृ धी आदिश्येते । कृण्वत इति—कृवे र्वरामस्य दन्त्यौष्ठ्यत्वेन वैष्णवत्वाभावान्नुमो न विष्णुचक्रत्वम्; ततो रष ऋद्वयेभ्य इति णत्वम् । धिवे र्यकि—धिण्व्यते । धातो रव प्रागिदुतोरिति त्रिविक्रमस्तु नुमा वाध्यते, नुमः सहजत्वेनान्तरङ्गत्वात् । दभ्नोतीति—अनिरामेतामित्युद्धव नरामहरः । दभ्नुवन्तीति—संयुक्त श्नोश्चेति उव् । देभतुरिति—तृ फलेत्यादौ नलोपि श्रन्थीत्यादिना एत्व-नरादर्शने, कपिलत्वान्नलोपश्च । पक्षे तदभावः । कपिलपक्षमाश्रित्य सूत्रज्ञापकतामवधारयति—आदेशेति । श्रन्थि ग्रन्थि दम्भिभ्य इत्यनेन दम्भादीनां कपिलत्वेन नलोपे जाते, आदेशहीनेत्यादिना हि तेषामेत्व-नरादर्शने सिध्येते एव; तथापि तृफलेत्यादौ नलोपि श्रन्थीत्यादिना पुनरेषां ग्रहणं कृतं तत्तु नियमार्थम् । नियमश्चासौ ज्ञापयति—नलोपिनां यावतां मध्ये प्रोक्तत्रयाणामेवैत्वादिकं स्यान्नान्येषामिति । ममथ्वानिति क्वसुप्रत्ययान्तः ।

बाल०—नरः । नरत उत्तरस्य हेः स्थाने घिर्भवति । अङि तु सति न भवति । प्रत्युदाहरणं वक्ष्यते ।।३७२।।

बाल०—कृवि । श्नौ परे कृवि-धिव्योः स्थाने कृ-धी भवतः । अन्तस्थान्तर्गणे दन्तोष्ठ्यवान्तर्गणे । दभ्नोतीति अनिरामेतामित्यादिना नरामहरः । देभतुरिति 'तृ—फले'त्यादिना एत्वं नरादर्शनञ्च । एत्वादावित्यादिपदेन नरादर्शनस्य ग्रहणम् । दम्भेरिति श्रन्थेररामस्य असंयुक्तविष्णुजनमध्यत्वाभावात् ग्रन्थेस्तु सादेश-नराद्यक्षरत्वात् अरामस्य असंयुक्त-विष्णुजनमध्यत्वाभावाच्च पृथगुपादानस्य सार्थकत्वमस्तीति ज्ञेयम् । नियममाह—नलोपिन मध्ये तस्यैवेति दम्भेरेवेतीति तेनेति नियमेन कृते ममथ्वानित्यत्र एत्वं नरा-

३७४. अश्नोति नरान्नुडधोक्षजे।

आनशे।

॥ इति स्वादिः ॥

अमृता०—३७४. अश्नोतेरिति। अधोक्षजे परे अश्नोते र्नरादुत्तरे नुडागमः स्यात्। अप्राप्ते विधानम्। ऊदित्त्वाद् वेट्। आशिष्ट आष्ट। अशिषीष्ट अक्षीष्ट।

दर्शनश्च न स्यात्। ग्रन्थेर्दम्भश्च पृथगुपादानं नियमार्थं नलोपिनां मध्ये तयोरेवेतीति पाठो बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते, स त्वसङ्गत एवेति ॥३७३॥

बाल०—अश्नोति। अधोक्षजे परे अश्नोतेर्नरादुत्तरे नुड् भवति। उटावितौ। आनशे इति नरादेररामस्य त्रिविक्रम' इत्यनेन त्रिविक्रमः ॥३७४॥

॥ इति स्वादिः ॥



तुद व्यथने ।

३७५. तुदादेः शपः शः ।

तुदति । तुदते । भ्रस्ज पाके । ग्रहिज्येति सङ्कर्षणः, सस्यजो जे–भृज्जति

३७६. भ्रस्जे र्भज्जोऽकंसारौ वा ।

अभार्क्षीत् अभ्राक्षीत् । वभर्ज वभ्रज्ज । कंसारौ तु भृज्यते । मुच्लृ मोक्षणे ।

३७७. मुचादेर्नुम् शे ।

मुञ्चति । लुप्लृ छेदने । लुम्पति । विद्लृ लाभे । विन्दति । लिप उपदेहे । लिम्पति । लिपि सिचि इत्यादि–अलिपत् अलिपत अलिप्त ।

अमृता०—३७५. तुदादेरिति । तुदादि गणपठिताद् धातो शपः स्थाने शः स्यात् । अत्रापि पूर्ववत् शित् करणेन स्थानिवत्त्वाभावः । भृज्जतीति अरामसहितस्य ररामस्य सङ्कर्षणे ऋरामः ।

अमृता०—३७६. भ्रस्जेरिति । कंसारितोऽन्यस्मिन् प्रत्यये परे भ्रस्जः स्थाने भर्ज्जादेशो वा भवति । अभ्राक्षीदिति—विष्णुजनान्तानामनिटामिति वृष्णीन्द्रः । धातु-प्रतिरूपादेश स्तद्धातुवत् प्रयोग इति भर्ज्जादेशस्यापि वृष्णीन्द्रः । थलि—वभर्ष्ठ वभर्जिथ, वभ्रष्ठ वभ्रज्जिथ ।

अमृता०—३७७. मुचादेरिति । शे विकरणे परे मुचादे र्धातो र्नुम् स्यात् । मुचादय खल्वष्टौ । शइति किम्—मोक्ता । लृदित्त्वाद् ङः—अमुचत् । अमुक्त । विदः—बअविदत् अवित्त । अलिपदित्यादि—लिपिसिचीत्यादौ आत्मपदे तु वेति विभाषया ङः । कर्त्त्स्यतीत्यादि—नृतीकृत्यादेरिति स्ये विकल्पितेट् । अन्यत्र तु नित्यम्—अकर्त्तीत् कर्त्तिता । खिद

॥ अथ तुदादिः ॥

बाल०—तुदा । तुदादिगणपठितस्य धातोः शपः स्थाने शो भवति । श इत् अरामशेषः ॥३७५॥

बाल०—सस्य । सुगमम् ।

बाल०—भ्रस्जो । कंसारेरन्यस्मिन् परे भ्रस्जः स्थाने भर्जो वा भवति । अभार्क्षीत् अभ्राक्षीदिति 'विष्णुजनान्तानामनिटां वृष्णीन्द्रः सो परपद' इत्यनेन वृष्णीन्द्रः ॥३७६॥

बाल०—मुचा । शे परे मुचादेरुत्तरे नुम् भवति । लिपीति । लिपि सिचि ह्वो ङो भूतेशे कर्त्तरि आत्मपदे तु वेति लक्षणम् । कर्त्त्स्यति कर्त्तिष्यतीति 'नृति-कृत्यादेरिड् वा से सि विने' त्येनेन वेट् । मुचादय षडुक्ताः खिद परिघाते इत्ययमपि मुचादिगणे वर्त्तत इति ज्ञेयम् । पिश अवयवे इत्यस्यापि मुचादित्वं क्रमदीश्वरादीनां सम्मतम् । मुञ्चतिर्लुम्पि-लिम्पी

षिच क्षरणे। इरनुवन्धत्वं वहूनामसम्मतम्। सिञ्चति, षत्वम् अभिषिञ्चति। असिचत् असिचत असिक्त। एते उभयपदिनः। कृती छेदने। कृन्तति, कर्त्स्यति कर्त्तिष्यति। इति मुचादिः।
षूप्ररणे। सुवति। ओ व्रश्चू छेदने। सस्य शश्चवर्ग योगे—वृश्चति। ऋच्छ गत्यादिषु। ऋच्छति। सत्सङ्गाद्यृदन्तस्येति गोविन्दः, त्रिविष्णुजनेऽपि नुडिष्यते, आनर्च्छ आनर्च्छतुः। उद्धवत्त्वाभावान्न गोविन्दः—ऋच्छिता। कॄविक्षेपे। ॠरामस्येर्—किरति। कीर्यते। चकरतुः। करिता करीता।

३७८. उपात् सुट् किरतौ छेदने।

उपस्किरति।

३७९. अन्तर व्यवधानेऽपि।

उपास्किरत्, उपचस्कार।

परिघाते, पिश अवयवे इत्येतौ च मुचादौ पठ्येते इत्यष्टौ। खिन्दति पिंशतीति। वृश्चतीति—ग्रहिज्येति सङ्कर्षणः। ऋच्छ गत्यादिष्विति—आदिपदेन इन्द्रियप्रलय मूर्त्तिभावेषु चार्थेषु ज्ञेयम्। त्रिविष्णुजनेऽपीति—नरादेररामस्येति त्रिविक्रमः, तस्मान्वृडिति नुट् च। तत्रविष्णुजन ग्रहणमनेकविष्णुजनस्योपलक्षणमिति प्राञ्चः। उद्धवत्वाभावादिति—यद्यपीह सत्सङ्गात् पूर्वो वामनोऽपि गुरुरिति लघुत्वाभावोऽपि विद्यते, तथापि विशेष्यस्य हि प्राधान्यात् प्रथमत उद्धवत्वमेव नास्ति किं पुन स्तद् विशेषणेन लघुत्येन गुरुत्वेन वेति तन्नोक्तम्। कॄ-भूतेशे—०अकारीत्। चकरतुरिति—सत्सङ्गाद्यृदन्तस्यस्येति गोविन्दः। तत्रैव नतु वृष्णीन्द्र इति निषेधाण्णलि तु चकार।

अमृता०—३७८. उपादिति। उपादुत्तरे सुडागमः स्यात् छेदनार्थ कॄ धातौ परे।

च विन्दिश्च सिञ्चिजनेऽपीति। 'नरादेररामस्य त्रिविक्रमस्तस्मान्नुड् द्वि विष्णुजने धातावि' ति पूर्वं कृतम्। ऋच्छितेत्यत्र 'लघूद्धवस्य गोविन्द' इत्यनेन गोविन्दः कथं न भवतीत्याशङ्क्य समादधाति उद्धवत्वाभावादिति। नन्विदं कथं सङ्गच्छतां यथात्र उद्धवत्वाभावस्तथा लघुत्वाभावश्च; यत उक्तं 'सत्सङ्गात् पूर्वो वामनोऽपि गुरु'रिति उच्यते लघूद्धवस्य गोविन्द इत्यत्र वामनो लघुरित्युक्तमतो वामनत्वमस्त्येवेति उद्धवत्वाभावादित्येवोक्तम् अथवा यत्र यत्र लघुत्वाभावस्तत्र उद्धवत्वाभावस्य आवश्यकता नास्ति, यत्र यत्र उद्धवत्वाभावस्तत्र लघुत्वाभावस्यावश्यकतेति मुख्यहेतुतया उद्धवत्वाभावस्यैव निर्द्देशः कृतः। चकरतुरिति 'सत्सङ्गाद्यृदन्तस्ये'त्यादिना गोविन्दः। करीतेति 'ॠरामवृभ्य इटस्त्रिविक्रमे' त्यादिना इटस्त्रिविक्रमः ॥३७७॥

बाल०—उपात्। छेदनेऽर्थे किरतौ कृधातौ परे उपादुत्तरे सुट् भवति। उटावितौ। उपस्किरतीति छेदनपूर्वकं विक्षिपतीत्यर्थः ॥३७८॥

३८०. उप-प्रतिभ्यां सुट् किरतौ हिंसायाम् ।

उपस्किरति । हिंसा पूर्वकं क्षिपतीत्यर्थः । एवं प्रतिस्किरतीत्यादि । गॄ निगरणे । निगरणं गलाधः करणम् ।

३८१. गिरो रो लः सर्वेश्वरे वा, नित्यन्तु यङि ।

गिरति गिलति । गुफ गुन्फ ग्रन्थे ।

३८२. गुन्फादे र्नलोपः शे वा ।

गुफति गुम्फति । नराम वैयर्थ्यादेव नलोपो न स्यादिति चेत् ? रामधातुके सार्थकः स्यात् । गोफिता गुम्फिता । स्पृश संस्पर्शे । स्पृशति, अस्प्राक्षीत् अस्पार्क्षीत् । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । पृच्छति, अप्राक्षीत् । सृज विसर्गे । विसर्गः सृष्टि स्त्यागो वा । सृजति, अस्राक्षीत् ।

अमृता०—३७९. अन्नरेति । स्पष्टम् ।

अमृता०—३८०. उपेति । उपात् प्रते श्चोत्तरे सुडागमः स्यात् हिंसार्थे कॄ धातौ परे ।

अमृता०—३८१. गिर इति । सर्वेश्वरादौ प्रत्यये परे गॄ धातो ररामस्य विभाषया लरामो भवति । यङि प्रत्यये तु नित्यमव लत्वं स्यात् । सर्वेश्वरे इति किम्—गीर्यते । ननु कथं स्वादौ सर्वेश्वरे गिरौ गिर इत्यादौ विभाषया न लत्वम् ? मैवं, गङ्गास्रोतोवदिह विधेः प्रवर्त्तनात् परविधिरयं पूर्वं नारोहति विशेषकथनाभावात् ।

अमृता०—३८२. गुन्फादेरिति । शेविकरणे परे गुन्फादे र्धातो र्न लोपो वा स्यात् । अनिरामेतामित्यादिना नित्यं नरामहरे प्राप्ते विभाषेयम् ।

गुफतीति गुफ धातो रूपम्, गुन्फेस्तु नरामहरपक्षे गुफति, तदभावे गुम्फतीति । एवञ्च स्तृफेः स्तृफति, स्तृम्फस्तु स्तृफति स्तृम्फतीति द्वयम् । नरामवैयर्थ्यादित्यादि—नह्यगुफतिना हीष्ट सिद्धे गुम्फतेः पृथक् पाठेन नरामलोपप्रसङ्गो वारितः, अम्लुञ्चदिति वृत् । अतो नरामव्यैर्थ्यादेवानिरामेतामित्यादिना गुन्फादे र्न लोप स्तावन्नभवतीति कथं तर्हीह नलोपनिषेधाय विकल्प वचनमिति शङ्काग्रन्थं संक्षेपेणोत्थाप्य समादधाति—रामधातुक इति । अनिरावेतामित्यादिना नलोपो न हि सार्वत्रिकः, कंसारिप्रत्ययापेक्षित्वात् । ततोऽकंसारौ वालकल्क्यादौ तन्नरामलोपाशङ्काविरहात् स्यादेव सार्थक्यं धात्वङ्ग नरामस्य । तस्मान्नलोप विधि प्राप्ते रवश्यम्भावित्वात् खल्वत्र विभाषावचनं सङ्गच्छत एतेतिभावः ।

बाल०—अत् । अतो नरस्य च व्यवधानेऽपि सुट् भवति ।।३७९।।

बाल०—उप । हिंसायामर्थे किरतौ परे उप प्रतिभ्यामुत्तरे सुट् भवति ।।३८०।।

बाल०—गिरो । सर्वेश्वरे परे गिरो रो लो वा भवति, यङि तु परे नित्यं भवति ।।३८१।।

बाल०—गुन्फा । शे परे गुम्फादेर्न लोपो वा भवति । पाक्षिक न 'अनिरामेतामि' त्यादिना नरामहरस्य नित्यत्वात् गुम्फतीत्यादिकं न सिद्ध्यतीति लोपविधानं कृतम् ।

टुमसजो शुद्धौ । शुद्धिरिह स्नानम्, अवगाहे तु प्रयोगबाहुल्यम् । मज्जति । लोपविधेर्बलवत्त्वात् कृते सलोपे नुम्—अमाङ्क्षीत् । संयुक्त-विष्णुजनमध्यत्वान्नैत्वादि—ममज्जिथ ममङ्क्थ । त्सर् छद्मगतौ,

---

तदेतद्विकल्पविधानं वोपदेवस्य च सम्मतम् । कालापास्तु प्राप्त-नलोपं नित्यं निषिध्यन्ति । गुन्फादयोऽष्टौ अनुनासिकोद्धवा:; यथा—गुम्फति स्तृम्फतिश्चैव तुम्पति स्तुम्फति स्तथा । दृम्फि ऋम्फि स्तथैवोम्भि: शुम्भिगुम्फादिषु स्मृता इति । किञ्च निरनुनासिकोद्धवा अपि गुम्फादयोऽष्टावेभि: सहैव पठिता इत्यवधेयम् ।

अस्प्राक्षीदित्यादि—कृशस्पृशेति सेविकल्पता; ऋरामोद्धव सहजानिटामित्यमो विभाषा । अस्पार्क्षीदिति—अमोऽभावपक्षे केवलसि सद्भावे विष्णुजनान्तानामिति वृष्णीन्द्र: । अस्पृक्षदिति—ईशोद्धवादनिट इति सक् पक्षे । पृच्छतीति–ग्रहि ज्येति सङ्कर्षण: । अस्राक्षीदिति–सृजि पृशो रिति नित्यमम् ।

लोपविधेर्बलवत्त्वादिति—सर्वविधिभ्यो हर इति पूर्वोक्तपरिभाषाशासनादित्यर्थ: । भूतेशे सिपरे सस्य ज इत्यादौ वैष्णव परे जे इति निषेधात्, तदभावेनेह स्को: सत्सङ्गाद्यो-रिति धातो: सलोपस्ततोमस्जि-नशोरिति नुम् । अन्यथा प्रथमतो नुमिकृते नरामस्यैव सत्सङ्गादित्वं सञ्जायेत, ततश्च स्कोरिति सत्सङ्गादिहरविधि नैंव प्रयुज्येत, न वा प्रोक्त-प्रयोग: सिद्ध्येतेति विवेच्यम् । अमांक्षीदिति प्राक् सस्य जो ज इत्यस्य व्याख्या प्रसङ्गे साधितम् टीकायाम् ।

तत्सरतुरिति—त्स इत्यस्य द्विर्वचने कृते नरविष्णुजनानामादि: शिष्यत इत्यत्रान्य-

---

अत्राशङ्कते न रामेति । समादधाति रामधातुके इति । सार्थकमिति न । न रामाक्षरमिति शेष: । ननु 'गुम्फादेर्नलोपो वे'ति सूत्रस्य किं प्रयोजनम्—उभयोरुपादानात् गुफति गुम्फति द्वयमिति सिद्धं स्यात् भद्र', यर्हि एतत् सूत्रं न क्रियते, तदा अनिरामेतामिति सूत्रेण नलोपो नित्यमेव सम्भवति । नन्वेतन्नहि नरामग्रहणस्य वैयर्थ्यादेव नलोपो न स्यात्, श्रूयतां चेदयदीति ब्रवीसि तदा 'यक् कामपालादौ रामधातुके परे' सति गुफ्यते 'गुफ्यादित्यादावनिरामेतामि'त्यादि सूत्रबलात् न लोपे सति अस्य सूत्रस्य सार्थकं स्यात् बालकल्क्यादौ परे उभयोर्गुफगुम्फोर्ग्रहणमपि सार्थकं स्यात् गोफितेति गुफधातोरूपम् । गुम्फादेरित्यादि पदेन शुम्भशोभार्थे उन्भ पूरणे इत्त्यादे र्ग्रहणम् ।

गुम्फतिस्तृम्पतिश्चैव तुम्पतिस्तुम्फतिस्तथा ।
रिम्फतीरुम्भति: शुम्भि: सप्त गुम्फादयो मता: ॥

अस्प्राक्षीदिति कृष्-स्पृश्-मृश्-तृप-दृप-सृप सिर्वे' त्यनेन सि: 'ऋरामोद्धव सहजा-निटोऽम् वा वैष्णवादावकपिले इत्यनेन अम् । अस्पार्क्षीदिति अमभावपक्षे । अस्पृक्षदिति सेरभावपक्षे 'ईशोद्धवादनिटो हरिगोत्रान्तात्' इत्यनेन सक् । त्यागो वेति त्यागो दानम् । अस्राक्षीदिति 'सृजिदृशोरम् कपिल-वैष्णवे' इत्यनेन अम् । शुद्धिरिहेति स्नानं विधिपूर्वक-मज्जनम् । अवगाहस्तु केवल मज्जनं विहारपूर्वकमज्जनञ्च । 'मस्जिनशो र्नुम् वैष्णव' इत्यनेनेति शेष: । अमाङ्क्षीदिति 'सस्य ज' इत्यादौ न तु वैष्णव इति नात्र सस्य ज: ।

भौवादिकः। त्सरति, तत्सरतुः। विच्छ गतौ। विच्छायति। तुदादित्व-वलात् पक्षेविकरणश्चविच्छति। मृश आमर्शने। मृशति। अम्राक्षीत् अमार्क्षीत् अमृक्षत्। इषुइच्छायाम्। इच्छति, एष्टा एषिता। कुट कौटिल्ये।

३८३. कुटादेरनृसिंहो निर्गुणः।

३८४. व्यचेस्त्वसिं विना।

अकुटीत्। उत्तम णलि नृसिह कार्यं वृष्णीन्द्र विध्यभावाद् गोविन्द एव चुकोट। कुटिता। लिख लेखने। मिलसङ्गे।

३८५. लिखमिलौ कुटादौ वहुलम्।

विष्णुजनो न रक्ष्यत इत्युक्तेः अराम सहितस्य केवलसरामस्यापगमादरामसहित-तरामस्य नरत्वेन स्थितिः, संयुक्तविष्णुजन मध्यत्वान्नैत्वादि। विच्छायतीति—गुपूधूपेत्यादिना आयः। रामधातुके तस्य विकल्पत्वात्—अविच्छासीत् अविच्छीत्। विच्छाया-ञ्चकार विविच्छेत्यादि। अम्राक्षीदित्यादि स्पृशवत्। इच्छतीति—इषुगमि यमामिति छः, द्विः सर्वेश्वरमात्रादिति छस्यद्वित्वम्। एष्टेत्यादि—इषु सह लुभीति विकल्पितेट्त्वम्।

अमृता०—३८३. कुटादेरिति। कुटादे र्धातो नृसिंहवर्जितः प्रत्ययो निर्गुणोभवति। गोविन्दवाधनार्थमिदम्। अनृसिंह इतिकिम्—चुकोट।

अमृता०—३८४. व्यचेरिति। व्यच व्याजीकरणे इत्यस्य सम्बन्धे तु असि प्रत्ययं विना अनृसिंह प्रत्ययो निर्गुणो भवेत्। उत्तमणलीत्यादौ गोविन्दएवेति—अन्तस्य, उद्धवारामस्य वा अभावेन नृसिंह कार्यस्य विरहोऽपि नृसिंह प्रत्ययसत्त्वाद् गोविन्द एव; नृसिंह वर्जस्यैव निर्गुण विधानादित्यर्थः।

अमृता०—३८५. लिखेति। एतौ वहुलं यथा स्यात्तथा कुटादी भवतः। तेन क्वचित्

तत्सरतुरिति ते सत्यस्य द्विर्वचने कृते 'नरविष्णुजनानामादिः शिष्यते' इति सारामतरा-मस्य स्थितिः। अत्रापि संयुक्तविष्णुजनमध्यत्वान्नैत्वादि। विच्छायतीति 'गुपूधूपविच्छी'-त्यादिना आयः। तुदादित्वबलादीति अन्यथा तुदादित्वं व्यर्थं स्यात्। अम्राक्षीदित्यादि अस्प्राक्षीदित्यादीत्यादीवत्। एष्टा एषितेति 'इषु सहे'त्यादिना वेट्॥३८२॥

बाल०—कुटा। कुटादेरनृसिंहो नृसिंहभिन्नो निर्गुणो भवति। नृसिंहस्य निर्गुणता न भवतीत्यर्थः॥३८३॥

बाल०—व्यचे। व्यच व्याजीकरणे इत्यस्य तु असिं विना अनृसिंहो निर्गुणो भवति। असेर्निर्गुणता न भवतीत्यर्थः। नृसिंहेति नृसिंहकार्यरूपो यो वृष्णीन्द्रविधि-स्तस्याभावादित्यर्थः॥३८४॥

तेन लिखिष्यति लेखिष्यति, मिलिष्यति मेलिष्यति, लिखनं लेखनम्, मिलनं मेलनम्। स्फुर स्फुरणे। स्फुरति। व्यच व्याजीकरणे। ग्रहिज्येति विचति। विव्याच विविचतुः विविचिथ। व्यचे रसि वर्जितस्य कृत्प्रत्ययस्यैव निर्गुणत्वमित्येके—विव्यचिथ। असिर्वक्ष्यते—उरुव्यचाः।

नु स्तवने। नुवति। इटि न गोविन्दः—अनुविषाताम्। इण्वदिटि तुवृष्णीन्द्रः—अनाविषाताम्। उत्तमणलि वा—नुनाव नुनव। इति कुटादिः। एते परपदिनः।

मृङ् प्राणत्यागे। ऋरामस्य रिः म्रियते, अमृत, मृषीष्ट।

३८६. म्रियतेः परपदं शिवभूतेशकामपालेभ्योऽन्यत्र।

ममार मरिष्यति। ओ विजी भय-चलनयोः। विजते।

कुटादित्वान्निर्गुणः, क्वचित्तदभावे गुणः स्यादित्यर्थः। एतयोः कुटादिकार्यं न सार्वत्रिकमिति भावः। लिखनमित्यादयस्तु कृदन्ताः। एक इति पाणिनीयाः। तन्मते व्यचेः कुटादित्वं कृन्मात्र विषयएव। तेनात्र विव्यचिथ। एवं तन्मते व्यचिता व्यचिष्यतीत्यादावपि ननिर्गुणत्वम्। स्वमते तु—विविचिथ विचितेत्यादीनि। इटि न गोविन्द इति—इटः प्रत्ययसम्बन्धित्वात्। कुटादेरनृसिंह प्रत्ययस्य निर्गुणत्वाच्च न गोविन्द इत्यर्थः। किन्तु इण्वदिटि वृष्णीन्द्रः स्यादेव, तल्लक्षणे नृसिंहवर्जनात्। नूधातुरयं दीर्घएव, परिणूत गुणोदय इतिमहाकवि प्रयोग दर्शनात्। ऋरामस्य रिरिति—श-य-क्—कामपालयेषु नच त्रिविक्रम इत्यनेनेति शेषः।

अमृता०—३८६. म्रियतेरिति। शिव-भूतेश-कामपालेभ्योऽन्यस्मिन् प्रत्यये विषये मृङ् धातोः परपदमादिश्यते। ङित्वादात्मपदे सिद्धे नियमार्थमिदम्। मरिष्यतीति—ऋरामहनिभ्यामितीट्। ओविजीधातुः प्राय उत्पूर्वकः प्रयुज्यते,—उद्विजते उद्विग्नो भवतीत्यर्थः।

बाल०—लिख। लिख-मिलौ बहुलं यथा स्यात्तथा कुटादी भवतः। लेखिष्यतीत्यादौ कुटादित्वाभावः। लिखनमित्यादौ अनो भावे इत्यनेन अन् प्रत्ययः कृत। इत्येक इति तन्मते विव्यचिथेति। 'इटि न गोविन्द' इति कुटादित्वादिति शेषः। इन्वदिटि तु वृष्णीन्द्र इति वाधकाभावादिति शेषः। नुनवेति नृसिंहस्य निर्गुत्वाभावाद् गोविन्द। इति कुटादिरिति उक्तेभ्योऽन्येषामपि कुटादित्वं गण एव ज्ञेयम् ॥३८५॥

बाल०—म्रियते। शिवात् भूतेशात् कामपालाच्च अन्यस्मिन् विषये मृधातोः परपदं भवति। मरिष्यतीति 'ऋरामहनिभ्यामि'त्यादिना इट् ॥३८६॥

३८७. विजेरिट् निर्गुणः ।

अविजिष्ट ।

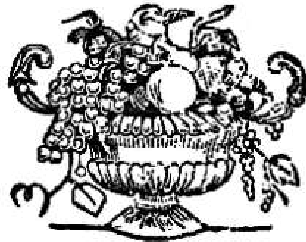
॥ इति तुदादिः ॥

अमृता॰—३८७. विजेरिति । विजीधातो रिट् निर्गुणः स्यात् । इटः प्रत्ययसम्बन्धित्वादिडादि प्रत्ययस्य ह्यत्र निर्गुणत्वं विवक्षतम् । इडिति किम्—उद्वेजनीयम् ।

॥ इति व्याख्यातस्तुदादिः ॥

बाल॰—विजेः । व्यक्तार्थमेतत् ॥३८७॥

॥ इति तुदादिः ॥



अथ रुधादिः ।

रुधिर् आवरणे । इरनुवन्धः ।

३८८. रुधादेः शप्खण्डो श्नम् ।

अन्त्य सर्वेश्वरात् परं मितः स्थानम् । शरामः श्नान्नस्यहर इति विशेषणार्थः । रुणद्धि । श्नमस्त्यो ररामहरः, विष्णु जनात् विष्णु-दासस्यादर्शनं—रुन्धः रुन्द्धः रुन्धन्ति; रुणत्सि रुन्धः रुन्न्धः, रुन्द्धः

अमृता०—३८८. रुधादेरिति । रुधादिगणपठिताद्धातोरुत्तरे शप्खण्डी श्नम् रूपो विकरणो भवति । शप्खण्डीत्यनेन शवुत्पत्तेः श्नमः प्रत्ययत्वेऽपि मित्त्वत्वेन अन्त्यसर्वेश्व-रात् परं मितः स्थानमिति शासनात् प्रकृत्यवयवे हि तस्य संयोगः; प्रत्ययसंज्ञाफलन्तु शकवर्गावतद्धित इति शित्त्वमेव ।

ननु शप्खण्डीश्नमित्यत्र कृष्णधातुकप्रयोजनीयता नोपलभ्यते, तर्हि श्नमः शित्करणेन को लाभ इति चेत्तत्राह—श्नान्नस्येति । श्नान्नस्य इर इतिवक्ष्यमाण सूत्रे श्नम्-विशिष्टान्नलोपविधानेन श्नमा विकरणान्तरं व्यावर्त्तितमिति तत्कार्यस्य नान्यत्र प्रवृत्तिः । तदेतदुद्दिश्यहि शित् करणं ज्ञेयं, नतु कृष्णधातुकत्वलाभाय, फलाभावात् । श्नान्नस्य हर इत्यत्रान्यथा सूत्रकरणे तु विविधशङ्कोद्भवः स्यात् । नच अपृथुकृष्णधातुको निर्गुण इति गोविन्द निषेध इह फलमिति वाच्यम्, नरामे सदभावे लघूद्धवत्वाभावात्तद प्राप्ते रिति ।

रुणद्धीति—हरिघोषात्तथौ धः, विष्णुदासस्य हरिगदा च । रुन्ध इत्यत्र नहि णत्वं, नवर्ज-तवर्गस्थस्यनस्यनेत्ति निषेधात् । ननु रुन्ध इत्यत्र अनिरामेतामित्यादिनोद्धव नरामहर, कथं न क्रियत इति चेत्तत्रेदं वक्तव्यम्—अरधदित्यत्र यस्य नुम् तस्य सोऽङ्गमि-त्युक्त्या खल्वागमस्यैव धात्वङ्गताङ्गीकृता;इह तु टिन्मितौ सर्वत्रागमौ श्नमं विनेति श्नम

अथ रुधादिः

बाल०—रुधा । रुधादेरुत्तरे शप्खण्डी श्नम् भवति शप्खण्डीति शबुत्पत्तेः पूर्वं श्नम् भवति, न तु शपः स्थाने इत्यर्थः । ननु शप्खण्डि श्नम्विधानेन किमधिकमायातम्? शपः श्नमिति कृते को दोष इति चेत् । केनाप्युच्यते—तदेवं वाच्यं, शप्खण्डि श्नम् विधानं यत् तत् श्नमः प्रकृतत्वस्पष्टीकरणार्थं श्नमस्त्योररामहर इत्यस्य अस् साहचर्य्यज्ञापकत्वेन श्नम प्रकृतित्वावश्यकभावत्वादिति । ननु श्नमः शित्त्वे किमपि प्रयोजनं न दृश्यते इति चेत्तत्राह— शराम इति । श्नादिति । नस्येत्यस्य विशेषणं श्नादुत्तरस्येत्यर्थः । शरामे न कृते 'नमो नस्य हर' इति सूत्रं स्यात् । तथा सति नम्धातोर्नस्य हरो भवतीति शङ्काभासः स्यात्, भवत्वेतत्; नान्नस्य हर इति कृते को दोष इति चेदुच्यते—नान्नस्येति कृते नन्दतीत्यत्र नन्दधातोरपि परनरामस्य हरस्यादिति शविधानस्य प्रयोजनम् । रुणध्मीत्यत्र

रुन्द्धः, रुणत्सि रुन्त्वः रुन्त्मः । रुन्धे । रुध्यते । रुन्ध्यात् । अरुणत्, सिपि अरुणत् अरुणश्च । अरुधत् अरौत्सीत् ।

शिष्लृ विशेषणे । शिनष्टि । हेर्धिः—शिण्ढि शिण्ड्ढि ।

तृह हिंसायाम् ।

३८८. तृहः श्नमो नेः पृथुविष्णुजने ।

तृणेढि तृण्ढः तृंहन्ति, तृणेक्षि । हिसि हिंसायाम् । इदित्त्वान्नुम् ।

३८९. श्नान्नस्य हरः ।

हिनस्ति । अन्जू म्रक्षणादिषु । अनक्ति ।

आगमत्ववारणाद् धात्ववयवे संलग्नस्यापि तस्य नागमत्वम् । अतश्च धात्वङ्गताविरहेणो-द्धवत्वविरहान्न तस्यहर प्रसङ्ग इत्यवधेयम् ।

अरुणश्चेति—दधोरुः सिपि वेति धस्य विभाषया रुत्वम् । शिषु—शिनष्टिः शिंषन्ति, शिनक्षि । शिण्ढीति—हुवैष्णवाभ्यामिति हे धिः, षस्य डः, धस्य टंवर्गत्वे ढः, नस्य विष्णुचक्रं, हरिवेणुश्च, विष्णुजनाद् विष्णुदासस्यादर्शनं वा । भूतेश्वरादौ—अशिनट् । अशिषत् अशिक्षत् । शिशेष । शिष्यात्, शेष्टा शेक्ष्यति ।

अमृता०—३८८. तृह इति । पृथुविष्णुजने परे तृहधातोः श्नमः स्थाने 'ने' इत्येव-मादेशः स्यात् । विष्णुजन इति किम्—तृणहाणि । पृथ्विति किम्—तृण्ढः । भूतेश्वरादौ—अतृणेट् । अतर्हीत् । ततर्ह । तृह्यात् तर्हिष्यति ।

अमृता०—३८९. श्नादिति । श्नम एकदेशस्य श्न इत्यस्य पञ्चम्यन्तं पदम् । तेन श्नमेव लक्ष्यते । श्नम उत्तरस्य नस्य हरः स्यात् । अनेन हिन्सधातोरुपदेश नस्य लोपः । अहिनत् अहिनः, अहिंसीत्, जिहिंस हिंसिता । अन्जू म्रक्षणादिष्विति—आदि शब्देन व्यक्ति कान्ति गतिषु चेति । हौ—अङ्ग्धि । भूतेश्वरे-आनक् । भूतेशे-आञ्जीत् आङ्क्षीत् ।

विष्णुपदत्वाभावान्नित्यं हरिवेणुविधिः प्रत्यय-हरिवेणावित्यस्य न प्राप्तिः । रुन्ध इति श्नमस्त्योरामारहरो निर्गुण इति अरामहर. 'नवर्जतवर्गस्य नस्य न णत्वमित्यनेन णत्वनिषेधः; रुन्धः रुन्धेति 'हरिघोषा' दित्यादिना थस्य धः । सिपि अरुणश्चेति अरुणत् अरुणश्चेति रूपद्वय भवतीत्यर्थः । अरुणरिति 'दधोरु सिपि वे' त्यनेन धस्य रत्वम् । अरुधदिति 'इरणुबन्धान् ङो वे' त्यादिना ङः । शिण्ढीति नस्य विष्णुचक्रम्, विष्णुचक्रस्य हरिवेणुः, 'विष्णुजनाद्विष्णुदासस्यादर्शनम्' इत्यादिना तरामस्यादर्शनम् । शिण्ड्ढीति तदभावपक्षे ॥३८८॥

बाल०—तृहः । पृथुविष्णुजने परे तृहधातोः श्नमः स्थाने नेर्भवति । तृणेढीति हस्य ढः, तस्य धः, धस्य ढः, ढस्य हरः ॥३८८॥

बाल०—श्नान्नस्य । श्नादुत्तरस्य नरामस्य हरो भवति । श्नादिति श्नम एक-देशस्य श्नेत्यस्य पञ्चम्यन्तत्वेन निर्देशः । म्रक्षणादिष्विति । आदिपदेन व्यक्तिगत्यो

३९१. अञ्जेरिट् सौ ।

आञ्जीत् ।

भञ्जो आमर्दने ।

३९२. भञ्जे र्नलोप इणि वा ।

अभाजि अभञ्जि ।

ञि इन्धी दीप्तौ । इन्धे ।

॥ इति रुधादिः ।

अमृता०—३९१. अञ्जेरिति । सौ परे अन्ज् धातोरुत्तरे नित्यमिट् स्यात् । ऊदित्त्वाद् विकल्पितेटि प्राप्ते नित्यतार्थं वचनम् । सौ किम्—अङ्क्ता अञ्जिता । अधो—आनञ्ज । थलि सहजानिटामेव विभाषया इटो निर्देशात् ऊदिल्लक्षिविकल्पितेटान्तु न तत्र वेट्—आनञ्जिथेति नित्यम् । भञ्जो—भनक्ति, अभनक्, अभाङ्क्षीत्, बभञ्जेत्यादीनि ।

अमृता०—३९२. भञ्जेरिति । इणि प्रत्यये परे भञ्जेर्नलोपो वा भवति । अप्राप्ते विभाषा । अभञ्जीति—अरामोद्धवत्वाभावान्न गोविन्दः थलि बभञ्जिथ बभङ्क्थ । भङ्क्ता । कल्कौभङ्क्ष्यति । इन्धे इति श्नान्नस्यहरः, श्नमस्त्योरित्यराम हरः, हरिघोषादिति प्रत्यय तरामस्य धरामः, प्रकृति धरामस्य हरिगदा, विष्णुजनाद विष्णुदासस्येति दरामस्यादर्शनम्; पक्षे तस्य स्थितिश्च—इन्द्धे इति । से-इन्त्से, ऐप्-इनधे, दिप्-ऐन्ध, दिप्—ऐन्धिष्ट, अधो—इन्धामासे ।

इति व्याख्यातो रुधादिः ।

ग्रहणम् । म्रक्षणादिष्वित्यत्र व्यक्तादिष्विति पाठ उचितः गणकारैर्ग्रन्थकारेण च गणे तथा लिखितत्वात् ॥३९०॥

बाल०—अञ्जेः । सौ परे अञ्जेरुत्तरे इड् भवति । ऊदित्त्वाद् विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थं लक्षणमिदम् ॥३९१॥

बाल०—भञ्जे । इणि परे भञ्जेर्नलोपो वा भवति । अभञ्जीति उद्धवत्वाभावात् न वृष्णीन्द्रः । इन्ध इति श्नान्नस्य हर इति नस्य हरः । श्नमोऽरामहरः तरामस्य धः प्रकृते धरामस्यादर्शनम् ॥३९२॥

॥ इति रुधादिः ॥

तनु विस्तारे ।

३८३. तनादेः शपोऽपवाद उः ।

उश्नो र्गोविन्दः,—तनोति तनुतः तन्वन्ति । तनुवः तन्वः तनुमः तन्मः । तनुते तन्वाते तन्वते ।

३८४. तनोते रारामो वा यकि ।

तायते तन्यते । तनुयात् ।

३८५. तनादेः सि-महाहरो वा त-थासोः ।

३८६. कृञस्तु नित्यम् ।

भूतेशस्य कृष्णधातुकत्वादिडभावः,—अतत अतनिष्ट, अतथाः अतनिष्ठाः ।

अमृता०—३८३. तनादेरिति । तनादिगणपठिताद् धातोरुत्तरे शपो बाधक उविकरणोभवति । अपवादत्वेऽप्यस्य शप् स्थानीयत्वेन पृथुत्वमिह स्वीकर्त्तव्यम्, करोत्यरामस्य उनिर्गुण इति वक्ष्यमाण सूत्र ज्ञापकात् । तदर्थमेवात्र शित् न विहितमिति विवेच्यम् । तनुत इति—तत्राविशेषेण ग्रहणात् धातो विकरणस्य वा प्राप्तस्य गोविन्दस्य निषेध ईशस्येत्यनेन कृत इति ज्ञेयम् । तन्वन्तीत्यत्र उव् तु न स्यात्, संयुक्त श्नोश्चे ति ज्ञापकात्, विकरणेषु संयुक्त श्नोरेव उव् नान्येषामिति ।

अमृता०—३८४. तनोतेरिति । यक्प्रत्यये परे तनोते रन्त्यवर्ण आरामो वा स्यात्। यकीति किम्—ततन्यते ।

अमृता०—३८५. तनादेरिति । तप्रत्यये थास् प्रत्यये च परे तनादेर्धातोरुत्तरे सेर्महाहरो वा भवति । अप्राप्तेऽयं विधिः । थास्-साहचर्यादात्म पदस्य तप्रत्ययो हि ग्राह्यः, नतु परपदस्य । तत्र यूयमतनिष्टे ति नित्यमेव ।

अमृता०—३८६. कृञइति । तथासोः परयोः कृञस्तु सेर्महाहरो नित्यं भवति ।

अथ तनादिः ।

बाल०—तना । तनादिगणपठिताद्धातोरुत्तरे शपोऽपवाद उर्भवति । अपवादे बाधकः शपोऽपवादत्वेनैव तदनुकल्पत्वादस्य पृथुत्वमस्तीति न निर्गु णत्वमिति ज्ञेयम् । तनुत इति 'ईशस्ये' त्यादिना गोविन्दनिषेधः । तनुवः तन्व इति 'असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोरामस्य हरो वा निर्गु णवमो' रित्यनेन पाक्षिकोरामहरविधानम् । तन्वत इति 'अरामान्त्यवर्णा' दित्यादिना नस्य हरः ॥३८३॥

बाल०—तनो । यकि परे तनोतेरन्ते आरामो वा भवति ॥३८४॥

बाल—तनादेः । तथासो परयो तनादेः से र्महाहरो वा भवति ॥३८५॥

षणु दाने। सनोति सनुते। जनखनसनेत्यादि वैष्णवाद्योः कंसारि-सनो नित्यम्—असात असनिष्ट।

क्षिणु क्षणु हिंसायाम्।

३९७. नोद्धवस्य गोविन्द उविकरणे।

३९८. ऋरामस्य तु वा।

क्षिणोति। क्षणु—ह्मयान्तेति अक्षणीत्। तृणु अदने। तृणोति तर्णोति।

डुकृञ् करणे। करोति।

३९९. करोत्यरामस्य उनिर्गुणे।

ननु अततेत्यत्र यथापूर्वरीत्या भूतेशे इट् कथं न स्यात्तत्राचष्टे भूतेशस्येति। अच्युतादयः पञ्च शिवश्च कृष्णधातुका इत्यनुसारतो भूतेशस्य कृष्णधातुकत्वं सिद्धम्। इटस्तु सामान्यतो रामधातुकविषयत्वेन नास्तीह प्राप्तिः, रामधातुकस्य सेरत्र महाहरविधानात्। किञ्च कृष्ण-धातुकत्वादेव अपृथुकृष्णधातुको निर्गुणे सति हरिवेण्वन्त सहजानिटामित्यादिना तनुधातो रिह न लोपः सिध्यति। अतोऽत्रैव भूतेशस्य कृष्णधातुकत्वचरितार्थता ज्ञेया। ननु चात्र हरिवेण्वन्तोद्धवस्य त्रिविक्रमः क्वौकंसारिवैष्णवे चेति त्रिविक्रमं विधाय ततो न लोपः क्रियतां, यावत् सम्भवविधे रिति चेन्न; कृतेऽपि तथा, नरामोद्धवतारूपनिमित्तापायाद् नैमित्तिकस्य त्रिविक्रमस्याप्यपायः स्यादिति किं तेन विफल प्रयासेनेति। सेः सद्भावपक्षे-अतनिष्ट। अधो-ततान तेने। तन्यात् तनिषीष्ट। तनिष्यति।

अमृता०—३९७. नोद्धवस्येति। उविकरणे परे धातोरुद्धवस्य गोविन्दो न भवति। उविकरणस्य पृथुत्वाङ्गीकारेण लघूद्धवस्य गोविन्दप्राप्ते हि प्रतिषेधोऽयम्।

अमृता०—३९८. ऋरामस्येति। उविकरणे परे उद्धवऋरामस्य तु गोविन्दो वा स्यात्। तृणु तस्-तृणुतः तर्णुतः; अन्ति-तृण्वन्ति तर्ण्वन्ति इत्यादि।

अमृता०—३९९. करोतीति। निर्गुणे प्रत्यये परे करोते ररामस्य स्थाने उरामादेशः

बाल०—कृञः। तथासोः परयोः कृञस्तु से र्महाहरो नित्यं भवति। ननु अततेत्यत्र इट् कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—भूतेशस्येति। से र्महाहरविधाने कृते भूतेशस्यैव परता। ननु भवत्वेतत्, 'हरिवेण्वन्तोद्धवस्य त्रिविक्रम' इत्यनेन त्रिविक्रमे कृते पश्चात् 'हरिवेण्वन्त-सहजानिटामित्यादिना नस्य हरः' कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्रोच्यते। अग्रे त्रिविक्रमे कृते पश्चाल्लोपकरणेन निमित्त नरामाभावान्नैमित्तिकत्रिविक्रमाभावः सम्भवत्यतः; यत्र नरामो विद्यते, तत्रैव 'हरिवेण्वन्तोद्धवस्ये'त्यनेन त्रिविक्रम इति ज्ञेयम्। असातेति से र्महाहरे कृते भूतेशस्यैव परता तस्य तु पृथुत्वाभावान्निर्गुणत्वमतः कंसारित्वम् ॥३९६॥

बाल०—नोद्ध। उ-विकरणे परे उद्धवस्य गोविन्दो न भवति ॥३९७॥

बाल०—ऋरा। उद्धवस्य ऋरामस्य तु गोविन्दो वा भवति। 'ह्मयान्तेती'ति वृष्णीन्द्रनिषेधः इति शेषः ॥३९८॥

कुरुतः कुर्वन्ति करोषीत्यादि। असंयोगपूर्वस्येत्यादौ करोतेस्तु नित्यं येच—कुर्वः कुर्मः। कुरुते। क्रियते। कुर्यात् कुर्वीत। करोतु कुरुताम्, हौ कुरु। अकरोत् अकुरुत। अकार्षीत् अकृत। चकार चक्रे। क्रियात् कृषीष्ट। कर्त्ता, करिष्यति करिष्यते। अकरिष्यत् अकरिष्यत।

४००. संपर्युपेभ्यः सुट् करोतौ संस्काराद्यर्थेषु।

४०१. अन्नरव्यवधानेऽपि।

४०२. तत्र संपरिभ्यां भूषणे समवाये च।

संस्करोति। इह समो मलोप इतिभाष्यम्। ततः स-करामयोर्यथेष्टं-द्वित्वं विकल्पेन, तत्र विष्णुचक्र विष्णुचापयोः सतोः—संस्स्करोति सँस्स्करोति संस्क्करोति सँस्क्करोति इत्यादिरूपाणि भवन्ति। विष्णु-चक्रादि द्वयं विनेत्यपि केचित्—सस्स्करोति।

स्यात्। कृ धातोः स्वतोऽरामावाद गोविन्दे कृते योऽराम उत्पद्यते तस्यैव उराम आदिश्यते। ननु निर्गुणे प्रत्यये कथं कृञो गोविन्दः, कथम्वा तस्यारामः सम्भावित इति चेत्? सत्यं, श्रूयताम्—करोतेस्तु नित्यं येचेति लक्षणेन हरेऽप्युविकरणे प्रत्यय रूपनिमित्त-त्वेन तस्य महा हराभावात् स्थानिवत्त्वं मन्यते, ततएव पृथुत्वेन धातोर्गोविन्दे न हि कश्चिदन्तराय इति। कुरु इति—उरामात् प्रत्ययादसंयोगपूर्वादिति हे हरः। अकृतेति—कृञस्तु नित्यमिति सेर्महाहरः। कृषीष्टेमित्रऋद्वायाद् विष्णुजनान्तेशोद्धवाच्चेति कपिलत्वम्।

अमृता—४००. समिति। संस्कारादिष्वर्थेषु कृधातौ परे सति सम् परि उप इत्युपेन्द्रेभ्य उत्तरे सुडागमः स्यात्।

अमृता०—४०१. अन्नरेति। अता व्यवधाने नरेण च व्यवधानेऽपि करोतौ संपर्युपेभ्यः सुडागमो भवति।

अमृता०—४०२. तत्रेति। संपर्युपेभ्य इति सामान्यत उक्त्वा विशेषमाह—तत्र त्रिषु मध्ये संपरिभ्यामुत्तरे सुट् स्यात् भूषणे समवाये चार्थे करतौ परे। संस्करोतीति—

बाल०—करो। निर्गुणे परे करोतेररामस्य स्थाने उर्भवति। कृञधातोररामा-सम्भवात् गोविन्दे कृते योऽरामः, स एव गृह्यते। करोतेस्तु नित्यं ये चेति उरामहर-विधानस्य लक्षणम्। अकृतेति कृञस्तु नित्यमित्यनेन से-महाहरः। कृषीष्टेति 'ऋद्वयादि' कपिलत्वम्। कारितेति इण्वदिट् पक्षे ॥३९९॥

बाल०—संपरि। संस्कारादिषु अर्थेषु करोतौ परे संपर्यपेभ्य उत्तरे सुट् भवति ॥४००॥

बाल०—तत्र। अतो नरस्य च व्यवधानेऽपि सुट् भवति। संस्काराद्यर्थेषु संपर्युपेभ्य इति सामान्यत उक्त्वा विशेषरूपेणाह ॥४०१॥

अर्तिसत्सङ्गाद्यृदन्तयोरित्यत्र सहजसत्सङ्गादित्वमेव गृह्यते, लाक्षणिक—प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति न्यायेन नगोविन्दः—संस्क्रियते। एवमिडभावश्च—समस्कृषाताम्। समस्करोत्। सञ्चस्कार। अत्र प्रतिपदोक्तमात्र ग्रहणं नेष्यते——सञ्चस्करतुः।

४०३. ससुट्कात् कृञ इडधोक्षजे।

सञ्चस्करिथ सञ्चस्करिव। शास्त्रीयभाषार्थः संस्कृतशब्दः, कार्य पर्याय-स्तच्छब्दः, संस्कारशब्दश्चाव्युत्पन्नः। षत्वं वक्ष्यते——परिष्करोति।

विष्णुजने विष्णुजनो वेति सरामस्य द्वित्व विकल्पः। संस्क्करोतीति-शौरितः सात्वत इति करामस्य द्वित्वविकल्पः। तत्र च क्रमः-आदौ धातुरुपसर्गेण मिलति, तयोः कार्यस्य चान्तरङ्गत्वात् सुट्, ततो द्वित्वमिति। ननु संस्क्रियत इत्यत्र अर्तिसत्सङ्गाद्यृदन्तयो रित्यादिना गोविन्दः कथं न स्यात्तत्राह—सहजेति। तत्र नित्यस्वाभाविकः सतिसंङ्गादि-रेव ऋदन्तइष्टः, तत्र तु संस्कारा द्यर्थविशेषापेक्षत्वात् सुटो लाक्षणिकता अनित्यता च ज्ञेया। एवमिडभावश्चेति-इड्विधौ चैवं सहजसत्संगादिऋदन्तो ग्राह्यः, अन्यथा ऋराम वृसत्संगा द्यृदन्ते भ्य इड्वेत्यनेन वेट्स्यादित्यर्थः।

ननु लाक्षणिकेत्यादि न्यायेऽङ्गीकृते सञ्चस्करतुरित्यत्र कथं तेनैव गोविन्दः क्रियते तत्राह—अत्रेति। प्रतिपदोक्तपरिभाषा त्विह वेष्यते, परिभाषाया मातृवदिष्टाविरोधित्वात्। संपरिभ्यामुदाहरणेसंस्करोति, तनुमलङ्करोतीत्यर्थः। सदसिविद्वांसः संस्कुर्वन्ति, सङ्घी भवन्तीत्यर्थः। एवं परिष्करोति गृहं संजमार्जयतीत्यर्थः।

अमृता—४०३. ससुडिति। सुटा सह वर्त्तमानः ससुट्कस्तादृशात् कृञ उत्तरे इट् स्यादधोक्षजे परे। क्रादिनियमेन तथा थलि च ऋरामात्तु इति नित्यमनिटि प्राप्ते

बाल०—तत्र। भूषणे समवाये चार्थे संपरिभ्यामुत्तरे सुट् भवति। भूषणं संस्कारः, समवायः। समूहः। यथेष्टमिति इष्टमनतिक्रम्येत्यर्थः। द्वित्वविकल्पे इति सरामस्य'विष्णुजने विष्णुजनो वा हरौ विने' त्यनेन द्वित्वविकल्पः करामस्य तु 'शौरितः सात्वतः' इत्यनेन द्वित्वविकल्पः। इत्यादीत्यादि पदेन संस्करोति संस्क्करोतीत्यादीनां ग्रहणम्। केचिदिति तन्मते संस्स्करोति संस्क्करोतिइत्यादि रूपाणि भवन्ति। ननु संस्क्रियते इत्यत्र अर्त्तीत्यादिना गोविन्दः कथं न भवतीति चेत्तत्राह—अर्त्तीति एवमिडभावश्चेति अन्यथा 'ऋराम-वृसत्सङ्गाद्यृदन्तेभ्य इड् वा सिकामपालयोरात्मपद' इत्यनेन इट् स्यात्। समस्करोदिति अद्व्यवधानेऽत्र सुट्। सञ्चस्कारेति नरव्यवधानेऽत्र सुट्। ननु यदि लाक्षणिकेत्यादिन्यायोऽङ्गीकृतस्तर्हि सञ्चस्करतुरित्यादौ 'सत्सङ्गाद्यृदन्त्या' दिना कथं गोविन्दो भवत्त्विति चेत्तत्राह-अत्रेति। नेष्यत इति यत उक्तं मातृवत् परिभाषेति नेष्टं विरुद्धयत इति।।४०२।।

बाल०—ससु। सुटा वर्त्तमानः ससुट्कः तादृशात् कृञ उत्तरे अधोक्षजे परे इड् भवति। थलि ऋरामातु नित्यं नेडित्यनेन अन्यत्र क्र्यादिनियमेनाप्राप्ते विधानम्। ससुट्कादिति किम्—चकर्थ चकृव चकृम। शास्त्रीयेति शास्त्रीयभाषार्थोऽभिधेयो यस्येति

४०४. उपाद् भूषण-समवाय-प्रतियत्न-विकृतीकरण-वाक्याध्याहारेषु ।

तत्रसतो गुणान्तराधानं प्रतियत्नः । गम्यमानार्थस्य वाक्यस्योपादानं वाक्याध्याहारः । उपस्करोति उपस्कुरुते ।

इति तनादिः ।

विधानमेतत् । कार्यपर्याय स्तच्छब्द इति-कार्यवाची संस्कृतशब्दः, संस्कृतं भक्ष्यमित्यादि-रूपः । अव्युत्पन्न इति—प्रकृति पत्यय योगेन न निष्पन्न इत्यर्थः । षत्वं वक्ष्यत इति—परिनिविभ्य इत्यनेनेपेन्द्रविधाविति शेषः ।

अमृता०—४०४. उपादिति । भूषणाद्यथ करतौ परे उपादुत्तरे सुट् स्यात् । सतइति विद्यमानस्य वस्तुन इत्यर्थः । गम्यमानस्येति प्रतीयमानस्य नत्वभिधीयमानस्य । तेपूदाहरणानि यथा—देहमुपस्करोति, सभायामुपस्कृताः पण्डिता इति पूर्ववत् । यमुना जलमुपस्कुरुते, सुवासयतीत्यर्थः । उपस्कृतं भुङ्क्ते, विकृतिकृत्वेत्यर्थः । उपस्कृतमधीते, अध्याहार्यं पठतीत्यर्थः ।

व्याख्यातोऽयंतनादिः ।

विग्रहः । कार्यपर्य्याय इति । कार्यं जन्यं घटपटादिपर्य्यायो यस्येति विग्रहः । तच्छब्दः संस्कृतशब्दः । संस्कारशब्दश्चेति अत्र संस्कारशब्दो व्याकरणादिशास्त्रपरिज्ञानजन्य-ज्ञान-विशेषवाची, न तु भूषणवाची; तस्य व्युत्पन्नत्वात् अव्युत्पन्न इति भूषणार्थस्य समवायार्थस्याप्रतिपन्नत्वात् । समवाये यथा —अस्माकं संस्कृतं परिष्कृतं समूह इत्यर्थः ।।४०३।।

बाल०—उपात् । भूषणे समवाये प्रतियत्ने बिकृतिकरणे वाक्याध्याहारे च अर्थे उपादुत्तरे सुट् भवति । सत इति विद्यमानस्य वस्तु न इत्यर्थः । गम्येति गम्यमानो न त्वभिधीयमानोऽर्थो यस्य तादृशस्य वाक्यस्य क्रियान्वयावच्छिन्नपदसमूहस्य उपादनं ग्रहणम् । भूषणे—गोपीदेहमुपस्करोति । समवाये अस्माकमुपस्कृतं समूह इत्यर्थः । प्रतियत्ने गङ्गाजलमुपस्करोति सुवासयतीत्यर्थः । विकृतीकरणे—उपस्कृतं भुङ्क्ते । वाक्यध्याहारे उपस्कृतमधीते ।।४०४।।

* ।। इति तनादिः ।। *

अथ क्र्यादिः ।

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये । विनमयः परिवर्त्तनम् ।

४०५. क्र्यादेः शपः श्ना ।

४०६. स्तन्भ स्तुन्भ स्कन्भ स्कुन्भ स्कुभ्यः श्नुश्च ।

स्कुञ् आप्लवने । अन्ये सौत्रा बोधने । श इत् । क्रीणाति । दामोदरं विना श्ना-नारायणारामयोरीः—क्रीणीतः । श्ना-नारायणयोराराममहरः—क्रीणन्ति । क्रीणीते । क्रीयते । एवं प्रीञ् तर्पणे । प्रीणाति । मीञ् हिंसायाम् । मीनाति । हिनुमीनेति णत्वं—प्रमीणाति । मीनातीत्यात्वम्—अमासीत् । ममौ, मिम्यतुः ।

पूञ् पवने ।

४०७. प्वादीनां वामनः शिवे ।

पुनाति पुनीते । पूयते । गोविन्दस्थान्यरामत्वान्नै त्वादि-पुपविथ । लूञ्

अमृता०—४०५ क्र्यादेरिति । क्र्यादिगण पठिताद्धातोरुत्तरे शपः स्थाने श्ना विकरणो भवति । पूर्ववत् शित्करणं स्थानिवत्त्वार्थम् । तेन पृथुत्वाभावात् क्रीणातीत्यादौ न गोविन्दः ।

अमृता०—४०६. स्तन्भेति । स्तन्भादीनामुत्तरे श्ना स्यात् श्नुश्च स्यात् । विपूर्वं स्तम्भधातोः विष्टभ्नोतीतिषत्वं वक्ष्यते । भूतेशेजृस्तन्भेति ङो वा—व्यष्टम्भीत् । स्तुभ्नाति स्तुभ्नोति, एवं स्कन्भादयो ज्ञेयाः । क्रीञः—अक्रैषीत्; चिक्राय, चिक्रेथ चिक्रयिथ । मिम्यतुरिति—अत्र गोविन्द बृष्णीन्द्र स्थानाभावेन चतुर्व्यूहविध्यभावान्नारामान्त पाठः माता मायिता ।

अमृता०—४०७. प्वादीनामिति । शिवे प्रत्यये परे प्वादीनां धातूनां वामनः स्यात् । नैत्वादीति—पुपविथेत्यत्र गोविन्दजातारामत्वात्, शसुददेत्यादौ गोविन्दारामस्य चेति एत्व—नरादर्शनेनिषिद्धे इति भावः । पूञ पवने इत्यारभ्य ली श्लेषणे इति यावद् द्वाविंशतिः प्वादिः । तत्र धूञः—सु स्तुधूञ्भ्य इतीट्—अधावीत् । स्वरति सूतीति वेट्—अधविष्ट अधोष्ट । स्तॄञ्आच्छादने—अस्तारीत् अस्तारिष्टाम् । ऋराम वृभ्य इत्यत्र परपदसि कामपालाधोक्षजेषु निषेधान्नेटोदीर्घता । तस्तरतुः तस्तरिथ, स्तीर्यात् स्तरिषीष्ठ,तरिता

अथ क्र्यादिः

बाल०—क्र्यादेः । क्र्यादिगणपठिताद्धातोरुत्तरस्य शपः स्थाने श्ना भवति ।।४०५।।

बाल०—सुगमम् ।।४०६।।

छेदने । लुनाति । धूञ्कम्पने । धुनाति । ग्रह उपादाने । ग्रहिज्येति सङ्कर्षणः—गृह्णाति गृह्णीते । गृह्यते ।

४०८. विष्णुजनात् श्न आनो हौ ।

गृहाण ।

४०९. ग्रहेरिट्त्रिविक्रमोऽनधोक्षजे ।

अग्रहीष्टाम् । इण्वदिटो नत्रिविक्रमः—अग्राहिषाताम् । जग्राह जग्रहिथ । एते उभयपदिनः ।

शॄहिंसायाम् । शृणाति ।

४१०. शॄ दॄ इत्येनयोर्वामनो वाधोक्षजे ।

नित्यौ गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ तु वाधेते । शशार शश्रतुः शशरतुः शशरिथ । दॄविदारणे । ददार दद्रतुरित्यादि । ज्या वयोहानौ । ग्रहिज्येति सङ्कर्षणः—जिनाति । प्वादिर्ल्वादिश्च गणः ।

तरीता । कॄञ् हिंसायाम्—चकार चकरे । वॄञ् वरणे—अवरिष्ट अवूर्ष्ट (ॠत उर्)वरिषिष्ट वूर्षीष्ट । ॠगतौ—ॠणाति, आर्णात् आर्णीताम्, आरीत् आरिष्टाम्, आर, ईर्यात् । लीश्लेषणे—ललौ लिलाय, लाता लेता ।

अमृता०—४०८. विष्णिवति । हिप्रत्यये परे विष्णुजनादुत्तरस्य श्नः स्थाने आन आदिश्यते । श्नइति श्नाशब्दस्य षष्ठयन्तः । विष्णुजनात् किम्—क्रीणीहि ।

अमृता०—४०९. ग्रहेरिति । अधोक्षज वर्जिते प्रत्यये परे ग्रहधातोरिटस्त्रिविक्रमो भवति । अनधोक्षज इति किम्—जग्रहिथ । अग्रहिष्टामिति—हम यान्तेति वृष्णीन्द्र निषेधः । इण्वदिटो न त्रिविक्रम इति—तस्याप्रकृतत्वात्, रामधातुके इडेव प्रस्तुतः, इण्वदिट् त्वतिदेश इति । काम—गृह्यात्, वाल—गृहीता ।

अमृता०—४१०. शॄ दॄ इति । अधोक्षजे परे शॄहिंसायां, दॄविदारणे इत्येतयोर्वामनो वा भवति । स्वयमेव व्याख्याय विशेषप्रतिपत्तिं जनयति—नित्यावित्यादिना । यद्यपीह अधोक्षज इति सामान्यत उक्तं तथापि गोविन्द—वृष्णीन्द्रौ तु वाधेते वामनमिति शेषः, यतस्तौ हि नित्यौ, वामने कृते वा नकृते वा तौ भवत एवेति तयोर्नित्यत्वम् । ततो

बाल०—प्वादी । सुगमम् । गोविन्देति गोविन्दः ओरामः स्थानीयस्य तादृशोऽरामो यत्र तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ।।४०७।।

बाल०—विष्णु । हौ परे विष्णुजनादुत्तरस्य श्नः स्थाने आनो भवति । विष्णुजनादितिकिम्—क्रीणीहि ।।४०८।।

बाल०—ग्रहेः । अधोक्षजं वर्जयित्वा अन्यस्मिन् परे ग्रहेरिटस्त्रिविक्रमो भवति ।।४०९

बाल०—शॄ दॄ । व्यक्तार्थमेतत् । यद्यप्यधोक्षज इति सामान्यत उक्तम् तथापि

ज्ञा अवबोधने। ज्ञा-जनोर्जा–जानाति। ग्रन्थ सन्दर्भे। ग्रथ्नाति। अश भोजने। अश्नाति। कुष निष्कर्षे। निष्कर्षो निष्काषणम्। कुष्णाति।

४११. निरः कुषो वेट्।

निरकुक्षत् निरकोषीत्। क्षुभ सञ्चलने।

४१२. क्षुभ्नादिषु न णत्वम्।

क्षुभ्नाति क्षुभ्नीत इत्यादि। उक्ते वक्ष्यमाणे च निषेधोऽयम्। तृप्नोति तृप्नुत इत्यादि।

४१३. नरान्नृतिश्च।

गोविन्दवृष्णीन्द्र स्थानादितरस्थानेषु ह्ययं वामनविधिः स्यादिति फलितार्थः। शश्रतुः वामन पक्षेरूपम्। शशरतु रितित्रिविक्रमपक्षे––सत्सञ्ज्ञाद्य दन्तस्येत्यादिना गोविन्दः। अन्यत्र शीर्यात्, शरिता शरीता। ज्या-भावे-जीयते। अधो-जिज्यौ जिज्यतुः, जिज्याथ जिज्यिथ। ग्रन्थतीति–अनिरामेति उद्धव नराम हरः। अधो–जग्रन्थ, जग्रन्थतुः ग्रेथतुः, जग्रन्थिथ ग्रेथिथ।

अमृता०—४११. निर इति। निरुपेन्द्रात् परस्मात् कुषधातोरुत्तरे इट् वा स्यात्। नित्यमिटि प्राप्ते विभाषा वचनम्। निरकुक्षदिति—ईशोद्धवादनिट इति सक्। निरकोषीदितित्विट्पक्षे गोविन्दः।

अमृता०—४१२. क्षुभ्नादिष्विति। क्षुभ्नादिषु पदेषु निमित्ते सत्यपि णत्वं न स्यात्। षष्ठ्यर्थेऽत्रसप्तमी; क्षुभ्नादीनां प्राप्त णत्वमिह निषिध्यत इति भावः। उक्ते वक्ष्यमाणे चेति-क्षुभ्नादेराकृतिगणत्वादुक्तेषु वक्ष्यमाणेषु च पदेषु निषेधोऽयं प्रवर्त्तितव्यः। उक्तेषु दर्शयति-तृप्नोतीत्यादि।

अमृता०—४१३. नरादिति। नरादुत्तरो नृतिश्च क्षुभ्नादिषु गण्यते। वक्ष्यमाणेषुदर्शयति नरीनृत्यत इति यङन्तम्। नरिनर्त्तीति चक्रपाणिः। परिनदनमिति त्रयाणामुपेन्द्राण्णोपदेशस्येति

गोविन्द वृष्णीन्द्राभ्यामन्यत्रायमित्याह–नित्याविति। वामनविधाने कृतेऽपि न कृतेऽपि तौ भवतः इति तयोर्नित्यत्वम्। न बाधत इति वामन इति शेषः। शशरतुरिति। सत्सञ्ज्ञाद्य दन्तस्य ऋचछे ऋरामान्तानाञ्चे' त्यादिना गोविन्दः। प्वादिर्ल्वादिश्च गण इति तस्माद् ये उक्ताः ते, ज्ञाता एव उक्तेभ्योऽन्येषामपि प्वादित्वं ल्वादित्वञ्चगण एव ज्ञेयमिति। ग्रथ्नातीति 'अनिरामेतामित्यादिना' नरामहरः। निष्काषणम् निःसारणम्।।४१०।।

बाल०—निरः। किर उत्तरात् कुष उत्तरे इट् वा भवति। अशकादित्वात् नित्यमिटि प्राप्ते विभाषा। निरकुक्षदिति इडभावपक्षे सक्।।४११।।

बाल०—क्षुभ्ना। क्षुभ्नादिषु णत्वं न भवति। उक्ते इति उक्ते वक्ष्यमाणे च णत्वे उक्तस्य वक्ष्यमाणस्य चेत्यर्थः।।४१२।।

नरीनृत्यते नरिनर्ति इत्यादि । परिनदनं दुर्नद्धः दुर्नद्धिः दौर्भागिनेयः आचार्यानी आचार्यभोगीनः ।

संज्ञायां—हरिनन्दी हरिनगरं स्वर्भानुः सूत्रनटः दुर्नामा नरवाहनः त्रिनयनः नृनमनः पुनर्नवा । आकृतिगणोऽयम् । खव भूति प्रादुर्भावे ।

४१४. छस्य शो वस्य ऊठ् हरिवेणौ क्वौ कंसारिवैष्णवे च ।

४१५. ज्वर त्वर स्रिववमवान्तु ससर्वेश्वरस्य ।

णत्वे प्राप्ते दौर्भागिनेय इति त्रयाणां रष ऋद्वयेभ्य इत्यनेन प्राप्ते क्षुभ्नादितया न णत्वम् । हरिनन्दीत्यादयः—संज्ञायां नतु गादिति वक्ष्यमाणेनोत्तरपदस्य प्राप्ते प्रतिषेधः । स्वर्भानुः राहुः । दुर्नामा दीर्घकोशिकेत्यमरः । नरवाहनः कुवेरः । त्रिनयनः शिवः । नृनमनः कश्चित् । पुनर्नवा तु शोथघ्नीत्यमरः ।

अमृता०—४१४. छस्येति । हरिवेणौपरे क्विपि परे कंसारि वैष्णवे च परे छस्य-स्थाने शः, तथा वस्य स्थाने ऊठ् आदिश्यते । कंसारि वैष्णव इति किम्—द्युभ्यां द्युभिः । इह तु विष्णुपदान्ते उरामो न तूठ् ।

अमृता०—१५. ज्वरेति । हरिवेण्वादिषु परेषु ज्वर रोगे, ञित्वरा सम्भ्रमे, स्रिवु गति-शोषणयोः, अव रक्षणे, मववन्धने इत्येतेषान्तु सर्वेश्वर सहितस्य वरामस्य ऊठ् भवतीति विशेषः ।

बाल०—नरा नरादुत्तरो नृतिश्च क्षुभ्नादिषु ज्ञेयः । क्षुभनातीत्यादौ तृप्नोतीत्यादौ नरीनृत्यत इत्यादौ दौर्भागिनेय इत्यत्र आचार्यानीत्यत्र आचार्यभोगीन इत्यत्र च 'र-ष-ऋद्वयेभ्य' इत्यादिना प्राप्ते निषेधः । परिनदनमित्यत्र उपेन्द्रान्नोपदेशस्य णत्वमित्यनेन प्राप्ते निषेधः । शेषेषु वक्ष्यमाणलक्षणेन प्राप्ते निषेधः । नरीनृत्यत इति यङि । नरी-नर्त्तीति यङ् लुकि । परनदनमिति परिपूर्वात् णदधातोरत्प्रत्ययः दुर्नद्ध इति दुर् पूर्वात् नहधातोः क्तप्रत्ययः । दुर्नद्धिरिति क्तिप्रत्ययः । दौर्भागिनेय इति दुर्भगाशब्दात् अपत्यार्थे 'कल्याण्यादेर्माधवेनेय' इत्यनेन माधवेनेय टणिन् भाधवः । आचार्यानीति आचार्यस्य भार्या उत्यर्थे ईप्प्रत्ययेन निपातः । आचार्यभोगीन इति आचार्यभोगशब्दात् तस्मै हितमित्यर्थे 'विश्वजनात्मभोगोत्तरपदेभ्यः खराम' इत्यनेन खः, ख ईणः, भोगः शरीरम् । हरिनन्दी-त्यादयः संज्ञाशब्दाः । तत्र हरिनन्दी कश्चित् । हरिनगरमपि तथा । स्वर्भानुः राहुः । सूत्रनटः कश्चित् । दुर्नामेति दुर्नामा दीर्घकोषिकेत्यमरः । नरवाहनः कुवेरः । नृनमनं तत्संज्ञम् किञ्चित् । पुनर्नवेति पुनर्नवा तु शोथघ्नीत्यमरः । आकृतिगणोऽयमिति । अतो लक्षणप्राप्तम् णत्वं शिष्टप्रयोगे यत्र न दृश्यते, तत्रानेनैव निषेधः कर्त्तव्यः, अतएव शीघनः चित्रभानुरित्यादावपि न णत्वम् । भूतिप्रादुर्भावे इति भूतिरैश्वर्यम् ॥४१३॥

बाल०—शस्य । हरिवेणौ क्वौ कंसारि वैष्णवे च परे छस्य स्थाने शो भवति, वस्य स्थाने ऊठ् भवति ॥४१४॥

खौनाति। नामप्रकरणवृष्णीन्द्रत्वात् कंसारौ न निषेधः। वैष्णवादित्यकरणात् आन एव बलवान्। कालापाश्च श्नोऽपवादमेव तं कुर्वन्ति। तस्मद्धौ-खवान वृङ् संभक्तौ। आरामहरः। सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्। वृणते हि विमृश्य कारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः। इति किराते। २।३०।

ननु खौनातीत्यत्र श्नाप्रत्ययस्य निर्गुणत्वेन कंसारित्वादीशस्य न गोविन्द-वृष्णीन्द्राविति निषेध, कथं न प्रवर्त्तते इति चेत्तत्राह—नामप्रकरणेति। अयन्तु वृष्णीन्द्रो नाम प्रकरणे विहितः—अद्वयादूठो वृष्णीन्द्र इत्यनेन गोविन्द वृष्णीन्द्र निषधस्तु ततः परमाख्यातप्रकरणे प्रोक्तः। अत आख्यातोक्तविधिमनपेक्ष्य तदूठो वृष्णीन्द्रो विहित इति नहि स परेण निवार्यत इतिभावः। खवानेत्यत्र ऊठ् प्रसङ्गं वारयतिवैष्णवादित्यकरणादिति। हि प्रत्यये यद्यान विधानमनभिप्रेतं स्यात्तर्हि तत्रलक्षणे विष्णुजनादित्यकृत्वा वैष्णवात् श्नआन इत्येवं लक्षणं क्रियेत; तेन च वरामस्य वैष्णवत्वाभावादिहाप्राप्तौ सत्यामिष्टसिद्धिः स्यात्। किन्तु तदकरणेन हि प्रत्यये आन एवेष्ट इति ज्ञाप्यते। हिप्रत्ययमात्राश्रिततयान्तरङ्गत्वात् प्रथममेव आने कृते पश्चात्तु हरिवेणु परत्वमेव नास्तीति कुत ऊठ् प्रसङ्ग इति ग्रन्थ कृदाशयः।

ननु च श्नआन इति स्थान्यादेशात् स्थानिवत्त्वेन नरामः परतैव मन्तव्याः तदा हरिवेणुपरतायामूठैव भवितव्यमिति चेत्? तत्राह—कालापाश्चेति। कालापाः श्नामपवार्यैव आनं विदधति ननु श्ना स्थाने। तथाहि—"आन व्याञ्जनान्ताद्धौ" इति तल्लक्षणम्। तत्रटीका च—आनेति लुप्त प्रथमैक वचनान्त वचनोऽयं निर्देशः, नाविकरणस्यापवाद इति। तस्मात् स्थानिवत्त्वमिह न मन्तव्य मिति भावः। केचित्तु परत्वादूठ एव बलवत्त्वमङ्गीकृत्य खौनीहि इत्येवं मन्यन्ते। यथा हि—परत्वादूठि कृते हलन्तत्वाभावान्न शानजिति दीक्षितः।

आरामहर इति—श्नानारादणयोरारामहरो निर्गुण कृष्ण धातुक इत्यनेन। संभक्तिरूपमर्थमुदाहरति किरातार्जुनीय श्लोकेन—सहहेति। जनः सहसा क्रियां न विदधीत न कुर्वीत,हि यतः अविवेक आपदां परं पदम्, अविवेक कृतं कर्म विपज्जनकमित्यर्थः। विमृश्य

बाल०—ज्वर। ज्वर रोगे, ञित्वरा सम्भ्रमे, स्रिबु गतिशोषणयोः, अवरक्षणे, मव बन्धने इत्येतेषान्तु सर्वेश्वरसहितस्य वस्य स्थाने ऊठ् भवति। स्वौनातीति 'अद्वयादूठो वृष्णीन्द्र' इत्यनेन वृष्णीन्द्रः। 'ईशस्येत्यादिना वृष्णीन्द्रनिषेध कथं न भवतीति चेत्तत्राह—नामेति। ननु खवानेत्यत्र वस्य ऊठ् कथं न भवतीति चेत्तत्राह—वैष्णवादितीति। विष्णुजनादित्यत्र वैष्णवादित्यकरणात् खवानेत्यादौ यदि आवविधानमनभीष्टं स्यात्, तदा वैष्णवादित्ये विदध्यात्। आन एव बलवानिति तस्मादूठ्विधानात् पूर्वमेव आनो भवति, पश्चात्तु हरिवेणौ परतैव नास्ति। कालापाश्चेति। श्नोबाधकम् आनमेव

सम्यग् भजन्तीत्यर्थः ।

इति क्र्यादिः ।

विचार्यं कर्त्तुं शीलमस्येति विमृश्यकारी, तादृशं जनं सम्पदः राजलक्ष्म्यः स्वयमेव वृणते सम्यग् भजन्ति, यत स्ताः गुणलुब्धाः, गुणवन्तं गुणज्ञा ललना इवेति भावः ।

इतिव्याख्यातः क्र्यादिर्गणः ।

कुर्वन्ति । वृणते इति । सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदमिति पूर्वार्द्धम् ॥४१५॥

॥ इति क्र्यादिः ॥



अथ चुरादिः ।

चुर स्तेये ।

४१६. चुरादेर्णिः ।

णिच् पा । णइत् । लघूद्धवस्य गोविन्दः, सनाद्यन्तत्वात् धातुत्वम्, चोरयति ।

४१७. णेरुभयपदम् ।

इदं न चुरादौ प्रवर्त्तते, धातुपाठे चुरादावपि पृथक् परपद्यादि गणनात् । प्रवर्त्तत इत्यन्ये, णेरनित्यत्वेतु यद्गण साफल्यात् । चोरयते चोरति । चोर्यते द्विवचने कार्ये णौकृतं स्थातिवत्–अचूचुरत् । चोरयामास । चोर्यात् । चोरयिता ।

अमृता०—४१६. चुरादेरिति । चुरादिगणपठिताद् धातोरुत्तरे णि प्रत्ययो भवति स्वार्थे । णिरयमनित्यमिति वक्ष्यते । धातुत्वमिति—चोरिधातुस्वरूपात् शप् तिवादि, ततो धातोरन्तस्य गोविन्दः ।

अमृता०—४१७. णेरिति । ण्यन्ताद्धातोरुत्तरे उभयपदं स्यात् । कार्यमिदं चुरादौ न प्रवर्त्तते, किन्तु प्रेरणाद्यर्थ ण्यन्तादेव प्रवर्त्तत इत्यर्थः । अप्रवर्त्तने हेतुः—धातुपाठ इत्यादिः । चुरादिगणेऽपि धातुपाठे पर पद्यात्मपद्यु भयपदीनां पृथङ् निर्देशात् तद्गण साफल्याय हि चुरादि णेर्नित्यत्वं न मन्तव्यमित्यर्थः । येतूभयपदं मन्यन्ते तेषामपि मते हेतुमाह णेरनित्यत्वेनेति । चोरतीति–णेरनित्यतायां रूपम् । णौ कृतं स्थानिवदिति–द्विवचने कर्त्तव्ये णौ कृतं यत् कार्यं गोविन्दादिकं तत् स्थानिवद् भवति । तेन च गोविन्दभूतस्य "चो" इत्यस्य स्थानिवत्वे चुरामः, ततः अशास्वृदित इत्यनेन धातोरुद्धवस्य वामने कृते तत् परस्य नरलघोरिति त्रिविक्रमः, णेर्हरश्च । इडादौ रामधातुके तु न णेर्हरः–चोरयिता चोरयिष्यति । चोर्यादिति—नेट् यसर्वेश्वरयोरिति इटोऽभावाद् णेर्हरः । चुरादि णेः सहज सर्वेश्वरान्तत्वस्वीकाराद् इणूवदिङ् वेति केचित्—चोरायिता ।

बाल०—चुरा । चुरादिगणपठिताद्धातोरुत्तरे णिर्भवति । धातुत्वमिति । धातुत्वात् 'शप् कृष्णधातुक' इति शप् ।।४१६।।

बाल०—णेरु । ण्यन्ताद्धातोरुत्तरे उभयपदं भवति । इदमिति—इदं लक्षणं चुरादौ न प्रवर्त्तते तस्मात् प्रेरणाद्यर्थविहिते णौ प्रवर्त्तते । अप्रवृत्तौ हेतुमाह—धातुपाठ इति परपद्यादीत्यादि पदेन आत्मपद्यु भयपदिनोर्ग्रहणम् । उभयपदस्यावश्यकत्वे परपद्यादिगणस्य वैयर्थ्यं स्यात् । अन्यसम्मतायां प्रवृत्तावपि हेतुमाह–णेरनित्यत्वेनेति । णेर्नित्यता नास्ति अतः परपद्यादिगणस्य साफल्यम् । द्विवचन इति कार्य्ये कर्त्तव्ये णौ कृतं स्थानि-

४१८. उद्धव ॠरामस्येर् ।

कीर्त्तयति ।

४१९. उद्धवसंज्ञस्य ॠद्वयस्य ॠर्वा अङ्परे णौ ।

अचीकृतत् अचिकीर्त्तत् । अथ निर्विष्णुचापा अदन्ताः । कथ वाक्य प्रवन्धे । अरामहरः, अन्तहरे न गोविन्द वृष्णीन्द्रौ । अरामहर स्थानिवत्त्वं पा । यथोक्तम्–

अग्लोपित्वं स्थानिवत्त्वं चादन्तत्वप्रयोजनम् ।
यत्र त्वेते न विद्येते तत्राल्लोपविकल्पनमिति ॥

अमृता०—४१८. उद्धवेति । धातोरुद्धव य ॠराम स्तस्य इरामदिश्यते पूर्वमन्तस्यैव ॠरामस्य इरादिष्टः, सच कंसारिप्रत्ययं निमित्तीकृत्य, इह तूद्धवॠरामस्य प्रत्यय सामान्ये इरादेशो ज्ञेयः ।

अमृता०—४१९. उद्धवसंज्ञस्येति । अङ् परो यस्मात् तादृशि णौ परे उद्धवसंज्ञस्य ॠद्वयस्य स्थाने ॠरामो वादिश्यते । दीर्घस्य ह्रस्व विधानमिह इर् वाधनार्थम् । ह्रस्वस्य तु गोविन्द वृष्णीन्द्रापवादार्थम्, अवीवृतत् अमीमृजादित्यादि सिद्धये इति यावत् । पक्षे यथाप्राप्तमपि कार्यं स्यात् । कीर्त्तयतीति—इरादेशे सति धातोरवः प्रागिदुतोरिति त्रिविक्रमः । अचीकृतदिति—नरॠरामस्यारामः, सन्निमित्तकार्यात् नरारामस्येरामः, लघुयुक्तधात्वक्षर परस्य नरस्य च त्रिविक्रमः । अचिकीर्त्तदित्यत्र द्विवचने कार्ये णौकृतं स्थानिवदिति परिभाषा तु न प्रवर्त्तते, उद्धवॠरामस्येर्-विधाने सामान्य प्रत्ययापेक्षत्वेन णे निमितत्वमिष्ट मिति ज्ञेयम् । तेनात्र कीरामस्य द्वित्वे नरस्य वामनः चवर्गश्च ।

वदिति । चु इत्यस्य द्विवचनम् अचूचुरदिति ण्यन्तत्वादङ् 'अशास्वृदित उद्धवस्ल वामन' इत्यनेन वामन, तत्परस्य 'नरलघोस्त्रिविक्रमो रवतोविष्णुजने' इत्यनेन त्रिविक्रमः । चोरयामासेति अनेकसर्वेश्वरत्वादाम् ॥४१७॥

बाल०—उद्धव ॠरामस्य स्थाने इर् भवति ॥४१८॥

बाल०—उद्धव अङ् परो यस्मात् तादृशे णौ परे उद्धवसंज्ञस्य ॠद्वयस्य स्थाने ॠर्वा भवति । ॠरामस्य ॠरामविधानं गोविन्द-वृष्णीन्द्रबाधनार्थम् । अचीकृतदिति नरॠरामस्यारामः लघुयुक्तधात्वक्षरपरस्य नरस्य सन्निमित्ताकार्यं, नरारामस्येरामः सनि, तत्परस्य नरलघोस्त्रिविक्रमः । अचिकीर्त्तदित्यत्र प्रथमतः अङ् परे णौ सति ॠरामस्येर कर्त्तव्यः, ततः स्थानिवत्त्वं मत्वा द्विवचनं, ततो 'नरस्य वामनः', 'नरॠरामस्येरामः', 'यावत् सम्भवस्तावद्विधि'रित्यनेनेरामं कृत्वा पश्चात् 'धतोरवप्रागिदुतोस्त्रिविक्रमोरवतोविष्णुजने' इत्यनेन त्रिविक्रमः, तथापीदं कष्टेन सिद्धयति त्रिविक्रमात् पूर्वं लघुयुक्तधात्वक्षरपरस्य नरघुत्रिविक्रमसम्भवादतः द्विवचने कार्ये णौ कृतं स्थानिवदिति पारिभाषिकमत्र नेष्टं हि यत विरुध्यते, यदा स्थानिवत्त्वं न मन्यते, तदा कीर्त्तो कीरामस्य द्वित्वं कृत्वा नरस्य वामनकरणेन न कश्चिद्दोष इत्यादिकमापाततः णेः परिर्निमित्ततैव नास्ति, तस्माद् द्विवचने

अग्लोपित्वं दशावतारादर्शनम्। तेनसन्निमित्तकार्याद्यभावः। स्थानिवत्त्वेनोद्धवस्य वृष्णीन्द्र-गोविन्दाभावः। तथाथादीनां सारामस्यैव थरामादेर्द्विवचनमित्यभिप्रायः। कथयति अचकथत्। गण संख्याने। गणयति, अजगणत्। अजीगणदिति चान्द्रमतम्। स्पृह स्पृहायाम्। स्पृहयति, अपस्पृहत्।

अर्थ याच्ञायाम् अर्थयते। अल्लोपविकल्पनात् अन्त्यारामस्य च वृष्णीन्द्रो णाविणि चेति पाणिनिमतम्।

अथ निर्विष्णुचापा अदन्ता इति—अतः सिद्धोपदेशे इत्यादौ सविष्णुचाप सर्वेश्वर इदित्यनेन अन्तसर्वेश्वरस्य इत्वं न स्यात्, तत्र जागृकथादेर्वर्जनात्। अराम हर इति रामधातुके इतिशेषः। अराम हरस्य स्थानित्त्वं पाणिनीया मन्यन्ते। तदेवसमर्थयति—यथोक्तमिति वोपदेवेनेति शेषः। तत्र चान्ते—"तद्वलान्त्यदीर्घश्च पुक् चेत्यङ्खापयत्यत" इत्यधिकः पाठो दृश्यते। अस्यार्थः—कक्दशावतारः। अग्लोपित्वं स्थानिवत्त्वञ्च एतदुभयमदन्तस्य आरामान्तस्य धातोः प्रयोजनम्। तत्र अग्लोपित्वेन सन्निमित्तकार्याभावः, नतु दशावतारादर्शने इति निषाधानुसारात्। यथा अचकथदित्यदौ; स्थानिवत्त्वेन चोद्धवत्वाभावान्न हि लघूद्धवस्य गोविन्दः, न वा उद्धवारामस्य वृष्णीन्द्रः। यथा गणयति कुणयतीत्यदौ। यत्र पुनरेते अग्लोपित्व—स्थानिवत्वे न विद्यते, तयोः कार्यं न सम्भवेदिति यावत्; तत्र धातौ यद्वलात् अदन्तत्वस्वीकार वलात् विभात्यादिषु। उद्धवत्वविरहेन वृष्णीन्द्रत्वासम्भवान्न स्थानिवत्व प्रयोजनम्, तथा लघुयुक्तधात्वक्षरपरत्वविरहेण सन्निमित्त कार्यानुपयोगान्नाग्लोपित्व प्रयोजनमिति मर्म। अतएवात्र विकल्पेन अरामहरः। ततोऽरामस्य स्थिति पक्षे अन्तस्य वृष्णीन्द्रः पुक् चेति—अर्थापयते अङ्गापयतीत्यादि सिद्ध्यतीति।

इह तु कारिकायाः पूर्वार्द्धमेव पाणिनेः स्वमतस्य च पोषकम्, उत्तरार्द्धस्य अल्लोप विकल्पनमात्र मुभयमतानुकूलम्, नतु तद्विकल्पस्य हेतुद्वयम्। अर्थादीनां स्थानिवत्त्वेन सराम थरामादे द्विवचनमिति वक्ष्यमाणविरोधापत्तेः। हेतु द्वय न्यासस्तु उदाहरिष्यमाण वोपदेव मतानुसारि पदपोषकार्थं इति वोध्यम्।

अजगणदिति दशावतारादर्शनान्न सन्निमित्तकार्यम्। चान्द्रमतमितितन्मते जागृगणोर्वेति लक्षणेन हि नरस्य ई विधीयते नतु सन्निमित्त कार्येण। अल्लोपविकल्पः पाणिनेरपि सम्मत इति दर्शयति—अल्लोप विकल्पनादित्यादिना।

कार्ये णौ कृतं स्थानिवदिति कथादिवर्ज्जनादि शेषः। अरामहरः इति अरामहरो रामधातुक, इत्यनेनेति शेषः। अरामेति—अरामहस्य स्थानिवत्त्वं भवतीति तु पाणिनीयाः यथोक्तमिति पाणिनीयैरिति शेषः। अदन्तत्वस्य प्रयोजनमिति विग्रहः। एते अग्लोपित्व-स्थानिवत्त्वे न स्तस्तत्राल्लोपविकल्पनमिति। आर्त्तिथदित्यत्र आश्विकदित्यत्र च अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाभावेऽपि उद्धवाभावान्न वृष्णीन्द्र इति न स्थानिवत्त्वस्य प्रयोजनम्। एवम् अङ्परणौ परे

४२०. अर्त्ति ह्री व्ली री क्नूयी क्ष्माय्यारामेभ्यः पुक् यलोपो गोविन्दश्च णौ, दरिद्रां विना ।

अर्थापयते । णाविणि चेति किम्—कृति तु गोपायकः । अङि सर्वेश्वरादित्वे त्वित्यादि, अशास्वृदित इति लघुपरत्वात् सन्निमित्तकार्यम्—आर्त्तीथपत । आर्त्तथपतेति काशिकादि मतम् । आर्त्तथत । अराम हरस्य द्विरुक्तौ न स्थानिवत्त्वमिति तु वोपदेवः । ततः सर्णेर्द्विर्वचने आर्त्तिथतेति ।

अमृता०—४२०. अर्त्तीति । णौ परे अर्त्तेः, ह्री लज्जायां, व्लीवरणे, री, क्नूयी शब्दे, क्ष्मायी विधूनने इत्येतेभ्य स्तथा दरिद्रां विना आरामान्माच्च धातो रुत्तरे पुगागमो भवति । क्नुयी क्ष्मायी इत्येतयो र्यलोपः ह्री प्रभृतीनां गोविन्दश्च स्यात् । अर्त्तीति भ्वादे र्जु होत्यादेश्च ऋधातो र्ग्रहणम्, तथा रीति रीङ् क्षरणे दिवादिः, री गति-शोषणयोः क्र्यादि र्द्वयोरेव ग्रहणम् । गोपायक इति—गुपू रक्षणे धातो र्णक् प्रत्यये गुपू धूपेत्यादौ प्रत्यय सामान्य निमित्तत्वेन आयः । तत्र णौ इणि चेति निर्देशात् णकि न वृष्णीन्द्रः, किन्तु अरामहरो रामधातुके इत्येव ।

अङीति—सर्वेश्वरादित्वेतु नवदर वर्जस्यान्यभागस्येति अर् वर्जयित्वा थरामस्य द्वित्वमित्यर्थः अशास्वृदित इत्युद्धवारामस्य वामते कृते लघुयुक्तधात्वक्षरपरत्वात् सन्निमित्त कार्यद्वयम्—नरामस्येरामो दीर्घश्चेति आर्त्तीथपत । आर्त्तथपतेति काशिकादिमते—अशास्वृदिति इत्युद्धवस्य वामनः, णौ कृतं स्थानिवदिति परिभाषया आरामस्य स्थानि वत्त्वेन लघुयुक्तधात्वक्षरपरत्वविरहान्न सन्निमित्तकार्यमित्याशयः ।

अरामहरपक्षे नतु सन्निमित्त कार्यमिति—आर्त्तथत । अराम हरस्य द्विरुक्ताविति—वोपदेवमते अल्लोपविकल्पनात् सन्वद्भाव-स्थानिवत्त्वयो रभाव इति प्रगुक्तकारिका व्याख्यायामुपपादितमेव । ततः सणे द्विवचने आर्त्तिथतेति । आश्चीकपदिति स्वमते,आर्त्तीथपतेति वत् । आश्चिकदिति तु वोपदेवमते—आर्त्तिथतेतिवत् ।

लघुयुक्तधात्वक्षरपरत्वाभावान्न सन्निमित्तादिकार्यसम्भवोऽतन्निषेधरूपाग्लोपित्वमपि न प्रयोजनकं, तस्मादर्थादीनामल्लोपरिकल्पनमिति । कार्यादीत्यादिपदेन त्रिविक्रमादेर्ग्रहणम् । अचकथदिति दशावतारादर्शनात् सन्निमित्तकार्याद्यभावः । अपस्पृहदिति शौरिशिरस्कस्तु सात्वत इति पृरामस्य स्थितिः अल्लोपेति अल्लोपविकल्पनात् पक्षेऽरामस्थितिः, ततश्च अन्त्यरामस्य चेति पाणिनीयमतमिति इदमस्माकमपि मतमिति ज्ञेयम् ।।४१८।।

बाल०—अर्त्ति । णौ परे अर्त्तेः ह्री लज्जायां, व्ली वरणे इत्येताभ्यां रीधातोः क्नूयी शब्दे, क्ष्मायी विधूनने इत्येताभ्यां दरिद्रां विना आरमान्ताच्च उत्तरे पुक् भवति, यलोपो गोविन्दश्च भवति । उकावितौ । अर्त्तीति। ऋ गतौ प्रापणे च भ्वादिः ऋ गतौ ह्वादिर्द्वयोरेव ग्रहणम् । रीति री गति—रेषणयोः क्र्यादिः, रीङ् श्रवणे दिवादिर्द्वयोरेव

अङ्क लक्षणे । अङ्कयति । नरामजावनुस्वारेत्यादेः अनुक इत्येव धातोः स्वरूपम् । ततः कस्य द्विवचने-आञ्चीकपत् । पक्षे आञ्चकत्, आञ्चिकत् । युज संयमने ।

४२१. युजादेर्णिर्वा ।

योजति योजयति । भू प्राप्तौ । भावयते भवते । भवतीत्यप्येके ।

॥ इति चुरादिः समाप्तः ॥

अमृता०—४२१. युजादेरिति । युजादिगणे पठिताद् धातोरुत्तरे णि र्वा भवति । युजादिर्गण श्चु राद्यन्तर्गत एव पञ्चचत्वारिंशत् परिमितः । भूप्राप्ताविति—प्राप्त्यर्थे भूधातोरात्मपदमेव प्रसिद्धम् । केषाञ्चिन्मते परपदमपि भवति । दृष्टे कुत्र च तादृशि प्रयोगे तत्तु अपप्रयोगवुद्धया न भ्रमितव्यमेतदर्थं हि विविधमतान्तरोत्थापनं ज्ञेयम् ।

इति श्रीहरिनामामृतेऽमृतास्वादिन्यामाख्यात
प्रकरणे व्याख्यातश्चुरादिर्गणः ॥

ग्रहणम् । रेषणं बृकध्वनिः । गोपायक इति वृष्णीन्द्राभावे अरामहरः । अङीति च्छेदः । सर्वेश्वरादित्वे त्वित्यादीति सारामथरामस्य द्विवचनम् अशास्वृदित इतीति बामन इति शेषः । लघुपरत्वादिति सन्निमित्तकार्यादिति शेषः । अङ्कापयतीति अल्लोपविकल्पनात् अन्त्यारामस्य वृष्णीन्द्रे कृते पुक् । कस्य सारामकरामस्य । आञ्चीकपदिति पूर्ववत् । पक्षे इति काशिकादिमते इत्यर्थः । आञ्चिकदिति वोपदेवमते ॥४२०॥

बाल०—युजा । युजादेरुत्तरे णिर्व्वा भवति । युजादिर्गणएव ज्ञेयः ॥४२१॥

* ॥ इति चुरादिः समाप्तः ॥ *



अथ णिप्रत्ययान्तः ।

४२२. णिः प्रेरणादौ ।

प्रेरणादि हेतुकर्त्तृ व्यापारः । णेरुभयपदम् ।

डुकृञ् करणे । कुर्वन्तं प्रेरणादिना प्रवर्त्तयति— कारयति; कारयते । कार्यते । अचीकरत् । कारयामास । जागर्त्तेरिण्णलोर्गोविन्दनिषेधान्नात्रोद्धवस्य वृष्णीन्द्रः—जागरयति । लघु युक्तधात्वक्षरपरत्वाभावान्न सन्निमित्तकार्यम्—अजजागरत् । अजीजागरदिति चान्द्रमतम् । जागृ-

---

अमृता०—४२२. णिनिति । प्रेरणादावर्थे धातोरुत्तरे णिप्रत्ययोभवति । कस्तावत्-प्रेरणादिरित्यपेक्षायामाह—हेत्वित्यादि । कर्त्ता स्वतन्त्र इत्युक्तो हेतुकर्त्ता प्रयोजकः । प्रयोजकाधीनकर्त्ता प्रयोज्य इति सन्निधा । इतिवक्ष्यते कारके प्रकरणे । तत्र हेतुकर्त्तुः प्रयोजककर्त्तुर्योव्यापारश्चेष्टाविशेषः सएव प्रेरणादिशब्दवाच्य इत्यर्थः । प्रयोज्य कर्त्तु-व्यापारस्तु क्रियासाध्यभूतस्तदिन्द्रिय चेष्टारूप इतियावत् । आदिपदेन अध्येषणानुकूलाचरणयोश्च ग्रहणम् । एतेषु कस्मिंश्चिदर्थे भृत्यादेर्नियोजनं प्रेरणमिति भावः । यथा—कृष्णो भृत्येन दुग्धं दोहयति । आराध्यस्य गुर्वादेः सत्कारपूर्वक व्यापारणमध्येषणम् । यथा—गृहमेधी साधुनात्मानं संस्कारयति । आनुकूल्यन्तु क्रियायां बहुधा सम्भवति । कृष्णस्तण्डुलंपाचयतीत्यत्रानुमतिदानेन, वैद्य औषधं पाययतीत्यत्र उपदेशादिदानेन; एवमानुकूल्यविधानञ्च प्रयोजक-कर्त्तु व्यापारः । तथाभिक्षा मथुरां वासयतीत्यत्रापि यथोचितद्रव्य संकलेन भिक्षा मथुरावास क्रियायामानुकूल्यमाचरतीति तस्यां व्यापारवत्ता त्वारोपिता । एवमन्यान्यपि ज्ञेयानि ।

ननु जागरयतीत्यत्र गोविन्दे कृते उद्धवारामस्येति वृष्णीन्द्रः कथं न क्रियत इति चेत्तत्र प्रागुक्ति स्मारयतिजागर्त्तेरिति । तत्र जागर्त्ते गोविन्द नियमनसूत्रे नृसिंह प्रत्ययेषु

बाल०—णिः । प्रेरणादावर्थे धातोरुत्तरे णिर्भवति । प्रेरणादिरिति हेतुकर्त्तुः प्रयोजकस्य व्यापरश्चेष्टाविशेषः । प्रेरणादाविति भृत्यादेः क्वचिदर्थे नियोजनम् प्रेरणम् यथा कारयति माला वैष्णवम् वैष्णाचार्यः । आदिशब्देन अध्येषणादेर्ग्रहणम् । आरामस्य गुर्वादेः सत्कांरपूर्वकनियोजनमध्येषणम् यथा भोजयति गुरुं वैष्णवः । अचीकरदिति पूर्ववत् । ननु जागरयति इत्यत्र गोविन्दकृते 'उद्धवारामस्ये' त्यादिना वृष्णीन्द्रः कथं न भवतीति चेत्तत्राह—जागर्तेरित इन्नलोर्गोबिन्दनिषेधात् तयोरेव वृष्णीन्द्र. नान्यत्र, अन्यथा अजागारीत्यादावपि गोविन्दानन्तरं बृष्णीन्द्रे कृते तयोर्निषेधस्य वैयर्थं स्यात् । लघुयुक्तेति नरस्येति शेषः । सद् निमित्तं यत्र तस्य भावस्तत्ता । अत्र नरे कार्यविशेषं प्रति सनो निमित्तता न भवतीत्यर्थः । अथवा सनो निमित्ततेति विग्रहः । न सन्निमित्तकार्यमिति वा पाठः । चन्द्रमतमिति क्रमदीश्वरादिलक्षणम् । अचीचकासदिति धातोर्गुर्वक्षरयुक्तेऽपि

गणोर्वेतितल्लक्षणम्। इह तु स्यात्—अचीचकासत् अचिक्षणत्। उपेन्द्रादन इत्यादि—प्राणिणत्।

चोरयन्तं प्रेरयतिस्म—

४२३. णेणौं हरे न दशावतारादर्शनत्वं मन्तव्यम्।

तत उद्धवस्य वामनादि,—अचूचुरत्। रभि-लभोर्नुम् रम्भयति। णि-लोपस्यासिद्धत्वान्न नलोपः—अररम्भत्। हिनोतेरजीहयत्।

४२४. घटादीनामुद्धवस्य वामनो णौ, णिपूर्वयोर्णम्विणोस्तु त्रिविक्रमो वा।

मध्ये इण्णलोरेव निषेधात् तत्रतत्रैव नृसिंहकार्यं नियमितम्, तदन्यत्र नृसिंह ण्यादिषु तु गोविन्दविधानसामर्थ्यादिव तेषु वृष्णीन्द्रनिषेधपर्यवसानात्।

अचीचकासदित्यत्र धातोर्गुर्वक्षरत्वेऽपि नरस्य तु न तथा, ततो लघ्वक्षरपरतया भवेदेव तस्य सन्निमित्तकार्यं—नरलघोस्त्रिविक्रमता। अचिक्षणदित्यत्र नरस्य गुरुत्वेऽपि लघुधात्वक्षरपरत्वात् सन्निमित्तकार्यं किन्तु लघुत्वाभावेन न त्रिविक्रमः। प्राणिणदिति—सर्वेश्वरादित्वे सन्यङोस्तु तत्सम्बन्धिनः सर्वेश्वरस्य चेति णेरत्र सन्निमित्ताकार्संसम्पर्कित्वात् सणेर्द्विवचनम्।

अमृता०—४२३. णेरिति। णेरुत्तरे पुन णौं परे, पूर्वणेर्हरे सति दशावतारादर्शनत्वं न मन्तव्यम्। अङ् परे णौ न तु दशावतारादर्शन इति यत् सन्निमित्त कार्यं निषिद्धं तस्यैव पुनः प्राप्तये त्विदम्। ननु अररम्भदित्यत्र णेर्हरे सति अनिरामेतामित्यादिनोद्धवन-रामहरः कथं न स्यात्तत्राचष्टे—णिलोपस्यासिद्धत्वादिति। इह प्रकृत्यङ्गत्वान्नलोपस्या-न्तरङ्गत्वम्, णेस्तु प्रत्ययत्वात् तत्कार्यस्य वहिरङ्गता। ततश्चान्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति णि लोपासिद्धे कुतः पुनः कंसारिपरत्व प्रसङ्ग इति भावः। अजीहयदित्यत्र हि धातोरिह न घत्वं, तत्र नत्वङीति निषेधात्।

अमृता०—४२४. घटादीनामिति। णौ परे घटादीनां धातूनामुद्धवस्य वामनो भवति णिपूर्वके णमुप्रत्यये, तथाभूते इणि प्रत्यये च परतो घटादीनामुद्धवस्य त्रिविक्रमो वा भवति। ननु कथं घटादित्वेऽपि स्मारयतीत्यादावुद्धवस्य त्रिविक्रमः? सत्यं, गण कार्यं-

---

नरस्य लघुयुक्तधात्वक्षरपरत्वमस्त्येव,अतः सन्निमित्तकार्यं लघुत्वाभावात् त्रिविक्रमाभावः। प्राणिणदिति अत्र सणेर्द्विवचनम्। प्रेरयति स्मेति स्मशब्दो भूतकालवचनः ॥४२२॥

बाल०—णेणौं। णौ परे णे र्हरे सति दशावतारस्य अदर्शनत्वं न मन्तव्यम्। ननु अररम्भदित्यत्रानिरामेतमित्यनेन नलोपः कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्राह असिद्धत्वादिति। 'क्वचिदन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं बहिरङ्गमसिद्धं' स्यादिति न्यायेनासिद्धत्वम्। अत्रान्तरङ्गकार्यं नलोपः, बहिरङ्गं णिलोपः। अजीहयदिति नत्वङीति निषेधात्—न र्हेघिः ॥४२३॥

णमुः कृत् । घटयति, अजीघटत् । इणि—अघटि अघाटि ।

ञित्वरा सम्भ्रमे । त्वरयति ।

४२५. त्वर स्पस स्मृ म्रद प्रथ दृ स्तृणां नरस्य अरामोऽङ्परेणौ ।

४२६. वेष्टिचेष्ट्योर्वा ।

त्वरादीनां सन्निमित्तापवादः । अतत्वरत् । अत्वरि अत्वारि । द्वितीये णावपि तद्वत् । घटादि पाठादनुद्धवस्यापि त्रिविक्रमः—अक्रन्दि अक्रान्दि । चुरादिणेः सहजत्वादिण्वदिट् अशामिषातां अशमिषाताम् इति त्रिविक्रम विकल्पनात् । अशमयिषातामिति त्विट्पक्षे । स्पश—अपस्पशत् । एते घटादौ द्रष्टव्याः । अशास्वृदित इति निषेधात् अशशासत् ।

स्य नित्यत्वात् क्वचिद् व्यभिचारश्च स्यात् । तच्चानित्यत्वम्—ऋरामान्तल्वादिभ्यां क्ते र्निरिति कृत सूत्रे ज्ञापयति । तेन—न विश्वसेदविश्वस्तमित्यादि प्रयोगश्च सिद्धोभवति ।

अमृता०—४२५. त्वरेति । अङ् परे णौ परतः ञित्वरा सम्भ्रमे, स्पश धारण स्पर्शनयोः, स्मृचिन्तायां, म्रद मर्दने, प्रण प्रख्याने, दृविदारणे, स्तृञ् आच्छादने इत्येतेषां नरस्यान्तः आरामः स्यात् । नरारामस्येराम इति प्राप्ते तदनवाद एषः । अत एतदेवोक्तं मूले—त्वरादीनां सन्निमित्तापवाद् इति ।

अमृता०—४२६. वेष्टीति । वेष्ट वेष्टने, चेष्ट चेष्टायामित्येतयो र्नरस्यान्तः अरामो वा स्यादङ् परे णौ । अप्राप्ते विभाषेयम् । अत्वरीति घटादित्वात् त्रिविक्रम विकल्पः । ननु क्रन्दधातो उद्धवे अरामाभावेन त्रिविक्रमासम्भवात् तस्य वामनविधानममुपपन्नं स्यात्, तर्हि किं तस्य घटादिषु पाठ साफल्यमिति चेत्तत्राह—अनुद्धवस्यापि त्रिविक्रम इति । घटादिषु पाठ सामर्थ्यादनुद्धवस्याप्यरामस्य त्रिविक्रमो वामनश्च स्यादेवेत्यर्थः । चुरादि णेरिति-सहजत्वात् सहजसर्वेश्वरान्तत्व स्वीकाराद् विकल्पेन इण्वदिट् भवति, घटादित्वादुद्धव—वामनश्च ।

बाल०—घटा । णौ परे घटादीनामुद्धवस्य स्थाने वामनो भवति, णिपूर्वयोर्णम्वि-णोस्तु परयोः उद्धवस्य त्रिविक्रमो वा भवति । अघटीति उद्धवोऽत्र वामनः । अघाटीति त्रिविक्रमोऽत्रोद्धवः ।।४२४।।

बाल०—त्वर । अङ् परे णौ परे ञित्वरा सम्भ्रमे, स्पर्श धारणस्पर्शनयोः, स्मृ चिन्तायां, म्रद मर्द्दने, प्रथ प्रख्याने, दृ विदारणे, स्तृञ् आच्छादने इत्येतेषां नरस्यान्तः अरामो भवति । स्तृणामिति बाहुल्यान्नुट् ।।४२५।।

बाल०—वेष्टि । वेष्ट वेष्टने, चेष्ट चेष्टायाम् इत्येतयोर्नरस्यान्तः अरामो वा भवति । ननु त्वरादीनां नरस्यान्तस्य अरामस्य अरामविधाने किं प्रयोजनमिति चेत्तत्राह—त्वरादीनामिति सन्निमित्तापवादः सनिमित्तकार्यापवादः अन्यथा सन्निमित्तकार्यं स्याद् ।

आङः शासु इच्छायामित्यस्य तु न निषेधः—आशीशसत् । अरराघत् । एजृ—ऋरामेत् करणान्न वामनः, ततो मायोगे मैजिजत् । एधतेः प्रथमं वामन स्ततो द्विर्वचनम्—मेधिधत् । तदयोगे तु एजिजत्, एदिधत् । नवदर सत्सङ्गे—औन्दिदत् औब्जिजत् । अड्डभियोगे भौवादिकः—आड्डित् । एवमार्चिचत् । श्वेःसङ्कर्षणो वेत्यादि, केवल णौ कृतस्य स्थानिवत्वात् शोर्द्विर्वचनम्, अङ् परे णौ वामनः त्रिविक्रमश्च अशूशत पक्षे अशिश्वयत् । स्मृअध्याने, आध्यानं सोत्कण्ठ स्मरणम्—असस्मरत् । म्रद अमम्रदत्, प्रथ अपप्रथत् । दृ अददरत् । स्मृ प्रभृतयश्च

अशमयिषातामिति—अनिडादौ णेर्हर विधानादिटि न हि णेर्हरः । अरराघदिति—राघृ सामर्थ्ये भ्वादिरात्मपदी । एवञ्च लाघृ द्राघृ श्लाघृ प्रभृतीनामपि नोद्धव वामनः । मैजिजदित्यादौ सणे द्विवचनम् । एधतेः प्रथमम् वामन इति—अन्यथा द्विवचनात् परमुद्धवत्व विरहेण एरामस्य वामनो नैव सम्भाव्येत; एतत्तु माशब्द योगएव कार्यम् । मायोगाभावे नित्यत्वात् अत्प्रसङ्गमात्रे वृष्णीन्द्रः । औन्दिददित्यादि—उन्दी क्लेदने रुधादिः, उब्ज आर्जवे तुदादिः, अर्च पूजायां भ्वादिः । उन्द्यादि चतुर्णां क्रमेण नवदरान् वर्जयित्वान्य भागस्य सणेर्द्विवचनं दर्शितम् ।

ननु श्वि धातो रङ्परे णौ नारायणस्य सङ्कर्षण-वृष्णीन्द्रयोः स्ततोः सन्धिमुद्धववामनञ्च कृत्वा णौ कृतं स्थानिवदितिदर्शितप्रणालीतो द्विवचनम् कथं न क्रियते इतिचेत्तदुच्यते—अङ्परे णौ परे यानि कार्याणि तेभ्यः पश्चात् द्विवचने कृते तु अशशवदित्यनिष्टरूपमापद्यतेति । तस्मादिह केवल णौ कृतस्य सङ्कर्षण मात्रस्य स्थानिवत्त्वमिष्टम्; तदर्थमेव भाविनि अङि भूतवत्त्वमुपचारितमिति ध्येयम् । सङ्कर्षणाभावपक्षे वृष्णीन्द्रः,

---

अत्वारीति त्रिविक्रमपक्षे । उद्धवस्य त्रिविक्रमो वा भवतीत्युक्तं तर्हि कथम् अक्रान्दीत्यत्र त्रिविक्रमो भवतीति चेत् तत्राह—धटादीति । क्रन्दधातोरराम स्योद्धवत्वाभावाद्वृष्णीन्द्राभावः । अतो वामनविधानस्य प्राप्तिसम्भावनैव नास्ति त्रिविक्रमाभावश्चेति तर्हि घटादिषु पाठो व्यर्थः स्यादिति । सहजत्वादिति सहजत्वात् सहजसर्वेश्वरान्तत्वम् अत इण्वदिट् । अशमयिषातामिति अनिडादावित्युक्तत्वात् न णेर्हरः । एत इति त्वर क्रन्द शम स्पश इत्यर्थः । निषेधादिति न वामन इति शेषः । अरराधदिति राधृविलोडने भ्वादि आत्मपदी ऋरामत्वाद्वामनाभावः । मैजिजदिति सणेर्द्विर्वचनम् । तदयोगे माशब्दायोगे । न-व-द-र सत्सङ्गे इति न-व-द-र संयोगे औन्दिददित्यादिकमुदाहरणचतुष्टयम् । औन्दिददिति उन्दी क्लेदने रुधादि सत्सङ्गादि नरामं वर्जयित्वा अन्यभागस्य दीत्यस्य द्विर्वचनम् एवमुत्तरेष्वपि । औब्जिजदिति उब्ज आर्जवे तुदादिः । आर्चिचदिति अर्च पूजायां भौवादिकः । भाविनीति भाविनि अङि सङ्कर्षणानन्तरं वृष्णीन्द्रः, तत औ आव्, ततः स्थानिवत्त्वम् । अशिश्वयदिति स्थानिवत्वात् श्वेर्द्विर्वचनं वामनः नरस्य लघुत्वाभावात्त्रिविक्रमाभावः ।

घटादयः। स्तुञ् अतस्तरत्। वेष्टि चेष्टिचोर्वा अववेष्टत्। अचचेष्टत् अचिचेष्टत्।

४२७. भ्राज भ्रास भाष दीप जीप मील पीड रण भण श्रण ह्वे लप लुप लुठादीनामुद्धवस्य वामनो वाङ् परे णौ।

भ्राज भ्रासो ॠरामेत्वात् केवलत्वाच्च अवभ्राजत् अविभ्रजत्। अवभाषत् अवीभषत्। अत्रालघु परत्वान्न सन्नमित्ति कार्यम्। आटिटदित्यत्र णौ परे लघुयुक्तपरत्वाभावान्न त्रिविक्रमः। एवं मैजिज-दित्यादि च। माभवानटिटदित्यत्रापि द्विर्वचनमुद्धववामनात् पश्चादेव स्यात्। ओणृ धातो ॠदित् करणात् तत्रतु माभवानोणिणत्। तदेवं आट्टिदित्यादि सिद्धये नर लघोरित्यस्य विष्णुजनादीति विशेषणं यत्तस्यां कल्पितं तद् व्यर्थमेव च स्यात्।

आय्, वामनः, ततः स्थानिवत्वेन द्विवचनम्। असस्मरदित्यादिषु त्वरस्पशेत्यादिना नरामस्यारामः, तेन च सन्निमित्तकार्याभावः।

अमृता०—४२७. भ्राजेति। अङ् परे णौ परतः भ्राजृ दीप्तौ, भाष व्यक्त वाचि, दीपी दीप्तौ, जीव प्राणधारणे, मील निमेषणे, पीड अवगाहने, रण भण शब्दे, श्रण दाने ह्वेञ् स्पर्द्धायां, लप व्यक्तायां वाचि, लुप छेदने, लुठ विलोडने इत्येतेषामुद्धवस्य वामनो वा भवति। उद्धवारामस्य वृष्णीन्द्र इत्यस्य पाक्षिकापवाद एषः। आदिपदेन कण निमीलने, वण शब्दे, हेट विबाधायामिति त्रयो न्यास कारसम्मताः। केवलत्वादिति–अनुबन्धरहित-त्वादित्यर्थः। तस्य अविभ्रजदित्येव, ॠरामेतस्तु अबभाजत् अविभ्रजदिति द्वयं हि सूत्र फलम्। अत्रेति अभ्राजदित्यत्र, अवभाषदित्यत्र च। अलघु परत्वादिति नरस्य लघुयुक्त-धात्वक्षर विरहादित्यर्थः। आटिटदित्यत्र लघुयुक्त परत्वभावादिति केवलविष्णुजन परत्वात् (केवलटराम परत्वादित्यर्थः)। सर्वेश्वरस्य हि लघुगुरुत्वधर्म्माश्रयत्वादिति निदानम्।

सोत्कण्ठेति सोत्कण्ठश्च तत्स्मरणञ्चेति विग्रहः। असस्मरदित्यादौ 'त्वरस्पशे'त्यादिना नरस्यान्तस्यारामः। स्मृ प्रभृतय इति चत्वार इत्यर्थः॥४२६॥

बाल०—भाष। आङ् परे णौ परे भाष व्यक्तायां वाचि, दीपी दीप्तौ, जीव प्राण-धारणे, मील निमेषणे, पीड़ अवगाहने, रणे शब्दे, भण शब्दे, श्रण दाने ह्वेञ् स्पर्द्धायाम्, लप व्यक्तायाम् वाचि, लुप छेदने, लुठ संश्लेषणे इत्यादीनामुद्धवस्य वामनो वा भवति। ह्वे इत्यत्र हेठेति क्रमदीश्वरादयः। हेठ विबाधायां लुठादीनामित्यादिशब्देन कणादेर्ग्रहणम्। कणादीनां वा ह्रस्वो वक्तव्य इति भाष्यम्। केवलत्वाच्चेति अनुबन्धरहितत्वं केवलत्वम्। अबिभ्रजदिति केवलत्वेन। अत्रेति अबभ्राजदित्यत्र अलघुपरत्वादिति लघुयुक्तधात्क्षर-परत्वाभावादित्यर्थः। लघुयुक्तपरत्वाभावादिति केवलटरामस्य परत्वात्। द्विर्वचनमिति

और्णूनवत्, आर्त्तीथपतेत्यादौ त्रिविक्रमः स्यादेव । उद्धव संज्ञस्येत्यादि--अवीवृतत्, अमीमृजत् ।

जिस्वप् शये--

४२८. स्वापेः सङ्कर्षणोऽङि ।

ततोद्विर्वचनम्--असूषुपत् ।

४२९. शाछासाह्वाव्यावेभ्यो युक् णौ ।

पेति पा पै च गृह्येते, रक्षणार्थस्तु न । सन्देहे तु न लुग्विकरणस्य

मा भावानटिटदित्यत्रापीति अपिकारेण मेदिधत्यत्र चोद्धवस्य वामनम् विधाय ततो द्विवचनमिष्टम् । अन्यथा पूर्वं द्विवचने कृते तूद्धवत्वाभावाद् वामनो न स्यात् । आटिटदित्यादिसिद्धय इति--व्यतिरेकमुखेनाटिटदित्यादिसिद्धये इत्यर्थः । नरघोरित्यत्र प्रक्रिया कौमुद्यां--'हलादि लघ्वभ्यासस्ये'ति यत् कल्पित वाक्यं तत्तु व्यर्थमेव, हलादीति विशेषण-निवेशं विनापि तत्तत्पदसिद्धेः । तथा हलादित्वाभावेऽपि ऊर्णूञ् अर्थादीनां नरस्य त्रिविक्रमत्वसिद्धेश्च । तस्मात्तत्र हलादीति विशेषणं वृथैव न्यस्तम् । तथा कल्पितमित्यनेन सर्वेषाममतत्वाद् भ्रमएवेत्यपि ध्वनितम् । उद्धवसंज्ञस्येति--"उद्धवसंज्ञस्य ऋवर्ा अङ् परे णौ" इति लक्षणेनेति शेषः ।

अमृता०--४२८. स्वापेरिति । ण्यन्तस्य स्वापि धातोः सङ्कर्षणः स्यादङि परे । ततोद्विवचनमिति--सङ्कर्षणे कृते लघूद्धवस्येति गोविन्दः, पुनरशास्वृदित इति वामन स्ततो द्विवचनमिति क्रम उन्नेयः । अनन्तरञ्च नरलघो स्त्रिविक्रमो विरिञ्चिसस्यषत्वञ्चेति ।

अमृता०--४२९. शोछेति । णौ परे शो तनुकरणे, छोदने, षोऽन्तकर्मणि, ह्वेञ् स्पर्द्धायां, व्येञ् सम्वरणे, वेञ् तन्तुसन्ताने इत्येतेभ्यः पा धातोश्चोत्तरे युगागमो भवति । पुकोऽपवाद एषः । शोप्रभृतीनामारामान्तत्वेन निर्देशो ह्रो पुकः प्राप्तिसम्भावन स्मारकः । वेञस्तु आरामान्ततया निर्देशे सति ओ वै शोषणे इत्यस्यापि प्राप्तिः स्यात्, अत स्तदति-प्रसङ्ग वारणाय यथास्वरूपाख्यानंज्ञेयम् । रक्षणार्थस्तु नेति--अदादिः पा धातु न गृह्यत

उद्धववामनानन्तरमेव द्विर्वचनं भवति । ओणिणदिति ऋरामेत्वात् नात्र उद्धवस्य वामनः । तदेवमिति लघुयुक्तधात्वक्षरपरस्य विष्णुजनादिनरलघोस्त्रिविक्रमो भवतीति प्रक्रियामतं विष्णुजनादेर्धातो र्नरलघोरित्यर्थः । व्यर्थ मेवेति विशेषणं विनैव तत्सिद्धेः । नरलघोरिति विष्णुजनादीति च स्वसंज्ञानुसारेणोक्तम् । त्रिविक्रमः स्यादेवेति लघुयुक्तधात्वक्षरपरत्वात् धातोर्विष्णुजनादित्वाभावेऽपि त्रिविक्रमो भवत्येव । उद्धवसंज्ञेस्येत्यादीति उद्धवसंज्ञस्य ऋद्वयस्य ऋवर्ा अङ् परे णाविति लक्षणम् । अवीवृतदिति ऋरामस्य ऋः अन्यथा गोबिदः स्यात् । अमीमृजदित्यत्र वृष्णीन्द्रः स्यात् । ञिष्वपृशय इति यल्लिखितं तन्न बहुप्रयोजनकमिति ज्ञेयं पूर्वमेव लिखितत्वात् ।।४२७।।

बाल०--स्वापोः । अङि परे स्वापेः सङ्कर्षणो भवति । असूषुपदिति 'ईश्वरहरिमित्रे' स्यादिना विरिञ्चिसस्य षत्वम् ।।४२८।।

ग्रहणमिति न्यायात् । शाययतीत्यादि । ह्वो नरनारायणयोरिति सङ्कर्षण एव, नतु युक् अन्तरङ्गत्वात्–अजूहवत् ।

४३०. सनरस्य पिवते रङ्परे णौ पीप्यः, तिष्ठते स्तिष्ठिप,, जिघ्रते स्तु जिघ्रिपो वा ।

अपीप्यदित्यादि । ऋगति-प्रापणयोः, ऋसृ गतौ । अर्त्ति ह्रीति–अर्पयति ह्रेपयति । री, रीङ्–रेपयति । यलोपः–क्नोपयति स्थापयति ।

४३१. पातेः पाल् णौ, वातेः कम्पनार्थे वाज् धूञो धून् प्रीणातेः प्रीण् ।

पालयति इत्यादि ।

इत्यर्थः । तस्य तु "पातेः पाल् णौ" इति लुगागमोवक्ष्यते । अग्रहणे परिभाषां हेतुतयोपन्यस्यति–लुग्विकरणेत्यादि । सङ्कर्षणे एवेति—तत्र नरनारायणो रितिकथनेन हि ह्वेञः सङ्कर्षणविधानमङ् परे णौ तथाधोक्षजे चेति वोध्यते । अतश्च स्वल्पाश्रितत्वात् प्रकृत्याश्रितत्वाच्च सङ्कर्षणविधेरेवान्तरङ्गत्वमिति । एवञ्चाधोक्षजे सङ्कर्षणः—जुहवामासेति । तदन्यत्रतु–ह्वाययति, ह्वाययिष्यतीत्यादीनि । भ्राजभासेत्यादिना वामनाभावपक्षे–अजुहावदिति ।

अमृता०—४३० सनरस्येति । अङ् परे णौ परतः सनरस्य पिवत्यादेः पीप्यादय आदिश्यते, जिघ्रते स्तु जिघ्रिप इति वादिश्यते । सर्वत्र अराम उच्चारणार्थः । सनरस्येति निर्देशेन नरस्य कार्यान्तराकांक्षा निरासिता । अतिष्ठिपत् अजिघ्रिपत् । अर्त्ति ह्रीति पुक्, गोविन्दो यलोपश्चेति शेषः ।

अमृता०—४३१. पातेरिति । णौ परे पारक्षणे इत्यस्य पाल्, वा धातोः कम्पनार्थे वाज्, धूञ् कम्पने इत्यस्य धून, प्रीञ् तर्पणे इत्यस्य प्रीण् इत्येते आदिश्यन्ते । पिवतेस्तु युक् पूर्वमुक्तः । वाजयति पक्षौ गरुडः । कम्पनार्थादन्यत्र तु—रजोभिर्मसिं वापयति, शोषयतीत्यर्थः । वातेरिति ओ वै शोषणे इत्यस्य ग्रहणम्, नतु वागतिगन्धनयोरित्यस्य, सन्देहे

बाल०—शा । णौ परे शो तनूकरणे, छो छेदने, षोऽन्तकर्मणि, ह्वेञ् स्पर्द्धायाम्, व्येञ् संवरणे, व्येञ् तन्तुसन्ताने इत्येतेभ्यः पाधातोश्च उत्तरे युक् भवति । पा पै चेति पा पाने पै शोषणे । रक्षणार्थस्तु नेति पा रक्षण इति न गृह्यते, अग्रहणे हेतुमाह सन्देहे त्विति । लुग्विकरणस्येति अदादेरित्यर्थः । युगभावे हेतुमाह—अन्तरङ्गत्वादिति । प्रकृत्याश्रितत्वादन्तरङ्गत्वम् । भाष दीप जीव मीलेत्यनेन उद्धवस्य वामनत्वविकल्पात् । वामनाभावपक्षे अजूहवदिति ॥४२९॥

बाल०—सन् । अङ् परे णौ परे सनरस्य पिवतेः स्थाने पीप्यो भवति । सनरस्य तिष्ठतेः स्थाने तिष्ठिपो भवति, सनरस्य जिघ्रतेस्तु स्थाने जिघ्रिपो वा भवति । अर्त्ति ह्रीतीति पुक् गोविन्दश्चेति शेषः ॥४३०॥

४३२. लियो लीन् लातेर्लाल् वा णौ स्नेहद्रावणे ।

लियइति ली लीङोर्ग्रहणम् । घृतं विलीनयति । लीयति लीनात्यो र्वेत्यात्वेऽपि विलीनयति । लीनादेशादन्यत्र–विलापयति विलालयति । लाते स्तु–विलालयति विलापयति घृतम् । स्नेहेति किम्—लियो–विलापयति विलालयति । लाते स्तु विलापयति लोहम् ।

४३३. लियोरारामो णौ पूजाभिभव-प्रतारणेषु आत्मपदश्च ।

तु न लुग् विकरणस्य वाजादेशः पुक् निरासार्थो ज्ञेयः । न च लाक्षाणिक प्रतिपदोक्त न्यायेन सहजारामान्तः वागतिगन्धनयोरित्येवात्र ग्राह्य इति वाच्यम्, लाक्षणिकेत्यादि परिभाषात्र प्रकरणे नेष्यते, शाछेति सूत्रे पै धातोरुपादानं हि तज्ज्ञापकमिति ।

अमृता०—४३२. लिय इति । णौ परे स्नेहद्रावणे वाच्ये लियः स्थाने लीन् वादिश्यते, तथा तस्मिन्नेवार्थे लादाने इत्यस्य लाल् वादिश्यते । आत्वेऽपि विलीनयतीति—आरामान्त पाठे तदभावे चोभयत्र हि लीनादेशो भवेत्, तस्य नित्यत्वादित्यर्थथः । लीनादेशाभावे यदा आरामान्यपाठ स्तदा पुगामे विलापयति; लीयति लीनात्यो र्वेति तस्याप्यभावे विलायि धातो विलाययति । लातेस्त्विति—स्नेहद्रावणार्थादन्यत्र हि केवलपुक् ।

अमृता०—४३३. लियइति । णौ परे पूजायां अभिभवे प्रतारणे चार्थे ली-लीङो रन्तस्य नित्यमारामः स्यात्, तस्य नित्यमात्मपदश्च भवति । लीयति- लीनात्यो रिति प्राप्तविभाषाया अपवाद स्तथा लीनातेः सिद्ध-परपदस्यापवारक एषः । लापयते इत्यारामान्तत्वात् पुक् । कंसमुल्लापयते तमभिभवतीत्यर्थः । वालकृष्णमिति—तं नवनीत दान प्रलोभनेन प्रतारयतीत्यर्थः ।

बाल०—पातेः । णौ परे पा रक्षण इत्यस्य स्थाने पाल् भवति । कम्पने अर्थे वा गति-गन्धनयोः इत्यस्य स्थाने वाज् भवति । धूञ् कम्पने इत्यस्य स्थाने धून् भवति, प्रीञ् तर्पणे इत्यस्य स्थाने प्रीण् भवति । पातेरिति निर्द्देशः पा पाने इत्यस्य निरासार्थः । वातेरिति निर्द्देश ओ वै शोषण इत्यस्य भ्वादेर्निरासार्थः । धातूनामेकार्थत्वाद्वातेः कम्पनार्थतेति ज्ञेयम् । धूञ् इति सानुबन्धनिर्द्देशः । धू विधूनने इत्यस्य तौदादिकस्य निरासार्थः । प्रीणातेरिति निर्द्देशः प्रीङ् प्रीतावित्यस्य दिवादेर्निरासार्थः । पालयतीति पाल रक्षणे इत्यनेन चौरादिकेनापि सिद्ध्यति, किन्तु पातेरनिष्टरूपं स्यादिति पालविधानं कृतम् ।।४३१।।

बाल०—लियो । णौ परे स्नेहस्य घृतादेर्द्रावणे अर्थे लियः स्थाने लीन् वा भवति, ला दाने इत्यस्य स्थाने लाल् वा भवति । ली लीङोरिति ला श्लेषणे दिवादिस्तयोः । आत्वेऽपि विलीनयतीति । आत्पक्षे—विलीनयति विलापयतीति रूपद्वयमिति भावः । विलाययतीति उभाभ्यां त्यक्ते पक्षे । आत्त्वेऽपि विलीनयतीति किमर्थमुक्तमिति न निश्चितम् । घृतमिति पूर्वत्र च योज्यम् । स्नेहेति किमिति—विलापयतीति । आत् पक्षे—लोहमिति घृतमितिवत् ।।४३२।।

वैष्णवत्वेन लापयते, आत्मानं पूजितं करोतीत्यर्थः। कृष्णः कंसमुल्लापयते। वालकृष्णमुल्लापयते गोपी। काशिका भाषावृत्त्यादि सम्मते णावित्यत्राप्यशितीति तु प्रक्रिया चिन्त्या।

४३४. भियो भीष् भापौ णौ प्रयोजकाद् भयं चेदात्मपदञ्च, स्मयतेः स्मापः सभयविस्मयश्चेत्।

भीषयते भापयते कंसं हरिः, विस्मापयते च। प्रयोजकादिति किम्— गजदन्तेन भाययति विस्मापयति च तम्।

स्फायी ओप्यायी वृद्धौ।

४३५. स्फायः स्फाव्, शदेरगतौ शात्, इणोगमि रवोधने, क्रीञः

अत्र णिं परनिमित्तीकृत्य स्वमतं पोषयितुं प्रक्रियामतन्तु दूषयितुं प्राचीनमतमुत्थापयति—काशिकेति। आदिशब्देन कालापानाञ्च तथैव मतम्। यथा हि—प्रलम्भन शालीनीकरणयोश्च णौ नित्यमात्वं भवतीति काशिका व्याख्या। प्रक्रियायान्तु—प्रलम्भनाभिभव पूजासु लियो नित्यमात्वमशितीति। यद्यपि मतद्वयेऽपीह फलसाम्यं तथापि प्रक्रियायाम् "एत्र् विषयेऽशिति" (चतुर्व्यूह विधिविषयेऽशिवे) इत्येवं पर निमित्तं विशेषणीयम्। अन्यथा शिदित्तरे कृति निष्ठायां विलानमित्येवमपदं सिध्येत् केवलमशितीति निर्देशात् तस्यादोष एव प्रसक्त इति चिन्त्या पदेन व्यञ्जिम्।

अमृता०—४३४. भियइति। चेत् यदि प्रयोजकाद्भयं स्यत्तर्हि णौ परे ञिभी भये धातोः भीष् भापौ आदेशौ भवतः, तस्यात्मपदञ्च भवति। तथा प्रयोजकात् सभयविस्मय श्चेत् स्यात्तर्हि स्मिङ् ईषद्धसने इत्यस्य स्माप आदिश्यते अत्मपदञ्च भवति। आराम इत्। प्रत्युदाहरणे गजदन्तरूप करणेन हि भीतिं विस्मयञ्चोत्पादयति नतु स्वयं प्रयोजक कर्त्रा। भाययति विस्माययतीत्यत्र णौ धातो कृष्णीन्द्रः णेर्गोविन्दश्च।

अमृता०—४३५. स्फाय इति। स्फुटोऽर्थः। सिध्यतेरिति श्यविकरण निर्देशेन षिध्

बाल०—लियो। णौ परे पूजायाम् अभिभवे प्रतारणे चार्थे लो-लीङोरन्त आरामो भवति आत्मपदञ्च। कंसमुल्लापयत इति अभिभवतीत्यर्थः। वालकृष्णमुल्लापयत इति प्रतारयतीत्यर्थः। णावित्युक्त्वा स्वमतस्य कल्पितत्वं वारयितुं णावित्यस्य विशेषणताह— काशिकेति ॥४३३॥

बाल०—भियो। चेत् यदि प्रयोजकाद्भयं भवति, तदा ञि भी भये इत्यस्य स्थाने णौ परे भीष्-भापौ भवतः आत्मपदञ्च। प्रयोजकात् सभय विस्मयो यदि भवति, तदा स्मिङ् ईसद्धसने इत्यस्य स्थाने स्माप् भवति आत्मपदञ्च। भीषयते भापयते विस्मापयते च कंसं हरिरिति अत्र हरिप्रयोजककर्त्ता ततो भयं सभयविस्मयश्च। गजदन्तेनेति। गजोऽत्र कुवलयापीडः। तमिति कंसमित्यर्थः। अत्र प्रयोजकात् न भयं सभयविस्मयश्च, किन्तु करणाद्-गजदन्तात् ॥४३४॥

क्राप्, अधीङोऽध्याप्, जेर्जाप्, सिध्यतेः साध् नतु पार-लौकिके, दुषो दूष्, चित्तकर्मत्वे तु वा णौ।

स्फावयति, शातयति छिनत्तीत्यर्थः। इण् गतौ गमयति। इण्वदिक्—अधिगमयति, बोधने प्रत्याययति। साधयति अन्नम्। पारलौकिके—सेधयति परलोकम्।

४३६. रुहो रोप् चिञश्चाप् स्फुरःस्फार् वेतेः प्रजने वाप् णौ वा।

रोपयति रोहयति, चापयति चाययति, स्फारयति स्फोरयति। आदेश-सद्भावे णौकृतस्य स्थानिवत्त्वाद् द्विर्वचनम्—अपुस्फरत् अपुस्फुरत्। वी प्रजनादौ—वापयति वाययति गर्भं ग्राहयतीत्यर्थः।

संराद्धौ इत्यस्यैव ग्रहणं, नतु षिधुगत्यामित्यस्य, न वा षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये चेत्यस्य। शदे गतौ तु—गाः शादयति गोविन्दः, चालयतीत्यर्थः,। दूषइति —अनिवेदितान्नं दूषयति लोकम् चित्त कर्मकत्वे तु दूषयति दोषयति वा कुवासनया कामः।

अमृता०—४३६. रुह इति। णौ परे रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च, चि चयने, स्फुर स्फुरणे, वी प्रजन कान्त्यादावित्येतेषां स्थाने यथाक्रमं रोप् चाप् स्फार् वाप इत्येते आदेशा वा स्युः। वेतेस्तु प्रजनमात्रार्थे। आदेशपक्षे उद्धव वामनात् पश्चात् णौ कृतस्य स्फारादेशस्य स्थानिवत्त्वे स्फु इत्यस्य द्विवचनं, शौरिशिरस्कस्तु सात्वतः, हरिकमलश्च : अनादेशेअपुस्फुरत्। प्रजनादन्यार्थे तु नादेशः—उद्धवं वाययति कृष्णः, गमयतीत्यर्थथः।

बाल०—स्फायः। णौ परे स्फाय स्थाने स्फार् भवति। णौ पर इति सर्वत्र योज्यम् अगतावर्थे वर्त्तमानस्य शद्लृ शातन इत्यस्य स्थाने शात् भवति। अबोधनेऽर्थे वर्त्तमानस्य इणगतावित्यस्य स्थाने गमिर्भवति। डुक्रीञ्द्रव्यविनिमये इत्यस्य स्थाने क्राप् भवति। अधिपूर्वस्य इङ् अध्ययने इत्यस्य स्थाने अध्याप् भवति। जि जये इत्स्य स्थाने जाप् भवति सिधु संराद्धौ इत्यस्य स्थाने साध् भवति, पारलौकिकेऽर्थे वर्त्तमानस्य तु न भवति सिद्धच-तेरिति। निर्द्देशः षिधू शास्त्रे मागल्ये चेति द्वयोर्निरासार्थः। दुष वैकृत्ये इत्यस्य स्थाने दूष भवति। चित्तकर्मकत्वेतु वा भवति। शदेरिति। गतौ तु शादयति प्रत्याययतीति बोधयतीत्यर्थः। साधवेति अनन्तमिति धनकाङ्क्षयेति शेषः। दुष इति। दूषयति कृष्णा-निवेदितान्नम्। चित्तकर्मकत्वे तु दूषयति चित्तं दोषयति च ॥४३५॥

बाल०—रुहो। णौ परे रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च इत्यस्य स्थाने रोप् वा भवति। चिञ् चयने इत्यस्य स्थाने चाप् वा भवति। स्फुर स्फुरणे इत्यस्य स्थाने स्फार वा भवति। प्रजनं गर्भग्रहणम्। आदेशिति आदेशविद्यमानतायाम् आदेशे सतीत्यर्थ;। द्विर्वचनमिति स्फुर इत्यस्येति शेषः। अपुस्फुरदिति आदेशाभावपक्षे। प्रजनादावित्यादिशब्देन कान्त्यसन-खादनानां ग्रहणम् ॥४३६॥

४३७. इङो गाङ् सन्नङ् परे णौ वा ।

अध्यजीगपत् अध्यापिपत् ।

४३८. नरोद्वयस्य इः पवर्ग हरिमित्र-जरामेष्वद्वयपरेषु सनि ।

४३९. स्रवति शृणोति द्रवति प्रवति प्लवति च्यवतीनां वा ।

ततः सन्निमित्त कार्येण—अवीभवत् अयीयवत् । जु गतौ सौत्रः—अजीजवत्, असिस्रवदित्यादि ।

अमृता०—४३७. इङ इति । सन् च अङ् च सन्नङौ, तौ परो यस्मात् तथाभूते णौ परे (सन् परे णौ अङ् परे णौ चेत्यर्थः) इङ् अध्ययने इत्यस्य स्थाने गाङादेशो वा भवति । अध्यजीगपदिति—आदेशपक्षे अशास्वृदित इत्युद्धवस्य वामनः, नरामस्येरामः, त्रिविक्रमश्च। अध्यापिपदिति—अधीङोऽध्याप, अधिविश्लेषेण आप् इत्यस्य द्विवचने प्राप्ते सर्वेश्वरादित्व सन्यङौस्तु तत्सम्बन्धिनः सर्वेश्वरश्चे ति सणेः पेर्द्विवचनम् ।

अमृता०—४३८. नरेति । सनिसति अद्वयः परो यस्य तादृशि पवर्गे हरिमित्रे जरामे च परे नरसम्वन्धिन उद्धयस्य इरामः स्यात् । पूञ्—पिपविषति, भू विभावयिषति, यु-यियविषति, लूञ् लिलावयिषति । अत्र णौ कृतं स्थानिवदिति द्विवचने उरामस्य इराम स्ततः सन्निमित्तकार्येण त्रिविक्रमः । उद्वयस्येति किम्—पापचिषति । अद्वयपरस्येति किम्-वुभूषति । पवर्गेत्यादि किम्—ऊर्णुनविषति ।

अमृता०—४३९. स्रवतीति । स्पष्टार्थम् । अद्वयपरस्येति किम्—शुश्रूषते ।

बाल०—इङो । सन् च अङ् च सन्नङौ तौ परौ यस्मात् तादृशे णौ परे इङ् अध्ययने इत्यस्य स्थाने गाङ् वा भवति । गाङो ङित्त्वस्य प्रयोजनं न निश्चितम् । अध्यजीगपदिति उद्धवस्य वामनः नरस्य सन्निमित्तकार्यादि अध्यापिपदित्यत्र यावत् सम्भवस्तावत् विधिपिरि न्यायेन अधीङः अध्याप इत्यनेन अधिविश्लेष्य इङ् आप इत्येवादेशस्तस्मात् सर्वेश्वरादित्वे अन्यभागस्येति योज्यमिति ।।४३७।।

बाल०—नरो । सनि सति अद्वयपरेषु प वर्ग हरिमित्र-जरा नरसन्बन्धित उद्वयस्य स्थाने इर्भवति । नरोरामस्येत्कृत्वा नरोद्वयस्येति कृतं प्रक्रियालाघवार्थ म् अन्यथा अबीभवदित्यादौ नरस्य वामन इत्यस्यापेक्षा स्यात् ।।४३८।।

बाल०—स्रवति । सनि सति स्रु, गतौ, श्रु श्रवणे, द्रु गतौः प्रुङ् प्लुङ्, च्युङ्, गतौ इत्येषां नरोरामस्य स्थाने अद्वयपरेषु इर्वा भवति । अद्वयपरेष्वित्येपादानात् णावेवास्य विषय इति बोद्धव्याम् । प्राप्ते विभाषेयम् । अवीभवदिति भू सत्तायां णिः वृद्धिः भूतेश-दिप् अङ् स्थानिवत्त्वाद् द्विर्वचनम् उरामस्येरामः उद्धवस्य वामनः तत्परस्य नरलघोस्त्रिविक्रमः । अयीयवदिति यु मिश्रणा-मिश्रणयोः । असुस्रवदिति नरस्य लघुत्वाभावात् त्रिविक्रमाभावः ।।४३९।।

४४०. रञ्जेर्नस्य हरो णौ मृगरमणे ।

रजयति मृगान् । अन्यत्र रञ्जयति कृष्णम् ।
एवमन्येऽपि ।

४४१. हन्तेस्तो नृसिंहेऽनिणधोक्षजे ।

हनो हस्य् घो णिन्नयोः—घातयति । गत्यर्थस्यापि णौ तःस्यादिति दुर्गः–घातयति ।

॥ इतिण्यन्तप्रक्रिया ॥

अमृता॰—४४०. रञ्जोरिति । णौ परे मृगरमणे मृगक्रीडायामर्थे रञ्ज रागे धातो र्नस्य हरो भवति । णेः कंसारित्वाभावत् तत्राप्राप्ते नलोपे विधानमेतत् । रजयति मृगानिति—क्रीडतो मृगान् प्रयुक्त इत्यर्थः । रञ्जयति कृष्णमिति-अनुरक्तं करोतीत्यर्थः ।

अमृता॰—४४१. हन्तेरिति । इण् च अधोक्षजश्च इणधोक्षजौ, न विद्येते तौयत्र तादृशि नृसिंहे परे हन हिंसागत्योरित्यस्यान्तवर्णः तरामो भवति । अनिणधोक्षज इति किम्—अघान्नि, जघान । गत्यर्थस्यापीति–णौ परे गत्यर्थस्य, अपिकारेण हिंसार्थस्य च हन्ते र्नस्य तः स्यादिति दुर्गसिंहः (कलाप वृत्तिकृत्) मन्यते । तथापि गत्यर्थेऽपि तदुदाहरणम्-गां घातयति गमयतीत्यर्थे इति । हन्ते स्त इति कलाप सत्रस्य वृत्ति र्द्रष्टव्या ।

इति श्री हरिनामामृते व्याख्याता ण्यन्तप्रक्रिया ।

बाल॰— रञ्जेः । णौ परे मृगरमणे मृगक्रीडायामर्थे रञ्ज रागे इत्यय नस्य हरो भवति । रजयति मृगानिति क्रीडतो मृगान् प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः । रञ्जयति कृष्णमिति अनुरक्तं करोति सुखयतीत्यर्थः । एबमिवि एवमन्येऽपिण्यन्तप्रयोगा ज्ञेया इति शेषः ॥४४०

बाल॰—हन्ते । नृसिंहे परे हन हिंसागत्योः इत्यस्य अन्तस्तो भवति ॥४४१॥

॥ इति ण्यन्तप्रक्रिया ॥

अथ सन्नन्तः ।

४४२. सन् क्रियेच्छायाम् ।

४४३. अद्वयग्रहगुहेभ्यो नेट् सनि ।

ईशसमीपाद्विष्णुजनादनिट् सन् कपिलः, ईशाच्च । मृजेर्नेति केचित् । उद्वयग्रहणं रुस्वनादीनां ग्रहणार्थम् । भवितुमिच्छति—बुभूषति । बुभूष्यते; बुभूषाञ्चकार ।

अमृता०—४४२. सन्निति । क्रियाया इच्छा क्रियेच्छा । क्रियाशब्दस्य कर्त्तृसापेक्षत्वात् कर्त्तुर्या क्रिया, इच्छतेः कर्मभूताया स्तस्या हीच्छायां गम्यमानायां धातो रुत्तरे सन् प्रत्ययो भवति । क्रियया समान कर्त्तृत्वं यस्याः कर्मत्वञ्च धातोरर्थ द्वारकमिह वोध्यम् । अन्यथा अन्यस्य गमन मिच्छति, गमनेन इच्छतीत्यादावातव्यप्तिः स्यात् । अत्र केचित् सनो विकल्पविधानेन पक्षे वाक्यमपि विदधति, तत्तु नावश्यकं मन्ये । इच्छार्थे सनो वाक्यं खलु तुमन्तं विना प्रकाशासम्भवाद् नित्यमेव तुमपेक्षि । ततइच्छार्थधातुयोगे हि तुमश्वविधान सामर्थ्यादिहैव तद्विधानचरितार्थता । अन्यथा तद्विधानस्य व्यर्थत्वमापदयेत । तस्मात् तुमन्तवाक्यस्य स्वतएवानिवार्य-तया सर्वत्र प्रवृत्तेः सनो वाक्यप्रसङ्गे तस्य स्थित्यनुमति दानं व्यर्थमिति विमृश्य ग्रन्थकृता तदुपेक्षितमिति दिक् ।

अमृता०—४४३. उद्वयेति । सनि परे उद्वयान्तात् ग्रहगुहाभ्याश्चोत्तरे इट् न स्यात् । सनो रामधातुकत्वेन तस्मिन् परे धातोरिडागमे प्राप्ते एभ्यः प्रतिषिध्यते तत् । दीर्घोरामान्तानां, रुस्नु प्रभृतीनां, ग्रहेश्व नित्यं प्रासे तथा गुह ऊदित्त्वेन विकल्पे प्राप्ते नियमोऽयम् । बुभूषतीति—धातोर्द्विर्वचने सनादङन्ताश्व धातव इति बुभूष धातोरुत्तरे तिप् शवादिः अनिट् सनः कपिलत्वाद धातोर्न गोविन्दः । बुभूष्यत इति—अरामहरो रामधातुके । बुभूषाञ्चकारेति—अनेकसर्वेश्वरत्वादाम्, कृञोऽनुप्रयोगश्व । क्रिययैक कर्त्तृत्वमुप-पादयितु हेतुमुपन्यस्यति—मुख्यत्वादिति । तस्यैव कर्त्तुः क्रिया तस्यैत्र कर्त्तुरिच्छायां सत्यां सन् प्रत्ययइष्टः; क्रियेच्छयोरेकाधिकरणमेव क्रियेच्छाशब्देन लक्षयतीति तात्पर्यम् । तस्मात् समान कर्त्तृत्वाभावेन अन्यस्य भवनमिच्छतीत्यत्र न सन्, किन्त तत्रक्यन् स्यादिति वक्ष्यते । विदधे ते एवतत्र क्रिया चेच्छा च, किन्तु भिन्नाधिकरणासा सा च, क्रिया (भवनरूपा) एकस्य, इच्छा त्वन्यस्येति । भूधातोरर्थद्वारेणेच्छाया असत्त्वान्नेह समानकर्त्तृत्वमिति भावः । क्रियाया इच्छेति कर्मणि षष्ठी ।

अथ सन्नन्तः

बाल०—क्रियेच्छायां गम्यमानायां धातोरुत्तरे सन् भवति । क्रिया सत्तादिलक्षणो धात्वर्थः ॥ ४४२ ॥

बाल०—उद्वय । सनि परे उद्वयान्तात् ग्रह-गुहाभ्याञ्च उत्तरे इट् न भवति । मृजेरनिट् सन् कपिलो न भवतीति केचित् । वदन्तीत शेषः । उद्वयग्रहणमिति ।

मुख्यत्वाद् यस्यैव क्रिया तस्यैवेच्छा गम्यते; तेनान्यस्य भवनमिच्छती-त्यर्थे नस्यात्। क्रियाया इच्छा क्रियेच्छा नतु क्रिययेच्छेति। इच्छायाः कर्मान्तरसापेक्षत्वं स्यात्। गमनेनेच्छतीत्यत्र च न भवेत्।

४४४. उपासनेऽपि श्रुवः।

अर्थान्तरं व्यावर्त्तयति—नतुक्रिययेच्छेति। क्रियया इच्छेति विग्रहे तु इच्छायाः सकर्मकत्वात् कर्मान्तरापेक्षा स्यात्, तर्हि क्रियाया इषिकर्मत्वं नोपपद्यत इति सनोऽविषयत्वेने लक्षणासम्भवः स्यादित्याशयः। गमनेच्छतीत्यत्र समान कर्त्तृत्वमस्त्येव, यएवेच्छतेः कर्त्ता सएव गमनस्य। स च स्वीय करणभावभूतेन गमनेन किमपि वस्तु इच्छतीति कर्मान्तरसापक्षत्वं तस्या नतु धात्वर्थकर्मकत्वम्; तत्तु कर्मत्वं नहि गमेरर्थद्वारकमिति सनोऽनवकाश इतिदिक्।

अमृता०—४४४. उपासन इति। उपासनेऽथ अपिकारेण क्रियेच्छायाश्च श्रुश्रवने धायोः सन् प्रत्ययो भवति। शुश्रूषत इति—उद्वयग्रहगुहेभ्य इति नेट्, ईशाच्चेति सनः कपिलत्वम्, ईशान्त-हन्त्योर्गियि त्रिविक्रमः। प्रत्याङ् पूर्वं वर्जयित्वा श्रुव आत्मपदं सन इति वक्ष्यते। एवं कृष्ण लीलां शुश्रूषते परीक्षिदिति क्रियेच्छयाञ्च। पूर्वधातुवत् सनः पर पदादिक मिति प्रागुक्तम्। शुश्रूषत इत्यस्यतु विशेषलक्षणेनात्मपद विधानान्नासिद्धपदत्वदोषः प्रकल्प्यः।

ननु इच्छा तावत् सचेतनस्य हि सम्भवेन्नखल्वचेतनस्य, ततः कथं-गङ्गाकूलंपिपतिषतीत्यादि प्रयोगः सिध्येदिति चेत्तत्राह उपचारादिति। अचेतने कूले सचेतनत्वमुपचर्य्य सन् क्रियत इत्यर्थः। ननु च मर्कटोऽयं मुमूर्षतीति कथं प्रयुज्यते, मरणस्य केनाप्यनिष्टत्वादिति चेत्? सत्यम्; "आशङ्कायामुपसंख्यानमिति" तथा "आशङ्कायांसन् वक्तव्यः" इतिवार्त्तिकञ्च। आशङ्का सम्भावना,सा च प्रयोक्तृधर्मः। अत्र सत्यपिसचेतनत्वे जीवनस्य

उरामेति। कृतेऽपि बुभूषतीति सिद्धयति तथाप्युद्वयग्रहणं रुस्वादीनां रु शब्दे, स्नु प्रस्रवणे इत्यादीनां ग्रहणार्थं कृतमिति शेषः। भवतुमिच्छतीति भवनमिच्छतीत्युक्तेऽपि सन् भवतीति ज्ञेयम् बुभूषाञ्चकारेति अनेकस्वरेष्वरवादाम् मुख्यार्थत्वात् क्रियेच्छाशब्दस्यायमेव मुख्यार्थ इति हेतोर्यस्यैव क्रिया तस्यैवेच्छा गम्यते इति। तेन तस्यैव क्रिया तस्यैवेच्छा इति हेतुना अन्यस्य भवनमित्यादौ न स्यात्। क्रियया इति कर्म्मणि षष्ठी अतः कर्म्मान्तरनिरपेक्षत्वम्। न तु क्रियया इच्छेतीति तथा सति इच्छायाः कर्म्मान्तरसापेक्षत्वं स्यादिति। क्रियया इच्छति विग्रहाभावात् गमनेनेच्छतीत्यादि॥ ४४३॥

बाल०—उपा। उपासनेऽर्थेऽपि श्रुव उत्तरे सन् भवति। अपिशब्दात् क्रियेच्छायामपि भवतीति ज्ञेयम्। हरिं शुश्रूषते इति उपासते इत्यर्थः। शुश्रूषत इति 'ईशान्ते' त्यादिना त्रिविक्रमो वक्ष्यते। असिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञासिद्धयर्थं त्रिविक्रमम् आत्मपदञ्च वक्ष्यत इति वक्तुमुचितमिति ज्ञेयम्। जिजागरिषतीति'नरारामस्येरामः सनी'

हरिं शुश्रूषते । त्रिविक्रम आत्मपदश्च वक्ष्यते । उद्वयेति किम्—जिजागरिषति । गङ्गाकूलं पिपतिषतीत्याद्युपचारात् ।

४४५. दीङ आ वा सनि ।

दिदासते दिदीषते ।

४४६. ईशान्त-हन्त्योरिङादेशगमेश्च त्रिविक्रमः सनि ।

ओष्ठ्योद्धवस्येत्युर्, ततोद्विर्वचनम् । अत्र म्रियतेः शिवाभावेन परपदित्वे सन्नन्तस्यापि परपदित्वम्— मुमूर्षति । जुहूषति । स्वरतीत्यादि—सिस्वरिषति सुस्वूर्षति ।

प्रियत्वात् मर्कटस्य मत्तुमिच्छा न सम्भवेत्, अतः—अहमाशङ्के मर्कटोऽयं मरिष्यतीत्यर्थे हि प्रयोग एव वेदितव्य इति समञ्जसम् ।

अमृता०—४४५. दीङ इति । सनि परे दीङ् क्षये इत्यस्यान्त आरामो वास्यात् । ईशाच्चेति सनः कपिलत्वेन चतुर्व्यूहविधेर्विरहात् दीङ आत्वस्याप्राप्ते विभाषेयम् । पूर्वधातुवत् सनः परपदादिकमिति सन्नन्तेऽपि दीङ आत्मपदम् । इहपाणिनीयास्तु दीङ आत्वं नेच्छन्ति, तन्मते, दिदीषत इत्येव । कालापाः पुनर्नित्यमात्वमिच्छन्तीति तन्मते दिदासत इत्येव । अतोऽस्मद्ग्रन्थकृता विकल्पेनात्वं विहितमित्यवधीयते ।

अमृता०—४४६. ईशान्तेति । सनिपरे इशान्तधातो र्हन धातो स्तथा इङादिष्टस्य गमेश्व त्रिविक्रमो भवति । तत्रेशान्तानामन्तस्य हनगम्योस्तूद्धवस्य त्रिविक्रमो ज्ञेयः । इङादेशेति किम्—इहतु मा भूत् सञ्जिगंसते वत्सो मात्रा, मिलितुमिच्छतीत्तर्थः । इङश्वेत्यनेन इङो गम्यादेशो वक्ष्यते । मृङधातोरीशान्तत्वेन त्रिविक्रमतत ओष्ठ्योद्धवस्येति ऋरामस्य उरादेशे दीर्घे च कृते पश्चाद् द्विर्वचनमिति क्रमः । आदौ कृते तु द्विर्वचने नरऋरामस्यारामः स्यादिति त्वनिष्टम् । अत्रम्रियत इति—म्रियतेः शिवभूतेश कामपालेभ्योऽन्यत्र परपद विधानात् सनोऽपि शिवत्वाभावेन तस्येह परपदित्वं सिद्धमेवेत्यर्थः ।

त्यनेन इरामः । उपचारादिति अचेतनस्य कूलस्य सचेतनत्वोपचारः इच्छाया सचेतनधर्म्मत्वात् ॥ ४४४ ॥

बाल०—दीङ । सनि परे दीङ् क्षये इत्यस्यान्त आ वा भवति । कालापा सन्याद्विधानं कुर्व्वन्ति, न तु पाणिनीया अत उभयमतदर्शनात् । ग्रन्थकारो विकल्पं कृतवानिति ज्ञेयम् । दिदासत इति पूर्व्वधातुवत् सनः परपदादीति आत्मपदम् ॥ ४४५ ॥

बाल०—ईशा । सनि परे ईशान्तस्य धातोर्हनधातोरिङादेशगमेश्च त्रिविक्रमो भवति । इङादेशगमिर्व्वक्ष्यते । ओष्ठ्येति त्रिविक्रमे कृते ऋत उर् । अत्रेति म्रियते परपदं शिवभूतेशकामपालेभ्योऽन्यत्राप्युक्तम् । अत आह—शिवाभावेन परपदित्वमिति । तस्मिन् सति सन्नन्तस्यापि परपदित्वमिति पूर्व्वधातुवत् सनः परपदादित्युक्तत्वात् । मुमूर्षतीति मर्त्तुमिच्छतीत्यर्थः । जुहूषतीति होतुमिच्छतीत्यर्थः । सुस्वूर्षतीति त्रिविक्रमे कृते ऋत

अदो घस्लृ, सस्य तः, अत्तुमिच्छति—जिघत्सति। वृतु वर्त्तने। वर्त्तितुमिच्छति–विवृत्सति, आत्मपदे तु विवर्त्तिषते।

४४७. ऋराम वृभ्य इड् वा सनि।

ऋरामस्येर्, तरितुमिच्छति—तितीर्षति तितरीषति तितरिषति। चिचीषति; चेः किर्वा चिकीषति। ओष्ठ्योद्धवस्येत्युर् वुवूर्षति विवरीषति विवरिषति। जेर्गिः–जिगीषति। जिघांसति।

४४८. इणो गमिरबोधने सनि।

४४९. इङश्च।

जिगमिषति। बोधने तु–सर्वेश्वरादित्वे त्वित्यादि, तत्र सन्यङोस्तु तत्-

---

जुहूषतीति होतुमिच्छतीत्यर्थः। सुस्वूर्षतीति—स्वृशब्दोपतापयोः, मुमूर्षतीतिवत्। स्वरति-सूतीत्यादिना वेट्त्वादिट्पक्षे सिस्वरिषति। नन्वत्र त्रिविक्रमविधानसामर्थ्यादेव गोविन्द बाधः कथं नस्यादिति चेत्? मैवं, त्रिविक्रमे कृते न कृते वा गोविन्दविधेरवश्यम्भावित्वेन नित्यत्वात् प्रथममेव गोविन्दः प्रवर्त्तते, ततस्तु न विक्रम प्राप्तिरिति। किञ्च अनिट् सन् एव कपिलत्वविधानात् सनि तदभावेऽपि यदि गोविन्दावकाशो न लभ्यते तर्हि-"अनिट् सन् कपिल" इत्यस्य तु व्यावृत्तिविषयाभावेन निर्हेतुकत्वापत्तिः स्यादिति ध्येयम्। विवृत्सतीति—वृतादिभ्य इत्यादिना परपदं वा, वृतुवृधु इत्यादिना इट्निषेधः। आत्मपदाभावे हीटोनिषेधात्तत्र त्विट् भवेदेव।

अमृता०—४४७. ऋरामेति। सनिपरे दीर्घ ऋरामान्ताद्, वृङ संभक्तौ वृञ वरणे इत्येताभ्याञ्चोत्तरे इड् वा स्यात्। एषां नित्यं प्राप्ते विभाषोक्तिः। तितरीषतीत्यादि द्वये ऋरामवृभ्य इतीटस्त्रिविक्रमविकल्पता। वुवूर्षतीति—वृञ्वरणे इत्यस्य इडभावपक्षे रूपम्। जिघांसतीति-नराद्धन्तेरिति हस्य घः, ईशान्त-हन्त्योरिति त्रिविक्रमः।

अमृता०—४४८. इण इति। स्फुटार्थम्। अबोधनार्थस्य गत्यर्थस्येत्यर्थः। इरामइत्।

अमृता०—४४९. इङश्चेति। सनि परे इङ अध्ययने इत्यस्य च स्थाने गम्यादेशो

उर्। विवृत्सतीति "वृतादिभ्यः परपदं वा स्यसनोरि" त्यनेने परपदम्। 'वृतु, वृधु, शृधु, स्यन्दूभ्यो नेट् सरामे आत्मपदाभाव' इत्यनेन इड् निषेधः॥ ४४६॥

बाल०—ऋराम। सनि परे ऋरामान्तात् वृङ सम्भक्तौ, वृङ वरणे इत्येताभ्याञ्चोत्तरे इड्वा भवति। तितरीषतीति 'ऋरामवृभ्य' इत्यादिना इटस्त्रिविक्रमो विकल्पः। चिकीर्षतीति चिञ् चयने 'चेः कीर्व्वेति' चेः किः चेतुमिच्छति इत्यर्थः। वुवूर्षतीति वृञ् वरणे त्रिविक्रमे कृते उर् ततो द्विर्व्वचनं विवरीषतीति पूर्व्ववत्। जिघांसतीति 'नराद्धन्तेर्हस्य घ' इत्यनेन हस्य घ 'ईशान्त-हन्त्यो' रित्यादिना त्रिविक्रमः॥ ४४७॥

बाल—इनो। सनि परे अबोधनेऽर्थे वर्त्तमानस्य इण् गताविरयस्य स्थाने गमिर्भवति। इराम इत्॥ ४४८॥

सम्बन्धिनः सर्वेश्वरस्यचेति द्विर्वचनम्––प्रतीषिषति। एवमिकोऽपि। इटोऽपि तत्सम्बन्धि सर्वेश्वरत्वात् उन्दिदिषति। उब्ज आर्जवे–उब्जिजिषति इत्यादि।

४५०. ईर्ष्यो यिः सन् वा द्विरिति चान्द्रसूत्रम्।

ईर्ष्यियिषति ईर्ष्यिषिषति। इङ्–आत्मपदविषयत्वाद् गमेरिट् न––अधिजिगांसते। क्रु-लाक्षणिक ऋरामत्वान्न वेट् चिकीर्षति।

भवति। जिगमिषतीति—नरारामस्येरामः, एतुमिच्छतीत्यर्थः। बोधनेतुप्रतीषिषतीति—सन्सम्बन्ध्यरामसहितस्य सरामस्य द्विर्वचनं, ततोनरारामस्येरामः। एवमिकोऽपीति—अधिजिगमिषति, अधीषिषति। इटश्चेति—टिदागमः परसम्बन्धीति परिभाषातः पूर्वस्थस्यापीटः सन् सम्बन्धिसर्वेश्वरत्वम्; तत उन्दी क्लेदने इत्यस्य द्विर्वचने तत्सम्बन्धिनः सर्वेश्वरस्य चेति इरामसहित दरामस्य द्विर्वचनम्। एवं उब्ज अड्ड अर्च प्रभृतीनाञ्च।

अमृता०—४५०. ईर्ष्य इति। ईर्ष्य ईर्ष्यायामित्यस्य यिः द्वि र्वा भवति, पक्षे सन् च स्यादिति चान्द्राः सूत्रयन्ति। ईर्ष्यियिषतीति—सनि इडागमे इरामसहित यरामस्य द्विर्वचनम्। पक्षे अरामसहित सनो द्वित्वे नरारामस्येरामः; उभयत्र ईश्वरात् षत्वम्। आत्मपद विषयत्वादिति—गमेरिट् सरामादि रामधातुके नात्मपद इति लक्षणेनात्मपदे नेट्, ईशान्त हन्त्योरिति त्रिविक्रमः।

ननु वामनान्त कृधातो रीशान्तहन्त्योरिति त्रिविक्रमे कृते ऋरामवृभ्य इड् वा सनीति कथं नप्रवर्त्तते? तत्राह—लाक्षणिक ऋरामत्वादिति। ननु च तर्हि प्रोक्त लक्षणेनं सञ्जातदीर्घाणां कृमृ प्रभृतीनामिरुरौ कथं विधीयेते, तेषामपि लाक्षणिकदीर्घत्वादिति चेत्? उच्यतेऽवधीयताम्—धातुप्रत्ययागमानां हि सिद्धोपदेशत्वमुररीकृतं नत्वादेशस्य। ततः सिद्धोपदेशानामुत्पत्तिनिमित्तञ्चौपदेशिकमेव भवितुमर्हति नतु लाक्षणिकम्। तस्मादिडागमस्योत्पत्ति निमित्तं दीर्घ ऋरामोऽपि स्वाभाविक एव मन्तव्यः। इरुरौ तु विरिञ्ची, तेन सिद्धोपदेशत्वाभात्तयो र्निमित्तस्य लाक्षणिकत्वेनावसीयत इति धीः।

बाल०—इङश्च। इङ् अध्ययने इत्यस्य स्थाने गमिर्भवति। जिगमिषतीति एतुमिच्छतीत्यर्थः। द्विर्वचनमिति अरामसहितसरामस्येति शेषः। ननु सन्-यङोस्तु द्विर्वचनं सत्यं ब्रवीषि तर्ह्यत्र कस्य वा द्विर्वचनं कस्य वा परनिमित्तत्वं सम्भावनीयमिति, चेत् केनाप्युच्यते तदैवं वाच्यम् 'अत्राद्यन्तवदेकस्मिन्नि'ति न्यायेन सनः सरामस्य द्विर्वचनं परनिमित्तत्वञ्चेति। प्रतिषिषतीति 'नरारामस्येरामः सनी'ति अरामस्येरामः। एवमिकोऽपीति यत उक्तम् इण्वदिक् इति। इटश्चेति पूर्ववर्त्तिनोऽपि इटः सन् सम्बन्धित्वमस्त्येवेति। उन्दिदिषतीति उन्दी क्लेदने ॥४४९॥

बाल०—ईर्ष्यो। ईर्ष्य ईर्षायाम् इत्यस्य यिः द्विर्वा भवति। पक्षे सन् द्विर्भवति इति सूत्रार्थः। ईर्षिषिषतीति सारामसरामस्य द्विर्वचनम्। गमेरिट् नेति गमेरिट्

४५१. रुद वेत्ति मुष ग्रहि स्वपि प्रच्छः क्त्वा-सनौ कपिलौ ।

ग्रहि ज्या, आदौ हरिघोषत्वम्—जिघृक्षति ।

४५२. यवर्वाजत विष्णुजनान्ताच्चतुः सनोद्भवाद्विष्णुजनादेः सेट् क्त्वासनौ कपिलौ वा ।

दिद्युतिषते दिद्योतिषते । परत्वात् चुकुटिषति, चुकोटिषति इत्यपि । यवान्तात्-क्नूयी चुक्नोयिषते, दिवु दिदेविषति । विष्णुजनादेः किम्—

अमृता०—४५१. रुदेति । रुदिर् अश्रुविमोचने, विद ज्ञाने, मुष स्तेये, ग्रह उपादाने ञिश्वप् शये, प्रच्छ ज्ञीप्सायामित्येतेभ्य उत्तरौ क्त्वा सनौ कपिलौ भवतः । रुदविद मुषामग्रिमसूत्रेण विकल्पेन कपिलत्वे प्राप्ते नित्यतार्थमिह ग्रहणम् । ग्रहादीनान्तु सङ्कर्षणार्थम् । जिघृक्षतीति—उद्वयग्रहगुहेभ्य इति नेट्, सङ्कर्षणः, हस्य ढः, आदौ हरिघोषत्वम्, षढोः कःसे, षत्वम् । स्वपेः—सुषुप्सति । प्रच्छेरिट् वक्ष्यते—पिपृच्छिषति ।

अमृता०—४५२. यत्रेति । चतुःसनोद्भवात् यवर्वाजतविष्णुजनान्ताद् विष्णुजनादे र्धातोः परौ सेटौ क्त्वासनौ त्रिभाषया कपिलौ भवतः । पूर्वमीशसमीपादित्यादिना अनिट् सनोनित्यं कपिलत्वं विहितम्, इह तु सेट् सनो वा । दिद्युतिषत इति—द्यु ति-स्वाप्योरिति नरस्य सङ्कर्षणः । ननु कुटादेरनृसिंहो निर्गुण इत्यनेन सनि कुटादे नित्यमेव गोविन्द निषेध उचित इति चेत्तत्राह—परत्वादिति । वैकल्पिक कपिल विधानस्य परत्वात् कपिलत्वाभावपक्षे निर्गुणं वाधित्वा भवत्येव गोविन्दः, परविधे वलवत्त्वादित्याशयः ।

प्रत्युदाहरति—यवान्तात्विति । किञ्च चतुःसनोद्भवादिति किम्—विवर्त्तिषते । सेडित्येव, अनिट् सन् तु नित्यं कपिलः, यथा—वुभुक्षते । टुओ श्वि गतिवृद्धचो रित्यस्य 'सन्नङ्परे णौ चेति लक्षणेन विहितं सङ्कर्षण-विकल्पत्वं सन् परे णौ दर्शयति—शुशा-

---

सरामादिरामधातुके नात्मपदे इति लक्षणात् । अधिजिगांसत इति 'ईशान्तहन्त्यो'रित्यादिना त्रिविक्रमः । लाक्षणिकेति अन्यथा 'ऋरामवृभ्य इड् वा सनी'त्यनेन इड् वा स्यात् ॥४५०॥

बाल०—रुद । रुदिर् अश्रुविमोचने, विद ज्ञाने इत्येताभ्यां मुषधातोः ग्रह उपादाने ञिष्वप् शये, प्रछ ज्ञीप्सायाम् इत्येतेभ्यश्च परौ क्वासनौ कपिलौ भवतः । मुषेति मुष स्तेये क्र्यादिर्द्वयोरपि ग्रहणम् । रुदवेत्तिमुषाणां सेट्त्वात् ईशसमीपादित्यादिना सनः कपिलत्वं न भवतीति अनेन विहितम् । जिघृक्षतीति कपिलत्वाद् गोविन्दाभावश्च ॥४५१॥

बाल०—यव । विष्णुजनादेर्यवर्वाजतविष्णुजनान्ताच्चतुःसनोद्भवाद्धातोः परौ सेट् क्त्वासमौ कपिलौ वा भवतः । दिद्युतिषत इति द्युतिष्वाप्योर्नरस्य सङ्कर्षण' इति सङ्कर्षणः । मनु कुटादेरनृसिंहो निर्गुण इति कृतं, तर्हि चुकोटिषतीति भवतीति चेत्तत्राह—परत्वादिति । पाक्षिक—कपिलविधानस्य परत्वात् कपिलविधानाभावपक्षे न निर्गुणविधानमतो गोविन्दो भवत्येव । क्नूयीति क्नूयीशब्दे । दिविति । दिवु क्रीडादौ । इष्विति ।

इषु एषिषिषति । श्वेःसङ्कर्षणो वेत्यादि शुशावयिषति शिश्वाययिषति ।

४५३. ऋपूञ् स्मि अनूजू अशू कॄ गॄ दृङ् धृङ् प्रच्छ इत्येतेभ्य इट्सनि ।

ऋगतौ प्रापणे च, ऋसृ गतौ—अरिरिषति । चिकरिषति, जिगरिषतीत्यनयोरिटस्त्रिविक्रमत्वं नेष्टम् । क्रादयस्तौदादिकाएव, प्रच्छ साहचर्यात् । अन्येषान्तु—चिकीर्षतीत्यादि । कॄञ् हिंसायामिति क्र्यादावस्ति ।

वयिषतीति । सङ्कर्षणे वृष्णीन्द्रे सन्धौ च कृते पश्चात् स्थानिवत्त्वात् शो द्विर्वचनम्, नरविष्णुजनानामादिः शिष्टः ।

अमृता०—४५३. ऋ पूञिति । सनि परे ऋधातो स्तथा पूञ् पवने, स्मिङ् ईषद्धसने अनूजू मक्षणे, अशूङ् व्याप्तौ, कृविक्षेपे, गॄ निगरणे, दृङ् आदरे, धृङ् अवस्थाने, प्रच्छ ज्ञीप्सायामित्येतेभ्यश्चोत्तरे इडागमो भवति । ऋ स्मिङ् दृङ् धृङामेकसर्वेश्वरान्तत्वादप्राप्ते, पूञ उद्वय ग्रहेत्यादिना निषेधे प्राप्ते, अनूजू-अशूङो विकल्पे प्राप्ते कॄगॄ इत्यनयोः ऋॄरामवृभ्य इति विकल्पे प्राप्ते, तथा प्रच्छे रप्राप्ते विधानम् ।

अरिरिषतीति—गोविन्दः, इटः सन् सम्वन्धि सर्वेश्वरत्वात् तत् सहित ररामस्य द्विर्वचनम् । इट स्त्रिविक्रमत्वं नेष्टं भाष्यकारादिभिरिति शेषः । ऋॄराम वृभ्य इति लक्षणेन विभाषया यः त्रिविक्रमो विहितः स नेष्यत इत्यर्थः । अन्येषामिति—तुदादि भिन्नानामिट् नेत्यर्थः । तेन गॄ शब्दे क्र्यादिः—जिगीर्षति, जिगरिषति । धृङ् अववन्धने भ्वादिः—दिधीर्षति । अशूङ् इति सानुवन्धनिर्देशाद् अश भोजने इत्यस्य निरासः ।

इषु इच्छायाम् । अषिषिषतीति साराससरामस्य द्विर्वचनम् । चतुःसनोद्धवादिति किं वर्त्तित्वा विवर्त्तिषते । शुशावयिषतीति स्थानिवत्त्वात् शौर्द्विर्वनम् ॥४५२॥

बाल०—ऋपूङ् । सनि परे ऋधातोः, पूङ पवने, स्मिङ् ईषद्धसने, अनूजू मक्षणादिषु, अशूङ् व्याप्तौ, कॄ विक्षेपे, गृ निगरणे, दृङ आदरे, धृङ् अवस्थाने, प्रछ ज्ञीप्सायाम् इत्येतेभ्यश्चोत्तरे इट् भवति । ऋ स्मि दृङ् धृङाम् एक सर्वेश्वरत्वादप्राप्ते पूङः 'उद्वये' त्यादिना निषेधे प्राप्ते अनूजू अशू इत्येवयोरूदित्वाद्विकल्पे प्राप्ते कॄ गॄ इत्येतयोः 'ऋॄरामवृभ्य इड्वा सनीत्यनेन विकल्पे प्राप्ते प्रच्छः शकादित्वादप्राप्ते विधानम् । अरिरिषतीति इट सन्सम्बन्धिसर्वेश्वरत्वात्तत्सहितररामस्य द्विर्वचनम् । नेष्टमिति पूर्वाचार्यैरिति शेषः । अन्यथा 'ऋॄरामभ्य' इत्यादिना पाक्षिकत्रिविक्रमः स्तात् । क्र्यादय इति चत्वार इत्यर्थः । तौदादिका एवेति गृह्यते इति शेषः । हेतुमाह—प्रच्छेति । अन्येषामीति तौदादिकानामित्यर्थः । तत्र कृधातोरतौदादिकत्वमाह—कॄञ् हिंसायामितीति । गॄ शब्दे इत्यपि क्र्यादावस्ति दृङधृङोस्तु अतौदादिकत्वं न प्रसिद्धमिति ज्ञेयम् ॥४५३॥

४५४. इवन्त ऋध भ्रस्ज दन्भु श्रि ऊर्णू यौति भरति ज्ञपि सनि तनि पति दरिद्राभ्य इड्वा सनि ।

ज्ञपि श्चौरादिको हेतुण्यन्तश्च । दिवु—छस्य श इत्यादि, द्विर्वचन निमित्त सर्वेश्वर इत्युक्तत्वादूठि यत्वे च कृते द्विर्वचनं नतु स्थानिवत्—दुद्यूषति दिदेविषति । भ्रस्ज—विभ्रज्जिषति विभ्रक्षति । श्रि-ईशान्तहन्त्योरिति शिश्रीषति, गोविन्दस्य नित्यत्वात् शिश्रयिषति । तितनिषति ।

अमृता०—४५४. इवन्तेति । सनि परे इवन्ता दिव् सिव् प्रभृतय स्तेभ्य स्तथाऋधु वृद्धौ, भ्रस्ज पाके, दन्भु दम्भे, श्रिञ् सेवायां, ऊर्णूञ् आच्छादने, युमिश्रणामिश्रणयो, भृञ् भरणे भ्वादिः, ज्ञपि श्चुरादिर्ण्यन्तश्च, षणु दाने तनादिः, षण संभक्तौ भ्वादिः, तनु विस्तारे, पतॢ गतौ, दरिद्रा दुर्गतौ इत्येतेभ्यश्चोत्तरे इड्वा स्यात् ।

यौति भरतीत्यनयो स्तिपा निर्देशात् युञ् वन्धने क्र्यादि स्तथा डुभृञ् जुहोत्यादिश्च वारितौ । ऊठि यत्वे च कृते द्विर्वचनमिति—दिवु धातोः प्रथममेवं द्विर्वचने कृते तु दिद्यूषतीत्येव—मनिष्टरूपं सिध्येतेत्यभिप्रायः । स्थानिवत्त्वन्तु न स्यात्, तत्र द्विर्वचन निमित्तस्य सनः सर्वेश्वरत्वाभावादिति वीजम् । इवन्तत्वेन विकल्पितेट्त्वादिट् पक्षे तु दिदेविषतीति । नेट् सनः कपिलत्वविरहादत्र गोविन्दः । विभ्रज्जिषतीति सस्य जो जे । विभ्रक्षतीति—जविधानसूत्रे तत्रैव—'नतु वैष्णवे' इति निषेधानान्नहि सस्य जः, किन्तु छशोरित्यादिना जस्य षः, षढोः कः से इति षस्य कः, ततः स्कोरिति धातोः सरामहरः । नित्यत्वादिति—त्रिविक्रमे कृतेऽपि नकृतेऽपि गोविन्दो भवेदेवेति तस्य नित्यत्वेन हि त्रिविक्रमो वाध्यत इति भावः ।

बाल०—इवन्त । सनि परे इवन्ता दिव-सिव प्रभृतयस्तेभ्यः ऋधु वृद्धौ, भ्रस्ज पाके, दन्भु दम्भे, श्रिञ् सेवायाम्, ऊर्णुञ् आच्छादने, यु मिश्रणामिश्रणयोः, भृञ् भरणे इत्येतेभ्यः ज्ञपेः सनधातोः तनु विस्तारे, पतॢ गतौ, दरिद्रा दुर्गतौ इत्येतेभ्यश्च उत्तरे इड् वा भवति । यौतीति निर्देशो युञ् बन्धने इत्यस्य क्र्यादे र्निरासार्थः । भरतीति निर्देशात् डुभृञ् धारणपोषणयोरित्यस्य जुहोत्यादे र्न ग्रहणम् । सनीति सनु दाने तनादिः, स्वन सम्भक्तौ भ्वादि र्द्वयोरेव ग्रहणम् । चौरादिक इति ज्ञप मारणादौ चुरादिः अस्य घटादित्वमप्यस्तीत्यग्रे वक्षते । हेतुण्यन्तश्चेति प्रयोजकण्यन्तज्ञाधातुरित्यर्थः । मारणादिषु तस्य घटादित्वात् ज्ञपीति सिद्धम् । द्विर्वचनमिति तु सर्वेश्वर इत्युक्तत्वादिति स्थानिवत्त्वाभावे हेतुः । अत्र द्विर्वचननिमित्तस्य सर्वेश्वरता नास्ति । विभ्रज्जिषतीति 'सस्य जो जे, न तु वैष्णवे' इत्यनेन सस्य जः । शिश्रयिषतीत्यत्र 'ईशान्ते'त्यादिना त्रिविक्रमः कस्मान्न भवतीत्याशङ्क्य समादधाति गोविन्दस्येति । त्रिविक्रमे कृते न कृतेऽपि गोविन्दो भवतीति गोविन्दस्य नित्यत्वम् । अतस्त्रिविक्रमाभावः । ननु किमर्थमिदमुच्यते । अत्र सनः परतैव नास्ति, इटा व्यवधानात् । उच्यते सनो वैष्णवादीति विशेषणाभावात् त्रिविक्रमः स्यादत उक्तं गोविन्दस्य नित्यत्वादिति ।।४५४।।

४५५. तनोते रुद्धवस्य त्रिविक्रमो वैष्णवादि सनि वा ।

तितांसति तितंसति ।

४५६. दम्भो धीप्स धिप्सौ, ऋध ईर्त्सः, ज्ञपे ज्ञीप्सः, आप ईप्सः, मीनाति मिनोति मानां मित्सः, दामोदराणां दित्स धित्सौ, रभ लभो रिप्स लिप्सौ, शकः शिक्षङ्, राधो रित्सो हिंसायाम्, पत् पदोः पित्सः, मुचोऽकर्मकत्वे मोक्षङ् मुमुक्षङावनिट् सना सह ।

दिदम्भिषति, धिप्सति धीप्सति । अर्दिदिषति ईर्त्सति । ज्ञपेश्चुरादित्वं घटादित्वञ्च—जिज्ञपयिषति ज्ञीप्सति । ईप्सति । डुमिञ् मिञ् मित्सति मित्सते । मा-मित्सति । माङ् मेङ्—मित्सते । ङित्त्वात् शिक्षते इत्यादि ।

अमृता०—४५५. तनोतेरिति । वैष्णवादौ सनि, अर्थादनिट् सनि परे तनोते रुद्धवस्य त्रिविक्रमो वा स्यात् । तितांसतीतिद्वये अविष्णु पदान्तस्य नस्य विष्णुचक्रम् ।

अमृता०—४५६. दम्भ इति । सर्वत्र अनिट् सना सहेति सम्बन्धः । तत्र दम्भे र्नरादशनं, प्रथमस्वर स्थले तृतीय चतुर्थ स्वरत्वञ्च निपात फलम् । ऋध ज्ञपि आपां चतुर्थ स्वरत्वं ज्ञपेर्नरादर्शनञ्च । आपः सहजानिट्सु पाठादिह निपातार्थं ग्रहणं ज्ञेयम् । मीनाति प्रभृतीनां मरामस्य तरामः, अन्त्य सर्वेश्वरलोपश्च निपातफलम् । दामोदरस्य तु केवलमन्त्यसर्वेश्वरलोपः । शकइति—शकमर्षणे दिवादिः, शक्लृ स्वादिः द्वयोर्ग्रहणम्; अत्रात्मपदं निपातात् जिज्ञासायामेव । शकः सनन्तात् पृच्छायामिति वक्ष्यमाणात् । धातो रौपदेशिकार्थस्येच्छायान्तु परपदश्च भवति, पूर्वधातुवत् सनः परपदादिरिति रीत्यनुसारतः । यथा—शिक्षतीति काशिका, शिक्षति शिक्षत इति कालापादयश्च । मोक्षतइति—अत्र नरस्य गोविन्द आत्मपदञ्च निपातफलम् ।

बाल०—तनो । वैष्णवादि सनि परे तनोतेरुद्धवस्य त्रिविक्रमो वा भवति । तितांसतीति 'अविष्णुपदान्तस्ये'त्यादिना नस्य विष्णुचक्रम् ।।४५५।।

बाल०—दम्भो । दम्भधातोः स्थाने अनिट् सना सह धीप्सधिप्सौ निपातौ भवतः । अनिट् सनेति सर्वत्र योज्यम् । किन्तु अनिडिति विशेषणं कुत्रचित् सार्थक कुत्रचित् निरर्थकमिति ज्ञेयम् । दम्भ प्रभृतिषु इटः सम्भवात् सार्थकत्वम् । आप प्रभृतिषु तदसम्भवात् निरर्थकत्वम् ।।

ऋध । ऋधः स्थाने ईर्त्सो भवति । ज्ञपेः सुगमम् । आप सुगमम् । मीना । मीञ् हिंसायां, डुमिञ् प्रक्षेपणे इत्येतयोर्माधातोश्च स्थाने मित्सो भवति । मेति मा माने अदादिः, माङ् माने ह्वादि दिवादिश्च, मेङ प्रणिदाने भ्वादिः त्रयाणामेव

राध—प्रतिरित्सति । हिंसायां किम्—आरिरात्सति । मुच—मोक्षते वत्सः, बन्धनान्निष्क्रामितुमिच्छतीत्यर्थः । एवं मुमुक्षते । सकर्मकत्वेतु—मुमुक्षति वत्सं कृष्णः । बन्धनान्निष्क्रामयितुमिच्छतीत्यर्थः । दरिद्रा—दिदरिद्रिषति दिदरिद्रासति द्वयमपीदं भाष्यमतम् । वैष्णवादि सन्यालोप इत्येके, किन्तु दुरुच्चारणत्वान्नोदाहरन्ति । षणु दाने —जन खन सनामित्यादि,—सिषासति इत्यादयो ज्ञेयाः ।

भू णिच् सन्, वृष्णीन्द्र स्थानिवद्भावाद् भूद्विर्वचनम्, नरोद्वयस्येतीत्वम्—विभावयिषति । यु—यियावयिषति; स्रु—सिस्रावयिषति । अद्वयपरत्व एव, नत्विह—बुभूषति सुस्रूषति ।

क्रमश इट् पक्षाणि निपात पक्षाणि चोदाहृतान्येव मूले । तत्र ऋध दन्भ ज्ञपीनाम्—इवन्तेत्यादित्यादिना विकल्पितेट्त्वम् । ज्ञपे घंटादित्वादुद्धव वामनः । आरिरात्सतीति—आराधयितुमिच्छतीत्यर्थः । शकादिषु पाठान्नित्यमिट् । आलोप इत्येक इति—दरिद्राते रारामहरो वैष्णवादि सन् णकटन वर्जितरामधातुक इत्युक्तलक्षणे वर्जन विषये सनं ननिवेशयन्ति ते । ततश्च तन्मते सनि त्वा लोपः सम्भवति, किन्तु क्लिष्टोचार्यत्वान्न व्यवह्रियते तैरपीत्यर्थः । सिषासतीति—इवन्त ऋधेत्यादिना विभाषयेट्त्वम्, इट् पक्षे तु सिसनिषति । इत्यादय इति—यियविषति युयूषति, ऊर्णुनविषति ऊर्णुनुविषति, विभरिषति बुभूर्षतीति ।

वृष्णीन्द्र स्थानिवद्भावादिति—ण्यन्तभूधातोः सनि णौ कृतं स्थानि वदिपरिभाषया सञ्जात वृष्णीन्द्रस्य भौरामस्य स्थानिवत्त्वे भूरामस्य द्विर्वचनमिति भावः । सिस्रावयिषतीति—स्रुणि सन्, स्रवति शृणोतीत्यादिना नरोरामस्य वा इरामः । तदभावपक्षे—सुस्रावयिषति । नत्विहेति—भूधातोरिहाद्वयपरत्वविरहात् स्रवति शृणोतीत्यादिना नरस्य नेत्वमित्यर्थः । सुस्रूषतीति—केवलसनन्त, अत्रापि पूर्ववन्नेत्वम् ।

ग्रहणम् । दामो । सुगमम् । रभ-लभोः स्थाने रिप्स लिप्सौ भवतः । शकः सुगमम् । राधोः । हिंसायामर्थे वर्त्तमानस्य राध ससिद्धावित्यस्य स्थाने रिप्सो भवति । पत । सुगमम् ।

मुचो : अकर्मकत्वे विवक्षिते गति मुच्लृ मोक्षणे इत्यस्य स्थाने मोक्षङ् मुमुक्षङौ भवतः । ङ इत् । दिदम्भिषतीति इट् पक्षे । जिज्ञपयिषतीति घटादित्वात् उद्धवस्य वामनः । मित्सत इति ङित्वात् पक्षे आत्मपदम् । ङित्वादिति आत्मपदमिति शेषः । शिक्षते इति शिक्षतीत्येके । प्रतिरित्सतीति हिंसामिच्छतीत्यर्थः । आरिरात्सतीति आराधनमिच्छतीत्यर्थः । निष्क्रमितुमिति निर्गन्तुमित्यर्थः । दिदरिद्रिषतीति 'आरामहर' इत्यादिना आरामहरः । द्वयमिति पदद्वयमित्यर्थः । मतमिति सम्मतमित्यर्थः । आलोप इति आरामहर इत्यर्थः । दुरुच्चारणत्वात् कष्टोच्चारणत्वात् । सिषासतीति 'ईश्वर हरि-

४५७. नरात् स्तौति ण्यन्तयोरेव षत्वं सनः षे ।

४५८. नतु सह स्वद स्विदाम् ।

तुष्टूषति । द्युतिस्वाप्यो र्नरस्य सङ्कर्षणः—सुस्वापयिषति । नान्यत्र षत्वम्—सिच क्षरणे, सिसिक्षति । नरनिमित्त एव निषेधादिह तु स्यादेव—प्रतीषिषति, परिषिषिक्षति । पूर्वत्रेश्वर हरिमित्रेत्यादि प्रवर्त्तितः परत्र च परिनिमित्तकमुभयोः षत्वं वक्ष्यते । सनः ष इति किम्—तिष्ठासति । सहादे स्तु ण्यन्तत्वेऽपि न स्यात्—सिसाहयिषतीत्यादि ।

४५९. इच्छा सनन्तान्न सन् ।

अमृता०—४५७. नरादिति । सनः षे परे (जातषत्वे सनः षे इत्यर्थः) ईश्वरभूतनरादुत्तरस्य स्तौतेः ण्यन्तस्य चैव षत्वं भवेन्नान्यस्य । सिद्धेऽपि पुनरेवकारेणान्यद्व्यावृत्य एतौनियमितौ ।

अमृता०—४५८. नत्विति । सह मर्षणे, स्वद आस्वादने, ञिस्विदा गात्रप्रक्षरणे इत्येतेषां ण्यन्तत्वेऽपि सनः षे परेऽपि षत्वं न भवति ।

सुस्वापयिषतीति—ञिस्वप् शये ण्यन्तात् सन् । सिसिक्षतीत्यत्र सनः षे परेऽपि ण्यन्तत्वाभावान्न षत्वम् । प्रतीषिषतीति—प्रति पूवाद् इणो गत्यर्थे सन् । सनः षे परेऽपि नरादेव नियमादिह तदभावेन धातोः परस्य सरामस्य मूर्द्धन्यत्वं भवेदेव । इह धातोरिरामात् सरामो नतु नरादिति च लक्षितव्यम् । तिष्ठासतीत्यत्र सनः सस्य षत्वाभावान्नास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः ।

अमृता०—४५९. इच्छेति । इच्छार्थे विहितात् सन उत्तरे पुनः सन् न भवति । तथा हि भाष्ये—शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुवर्थिकः । सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न

मित्रेत्या'दिना विरिञ्चिसस्य षत्वम् । सिस्रावयिषतीति स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति-च्यवतीनां वेत्यनेन ईत्वम् । बुभूषतीति पवर्गस्य अद्वयपरत्वाभावात् नरद्वयस्येत्यादिना नात्र इत्वम् । सुस्रूषतीति स्रु धातोर-द्वयपरत्वाभावात् स्रवतीत्यादिनात्र इत्वम् ।।४५६।।

बाल०—नरात् । सन् सम्बन्धिनि मूर्द्धन्ये षे परे नरादुत्तरस्य सस्य षत्वं भवेत्, स्तौतिण्यन्तयोरेव भवति नान्यस्य ।।४५७।।

बाल०—नतु सह मर्षणे, स्वद आस्वादने, स्विदा गात्रप्रक्षरणे इत्येतेषां ण्यन्तत्वेऽपि षत्वं न स्यात् । तुष्टूषतीति स्तोतुमिच्छतीत्यर्थः । सिसिक्षतीति षिचिर् क्षरणे । नरनिमित्त इति षत्वविशेषणम् । प्रतीषिषतीति अत्रेश्वरनिमित्तकं षत्वम् । पूर्वत्र प्रतीषिषतीत्यत्र । परत्र परिषिषिक्षतीत्यत्र । तिष्ठासतीति अत्र सन् सम्बन्धिनो मूर्द्धन्यस्य षस्य परत्वाभावात् षत्वे न विरोधः ।।४५८।।

स्वार्थ सनन्तात् स्यादेव—जुगुप्सिषते । अनरस्येति विशेषणान्न द्विर्वचनम् ।

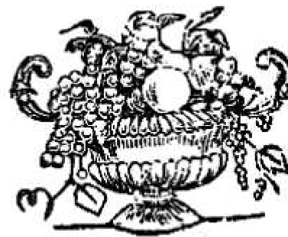
।। इति सन्नन्ताः ।।

सनिष्यते ।। इति ।। शैषिका मत्वर्थीयाश्च प्रत्यया स्तद्धिताः । तत् प्रकरणे हि तद् विवृति र्द्रष्टव्या, इह तु सनन्तान्न सनित्येव प्रासङ्गिकम् । सनन्तादपि सरूप प्रत्ययः सन् नेत्यन्वयः । इह इच्छेति विशेषणम्, तेन स्वार्थ सन्नन्तात् सरूपातिरिक्तः (इच्छा सन्) सन् स्यादेवेति व्यज्यते ।

।। इति श्रीहरिनामामृते व्याख्यातः सन्नन्तः ।।

बाल०—(क) इच्छा । इच्छा सनन्ताद्धातोरुत्तरे सन् न भवति । स्वार्थसन्नन्तात् स्यादेवेति निषेधाभावादिति शेषः । जुगुप्सिषत इति जुगुप्तितुमिच्छतीत्यर्थः ।।४५९।।

।। इति सन्नन्ताः ।।



अथ यङन्तः ।

४६०. विष्णुजनाद्येकसर्वेश्वराद् यङ् पौनः पुन्यातिशययोः ।

चेक्रीयितसंज्ञोऽयमित्येके ।

पुनः पुन रतिशयेन वा भवतीत्यर्थे भूधातोर्यङ् । धातो द्विर्वचनम् ।

४६१. नरस्य गोविन्दो यङि विष्णुरहितारामान्तस्य तु त्रिविक्रमः ।

धातुसंज्ञा, तिबादयः: ङित्त्वादात्मपदम्—वोभूयते, वोभूय्यते । मीनाति मिनोति इत्यादे वर्णान्तविधित्वान्नरस्यारामो न स्यात् । तेन प्रमेमीयते

अमृता०—४६०. विष्णिति । विष्णुजनादिश्चासौ एकसर्वेश्वरश्चेति विष्णुजनाद्येकसवश्वरः, तादृशाद् धातोरुत्तरे यङ् प्रत्ययो भवति पौनः पुन्ये अतिशये वार्थे । पौनः पुन्यमातिशयं वा क्रिया बिशेषणं, यङस्तु तद् द्योतकत्वम्, तच्च मूले वाक्यार्थ कथने स्पष्टीकृतम् । वा शब्दस्य विकल्पवाचकत्वाद् धात्वर्थस्य मुख्य गौणभावेन प्रतिधातौ ह्य भयार्थो प्रयोक्तव्यौ, नतु युगपदेकस्मिन् ।

अत्रायंविवेकः—धात्वर्थः क्रिया तावद् द्विविधा—प्रधानरूपा गुणीभूता च । यथा तण्डुलं पचतीत्यादौ विक्लेदरूपसाध्य व्यापारस्य प्रधानरूपत्वम्, तथा तदुपकारकस्याधिश्रयणादेः (चुल्यां स्थाल्यारोपणाग्नि सन्दीपन-काष्ठादिप्रक्षेपणादेः) साधन व्यापारस्य गुणीभूतत्वम् । तथैव ग्रन्थकृतापि—क्रियामात्रस्य जन्यजनकान्तर्भूतत्वमस्तीति वक्ष्यते कारकप्रकरणे । तत्र च प्रधान रूपायाः साध्यत्वाज्जन्यत्वम्, गुणीभूतायास्तु साधकत्वाज्जनकत्वम् । यद्यपि जन्यजनकत्व समवायेन व्यापारः सम्पद्यते तथापि यदा विक्लेदनात्मक प्रधानक्रियां सम्पाद्य क्रियान्तरव्यवधानेन पुनः सैवारभ्यते तदा तस्याः पौनः पुन्यम् । यदा तु तत्क्रिया जनकाधिश्रयणाद्यात्मिका गौणक्रिया शीघ्रमतिशयश्चानुष्ठीयते तदातिशय्यं भृशता वा गम्यते । अतश्च प्रत्येकधातौ हि मुख्यगौणभावेन पौनः पुन्यातिशययोः सम्भवाद् युगपदुभयार्थे यङ् भवतीति सिद्धान्तः ।

अमृता०—४६१. नरस्येति । यङि परे नरस्य गोविन्दो भवति, विष्णुरहितस्य नरस्य अरामस्य तु त्रिविक्रमः स्यात् ।

धातुसंज्ञेति—सनाद्यान्तश्च धातव इत्युक्तसंज्ञा वलादित्यर्थः । तिवादीति आदि पदेनु शप्—यकोर्ग्रहणम् । वोभूयत इति—अरामहर एअयोरिति यङोऽरामहरः । वोभूयत इत्यत्र तु अरामहरो रामधातुक इत्यनेन ।

अथ यङन्ताः

बाल०— विष्णु । एकः सर्वेश्वरो यस्य स एकसर्वेश्वरः, विष्णुजनादिश्चासौ एकसर्वेश्वरश्च तादृशाद्धातोरुत्तरे पौनःपुन्येऽतिशये च गम्यमाने यङ् भवति । पौनःपुन्यमतिशयश्च धातोरेवार्थः यङा सहोच्यते इति ज्ञेयम् ।।४६०।।

इति दुर्गः। विष्णुजनादीति किम्--भृशमीक्षते प्रेक्षते वा। एक सर्वेश्वरात् किम्--भृशं जागर्त्ति।

४६२. न शुभ रुच गृणातिभ्यो यङ्।

मुहुः शोभते।

४६३. सूचि सूत्रि मूत्रि अटि अर्त्ति अश ऊर्णोतिभ्यश्च यङ्।

ननु मीनाति मिनोति दीङां नरस्य गोविन्दे कृते चतुर्व्यूह विधौ सति तेषामारामहरः कथं न क्रियते? तत्र परिहरति—वर्णान्तविधित्वादिति। तेषामाराम पाठस्त्वन्तस्य भवति न त्वाद्यस्य, एकवर्णविधिरन्ते प्रवर्तते इति न्यायात्। तेनात्र नरस्य गोविन्दो यङीत्यादिसूत्रेण मीनात्यादीनां नरस्यारामो नैव प्राप्नोतीत्यर्थः। तच्च कलापवृत्तिकृतो दुर्गसिंहस्य प्रयोगेण समर्थितम्। व्यावृत्तिमाह—भृशमीक्षते प्रेक्षते वेति। प्रशब्दस्य प्रकर्षार्थद्योतकत्वात् तेन पौनः पुन्यं सूचितं, भृशशब्देन चातिशय्यम्। ईक्षतेर्विष्णुजनादित्वाभावात्, जागर्त्तेस्त्वेकाधिकसर्वेश्वरत्वान्न यङा प्रवृत्तिरिति भावः।

अमृता०—४६२. न शुभेति। शुभ रुच दीप्तौ, गृ शब्दे इत्येतेभ्य उत्तरे यङ् न स्यात्। विष्णुजनाद्येक सर्वेश्वरत्वादेषां यङि प्राप्ते निषिद्धम्। गृणातीत्यनेन गॄनिगरण इत्यस्य तु स्यादेवेति ज्ञाप्यते। कथं "शोशुभ्यमाना वसुधा तदाभवदिति? उच्यते—शुन्भ भासने इत्यस्यायं प्रयोगो न तु शुभेरिति ध्येयम्। नच तर्हि शुभधातोः प्रतिषेधो निष्फल इति वाच्यम्, चक्रपाणौ शोशुभीति इत्यपप्रयोग वारणावश्यकत्वात्।

अमृता०—४६३. सूचीति। सूच पैशुन्ये, सूत्र अवमोचने, मूत्रप्रस्रवणे एतेभ्यश्चुरादिभ्य उत्तरे तथा अट गतौ, ऋ गतौ, अशभोजने, ऊर्णूञ् आच्छादने इत्येतेभ्यश्चोत्तरे यङ्प्रत्ययो भवति। तत्र सूच्यादि त्रयाणामेकाधिक सर्वेश्वरत्वात्, अटादि त्रयाणां विष्णुजनादित्वाभावात् तथा चोर्णोतेरुभयत्वाभावादप्राप्ते विधानमिदम्।

बाल०—नरस्य। यङि सति नरस्य गोविन्दो भवति। विष्णुरहितश्चासौ अरामान्तश्च तादृशस्य नरस्य तु त्रिविक्रमो भवति। नी प्रभृतयो विष्णवो वक्ष्यन्ते तैरहित इत्यर्थः। बोभूयत इति 'अरामहर ए-अयो' रित्यादिना अरामहरः। बोभूय्यत इति 'अरामहरो रामधातुक' इत्येनन अरामहरः। मीनानि-मिनोतीत्यादि लक्षणोल्लेखः। मीनातिमिनोतीत्यादिनेति वा पाठः। वर्णान्तविधित्वादिति अरामस्येति शेषः। यत उक्तम् 'एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तते' इति अन्त इति वर्णान्ते सर्व्ववर्णान्त इति यावत्। अतो नरस्यान्त आरामो न स्यादिति! प्रमेमीयत इति अत्र नरान्तो गोविन्दविधिस्थानमित्यारामः स्यादतः समाधानं कृतम्। भृशमिति क्रियाविशेषणम् अतिशयमित्यर्थः। प्रेक्षते इति प्रशब्दस्य प्रकर्षवाचकत्वात् पुनः पुनरीक्षये त्यर्थः ॥४६१॥

बाल०—न शुभ। शुभरुचदीप्तौ, गॄ शब्दे इत्येतेभ्य उत्तरे यङ् न भवति। मुहुरिति पुनः पुनरित्यर्थः। एवं भृशं शोभते ॥४६२॥

बाल०—सूचि। सूच पैशुन्ये, सूत्र अवमोचने अवमोचनं वेष्टनं सूत्रम्, मूत्र प्रस्रवणे

सोसूच्यते । अश भोजने अशाश्यते । अशूङोऽपीत्येके ।

४६४. विष्णुजनात् साराम यस्य हरो रामधातुके ।

४६५. क्यस्य तु वा ।

सोसूच्यते । असोसूचिष्ट । सोसूचाञ्चक्रे । ऊर्णोनूयते । अन्तहरे न गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ—बोभुजिता, बेभिदिता । साराम ग्रहणान्नेह—ईर्ष्यिता ।

सोसूच्यत इति—षोपदेषत्ववर्जनेषु सृप्लृ प्रभृतिषु पाठादस्य विरिञ्चि त्वाभावेन न षत्वम् । अश भोजन इति न्याससम्मतः । अशूङ् व्याप्ताविति पाणिनीय धातुवृत्तौ धृतः । अशाश्यत इति—सन्यङोस्तु तत्सम्बन्धिनः सर्वेश्वरस्य चेति अरामसहितस्य श्यइत्यस्य द्विर्वचने नरविष्णुजनानामादिरर्थात् शराम एव शिष्टः, ततो विष्णुरहितारामस्य त्रिविक्रमः ।

अमृता०—४६४. विष्णुजनादिति । रामधातुके परे विष्णुजनादुत्तरस्य अराम सहितस्य यरामस्य हरो भवति । धातोरित्यधिकारात्तस्यैवात्र यराम लोपः प्रासङ्गिको नतु प्रत्ययस्य । तेनपच्यत इत्यत्र तु न ।

अमृता०—४६५. क्यस्यत्विति । रामधातुके परे विष्णुजनादुत्तरस्य क्य प्रत्ययस्य तु यरामस्य हरो वा स्यात् । क्येति क्यङ क्यनो ग्रहणमिति वक्ष्यते । क्यस्य प्रत्ययत्वेऽपि तदन्तस्य धातुसंज्ञत्वात् पूर्वसूत्रेण नित्यं यलोपे प्राप्तेऽत्र विकल्पविधानम् ।

सोसूच्यत इति—यङन्तस्य सोसूच्य धातो र्यक् । बोभुजितेत्यादौ रामधातुके बालकल्कौ यङो लोपे सति निर्गुणत्वाभावाद् गोविन्दो भवितुमर्हति, किन्तु अन्तहरे न गोविन्देत्यादि निषेधात् स न स्यादित्यर्थः । ईर्ष्यितेति—ईर्ष्यधातोर्बालकल्कौ रूपम् । अत्र यरामस्य अरामरहितत्वान्न हि लोपः । विष्णुजनात् किम्—लोलूयिता ।

एते चौरादिकाः, अटगतौ इत्येतेभ्यः अर्त्तेः अशधातोः ऊर्णोतेश्च उत्तरे यङ् भवति । सूचिसूत्रिमूत्रीणां णौ कृते एकसर्व्वेश्वरत्वाभावात् अटचर्त्तेऽशानां विष्णुजनादित्वाभावात् ऊर्णोतेरुभयाभावादप्राप्ते विधानम् । सोसूच्यते इति सृप्लृ प्रभृतिषु अस्य पाठात् न षोपदेशत्वमतो विरिञ्चिताभावात् न षत्वम् । अशास्यते इति सन्-यङोस्तु तत्सम्बन्धिनः सर्व्वेश्वरस्य चेति सारामस्य श्यभागस्य द्विर्व्वचनं, नरविष्णुजनानामादिः शिष्यत इति सारामशरामस्य स्थितिः, ततस्त्रिविक्रमः । अशूङोऽपीत्येक इति क्रमदीश्वरादीनां मतमिदमिति ज्ञेयम् ।।४६३।।

बाल०—विष्णु । रामधातुके परे विष्णुजनादुत्तरस्य सारामयस्य हरो भवति ।।४६४।।

बाल०—क्यस्य । विष्णुजनादुत्तरस्य क्यस्य तु हरो वा भवति । क्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्तदुदाहरणं वक्ष्यते । सोसूच्यते इति यङन्तादयक् । बोभुजितेति यङन्ताद्-बालकल्किरिति । ईर्ष्यितेति ईर्ष्य ईष्यायां बालकल्किता । विष्णुजनादिति किम्—बोभूय्यते । रामधातुक इति किम्—पापच्यते ।।४६५।।

४६६. गत्यर्थाद् यङ् कौटिल्य एव ।

कुटिलमटति अटाट्यते । नेह—भृशमटति पटति वा । अर्त्ति सत्-सङ्ज्ञाद्यृदन्तयोः—

४६७. यराम परो ररामो न द्विर्वचने वर्ज्यते ।

अरार्यते । दामोदरेत्यादिना ई, ततो द्विर्वचनम्—देदीयते ।

४६८. ऋरामस्य रीः क्य-यङोः ।

क्येति क्यङ् क्यनोः । कृ-चेक्रीयते ।

अमृता०—४६६. गत्यर्थादिति । गत्यर्थाद्धातोः कौटिल्यार्थे एव यङ् भवति नतु पौनः पुन्यातिशययोरिति नियमः । कुटिलमिति गमनक्रियाया विशेषणम्, कुटिलं यथास्यात्तथा अटतीत्यर्थः । एवकार बलाद् व्यावृत्तिं दर्शयति—भृशमित्यादि । अत्र च प्रशब्देन पौनः पुन्यं द्योत्यते । तदेतत् पाणिनि पद्मनाभसम्मतम् । कलापे मुग्धबोधे च पौनः पुन्यातिशय युक्ते कुटिलगतौ, तद् युक्ते भावगर्हे च यङ् स्यादेव इत्युक्तम् । यथा—भृशं पुनः पुनर्वा कुटिलं क्रामति—चंक्रम्यते; भृशं पुनः पुनर्वा गर्हितं लुम्पति—लोलुप्यत इति दुर्गसिंहः । एवमेव मुग्धबोध वृत्तौ दर्शितम् ।

अमृता०—४६७. यरामेति । यरामः परो यस्मात् तादृशो ररामो द्विर्वचने न वर्ज्यते । "सर्वेश्वरादित्वे तु सत्सङ्ज्ञादि नवदर वर्जस्यान्यभागस्य" इति वचनेन रेफ वर्जने प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् ।

अरार्य्यत इति—अर्त्तिसत्सङ्ज्ञाद्यृदन्तयोरिति गोविन्दः, यङ् सम्बन्धिना सर्वेश्वरेण (अरामेण) सह र्य इत्यस्य द्विर्वचने वर्जित विषयस्य पुनरनेन प्रतिषेधे, नरविष्णुजनानामादिः शिष्यत इत्यस्य हि प्रवर्त्तनम्, ततो विष्णुरहितारामान्तस्य त्रिविक्रमः । देदीयत इति पुनः पुनर्भृशं वा ददातीत्यर्थः । प्रथममेव द्विर्वचने कृते दादीयत इत्यनिष्ट रूपं स्यादित्याशयः ।

अमृता०—४६८. ऋरामस्येति स्पष्टार्थम् । क्यङ् क्यन् च नामधातौ वक्ष्येते । अत्रापि री इत्यादेशे कृते पश्चाद् द्विर्वचनम्, अन्यथा नरऋ रामस्यारामः प्रसज्येत । ऋरामस्येति किम्—चकीर्यते ।

बाल०—गत्य । गत्यर्थाद्धातोरुत्तरे कौटिल्य एव गम्यमाने यङ भवति, न तु पौनपुन्यातिशययोः । कुटिलमिति क्रियाविशेषणम् । अटाट्यत इति अशाश्यत इतिवत् । प्राटतीति प्रेक्षत इतिवत् ।।४६६।।

बाल०—यराम । यरामः परो यस्मात् तादृशो ररामो द्विर्व्वचने न वर्ज्यते न बर्जनविषयीक्रियते । सत्सङ्ज्ञादि नवदरवर्जस्येत्युक्तमतो ररामस्य वर्जनं स्यादितीदं विहितम् । देदीयते इति पुनः पुनर्भृशं वा ददातीत्यर्थः ।।४६७।।

४६९. लुप सद चर जप जभ दह दनृश गॄभ्यो भावगर्हायामेव यङ् ।

गर्हितं लुम्पति-लोलुप्यते । सासद्यते । चरादि प्रयोगोऽग्रे । गिरो रो लः– जेगिल्यते । गॄ शब्दे इत्यतस्तु यङ् न प्रयुज्यते । इह प्रोर्णोनूयते, सञ्चेस्क्रीयते, उपपनीपद्यते इत्यादिकं तैरपि प्रयुज्यते । अतः सोपसर्गान्न स्यादित्यन्यैरुपेक्षितम् ।

४७०. कवते र्नरस्य न चो यङि ।

कोकूयते ।

अमृता०—४६९. लुपेति । लुप्लृ छेदने, सद्लृ विशरणादिषु, चर गतौ, जप व्यक्तायां वाचि, जभ गात्रविनामे, दहभस्मीकरणे, दनृश दंशे, गॄनिगरणे इत्येतेभ्य उत्तरे धात्वर्थगर्हायामेव यङ् भवति नतु पौनः पुन्याति शययोः । गर्हा निन्दा । गर्हितमिति क्रियाविशेषणम् । तेनात्र भावगर्हार्थो गम्यते । गर्हितत्वमिह छेदनस्य निरर्थकत्वात् दोष दुष्टत्वाच्च । एवमुत्तरत्रापि वेदितव्यम् । "तस्याः सासद्यमानायाः" इति भट्टिः । भाव गर्हायामिति किम्—साधुजपति वैष्णवः । एवकारस्यनियमेन नान्यार्थे यङ्—भृशं लुम्पति । सूत्रे गृणातिभ्य इति श्तिपा निर्देशात् गिरते र्व्यावर्त्तनं कृतमिति तस्माद् यङ् नस्यादिति स्फुटमाह—गॄशब्दे इत्यादि । सोपसर्गादपि यङ् तैः पूर्वाचार्यैः पाणिन्यादिभिरपि प्रयुज्यते । अतः सोपसर्गाद्धातोर्न यङिति यत् केनचिज्जल्पितं तत्तु नाद्रितमाधुनिकैरित्यर्थः ।

अमृता०—४७०. कवतेरिति । यङि परे कुङ् शब्दे इत्यस्य नरस्य चरामो न

बाल०—ऋरा । क्ये यङि च परे ऋरामस्थ स्थाने रीर्भवति । क्यङ् क्यनोर्वक्ष्येते । क्यन् क्यङोरिति वा पाठः क्यनः पूर्व्वोक्तत्वात् ।।४६८।।

बाल०—लुप । लुप्लृ छेदने, षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु, चर गतौ, जप व्यक्तायां वाचि मानसे च, जभ गात्रविनामे, दह भस्मीकरणे, दनृश दंशने, गॄ निगरणे इत्येतेभ्य उत्तरे भावगर्हायामेव गम्यमानायां यङ् भवति, न तु पौनःपुन्यातिशययोः । भावो धात्वर्थः । गर्हितमिति क्रियाविशेषणम् । गर्हितत्वं छेदनस्य निरर्थकत्वात् दोषदुष्टत्वाच्च । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । अग्र इति वक्ष्यत इति शेषः । जेगिल्यत इति गर्हितं गिरतीत्यर्थः । गॄ शब्द इत्यतस्तु यङ् न प्रयुज्यते इति यैः पूर्व्वाचार्य्यैरिति शेषः, अतः गॄ इति सामान्यनिर्द्देशेऽपि तौदादिकस्यैव ग्रहणमिति भावः । ननु गॄ शब्दे इत्यतस्तु न शुभरुचेत्यादिना यङ् निषिद्ध एव, तर्हि कथमिदमुच्यते तदेतच्चिन्त्यमिति चेदुच्यते । अत्र यङ्निषेधनं न बहुप्रयोजनं, किन्तु सोपासर्गात् गॄधातोर्यङ् न स्यादिति केचिदाहुस्तदुक्तमन्यैरपि त्यक्तमिति प्रदर्शनार्थमिति । इहेति यङ् प्रकरणे इत्यर्थः । तैरपीति पूर्व्वचार्य्यैरपीत्यर्थः । अत इति । अतः सोपसगाद्धातोरुत्तरे यङ् न भवति इत्यत्र तद्वाक्यम् अन्यै रर्वाचीनाचार्यैरुपेक्षितं त्यक्तम् ।।४६९।।

४७१. वञ्चु स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु कस पत पद स्कन्द नरतो नी यङि ।

वनीवच्यते सनीस्रस्यत इत्यादि ।

४७२. हरिवेण्वन्तानां जप जभ दह दंश भञ्ज पशाश्च नरादरामतो विष्णुचक्रं यङि ।

भवति । कवर्ग नरस्य चवर्गे प्राप्ते प्रतिषेधः । कवतेरिति शपा निर्देशेन कुङ् तुदादिः, कु अदादिश्च निरासितः । तयो स्तु भवत्येव चवर्गत्वम्—चोकूयते धेनुकासुरः । यङोति किम्—चुकुवे । यद्यपि नारायणस्य चवर्गत्वाविधानात् तन्निषेधस्य चानुपपत्तेरथदेव नरस्य तन्निषेधो लभ्यते तथापीह नरस्येति कथनं झटित्यर्थ बोधनार्थं ज्ञेयम् ।

अमृता०—४७१. वञ्चु इति । यङि परे वञ्चु गतौ, स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु अधः पतने, कस पत्लृ पद गतौ, स्कन्दिर् गति शोषणयोरित्येतेषां ये नरांस्तभ्य उत्तरे नीत्यागमो भवति ।

वनीवच्यत इति—अनिरामेतामित्यादिना उद्धव नरामहरः, नरस्य गोविन्द इत्यादौ विष्णुरहितेति विशेषणसत्त्वान्नरस्य न त्रिविक्रमः । नचेह न रनारायणयोर्मध्ये आविर्भावादागम एष नारायणस्यैवाङ्गमिति शङ्कनीयम्; नरस्य गोविन्द इत्यादौ विष्णुरहितारामान्तस्येति पदं नरस्य सामान्याधिकरणत्वेन निर्देशात् । अन्यथा नारायणस्य विष्णुरहितत्व मनने पापच्यत इत्याद्यनिष्टरूपमपद्येत । तथा जंघन्यत इत्यत्र विष्णुचक्र व्यवधानेन नराद्धन्ते र्हस्य घ इति नैव प्राप्यत इत्यपि विवेच्यम् ।

नन्वथ नी इति विष्णो र्नराङ्गत्वे सति नरस्य गोविन्दो यङीति कथं नप्रवर्तत इति चेन्न, त्रिविक्रमान्तत्वेन सूत्रे निर्द्देशाद् विधान सामर्थ्यादिव न गोविन्दः, अन्यथा सूत्रे वामनान्तमेव विदध्यादिति । इत्यादिशब्देन—दनीध्वस्ते, बनीभ्रस्यते, चनीकस्यते, पनीपत्यते पनीपद्यते चनीस्कद्यत इति ।

अमृता०—४७२. हरीति । यङि सति हरिवेण्वन्तधातूनां, तथा जपादयो ये भाव गर्हाये यङ् विषया उक्ता स्तेषां, तथा भन्जो आमर्दने, पश बोधने सौत्र इत्येतयोश्च नरात् नरैकदेशात् अरामात् परो विष्णुचक्रमागच्छति । अत्रापि विष्णुसहितत्वान्नरारामस्य

बाल०—कव । यङि परे कुङशब्दे इत्यस्य नरस्य नरैकादेशस्य करामस्थ स्थाने चो न भवति । कवतेरिति निर्द्देशः कुङ् शब्दे इति तौदादिकस्य कुशब्दे इत्यादेश्च निरासार्थः तयोश्चोकूयत इति भवति । यद्यपि शब्दे त्रयः पठ्यन्ते, तथाप्यस्ति भेद भ्वादिरव्यक्तशब्दे तुदादिर्व्यक्ते स्वरे अदादिः शब्दमात्र इति ज्ञेयम् । अनरस्य असम्भवादेव न सम्भवतीति नरस्येति लभ्यते तथापि नरस्येति कृतं स्पष्टतार्थम् अनुभवलभ्यात् शब्दोऽर्थः स्पष्टो भवति ।।४७०।।

बाल०—वञ्चु । यङि सति वञ्चु गतौ, श्रन्सु, ध्वन्सु, भ्रन्सु अधःपतने, कस गतौ, पतलृगतौ, पदगतौ, स्कन्दिरगतिशौषणयोः इत्येतेषां नरत उत्तरे नी भवति । वनीवच्यत इति 'अनिरामेतामित्यादिना उद्धवनरामहरः ।।४७१।।

यंयम्यते तंतन्यते जंजन्यते जंजप्यते । जभ जृभि गात्रविनामे जंजभ्यते ।

४७३. लवयान्तस्य तु वेति वक्तव्यम् ।

चंचल्यते चाचल्यते, मंमव्यते मामव्यते, दंदयते दादयते ।

४७४. अत्र हरिवेणुविधिर्वा वक्तव्यः ।

तन्तन्यते जञ्जन्यते । अरामादन्यतो न—वाभाम्यते । भामो वेति जुमरमतम् ः तेतिम्यते ।

४७५. हिंसार्थस्य हन्तेर्घ्नी यङि ।

जेघ्नीयते । गत्यर्थस्य तु जंघन्यते ।

न त्रिविक्रमः । जंजप्यते गर्हितं जपतीत्यर्थः । एवं जंजभ्यते दन्दह्यते दन्दश्यते । भनूजे स्तु पौनः पुन्यातिशययोरेव—वंभज्यते । पश—पंपश्यते; दन्त्यान्तोऽयमिति केचित् ।

अमृता०—४७३. लवयान्तेति । लान्तस्य वान्तस्य यान्तस्य च धातो र्नरादरामतो विष्णुचक्रं वाविर्भवति यङि परे ।

अमृता०—४७४. अत्रेति यङ् प्रयोगे विष्णुचक्रस्य (आगम रूपस्य) हरिवेणुविधि र्वा वक्तव्यः । यङि् अविष्णुपदान्तत्वेन नित्यं प्राप्ते विभाषावचनम् । वाभाम्यत इतिभाम क्रोधे यङ् । अत्रनरस्य दीर्धान्तत्वान्न विष्णुचक्रमित्याशयः । न च वक्तव्यम्—नरस्य वामने कृते विष्णुचक्रं भवत्विति, लाक्षणिकत्वात् । नरादरामत इत्यत्र सहजारामादेव विष्णुचक्रागम इष्टः, नतु लाक्षणिकादिति तात्पर्यम् । भामोवेति विष्णुचक्रमितिशेषः । अतो जुमरमते वंभाम्यत इत्यपि स्यादित्यर्थः । तेतिम्यत इति तिमष्टिम आर्द्रभावे धातुः । नात्र नरस्यारामान्तत्वमिति विष्णुचक्राभावः ।

अमृता०—४७५. हिंसार्थस्येति । यङि सति हन धातो हिंसार्थे घ्नी इत्येवमादेशो भवति । आदेशात् पश्चाद् द्विर्वचनं, नरस्य गोविन्दः । गत्यर्थे जंघन्यत इति—हरिवेण्वन्तत्वाद विष्णुचक्रं, नराद्धन्ते र्हस्य घः । हिंसार्थे घ्नीत्यादेशमकृत्वा ह्नीत्यादेशे कृतेऽपि नराद्धन्तेरिति घत्वं सिध्यति, तथापि तदादेशः साधनप्रक्रिया लाघवार्थ इति ज्ञेयम् ।

बाल०—हरि । यङि सति हरिवेणुरन्ते येषां तादृशानां जप जभ दहदंशानम् । भनूजो आमर्द्दने इत्यस्य च नरात् नरैकदेशात् अराम उत्तरे विष्णचक्रं भवति । यंयम्यते इति यमु उपरमे । तंतन्यते इति तनु विस्तारे । जंजन्यते इति जनी प्रादुर्भावे ।।४७२।।

बाल०—लव । सुगमम् ।।४७३।।

बाल०—अत्र। यङ् प्रयोगे हरिवेणुर्व्विधिर्वा वक्तव्यः । बाभाम्यत इत्यपि मतं भामोवेति तल्लक्षणम् । तेतिम्यत इति तिमष्टिम आर्द्रभावे ।। ४७४ ।।

बाल०—हिंसा । व्यक्तार्थमेतत् । जंघन्यत इति नराद्धन्तेर्हस्य घः ।।४७५।।

४७६. ऋमध्य धातु-नरतो रीर्यङि ।

जरीजृम्भ्यते, जरीगृह्यते ।

४७७. यङन्तादिटो दीर्घो न ।

जरीगृहिता । क्षुभ्नादित्वान्न णत्वं—नरीनृत्यते । वरीवृश्च्यते । तृणु-अदने तरीतृण्यते । परविधेर्बलवत्त्वादत्र विष्णुचक्रं बाधते । शेतेः शय्–शाशय्यते ।

४७८. कृपे श्चलीक्लृप्य:, स्वपः सोषुप्य:, व्येञो वेवीय:, वशो वावश्य:, चायश्चेकीय:, घ्रो जेघ्रीय:, ध्मो देध्मीय:, चरेश्चञ्चुर्य:, फलेः पम्फुल्य इतियङा निपाताः ।

अमृता०—४७६. ऋमध्येति । ऋ मध्ये यस्य स ऋमध्य:, सचासौ धातु श्चेति ऋमध्यधातु:, तस्य नरत उत्तरेरी इत्यागमो भवति यङि परे । जरीजृम्भ्यत इति—जृभि गात्र विनामे, इरामेत्त्वान्नुम् । जरी-गृह्यत इति ग्रह उपादाने । यङः कंसारित्वात् सङ्कर्षणे कृते ऋमध्यत्वाद्रीः । ऋरामोद्धव धातोरिति कृते तु नुमः सहजत्वाद् जरीजृम्भ्यत इति न सिध्येत, तेन ऋमध्यधात्विति साधु लक्षणं कृतम् । तेन च वृश्च् वरीवृश्चते, प्रच्छ परिपृच्छ्यत इत्यादयश्च सिध्यन्ति ।

अमृता०—४७७. यङन्तादिति । स्पष्टम् । जरीगृहितेति—विष्णुजनात् सारामयस्य हर इति यङो हरः । ग्रहेरिट स्त्रिविक्रमोऽनधोक्षज इति प्राप्ते निषेधः । ननु तरीतृण्यत इत्यत्र हरिवेण्वन्तत्वात् तृणु धातोर्नरादरामतो विष्णुचक्रं कथं न स्यात्तत्राह—परविधेरिति । री विधेः परत्वात् ततो वलवत्त्वाच्च तेनैव विष्णु चक्रं वाध्यत इत्यर्थः । शेतेः शयिति कंसारि विष्णुजन इत्यनेनेतिशेषः ।

अमृता०—४७८. कृपेरिति । कृपू प्रभृतीनां चलीक्लृप्य प्रभृतयो यङा सह निपात्यन्ते । कृपू सामर्थ्ये चलीक्लृप्यते । री स्थले लीभावो निपातफलम् । सोषुप्यत इत्यत्र यङः कपिलत्वाभावात् वचि स्वपीत्यादिना अप्राप्ते सङ्कर्षणे निपातादापादितः सः । एवमेव

बाल०—ऋमध्य । यङि सति ऋर्मध्ये यस्य तादृश धातुसम्बन्धिनी नरत उत्तरे री भवति । जरीजृम्भत इति इरामेत्त्वान्नुम् । जरीगृह्यते इति ग्रह उपादाने ॥४७६॥

बाल०—यङ । व्यक्तार्थमेतत् । जरीगृह्यते इति विष्णुजनात् 'सारामयस्य हरो रामधातुके' इत्यनेन सारामयस्य हरः । ग्रहेरिटस्त्रिविक्रमोऽनधोक्षजे इत्यनेन त्रिविक्रमः स्यात् । वरीवृश्चत इति ओव्रश्चूच्छेदने । विष्णुचक्रं वाध्यत इति रीविधिनेति शेषः । हरिवेण्वन्तत्वात् विष्णुचक्रं स्यात् ॥४७७॥

बाल०—कृपे । कृपू सामर्थे इत्यादीनां स्थाने चलीकलृप्य प्रभृतयो यङा निपाता भवन्ति । चलीक्लृप्यत इत्यत्र ऋद्वयं प्राय एकात्मकमित्यनेन प्राप्ते रीविधानाभावे

चलीक्लृप्यते सोषुप्यते इत्यादि। धातो रव इत्यादि—चञ्चूर्यते। यलोपेतु चञ्चुरिता।

॥ इतियङन्त प्रक्रिया ॥

वेवीयत इत्यत्रापि। अत्र सङ्कर्षणे सति वामनस्य त्रिविक्रमः। वावश्यत इति वश कान्तौ; ग्रहि ज्येति सङ्कर्षणे प्राप्ते तदभाव इह निपातबलात्। चेकीयत इति—चायृ पूजा-निशामनयो र्धातोः समुदाय भागस्य की भावो निपातफलम्। जेध्रीयते देध्मीयत इत्युभयत्र च ईरामो निपातवलात्। चञ्चूर्यत इत्यत्र चुर्भाव स्तथा पम्फुल्यत इत्यत्र फुल् भावश्च निपातफलम्। यलोपेत्विति—विष्णुजनात् सारामयस्य हरो रामधातुक इत्यनेन यलोपे ररामात् परो विष्णुजनो नास्तीति न त्रिविक्रमः।

इति श्रीहरिनामामृते व्याख्याता यङन्तप्रक्रिया।

लीविधानं सोषुप्यते वेवीयत इत्यत्र च 'वचिस्वपि' त्यादिना सङ्कर्षणविधानं वावश्यत इत्यत्र ग्रहिज्येत्यनेन सङ्कर्षणप्राप्ते सङ्कर्षणदूरीकरणं निपातफलमन्यत्र स्पष्टमिति। चाय इति चायृपूजानिशामनयोः। चरेरिति चर गतौ। फलेरिति ञिफलाविसरणे फलनिष्पत्तौ। द्वयोरेव ग्रहणम्। यलोपे तु चञ्चुरितेति त्रिविक्रममध्ये निपाते कृते तु चञ्चुरितेत्यनिष्टरूपं स्यादिति भावः ॥४७८॥

॥ इतियङन्त प्रक्रिया ॥



अथ चक्रपाणि प्रक्रिया निरूप्यते ।

४७९. यङो महाहरो बहुलम् ।,

बाहुल्यात् क्वचिद्भाषायां क्वचिच्छन्दसि च । तथा द्विर्वचनात् पूर्वं महाहरः । नरं प्रति हरत्वं, धातुत्वं प्रति, सङ्कर्षणं प्रति, निपातं प्रति चेत्यादि ज्ञेयम् ।

४८०. तदन्तश्चक्रपाणिसंज्ञः ।

चर्करीत संज्ञश्चायमदादौ परपदिषु गण्यते । व्रुव इडित्यादि, चक्रपाणे

अमृता०—४७९. यङ इति । बहुलं यथा स्यात् तथा यङो महाहरो भवति । बाहुल्यादिति—भाष्येतु बोभवीतीत्येवं पदं भाषायां साधु नान्यदिति भागवृत्तिः । तत्तु नानुमन्तव्यम्, भाषायामपि शिष्टप्रयोग दर्शनात् यथा—तेजांसि शंशमाञ्चक्रुरिति भट्टिः । तथा—हरिणा सह सख्यं ते वोभूत्विति यदब्रवीः । नजाघटीति युक्तौतत् सिंहद्विरदयोरिव ।। इति पाणिनिमुनेर्जाम्ववतीविजयकाव्यम् । अपि च—यदि देवो वरीवर्ष्टि कोकिलो रोरवीति च । मयूरोऽपि नरीनर्त्ति मरिमर्म्मि तदाप्रिये ।। इति च क्वचिदिति भाषावृत्तिः ।

अतो भाषायामपि यङ् लुकः शिष्टप्रयोग दर्शनात् यङ् लुको बहुलं विहिता ग्रन्थकृता । बहुलशब्देन विभाषापि मन्तव्या, अन्यथा तस्य नित्यत्वे सति केवलयङः प्रवृत्त्यसम्भवात् । तथेति—बाहुल्यादेव द्विर्वचनात् पूर्वं जातक्षणे हि यङो महाहर इत्यर्थः । नरं प्रति हरत्वमित्यादौ सर्वत्र महाहरस्येति योज्यम् । तच्च सर्वं बाहुल्यादेवेत्यन्वयः । महाहरस्य हरत्वमननेन नर-धातु-सङ्कर्षण-निपातानां प्रागुक्तं यथायथं कार्यं स्यादित्यभिप्रायः । धातुं प्रति हरत्व मनने हि यङः स्थानिवत्त्वेन धातो र्द्विर्वचनं सम्भवेन्नान्यथेति वोद्धव्यम् ।

अमृता०—४८०. तदन्त इति । स यङ्महाहरोऽन्ते यस्य स तदन्तः चक्रपाणि संज्ञकः स्यात् । चक्रं पाणौयस्य स चक्रपाणिर्विष्णुः । चर्करीत संज्ञा पाणिनीयानाम् । धातुपाठे अदादेरन्ते—"चर्करीतञ्च" इत्येवं निर्देशेनास्य परपदिषु पाठो वर्त्तत इति बोध्यते । अतएव शपो महाहर इत्याशयः । धातुत्वं प्रति यङः स्थानिवत्त्वेन धातुविहितौ विधिनिषेधावपि स्याताम्, किन्तु बाहुल्यादिह कृष्णधातुके गोविन्द-वृष्णीन्द्र-निषेधस्य

अथ चक्रपाणिप्रक्रिया निरूप्यते ।

बाल०—यङो । बहुलं यथा स्यात्तथा यङो महाहरो भवति । छन्दसि चेति महाहरो भवतीति शेषः । तथेति बाहुल्यादेवेत्यर्थः । हरत्वमिति महाहरस्येति शेषः । इत्यादि ज्ञेयमिति अपेक्षणीयञ्चेत्तदा अपरमपि भवतीति भावः ।।४७९।।

बाल०—तद । तदन्तो यङ् महाहरान्तश्चक्रपाणिसंज्ञो भवति । चर्करीतीति अयं

स्तु वा; अन्तहरे न गोविन्द-वृष्णीन्द्राविति निषेध श्चक्रपाणेः कृष्ण-धातुके न स्यात् ।

बोभवीति बोभोति बोभूतः बोभुवति । बोभूयात् । बोभवीतु बोभोतु बोभूतात् । अबोभवीत् । अबोभोत् अबोभूताम् । ईशान्तस्य गोविन्दः —अबोभवुः । भूतेशे तु अबोभूत् अबोभूताम्, अबोभवुरित्यत्रतु भुवो न गोविन्द इत्यपि वाधते । अत्रकीयबाहुल्यात् आम् तु वा, बोभुवाञ्चकार ।

प्रवृत्ति स्तु न भवतीत्यर्थः । रामधातुके तु तन्निषेधः प्रवर्त्तत एव,—वोभुवाञ्चकार, वेभिदिता । एवमेव वोपदेव पद्मनाभ दुर्गसिंहादीनां मतम् । * सिद्धान्त कौमुद्यान्तु रामधातुकेऽपि तन्निषेधो नाङ्गीकृतः । तन्मते—मोमोदिता मोमोदाञ्चकरेत्यादि सिध्यतीति दिक् ।

बोभोतीति—यङो महाहरः, द्विर्वचनं, नरं प्रति हरत्वात् तस्य गोविन्दः । ततो बोभू इति स्थिते तिप् शप्, शपो महाहरः, ईट्, धातोर्गोविन्दः । नचेह धातु प्रति हरत्वमननाद् यङा व्यवधानेन कथं गोविन्द इति शङ्क्यम्; यङन्त समुदायावयवस्य 'बोभू' इत्यस्यैवाधुना धातुस्वरूप कलनात् तत्र तिप् प्रत्यय—निमित्तको गोविन्दो निर्वाध एवेति । बोभूत इत्यत्र तु अपृथु कृष्ण धातुको निर्गुण इति न गोविन्दः । नरं प्रति हरत्वात् नरस्य गोविन्दो यङीति सर्वत्र प्रवर्त्तते । वोभुवतीति—धातोश्चतुः सनस्येति उव्, नारायणादन्तो-नस्य हरः । अवोभवीदिति—भूतेश्वर दिपि पृथुत्वादिड्विकल्पः । अवोभूदिति—इणस्थेति सेर्महाहरः । अत्र वहुत्वे ईशान्तस्य गोविन्दोऽन उसीत्यस्य परत्वादेष तु गोविन्द निषेधं वाधत इतिभावः । चक्रपाणावधोक्षजे अनेकसर्वेश्वरत्वानित्यमेव आम् प्राप्नोति किन्तु यङ् लुगीयकार्याणां बाहुल्यादाम् तु बास्यात् ।

ननु आमोऽभावपक्षे भुवो भूविति कथं नादिश्यते ? तत्र शुद्धभूधातोरेवादेशः कृत इति चेत् ? तत्रसोपपत्तिकं समाधत्ते धातुनिर्देश इति । अविशेषेण धातु निर्देशे तु तत् कार्यं चक्रपाणावपि भवति । अपि कारेण यङन्त सन्नन्तादिषु च । किन्तु विशेष निर्देशे सति तत्रैव तन्नान्यत्र; यथा—दीङ आवा सनीत्यादि । तद्ग्रहणं—धातुनिर्देशे चक्रपाणे गहणमेके तु वा मन्यन्ते । अतस्तन्मते रामधातुके विभाषया हि यथाप्राप्तौ गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ; इह वृष्णीन्द्रश्च—वोभावेति, पक्षे उव् च ।

यङ् महाहरान्तः । न स्यादिति बाहुल्यादिति शेषः । बोभूयादितिविधौ अबोभवीदिति भूतेश्वरे । अबोभवुरिति 'सि-नारायण-वेत्तिभ्योऽनउग्नि'त्यनेन उसि कृते गोविन्दः । बाधत

---

* कलाप परिशिष्टे—वेभिदिता प्रयोगोऽयं स्याद् वेभिदाञ्चकार चेत्यत्र टीका—बहुल-ग्रहणादसार्वधातुकेऽपि गुणिनि स्वरादौ नाम्न्युपधाया गुणो न स्यादिति । सुपद्मे च—यङो लुग् वहुलमित्यत्र सूत्रे वेभिदिता वेभिदाञ्चकार, असार्व धातुके अगुण इति । तथा मुग्धवोधे च—यङ् लुक् कयलोपेऽरेनणुत्री इति सूत्रे वेभिदिता मर्मृजिता इति ।

धातुनिर्देशे तु चक्रपाणेरपि ग्रहणम्। भुवो भूव्, हरत्वाद् यङ् व्यवधाने भू नरस्य भो न—बोभूव। तद् ग्रहणं वेत्येके। बोभाव। तत्रापवादमाहुः—

सूत्रे शितपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।
यच्चैकाज्ग्रहणं कृत्वा चत्वारि स्युर्न यङ्लुकि॥ इति॥

यथा शितपा निर्देशात् नराद्धन्ते र्हस्य घो न—जंहनीति जंहन्ति। बाहुल्यात्—जंहंहि। शेशयीति शेशेति, शींङः शे न स्यात्। भावे—

तत्रेति—तत्रधातुग्रहणे चक्रपाणेरपि ग्रहणमिति यत् परिभाषितं तत्रापवादमाहुः पूर्वाचार्या इति शेषः। सूत्र इति विधान सूत्रे निषेध सूत्रे वा यत् कार्य शितपा निर्दिष्टं, यच्चानुबन्धेन निर्दिष्टं, यच्च कार्यं गणेन निर्दिष्टं, यच्च एक सर्वेश्वरग्रहणेन निर्दिष्टम्, एतानि चत्वरि कार्याणि यङ् लुकि न प्रवर्त्तन्त इत्यर्थः। अत्रेदमवगन्तव्यम्,—यो विधि र्निषेधो वा प्रागुक्तः, चक्रपाणौ च स एव प्रयोक्तव्य इति सामान्यतो व्यवस्था। यथा—अन्त हरे न गोविन्दवृष्णीन्द्राविति निषेधः। शितपादि निर्दिष्टौ विधिनिषेधौ तु चक्रपाणौ न स्यातामिति त्वपत्रादत्वेन वलवत्त्वात् सर्वेषां सामान्यानामुपमर्दकम्। तस्मात् शितपादि-निर्दिष्ट कार्याणि वर्जयित्वान्यत्र हि सामान्योक्तकार्याणि वेदितव्यानीति भावः।

तान्युदाहरति—यथेत्यादि। जंहनीतीत्यत्र नराद्धन्तेरिरिति घत्वे प्राप्ते शितपा निर्देशात् स न। नरं प्रति हरत्वाद् विष्णुचक्रागमः। वहुत्वे तूद्धवादर्शने हनो हस्येति घत्वम्, नारायणादन्त इति नस्य हरः—जङ्घनति। भूतेश्वरे—अजंहनीत् अजंहन्। भूतेशे तु वधादेशः—अजंवधीदिति पद्मनाभः। अवधीदिति तु दीक्षितः। अजंहनीदित्यन्ये। इण्त्रदिटि—अजंवधि अजंवधिषाताम् अजंघनि अजंघनिषाताम्। राम धातुके न गोविन्द वृष्णीन्द्रौ। अधो—जंहनाञ्चकार जंघन, जंघ्नतुः। जंवध्यात्। जंहनिता। एवञ्च रामधातुके—अस्यति वक्तीत्यादिना, सत्तिशास्त्यर्त्तिभ्य इत्यादिना च ङो न स्यात्। तथाअस्ते भूरित्यादेशोऽपि न। एवमन्यानि चोह्यानि।

हन् हे जंहीत्यत्र शितपादिनिर्देशाभावेऽपि बाहुल्यादादेशो न भवति, ततो जंहन्हि।

इति 'ईशान्तस्य गोविन्दोऽन उसी'ति शेषः। 'भुवो न गोविन्दः सिलुकी'त्यस्य पूर्वत्वाद्बाध्यता। बोभुवाञ्चकारेति कृष्णधातुके न स्यादित्युक्तम् अतोऽत्र अन्तहर इत्यादिना गोविन्दनिषेधः। हरत्वादिति नरं प्रति हरत्वमित्युक्तत्वादिति शेषः। यङ् व्यवधान इति अधोक्षजस्य यङा व्यवधानम्। तद् ग्रहणमिति धातुनिर्द्देशे चक्रपाणिग्रहणमित्यर्थः। वेत्येके इति अतः पक्षे भुवो भूव न बोभावेति। अत्रेति धातुनिर्द्देशे चक्रपाणेऽपि ग्रहणमिति यदुक्तं, तत्रापवादं बाधकं वाक्यम् आहुरिति पूर्वाचार्या इति शेषः। सूत्र इति सूत्रे शितिपानिर्द्दिष्टं यत्कार्यं, सूत्रे अनुबन्धेन निर्ष्टिं यत् कार्यम्। यच्च कार्यम् एकाज्ग्रहणं कृत्वा निर्दिष्टम् एतानि चत्वारि कार्याणि यङ् लुकि न स्युरिति। निर्दिष्टत्वं कथितत्वम्।

शेशीयते; शेतेःशय् नस्यात्। चोकोटिता, न निर्गुणत्वम्। रोरोत्ति, इट् न स्यात्। पापचिता, अनिट्प्रकरणे शकादिष्वित्येकाच्त्वमनुवर्त्तनीयम् ततइट् स्यात्।

४८१. तन्तने स्तसि न हरिवेणुहरः।

४८२. हरिवेण्वन्तोद्धोवस्य त्रिविक्रमः क्वौ कंसारिवैष्णवे च।

४८३. क्त्विव तु क्रमो वा।

तन्तान्त इत्यादि। जंगमीति जङ्गन्ति, जङ्गतः। उद्धवादर्शनं—

शेशयीतीत्यत्रानुवन्धेन निर्देशात् शे न, किन्तु गोविन्दः। इहसन्देहश्चेत् तसि स्पष्टं शेशीतः। चोकोटितेत्यत्र प्रथमतः अन्सहरे न गोविन्दवृष्णीन्द्राविति गोविन्दः सिद्धः। द्वितीयत इह नृसिंहत्वविरहेण कुटादेरनृसिंहो निर्गुण इति च सिद्धम्। तथाप्येतत् प्रकरणोक्त-परिभाषायाः सर्वापवादत्वाद् तदनुसारेण गणनिर्दिष्ट कार्यं वाधित्वा गोविन्दः।

नचेत्थं कृष्णधातुकेऽपि सर्वत्र कुटादेर्गोविन्दः शङ्कनीयः, तुदादेः कृष्णधातुके निर्गुणत्वस्य स्वतः सिद्धत्वात् तत्र निर्गुणत्वविधानं तु निष्प्रयोजन मिति रामधातुके हि तत्सूत्रस्य प्रवृत्ति विज्ञायते। तेन चोकोटीति चोकोट्टि चोकुट्टः चोकुटतीत्यादयः। एवञ्च रुदादिभ्य इत्यादिना कृष्णधातुके नेट्। एकाच् ग्रहणेन शकादीनां यदनिट्त्वं विहितं तदपीह न स्यात्, अधुना त्वेकाच्त्वाभावादित्याशयः। अतश्च पापचिता वेभिदितेत्यादौ त्विडेव।

अमृता०—४८१. तन्तनेः तसि हरिवेणु हरो न, हरिवेणु हर विधानसूत्रे तनुक्षणु इत्यनुवन्धेन धातुनिर्देशादित्यर्थः।

अमृता०—४८२. हरीति। क्वौ परे कंसारि वैष्णवे च परे हरिवेण्वन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमो भवति। अत्रोद्धव निर्देशेन हरिवेणोर्हराभावं ज्ञापयतीति ध्येयम्।

अमृता०—४८३. क्त्वित्विति। कृति क्त्वा प्रत्यये परे तु क्रमधातोरुद्धवस्य

चत्वारि कार्याण्याह—यथेति। जंहनीति नरं प्रति हरत्वमित्युक्तम्, अतो विष्णुचक्रं न स्यादिति हेतुमाह—बाहुल्यादिति। शीङः शे न स्यादिति अनुबन्धेन ङरामेण निर्द्दिष्टत्वादिति शेषः। शेतेः शयः न स्यादिति। श्तिपानिर्द्देशादिति शेषः। न निर्गुणत्वमिति इट् स्यादिति च गणेन निर्दिष्टत्वादिति शेषः। पापचितेति शकादिष्वपि एकात्तत्वानुवर्णनम् अतोऽत्र एकाचत्वाभावान्नानिट्त्वम्। तत इट् स्यादिति एकाज्ग्रहणं कृत्वा कृत इड् निषेधः अतस्तदभाव इति। न हरिवेणुहर इति हरिवेण्वन्तेत्यादि सूत्रे तन्विति अनुबन्धेन उरामेण निर्दिष्टत्वादिति शेषः ॥४८०॥

बाल०—सुगमम् ॥४८१॥

बाल०—हरि। क्वौ कंसारि-वैष्णवे च परे हरिवेण्वन्तानां धातूनाम् उद्धवस्य त्रिविक्रमो भवति। हरिवेणोः सद्भाव एव त्रिविक्रमो भवति। अत उद्धवस्येति कृतम्॥४८२

जङ्गमति । एकेषां पक्षे जङ्गमति । धातोर्मो नः—जङ्गन्मि जङ्गन्वः ।

तन्तान्त इत्यादि । जंगमीति जङ्गन्ति, जङ्गतः । उद्धवादर्शनं—जङ्गमति । एकेषां पक्षे जङ्गमति । धातो र्मो नः—जङ्गन्मि जङ्गन्वः ।

चञ्चूर्यतेरीटि वामनो, निमित्तापायात् । न नारायणोद्धवस्येति गोविन्द निषेधः—चञ्चुरीति । गोविन्दोऽकंसारि प्रत्ययमपेक्षत इति वहिरङ्गः, त्रिविक्रमस्तु प्रत्ययं नापेक्षत इत्यन्तरङ्गः, तेन चञ्चूर्त्ति । चंखनीति चंखन्ति । जनखनसनामिति चंखातः । मूर्च्छा–मोमूर्च्छीति मोमूर्ष्टि ।

त्रिविक्रमो वा स्यात् । जङ्गमीतीत्यादौ नरं प्रति हरत्वात् नरादरामतो विष्णुचक्रम् । जङ्गत इत्यत्र हरिवेण्वन्तेत्यादि हरिवेणुहरविधान सूत्रे श्तिपादिभिर्निर्देशाभावात् हरिवेणुहरःसिद्ध एव । तत उद्धवारामविरहान्न त्रिविक्रमः । वहुत्वे–गमहनेत्यादिविधाने अत्रत्यापवाद चतुष्टयोक्त लक्षणाभावादुद्धवादर्शनम् । जङ्गमतीति—तेषांमते विभाषयोद्धवादर्शनम् । नारायणदन्तो नस्य हरस्तु सर्वेषांमतम् । विध्यादौ—जङ्गम्यात् । जङ्गमीतु जङ्गन्तु, जङ्गहि । अजङ्गमीत् अजङ्गन् । लृदित्त्वाद् ङः—अजङ्गमत् । ननु अनुवन्धनिर्दिष्टत्वेऽपि कथमिहं न तदपवादः क्रियेत इति चेत्तदुच्यते—सूत्रे सानुवन्ध धातुना हि निर्दिष्टं यत् कार्यं तस्यैवात्र प्रतिषेधः क्रियते, नत सूत्रातिरिक्तस्यानुवन्धकार्यस्येति ङस्य प्रवृत्तिरिह निर्वाधैव । दीक्षित स्तु–अजङ्गमीदिति मन्यते । जङ्गमाञ्चकार जञ्जगाम जञ्जग्मतुः ।

चञ्चूर्त्ती त्यत्र त्रिविक्रमे हेतुमुपन्यस्यति—गोबिन्द इत्यादि । धातोःव प्रागिदुतोरिति त्रिविक्रमविधेर्विष्णुजनवर्णमात्राश्रयत्वान्न हि प्रत्ययाश्रितत्वम्; गोविन्दस्य तु अकंसारि प्रत्ययाश्रितत्वाद् वहिरङ्गत्वम् । अतश्चत्रिविक्रमविधेरन्तरङ्गत्वाद् वलवत्त्वमित्याशयः । अचञ्चुरीत् अचञ्चुः अचञ्चूर्त्ताम् खनो वहुत्वे चङ्खनति । विधौ—चङ्खायात् चङ्खन्यात् । हौ—चङ्खाहि । अचङ्खनीदित्यादि । मोमूर्ष्टीति—छशो राजेति षत्वं, तरामस्य टरामश्च ।

बाल०—क्त्वि तु । क्त्वि तु परे क्रमु पादविक्षेपे इत्यस्य त्रिविक्रमो वा भवति । जंगन्त इति हरिवेण्वन्तेत्यादिना हरिवेणुहरः, अतस्त्रिविक्रमाभावः । जंगमतीति तेषां मते उद्धवादर्शनस्य पाक्षिकतेति । इटि वामन इत्यत्र हेतुमाह—निमित्तापायादिति । यरामस्य निमित्तत्वम् । चञ्चुरीतीत्यत्र गोविन्दः कस्मान्न भवतीत्याशङ्क्य समादधाति गोविन्द इति । अकंसारिप्रत्ययं कंसारिभिन्नं प्रत्ययमित्यर्थः । चञ्चूर्त्तीति तिप्प्रत्ययरूपेण नापेक्षा किन्तु विष्णुजनरूपेणेयि त्रिविक्रमस्य प्रत्ययानापेक्षित्वम् । मूर्च्छेति मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः । मोमूर्ष्टीति । 'छशो राजे' त्यादिना छस्य षः ।।४८३।।

४८४. राच्छवयो र्हरः क्वौ कंसारि वैष्णवे च ।

मोमूर्त्तः । विच्छ–वेविच्छीति वेवेष्टि वेवेश्मि वेविछ्वः ,

दिवु–देदिवीषति । विष्णुजने गोविन्दः ।

४८५. यवयो हरो वले ।

देदेति । ऊठ्त्वे–देद्यूतः । गोविन्दश्च–देद्योमि ।

उरामस्य वृष्णीन्द्र इत्यादौ नतु नारायणस्येति,—योयोति । लोलोति । तुर्वी–तोतूर्वीति तोतूर्त्ति तोतूर्त्तः । ओहाक्–जाहाति जाहीतः । श्तिपा निर्देशान्न जहातेरिश्च । जहेतीत्याद्येके ।

अमृता०—४८४. रादिति । क्वौपरे कंसारि वैष्णवे च परे ररामादुत्तरयो छराम वरामयोर्हरो भवति । मूर्च्छ लङि—अमोमूर्ट् । वेवेश्मीति—छस्यशो वस्यऊठिति छस्य शः । लङि—अवेविच्छीत् अवेवेट् । विष्णुजने गोविन्द इति—उद्धवस्येत्यर्थः । ननारायणोद्धवस्य गोविन्द इत्यादौ कृष्णधातुकसर्वेश्वर एव गोविन्दवारणाद् विष्णुजने तु भवत्येव स इत्यर्थः ।

अमृता०—४८५. यवयोरिति । वलेपरे यवयो र्हरो भवति । यवेत्यराम उच्चारणार्थः । देद्यूत इत्यत्र हरविधौ ऊठ्विधौ च प्राप्ते ऊठ्विधिरेव वलवान्; सर्वविधिभ्यो हरो हरात् सर्वेश्वरादेशो वलवानिति न्यायात्, तथा उत्सर्गापवाद न्यायाच्च । बहुत्वे देदिवति । उत्तम द्वित्व वहुत्वयोः—देदिवः देदिमः । हौ-देद्यूहि । लङि—अदेदिवीत् । अत्र यराम-वरामान्तानामूठ्भाविनां त्रिवि-मिवी वर्जयित्वा यङ्लुग् नास्तीति कैयटः । तत्तु नसर्वसम्मतम् । युधातो रीट् पक्षेयोयवीति । लुङि—अलोलुवीत् । तुर्वी लङि—अतोतूर्वीत्, अतोतूर्व् । जाहातीति—अनीट् पक्षे, इट् पक्षे तु—जाहेति । वहुत्वे जाहति । लङि—अजाहेत् अजाहात् अजाहुः । लुङि—अजाहासीत् । जहेतीत्याद्येक इति—तन्मतेऽत्र नरस्य त्रिविक्रमो नेष्ट इतिभावः ।

बाल०—रात् । क्वौ कंसारिवैष्णवे च परे रादुत्तरयोश्छराम-वरामयोर्हरो भवति । वेवेश्मीति छस्य शो, वस्य ऊठ्, हरिवेणावित्यादिना छस्य शः । विष्णुजनेति गोविन्द इति नारायणोद्धवस्य कृष्णधातुकसर्वेश्वर एव गोविन्द-निषेधात् ।।४८४।।

बाल०—यव । बले परे यवयोर्हरो भवति । देद्यूत इति । "सर्वः विधिभ्यो हरो, हरात् सर्वेश्वरादेशो विधिर्बलवानिति" न्यायेन 'उत्सर्गापवादयोरपवाद' इति न्यायेन च वस्य ऊठ् न तु हरः । तुर्वीति उर्वी तुर्वी धुर्वी हिंसार्थाः । तोतूर्वीतीति "धातोरवप्रागि" त्यादिना त्रिविक्रमः । तोतूर्त्ति तोतूर्त्त इति 'यवयो र्हरो बल' इत्यनेन वस्य हरः । जाहेतीति चक्रपाणेस्तु वेति इट् "अद्वयमिद्वये ए" इति एरामः । जाहीत इति 'दामोदरं विने' त्यादिना ईरामः । जहेतीत्याद्येक इति तन्मते नरस्य त्रिविक्रमो न भवतीति ।।४८५।।

४८६. दंशो नलोपो वा चक्रपाणौ ।

दन्दशीति दन्दंशीतीत्यादि । सासुपीति सोषोप्ति । सास्वपीती–त्याद्येके । टुओ श्वि–शोशवीति शेश्वयीति ।

४८७. श्या श्वि व्या ज्या ह्वां सङ्कर्षणस्य त्रिविक्रमः ।

४८८. वेञस्तु क्विपि ।

शोशूतः ।

४८९. ऋरामान्त-तदुद्भवयो र्नरतो रिरीरो बिष्णवश्चक्रपाणौ ।

अमृता०—४८६. दंश इति । चक्रपाणौ दन्शधातो र्नलोपो वा स्यात् । अनिरा-मेतामित्यादिना नित्यं नलोपे प्राप्ते विभाषावचनमिदम् । दंशेः तसि—दन्दष्टः दन्दंष्टः । लङि—अदन्दशीत् अदन्दंशीत् । एक इति पाणिनीयाः । ते तुसनरस्य स्वापः सोषुप्य इति निपातं न कुर्वन्ति, तेन यङः कपिलत्वाभावाद् वचि स्वपीत्यादिना सङ्कर्षणो न प्रवर्त्तते, ततो नरस्य त्रिविक्रमः । श्विधातोरनीटि तु—शोशोति शेश्वेति ।

अमृता०—४८७. श्या श्वीति । श्येङ् गतौ, टुओश्वि गतिवृद्धयोः, व्येञ् सम्वरणे, ज्या वयो हानौ, ह्वेञ्स्पर्द्धायामित्येतेषां सङ्कर्षणस्य त्रिविक्रमः स्यात् ।

अमृता०—४८८. वेञ इति । क्विपि परे एव वेञः सङ्कर्षणस्य त्रिविक्रमः स्यान्नान्यत्र । तत्र तिपि पदं साधयित्वा पश्चात् सङ्कर्षण-त्रिविक्रम करणेनात्र गोविन्दस्य नित्यत्वं ज्ञापितम् । एतच्चोपलक्षणम् । तेन शुशाव शुशुवतुरित्यादौ वृष्णीन्द्र उव् च नित्यौ, त्रिविक्रमे कृतेऽपि तयोरनिवार्यत्वात् । यङि तु वामनस्य त्रिविक्रमे इत्यादिना हि सिध्यतीष्टमिति तत्र न कृतमिदम् । सङ्कर्षणाभावे–शेश्वितः । वहुत्वे शोशुवति शेश्वियति । लङि—अशोशवीत् अशेश्वयीत् अशोशोत् अशेश्वेत् । उसि—अशोशवुः अशेश्वयुः । लुङि—अशोशुवीत् अशेश्वियीत् ।

अमृता०—४८९. ऋरामान्तेति । चक्रपाणौ सति ऋरामान्तस्य ऋरामोद्भवस्य च

बाल०—दंशो । दन्श दंशने इत्यस्य चक्रपाणौ नलोपो वा भवति । नलोप इत्यत्र न हरः इति वा पाठः । नित्यं नलोप इति क्रमदीश्वरादयः । सास्वपीतीत्याद्येक इति तन्मते सङ्कर्षणाभावः । शोशवीति सङ्कर्षणं प्रति हरत्वात् 'श्वेः सङ्कर्षणो वा यङधोक्षजयोरि' त्यनेन सङ्कर्षणः ।।४८६।।

बाल०—श्याश्वि । श्येङ् गतौ, टुओश्वि गति-वृद्धयोः, व्येञ संवरणे, ज्या वयोहानौ, ह्वेञ् स्पर्द्धायाम् इत्येतेषां सङ्कर्षणस्य त्रिविक्रमो भवति । मित्रहूरित्युदाहरणमपि कृत्प्रकरणे वक्ष्यते । श्येङ् धातोः सङ्कर्षणविधान वक्ष्यते ।।४८७।।

बाल०—वेञ् । वेञ् तन्तुसन्ताने इत्यस्य तु सङ्कर्षणस्य क्विपि परे त्रिविक्रमो भवति । उरित्युदाहरणं कृत्प्रकरणे वक्ष्यते ।।४८८।।

महाहरत्वान्नरीरामादेश इरुरौ च। डुकृञ् करणे। नरस्य गोविन्दः; नरविष्णुजनानामादिः शिष्यते, विष्णुरहितेति विशेषणान्नात्र त्रिविक्रमः —चरिकरीति चरीकरीति चर्करीतीत्यादि। ऋ गतौ। अर्यर्त्ति अरर्त्ति अर्यरीति अररीति। अर्यृतः अर्यतीत्यादि। वरिवृतीति वरीवृतीति वर्वृतीतीत्यादि।

कॄ विक्षेपे। विष्णुरहितारामान्तस्य तु त्रिविक्रम,—चाकरीति। पॄ पालन-

---

धातो नरादुत्तरेरिरीर इत्येवं त्रयो विष्णवो भवन्ति। तेत्र तेषामेकदा एक एव स्यान्न किन्तु युगपत् सर्वे।

महाहरत्वादिति—यङो महाहरत्वाद् निमित्तरहितत्वेन ऋरामस्य रीः क्य-यङो-रिति न स्यात्। तथा वामनस्य त्रिविक्रमे कृते ॠरामस्येर्, ओष्ठ्योद्धवस्य ॠत ऊर् इति च प्राप्तुमर्हतः किन्तु तौ चेह नस्याताम्।

ननु धातुं प्रति हरत्वमित्युक्तम्, कथं पुन र्महाहरत्वमुच्यत इति चेत्? तत्र शृणु समाधानम्—"उत्तरहरे न गोविन्दवृष्णीन्द्राविति निषेध श्चक्रपाणेः कृष्णधातुके न स्यादिति" प्रतिषेधोहि धातुं प्रति हरत्वमिति परिभाषाया अनित्यत्वं ज्ञापयति। अत इष्टानुरोधादिह यङ् महाहरस्य यथार्थं चरितार्थता समीचीनैवेति।

चर्करीतीत्यादि—आदिना अनीट् पक्षे च—'चरिकर्त्ति चरीकर्त्ति चर्कर्त्ति। तसादो चरिकृतः ३। चरिक्रति ३। चरिकरीतु ३ चरिकर्त्तु ३। अचरिकरीत् ३ अचरिकः ३। अचरिक्रीत् ३। चरिक्राञ्चकार ३। चरिक्रियात् ३। चरिक्रिता ३। चरिक्रिष्यतीत्यादि। अर्यर्त्तीति—अनीट् पक्षे, नरस्य गोविन्दः, रिविष्णुः, नरविष्णु जनानामादिः शिष्यते, धातो गोविन्दः, इद्वयं यः एवमेव रीविष्णौ। रविष्णौ तु अरर्त्ति। अर्यरीतीति—रिविष्णौ रीविष्णौ च ईट् पक्षे, अन्यत् समानम्। अररीतीति—ईटि रविष्णौ। अर्यृत इति—तसि रिरीविष्ण्वोः सन्धि मात्रम्। अर्यृतीति वहुत्वे। तसि रविष्णौ तु अरॄतः। वहुत्वे—नरस्य गोविदे, रविष्णौ च सति ऋद्वयं रः, ततो नरविष्णुजनयो रादौ रक्षिते, रोरेलोप्यः पूर्वश्च त्रिविक्रम इति आरति।

बाल०—ऋरा। ऋरामान्तस्य ऋरामोद्धवस्य च नरत् उत्तरे चक्रपाणौ रिरीरो विष्णवो भवन्ति। नरीरामादेश इरुरौ चेति ऋरामस्येति शेषः। 'रीरामस्य क्वयङोरि' त्यनेन रीरामादेशः स्यात्। वामनस्य त्रिविक्रमे कृते इरुरौ स्याताम्। नरस्य गोविन्द इति नरं प्रति हरत्वमित्युक्तत्वात्। अर्यर्त्तीति रिविष्णौ रीविष्णौ। अर्यरीति अररीतीति ईट् पक्षे। अयृतः अर्यृतीति रिविष्णौ रीविष्णौ च। रविष्णौ तु अरॄतः आरतीति। वरीवृतीतीति वृतु वर्त्तने 'न नारायणोद्धवस्ये' त्यादिना गोविन्द-निषेधः। चाकरीतीति महाहरत्वान्न इर्। पापरीतीति महाहरत्वान्न उर्। मरिमृजितीत्यत्र 'मृजेर्वृष्णीन्द्र' इत्यनेन वृष्णीन्द्रः कस्मान्न भवतीत्याशङ्क्य समादधाति उद्धवस्येति। गोविन्दस्थानीयस्येति

पूरणयोः। पापरीति। उद्धवस्य गोविन्दस्थानीयस्य वृष्णीन्द्रस्यापि निषेधः --मरिमृजीति मरिमार्ष्टि।

४९०. ननृत्यादेरीट्।

नरिनर्त्ति नरिनर्त्सि। सर्वत्रैवेटि कार्ये रामधातुकपरत्वं ज्ञेयम्। तेन नृतीकृत्यादेरिति नेट्।

इह रिरी पक्षयोः नरेदुतोरियुवाति इय्विधिमनाश्रित्य यत् सन्धिकार्यमाश्रीयते तत् खलु चक्रपाणि कार्यबाहुल्यस्येहैव चातुर्विध्य पूर्त्तये। यथा—नरस्य गोविन्दे प्रवृत्तिः, श्तिपादि निर्दिष्ट कार्येऽप्रवृत्तिः, लिटि आम् विधौ विभाषा, तथात्र च इय् विधावन्यथा-भावः सन्धिरिति। क्वचिद्धस्तलिखित ग्रन्थे तु रिरीविष्णवोः पदेषु वैकल्प्यं परिलक्ष्यते। यथा—अरियर्त्ति, अरियरीति, अरियृतः, अरियृतीति। साधनञ्चैषां सन्धिस्थले नरेदुतोरितीयादेशो विशेषः, अवशिष्टंसमानम्। एवमेव सिद्धन्तकौमुद्याञ्चोपलभ्यते। केचित् पुन र्बाहुल्यात् इय्-सन्ध्यो द्वयोरप्यप्रवृत्ति मन्यन्ते। अरिअर्त्ति अरर्तीत्यादि।

लङि ईटि—आर्यरीत् आररीत्। अनीटि—आर्यः आरः। बहुत्वे—आर्यरुः आररुः। लुङि—श्तिपा निर्देशान्न हि ङः—आरिरीत् आरीरीत् आरीत्। दीर्घ रीविष्णोश्च ग्रहणसामर्थ्यान्नहि नरस्य वामनः, इहैव तद्दीर्घागमग्रहणस्य साफल्यं ज्ञेयम्। वरिवृतीति—वृतु वर्त्तने; ननारायणोद्धवस्येति गोविन्दाभावः। इत्यादिपदेन अनीटि वरिवर्त्तीत्यदि त्रयम्। वरिवृतः ३। वरिवृतति ३। लङि—अवरिवृतीत् ३ अवरिवर्त्त ३। लुङि—गणनिर्दिष्टत्वान्नङः—अवरिवृतीत्। लृटि—गणनिर्दिष्टत्वेन वृतुवृधु इत्यादिना नेड्निषेधः—वरिवृतिष्यति।

कृ—चाकरीतीति महाहरत्वान्न इर्। अनीटि—चाकर्त्ति। तसादौ—चाकीर्त्तः, चाकिरति। लङि—अचाकरीत् अचाकः अचाकरुः। लुङि —अचाक्रीत्। लुटि—चाक्रिता चाकीता। एवञ्च पॄ—पापर्त्तीत्यादि। उद्धवस्येति—मृजेर्वृष्णीन्द्र इति विधिः खलु लघूद्धवस्य गोविन्द विधानस्थले हि प्रवर्त्तते, ततो न नारायणोद्धवस्येत्यादिना यदा गोविन्दो निषिद्धः तदा तत्स्थले प्रवृत्तस्य वृष्णीन्द्रस्यापि निषेधोऽत्रगम्यते। तत ईटि नवृष्णीन्द्र इतिसरलार्थः। लङि—अमरिमृजीत् अमरिमार्ट्। लुङि—अमरिमृजीत्।

अमृता०—४९०. नेति। चक्रपाणेः पृथुविष्णुजने विभाषया य ईड् विहितः सतु नृत्यादेर्धातो रुत्तरे नस्यात्। नृत्यादि पदेन प्रागुक्ताः नृती कृति चृति छृदिर् तृदिर् पञ्चैत-एव ग्राह्याः। एवञ्च री र विष्णवोः सतोः—नरीनर्त्ति नर्नर्त्ति। ननु नरिनर्त्सीयत्र नृती कृत्यादेरिड् वेत्यनेन कथमिट् न प्रवर्त्तते, अत्रापि सरामस्य विद्यमानत्वादिति चेत्?

वृष्णीन्द्रस्य विशेषणम्। गोविन्दस्य निषेधत्वात् गोविन्दस्थानीयस्य वृष्णीन्द्रस्यापि निषेध इति॥४८९॥

बाल०—न नृ। नृत्यादेरुत्तरे ईट् न भवति। ननु नरिनर्त्सीत्यत्र 'नृति कृत्यादेरिड्

वृ-वरिर्वत्ति । तृणु—ऋद्वये ररामांशसद्भावाद् रषाभ्यां टुस्तवर्गजः, नवर्ज तवर्गस्थस्येत्यादिना भूतपूर्वस्य च मूर्द्धन्यस्यापायात्—तरितर्त्ति । हरिवेण्वन्तोद्धवस्येत्यादि तरितृन्तः ।

४९१. णटाभ्यां सः षः ।

तरितर्ण्षि । घट—जाघट्षि ।

४९२. तथा केवलेन सरामेण व्यवधानेऽपि षत्वमिष्यते सरामस्य च तस्य ।

तत्राचष्टे—सर्वत्रैवेत्यादि । इह सिपस्तु कृष्णधातुकत्वान्नेट: प्रवृत्तिरित्यर्थः । लङि—अनरिनर्त ३ । लुङि—अनरिनृतीत् ३ । गणनिर्दिष्टत्वाद् विकल्पितेट्त्वं न—नरिनृतिष्यति ३ । केचिदत्रसाधारण सूत्रेण विभाषया मन्यन्ते ईटम्—नरिनृतीतीत्यादि काशिका ।

वृइति वृञ् वरणे, वृङ् संभक्तौ द्वयोरेव ग्रहणम् । अनीटि वरिवर्त्तीति । ईटि तु वरिवरीति । एवञ्च री र विष्ण्वोः रूपाणि ज्ञेयानि । तसादौ—वरिवृतः वरिव्रति । अवरिवरीत् अवरिवः अवरिवरुः । अवरिव्रीत् । वरिव्रिता वरिव्रीता । अवरिव्रिष्यत् अवरिव्रीष्यत् ।

रषाभ्यां टु स्तवर्गज इति—ऋरामैकदेशात् ररामादुत्तरे स्थित त्वात् तवर्गस्य टवर्गत्वमासीत्; ररामविश्लेषे तु पूर्वं जातस्य मूर्द्धन्यस्य पुनश्च दन्त्यत्वम् । अधुना तवर्गस्य नस्य ररामपरत्वेऽपि न णत्वं, नवर्जतवर्गस्थस्येति निषेधादिति तात्पर्यम् । ईटि तु तरितृणीति । अनुवन्धेन निर्देशात् द्वित्वे हरिवेण्वन्त स्रहजानिटागिति न हरिवेणु हरः, ततस्त्रिविक्रमः ।

अमृता०—४९१. णटाभ्यामिति । णराम-टरामामुत्तरो दन्त्यसः मूर्द्धन्यषः स्यात् । सर्वत्र धातुप्रकरणे रषऋद्वयेति पूर्वनिमित्तमनुवर्त्तितव्यम्, इह तु णटाभ्यामित्यपूर्वमिदम् । लङि—अतरितर्ण् अतरितृणीत् अतरितृन्ताम् अतरितृणुः । लुङि—अतरितृणीत् । घट इटि—जाघटीति । (जाम्ववती काव्यादौट् पक्षीयः प्रयोगः प्रागेव दर्शितः ।)

अमृता०—४९२. तथेति । सर्वेश्वरादि रहितेन केवलसरामेण व्यवधानेऽपि प्रत्यय-विरिञ्चि सस्य षत्वमिष्यते, तथा येन व्यवधानेन तत् सस्य षत्वं, तस्य सरामस्यापि

वा से सि विने' त्यनेन इट् कस्मान्न भवतीति चेत्तत्राह—सर्वत्रैवेति । कार्ये कर्त्तव्ये । तृण्णिति । 'रषाभ्यां टुस्तवर्गज' इत्यनेन भूतपूर्वस्येति यद्वक्ष्यते तदेव दृढीकृतम् । भूतपूर्व-स्येति पूर्वं भूतस्येत्यर्थः । मूर्द्धन्यस्येति मूर्द्धन्योऽत्र टवर्गान्तः । नवर्जेत्यादि निषेधसूत्रमेव मूर्द्धन्यापाये हेतुरतएवोक्तं नवर्जतवर्गस्थस्येत्यादिनेति ।।४९०।।

बाल०—णटा । नराम-टरामाभ्यामुत्तरः सरामः षरामो भवति । घटेति घट चेष्टायाम् ।।४९१।।

पिसृ-पेपेष्षि। केवलेनेति किम्—नेनेंस्सि।

ग्रहि ज्या—जरिगृहीति। सङ्कर्षण-ढत्व-धत्व-टवर्गत्व-गोविन्द-ढलोपाः—जरगाढि। न सङ्कर्षण इत्येके—जाग्रहीति। ढत्व-धत्व-टवर्गत्व-ढलोप-त्रिविक्रमाः—जाग्राढि। आदौ सङ्कर्षणः, ततो द्विर्वचनम्, रिरीरः—जरिगृढः, जरिगृहति।

गृधु अभिकाङ्क्षायाम्। जरिगृधीति जरिगर्द्धि। अजरिगृधीत्। गोविन्दः दिस्यो हरः; अत्र गोविन्द-रिरीर-हरिघोषत्वम्। हरिकमल-हरिगदे—

षत्वमिष्यत इत्यर्थः। जरिगृहीतीति—आदौ सङ्कर्षणे सति ऋमध्यत्वात् रिविष्णुः। एवं री विष्णौ रविष्णौ च—जरीगृहीति जगृहीति। जरिगर्ढीति अनीटि रिविष्णौ। पाणिनि-सम्मतमेतत्। न सङ्कर्षण इति तु कालापाः। तन्मतमप्यनुमोदयन् प्रयोगान् साधयति—जाग्रहीतीत्यादि। सङ्कर्षणविरहेण ऋमध्यत्वाभावान्न हि विष्णवः। ततो विष्णु रहितेत्यादिना नरस्य त्रिविक्रमः। जाग्राढीति कलापमते ईडभावपक्षे। जरिगृहतीति वहुत्वे नारायणादन्तो नस्य हरः।

लुङि अजरिगृहीत्। यङन्तादिटो दीर्घो नेति ग्रहे रिट् न दीर्घः, अन्यथा सेर्हरो न स्यात्, तत्र ह्रस्वेट एवनिमित्त त्वात्। जरिगृहामास जरिगृह्। अजरिगृधीदिति लङि ईट् पक्षे। अत्र गोविन्देति—नरस्य गोविन्दः, ततो नरविष्णुजनानामादिः शिष्टः। हरिघोषत्व-मितिजवर्जे हरिगदादे रित्यादिनादौ घत्वम्। हरि कमल हरिगदे इति—एकत्वे धरामस्य हरिकमलम्, द्वित्वे धातो र्धरामस्य हरिगदा, प्रत्यय तरामस्य च हरिघोषत्वम्। अजरिघा इति—धातो र्गोविन्दे हरिघोषत्वे च दधो रुः, ततो रोरे लोपः त्रिविक्रमश्च।

अमिति—सृजिदृशोरमकपिल वैष्णव इत्यनेनेत्यर्थः। लङि—अदारिदृशीत् अदरिद्रष्ट् अदरिदृशुः। दरिदृशिता; इह अम् तु न, नित्यमिट्तया वैष्णवपरत्वाभात्। कपिल वैष्णवे तु-दरिदृष्टः। एवं सरिसृजीति सरिस्रष्टीत्यादि। कृष स्पृश मृशप्रभृतीशोद्धव हरिगोत्रान्ता-नान्तु चक्र पाणौ सक् न, शकादिषु पाठेनात्रानिट्त्वविरहात्। ततएव ऋरामोद्धव सहजानिट इति अम् च नस्यात्।

बाल०—तथा। व्यक्तार्थ मिदम्। तस्येत्यनेन येन व्यवधाने षत्वं तदा कर्षणम्। पिसृ इति पिसृ गतौ भ्वादिः परपदी। नेनिंस्सीति निसि चुम्बने अदादिरात्मपदी। एते नृत्यादयः आकृतिगणत्वात्। सङ्कर्षणेति टवर्गत्व ढत्वम्। जाग्रहीतीति ऋरामोद्धवत्वा-भावात् न रिरीरो विष्णवः। जाग्राढीति इडभावपक्षे। जरिगृढ इति ऋरामस्य नेत्यनेन त्रिविक्रम-निषेधः। जरिगृहतीति 'नारायणादन्तो नस्य हर' इत्यनेन नस्य हरः। जरिगृधीतीति 'न नारायणोद्धवस्ये' त्यादिना गोविन्दनिषेधः। गोविन्दावित्यत्र धातुपदेन धात्ववयवोऽपि गृह्यते इत्युक्तम्। हरिकमल-हरिगदे इति अजरिगृद्धामित्यत्रापि हरिगदेति

अजरिघर्त् अजरिगृद्धाम् अजरिगृधुः। दधो रुः सिपि वा, रोरे लोप्यः पूर्वस्य चेति—अजरिघाः अजरिघर्त् इत्यादि। दरिद्दशीति, अम् दरिद्दष्टीत्यादि। किञ्च षत्वे सुवत्यादिवत् स्यति स्तोभति स्यन्दति स्फुरति स्कभ्नातयोऽपि शितवन्ता ज्ञेयाः।

सङ्कर्षणे च वश्यादयोऽपि। ण र्णत्वे हन्त्यादिवत् स्यति याति वपति

प्रकरणोपयोग्यपरञ्चोपदिशति–किञ्चेति। वक्ष्यमाणोपेन्द्र सम्पर्कि षत्वविधौ—"उपेन्द्रात् सुवतेः षत्वमित्यादौ सो स्तुभ स्तुवामित्यत्र तथा स्यन्दि प्रभृतिषु च शितपा निर्देशाभावात् तेषां षत्वमिह प्रसज्यते इति शितवन्तत्वं तेषामतिदिश्यते मुन्याभिमत दर्शनात्। शितवन्तविज्ञाने सति चक्रपाणौ तेषां षत्व प्रवृत्ति शङ्का न जनिष्यतीति भावः। तेन परि सोसोति अतितोस्तोतीत्यादि सिध्यति।

सङ्कर्षणे चेति—ग्रहिज्येत्यादि सूत्रे वशि प्रभृतयश्च पञ्च शितवन्ता ज्ञेयाः। तेन चक्रपाणौ सङ्कर्षणं प्रति हरत्वोक्त्या प्राप्तेऽपि नैषां सङ्कर्षणः। वावशीति वावष्टि, वाव्यधीति वाव्यद्धि, वाव्रश्चीति वाव्रष्टि, पाप्रच्छीति पाप्रष्टि, वाभ्रज्जीति वाभ्रष्टीति पाणिनिसम्मतमेतत्सर्वम्। तथा उपेन्द्राद् नेर्णत्व विधौ सो या प्रभृतयश्च शितपा न निर्दिष्टा अपि हन्त्यादिवत् शितवन्ततया ग्रह्याः। तेन प्रनिसोसोति प्रनिवावसीत्यादौ निनिपातस्य (उपेन्द्रस्य नेः) नैव णत्वम्।

अन्येऽपि संग्राह्या इति—धातुग्रहणे चक्रपाणेरपि ग्रहणं भवतीत्युक्तित चक्रपाणे रुत्तरेऽपि णिः प्रयोक्तुं शक्यते। यथा—वोभुवयति, चरिक्रयति। एवं युक् च–शाशाययति पापाययति। ह्वे ञ् व्येञोस्तु यजादिगेपाठात् सङ्कर्षणाभावः,–जाह्वाययति वाव्याययति। हन्तेः–जंघतयतीत्यादि ज्ञेयम्। एवञ्च चक्रपाणेरुत्तरे सन्नपि प्रयोक्तव्यः। वोभूषति जंगमिषति। पृथक् धातु स्वरूपत्वात् इवन्त ऋधेति न विभाषितट्त्वं किन्तु नित्यमिट्; अतश्च ननिपाताः–दादभिषति पापतिषति दादिषति दाधिषति देदिविषति।

ज्ञेयम्। अजरिघर्त इत्यत्र 'रातसस्यैवेति' नियमात् न सत्सङ्गान्तहरः। अजरिगृधुरिति 'सि नारायणे' त्यादिना अन उस्। अजरिघर्त्त इति रोरभावपक्षे अमिति 'ऋरामोद्धव सहजानिटोऽम् वा वैष्णवादावकपिले' इत्यनेनेति शेषः। अमभावपक्षे दरिदर्ष्टीति। किञ्चेति स्यति-स्तोभति स्यन्दति-स्फुरति-स्कभ्नातयोऽपीत्यस्यापि श्तिवन्ता ज्ञेया इत्यनेनान्वयः श्तिपा निर्द्दिष्टत्वात् चक्रपाणौ यथा सुवतेः षत्वं न भवति। तथा स्यति-स्तोभतीत्यादीनामपि न भवतीति। सङ्कर्षणे चेति 'श्यैङः सङ्कर्षणो विष्णुनिष्ठायां श्वेः सङ्कर्षणो वा यङधोक्षजयोरि' त्यादिना प्राप्ते सङ्कर्षणे। श्यादयोऽपीति-श्या-श्वि-व्या-ज्या-ह्वाः ज्ञेयाः। तर्हि कथं श्विधातोः शोशवीतीत्यादि रूपमुक्तम्? तदेतच्चिन्त्यमिति चेत्तत्रैवं वाच्यं शोशवीत्यत्र यङ् विषये यत् सङ्कर्षणं तस्यैवोदाहरणम्, न तु चक्रपाणौ सति प्राप्तसङ्कर्षणस्योदाहरणमिति। नेर्णत्व इति। श्तिपानिर्द्दिष्टत्वात् चक्रपाणौ हन्त्यादिषु

वहति शाम्यति चिनोति देग्ध्रयः। इति चक्रपाणयो बहुलमन्येऽपि संग्राह्याः।

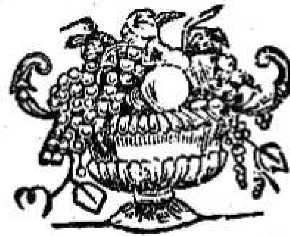
।। इतिचक्रपाणि प्रक्रिया ।।

ण्यन्तात् सन्नन्ताद् वा चक्रपाणि स्तु नस्यात्, एकाधिक सर्वेश्वरत्वेन यङः प्रसङ्गा-भावात्। चुरादौ युजादे णे रभावेतु भवत्येव;–योयुजीति योयोक्तीत्यादि सन्ध्येयम्।

इति श्रीहरिनामामृतेऽमृतास्वादिन्यां सम्पूर्णा
चक्रपाणि प्रक्रिया विवृतिः।

परेषु यथा नेर्णत्वं न भवति, यथा स्यत्यादिष्वपि न भवतीति। चक्रेति बहुलमिति क्रियाविशेषणम् ।।४८२।।

।। इति यङन्ताश्चक्रपाणयः ।।



अथ नामधातु प्रक्रिया ।

४९३. नामविष्णुपदात् प्रत्ययः ।

विभुरयम् ।

४९४. यमिच्छति तस्मात् क्यन् ।

क्यच् पा । पुत्रमिच्छतीति क्यनि उक्तार्थानामप्रयोग इति न्यायेनेच्छतेरप्रयोगः । पुत्रं क्यन्, कनावितौ । पुनः क्यनादिना सहैकपदत्वं भविष्यति, पुनर्विष्णुभक्ति सिद्धत्वात्, ततश्च ।

४९५. अन्तरंगस्वादे र्महाहर एकपदत्वारम्भे ।

पुत्र य इतिस्थिते,

अमृता०—४९३. नामेति । नाम्नो जातं विष्णुपदं नामविष्णुपदं, तस्मादुत्तरे क्यनादि लक्षणः प्रत्ययो भवति । चक्रपाण्यन्ते हि धातोरित्यधिकारो निवृत्तः । यद्यपि नामविष्णुपदात् तद्धित प्रत्यया अपि स्यु स्तथाप्यस्य प्रकरणस्य नामधातु प्रक्रियाख्यत्वात् "सनाद्यन्ताश्चधातव" इत्यत्र आदिशब्दोपात्ताः क्यनादि प्रत्यया एवोपलभ्यन्ते, यैर्योगे नाम विष्णुपदान्ताश्च धातुसंज्ञत्वं लभन्ते । विभुरिति–अनेकाधिकार व्यापी विभुनामाधिकार एषः ।

अमृता०—४९४. यमिति । इच्छतेः कर्मपदात् क्यन् प्रत्ययः स्यात् । करामइत् मिदमात्र ज्ञापनाय नतु कपिलत्वाय, प्रयोजनाभावात् । उक्तानामिति—उक्ता अर्था येषां ते उक्तार्थाः, तेषां प्रयोगा न भवन्ति, पुनरुक्तदोषादित्यर्थः । अत्र इच्छार्थे क्यन् प्रत्ययस्य विधानात् तेनैव इच्छा उक्ता, अत क्यनि सति इच्छति नैव प्रयोक्तव्य इति तात्पर्यम् । पुनर्विष्णुभक्तिसिद्धत्वादिति—क्यनादि प्रत्ययान्तानां धातुसंज्ञत्वात् तदुत्तरे तिवादि विष्णु भक्तिसिद्धेरितिभावः । द्वितीयान्तनिर्देशेन किम्—पुत्रेणेच्छतीत्यादौ तु न ।

अमृता०—४९५. अन्तरङ्गेति । एकपदत्वे आरम्भे सति अन्तरङ्गस्वादिविष्णुभक्ते र्महाहरः स्यात् । इह भाविनि भूतवदुपचारेण भाविविष्णुभक्तिमपेक्ष्य हि प्राक्-सिद्धाया अन्तरङ्गता ज्ञेया, प्रकृतावपि पूर्वमन्तरङ्गमिति न्यायात् ।

अथ विभुः (नामधातुः)

बाल०—नाम । नाम्ना सिद्धं विष्णुपदं नामविष्णुपदं तस्मादुत्तरे प्रत्ययो भवति । विभुरिति । विभुनामा अधिकार इत्यर्थः ।।४९३।।

बाल०—यमि । व्यक्तार्थमेतत् । उक्तार्थानामिति उक्तोऽर्थो येषामिति विग्रहः । इच्छतेरप्रयोग इति इच्छार्तस्य क्यनैवीक्तत्वात् । पुनः क्यनादिनेति क्यनादिना सह पुनरिति त्वर्थः पुनः शब्दः, न त पुनर्वारार्थः ।।४९४।।

४६६. अद्वयस्य ईः क्यनि ।

पुत्रीय । धातुसंज्ञा, तिप् शवादि–पुत्रीयति । एक वचनमतन्त्रम्, पुत्रमिच्छति–पुत्रीयतीत्यादि । आत्मार्थैवेच्छा गम्यते । अन्यपद सापेक्षतायां नस्यात् । भ्रातुः पुत्रमिच्छति, महान्तं पुत्रमिच्छति इति । भ्रातुष्पुत्रीयतीति तु समस्तत्वात् । पुत्रीयति श्रीकृष्णमिति तु पश्चाद् योगेन । लक्ष्मणं सा वृषस्यन्तीति भट्टिवत् । उपेन्द्रारस्त्रिविक्रम इत्यादि–प्रर्षभीयति प्रार्षभीयति । उपल्कारीयति उपाल्कारीयति । नेह—उप ऋकारीयति उपर्कारीयति । उतेन्द्राद्वयहर इत्यादि—उपेकीयति उपैकीयति । एवं गामिच्छति–गो य इति स्थिते,–

अमृता०—४६६. अद्वयस्येति । क्यन् प्रत्यये परे अद्वयस्य स्थाने इः स्यात् । आत्मार्थैवेति—आत्मने इयम् आत्मार्था; इच्छा आत्मार्था हि गम्यते नतु परार्था । अयमर्थः—अकर्त्तृकाया इच्छाया असम्भवात् सूत्रे यमिच्छतीत्यत्र कर्त्ता स्वयमिति अर्थादेव लभ्यते । तस्मादन्यस्य इच्छायान्तु क्यन् न स्यादनभिधानादिति ।

अन्यपदसापेक्षतायां नेति—"नसापेक्षे कृत्तद्धितसमासाश्च" इति प्राचामुक्तौ चकारादाख्यातिक प्रत्ययाश्च निषिद्धा इत्यवगन्तव्यम् । भ्रातुष्पुत्रीयतीति—समासे "ऋरामाद् विद्यायोनि सम्बन्धे" इत्यनेन षष्ठ्या अलुक् । अत्र भ्रातुष्पुत्र इति समस्त पदात् क्यन् । ननु पुत्रीयति श्रीकृष्णमित्यत्र सापेक्षत्वेऽपि कथं क्यन् दृश्यत इति चेत्तत् समाधत्ते—पश्चाद् योगेनेति । सापेक्षित्वं खलु एकार्थीभावपदातिरिक्तपदसम्बन्धित्वम् । पुत्रमिच्छतीति प्रथमावस्थायामेकपदत्वारम्भकपदद्वयातिरिक्तः पदसम्बन्धो नास्तीति न सापेक्षत्वं किन्तु पश्चात् श्रीकृष्णमिति विवक्षितं कर्मपदं योजितमित्यदोषः । एतच्च भट्टि-प्रयोगेण दृष्टान्तयति—लक्ष्मणमिति । मैथुनेच्छायां वृषशब्दस्य वृषस्य इति निपातो वक्ष्यते । लक्ष्मण शब्दस्य पश्चाद् योगः । उपेन्द्रार इत्यादौ नामधातौ तु वा तदलश्चेति त्रिविक्रम विकल्पः । क्यना सिद्धे ऋषभीय धातौ पश्चात् प्रशब्दो योजितः । नेहेति–"नतु त्रिविक्रमभवस्येति" इति निषेधादित्यर्थः । उपेकीयत इति– एकमिच्छतीत्यर्थे क्यन्, पश्चादुपेन योगः ।

बाल०—अन्त एकपदत्वस्यारम्भे अन्तरङ्गस्यादेर्महाहरो भवति । अन्तरङ्गेति विशेषणं किमर्थमुक्तमिति न निश्चितमिति चेत् केनाप्युच्यते तदैवं वाच्यं प्रकृत्याश्रितं प्रकृतावपि पूर्वपूर्व्वमन्तरङ्गमिति न्यायेन पूर्वसिद्धस्वादेरन्तरङ्गत्वादिति विशेषणमुक्त पुनर्विष्णुभक्तिप्राप्तेरिति ॥४६५॥

बाल०—अद्व । क्यनि परे अद्वयस्य स्थाने ई भवति । एकेति अतन्त्रं न नियत-मित्यर्थः । आत्मायार्थैवेति इच्छा आत्मार्थैव गम्यत इति इच्छायाः परार्थत्वे क्यन् न भवतीति भावः । भ्रातुः पुत्रमिच्छति महान्तं पुत्रमिच्छतीति अत्रापि आत्मार्था एवेच्छा

४९७. ओद्वयस्यावावौ प्रत्यय ये ।

४९८. धातुसम्बन्धि नस्तु नान्यनिमित्तस्य ।

गव्यति । नावमिच्छति नाव्यति । धातोः—कृति लव्यम् भाव्यम् । अन्यनिमित्तत्वान्नेह—आ ऊयते ओयते औयत ।

अमृता०—४९७. ओद्वयस्येति । प्रत्यय सम्बन्धिनि यरामे परे ओरामस्य स्थाने अव्, औरामस्य आव् इत्यादेशः स्यात् ।

अमृता०—४९८. धात्विति । धातुसम्बन्धिन ओद्वयस्य यौ अवावादेशौ, तौ पुनः प्रत्ययनिमित्तकस्यैव ओद्वयस्य भवतौ नतु प्रत्ययादन्य निमित्तकस्य । पूर्व सूत्रेण धातोरथातो रिति सामान्येनोक्तिः, अनेन तत् सङ्कोच्य धातुमात्रसम्बन्धि न औद्वयस्येति नियम उक्तः । लव्यमिति—'सर्वेश्वरान्तधातो र्यत्' इत्यनेन लूञ् धातोर्यत् प्रत्ययः । धातोरन्तस्य गोविन्द स्ततः अव् अत्र प्रत्यय यरामं निमित्तीकृत्य हि गोविन्द इत्ययमोरामः प्रत्ययनिमित्तः । एवं भाव्यमिति—'उद्वयाण्यदावश्यके" इत्यनेन भूधातौ ण्यत् । अन्तस्यवृष्णीन्द्रः । इहापि प्रत्यय नृसिंह यरामं निमित्तीकृत्य औरामो विहित इति प्रत्ययनिमित्तएव सः ।

व्यावृत्तिमाह—अन्येति । ओयत—आङ् पूर्वस्य वेञः कर्मणि ते, यक्, वचिस्वपीति सङ्कर्षणः, वामनस्य त्रिविक्रम स्तत उद्वये ओः । अत्र ओरामस्य निमित्तामारामो नतु प्रत्ययः । औयतेति—वेञ् कर्मणि लङ् त । इह वृष्णीन्द्रभवौरामस्य निमित्तामदागम—स्तेन न आव् । प्रत्यय यइति किम्—गोयानम् नौयानम् ।

किन्त्वन्यपदसापेक्षत्वान्न क्यन् । अन्यपदसापेक्षत्वमत्र विवक्षाधीनं नत्वावश्यकमिति ज्ञेयम् । भ्रातुष्पुत्रीयतीति भ्रातुष्पुत्रशब्दः समस्तः ऋरामाद्विद्यायोनिसम्बन्ध इत्यदेन षष्ठ्या महाहरनिषेधः । ननु पुत्रीय धातोरकर्मकत्वात् पुत्रीयति श्रीकृष्णमिति कथं भवतीति चेत्तत्राह—पुत्रीयतीति । वृषस्यन्तीति अश्वस्य वृषस्यौ मैथुनेच्छायामिति वक्ष्यते । वृषशब्दोऽत्र शुक्ल पुरुषवचनः । पुंमात्रवाचित्वे तु अर्थासङ्गतिः स्यात् । प्रर्षभीयतीति 'ऋषभो वृषभो वृष' इत्यमरः । नेहेति न तु त्रिविक्रमभवस्येत्युक्तत्वात् ।।४९६।।

बाल०—ओ । प्रत्यये परे ओद्वयस्य स्थाने अवावौ भवतः । ओद्वयस्येति सामान्यत उक्त्वा विशेषमाह ।।४९७।।

बाल०—धात्विति । अथवा प्रतिषेधसूत्रमेतत् अन्यनिमित्तस्य धातुसम्बन्धिन ओद्वयस्य तु अवावौ न भवतः इत्यर्थः । अन्यनिमित्तस्येति प्रत्ययात् अन्यन्निमित्तं यस्येति विग्रहः । नाव्यतीति नावमिच्छतीत्यर्थः । लव्यमिति लूञ् छेदने 'सर्वेश्वरान्त धातो र्यदि'त्यनेन यत् । भाव्यमिति भूसत्तायाम 'उद्वयात् ण्यदावश्यक' इत्यनेन ण्यत् । अत्रावश्यकत्यस्य गम्यत्वं वैष्णवैः शुचिभिर्भाव्यमिति । ओयत् इति आङ् पूर्वं वेञ् तन्तुसन्ताने ते यक् सङ्कर्षणः, त्रिविक्रमः । अत्र ओरामस्य आङपि निमित्ताम् । औयतेति भूतेश्वरे अत्र औरामस्य अदागमोऽपि निमित्ताम् ।।४९८।।

४९९. युष्मदस्मदोस्त्वन्मदावुत्तरपद-प्रत्यययोरेकत्वे ।

समासस्य परपदमुत्तरपदम् । त्वामिच्छति त्वद्यति, मामिच्छति मद्यति । द्वित्व-बहुत्वयोः—युष्मद्यति अस्मद्यति । नकुर्छुर् नामधातूनाम्—चतुर् इच्छति चतुर्यति, दिवमिच्छति दिव्यति । एवंगिर्यति धुर्यति । तथा च भाष्यम्—असुपीत्येव । तच्चेह षष्ठ्या विपरिणम्यते । तेन सुब्धातो र्न भवतीति । वामन एव खलु काशिका-भाषावृत्ति-कातन्त्र-रसवती-सुपद्मादिषु मन्यते । प्रक्रिया प्रसादौ तु चिन्त्यौ । ऋरामस्य रीः क्य-यङोः—कर्त्रीयति ।

५००. नान्तमेव विष्णुपदं क्ये ।

अमृता०—४९९. युष्मदिति । उत्तर पदे परे प्रत्यये च परे एकवचनस्थयो र्युष्मदस्मदोः स्थाने यथाक्रमं त्वद् मद् इत्येवमादेशौ भवतः । युष्मद्यतीति—युवांयुष्मान् वेच्छतीत्यर्थः । एवमस्मद्यति । न कुर् छुरित्यादि—धातोः रव प्रागिदुतोरिति त्रिविक्रमविधाने निषेध उक्तः । गिर्यतीति गिरं वाचमिच्छतीत्यर्थः । धुर्यतीति धुरं भारमिच्छतीत्यर्थः । अत्र त्रिविक्रमं निषिध्य तत्-पोषणाय तथा विरुद्धमतदूषणाय च भाष्यवचनमुट्टङ्कयति—तथाचेति । षष्ठ्या विपरिणम्यत इति—असुपीति सप्तम्यन्तस्य षष्ठ्यन्ततया विपरिणामः क्रियते । तेनासुपीत्यस्य विपरिणामेन सुव् धातोरर्थान्नामधातो नंदीर्घं इत्यवसीयते । तदेवमेत्र मतं काशिकादिष्वपि दृश्यते । तैःपुन र्धातोरित्यनुवृत्तिं विधाय नामधातौ व्यावृत्तितया दर्शितम् । प्रक्रिया-प्रसादौ तु चिन्त्याविति—तत्रतत्र 'हलि च' इत्यनेन गीर्यति दीव्यतीत्यादीनि साधितानि; तदेतद् भाष्यासम्मतत्वादग्राह्यं न वेति चिन्तनीयम् ।

अमृता०—५००. नान्तमिति । क्यनि क्यङि चे प्रत्यये परे नान्तमेव शब्दरूपंमित्यर्थः । नामप्रकरणे स्वादितद्धितयो रेव परतः प्रकृतेर्विष्णुपदवत्त्वमङ्गीकृतम्, इह तु

बाल०—युष्म । उत्तरपदे प्रत्यये च परे एकत्वे वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः स्थाने त्वन्मदौ भवतः । युष्मद्यतीति युवां युष्मान् वा इच्छतीत्यर्थः । अस्मद्यतीति आवाम् अस्मान् वा इच्छतीत्यर्थः । न कुर्छुर नामधातूनामिति त्रिविक्रमनिषेधविधानसूत्रम् । दिवमिति स्वर्गमित्यर्थः । गिर्यतीति गिरं वाचम् इच्छतीत्यर्थः । धुर्यतीति धुरं भारमिच्छतीत्यर्थः । त्रिविक्रमाभावमुक्त्वाभाष्यादिमतदर्शनेन स्वमतं द्रढयति स्वामतं खण्डयति च—तथा च भाष्यमिति । असुपीत्येवेति असुपीत्यनुवर्त्तते इत्यर्थः । तत असुपीति षष्ठ्याविपरिणम्यत इति षष्ठ्यन्तत्वेन परिकल्प्यत इत्यर्थः । । सुब्धातोरिति नामधातोरित्यर्थः । वामन इति उक्तं कर्म्मं । प्रक्रियेति । प्रक्रिया-प्रसादमते त्रिविक्रमो भवतीति चिन्त्यत्वमुक्तम् ।।४९९।।

राजानमिच्छति, विष्णुपदत्वान्नलोपादिः। नरामादिहरो नासिद्ध स्तुगादिविधेरन्यत्र। राजीयति। अहर्यति। कंसहभ्यामित्यत्रत्वासिद्धः। ततः पृथावपि क्विपि न तुक्। नियमान्नेह विष्णुपदत्वं—वाच्यति। विष्णुजनादित्यादौ क्यस्य तु वा—समिधिता समिध्यिता।

क्ये परे इत्यपूर्वमिदम्। ननु राजीयतीत्यत्र नरामहरे सति अरामस्येरामे क्रियमाणे तस्यान्तरङ्गत्वाद् वहिरङ्गो नरामहरोऽसिद्धः स्यादिति कुतस्तत्र ईरामप्रवृत्त्यवकाश इति चेत्तत्र सङ्गमयति—नरामादि हरो नासिद्ध इति। आदिना ओजस् शश्वत् प्रभृतीनां सरामतरामादि हरश्च नासिद्धः। तुगादिविधेरन्यत्र नरामादिहरः असिद्धो न स्यात्। ततो राजन् शब्दे तुग्विधेरप्राप्तेस्तत्र नराम लोपस्यासिद्धत्वं नाशङ्कनीयमिति भावः। अहर्यतीति—अह्नो विष्णुसर्गो विष्णुपदान्त इति नस्य विष्णुसर्गे तस्य ररामः।

तुगादिविधौ त्वसिद्धः स्यादेव। तद्दर्शयति—कंसहभ्यामिति। कंसंहन्तीति क्विपि कंसहन् शब्दो निष्पन्नः। तस्य भ्यामि नामान्तस्य नस्य हरे वामनात् तुक् पृथाविति प्राप्नोति किन्तु तुग्विधेरन्तरङ्गत्वात् तस्मिन् क्रियमाणे वहिरङ्गो नरामहरः असिद्धः स्यादिति नहि तुक् प्रवर्त्तते तत्रेति फलितार्थः। तुगादि विधेरित्यत्र आदि पदेन सुब्विधौ संज्ञा विधौ च नरामादि हरोऽसिद्धो मन्तव्यः। तत्तु यथा—सुबाश्रितविधौ राजभ्यमित्यत्र नलोपस्यासिद्धत्वात् कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इति न प्रप्नोतीति मूले हि प्रपञ्चितम्। एवञ्च राजभिरित्य कृष्णाद् भिस ऐस् इत्यपि न भवति। तथा युवसु इत्यत्र कृष्णस्य ए वैष्णवे वहुत्व इति च न स्यात्। संज्ञाविधौ च—दण्डी च दत्तश्चेति रामकृष्ण समासे दण्डिन् शब्दस्य नलोपासिद्धत्वात् हरि संज्ञाया अभाव इत्यतो रामकृष्णे हरि संज्ञस्येत्यादिना दण्डिन् शब्दस्य पूर्वनिपातनियमविरहे सति दत्तदण्डिनौ दण्डिदत्तौ वेति द्वयमेव सिध्यतीत्यनुसन्धेयम्।

नियमान्नेहेति—'सूत्रे नान्तमेव' इत्येवकारनिवेशेन खलु नियमो विहितः—नान्तादन्येषान्तु न विष्णुपदत्वमिति वोधयितुम्; तेन वाचमिच्छति वाच्यतीत्यत्र चवर्गस्य नहि कवर्गः। अपि च विद्वांसमिच्छति विद्वस्यति, इह ध्वंसुस्रंस्विति न दरामः। मधु लिहमिच्छति मधुलिह्यति, हस्य ढो न। गोदुहमिच्छति गोदुह्यति, दादे स्तु घो न। पुमांसमिच्छति पुंस्यति, सद्सङ्गान्तहरो न। एवमन्यान्यप्यूह्यानि। समित् काष्ठमेष्टा समिधिता इत्यादि च ज्ञेयम्।

बाल०—नान्त। क्ये परे नान्तमेव विष्णुपदं भवति। नान्तस्यैव विष्णुपदत्वं मन्यते नान्यस्येत्यर्थः। न लोपादिरित्यादिशब्देन विष्णुसर्गादेर्ग्रहणम्। ननु राजीयतीत्यत्र 'क्वचिदन्तरङ्ग' इत्यादि न्यायेन नरामहरस्य असिद्धत्वम्, अतएव ईविधानाभावश्च भवतु इति चेत् तत्राह—नरामादीति। तुगादिविधेरन्यत्र नरामादि हरोऽसिद्धो न भवतीति नासिद्धत्वम्। तुगादिविधौ तु असिद्धत्वमिति। अर्हयतीति अहरिच्छतीति 'अह्नो विष्णुसर्गो विष्णुपदान्ते' इत्यनेन विष्णुसर्गः 'अह्नो विष्णुसर्गस्य र' इत्यादिना विष्णुसर्गस्य रः। तुगादिविधेरन्यत्रेति यदुक्तं तत् फलमाह—कंसहभ्यामिति। असिद्ध इति नरामहर इति

५०१. मान्ताव्ययाभ्यां न क्यन् ।

किमिच्छति, उच्चैरिच्छति ।

५०२. अशनाय बुभुक्षायाम्, उदन्य रिपासायाम्, धनायातिलोभे, अश्वस्य-वृषस्यौ मैथुनेच्छायाम्, क्षीरस्यलवणस्यौ, दधिस्य दध्यस्यौ, मधुस्य मध्वस्यौ, पतिस्य पत्यस्यादयो-लालसायाम् ।

अशनोदकादीनांक्यन्नन्ता निपाताः । वृषोऽत्रपुंमात्रो वृषभश्च । वृषस्यन्ती

अमृता०—५०१. मान्तेति । मान्त प्रकृतिकात् सुवन्तादव्ययाच्च क्यन् न स्यात् ।

अमृता०—५०२. अशनायेति । बुभुक्षायाम्अशनशब्दस्य क्यना सह अशनायेति निपातः स्यात् । आत्वमिह निपात फलम् । अन्यत्र तु अशनीयति । पिपासायामुदक् शब्दस्य उदन्य इति क्यन्नन्तो निपात्यते । इह करामस्य नराम ईत्वाभावश्च निपातनात् । अन्यार्थे—उदकीयति । अति लोभे गम्यमाने धनशब्दस्य क्यना सह धनायेति निपात्यते । आत्वमिह निपालफलम् । अन्यत्र धनीयति । मैथुनेच्छायां अश्व-वृषभयोः अश्वस्य-वृषस्यौ क्यन्नन्तौ निपात्येते । स्पृहातिरेका लालसा, तस्यां गम्यमानायां क्षीर-लवणयोः क्षीरस्य-लवणस्यौ क्यन्नन्तौ निपात्येते । अश्वादीनां सुडादेशो निपात फलम् । लालसायां दधिमधु प्रभृतीनां दध्यस्येवम्विध रूपाणि श्यना सह निपात्यन्ते । एषान्तु सुडादेश असुडादेशश्च निपातफलम् षत्वाभावश्च ।

मानुषीणां मैथुनेच्छायां वृषकामना तु न सङ्गच्छते, अतो वृषशब्दस्य पुंमात्र वाचित्वमुपदिशति—वृषोऽत्रेति । अमरवाक्येन च तदुपपादितम् । अतएव लक्ष्मणं सा वृषस्यन्तीति भट्टिप्रयोगश्च सङ्गच्छते । मैथुनलालसाभ्यामन्यत्र तु—अश्वीयति सैनिकः, क्षीरीयति कृष्ण इत्यादि ज्ञेयम् । अशनादिषु सद्य एव भोक्तुमिच्छा चेत्, पातु मुदकेच्छा

शेषः । न तुगिति अन्यथा 'वामनात्तुक् पृथावि'त्यनेन तुक् स्यात् । वाच्यतीति विष्णु-पदत्वाभावात् न चस्य कः । समिधितेति समित् काष्ठम् ॥५००॥

बाल०—मान्ता । सुगमम् ॥५०१॥

बाल०—अश । बुभुक्षायां गम्यमानायाम् अशनशब्दस्य अशनायेति क्यन्नन्तो निपातो भवति । बुभुक्षा भोजनेच्छा । पिपासायामर्थे उदकशब्दस्य उदन्येति क्यन्नन्तो निपातो भवति । पिपासा पानेच्छा । अतिलोभेऽर्थे धनशब्दस्य धनायेति क्यन्नन्तो निपातः । मैथुनेच्छायामर्थे अश्ववृषशब्दयोः अश्वस्य वृषस्यौ क्यन्नन्तौ निपातौ । लालसायामर्थे क्षीरलवणादीनां क्षीरस्य लवणस्यादयः क्यन्नन्ता निपाताः । लालसा महानाभिलाषः । अश्वशब्दचतुष्पाज्जातिविशेषवचनः पुंजातिवचन इति केचित् वृषभश्चेति वृषभो बलीवर्द्दः । पुंमात्र इति यदुक्त तत्रामरं प्रमाणयति वृषस्यन्तीरिवति । इत्यादीति पिपासाया उदक-मिच्छति उदन्यति । अतिलोभेन धनमिच्छति धनायति । मैथुनेच्छाया अश्वमिच्छति

तु कामुकीत्यमरः। दधिस्यादयस्तु दन्त्यमध्या एव। बुभुक्षयाशन-मिच्छति अशनायतीत्यादि।

५०३. काम्यश्च पूर्वक्यन्नर्थे।

उच्चारणार्थत्वाद्यभावान्न कित्। धात्वधिकार एवेटो राम धातुकत्वस्य च विधानादिडादि प्राप्तौ द्व्यङ्गवैकल्यम्। पुत्रकाम्यति कृष्णम्।

५०४. यमिवाचरति यस्मिन्निव च तस्मात् क्यन्।

पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति रामम्, पुत्रवन्मन्यत इत्यर्थः। वृन्दावने

चेत्, धने सत्यपि पुनर्धनेच्छा चेत्, तदास्युदाहरणम्। अन्यथा कालान्तरोपयोगार्थ-मशनेच्छा चेत्, स्नानाद्यर्थमुदकेच्छा दरिद्रे सति धनेच्छा चेत् तर्हि तु प्रत्युदाहरणं बोध्यम्।

अमृता०—५०३. काम्यश्चेति। पूर्वोक्तक्यन्नर्थे द्वितीयान्तान्नाम: काम्यप्रत्ययश्च स्यात्। चकारात् पूर्वोक्त: क्यन् च। उच्चारणार्थत्वाद्यभावादित्यत्र आदि शब्देन कपिलार्थत्वस्य च ग्रहणम्। नच हरिकामतीत्यादौ गोविन्दाभावे कपिलत्वामावश्यकमिति वक्तव्यम्, धात्वङ्गस्यैव गुणविधानेन, इहतु शब्दाङ्गत्वेन तत्प्रसङ्गाभावात्। ननु पुत्र-काम्यतीत्यादौ काम्ये परे इडागम: कथं न स्यादिति चेत्तत्र सिद्धान्तमाह—धात्वधिकार इति। तत्र द्व्यङ्गवैकल्यमिति—इट् रामधातुक इति लक्षणं धातोरित्यधिकारान्त: पातेन धातोरेवोत्तरे विहितं नतु नाम्न उत्तर इत्येकाङ्गम्। अथ अन्ये प्रत्यया रामधातुका इति संज्ञा च तदधिकारे विधानात् धातोरुत्तरे विहित प्रत्ययानामेव कृता नतु शब्दोत्तर विहितानां तेषामिति द्वितीयाङ्गम्। काम्ये परे इडादिके कृते तूक्तमुभयाङ्ग विकलं दुष्टं भवतीति सरलार्थ:। अयन्तु मान्ताव्ययाभ्यामपि स्यात्,—किंकाम्यति, स्व:काम्य-तीत्यादि।

अमृता०—५०४. यमिवेति। यमिवाचरति तस्मात् तथा यस्मिन्निवाचरति तस्माच्चोपमान द्वितीयान्तात्, उपमान सप्तम्यन्ताच्च नाम्न: क्यन् स्यात्। पुत्रीयति

अश्वस्यति एवं वृषस्यति। लालसया क्षीरमिच्छति क्षीरस्यति एवं लवणस्यती-त्यादय: ॥५०२॥

बाल०—काम्यश्च। पूर्वक्यन्नर्थे काम्यश्च भवति। पूर्वक्यन्नर्थं इति पूर्वशब्द-प्रयोगात् वक्ष्यमाणक्यन्नर्थे न भवतीति। उच्चारणार्थत्वाद्यभावादिति करामस्येति शेष:। आदिशब्देन कपिलत्वार्थस्य ग्रहणम्। पुत्रकाम्यतीत्यत्र काम्ये परे इट् कथं न भवतीति आशङ्काभासं विधाय समादधाति धात्वधिकार एवेति। इटो रामधातुकस्य च धात्वधिकार एव विधानम् अतोऽत्र धातुत्वाभावात् रामधातुकपरत्वाभावाच्च न इट् एतदेवोक्तम् इडादि प्राप्तौ द्वयङ्गवैकल्यमिति वैकल्यमत्राभाव:। पुत्रकाम्यतीति पुत्रमिच्छतीत्यत्र कृष्णमिति पश्चाद्योगेनेति ज्ञेयम् ॥५०३॥

इवाचरति वृन्दावनीयति निजोपवने । वृन्दावने यथा व्यवहरति तथेत्यर्थः ।

५०५. ङौ नलोप निषेधः क्ये ।

राजनीवाचरति राजन्यति गोपाले । एवं पथिन्यति गृहे ।

५०६. विष्णुजनादपत्यस्य यो हरः क्यक्योः ।

विस्तद्धितः । गर्गस्यापत्यमित्यर्थे यरामष्टणित्तद्धितः । आदिसर्वेश्वरस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंहे इति वक्ष्यते, गार्ग्यः; ततः क्यनि यमात्रहरेणारामशेषः—गार्गीयति ।

राममिति–रामं वलरामं, पुत्रं यथा मन्यते तथा रामं मन्यते यशोदा नन्दो वेत्यर्थः । उपवनं कृत्रिमवनमुद्यानमित्यर्थः । वृन्दावने यथेति–वृन्दावने यथा दण्डवत् प्रणाम-परिक्रमादिकं पूज्योचितं व्यवहरति तथा स्वोपवनेऽप्याचरतीत्यर्थः । अत्रोपानार्थे तु न काम्यः, पूर्वक्यन्नर्थे इत्युक्तेः ।

अमृता०—५०५. ङाविति । क्येपरे सप्तम्येकत्वे तूपमाने नान्तस्य नलोपो न स्यात्, नान्तशब्दानां विष्णुपदवत्त्वात् सर्वत्र नलोपे प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । राजन्यतीति श्रीदामादि सखेति शेषः । भृत्यो यथा छत्रधारण–संवीजन–पादसम्वाहनाद्युपचारैः राजनि व्यवहरति तथा व्रजसखा कृष्णेऽपीतिभावः । ङाविति किम्–राजानमिवाचरति राजीयति कृष्णम् ।

अमृता०—५०६. विष्ण्विति । क्येपरे तद्धित वि प्रत्यये च परे विष्णुजनादुत्तरस्यापत्यार्थे विहितयरामस्य हरोभवति । यरामः टणिदिति–"गर्गादिमाधवयः" इत्यनेनापत्यार्थे यरामः । तत्रच टणिन् माधव इतितस्य टित् णिच्च विहितः । तत आदिसर्वेश्वरस्येति वक्ष्यमाणेन वृष्णीन्द्रः । इदानीं गार्ग्य शब्दात् क्यनि अपत्यप्रत्ययस्य केवलयरामहरेण अरामोऽवशिष्टः, ततः अद्वयस्य ईरामे गार्गीयति । अपत्यस्येति किम्–गोर्विकारो गव्यं तदिच्छति गव्यीयति ।

बाल०—यमिवा । व्यक्तार्थमेतत् । पुत्रीयति **राममिति नन्दोयशोदा वेति शेषः** । निजोपवन इति उपवनं कृत्रिमवनम् ।।५०४।।

बाल०—ङौ । क्ये परे ङौ सति नलोपनिषेधो भवति । राजन्यति गोपाल इति श्रीदामादिरिति शेषः । विहारानुसारेण कदाचित् कदाचिदियं रीयिर्भवतीति ज्ञेयम् । पथिन्यतीति पथीवाचरतीति ङाविति किं राजानमिवाचरति राजीयति गोपालम् ।।५०५।।

बाल०—विष्णु । क्य-व्योः परयोः'विष्णुजनादुत्तरस्य अपत्यस्य अपत्यार्थे विहितस्य यो हरो भवति य इति षष्ठ्यन्तम् । यरामष्टणिदिति 'गर्गादेर्माधव यराम' इत्यनेनेति शेषः । गार्गीयतीति 'अद्वयस्य ई क्यनी' त्यनेन ई । विष्णुजनादिति किम्–सौपर्णेयमिच्छति सौपर्णेयीयति । सौपर्णेय इति 'लक्ष्मीशुभ्रादिभ्यां माधवढो बलुलमि' त्येनन अपत्यार्थे माधवढः । टणिन्माधवढत्रयः । अपत्यस्येति किम्—गव्यमिच्छति, गव्यीयति । गव्यपयस्ये साधूनी इति तद्धितप्रकरणे वक्ष्यते ।।५०६।।

५०७. यइवाचरति तस्मात् क्यङ् ।

५०८. ओजोऽप्सरसोः सस्य च हरः ।

५०९. पयसस्तु वा ।

वामनस्येति सामान्यग्रहणादधातोरपि वामनस्य त्रिविक्रमः। कृष्ण इवाचरति कृष्णायते। क्यङपिक्य इति विष्णुपदत्वम्—श्रीदामायते,

५१०. वाच्यलिंग लक्ष्मीः पुरुषोत्तमवत् क्यङ् मानिनौ णौ च ।

एतदादि शब्दानां लक्ष्म्यामेण्यादयः साधयिष्यन्ते। एणीवाचरति एतायते। एवं श्येतायते।

संज्ञापूरणीकरामोद्धवादीनां समासे यो निषेधो वक्ष्यते स इहाप्यायाति।

अमृता०—५०७. यइवेति। यइवाचरति तस्मादुपमान प्रथमान्तान्नाम्नः क्यङ् प्रत्ययः स्यात्।

अमृता०—५०८. ओज इति। क्यङि सति ओजस् अप्सरस् शब्दयोः सस्यहरश्च स्यात्।

अमृता०—५०९. पयस इति। क्यङि सति पयस् शब्दस्य तु सस्य हरो वा भवति। अधातोरपि नाम्नोऽपि त्रिविक्रम इष्ट इत्यर्थः। कृष्णायते—तद्विरहे गोपीजन इतिशेषः। यथा—आहूय दूरगा यद्वन कृष्णस्तमनु कुर्वतीम् वेणुँ क्वणन्तीं क्रीड़न्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति॥ इत्यादि श्री दशमे। विष्णुपदत्वमिति—नान्तमेव विष्णुपदं क्य इत्यत्र क्यशब्देन क्यन् क्यङो ग्रंहणात् क्यङि च नान्तानां विष्णुपदत्वम् तेनच नरामहरः।

अमृता०—५१०. वाच्येति। वाच्यस्य पदार्थस्य लिङ्गमाप्नोति यः स शब्दो वाच्य लिङ्ग उच्यते, अनियत लिङ्ग इत्यर्थः। तस्य लक्ष्मीः वाच्यलिङ्ग लक्ष्मीः। क्यङि मानिनि णौ च प्रत्यये परे वाच्यलिङ्गलक्ष्मीः पुरुषोत्तमवद् भवति। एण्यादयः साधयिष्यन्त इति—श्येण्यादयो वा साधव इति लक्षणेन साधिष्यन्ते तद्धितकार्ये। एतः मृगः कर्बुरवर्णश्च, श्येतः पाण्डुरवर्ण इति शब्द कल्पद्रुमः।

निषेधो वक्ष्यत इति—नसंज्ञा पूरण्यौ णक स्तद्धितकरामोद्धवश्चेत्यनेन पुरुषोत्तम

बाल०—य इवा। व्यक्तार्थमेतत्॥५०७॥

बाल०—ओजो। इदमपि व्यक्तार्थम्॥५०८॥

बाल०—पय। पयसस्तु सस्य हरो वा भवति। त्रिविक्रम इति 'वामनस्य त्रिविकमः कृत् कृष्णधातुकेतर य प्रत्यय' इत्यनेन कृष्णायत इति गोपीति शेषः। दुष्टकालिय तिष्ठाद्य कृष्णोऽहमिति चापरा। बाहुमास्फोट्य कृष्णस्य लीलासर्वस्वमाददे इति विष्णुपुराणात्। विष्णुपदत्वमिसि नान्तमेव 'विष्णुपदं क्य' इत्यनेन ततो नलोपादिरिति भावः॥५०९॥

बाल०—वाच्य। क्यङि मानिनि णौ च परे वाच्यलिङ्गलक्ष्मीः पुरुषोत्तमवद्भवति। एणी कर्बुरवर्णा। निषेध इति पुरुषोत्तमवत्तस्येति शेषः। स निषेधः। तत्र समासे।

तत्राख्यात कृतोरप्युपादानात्। रुक्मिणीयते, पञ्चमीयते, गोपिकायते। ओज इति—ओजायते। अप्सरायते। पयायते पयस्यते।

५११. क्वचित् क्यङः क्विप्।

ततः क्यङ् वन्नान्तमेव विष्णुपदम्। कया!वितौ।

५१२. केवलस्य प्रत्यय वेर्हरः।

कृष्णति गोपी। विधावति तन्मुखम्। भूरिवाचरति गोधुगिवाचरति—भुवति गोदुहति। अत्र गोविन्दाभावः, सहजधात्ववस्थायां कृतस्य

वत्त्वस्य निषेधः। रुक्मिणीयत इति—रुक्मिणी कृष्णमहिषी, साऽइवाचरतीति तया। संज्ञातयात्र नहि पुरुषोत्तमवत्त्वम्। पञ्चमीयत इति—पूरणे केशवारामः, "नान्तादसंख्याते रमचि" इत्यनेन अम्, टित्त्वादीप्—मञ्चमी, ततः क्यङ्। गोपिकायत इति—णक प्रत्ययान्त गोपकेशब्दादाय्। ओज इति ओजोवल्लक्ष्यते, तेन ओजस्वीवाचरतीत्यर्थः। ओजो दीप्तौ वलेस्रोत इन्द्रिये निम्नगारये इत्यमरः। अप्सरस् स्वर्गवेश्या।

अमृता०—५११. क्वचित् क्यङः स्थाने क्विप प्रत्ययो भवति। प्रति निधित्वात् विवप्चायं क्यङ्वदाचरणार्थे हि भवति, नतु सर्वत्रार्थे इति क्वचित् शब्द प्रयोगेणं व्यञ्जितम्। तेन शब्दादिकं करोतीत्यादौ क्यङेव नतु क्विविति विवेच्यम्। नचेवं क्यङ् प्रतिरूप—कत्वात् क्विपि यथा विष्णुपदत्वं मन्यते तयात्मपदमपि क्विपि भवतु इतिवाच्यम्, प्रत्यय स्वरूपे पृथगनुबन्धनिर्देश सामर्थ्यादेव तत्रात्मपदं न स्यात्, तथा गल्भादेरात्मपदञ्चेति वक्ष्यमाणज्ञापकवलाच्च।

अमृता०—५१२. केवलस्येति। संयोगरहितस्य असहायस्य प्रत्यवेर्हरः स्यात्। वेरिति अनुवन्धावशिष्ट क्विपः, कृति च मनिवादौ वेः, तथा तद्धित वेश्व सामान्येन ग्रहणम्। केवलस्येति किम्—कृति—अन्येभ्योऽपि मनिवादय इति श्रॄ दॄ धात्वोः विप्रत्यये शर्विः दर्विरिति। प्रत्ययवेरिति किम्—उपेन्द्रस्य मा भूत्—विभवति। एवं कवयति पितरति इत्यादि च विधवति वज् ज्ञेयम्।

रुक्मिणीतत इति पक्मिणीति श्रीकृष्णस्य पत्नीविशेषस्य संज्ञा। पञ्चमीति नान्तादसंख्यादेर्मट् इत्यनेन तस्य पूरथेऽर्थे केशवमट् टित् केशवः टित्वादीप्। गोपिकायत इति समासेन कप्रत्ययान्तस्य निषेधो वक्ष्यते अतोऽत्रापि निषेधः। ओजायत इति 'ओजो दीप्तौ बले स्रोतइन्द्रिये निम्नगारय' इति नानार्थवर्गः। निम्नागारय इति नदीवेग इत्यर्थः। अप्सरशब्दः स्वर्वेश्यावाचकः। क्यङः सन्निहितत्वात् अन्तस्य सस्य हरः। न तु परमाप्युक्तसरामस्य। पयायते पयस्यते इति पयः क्षीरं पयोऽम्बु चेति नानार्थवर्गः ॥५१०॥

बाल०—क्वचित्। क्वचित् क्यङ्स्थाने क्विप् भवति। तत इति क्यङः स्थाने क्विप् भवतीति क्यङीव क्विपि नान्तमेव विष्णुपदं भवतीति ॥५११॥

बाल०—केव। व्यक्तार्थमेतत्। कृष्णतीति कृष्ण इवाचरतीत्यर्थः। विधवतीति विधुरिवाचरतीति विधुश्चन्द्रः। तन्मुखं गोपीमुखम्। भूरिवेति भूः पृथ्वी। गोधुगिवेति।

क्विपो यत् कंसारित्वं तस्यान्तर्विद्यमानत्वात् । विधवतीत्यत्र तु धात्वधिकारसामर्थ्येन नाम्नो विहितस्य कितः कंसारित्वाभावात् । भूतेशे अविधावीत्; अविधवीत्येके । नान्तस्य तु विष्णुपदत्वे राजति; राजानति इति कश्चित्, तत्तु दुर्गादीनामसम्मतम् । क्यङ् स्थानीयस्य तदीयायि प्रत्ययस्यैव लोपः क्रियते नतु क्विप् क्रियते । ततः पदकार्यत्वमस्त्येव नचात्रदीर्घः । भुवाञ्चकारेति प्रत्ययान्तत्वादामिति केचित् ।

५१३. गल्भादे रात्मपदञ्च ।

गल्भते क्लीवते । अत्र च विष्णुपदत्वाभावादराम हर ए अयोः ।

भुवतीति–भूसत्तायां धातोः क्विपः ततोभूशब्दात् क्यङ स्थानीयक्विप्, धातोश्वतुः सनस्येति उब् । गोदुहतीति-गो-पूर्वस्य दुहेः क्विवन्तनिष्पन्नात् गोदुह शब्दात् क्यङ्स्थानीय क्विप् । पूर्वत्र धातोरन्तस्य, उत्तरत्र लघूद्धवस्य गोविन्दे प्रसक्त तत्तु निरस्यति—सहजेत्यादिना । सहजभूधातोरुत्तरे यः क्विप विहिततस्य कंसारित्वं सिद्धम्, यतः कंसारि संज्ञा धातोरुत्तर एव बिहिता नतु नाम्न उत्तरे । विधवतीत्यत्र तु विधु शब्दाद् हि निप् कृत इति नास्य कंसारित्वम्, ततश्व गोविन्दो निर्वाध एवेति भावः ।

दुर्गादीनामसम्मतमिति—तैःपुनः कर्त्तृरुपमानान्नाम्न आयि प्रत्ययस्तस्य लोपश्च क्रियते नतु क्विप् । तथा हि दुर्गवृत्तिः—कर्त्तृरुपमानान्नाम आचारेऽभिधेये आयिः परो भवति, आयेश्च लोप इति । कत इह लोपत्वेऽपि आयेः स्थानिवत्वेन नान्तानां विष्णुपदत्वं सिद्धमिति नलोपश्चानिवार्यस्तेषाम् । कृतेऽपि न लोपे उद्धवत्वाभावान्न दीर्घ इति तेषामाशयः । भुवाञ्चकारेति—कास् प्रत्ययादाममन्त्रे लिटीति पाणिनीयसूत्रवलात् केचिदिह क्विप् प्रत्ययादामं विदधति, स्वमते तु अनेकसर्वेश्वरत्वाभावान्नाम् ।

अमृता०—५१३. गल्भादेरिति । गल्भादि शब्देभ्य उत्तरे क्यङः स्थाने क्विप् स्यादात्मपदञ्च भवति । पूर्वेण हि क्विपि सिद्धे सूत्रमिदमात्मपदार्थम् । विष्णुपदत्वाभावादिति—नान्तमेव विष्णुपदं क्य इति नियमादन्येषां तन्न । आदिशब्देन होडते इति च । ननु गल्भ धाष्टर्ये, क्लीवृ अधाष्टर्ये, होडृ अनादरे इत्यात्मपदिन एव धातव पठ्यन्ते,

---

'गोपे गोपाल गोसंख्य गोधुगाभीरवल्लवा' इत्यमरः । गोविन्दाभाव इत्यत्र हेतुमाह—सहजेति । तस्य कंसारित्वस्य विधवतीत्यत्र त्विति । धात्वधिकार सामर्थ्यादेव अस्य क्विपः कंसारित्वाभावः, अतो गोविन्दोभवत्ये वेति । अविधावीदिति ईशान्तस्येत्यादिना वृष्णीन्द्रः । इत्येक इति तन्मते वृष्णीन्द्राभावः । नान्तस्य तु विणुपदत्वमिति पूर्वोक्तस्यैवोदाहरणदर्शनार्थमुल्लेखः । असन्मतत्वमेव विबृणोतीत क्यङिति क्यङ्स्थानीयस्येति क्यङ् प्रतिरूपस्येत्यर्थः । तदीयेति तेषां दुर्गादीनामयमिति तदीयः तदीयश्चासौ आयिप्रत्ययश्चेति तस्य लोपः क्रियते इति दुगादिभिरेवेति शेषः । केचिदिति अस्माकन्तु अनेकसर्वेश्वरत्वाभावान्नाम् ॥५१२॥

कंसारित्वाभावः

५१४. भृशादिभ्यः क्यङ् अन्तविष्णुजनहरश्चाभूततद्भावे ।

अभृशो भृशो भवति भृशायते । शश्वत् शश्वायते । उन्मनायते सुमनायते दुर्मनायते ।

५१५. लोहितादेरुभयपदञ्च ।

लोहितायति लोहितायते । चर्मायति चर्मायते । क्विप् चेत्येके—लोहितति । वर्मतीति प्रक्रियायामपि । तद्धिते तु भृशीस्यात् लोहितीस्यादित्यपि ।

तर्हि किमर्थमिह पुनस्तद्विधानमिति चेत् ? उच्यते—गल्भादिभ्योऽच् प्रत्ययान्तेभ्यः क्विपि विधीयमाने तेषामिदानी शब्दभूतत्वेन धातुभूतं पूर्वं धर्म्मन्तु नाश्रयते ते इति-पूर्वार्थान्विते आचारार्थे ह्यात्मपदमिह विधानम् ।

अमृता०—५१४. भृशादिभ्य इति । अभूतस्य तस्यभवनमिति अभूततद्भावः, तस्मिन्नर्थे भृशादिभ्य उत्तरे क्यङ्भवति, अन्तविष्णुजनहरश्च स्यात् । अभृश इति धर्मिवाचित्वात् पुरुषोत्तमता । भृश शीघ्र मन्द चपल पण्डित उत्सुक उन्मनस् सुमनस् दुर्मनस् रहस् शश्वत् वेहत् वृहत् शुचि अधर ओजस् वर्चस् भृशादि ।

अमृता०—५१५. लोहितादेरिति । अभूत तद्भावेऽभिधेये लोहितादिभ्य शब्देभ्य उत्तरे क्यङ् प्रत्ययः स्यादुभयपदञ्च । ङित्वादात्मपदित्वे सिद्धे उभय पदित्वमेषां विशेष-विधानम् । चर्मायतीति—चर्मन् शब्दस्य क्यङि विष्णुपदत्वान्नस्यहरः । वर्मतीति—क्यङ्स्थानिके क्विपि च न लोपः । तद्धिते तु भृशी स्यादिति—अभूत तत्भावे कृभ्वस्ति योगे विः, केवलस्य प्रत्ययवेर्हरः, अद्वयस्य वावीरामः । तद्धिते विः कृभ्वस्ति योगे, क्यङ तु केवलभूयोगे इति विशेषः । लोहित नील ह रित पीत मद्र फेण मन्द चर्मन् वर्मन् निद्रा तन्द्रा कृपा करुणा घृणा केका लोहितादिः । आकृति गणोऽयमिति तु काशिकादयः ।

बाल०—गल्भा । गल्भादेः क्यङः स्थाने क्विप् भवति आत्मपदञ्च । क्विप् पूर्वेणैव सिद्ध्यति आत्मपदार्थं वचनम् । गलभत इति गल्भः प्रगल्भः गल्भधातोर्धाष्ट्यार्थत्वात् । क्लीवत इति क्लीवं नपुंसकम् । विष्णुपदत्वाभावादिति नान्तत्वाभावादिति शेषः ।।५१३।।

बाल०—भृशा । अभूतस्य तस्य भवनम् अभूततद्भावः । तस्मिन्नर्थे भृशादिभ्य उत्तरे क्यङ् भवति, अन्तविष्णुजनहरश्च । भृशायत इति भृशशब्दोऽतिशयवचनः त्रिलिङ्गः धर्म्मिवाचित्वात् पुरुषोत्तमत्वम् । शश्वदिति 'अभीक्ष्णं शश्वदनारते' इत्यव्ययवर्गः । शश्वायत इति अशश्वत् शश्वद्भवतीति । उन्मनायत इति उन्मनः शब्दः सोत्कण्ठवचनः । 'स्यादुत्क उन्मना' इत्यमरः । सुमनायत सुमनाः शोभनचित्तः । दुर्म्मनायत इति 'दुर्म्मना विमना अन्तर्मना' इत्यमरः ।।५१४।।

बाल०—लोहि । अभूततद्भावेऽर्थे लोहितादेरुत्तरे क्यङ् अन्तविष्णुजनहरः उभय-पदञ्च भवति । 'लोहितायतीति लोहितो रोहितो रक्त' इत्यमरः । चर्मायतीति

५१६. आच् प्रत्ययान्ताच्च ।

पटपटायति पटपटायते पटपटाति पटपटीस्यादिति च पूर्ववत् ।

५१७. कष्ट सत्र कक्ष कृच्छ्रगहनेभ्यो गम्य कर्मणो विशेषणेभ्य-स्तदर्थ्ये चतुर्थ्यन्तेभ्यः क्यङ् पापवृत्तौ क्रमणे ।

कर्मात्र कृतिरुच्यते । कष्टाय कर्मणे क्रामति कष्टायते । कष्टेन कर्मणा पापं चिकीर्षतीत्यर्थः । एवं सत्रायते इत्यादि । पापवृत्तेरन्यत्र–कष्टाय तपसे क्रामति ।

अमृता०—५१६. आचिति । आच् प्रत्ययान्तात् च शब्दादभूत तद्भावे क्यङ् स्यादुभय पदश्च । पटपटा शब्दस्तद्धिते आच् प्रत्ययनिष्पन्नः ।

अमृता०—५१७. कष्टेति । कष्टादिभ्यः पञ्चभ्य क्यङ् स्यात् पापकार्ये प्रवृत्ति चिकीर्षा वा चेत् भवेत् । कथम्भूतास्ते ? गम्य कर्मणः प्रतीयमान क्रियाया विशेषणरूपाः, पुनस्तादर्थ्यं चतुर्थ्यन्ताः तेभ्यः । यदर्थमन्यत् तस्माच्चतुर्थीति तादर्थ्ये चतुर्थीति वक्ष्यते । कष्टेन कर्मणेति पाप चिकीर्षाक्रियाया व्यधिकरण विशेषणमिति कारके विवरणीयम् । प्रत्युदाहरणे कष्टाय तपसे क्रामतीति कष्टेन तपसा शुभं चिकीर्षेति न किन्तु पापमिति न क्यङ ।

चर्मप्रसिद्धम् । इत्येक इति तन्मते लोहितति चर्मतीति । भृशीस्यादिति अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे विरिति विः । विः सर्वं इत् अद्वयस्य वा वीरामः इति अरामस्ये-रामः ॥५१५॥

बाल०—आच् । आच् प्रत्ययान्ताच्च क्यङ् उभयपदश्च भवति । पटपटायतीति आच् प्रत्ययान्तः पटपटाशब्दः । आच्प्रत्ययस्तद्धितः पूर्ववदिति पटपटातीति क्विप् पक्षे । पटपटीस्यादिति तद्धिते इति ॥५१६॥

बाल०—कष्ट । गम्यकर्म्मणो विशेषणेभ्यस्तादर्थ्यं चतुर्थ्यन्तेभ्यः कष्टादिभ्यः उत्तरे पापवृत्तौ क्रमणेऽर्थे क्यङ् भवति । वृत्तिश्चेष्टा । कृतिरिति कृतिः क्रिया । कष्टायेति कष्ट-निमित्तायेत्यर्थः । कष्टेनेनि कष्टनिमित्तेन इत्यर्थः । सत्रायत इति सत्राय कर्म्मणे क्रामति सत्रेण कर्म्मणा पापं चिकीर्षतीत्यर्थः । सत्रायेति सत्रनिमित्ताय । सत्रेणेति सत्रनिमित्तेन । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने धनेऽपि चेति' नानार्थवर्गः । सत्रेत्यत्र मन्त्रेति क्रमदी-श्वरादयः । कक्षेति कक्षौ तु तृणवीरुधाविति नानार्थवर्गः । विस्तारिणी लता वीरुत् । कृच्छ्र शब्दोऽपि कष्टवाची । गहनं वनम् । 'गहनं काननं वनिम'त्यमरः । दुष्प्रवेशस्थानञ्च कलिनं गहनं समे इत्यप्यमरः । कष्टाय तपसे क्रामतीति कष्टेन तपसा शुभं चिकीर्षतीत्यर्थः । तप एवात्र कर्म्मं ॥५१७॥

५१८. रोमन्थमुद्वर्त्तयति ।

अस्मिन्नर्थे क्यङ् । एवमुत्तरेष्वपि । रोमन्थायते गौः, उद्गीर्यमाणं चर्वयतीत्यर्थः । हनु चलन एव, नेह—कीटो रोमन्थमुद्वर्त्तयति ।

५१९. वाष्पादिकमुद्वमति ।

वाष्पायते फेणायते धूमायते ।

५२०. शब्दादिकं करोति ।

शब्दायते वैरायते कलहायते अभ्रायते मेघायते सुदिनायते दुर्दिनायते लीलायते ।

५२१. नम आदिभ्यः परपदश्च ।

नमस्यति वरिवस्यति तपस्यति ।

अमृता०—५१८. रोमन्थमिति । रोमन्थशब्दात् कर्मभूतात् क्यङ् स्यात् वर्त्तयतीत्यर्थे । हनु मुखैकदेशो गण्डनिकट स्थलं, तस्य चलनम् । कीटो रोमन्थ मुद्वर्त्तयतीति—रोमन्थमवगीर्णं खादितं वस्तु सूत्ररूपेणोत्गिरति नतूद्गीर्यं चर्वयतीत्यर्थः ।

अमृता०—५१९. वाष्पेति । उद्वमनेऽर्थे वाष्पादिभ्यः कर्मपदेभ्यः क्यङ् प्रत्ययो भवति । वाष्पायते रन्धनस्थाली, फेणायते नदी, धूमायते वह्निः । एवमूष्मायते भोज्यमिति च ।

अमृता०—५२०. शब्देति । करोत्यर्थे शब्दादिभ्य उत्तरे क्यङ् स्यात् । अत्रादिशब्देन कण्वायते नीहारायते अट्टायते शीकायते कोटायते पोटायते सोटायते प्रुष्टायते प्लुष्टायते वेगायते युद्धायते रोगायते समूहायते एते च ग्राह्याः ।

अमृता०—५२१. नम इति । करोत्यर्थे नम आदिभ्यः क्यङ् स्यात् तत्र परपदञ्च स्यात् । तत्र पूजायां नमस्यति गुरुम् । परिचर्यायां वरिवस्यति कृष्णम् । चर्यायां तपस्यति तपश्चरतीत्यर्थः । परपदञ्चैषां वैशिष्ट्यम् ।

बाल०—रोमः । रोमन्थमुद्वर्त्तयतीत्यर्थे रोमन्थादुत्तरे क्यङ् भवति । उद्गीर्यमाणमिति आत्मनैवेति शेषः । हनु चलने एवेति चर्वण एवेत्यर्थः । 'गण्डौ कपालौ तत्परा हनुरि'त्यमरः । कीट इति कीटः कोशजनकः कृमिः । रोमन्थ खादितं वस्तु उद्वर्त्तयति सूत्ररूपेण उद्गिरतीत्यर्थः ।।५१८।।

बाल०—बाष्पा । बाष्पादिकमुद्वमतीत्यर्थ बाष्पादेरुत्तरे क्यङ् भवति । उद्वमतीति उद्गिरतीत्यर्थः । बाष्पोनेत्राम्बुफेण-धूमौ प्रसिद्धौ ।।५१९।।

बाल०—शब्दा । शब्दादिकं करोतीत्यर्थे शब्दादेरुत्तरे क्यङ् भवति । वैरायते इति 'वैरं विरोध विद्वेष' इत्यमरः । अभ्रायते इति अभ्रं मेघः । दुर्दिनायत इति 'मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्द्दिनमि'त्यमरः ।।५२०।।

५२२. सुखादिकं वेदयते ।

सुखायते । आत्मनः सुखादि वेदन एवेष्टिः । नेहपरस्य सुखं वेदयति ।

५२३. चित्रात् क्यन्नात्मपदं चाश्चर्ये ।

चित्रीयते हेममृगः ।

५२४. अनेक सर्वेश्वरस्य संसारहरः, पृथुमृद्वादेर्ऋ रामस्य रश्च, क्षिप्रस्य क्षेपः, दीर्घस्य द्राघः, वहुलस्य वंहः, हृस्वस्य हृसः, क्षुद्रस्य क्षोदः, गुरो गरः, उरो वरः, पियस्य प्रः, वहो भूः, णीष्ठेमेयः सु ।

णौ इष्ठे इमनौ ईयसौ चेत्यर्थः ।

अमृता०—५२२. सुखेति । वेदयतेऽर्थादनुभवतीत्यर्थे सुखादिभ्यः कर्मपदेभ्यः क्यङ् भवति । कर्त्तुः सम्वन्धिहि सुखादि वेदनञ्चेत् तदैव स्यादिति ज्ञापयति—आत्मन इत्यादिना । अत्र—"सुखं वेदयति प्रसाधको देवदत्तस्य" इति प्रत्युदाहृतं काशिकायाम् । प्रसाधको मण्डयिता । सोऽपि प्रसाध्यमानं जनमुत्फुल्ललोचनादिकं दृष्ट्वा सुखमस्य जातमिति जानात्येव, तथापि विशेष एवः—एकः प्रत्यक्षानुभवेन वेदयते अपर स्त्वनुमानेन इतीह न क्यङ् ।

अमृता०—५२३. चित्रादिति । आश्चर्ये अर्थे चित्रशब्दात् क्यन् स्यादात्मपदञ्च । क्यनि पर पदित्वे सिद्धे इहात्मपदविधानम् । चित्रीयत इति विस्मापयत इत्यर्थः ।

अमृता०—५२४. अनेकेति । णौ इष्ठे इमनौ ईयसौ च प्रत्यये परे अनेकसर्वेश्वरस्य शब्दस्य ससार हरो भवति; तेषु परेषु पृथु मृदु प्रभृतेः संसारहरः ऋरामस्य रश्च भवति; तेष्वेव परेषु क्षिप्रादि शब्दानां क्षेप प्रभृतय आदेशा भवन्ति । तत्र णौ परे हि कार्याण्यत्र प्रकरणे दर्श्यन्ते, इष्ठेमेयसां तद्धित प्रत्ययत्वात् तत्रैव प्रकरणे दर्शयितव्यानि ।

बाल०—नमः । तत्करोतीत्यर्थे: नम आदिभ्य उत्तरे क्यङ् भवति परपदञ्च । नमस्यतीति प्रणमतीत्यर्थः । वरिवस्यतीति शुश्रूषते इत्यर्थः । तपस्यतीति तपः करोतीत्यर्थः ।।५२१।।

बाल०—सुखा । सुखादिकं वेदयत इत्यर्थे सुखादेरुत्तरे क्यङ् भवति । वेदयत इति ज्ञापयतीत्यर्थः । इष्टिरिति इष्यत इति फलितार्थः । सुख-दुःख-करुण-कृपणास्तृप्तानीकाश्च सोढ़-कृच्छ्राश्च । अंश प्रतीपसहिता एकादश वै सुखादयो गदिताः ।।५२२।।

बाल०—चित्रात् । आश्चर्ये अर्थे चित्रादुत्तरे क्यन् भवति आत्मपदञ्च । चित्रीयत इति 'अद्वयस्य ई क्यनीति' ई । विस्मयं जनयतीत्यर्थः ।।५२३।।

बाल०—अनेक । णीष्ठेमेयःसु परेषु अनेकसर्वेश्वरस्य संसारहरो भवति, पृथुमृद्वादेः

५२५. भूतोयुट्, तथा प्रशस्यस्य श्रज्यौ, वृद्धस्य वर्षज्यौ, स्थिरस्य स्थः, स्फिरस्य स्फः, अन्तिकस्य नेदः, बाढ़स्य साधः, स्थूलस्य स्थवः, दूरस्य दवः, यूनोयक्कनौ, तृप्रस्य त्रपः, वृन्दारकस्य वृन्दः, विन्मत्वो र्हरः, अल्पस्य तु कनो वा णीष्ठेयःसु ।

णौ इष्ठेयस्वोश्वोत्यर्थः ।

५२६. श्वेताश्वस्य श्वेतः, गालोडिमस्य गालोडः, ह्वरकस्य ह्वरो णौ ।

गालोड़ितं वाचांविमर्शः । ह्वरकमपवारकम् । तदेवं स्थिते—

५२७. पुच्छाण्णिङ्ुत्क्षेपादौ ।

संसार हरः, णौ पदत्वाभावः, ण्यन्तत्वाद् धातुसंज्ञा । पुच्छमुत्क्षिपति

अमृता०—५२५ भूत इति । णौ इष्ठे ईयसौ च परे आदेशभूतात् भूशब्दादुत्तरे युड़ागमो भवेत्, प्रशस्य शब्दस्य श्रज्यौ आदेशौ, वृद्धशब्दस्य वर्षज्यौ चादेशौभवतः, स्थिरादिशब्दाना स्थप्रभृतय आदेशा भवन्ति । युवन्शब्दस्य यक्कनौ, तृप्र-वृन्दारकयोः त्रप-वृन्दौ आदेशौ स्यतां, अल्पशब्दस्य तु कनो वा आदिश्यते । एषु च प्रत्ययेषु परेषु नाम्न उत्तरस्थस्य विन् प्रत्ययस्य मतु प्रत्ययस्य च हरः स्यात् ।

अमृता०—५२६. श्वेतेति । णौ परे श्वेताश्व शब्दस्य श्वेत आदिश्यते, अश्वतरस्य अश्वः, गालोड़ितस्य गालोड़ः, ह्वरकस्य ह्वर आदिश्यते णौ परे ।

अमृता०—५२७. पुच्छादिति । उत्क्षेपादावर्थे पुच्छशब्दादुत्तरे णिङ् प्रत्ययो भवति । ङित्त्वमात्मपदार्थम् । तेनणेर्हरोऽनिङादौ रामधातुक इतीहापि प्रवर्त्तितव्यम् । णौपदत्वाभावइति—णौ तद् विधानाभावादित्यर्थः । उत्पुच्छयत इति—संसार हरः,

---

संसारहरो भवति, ऋरामस्य स्थाने रश्च संसारहरः सिद्ध्यत्येव, रविधानार्थमेतत् तेष्वेव परेषु क्षिप्र-दीर्घादीनां स्थाने क्षेपद्राघादयो भवन्ति । णीष्ठेमेयःस्विति विवृणोति णाविति इष्ठादयस्तद्धिताः ।।५२४।।

बाल०—भूतो । णीष्ठेयःसु परेषु भूत उत्तरे युङ् भवति । तेष्वेव परेषु प्रशस्यस्य स्थाने श्रज्यौ भवतः, वृद्धस्य स्थाने वर्षज्यौ भवतः, स्थिरादीनां स्थाने स्थादयो भवन्ति, युनः स्थाने यवकणौ भवतः, तृप्र-वृन्दारकयोः स्थाने त्रपवृन्दौ भवतः, विन्मत्वो र्हरो भवति, अल्पस्य तु स्थाने कणो वा भवति ।।५२५।।

बाल०—श्वेता । णौ परे श्वेताश्वतरादीनां स्थाने श्वेतादयो भवन्ति ।।५२६।।

बाल०—पुच्छा । उत्क्षेपादावर्थे पुच्छाज्त्तरे णिङ् भवति । णौ पदत्वाभाव इति

उत्पुच्छयते, परिक्षिपति परिपुच्छयते, विक्षिपति विपुच्छयते । अत्रोपेन्द्र-योगश्च पश्चादेव क्रियते । तेनोदपुच्छयतेत्यादौ मध्यत एवादागमः ।

५२८. भाण्डाण्णिङ् समाचयने ।

५२९. चीवरादर्जने परिधाने च ।

भाण्डानि समाचिनोति संभाण्डयते । चीवराणि अर्जयति परिदधाति वा चीवरयते । संमार्जने चेति कश्चित् संचीवरयते ।

५३०. अङ्गाण्णिङ् निरसने ।

निरसनमत्रच्छेदनम् । हस्तौ निरस्यति हस्तयते । णिरिति कश्चित्— हस्तयति ।

५३१. व्रताण्णिस्तन्मात्रभोजनतन्निवृत्त्योः ।

णेर्गोविन्दः, एअय् । ननु पुच्छ शब्दात् णिङ् करणवेलायां यद्युपेन्द्रो युज्यते तर्हि उत्पुच्छ इति धातोः स्वरूपे सति धातोः पूर्वमदागमे च औत्पुच्छमित्येवं भवितुमुचितमिति चेत्तत् परिहारार्थमुक्तम्—उपेन्द्रयोगः पश्चात् क्रियत इति ।

अमृता०—५२८. भाण्डादिति । समाचयने राशीकरणेऽर्थे भाण्डशब्दात् णिङ् स्यात् ।

अमृता०—५२९. चीवरादिति । अर्जने परिधाने चार्थे चीवर शब्दाद् णिङ् भवति । अर्जनमलब्धस्य लाभः । चीवरं जीर्णवस्त्रखण्डम् ।

अमृता०—५३०. अङ्गादिति । छेदने वाच्ये अङ्गवाचकशब्दात् णिङ् प्रत्ययः स्यात् ।

अमृता०—५३१. व्रतादिति । तन्मात्रभोजने तन्निवृत्तौ चार्थे व्रतशब्दात् णि प्रत्ययः स्यात् । निरनुबन्धत्वादत्र परपदमेव । विष्णु निवेदितं व्रतयति तन्मात्रं भुङ्क्त-

---

प्रयोजनाभावादिति शेषः । उत्पुच्छयत इति पुच्छमूर्द्ध्वं क्षिपतीत्यर्थः । परिक्षिपति विक्षिपतीत्यत्रापि पुच्छमिति योज्यम् । परिपुच्छयत इति पुच्छं परितः क्षिपतीत्यर्थः । परितः सर्वतः । पुच्छो लाङ्गूलम् ॥५२७॥

बाल०—भाण्डा । समाचयनेऽर्थे भाण्डादुत्तरे णिङ् भवति । समाचयनं पुञ्ज-करणम् ॥५२८॥

बाल०—चीव । अर्जने परिधाने च अर्थे चीरादुत्तरे णिङ् भवति । अर्जनमल-ब्धस्य लाभः । परिधानमाच्छादनम् । भाण्डानीति स्याद्भाण्डमश्वाभरणेऽमत्रे मूलमणिग्धने इति नानार्थवर्गः । अमत्रे पात्रे । चीवरानीति चीवरं वृक्षविशेषस्य वल्कलम् ॥५२९॥

बाल०—अङ्गा । निरसनेऽर्थेऽङ्गवाचकादुत्तरे णिङ् भवति ॥५३०॥

विष्णुनिवेदितमवैष्णवान्नञ्च व्रतयति । विष्णुनिवेदितमात्रं भुङ्क्ते अवैष्णवान्नञ्च न भुङ्क्त इत्यर्थः ।

५३२. वस्त्राण्णिः समाच्छादने परिधाने च ।

वस्त्रेण समाच्छादयति संवस्त्रयति । वस्त्रं परिदधाति परिवस्त्रयति ।

५३३. हल्यादिभ्यो ग्रहणाद्यर्थे णिः ।

हलिं गृह्णाति हलयति । कलिं–कलयति । अजहलत् अचकलत् । हलिर्महद्धलम् । त्वचं–त्वचयति, अरामान्तोऽपि त्वच शब्दोऽस्ति । त्वचः पश्चात् संपूर्वत्वे संत्वचयति । एवं वर्णयति कृतयति । एवं तूस्तानि विनिहन्ति वितूस्तयति । तूस्तं पापं धूलि र्वा संहता जटा वा । पाशं विमोचयति विपाशयति । पाशं संयच्छति संपाशयति । लोमान्यनुमार्ष्टि अनुलोमयति । रूपं पश्यति रूपयति ।

इति भक्तस्य हि निष्ठा । अवैष्णवान्नं व्रतयति अवैष्णस्पृष्टान्नान्निवर्त्तते नतु भुङ्क्त इति च भक्तस्य नियमः ।

अमृता०—५३२. वस्त्रादिति । सुगमम् ।

अमृता०—हल्यादिभ्य इति । ग्रहणादावर्थे हलि प्रभृतिशब्देभ्य उत्तरे णिप्रत्ययो भवति । कलिरत्र कलहः । अजहलदित्यादौ–"नतुदशावतारादर्शने" इत्यनेन सन्निमित्त-कार्याभावः । आदि पदंविवृणोति–त्वचमित्यादिभिः । त्वच्शब्दाद् ग्रहणादद्यर्थे णौ सति घटादित्वाद् वामनः । अरामान्तस्य तु त्वच शब्दस्य संसारहरः । एवं वर्णं गृह्णातीत्यर्थे वर्णयति । ग्रहणाद्यर्थ इत्यत्रत्यमाद्यशब्दकलितार्थमुदाहरति—तूस्तानि विनिहन्तीति । तूस्तं केशमात्रमित्येके ।

बाल०—व्र । तन्मात्रभोजन-तन्निवृत्त्योरर्थयोर्गम्यमानयोः सतोर्व्रतनामपदाण्णिर्भवति । तदेव तन्मात्रं तन्मात्रे भोजनं, तन्मात्रभोजनं, तन्मात्रे निवृत्तिस्तन्निवृत्तिः, तच्च सा च तयोः । पक्षप्राप्तौ नियमनमत्र व्रतं, नियमः पाक्षिके सतीति वचनात् ॥५३१॥

बाल०—वस्त्रा । सुगमम् ॥५३२॥

बाल०—हल्या । ग्रहणादावर्थे हल्यादिभ्य उत्तरे णि र्भवति । कलिमित्यादावपि गृह्णातीति योज्यम् । कलिः कलहे चतुर्थयुगे च । अजहलदिति न तु दशावतारादर्शन इति सन्निमित्तकार्यनिषेधः । त्वचमिति त्वग्देहचर्म । स्त्रियान्तु त्वगसृग्धरेत्यमरः । अरामान्तोऽपीति तस्यापि त्वचयतीति त्वचो विष्णुजनान्तस्य णौ सति घटादित्वाद्वामनः । त्वच इति षण्ठयन्तं त्वचशब्दस्येत्यर्थः । वर्णयति कृतयतीति ग्रहणार्थे । संहृता मिलिता । पाशं रज्जुम् ॥५३३॥

५३४. तृतीयान्तविशेषात् धात्वर्थ विशेषे ।

वीणया उपगायति उपवीणयति । तूलैरवकुष्णाति अवतूलयति । एवमन्यच्च । श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति । सेनया अभिमुखं याति, षत्वञ्च, अभिषेणयति । वर्मणा संनह्यति संवर्मयति । चूर्णैरवध्वंसयति अवचूर्णयति ।

५३५. तेनाति क्रमणे च ।

हस्तिनातिक्रामति अतिहस्तयति ।

५३६. मुण्ड मिश्र श्लक्ष्ण लवण लघु पटु प्रभृतिभ्य स्तत् करोतीत्यर्थे, पृथ्वादे रन्येभ्यश्च तत्करोति तदाचष्टे इत्यर्थे णिः ।

मुण्डं करोति मुण्डयतीत्यादि । वह धातोः कृत्क्तिः, तत ऊढ़िः, ऊढिमाचष्टे करोति वा ऊढयति । अडि तु द्विर्वचनं प्रति ढत्वादीनामसिद्धत्वम्,

---

अमृता०—५३४. तृतीयान्तेति । धात्वर्थ विशेषे गम्यमाने तृतीयान्तविशेषात् शब्दात् णि प्रत्ययो भवति । धातोः स्वाभाविकादर्थाद् विशेषोऽर्थो धात्वर्थ विशेषः, सचार्थ उपेन्द्र-द्वारा हि द्योत्यते, नामधातुना च व्यवह्रियते । तृतीयान्तविशेषस्तु कारकविभक्तिनिष्ठो नतूपपदविभक्तिनिष्ठः, पदान्तरसापेक्षत्वेन तस्य वैशिष्ट्यविरहात् । अतएवोदाहरणेषु सर्वत्रोत्पद्यमानधातोः प्रागवस्थायां शब्दोत्तरे करणे तृतीयान्यासः । उपवीणयतीति—अत्रोपगायनात्मकविशेषार्थो धातुना हि लभ्यते उपस्तु तद्द्योतकमात्रम् । एवं सर्वत्र बोध्यम् ।

अमृता०—५३५. तेनेति । तेनअतिक्रामतीत्यर्थे च तृतीयान्तविशेषात् णि प्रत्ययः स्यात् । चकार तृतीयान्तविशेषादित्याकर्षणार्थः । हस्तिनेति करणेतृतीया ।

अमृता०—५३६. मुण्डेति । मुण्डादिशब्देभ्यस्तत् करोतीत्यर्थे णि र्भवति, तथा पृथुप्रभृति शब्देभ्यः, अपरेभ्यश्चानुक्तेभ्यः तत् करोतीत्यर्थे तदाचष्टे इत्यर्थे च णि र्भवति । मुण्डं मण्डनं भद्रं करोतीत्यर्थः । श्लक्ष्णं सूक्ष्मम् । क्तयन्तादूढि शब्दाद्णौ कृते संसारहरः ।

बाल०—तृतीय । धात्वर्थ विशेषेऽर्थे तृतीयान्तविशेषादुत्तरे णि र्भवति । अवकुष्णातीति निष्कासयतीत्यर्थः । एवमन्यच्चेति ततः अनुतूलयतीति । वर्म्मणा कवचेन संनह्यत इति सन्नद्धो भवतीत्यर्थः ।।५३४।।

बाल०—तेन । तेन अतिक्रमे च अर्थे णि र्भवति ।।५३५।।

बाल०—मुण्ड । तत्करोतीत्यर्थे मुण्डादिभ्य उत्तरे णि र्भवति । तत्करोति तदाचष्टे इत्यर्थे पृथ्वादेरुत्तरे अन्येभ्यश्च उत्तरे णि र्भवति । मुण्डं मुण्डनम् । "श्लक्ष्णेति स्तोकाल्पक्षुल्लकाः श्लक्ष्ण सूक्ष्मं सभ्रं कृशं तन्वित्यमरः ।" अडित्विति । ढत्वादिनां ढत्व-धत्व-

तद्धि क्तकार्यान्ते *वक्तव्यम्। ततश्च ढिस्थानस्य हसङ्गितीत्यस्य द्विर्वचने जाते नरविष्णुजनानामादिः, हस्य जः, नारायणस्य हस्य च पुनर्ढत्वादि, तेन औजिढदिति सिद्धयति। क्तान्तस्य ऊढ शब्दस्य तु णौ दशावतारादर्शने सति सन्निमित्त कार्याभावाद् औजढदिति काशिका। अत्रापि औजिढदित्येके। केचित्त्वसिद्धत्वं न मन्यते—औड़िढत्।

५३७. सत्यार्थवेदेभ्य आपुक् च।

सत्यापयति। नामधातुष्टैष्वक्वष्ठिवां सत्व नत्व निषेधः—षष्ठ करोति

अङित्विति—द्विर्वचनं प्रति ढत्वादीनामिति ढत्व धत्व टवर्गत्व–ढलोपानामसिद्धत्वं मन्यत इत्यर्थः। तद्धि असिद्धत्वं क्तकार्यीणांक्तप्रत्ययसम्वन्धिनां कार्याणामन्ते वक्तव्यं वक्ष्यत-इत्यर्थः। तथाहि कृति–विष्णुनिष्ठादेशस्य षत्वादन्यत्र स्थानिवद्भाव इष्ट इति। ततश्च ढिःस्थानं स्थितिर्यस्य (यस्य स्थाने ढि जातःतस्य) "हसङ्गिति" इत्यस्य (हसङ्गो विदयतेऽस्य हसङ्गि, तच्चादः ति च हसङ्गिति इतिविग्रहः) द्विर्वचने कृते हस्य च हलन्त-त्वान्नर विष्णुजनानामादिः शिष्यत इति इरामसहित हरामे रक्षिते हस्यजो नरस्य। पुनर्नारायणस्य हति भागस्य ढत्व धत्व टवर्गत्व ढलोपाः। अत्रनारायणभागे ढलोपे नरस्य जि इत्यस्य नहि त्रिविक्रमः सकृद्गतन्यायात्। पूर्वं हि लघुयुक्तपरत्वाभावात् तत्परस्य नरलघोरिति त्रिविक्रमो वाधित एवेत्यवगन्तव्यम्।

एतं स्थानिवद्भावं समर्थयते काशिकादिप्रयोगेणक्तान्तस्येत्यादिना। अत्र चोढ-शब्दस्य द्विर्वचने कार्ये णौ ढत्वादीनामसिद्धत्वात् हत इत्यस्य स्थानिवत्त्वेन द्विर्वचने कृते नरविष्णुजनानामादिः हरामः शिष्टः, तस्य च जरामः। अत्रापि औजिढदिति–क्तप्रत्ययेऽपि सणेर्द्विर्वचनं कृत्वा औजिढदिति साधयन्त्येके। केचित्त्विति वोपदेवादयो ढत्वादीनाम-सिद्धत्वं नहि मन्यन्त इत्यर्थः।

अमृता०—५३७. सत्यार्थेति। तत्करोति तदाचष्टे इत्यर्थे सत्य अर्थ वेद शब्देभ्यो

टवर्गत्व-ढलोपानां ढिस्थानस्येति ढेः स्थानमिति विग्रहः। हसङ्गं विद्यतेऽस्य हसङ्गी हसङ्गी चासौ तीचेति विग्रहः। जाते भूतेशेति रामसहितहरामस्य स्थितिः। ढत्वादीत्यादि शब्देन धत्व-टवर्गत्व-ढलोपनां ग्रहणं, किन्तु नारायणहस्येत्यनेन ढत्वस्यैवान्वयः। औजिढ-दिति संसारहरे कृते लघुयुक्तपरत्वाभावात् दशावतारादर्शनाच्च तत्परस्येत्यादिना न त्रिविक्रमः। अतएव ढस्य हर इत्यादिनापि त्रिविक्रमो न भवति पूर्वसिद्धस्य ढत्वादेर्द्वित्वं प्रति असिद्धं मत्वा पुनस्तस्यैव सिद्धकरणादिति ज्ञेयम्। औढिढदिति ढेर्द्विर्वचने कृते हरि-घोषस्य हरिगदा ।।५३६।।

बाल०—सत्या। तत् करोति तदाचष्ट इत्यर्थे सत्यादिभ्य उत्तरे णिर्भवति आपुक्

---

* तद्धित कार्यान्ते वक्तव्यामिति क्वचित् पाठः। तत्र च क्तप्रत्ययस्यैकदेशनिर्देशात् सएवार्थः।

तदाचष्टे वा षष्ठयति । एवं णरामयति । कविं कवयति । अधिकार-प्राप्तस्य गोविन्दे धातुग्रहणस्यानर्थक्यान्नाम्नोऽप्यन्तस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंहे।

५३८. प्रकरणे त्वत्र वृष्णीन्द्रे जात एव वृष्णीन्द्रो वाच्यो हलि-कली विना ।

ततो ननु दशावतारादर्शन इति न सन्निमित्तकार्यनिषेधः, अचीकवत् । अत्रतुवृष्णीन्द्रत्वेऽपि दशावतारत्वमेवेति, राधामाख्यत् अरराधत् । ह्व इत्यादौ नामधातुं विनेतिकिम्—ह्वायकमाचष्टेस्म अजह्वायकत । ह्वायकयितुमिच्छति—जिह्वायकयिषति । एवंस्वापेरपि इष्यते । स्वापक इवाचरति स्वापकायते, सिष्वापकायिषते ।

णि प्रत्ययः स्यात्, तत्र आपुक् चागमौ भवतः । अर्थापयति वेदापयति । अधिकार प्राप्त-स्येति—अयंभावः—पूर्वतो धातोरिधिकरेणानुवृत्तिसत्त्वेऽपि यत् धातोरन्तस्य गोविन्द इति गोविन्दविधानसूत्रे पुनर्धातु शब्दो न्यस्तः, तेनेदं ज्ञापितं धातोरेवान्तस्य गोविन्दो भवति नान्यस्य । अथ च तेनैवापरश्च व्यञ्जितम्—वृष्णीन्द्रविधानसूत्रे धातुशब्दाग्रहणात् नाम्नोऽप्यन्तस्य वृष्णीन्द्रः स्यादेवेति ।

अमृता०—५३८. प्रकरण इति । अत्र नामधातुप्रकरणे तु अन्तस्य वृष्णीन्द्रे जाते हि संसार हरो वाच्यो हलि कलिशब्दौ वर्जयित्वा । ततो वृष्णीन्द्रीभूतानामैरामादीनां दशावतारत्वाभावात् तददर्शनेऽपि नहि सन्निमित्तकार्यंवाध इतिवीजम् । हलि कल्योश्च तया रीत्या सन्निमित्तकार्ये प्राप्ते तन्निषेध उक्तः । तयोस्तु रूपं प्राग्दर्शितम्—हल्यादिभ्य इत्यादि सूत्रोदाहरणे । अचीकवदिति—कविमारव्यदित्यर्थः । वृष्णीन्द्रीभूतस्य ऐरामस्य हरः, नरारामस्यैरामः, त्रिविक्रमश्च । ह्वइत्यादाविति—ह्वोनरनारायणयोः सङ्कर्षणो नाम धातुं विनेति लक्षण इत्यर्थः। जिह्वायकयिषतीति—ह्वायक शब्दात्णिसनौ । तत्र लक्षणे नामधातु श्चेन्न वर्जितः स्यात्तर्हि नरनारायणयोः सङ्कर्षणे सति जुहुयकयिषतीत्येवमनिष्टरूप मापद्येत इत्याशयः । एवंस्वापेरपीति—स्वापेर्नामधातुत्वे सति द्युतिस्वाप्यो र्नरस्य सङ्कर्षण इति प्राप्त सङ्कर्षणो न भवति । नामधातुं विनेत्युक्तनिषेधस्य खलूफलक्षणत्वस्वी-कारात् । अन्यथात्रापि सुष्वापकायिषत इत्यनिष्टरूपं स्यादितिभावः । अत्राचारार्थे क्यङ-न्तात् सन्, पूर्वधातुवत् सनः परपदादीति त्वात्मपदम् ।

च । निषिद्धयत्येव आपुगर्थं वचनम् । नामीति । षत्वणत्वनिषेधः । अधिकारेति । गोविन्द इति 'धातोरन्तस्य गोविन्दः प्रत्यय' इति गोविन्दविधानमूत्र इत्यर्थः । आनर्थक्यादिति नामान्तस्य वृष्णीन्द्राभावे सति गोविन्दविधानसूत्रे अधिकारप्राप्तस्य धातोरनुवर्त्तनमकृत्वा पुनर्धातुग्रहणमनर्थकं स्यादिति नाम्नोऽपीति अन्तस्येत्यादिना नाम्नोऽप्यन्तस्य वृष्णीन्द्रः५३७

बाल०—प्रक । अत्र प्रकरणे तु हलिकली विना वृष्णीन्द्रे जात एव संसारहरो

५३८. नामधातु हनो न घत्वम् ।

क्यन्—जिहननीयिषति । णि—अग्निचितं अग्निचयति, प्रत्यञ्चं प्रत्ययति, उदञ्चं उदयति । गोनावौ आचष्टे—गो नयति । आशिषयतीत्यादौ तु संसारहरं नेच्छन्ति । एतः कर्वुर वर्णः । स्त्रीत्वं चेदीप्प्रत्ययस्तस्य च णः, तत्र णौ चेतिपुंवद्भावात् एणीं करोति एतयति । ररामभावात् संसारहराच्च पृथ्वादेः प्रथयति ।

अमृता०—५३८. नामेति । नामधातौ हनधातोर्घत्वं न स्यात् । हनन शब्दात् यमिवाचरतीत्यर्थे क्यन्, ततो हननीय इति नामधातुस्वरूपात् हननीयितुमिच्छतीत्यर्थे सन् । अत्र नराद्धन्ते हँस्य घे प्राप्ते निषेधः । अग्निचिदित्यादौ तत्करोति तदाचष्टे वार्थे णिः, अनेकसर्वेश्वरत्वात् संसार हरः । प्रत्ययतीत्यादौ सोपेन्द्रात् प्रत्यच् प्रभृतिशब्दात् णिः, ततोऽनेकसर्वेश्वरत्वात् संसारहरः । नचात्र संसारहरे निमित्तापाये प्रतीच इति वन्नैमित्तिकस्य यरामस्याप्यपायो भवत्विति वक्तव्यम्, कृतेऽपि तदपाये नित्यत्वेन पुनर्यरामस्यैव प्रवृत्तेः । तथाहि—णेर्गोविन्दे शपा सह सन्धिना अयादेशे च जाते पुनरुपेन्द्र सर्वेश्वरस्य सन्धौ यराम एवेति । किञ्च गोनौ शब्दवदत्र सोपेन्द्रस्य अच् शब्दस्य ह्यकशब्दस्वीकारेण णि प्रत्ययविधानात् स्वरूपत इह नास्त्येव तत्शङ्कावकाश इत्यवगन्तव्यम् । उपसर्गं पृथक् कृत्वा अच् शब्दाद् णौ कृते त्वेकाच्त्वान्नसंसारहरः । अतश्च पाणिनि मते अजादौ प्रत्यये प्रकृते भं (भगवत्) संज्ञत्वात् प्रतीचयति इत्यादि दीक्षितः । स्वमते प्रत्ययविशेषाणमेव भगवत्संज्ञा विधानात् णेश्च तत्संज्ञत्वाभावात् कृतेऽपि उपेन्द्रविभागे अचोऽरामहरः पूर्वस्य त्रिविक्रमश्च न प्राप्नोति । वस्तुतस्तादृश प्रक्रियाया इह निष्फलत्वादिष्टविरोधाच्च ग्रन्थकृता योग विभागमकृत्वा समुदायशब्दादेव णिः कृत इति प्रत्ययति पदं साम्प्रतम् । एवमेव मतं कलाप मुग्धबोधादिषु ज्ञेयम् ।

वाच्यः । वृष्णीन्द्रात् पूर्वं संसारहरो कृते सन्निमित्तकार्येनिषेधः स्यात् । अचीकरदिति ऐरामस्य हरः । अत्र त्विति वृष्णीन्द्रत्वे आरामत्वानपगमः अतो दशावतारत्वमेवेति । ह्वइत्यादाविति ह्वो नरनारायणयोः सङ्कर्षणो नामधातुं विनेति सूत्र इत्यर्थः । आचष्टे स्मेति स्म शब्दो भूतकालवचनः । एवमिति 'द्युतिस्वाप्यो नरस्य सङ्कर्षण' इत्यनेन स्वापे र्नामधातुत्वे प्राप्ते सङ्कर्षणो न भवतीत्यर्थः । सिष्वापकायिषत इति स्वापकायितुमिच्छतीत्यर्थः । नन्वत्र स्वापीति रूपाभावादेव सङ्कर्षणो न भविष्यति तथापि किमर्थमेतत् प्रत्युहाहृतमिति न निश्चितम् । स्वपधातौ घँण् स्वापः स्वापं करोतीति णिः, ततः सनि सिष्वापयिषतीति तु प्रत्युदाहरणं संगच्छते अथवा स्वापक इति ण्यन्तात् णकः णेर्हरः 'क्वचिदन्तरङ्गकार्यं क्रियमाणे' इत्यादि न्यायेन णेर्हरस्यासिद्धत्वात् स्वापीति रूपम् ॥५३८

बाल०—नाम । व्यक्तार्थमितत् । जिहननीयिषतीति हननमिच्छतीति क्यन् अद्वस्य ई, ततः हननीयितुमिच्छतीति हननेच्छामिच्छतीत्यर्थः । नराद्धन्ते 'हँस्यघ' इत्यनेन घत्वं स्यात् । अग्निचितमित्यादौ करोति आचष्टे वेति ज्ञेयम् । अग्निचिच्छब्दः क्विबन्तः ।

पृथुं मृदुं भृशञ्चैव कृशञ्च दृढमेव च।
परिपूर्वं वृढञ्चैव षडिमान् रविधौ स्मरेत् ॥

क्षिप्रादेः क्षेपयतीत्यादि। प्र श्र ज्य स्य स्फादेशे वृष्णीन्द्रः पुगागमश्च, प्रापयति। वहोर्भू युट् भूययति। प्रसस्यादेः—श्रापयति ज्यापयति, वर्षयतीत्यादि। तृप्रः पुरोडाशः ररामान्तोऽयं—त्रपयति। विन्मत्वो र्हरात् स्रग्विणः—स्रजयति। ईण्मतः ईशयति। तथा अल्पयति कनयति। श्वेताश्वाश्वतरादेः श्वेतयतीत्यादि। किन्तु प्रथमस्य तेनातिक्रामतीत्यप्यर्थो ज्ञेयः।

अङि—अपप्रत्यत्। एवं तिरश्चमाचष्टे तिरयति। अङि—अतितिरत्। पृथुमृद्वादे रित्यत्र आदिपदे न प्रसिद्धान् षडेव ग्रहणीयत्वेनाह कारिकायाम्—पृथुमित्यादि। परिवृढ-शब्दः प्रभुपर्यायः। प्रियादि शब्दानां णौ प्रदचादेशे एकसर्वेश्वरत्वात् संसार हराभावे च सति वृष्णीन्द्रः, अर्ति ह्री व्लीति पुक् च। प्रापयतीति प्रियमाचष्ट इत्यर्थः। एवंस्थिरमाचष्टे स्थापयति, स्फिरं स्फारयति। तिप्र शब्दो ररामान्त इति सारामनिर्देशः, तस्मात् पृथ्वादौ नास्य पाठ इति भावः। एवं दीर्घं करोति द्राघयति, बहुलं बंहयति, क्षुद्रं क्षोदयति, अन्तिकं नेदयति, वाढंसाधयति, स्थूलं स्थवयति, दूरं दवयति, युवानं यवयति कनयति।

ईण्मत ईशयतीति—क्विवन्तादीश् शब्दात् मतुप्रत्यये विष्णु पदान्तत्वात् दृशो राज् यजित्यादिना षत्वम्, षस्य डः, प्रत्यय हरिवेणु परत्वेन नित्यं हरिवेणु रिति इण्मतु शब्दो निष्पन्नः। तस्य षष्ठयन्त इण्मत इति। इशयतीति—मतो र्हरे निमित्तापाये पुन र्णरामस्य शरामः। एवंपयस्विनीमाचष्टे पयसयति। नचात्रापि संसारहर इति भ्रमितव्यम्, विन्मत्वो र्हरो हि तदपवादएवेति। श्वेतयतीत्यादि पदेन अश्वयतीति। श्वेताश्वेनाति—क्रामतीत्यर्थं, अपिकारात् तत्करोति तदाचष्टे इत्यर्थं च श्वेतयति।

प्रत्यञ्चुदश्चावपि किवन्तौ। नेच्छन्तीति पूर्वाचार्या इति शेषः। कर्वुरवर्ण इति कर्वुरत्वं शवलत्वम्। तस्येति तरामस्येत्यर्थः। तत्रेति एणी शब्दे इत्यर्थः। पृथुमिति पृथुशब्दो बृहद्वाची। परिवृढशब्दः प्रभुवाची। 'प्रभुः परिवृढोऽधिप' इत्यमरः। स्मरेदिति जानीयादित्यर्थः। वृष्णीन्द्र इति अन्त्यारामस्य च वृष्णीन्द्रो णाविनि चेति पाणिनिमतेन। पुगागमश्चेति आरामान्तत्वात् अर्त्तीत्यादिना। तृप्रः पुरोडाश इति पुरोडाशो यज्ञविशेषस्य पिष्टकविशेषः। ररामम्ध्योऽयमिति अयं तृप्रशब्दः ररामम्ध्यः, अरामान्तस्यान्तत्वात् ररामस्य मध्यता। रमध्यत्वं तु केषाञ्चिदनभिमतम्, अत उक्तः ररामम्ध्योऽयमिति। ररामान्तोऽयमिति पाठोऽपि बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते। किन्तु न संगच्छते अरामान्तत्वात्। अरामसहितररामे तु ररामः शब्दो नप्रयुज्यते वर्णस्य स्वरूपमात्रे वाच्ये रामशब्दो देय इत्युक्तत्वात्। विन्मत्वोरिति। विन्मत् तद्धितौ। स्रग्विणः इति स्रग्विन् शब्दस्येत्यर्थः। एवम् इन्मत

५४०. कण्ड्वादिभ्यो यक् करोत्यर्थे ।

कण्डूयति असूयति वल्गूयति मन्तूयति । एवं सुख दुःख-खेला भिक्षु भिषक् प्रभृतयः । किन्तु कण्डूयञ् असूयञ् वल्गूयञ् मन्तूयञ् कण्डूयत्याद्यर्थे, हीणीयङ् महीयङौ घृणा-पूजयोर्धातु विशेषा एव । कण्डूयत इत्यादि ।

अमृता०—५४०. कण्ड्वादिभ्य इति । करोत्यर्थे कण्ड्वादिभ्य उत्तरे यक् प्रत्ययो भवति । कण्ड्वादयस्तावद्द्विविधाः—धातवः प्रातिपदिकानि चेति । तत्र कमेर्णिङ्, ऋतेरीयङ् इत्यादिवत् कण्ड्वादिभ्योधातुभ्य एवायं यक् विधीयते, नतु प्रातिपदिकेभ्यः । यतो गोविन्दप्रतिषेधार्थो हि करामानुवन्धोऽयम्, प्रातिपदिकानां गुण प्रसङ्गाभावात् । वाक्यदर्शनवेलायान्तु कण्ड्वादयः प्रातिपदिकान्येव ।

ननु कण्डू प्रभृतीनां द्व्यक्षर धातोरन्त इत्यादि सामान्यविधिना अन्तसर्वेश्वरस्य इत्वं सिद्धमेव, कथं तर्हि अन्तसर्वेश्वरविरहेऽपि गुणप्रतिषेधार्थः करामानुवन्ध इत्युच्यते मैवम्, एतत्संशयनिरासाय हि पुनर्यका निष्पन्नधातुस्वरूपाणां दिङ्मात्रमुपन्यासः किन्तु कण्डूयञित्यादि । तत्र कण्डू मेधा प्रभृतीनामन्तसर्वेश्वरइत् न भवति । तथा त्र्यक्षरत्वेऽपि कुसुम-चरणादीनामन्त सर्वेश्वर इद् भवतीत्यादिवैलक्षण्यसूचनार्थ माह—धातु विशेषा इति । अतएव साधारणधातुव्यावृत्त्यर्थमादौ हि किन्तु पदम् । किञ्च दर्शितषण्णामेव यथा निर्देशमुभयपदादिकं वैशिष्ठ्य मवगन्तव्यम्, तदितरेषान्तु परपदित्वमेवेत्यवधेयम् ।

कण्ड्वादिगणो यथा—कण्डूगात्रविघर्षणे, मन्तु अपराधे, वल्गु, पूजामाधुर्ययोः, असु उपतापे, लेट् लोट् धौर्त्ये, स्वप्ने च, इरस् इरज् ईर्ष्यायाम्, उषस् प्रभातीभावे, मेधा आशुग्रहणे, कुषुभ क्षेपे, मगध परिवेष्टने, नीच दास्ये वा, तन्तस् पम्पस् दुःखे, सुख दुःख तत्क्रियायाम्, सपर पूजायाम्, अरर आराकर्मणि, भिषज् चिकित्सायाम्, भिष्णज् उपसेवायाम्, इषुध शर धारणे, चरण वरण गतौ, चुरण चौर्ये, तुरणत्वरायाम्, भुरण धारण पोषणयोः, गद्गद वाक्यस्खलने, एला केला खेला विलासे, लेखा स्खलने च, लिट अल्प कुत्सनयोः,लाट जीवने, हीणीङ् घृणालज्जयोः,महीङ् पूजायाम्,लेखाश्लाघासादनयोः, द्रवस् परितापे, तिरस् अन्तर्द्धा, अगद नीरोगत्वे, उरस् बलार्थः, तरण गतौ, पयस् प्रसृतौ, सम्भूयस् प्रभूतभावे, अम्वर सम्वर सम्बरणे इति । आकृतिगणोऽयमित्येके । रूपाणि—सुख्यति कुसुभ्यति मगध्यति सपर्यति मेधायति पयस्यतीत्यादीनि । रामधातुके तु यरामहरे सुखितेत्यादीनि ।

इति । स्रग्विन् शब्देन मालाविशिष्ट उच्यते । ईण्मच्छब्देन ऐश्वर्यविशिष्ट उच्यते । ईन्मदिति क्विबन्तादीशशब्दान्मतुः शस्य षः, षस्य डः, डस्य णः । प्रथमस्य श्वेतयतीत्यस्य । श्वेतश्चासौ अश्वतरश्च । अश्वतरः खरजातोऽश्वः ॥५३९॥

बाल०—कण्ड्वा । करोत्यर्थे कण्ड्वादिभ्य उत्तरे यक् भवति । कण्डूयतीति कण्डूं करोतीत्यर्थः । असूयतीत्यादौ यकि कृते वामनस्य त्रिविक्रमः । कण्डूत्याद्यर्थ इति कण्डूतिः

५४१. कण्डूयादीनां येर्द्विर्वचनम्।

कण्डूयियिषति।

५४२. नामधातूनां यथेष्टम्।

पुपुत्रीयिषति पुतित्रीयिषति पुत्रीयियिषति पुत्रीयिषिषति पुपुतित्रीयियिषति पुपुतित्रीयियिषिषति कृष्णम्। सर्वेश्वरादीनान्तु सतसङ्गादि नवदर वर्जस्य तत्परस्यैव ज्ञेयम्। ईशिशीयिषति ईशीयियिषति ईशीयिषिषतिईशिशीयियिषिषति। एवंइदिद्रीयिषति कृष्णमित्यादि। सर्वेश्वरादे रन्यत्रापि नवदरादि वर्जस्येत प्रक्रियाकारः। चन्दिन्द्रीयिषति इत्यादि।

अमृता०—५४१. कण्डूयादीनामिति। यक् सिद्धानां कण्डूयादीनां येर्द्विर्वचनं भवति, तन्निमित्त प्रत्यये इति शेषः। रामधातूनां यथेष्टमित्यग्रिमोक्तेर्वाधकोऽयम्।

अमृता०—५४२. नामेति। एषां यथेष्टमिच्छानुरूपं द्विर्वचनं भवति नतु केवलविधानानुसारम्। तत्र प्रत्येकवर्णस्य वर्णसमुदायस्य च द्विर्वचनं दर्शितमुदाहरणैः-पुपुत्रीयिषतीत्यादिभिः। पुत्रमिवाचरितुमिच्छतीत्यर्थे क्यन्नन्तात् सन्, कृष्णमिति पश्चाद् योगः। सर्वेश्वरादीनान्त्विति तत्परस्यैवेति—सर्वेश्वरपरस्यान्यभागस्य हि ज्ञेयम्। तेनार्दधातोः रवर्जस्यान्यभागस्य दस्य अच्परत्वाभावान्न द्विर्वचनम्। सत् सङ्गादिरहितानान्तु सर्वेश्वरदीनामासर्वेश्वरं वर्जयित्वापर भागस्य तत्स्यात्—ईशिशीयिषतीत्यादौ, सर्वेश्वरपरस्यैवान्यभागस्य। केवलसर्वेश्वरत्वेऽपि तस्यैव-इयाय। इन्दिद्रीयिषतीति-इन्द्रमिवाचरितुमिच्छतीत्यर्थः। इदन्तु विधानानुरूपमेव। यथेष्टञ्च द्विर्वचनमुन्नेयम्। चन्दिन्द्रीयिषतीति—चन्द्रमिवाचरितुमिच्छतीत्यर्थे क्यन्नन्तात्सन्। अत्रविष्णुजनादित्वेऽपि नवदरादि वर्जस्येति मन्यते प्रक्रियाकारः, तत्तु स्वमतविरुद्धं, वहुमतविरुद्धञ्च।

इति व्याख्याता नामधातु प्रक्रिया।

कण्डूया। आदिशब्देन असूयादे र्ग्रहणम्। घृणापूजयोरिति। घृणा जुगुप्सा। 'जुगुप्साकरुणे घृणे' इति नानार्थवर्गः। धात्विति। कण्डूयङादयः सर्वे धातुविशेषा एवेति ॥५४०॥

बाल०—कण्डू। व्यक्तार्थमेतत्। येरिति इट् सहितस्य यरामस्य इत्यर्थः ॥५४१॥

बाल०—नाम। नामधातूनां यथेष्टं द्विर्वचनं भवति। यथेष्टमिति इष्ठमनतिक्रम्येत्यर्थः। पुपुत्रीयिषतीति पुत्रमिवाचरतीति क्यन् कृष्णं पुत्रमिवाचरितुमिच्छतीत्यर्थः। पुत्रीयिषिषतीति सारामसस्य द्विर्वचनम्। तत्परस्यैवेति सर्वेश्वर परस्यान्यभागस्यैवेत्यर्थः। नत्वादिभागस्य। ईशिशीयिषतीति ईशमिवाचरितुमिच्छतीत्यर्थः। इन्दिद्रीयिषतीति इन्द्रमिवाचरितुमिच्छतीत्यर्थः। नवदरादिवर्ज्जस्येतीति नवदरादि वर्ज्जस्य सर्वेश्वर परस्यान्यभागस्यैवेत्यर्थः। चन्दिन्द्रीयिषतीति चन्द्रमिवाचरितुमिच्छतीत्यर्थः ॥५४२॥

* इति नामधातु प्रक्रिया *

* अथ उपेन्द्रविधौ कश्चिद्विशेषः *

(अत्रैकविन्दुदानं सूत्रस्य समाप्त्यर्थं, द्विविन्दुदानमधिकारस्य)

५४३. अन्तःशब्दो णत्वविधौ धाञो ङाप् कि विधौ तथा ।
भवेदुपेन्द्रोऽथ नैते षत्वार्थंयान्त्युपेन्द्रताम् ।।
सुः पूजायामति स्तद्वदतिक्रान्तौ अथो अपि ।
स्तोकता योग्यता स्वैरानुज्ञा गर्हा समुच्चये ।।

अन्तरिति—अन्तर्णयति, अन्तर्धा, अन्तर्द्धिः । अथनैत इति–सुस्तुहि, अतिस्तुहि । अथो अपिरिति–सर्पिषोऽपि स्यात्; अपिस्यात् पर्वतं सिंहः । अपि सिञ्च अपि स्तुहि तुलसीम् । अपिसिञ्चेत् पलाण्डुम् । अपिसिञ्च अपिस्तुहि ।

अथ उपेन्द्रविधौ उपेन्द्रसम्वन्धि विधानेऽत्रविशेषविधय उच्यन्त इत्यर्थः । अत्रैकविन्दुदानमित्यादिसङ्केतो हस्तलिखित ग्रन्थस्य वोधसौकर्याय वोध्यः ।

अमृता०—५४३. अन्तरिति । णत्वविधौ अन्तः शब्द उपेन्द्रो भवति; तथा धाञ् धातो रुत्तरे ङाप् विधौ किविधौ च अन्तः शब्द उपेन्द्रः स्यात् । अथ एते वक्ष्यमाणाः सुप्रभृतयोऽर्थविशेषे षत्वस्य निमित्तमुपेन्द्रत्वं नप्राप्नुवन्ति । तेषामर्थविशेषानाह—सुरित्यादिभिः कारिकाभिः । पूजायां द्योतमानायां सुरित्यव्ययम्, तथा पूजायामतिक्रमे च द्योत्ये अतिरिति चोपेन्द्रत्वं न प्राप्नोति । अथ अल्पता, सम्भावना (शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्त्तुमत्युक्तिः) कामचारानुज्ञा (स्वच्छन्दव्यवहारेऽनुमतिः) निन्दा समुच्चयो वा द्योतितश्चेत् तदा अपि शव्द उपेन्द्रतां न याति ।

अन्तर्णयतीति—अन्तः शव्दस्योपेन्द्रत्वेन उपेन्द्राण्णोपदेशस्येति णत्वम् । अन्तर्धेति–सोपेन्द्रदामोदरात् किर्भावादौ इत्यनेन किः । उभयत्र हि अन्तः शव्दमुपेन्द्रं मत्वा प्रत्ययौ विहितौ । पूजायामिति किम्—सुषिक्तो मथुरामार्गः । अति स्तुहीति—पूजयअतिस्तुतिश्च-

---

अथेति । उपेन्द्रविधौ उपेन्द्रसम्बन्धिविधाने । अधिकारस्येति समाप्त्यर्थमिति शेषः ।

बाल०—अन्तः । णत्बविधौ धाञोङाप् किविधौ च अन्तःशव्द उपेन्द्रो भवति । अथ । एते बक्ष्यमाणाः स्वत्यपयः षत्वार्थम् उपेन्द्रातां न यान्ति न प्राप्नुवन्ति अर्थविशेषेषु तेषामनुपेन्द्रत्वमित्याह—सुरिति । पूजायामर्थे सुः षत्वार्थमुपेन्द्रतां न याति । अतिक्रान्तावर्थे अतिः षत्वार्थमुपेन्द्रतां न याति । स्तोकत्वे योग्यतायां स्वैरनुज्ञायां गर्हायां समुच्चये चार्थे अपिः षत्वार्थमुपेन्द्रतां न याति । अन्तर्णयतीति अन्तःशव्दस्योपेन्द्रत्वात् उपेन्द्रात् नोपदेशस्य णत्वमित्यनेन णत्वम् । अन्तर्धेति सोपेन्द्रारामाच्चेत्यनेन ङाप । नन्तर्द्धिरिति

५४४. धात्वर्थमात्रवाचिनावधिपरी अपि नोपेन्द्राविति वाच्यम् ।

अधिपरी अनर्थकाविति हि भगवान् पाणिनिः । तदिदञ्च कर्मप्रवचनीय-संज्ञाविधानमुपसर्गसंज्ञाबाधकमिति । अधिकार्थवाचित्वे तु—अधिष्यति परिणीय । अथोपेन्द्रादपि षोपदेशस्य षत्वं क्वचिदित्यत्र विशेषः ।

कुरु । सर्पिषोऽपि स्यादिति—घृतस्य विन्दुना योगो भवेदित्यर्थः । अनुपेन्द्रत्वान्नषत्वमिति भावः । अपि स्येदिति—षोऽन्तकर्मणि, भेत्तुं शक्नुयादित्यर्थः । अपिसिञ्च अपिस्तुहि तुलसीमिति—उभयोरेकतरमुभयं वा कुरु इति यथेच्छं कुर्वित्यर्थः; उत्तरत्र तूभयमेव कुर्विति समुच्चयार्थः ।

अमृता०—५४४. धात्वर्थेति । धातो र्गणपठितार्थ मात्रस्य दयोतकौ अधिपरी उपेन्द्रौ नस्याताम् । अधिपरी अनर्थकाविति–अर्थान्तराद्योतकौ नतु अर्थ रहिता वित्यर्थः । भगवान् पूजनीयः । पाणिनिमते कर्मप्रवचनीयानामुपसर्गत्वाभावात् निघात (अनुदात्त) नाम स्वर कार्यं णत्वं षत्वं वा तद्योगे न स्यादित्यभिप्रायः । स्वमते तु वैदिककार्यस्यानावश्यकत्वात् तदुदाहरणं नैव दत्तं ग्रन्थकृता, किन्तु व्यावृत्तिमुखेनेति सूत्रस्य प्रयोजनीयतामवगमयति—अधिकार्थेति । धात्वर्थादधिकार्थे दयोत्ये तु भवत एव णत्व षत्वे इत्यर्थः यथा अधिष्यतीति । षोऽन्तकर्मणि धातोरत्र समाप्त्यर्थोऽधिकः अर्थाद् विशेषः । परिणीयेति—णीञ्प्रापणे क्वति यप्, इह विशेष प्राप्तिरूपो विवाहार्थः । अथ पूर्वोक्तषत्वविधौ क्वचित् पदस्य स्थानानि निर्दिशति–अग्रिम सूत्रभूतकारिकाभिः ।

धाञः किविधौ अन्तःशब्दस्य उपेन्द्रत्वात् सोपेन्द्रदामोदरात् कि र्भवादावित्यनेन किः, आरामहरः । सुस्तुहीति स्तवस्यातिशय एवात्र पूजा । अतिस्तुहीति निष्पन्नेऽपि फले क्रियाप्रवृत्तिरत्रातिक्रान्तिः । स्तोकत्वायोग्यतेति पाठो बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते, किन्तु स न संगच्छते सिह इत्युपादानात् योग्यताया एव प्रतिपन्नत्वात् । जुमरे योग्यतेत्यत्र सुस्तुहि अतिस्तुहीति उपेन्द्रत्वे सति उवेन्द्रात् सुवतेरित्यादिना षत्वं स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यादिति सर्पिषः स्तोकं स्यादित्यर्थः । सर्पिर्घृतं स्तोकमल्पम् । अपि स्यादिति प्रार्थने विधिः । उपेन्द्रत्वे सति उपेन्द्र-प्रादुर्भ्यामित्यादिना षत्वं स्यात् । अपिष्येदिति षोऽन्तकर्म्मणि भिन्द्यादित्यर्थः सम्भावनेत्युक्तत्वाच्च सम्भावना तत्क्रियायोग्यता निश्चितिः । अपिसिञ्च तुलसीमिति प्रैषातिसर्गप्राप्तकालत्वेषु विधातृ-विष्णुकृत्याविवत्यनेन विधातृ हि । अतिसर्गः कामचाराभ्यनुज्ञेति वक्ष्यते कामचाराभ्यनुज्ञैव स्वैरानुज्ञेति । अपिसिञ्चेत् पलाण्डुमिति प्रेषणार्थे विधिः । अत्र पलाण्डुसेचनप्रेषणेन गर्हा गम्यते । पलाण्डुरपवित्रकन्दविशेषः । अपिसिञ्च अपिस्तुहीति प्रेषणे विधातृ हि अपिस्येत् अपिस्तुहीति । उपेन्द्रत्वे सति उतेन्द्रात् सुवतेरित्यादिना षत्वं स्यात् । अपिसिञ्च अपिसिञ्चेदिति उपेन्द्रत्वे सति सिचेरपि तथा षत्वमित्यनेन षत्वं स्यात् ।।५४३।।

बाल०—धात्वर्थ । व्यक्तार्थमेतत् । अधीति हि यतः अनर्थकावधिपरी नोपसर्गाविति भगवान् सर्वज्ञः पाणिनिराहेति शेषः । तदिदञ्च पाणिनिराहेति शेषः । किन्तत् तत्राह

५४५. उपेन्द्रात् सुवतेः षत्वं सुनोतेः सोस्तुभस्तुवाम् ।
स्था सेनय स्वन्ज सन्जां सेधते स्त्वगतौ स्मृतम् ।।

५४६. सिचेरपि तथा षत्वं सदेः प्रतिविर्वाजिनः ।

५४७. उपेन्द्रात् क्रियते; तद्वद् व्यवाभ्यां भोजने स्वनः ।

५४८. उपादपि मतं स्तम्भेः षत्वं यत्राङ् नदृश्यते ।
अव पूर्वस्य सामीप्ये तद्वदेवावलम्बने ।।

अमृता०—५४५. उपेन्द्रादिति । निमित्तभूतादुपेन्द्रादुत्तरेषा सुवति सुनोति स्यति स्तोभति स्तौति तिष्ठति सेनयति स्वजति सजति सेधतीनां विरिञ्चि सरामस्य मूर्द्धन्यादेशो भवति । सेधतेस्तु गत्यर्थं विनान्यार्थे । समानविष्णुपदत्वाभावेन निमित्तभूतादप्युपेन्द्रात् षत्वाप्राप्तेः विशेषोक्तिः ।

अमृता०—५४६. सिचेरिति स्पष्टम् । सर्वत्रैव उपेन्द्रो निमित्तभूत एव ज्ञेयः । प्रति विर्वाजिन उपेन्द्रात् षद्लृधातोः षत्वं क्रियते इत्युत्तरेणान्वयः ।

अमृता०—५४७. तद्वदिति । वेः अवाच्चोत्तरे सशब्द भोजनार्थस्य स्वनः षत्वं क्रियते नतु केवल शब्दार्थकस्य ।

अमृता०—५४८. उपादिति । उपादुत्तरस्य अपि कारान्निमित्तभूतादुपेन्द्राच्च स्तम्भेः षत्वं मतम् । ण्यन्तस्य स्तम्भेर्भूतेशेऽङि तु षत्वं न मतम् । सामीप्ये अवलम्बने चार्थे अवपूर्वस्य स्तम्भेः षत्वं मतम् ।

कर्म्मेति । तस्मात् पाणिनिमते कर्मप्रवचनीयानामुपसर्गत्वाभावात् । गङ्गामनुस्थित इत्यादावपि षत्वाभाव । अस्माकं मते तु तत्र धातुयोगाभावेनोपेन्द्रत्वाभावात् षत्वाभाव इति । कर्मप्रवचनीया वक्ष्यन्ते । अधिष्यतीति परिणीयेति क्त्वा यप् विवाहं कृत्येत्यर्थः ५४४

बाल०—उपे । उपेन्द्रादुत्तरेषां षू प्रेरणे, षुञ अभिषवे, षोऽन्तकर्म्मणि, स्टुभ स्तम्भे, ष्टुञ् स्तुतौ, ष्ठा गतिनिवृत्तौ इत्येतेषां सेनय-स्वञ्चसञ्जां च सस्य षत्वं भवति । सेधतेस्तु अगतावर्थे षत्वं स्मृतम् ।।५४५।।

बाल०—सिचे । उपेन्द्रादुत्तरस्य सिचेः सस्य षत्वं भवति ।।५४५।।

बाल०—सदेः । प्रतिविर्वाजिन उपेन्द्रादुत्तरस्य सदेः सस्य षत्वं क्रियते । व्य । भोजनेऽर्थे व्यवाभ्यामुत्तरस्य स्वनः सस्य षत्वं क्रियते । दन्त्यपरत्वेऽपि स्वक्कादीनां पाठात् स्वनधातोः षोपदेशत्वं नास्तीत्यप्राप्ते विधानमिदमिति ज्ञेयम् ।।५४७।।

बाल०—उपा । व्यवाभ्याम् उपादत्युत्तरस्य स्तम्भेः सस्य षत्वं मतं यत्रेति यत्र आङ् न दृश्यते तत्रैव षत्वमित्यर्थः । अव । अवपूर्वस्य स्तम्भेः सस्य सामीप्येऽवलम्बने अर्थे षत्वं मतम् । यत्राङ् न दृश्यते इति अत्रापि योज्यम् ।।५४८।।

५४९. परे र्निविभ्यां सेवस्य सितस्य च सयस्य च ।
सिवोः सहः सुटस्तद्वद् विना सोढं षता मता ।।

५५०. अताव्यवायेऽप्यासेवम् ।

५५१. नरेण स्थादिकस्य तु । षत्वं वाच्यं, तदा तस्य, नरस्य च तदिष्यते ।

५५२. वेः स्कम्भेः ।

५५३. वा परेः स्कन्देः, वेस्तु निष्ठां विना भवेत् ।

५५४. वि पर्यन्वभिनिभ्यो वा स्यन्देरप्राणि कर्त्तरि ।

अमृता०—५४९. परेरिति । परि नि विभ्य उत्तरेषां सेवसित सय सिवु सह सुटां षता (षत्वं) मता, सोढ शब्दं विना । तत्र सित सययोर्यथा निर्दिष्टस्वरूपयोरेव नतु प्रत्ययान्तयोरित्युदाहरणेषु व्यक्ती भविष्यति । सुट् इति सुडागमस्येत्यर्थः ।

अमृता०—५५०. अतेति । सेव पर्यंतानां सुवत्यादीनामदागमव्यवधानेऽपि तद् वाच्यम् ।

अमृता०—५५१. नरेणेति । सेवपर्यन्तानां स्थादीनान्तु नरेण व्यवधानेऽपि षत्वं वाच्यम् ।

अमृता०—५५२. वेरिति स्पष्टम् ।

अमृता०—५५३. वेति । परेरुत्तरस्य स्कन्देः षत्वं वा भवेत्, वेरुत्तरस्य तु निष्ठा प्रत्ययं विनान्यत्र स्कन्देः षत्वं वा स्यात् । कृति क्त-क्तवत्वो निष्ठासंज्ञा वक्ष्यते ।

अमृता०—५५४. विपरीति । अप्राणकर्त्तरि सति वि परि अनुअभिनिभ्य उत्तरस्य स्यन्देः षत्वं वा स्यात् । षत्वमित्युत्तरेणान्वयः ।

बाल०—परे । परे निर्विभ्याश्च उत्तरस्य सेवस्य सस्य षता मता । सेवस्येति सेवधातोरित्यर्थः । षता षत्वम् । परे निर्विभ्यां चोत्तरयोः सितसयशब्दयोः सस्य षता मता । तेभ्य उत्तरस्य सिवोः सस्य षता मता तेभ्य उत्तरस्त सोढं विना सहः सस्य षता मता, तेभ्य उत्तरस्य सुटः सस्य षता मता ।।५४९।।

बाल०—अता । सुवत्यादीनां सेवपर्यन्तानाम् अदागमव्यवधानेऽपि षत्वं वाच्यम् । आसेवमिति आवैकुण्ठं संसार इतिवदव्ययीभावः ।।५५०।।

बाल०—नरेण । यत्रैव सेवपर्यन्त-स्थादीनान्तु नरव्यवधानेऽपि षत्वं वाच्यम् । तदा । तदा तत् समये तस्य नरस्य च तत् षत्वमिष्यते ।।५५१।।

बाल०—वेः । वेरुत्तरस्य स्कम्भेः सस्य षत्वं भवति ।।५५२।।

बाल०—वा । परेरुत्तरस्य स्कन्वेः सस्य षत्वं वा भवति । वेरुत्तरस्य स्कन्देस्तु

५५५. षत्वं निर्निवि पूर्वस्य स्फुरोऽपि स्याद् विभाषया ।
५५६. सुविनिर्दुः पूर्वं सूति समयोः षत्वमिष्यते ।
तत् पूर्वत्वे नरस्यापि कृतसङ्कर्षणस्वपेः ।।
५५७. परे र्निविभ्याश्च सिवोः स्तुस्वनूजोः सुट् सहोरपि ।
अता व्यवाये षत्वं स्याद् विकल्पनेति सम्मतम् ।।
५५८. न सुञः स्य-सनोः षत्वम् ।
५५९. नच षत्वं सिचे र्यङि ।
५६०. सुस्थादिषु नषत्वञ्च ।

अमृता०—५५५. षत्वमिति स्फुटम् ।

अमृता०—५५६. सुवीति । सु वि निर् दुर् पूर्वयोः सूति समयोः षत्वमिष्यते, तेषु च पूर्वेतु सत्सु कृतसङ्कर्षणस्य स्वपेर्नरस्य च षत्व मिष्यते ।

अमृता०—५५७. परेरिति । परिनिविभ्य उत्तरस्य सिवोः स्तुवः स्वनूजः सुटः सहश्च अता व्यवधाने विकल्पेन षत्वं स्यादिति पूर्वाचार्यं सम्मतम् । सुट इति कृञ.देः प्राक्तूपेन्द्रयोगे इत्यर्थः ।

अमृता०—५५८. नेति । स्ये परे सनि च परे सुञः षत्वं न स्यात् । उपेन्द्रात् सुवतेरित्यादिना सामान्यतो बिहितस्य प्रतिषेधोऽयम् ।

अमृता०—५५९. नचेति । स्फुटम् । सिचेरपीत्यनेन विहितस्य यङि निषेधः ।

अमृता०—५६०. सुस्थेति । सुस्थादिषु षत्वं न भवति । स्था सेनयेत्यादिना प्राप्तस्य तथा उपादपि मतं स्तम्भेरित्यनेन च प्राप्तस्य प्रतिषेधः ।

निष्ठां विना षत्वं वा भवति । अप्राणिकर्त्तरि सति विपर्यन्वभिनिभ्य उत्तरस्य स्यन्देः सस्य षत्वं वा भवति ।।५५३-५५४।।

बाल०—निर्नि । निर्निविपूर्वस्य स्फुरोऽपि विभाषया षत्वं स्यात् । विभाषा विकल्पः ।।५५५।।

बाल०—सुवि । सु वि नि दुंः पूर्वयोः सूति-समयोः षत्वमिष्यते । तेषां सु वि नि दुरां पूर्वत्वे सति कृतसङ्कर्षणस्वपे र्नरस्यापि षत्वमिष्यते ।।५५६।।

बाल०—परे । परे र्निविभ्याश्च परस्य सिवोः स्तुस्वञ्जोः सुट् सहोरपि सस्य अद्व्यवधाने षत्वं विकल्पेन स्याद् इति पूर्वाचार्याणां सम्मतम् । स्तुस्वञ्जोः अता व्यवायेऽ प्यासेवमित्यनेन नित्यं प्राप्ते विकल्पार्थमत्र पाठः ।।५५७।।

बाल०—न सुञः । स्ये सनि च सति सुञः षत्वं न भवति ।।५५८।।

बाल०—नच । सिचेर्यङि सति षत्वं न भवति ।।५५९।।

बाल०—सुस्था । सुस्थादिषु षत्वं न भवति ।।५६०।।

५६१. प्रादेः सिवु-सहोरङि ।

५६२. नारायणे सदि-स्वनूजो नैषत्वं स्यादधोक्षजे ।

उपे–परिषुवति अभिषुणोति परिष्यति विष्टौभते परिष्टौति अधिष्ठाता अभिषेणयति परिष्वजते अभिषजति। सेध–निषेधति, गतौतु परिसेधति । सिचेः–अभिषिञ्चति । सदेः–निषीदति, नेह प्रतिसीदति । व्यवा-विष्वणति अवष्वणति भक्तम् । उपात्–स्तन्भु बोधने सौत्रः । उपष्टभ्नाति विष्टभ्नाति, नेह–उपातस्तम्भत् । अव–अवष्टभ्नाति सेना, अवष्टभ्नाति दण्डम्, नेह–अवातस्तम्भत् ।

परेः–परिषेवते परिषितं विषयः । द्वाविमौ कृदन्तौ । निषीव्यति विषहते परिष्करोति । नेह–परिसोढा परिसोढं परिसोढुम् । क्तस्तुमुश्चायं

अमृता०—५६१. प्रादेरिति। अङि परे सति प्रादेरुत्तरयोः सिवुसहोः षत्वं न नस्यात् । परे निर्विभ्यामित्यनेन विहितस्य निषेधः ।

अमृता०—५६२. नारायण इति । अधोक्षजे परे सदि स्वनूजो नारायणस्य षत्वं न स्यात् । सदेः प्रतिविर्वाजिन इत्यनेन तथा स्थासनयेत्यादिना च विपितस्य, अथ नरेण स्थादिकस्येत्यनेन विशेषितस्य च षत्वस्यात्र प्रतिषेधः ।

क्रमश उदाहरति—उपे इत्यादि प्रतीकग्रहणेन । परिषुवतीति—षुप्रेरणे । अभिषुणोतीति–षुञ् अभिषवे । परिष्यतीति षोऽन्तकर्मणि । विष्टोभत इति ष्टुभ स्तम्भे । परि ष्टौतीति ष्टुञ् स्तुतौ । अधिष्ठातेति ष्ठा गतिनिवृत्तौ वालकल्कि: । अभिषेणयतीति सेनयाभिमुखं यातीत्यर्थे णिः । परिष्वजत इति ष्वञ्ज परिष्वङ्गे । अभिषजतीति षञ्ज सङ्गे । निषेधतीति—षिधुगत्यां प्रतिषेधार्थे षत्वम् । गतौ तु न; तथा सविकरणनिर्देशात् सिध्यतेरपि तन्नस्यात्, निसिध्यते । निषीदतीति षद्लृ विशरण गत्यादिषु, सदेः सीद इत्यादेशः । विष्वणतीति स्वन शब्दे; भक्तमन्नम् । भोजनार्थत्वेऽपीह सशब्दभोजनं ज्ञेयम् । भोजन इतिकिम्—केवल शब्दे तु नस्यात्—विस्वनति मृदङ्गः। नेह उपातस्तम्मदिति—

बाल०—न । अङि सति प्रादेरुत्तरयोः सिवु सहोः सस्य षत्वं न भवति ।।५६१।।

बाल०—नारा । अधोक्षजे परे सदि-सञ्चोर्नारायणे षत्वं न स्यात् क्रमेणोदाहरणानि दर्श्यन्ते। उपे इति । अभिषेणयतीति सेनया अभिमुखं यातीति तृतीयान्तविशेषाद्धात्वर्थ-विशेष इत्यनेन णिः । परिष्वजत इति ष्वञ्ज परिष्वङ्गे । अभिषजतीति षञ्ज सङ्गे । निषेधतीति षिधु गत्यां निषेधं करोतीत्यर्थः । अभिषिञ्चतीति षिच क्षरणे । निषीदतीति षदलृ विशरणादिषु । विष्वणतीति स्वन शब्दे भुङ्क्ते इत्यर्थः । भक्तमन्नम् । भोजन इति किम् ? विस्वनति मृदङ्गः। अवष्टभ्नाति सेनेति निकटी भवतीत्यर्थः। अवष्टभ्नाति दण्डमिति अवलम्बते इत्यर्थः। परिषेवतेइति सेवृ सेवने । इमौ सित-सयशब्दौ।

कृत् । अता—एषां सुवतीत्यादीनां सेवपर्यन्तानामदागमव्यवधानेऽपि षत्वं भवेदित्यर्थः । यथा—न्यषुवदित्यादि । नरेणेति—तत्रैव स्थादीनान्तु नर व्यधानेऽपि षत्वं भवेदित्यर्थः । अधितष्ठौ इत्यादि । तदेति—तत्समये नरस्य च षत्वम्—अभिषिषेणयिषति इत्यादि ।

वेः—भ्वादित्वे विष्कम्भते, सौत्रत्वे तु विष्कभ्नाति विष्कभ्नोति । स्कभ्नातेरेवेति पाणिनीयाः । कातन्त्रपरिशिष्टे त्वविशेषेणैव ।

वा परेः—परिष्कन्दति परिस्कन्दति, विष्कन्दति विस्कन्दति । निष्ठा कृद्विशेषः—विस्कन्नम् । विपरिस्यन्देः—परिष्यन्दते विष्यन्दते वा गङ्गा ।

ण्यन्तस्य स्तन्भु धातो र्भूतेशेऽङि रूपम्, अत्र अङ् सत्त्वान्नषत्वमिति भावः । अवष्टभ्नाति सेना निकटीभवतीत्यर्थः । अवष्टम्नाति दण्डम् अवलम्बत इत्यर्थः । नेहेति—अत्राप्यङ् सत्त्वान्नषत्वम् । द्वाविमाविति—सितसयशब्दौ कृदन्तौ; षिञ् वन्धने क्तः सितः, षिञ् अल् सयः । निषीव्यतीति षिवु तन्तुसन्ताने । परिष्करोतीति—संपर्यु पेभ्यः करोतौ संस्काराद्यर्थे-ष्विति सुट् । नेहपरिसोढेति—विना सोढषतेति निषेधात् । तत्र सोढ शब्देन सहधातो र्ढरामीभूतं रूपमात्रं लक्ष्यते; तच्च त्रिभिः प्रत्युदाहरणैः स्पष्टीकृतम् । अभिषिषेणयिषतीति—अभिषेणयितुमिच्छतीत्यर्थेसन् ।

वेःस्कम्भेरिति सामान्योक्तितोभ्वादेः क्र्यादेः स्वादेश्च ग्रहणमिति दर्शयति-भ्वादित्व इत्यादिना । पाणिनीयास्तु क्र्यादिमेव गृह्णन्ति । कातन्त्रपरिशिष्टे स्वमतानुरूपमेव सिद्धान्तितम् ।

विस्कन्नमिति—स्कन्दिर् गति शोषणयोः क्तप्रत्ययान्तः । विष्यन्दत इति स्यन्दू स्रवणे । नेहविस्यन्दन्तइति—प्राणि कर्तृत्वान्न षत्वम् । सूति समौ समास कार्ये वक्ष्येते इति—कृत्प्रकरणोक्त समसकार्यरूपे षत्व प्रकरणे इत्यर्थः । तत्रैव अम्बष्ठादयः षत्वेन साधव इत्यनेन विषूतिः सुषममिति वक्ष्यते । सुषुप्यत इति ञिष्वप् शये यक् । सुषुषुपतुरिति तस्यैवाधोक्षजे रूपम् । एवं विषुप्यत इत्यादि च । नेह सुस्वपितीति सङ्कर्षणविरहान्न-

---

निषीव्यतीति षिवु तन्तुसन्ताने । विषहत इति षह मर्षणे परिष्करोतीति संपर्यु पेभ्यः सुट् किरतौ संस्काराद्यर्थेष्वित्यनेन सुट् । परिसोढेति बालकल्कौ इषु-सह-लुभ-रुषेत्यनेन इडा । अभिषिषेणयिषतीति अभिषेणयितुमिच्छतीत्यर्थः । विष्कभ्नाति विष्कभ्नोति स्तम्भु-स्तुम्भु-कम्भु-स्कुम्भु-स्कुभ्यः श्नुश्चेत्यनेन श्ना श्नुश्च । स्कभ्नातेरिति स्कभ्नातेरेव षत्वं भवतीति पाणिनीया वदन्तीति शेषः । तन्मते विष्कम्भते विष्कभ्नोतित्यत्र षत्वं न भवतीति अविशेषेणैवेति कातन्त्रपरिशिष्टमते सर्वत्रैव षत्वं भवतीति अत्र कातन्त्रपरिशिष्ट-मतमेवास्माकमपि मतमिति । परिष्कन्दतीति स्कन्दिर गति-शोषयोः विस्कन्नमिति क्तप्रत्ययः 'रदाभ्यां विष्णुनिष्ठा तस्य दस्य च नोदां विने'त्यनेन तस्य दस्य च नः । स्यन्दू इति स्यन्दू स्रवणे । निःस्फुरतीति स्फुर स्फुरणे । सूति समाविति समासकार्यं इति कृत्प्रकरणोक्त समासकार्यरूपे षत्वप्रकरणे इत्यर्थः । कृत्प्रकरण इति वा पाठः । सुषु यते इति ञिष्वप्

नेह विस्यन्दन्ते मत्स्याः । सुवि—सूति समौ समास कार्ये वक्ष्येते । तत् पूर्वत्वे—सुषुप्यते सुषुषुपतुः । नेह सुस्वपिति । परेः—पर्यषीव्यत् पर्यसीव्यदित्यादि । न सुञः—परिसोष्यति, परिसुसूषति । स्तौति ण्यन्तयोरेवेति षत्वाभावेऽपि सार्थकता तु क्विपि प्रतिसुसूरित्यत्रैव । नच—निसेसिच्यते सेसिच्यते । सुस्था—सुस्थः दुस्थः प्रतिस्तब्धः निस्तब्धः परिस्थित इत्यादि ।

षत्वम् । पर्यषीव्यदिति—षिवु तन्तुसन्ताने लङ् । पक्षे षत्वाभावश्च । इत्यादि शब्देन पर्यष्टौत् पर्यस्तौत्, पर्यष्वजत पर्यस्वजत, पर्यष्करोत् पर्यस्करोत्, पर्यषहत् पर्यसहतेति । एवं न्यषीव्यदित्यादि चोदाहरणीयम् । परिसोष्यतीति—षुञ् अभिषवे ।

ननु परिसुसूषतीत्यत्र—"नरात् स्तौतिण्यन्तयोरेव षत्वं सनः" स्त्रे इतिनियमेन हि षत्व प्रतिषेधः सिद्धः, तदा का पुनरस्य प्रतिषेधस्य सार्थकता ? तदपेक्ष्याह—क्विपीति । प्रतिसुसूरितिसुनोतेः सन्नतात् क्विप्, अरामहरो रामधातुक इत्यरामहरे सस्य विष्णुसर्गः । क्विपि तु षभूतसनः परत्वाभावात् स्तौति ण्यन्तयोरेवेति नियमेन निषेधो न प्राप्यत इत्यस्त्येव निषेध सार्थक्यमित्याशयः ।

निसेसिच्यत इति षिच् क्षरणे यङ् ह "नरेण स्थादिकस्येति" नारायणस्य, तथा 'तदन्तस्य नरस्येति' नरस्य न षत्वे प्राप्ते निषेधः । सेसिच्यत इत्यत्र ईश्वर हरिमित्रेत्यादिना प्राप्तं षत्वं यङि निषिध्यते । अन्यत्र तु—असीषिचत् । सुस्थादयः कृत्प्रत्ययान्ताः, उपेन्द्रादित्या प्राप्तषत्वमनेन निषिद्धम् ।

प्रतिस्तब्ध निस्तब्धौ तु "उपेन्द्रादपि षोपदेशस्य षत्वं क्वचित्" इत्यनेन प्राप्तषत्वौ-निषिद्धौ । ननु पर्यसीवत् न्यसीषहदिति द्वये प्रादेरित्यादिनिषेध सत्त्वेऽपि धातोः कथ

शये । सुस्वपितीति सङ्कर्षणाभावात् नत्वाभावः । इत्यादीत्यादिशब्देन पर्यष्टावीत् पर्यस्तावीत् पर्यष्वजत, पर्यस्वजत, पर्यस्कुरुत पर्यस्कुरुत, पर्यषहत पर्यसहतेत्यादुदाहरणानि ज्ञेयानि । परिसोष्यतीति षुञ् अभिषवे 'उपेन्द्रादि'त्यादिना षत्वं स्यात् । सुसूषतीत्यत्र स्तौतिण्यन्तयोरेव षत्वं सनः ष इति नियमेनापि षत्वं भवतीति सनि निषेधस्य सार्थकत्वमाह स्तौतीति । प्रतिसुसूरित्यत्र सनःसम्बन्धिनो मूर्द्धन्यस्य सस्य परत्वाभावाद् नियमेन षत्वाभावो न स्यादिति सार्थकता । निसेसिच्यत इति नरेण स्थानिकस्य तु षत्वं वाच्यमित्यनेन नारायणस्य षत्वं स्यात् तदा तस्य नरस्य च तदिष्यत इति नरस्यापि षत्वं स्यात् । सेसिच्यते इति 'ईश्वर-हरिमित्रे'त्यादिना षत्वं स्यात् । अयङि तु असीषिचत् सुस्थेत्यादयः कृत्प्रत्ययान्ताः । सुस्थ-दुस्थ-परिस्थितेषु 'उपेन्द्रादि'त्यादिना षत्वं स्यात् । प्रतिस्तब्ध-निस्तब्धयोः उपेन्द्रादपि षोपदेशस्य षत्वं क्वचिदित्यनेन षत्वं स्यादिति ज्ञेयम् । ननु व्यवोप-पूर्वस्यैव स्तम्भेः षत्वमुक्तम् अत 'उपेन्द्रादषी'त्यादिना षत्वं न भविष्यतीति किमर्थमेतौ सुस्थादिषु पठ्येते तदेतच्चिन्त्यम् । पर्यसीषिवत् न्यसीषहदिति परे 'निवि-

न प्रादेः—पर्यसीषिवत् न्यसीषहत् । उपेन्द्रत एव निषिध्यते, अन्यत ईश्वरादिकृतं तु स्यादेवेति परस्य षत्वम् । नारा—निषसाद परिषस्वजे ।

*** इति श्रीहरिनामामृताख्ये वैष्णव व्याकरणे आख्यातप्रकरणं तृतीयं समाप्तम् ***

षत्वम् ? तत्राह—उपेन्द्रत एवेति । अन्यत उपेन्द्रादन्यतः, अर्थान्नरत ईश्वरादिकृतं षत्व परस्य नारायणस्य स्यादेव । निषसादेति षद्लृधातो रधोक्षजेः, परिषस्वजइति षन्जेः । नरस्य तु षत्वं स्यादेव, नरस्य च तदिष्यत इत्यभिधानात् ।

इति श्री हरिनामामृत व्याकरणे श्रीगोपालदास विरचितायाममृतास्वादिनी टीकायामाख्यात प्रकरणव्याख्या पूरिता ।

भ्याञ्चे'त्यादिना विकल्पेन षत्वं स्यात् । अन्यतः नरात् । ईश्वरादिकृतम् ईश्वर-हरिमित्रे-त्यादि लक्षणकृतं षत्वम् । परस्य नारायणस्य । निषसाद परिषस्वजे इति नरेण स्थादिकस्त तु षत्वं वाच्यमित्यनेन षत्वं स्यात् ॥५६२॥

* इति श्रील हरेकृष्णाचार्यविरचितायां श्रीमद्गोपीचरणदासपरिशोधितायां श्रीहरिनामामृताख्यवैष्णवव्याकरणटीकायां बालकतोषणीनाम्न्यां तृतीया आख्यातप्रकरणटीका समाप्ता *

